

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

श्रीकैलासविद्यालोकस्य पञ्चपञ्चाशततमः (५५) सोपानः

श्रीबादरायणविरचितम्

ब्रह्मसूत्रम्

सटिप्पणशाङ्करभाष्यरत्नप्रभाललिताव्याख्यायुतम्

समन्वयाध्यायः

(प्रथमो भागः)



गोविन्दप्रसादिनीटिप्पणीकारः

विद्यावाचस्पतिमहामण्डलेश्वरश्रीमत्स्वामी

विष्णुदेवानन्दगिरिजीमहाराजः



ललिताव्याख्याकारः

वेदान्तसर्वदर्शनाचार्यः श्रीकैलासदशमपीठाधीश्वरः

आचार्यमहामण्डलेश्वरः

श्रीमत्स्वामिविद्यानन्दगिरिजीमहाराजः

विद्वत्सम्पादकमण्डलेन सम्पादितम्

प्रकाशक:

श्रीकैलासविद्याप्रकाशनम् हृषीकेशः (उ०प्र०)

ब्रह्मविद्यापीठश्रीकैलासाश्रमस्य षष्ठपीठाचार्याणां विद्यावाचस्पतीनां महामण्डलेश्वराणां श्रीमत्स्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिमहोदयानां, महामण्डलेश्वराणां श्रीमत्स्वामिचैतन्यगिरिमहोदयानां (शास्त्रिणाम्) च निर्वाणरजतमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम् ।

प्रथम संस्करणम्	महाशिवरात्रिः	वि० सं० २०५३	मूल्यम्
१५००	शाङ्कराब्दः १२०६	सन् १९९७	३०० रूप्यकाणि

ग्रन्थप्राप्तिस्थानानि : — **दूरभाष :**

श्री कैलास आश्रमः, कैलाम गेट, हृषीकेशः—२४९२०१ — ४३०५६८
श्रीदशनाम संन्यासाश्रमः, भूपतवाला, हरिद्वारः—२४९४०१ — २७२०६
श्री कैलासाश्रमः, उत्तरकाशी—२४९१९३ — २३३१
श्री कैलास धामः, कैलास धाम मार्गः, नई भूमी—२२१५०६
श्री कैलास विद्यातीर्थः, भाई वीरसिंह मार्गः, नई दिल्ली—११०००१ — ३३४७४७५
श्री कैवल्यविद्याकान्तम् १०३–बी.एल.आई.जी. राजौरी गार्डन,
नई दिल्ली–११००२७ — ५४५१२४६
श्री कैलासाश्रमः, कैलास आश्रम मार्ग, मॉडल टाऊन, रोहतक—१२४००१
श्री कैलास विद्यातीर्थः, राजगिर, जि० नालन्दा—८०३११६
श्री रामाश्रमः, समाना मण्डी, पटियाला—१४७१०१ — २०४५०
श्री नर्मदा सत्सङ्ग आश्रम, भिलाड़ियाघाट, होशंगाबाद
श्री कैलास विद्या धामः, रूपनगर, सेक्टर-५ जम्मूतवी—१८०००१

मुद्रक :

श्री कैलास विद्या प्रेस, ब्रह्मानन्दाश्रमः

मुनिकीरेती, हृषीकेशः

KAILAS VIDYA PRAKASHANA SERIES–55

(SRI BADARAYANA'S)

BRAHMASUTRAM

Text With Samkarabhashya and Ratnaprabha Teeka

VOLUME ONE



Annotation–GOVINDAPRASADINEE

BY

Vidyavacaspati Mahamandaleswara Srimat
Swami Visnudevananda Giriji Maharaj



OVER

Hindi Discourses—LALITA

BY

Vedanta Sarvadarsanacharya
Sri Kailas Peetha Dheeswara Mahamandleswara
Srimat Swami Vidyananda Giriji Maharaj

Edited By
Editorial Panel of Sri Kailas Ashrama

Published by :
SRI KAILASH VIDYA PRAKASHANAM
RISHIKESH, U.P.

MEMORIALIS :
Nirvana Silver Jubilee of—
Vidyavacaspati Srimat Swami Visnudevananda Giriji Maharaj, Sixth Acharya Mahamandaleswara and Srimat Swami Chaitanya Giriji Maharaj (Shashtriji), Eighth Acharya Mahamandaleswara.

First Impression	Holy Maha Shivaratri Shankarabda	Vikram Sambatsar 2053	Price
1500	1209	A. D. 1997	Rs. 300 only

The Book is available in India at:

	Telephone No.
Shri Kailas Ashram, Rishikesh—249 201	430598
Shri Brahmananda Ashram, Rishikesh—249 201	
Shri Kailas Ashram, Ujeili, Uttarkashi—249 193	2361
Shri Dashnama Sannyasa Ashram, Bhupatwala, Haridwar—249 401	27206
Shri Rama Ashram, Samana Mandi, (Distt. Patiala) Punjab—147 101	20450
Shri Kailas Ashram, Model Town, Rohatak (Hariyana) - 124 001	
Shri Kailas Dhama, Nai Jhusi, Allahabad—221 506	
Shri Kailas Vidya Tirtha (Adi Shankaracharya Smaraka) 6, Bhai Vir Singh Marg, New Delhi—110001	3347475
Shri Kailas Vidya Tirtha, Rajgir, (Distt. Nalanda) Bihar.	
Shri Kaivalya-Vidya-Kantam, Rajori Garden, New Delhi—110027	5451249
Shri Narmada Satsang Ashram, Bhiladiya Ghat, Distt. Hushangahad.	
Shri Kailas Vidya Dham, Rupnagar, Sector-5. Jammu Tawi—180001	

PRINTED AT
SRI KAILAS VIDYA PRESS, MUNI-KI-RETI, RISHIKESH-249 201



॥ श्रीमच्छंकरभगवत्पादो विजयतेतराम् ॥

सम्पादकीयम्

वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र एक अद्वितीय प्रामाणिक ग्रन्थ है। अनेकानेक सम्प्रदायविद् आचार्यों ने इस पर विभिन्न प्रकार के मत-मतान्तरों को प्रतिपादित करने वाले भाष्य लिखे हैं। पर उन सभी के मध्य में भगवान् श्री आद्य शङ्कराचार्य जी द्वारा लिखित अद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादक भाष्य सर्वाधिक प्रामाणिक, न्याययुक्त तथा सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जिसको प्रकाशित करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं क्योंकि इस अपूर्व संस्करण को प्रकाशित करने के तीन अत्यन्त पावन निमित्त हैं—१. वेदान्त श्रवण की अभीप्सा से कैलास आश्रम में स्वेच्छा से पधारे कैलास आश्रम के अधिष्ठातृदेव भगवान् श्री अभिनव चन्द्रेश्वर महादेव का प्रतिष्ठा शताब्दी महोत्सव। २. "श्रीगोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी" के परिष्कर्ता षष्ठ कैलासपीठाधीश्वर विद्यावाचस्पति अनन्तश्री स्वामीविष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज का निर्वाण रजत महोत्सव और ३. अष्टम कैलास पीठाधीश्वर अनन्तश्री स्वामी चैतन्य गिरि जी (शास्त्री जी) महाराज का निर्वाण रजत महोत्सव। इन पावन प्रसङ्गों को लेकर ही अन्य संस्करणों से विशिष्ट यह संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत संस्करण की विशेषता यह भी है कि इसमें श्रीमच्छाङ्करभाष्य रत्नप्रभा टीका, गोविन्द प्रसादिनी टिप्पणी तथा हिन्दी ललिता व्याख्या के सहित प्रकाशित किया गया है। इससे पूर्व ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य के सभी संस्करणों में या तो रत्नप्रभा, भामती एवं न्यायनिर्णय टीका दिए गये हैं अथवा भामती, कल्पतरु एवं परिमल के सहित छापे गये हैं। पर हमने भाष्यार्थ को सरलतया सर्वाधिक स्फुट करने वाली रत्नप्रभा टीका को ही इस संस्करण में दिया है। इसका एक अभिप्राय यह भी है कि तीनों टीकाओं के सहित शाङ्करभाष्य के अनेक प्रकाशनों में रत्नप्रभा को सर्वप्रथम रखा गया है, ऐसा करने वाले सम्पादक ने भी निःसन्देह इसका वैशिष्ट्य समझा होगा। अतः हमने भी प्रस्तुत संस्करण में रत्नप्रभा को ही रखा है। श्री गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणियाँ श्रीकैलास आश्रम के पूर्व मनीषियों के गहन चिन्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं जिनके बिना उपनिषद्, ब्रह्मसूत्रादि जैसे कठिन अद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थों का सम्प्रदायप्रतिपादन-परक समीचीन अर्थ जानना अत्यन्त दुष्कर ही है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं, प्रत्युतमनीषियों के स्वानुभव से ऐसा प्रत्यक्ष हो चुका है। इसी क्रम में श्री कैलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ के दशम पीठाचार्य म० मं० अनन्तश्री स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज द्वारा लिखित '**ललिता व्याख्या**' भी गहन मनन-चिन्तन का सुपरिणाम है। इस व्याख्या को जो '**ललिता**' अभिधान दिया गया है उसके पीछे भी महाराजश्री का विशिष्टाभिप्राय प्रतिभासित होता है। यह व्याख्या ललित है, शोभन है, सुन्दर है; ललिता जगज्जननी भगवती दुर्गा का भी एक रूप है तथा महाराज श्री का पूर्वजीवन-वृतान्त देखने से भी ज्ञात होता है कि उनके पावन लोकविग्रह की जननी का नाम भी श्रीमती ललिता देवी है। इन्हीं कारणों से महाराजश्री ने व्याख्या का नाम ललिता रखा होगा, यही उनके मङ्गलाचरण से भी ज्ञात होता है।

यद्यपि इससे पूर्व भी हिन्दी भाषा में अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु हमें अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि वे शाङ्करभाष्य के साथ न्याय नहीं कर पाये। अभी तक हिन्दी में शाङ्करभाष्य की कोई भी ऐसी व्याख्या उपलब्ध नहीं है जो उसका वास्तविक भाव स्फुटकर हिन्दी भाषाभाषी जिज्ञासुओं को सन्तुष्ट कर सके क्योंकि भाष्य की गूढ़ संस्कृत भाषा के तात्पर्यार्थ का प्रदर्शन हिन्दी भाषा में करना अत्यन्त कठिन कार्य था। पर प्रस्तुत ललिता व्याख्या में महाराजश्री ने भाष्य का गूढ़ तात्पर्यार्थ प्रकाशित करने का सफल प्रयत्न किया है तथा जहाँ भाष्य क्लिष्ट है, वहाँ महाराजश्री ने टीका का आश्रय लेकर भी भाष्योक्त वास्तविक तात्पर्य को स्फुट किया है। भाष्य से सम्बन्धित रत्नप्रभा तथा हिन्दी ललिता व्याख्या यथासम्भव उसी पृष्ठ में रखी गयी है इससे पाठकों को अनावश्यक बार-बार पृष्ठ उलटना नहीं पड़ेगा। निश्चय ही भाष्य में किये गये अध्यासनिरूपण को, सांख्य, मीमांसा, न्याय, चार्वाक, बौद्ध आदि दर्शनों के खण्डन को तथा श्रौत प्रमाणों और अनुमानादि प्रमाणों द्वारा सिद्ध किये गये केवलाद्वैत सिद्धान्त के निरूपण को संस्कृतभाषानभिज्ञों के सम्मुख हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करना साधारण व्यक्ति योग्य कार्य नहीं था। इस कार्य को कोई बहुश्रुत, श्रोत्रिय, व्याकरणन्यायादि दर्शनों में पारङ्गत विद्वान् ही कर सकता है। महाराज श्री ने इससे पूर्व भी **चित्सुखी-छात्रतोषिणी, व्याप्तिपञ्चकम्-छात्रतोषिणी, वेदान्त परिभाषा-सुबोधिनी टीका, ब्रह्मसूत्र-विद्यानन्दवृत्ति** आदि अनेकानेक व्याख्यायें लिखकर न्याय एवं वेदान्त दर्शन के जिज्ञासुओं तथा छात्रों को समान रूप से अनुगृहीत किया है। जो सभी ग्रन्थ विद्यानुरागी पारङ्गत पण्डितों द्वारा भूरिशः प्रशंसित हैं।

इस संस्करण में द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन आ० म० मं० अनन्त श्री स्वामी काशिकानन्द गिरि जी महाराज ने प्रस्तावना निबन्ध देकर इसका महत्त्व बढ़ाया है। देश-विदेश सर्वत्र आंग्लभाषा के माध्यम से आधुनिक जिज्ञासुओं को वेदान्त दर्शन के तात्पर्य से अवगत कराने के लिए जिनका प्रयास श्लाघनीय है, ऐसे समादरणीय श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने अपनी सम्मति देकर उक्त जिज्ञासुओं को भी इस संस्करण के अध्ययन के लिए आकृष्ट किया है। डॉ० श्री विष्णुदत्तराकेश जी (एम. ए., पी. एच.डी., डी. लिट्)। हिन्दी विभागाध्यक्ष, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ने भी मनोरम शैली में अपनी शुभसम्मति देकर हमें अनुगृहीत किया है। ललिता व्याख्याकार स्वयं महाराजश्री ने प्रासङ्गिकम् निबन्ध के माध्यम से इस ग्रन्थ के वृत्तवस्तु का स्पष्टीकरण किया है। एतदर्थ हम उक्त सभी महानुभावों के अधमर्ण हैं एवं सम्पादक मण्डल के हम सभी सदस्य उक्त महानुभावों के अनुग्रहपात्र हैं और रहेंगे।

प्रस्तुत संस्करण दो भागों में प्रकाशित हुआ है जिसमें यह वैशिष्ट्य भी है अक्षर अन्य संस्करणों की अपेक्षा बड़े टाइप में दिये गये हैं और शब्दों के मध्य में पर्याप्त दूरी भी रखी गयी है जिससे वृद्धजन भी सुविधापूर्वक इसे पढ़ सकेंगे। और भी पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए यथासम्भव उद्धरणों की संख्या; यथोचित स्थलों पर अर्धविराम, पूर्णविराम, प्रश्नवाचकचिह्न आदि भी इस संस्करण में दिये गये हैं। वैयासिक न्याय माला के श्लोकों के साथ उनके पञ्चावयवों को सरल भाषा में स्फुटीकरण भी अपना विशेष स्थान रखता है। सूत्रों के आगे और पीछे संख्योल्लेख भी पाठकों को सौविध्यप्रद होगा। इतने पर भी मानवीय कृति होने के कारण यदि अशुद्धियाँ एवं त्रुटियां रह गयी हों तो विद्वत्सुधी-जन हमें क्षमा करेंगे तथा हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित करेंगे। इत्यों शम्।

मकरसंक्रान्तिः
वि० सं० २०५३

वयं निविविदिषवः भावत्काः
सम्पादकमण्डलसदस्याः



प्रस्तावना



भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में ब्रह्मसूत्र का स्थान सर्वोपरि है। इसको उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। पूर्वमीमांसा में वेदों के पूर्वभाग कर्मकाण्ड पर विचार हैं और उत्तरमीमांसा मे वेदों के उत्तरभाग ज्ञानकाण्ड पर विशेष विचार है। ज्ञानसाधन उपासना का भी कुछ विचार इसमें सम्मिलित हुआ है।

ब्रह्मसूत्र के रचयिता के विषय में प्रायः मतैक्य होने पर भी विप्रतिपत्ति के लिए भी स्थान पर्याप्त है। भगवान वेदव्यास ब्रह्मसूत्र के रचयिता हैं ऐसी प्रसिद्धि सर्वत्र है। "**ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे**" इस प्रकार भामतीकार ने मङ्गलाचरण में बताया है। "**श्रीशङ्करभाष्य कृतं प्रणम्य व्यासं हरिं सूत्रकृतम्**" ऐसा रत्नप्रभाकार भी कहते हैं "**श्रीमद्व्यासपयोनिधिः**" इत्यादि न्यायनिर्णय के मङ्गलाचरण की पंक्ति है। परन्तु भाष्यकार अन्तिम सूत्र की अवतरणिका में "**अत उत्तरं भगवान बादरायण आचार्यः पठति**" इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के रचयिता का नाम बादरायण लिखते हैं। पञ्चपादिकाकार ने भी "**बादरायणसंज्ञाय मुनये शमवेश्मने**" कहते हुए बादरायण का ही नाम लिया है। पर वहीं विवरणकार "**तं व्यासं नमत जगत्यपूर्वभानुम्**" कहते है।

क्या व्यास और बादरायण एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं या भिन्न-भिन्न दो ऋषि हैं। इस विषय में प्राचीन मनीषी वर्ग प्रथम पक्ष को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु अर्वाचीन समीक्षक दो भिन्न व्यक्ति मानने के पक्षधर हैं। भाष्यकार स्वयं द्वापर और कलि की सन्धि में कृष्ण द्वैपायन के अवतार का उल्लेख करते हैं जो वेदव्यास नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु जैन बौद्धादि मत निराकरण करते हुए तीन हजार वर्ष के अंदर ही बादरायण ऋषि अपना अस्तित्व सूचित करते हैं। व्यास चिरंजीवी होने के कारण आज भी विद्यमान हैं इत्यादि श्रद्धास्पद कल्पना आधुनिक मनीषी विचारकों के दिमाग में स्थान नहीं ले पाती। अस्तु इस विचार को हम यहीं रहने देते हैं। चाहे वे भिन्न व्यक्ति हों चाहे एक, हमारे लिए पूज्य हैं ही। दो हों तो दोनों पूज्य हैं, एक हों तो कोई बात ही नहीं।

ब्रह्मसूत्र पर अनेक आचार्यों की व्याख्या प्रसिद्ध हैं। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत एवं द्वैत सिद्धान्त के भाष्य एवं व्याख्या में तो हैं ही, इनमें भी वैष्णव शैवादि मतानुसार भाष्य तथा व्याख्या आदि विद्यमान हैं। वर्तमान में उपलब्ध भाष्यों में सर्वप्राचीन भाष्य शाङ्करभाष्य ही है। उसी के आधार पर ऊहापोह करते हुए अन्य भाष्य एवं व्याख्यायें चली हैं।

श्रीमद्रामानुजाचार्य अपने को इस ऋण से छुटकारा पाने के लिए बोधायनकृत वृत्ति के आधार पर मैं भाष्य लिखता हूँ, ऐसा बताया है। पण्डितप्रवर बलदेवोपाध्याय का कथन है, कि पूरी वृत्ति केवल एक ही व्यक्ति को मुखपाठ आता था और उसके बाद वह वृत्ति लुप्त हो गयी। उसी का मुखपाठ सुनकर रामानुजाचार्य ने भाष्य लिखा। यदि यह बात सत्य है, तो उस अमूल्यनिधि की रक्षा करने का किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न न करने वाले रामानुजाचार्य अक्षम्य अपराध के भागी होंगे।

अपना भाष्य वे लिपिबद्ध कर सकते थे, तो आधारस्तम्भ को उन्होंने लिपिबद्ध क्यों नहीं किया या कराया ? यह जटिल आक्षेप सामने आयेगा। क्या यह कल्पना भी कोई नहीं करेगा, कि उस वृत्ति के रहते अपने भाष्य का कोई मूल्य नहीं रहेगा। अतः स्वयं उन्होंने उसे नष्ट होने दिया ? बात इतनी ही हो सकती है कि श्री रामानुजाचार्य के पूर्वाचार्यों ने किंवदन्ती के रूप में जो सुन रखी थी और संक्षेप में लिख रखी थी उसका आधार रामानुजाचार्य ने लिया। अतएव रामानुज भाष्य बौधायनसम्मत ही है यह निश्चित करना सम्भव नहीं है। स्वयं रामानुजाचार्य इतना ही लिखते हैं—"**बोधायनकृतां विस्तीर्णां वृत्तिं पूर्वाचार्याः सञ्चिक्षिपुः**" उस संक्षेप के आधार पर उनका भाष्य है।

महाविद्वान् वैरागी सम्प्रदाय के आचार्य श्री भगवदाचार्य स्वयं कहते हैं कि श्रीरामानुजाचार्य श्रीशङ्कराचार्य के उद्धृत श्रुतियों से अतिरिक्त किसी भी श्रुति को ढूँढ़ने का लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं किया। शङ्करोद्धृत श्रुतियों के ही अर्थ बदलकर व्याख्या करने का ही प्रयास किया। इससे स्पष्ट है कि श्रीरामानुजाचार्य शाङ्करभाष्य के ही अधमर्ण हैं। भले उन्होंने सिद्धान्तान्तर को प्रस्तुत किया हो।

हमने अपनी अद्वैत परिशुद्धि नाम के ग्रन्थ में यह स्पष्ट किया है कि शङ्कराचार्य पर अन्य वादियों का जो आक्षेप हुआ है वह सिद्धान्त की गहराई में न उतर पाने का ही परिणाम है। वस्तुतः केवलाद्वैत का किसी के साथ विवाद नहीं है और विरोध भी नहीं है। "**अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्**" इस गौड़पादीय वचन पर गौर करना परम आवश्यक है। केवलाद्वैत में ब्रह्म को "**सत्यं ज्ञानमनन्तं**" आदि वाक्यों में सत्यादि पद लक्ष्यार्थ बतलाया, तब सत्यादिपदवाच्यार्थ क्या है ? वाच्यार्थ के बिना अन्वयसम्बन्धरूप लक्षणा नहीं हो सकती। सत्यपदवाच्यार्थ यह जगत ही है, उसे पृथक् करके बताने के लिए व्यावहारिक पद जोड़कर हम बोलते हैं–व्यावहारिक सत्य। ब्रह्म को पारमार्थिक सत्य जो बोलते हैं वह समझाने का एक तरीका मात्र है। जब कि श्रुति "**यतो वाचो निवर्तन्ते**" कहती है तब पारमार्थिक सत्य शब्द की भी वहाँ शक्त्या प्रवृत्ति कैसे होगी। "**अतद्व्यावृत्त्यायं**" के अनुसार ये सब अतद्व्यावृत्त्यर्थ शब्दव्यवहार है। अतएव रामानुजादि का खण्डन-मण्डन शब्द भी उस ब्रह्म तक पहुँच नहीं पायेगा तो उसका खण्डन कैसे हो ? जो उनका सत्यपदवाच्यार्थ है उसको हम भी मानते हैं तो हमारा विरोध क्या है ? अतएव शाङ्करभाष्य किसी भी धूलिप्रक्षेप से धूसरित होने वाला नहीं है। अतः वह निर्मल एवं निर्दोष है।

शाङ्कर भाष्य की अनेकानेक व्याख्या, उपव्याख्यादि अभी तक हो चुके हैं जिनमें भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। मुद्र्यमाण रत्नप्रभा विवरणप्रस्थानानुगामी है, जो महात्माओं के लिए अत्यन्त प्रिय हैं। चतुःसूत्री पर इनकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या है, जिसपर पूर्णानन्दीय व्याख्या अत्यन्त मनोरम है। आगे तो रत्नप्रभा आनन्दगिरीय न्यायनिर्णय का संक्षिप्त संस्करणमात्र है। फिर भी सरल होने के कारण महात्माओं की अध्ययन-अध्यापन परम्परा में रत्नप्रभा का प्रबल वर्चस्व रहा है। भोलेबाबा ने रत्नप्रभा का भी हिन्दी अनुवाद किया है, जो आज कल दुर्लभ हो गया है।

भाष्य तथा रत्नप्रभा पर विद्यावाचस्पति महामण्डलेश्वर स्वनामधन्य श्रीमत्स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज की गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी कैलास परम्परा में अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो ग्रन्थग्रन्थियों को खोलने का अनितर साधारण सामर्थ्य रखती है। प्रस्तुत संस्करण में उसका भी निवेश हो जाने से ब्रह्मविद्योपजीवियों का महान उपकार होने जा रहा है। साम्प्रदायिकविद्यासंरक्षण

के लिए इसकी प्रतीक्षा उत्सुक दृष्टि से सन्त एवं सम्प्रदायानुरागी कर रहे थे, आज उसकी पूर्ति होने जा रही है।

विद्वद्धौरेय आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने प्रथम दश उपनिषदों का पूर्वोक्त गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी के साथ प्रकाशन कर बड़ा उपकार किया ही है, साथ ही भाष्यों का हिन्दी भाषानुवाद कर जिज्ञासुओं के लिए अमृत कलश सामने रख दिया। उसी क्रम में ब्रह्मसूत्र भाष्य का भी अनुवाद कुतूहलता के साथ प्रस्तुत होने की वाट पाठक जोह रहे थे वह भी साथ-साथ सम्पन्न हो रहा है।

इसे केवल एक अनुवाद मात्र नहीं कहा जा सकता किन्तु भाष्य विवरण कहना उचित होगा। रत्नप्रभा का प्रतिपद अनुवाद किये बिना ही भावार्थ को लेकर भाष्यविवरण प्रस्तुत किया गया है। और कहीं-कहीं रत्नप्रभा में अस्पष्ट भी अवश्यज्ञेय पदार्थों का स्पष्टीकरण जगह-जगह किया गया है। जैसे द्वितीय सूत्र **'जन्माद्यस्य यतः'** में अभिन्ननिमित्तोपादानरूप से ब्रह्म विवक्षित है केवल जन्म निमित्त कारणमात्र से सम्भव होने पर भी आदि पद ग्राह्य स्थिति एवं लय निमित्त में नहीं हो सकते। घट का लय कुम्भकार में नहीं होता, वह तो उपादान मृत्तिका में ही सम्भव है। यह बात **'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'** में स्पष्ट होगा। प्रकृति का उपादान कारण अर्थ है **'च'** कार से निमित्त कारण गृहीत है। रत्नप्रभाकार ने थोड़ा कह कर समाप्त किया। स्थिति-लय कारण यदि भिन्न हो तो जन्मकारणत्वमात्र से ब्रह्मत्व का बोध होना सम्भव नहीं है, क्योंकि भेदप्रतियोगित्व-रूपी वस्तुपरिच्छेद उसमें आ जायेगा। यह एक उदाहरणमात्र हमने दिखलाया। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर हिन्दी व्याख्या अपना वैशिष्ट्य रखती है।

उपनिषत् मुद्रणकाल से अभी तक चिरप्रतीक्षित ब्रह्मसूत्र का संस्करण पाठकों के हाथ में आ रहा है, अवश्य ही इससे विद्यार्थी समाज प्रसन्न होगा। साथ ही प्रौढ़ विद्वान् भी टिप्पणी सहित होने से लाभान्वित होंगे।

प्रस्तावक :
द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन अनन्तश्री
आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी
काशिकानन्द गिरि जी महाराज
आनन्द वन आश्रम, मुम्बई।

शरत् पौर्णमासी
वि. सं. २०५३
शाङ्कराब्दः १२०३
सन् १९९६ ई०





FOREWORD



The ancient Indian Sanskrit literature enjoys many unique features, the most significant among them beirg the wcrks in the form of sutras. The natural language like the classical Sanskrit is presented by Panini using metalanguage in his famous grammar sutras. So too, the Astanga yoga is unfolded through sutras by Patanjali. There are many other sutra works covering various topics like logic, ethics and liturgy. While these works are descriptive in nature, we have two analytical sutra works, namely, the Purvamimamsa of Jaimini and the Uttara-mimamsa of Bhagavan Vyasa. The Sutras of Jaimini analyse and present the Karma-Kand of the Vedas. The work of Bhagavan Vyasa analyses and presents the subject matter of jnana-kanda of the Veda, popularly known as Upanisadas. The work of Vyasa is an important part of the study of Vedanta. The vision of the Veda unfolded in the Upanisadas is analysed thoroughly by the sutras. Being an analytical work, it moves methodically through a binary method of purvapaksa, objectiond and siddhanta, the conclusion.

The tatparya of the Vedanta is arrived at answering all objections as identity between the individual and the Lord, the cause of the world. That this oneness is the vision of the Veda is proved by analysing the relevant sentences of the Upanisadas. Some of these sentences are unequivocal while some others are not. That even the equivocal sentences are of the same vision is proved by looking into the context, results etc.

In the second chapter, Vyasa discusses very thoroughly all possible objections with regard to the vision of oneness. It looks as though the various schools of

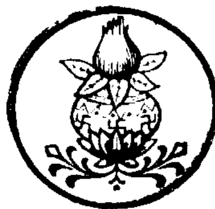
philosophy propounded by latter Buddhists like Nagarjuna and others were expected by Vyasa, for he had dealt with all of them. A thorough study of this work does not leave anything to be desired in arriving at the tatparya of the Upanisadas. All possible doubts also resolve for good.

The bhasya of Sankara is a blessing in as much as it gives a new lease to the tradition of teaching sampradaya. Following the style of patanjali, the author of Mahabhasya, Sankara is crisp and convincing. There are many people who annotated the commentary of Sankara, sentence by sentence; but for a seeker, the Ratnaprabha of Govindananda is a source of unfailing light. The foot notes, tippani, of the late revered Sri Swami Visnudevananda are also a great help in one's understanding of some crucial logical, grammatical and philosophical topics

Here is another blessing for those who have no easy access to Sanskrit in the Hindi translation of Mahamandalesvara Sri Swami Vidyananda Giri. Keeping the Ratnaprabha in view, he has ably translated the bhasya. In the tradition of the study of Brahmasutras, the first four sutras are studied very thoroughly in as much as the entire sastra is covered by these four. Keeping this in view, the Kailash Ashram has brought out a separate volume covering the first four sutras with the introduction of Sankara, popularly known as Adhyasa-bhasya. Mandalesvar's experience in teaching the Vedanta Sastra for years and his thorough knowledge of the various schools of Indian philosophy makes his translation lucid, authentic and thorough.

I invoke the grace of Lord Gangadharesvara with a prayer for this work to find its fulfilment by reaching the deserving jijnasus.

His Holiness Swami Dayananda Saraswathi
Founder Shruti Sewa Trust
Arsha Vidya Gurukulam, Anaikatti (P.O.)
Coimbatore - 641 108



ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यम्
रत्नप्रभाललिताव्याख्या

श्री कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामि विद्यानन्दगिरि जी महाराज भारतीय वाङ्मय के तलस्पर्शी पण्डित हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन ज्ञान वैराग्य से ओतप्रोत रहा है। भगवान् आद्य शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों की अक्षुण्ण रक्षा करते हुए श्रीस्वामी जी महाराज ने उत्तरापथ में शाङ्करदिग्विजय का अध्यात्मरथ आगे बढ़ाया है। प्रस्थान त्रयी की कथाओं का सार्वजनिक उपक्रम उनके विलक्षण पाण्डित्य का सूचक है। श्रीमद्भागवत सप्ताह तथा श्रीरामचरितमानस नवाह की तरह प्रस्थानत्रयी का अष्टादशाह उन्होंने ही प्रारम्भ किया। आचार्य श्री शङ्कर के बाद पण्डित मण्डली से बाहर सामान्य जनता में गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र की शाङ्करी व्याख्या को लोकप्रिय बनाने में जो उद्योग उन्होंने किया, उसके लिए भारत की पण्डित मण्डली सदैव उनकी ऋणी रहेगी। कैलास से ब्रह्मविद्यामन्दाकिनी का निरन्तर प्रवाहित होना उचित है। भगवान् सदाशिव श्रीनारद को निमित्त बना कर कैलास पर ही ब्रह्मविद्या का उपदेश करते हैं। श्रीमद्भागवत् इसका प्रमाण है—

उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्म सनातनम्। नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम्॥

ब्रह्मसूत्र पर १६६६ में श्रीस्वामी जी ने 'विद्यानन्दवृत्ति' लिखकर अपनी विश्लेषणात्मक क्षमता का परिचय दिया था। एक कुशल विषय मर्मज्ञ अध्यापक के गुणों से भरपूर उनकी चिन्तनों का सुफल इस वृत्ति में प्रकट हुआ था। छात्रों के हित को ध्यान में रखते हुए इसमें चतुःसूत्री भामती सन्तरणी भी दे दी गयी थी। श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती तथा रामकिङ्कर पण्डित विरचित वृत्तियों के रहते हुए भी इस वृत्ति का प्रयोजन था—छात्र और जिज्ञासुओं को इस योग्य बना दिया जाए कि वे साधिकार शाङ्करभाष्य के अध्ययन में प्रवृत्त हों तथा सुगमता से भाष्य का तात्पर्य हृदयंगम कर लें।

प्रवेशमीहते कश्चिन्नरश्चेद्व्यासनिर्मिते। सूत्रे चाद्वैतराद्धान्ते शङ्कराचार्य भाषिते।
अवश्यं तेन दृश्येत, वृत्तिरेषा मुमुक्षुणा। अन्यथा भाष्यतात्पर्ये प्रवेशः स्यात्सुदुर्लभः॥

यही कारण है कि विद्यानन्दवृत्ति की प्रशंसा श्रद्धेय श्री करपात्री जी, श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती, महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी काशिकानन्दगिरिजी तथा आचार्य पण्डित बद्रीनाथ शुक्ल जी जैसी दार्शनिक विभूतियों ने की थी। अब स्वामी विद्यानन्दगिरिजी ने सटिप्पण रत्नप्रभाललिताव्याख्या संवलित आचार्य भाष्य को प्रस्तुत कर एक बड़े अभाव की सर्वांग सुन्दर पूर्ति की है। विद्यावाचस्पति महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरि जी की गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी तथा स्वामी विद्यानन्द गिरि जी की ललिता व्याख्या ने अत्यन्त निर्मल रूप में भाष्यकार के तात्पर्य को प्रकाशित कर दिया है। प्रत्येक अधिकरण की सङ्गति, विषय, संशय, पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्षात्मक पञ्चावयवी कसौटी का स्पष्ट तथा वैज्ञानिक शैली में प्रतिपादन-अनुगमन जहां ग्रन्थ को निर्दुष्ट सिद्ध करता है, वहाँ व्याख्याकार के प्रगाढ़ पाण्डित्य की भी सूचना देता है—

ब्रह्मसूत्र भगवान् बादरायण की रचना है। आचार्यप्रवर पण्डित गोपीनाथ कविराज जी ने ब्रह्मसूत्र को भिक्षुसूत्र मानने का प्रस्ताव किया था। पर पण्डित उदयवीर शास्त्री ने इस भ्रम का निराकरण

करते हुए स्पष्ट घोषणा की, कि पराशर गोत्र वाले कपिल के शिष्य भिक्षुपञ्चशिख की सांख्य विषयक रचना भिक्षुसूत्र है न कि ब्रह्मसूत्र। ब्रह्मसूत्रकार वे ही बादरायण व्यास हैं, जिन्होंने महाभारत तथा पुराणों की रचना की है। वायु पुराण इस का समर्थन करता है—

पराशरसुतो व्यासः कृत्वा पौराणिकं कथाम्। सर्ववेदार्थघटितां चिन्तयामास चेतसि।
जीवेश्वरब्रह्मभेदो निरस्तः सूत्रनिर्णये। निरूपितं परं ब्रह्म श्रुतियुक्तविचारतः॥

वायु पुराण प्रामाणिक रचना है तथा महाभारत के समकालीन रचना है। महाभारत में उस का नामोल्लेख मिलता है—

वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुम्।

आचार्य श्री शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में **'नामरूपे च भूतानाम्'** तथा **'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः'** जैसे श्लोक वायुपुराण से उद्धृत किए हैं। यह भी सम्भवतः इसीलिए, कि वायुपुराण बादरायण व्यास का रचना है और सूत्रकार तथा पुराणकार के रूप में व्यास जी के कर्तृत्व को प्रमाणित करतो है। अतः यह भ्रान्त धारणा छोड़नी चाहिए कि ब्रह्मसूत्र का लेखक व्यास के अतिरिक्त कोई बादरायण नाम का व्यक्ति था, जिसने बुद्ध के बाद सूत्रों की रचना की। भामतीकार ने **'ब्रह्मसूत्रकृते तस्य वेदव्यासाय वेधसे'** कह कर कृष्णद्वैपायन व्यास और बादरायण को अभिन्न ही माना है।

भगवत्पाद आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य प्रस्तुत कर विशुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिष्ठापन किया। आचार्य से पूर्व आचार्य बोधायन और आचार्य उपवर्ष जैसे आचार्य हो गए थे, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र की विशद व्याख्या की थी। पाणिनि के गुरु वर्ष के भाई थे उपवर्ष। आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में दो स्थलों पर उपवर्ष का स्मरण किया है। प्रपञ्चहृदयकार का कहना है कि विस्तृत बोधायनवृत्ति का संक्षेप उपवर्ष ने किया। आचार्य शङ्कर ने इन वृत्तियों को बहुत उपयुक्त नहीं माना। बोधायनवृत्ति को निजमतानुसार अर्थान्तर की ओर मोड़ दिए जाने की बात श्रीरामानुज ने भी श्री भाष्य में स्वीकार की है—**'भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः सञ्चिक्षिपुः, तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते।'** आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र की अनाविल व्याख्या विशुद्ध वेदान्तानुसार की। उन्होंने सूत्रों का क्रम निश्चित किया, सूत्रपदानुसारी भावना को समझा, स्वमत प्रतिपादन के लिए अधिकरणों की सङ्गति बैठाई तथा परमत निराकरण की उग्रखण्डनात्मक शैली का अनुवर्त्तन कर सिद्धान्त-निरूपण की ऐसी पद्धति विकसित की जिसने अद्वैतवाद को दर्शनों का मुकुटमणि बना दिया। उनके विरोधी वैष्णवाचार्य भी श्रीशङ्कर द्वारा बनाई गई पद्धति का विरोध न कर सके। कुछ साधारण परिवर्त्तनों के साथ उन्होंने भी उसी शैली का अनुगमन किया। आचार्य शङ्कर द्वारा निर्मित्त व्याख्या विधि को ही उन्होंने अपना आदर्श बनाया। पांचरात्र अथवा भागवत मत को छोड़ कर सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैनमतादि के खण्डन में बाद के आचार्यों ने श्री शङ्कर का ही अनुकरण किया। सूत्रकार से भी उग्र विरोधी तेवर आचार्य शङ्कर के खण्डन में दिखाई देते हैं। सांख्य पर तो आचार्य ऐसे टूटते हैं, जैसे वही उनका प्रधान विरोधी हो। वैष्णवाचार्यों ने भक्ति सिद्धान्त के मूलस्रोत पांचरात्रागमों का समर्थन करने में आचार्य द्वारा प्रस्तुत खण्डनात्मक उक्तियों के विरुद्ध मण्डनात्मक युक्तियां देने में ही अपनी शक्ति झोंक दी, यह स्वाभाविक भी था क्योंकि ऐसा न करने पर भक्तिवाद न टिक पाता और उनका प्रस्थान ही त्रुटित हो जाता। आचार्य शङ्कर के अद्वैतवाद के विरुद्ध आचार्य भास्कर जैसे प्रतिवादियों ने जो कुछ कहा-लिखा, उसका उतनी ही शक्ति से खण्डन आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भामती में कर दिया। भामतीकार

नें आचार्य शङ्कर की महिमा को पुनः मण्डित किया। इसके बाद तो शङ्कर विरोधियों के मुख कीलित हो गए, उनके चेहरे निष्प्रभ हो गए, उनके अधरों पर शब्द सूख गए, तर्कों को पाला मार गया और धूल धूसरित खण्डनात्मक प्रयासों के लिए कोई स्थान हो न रह गया। अन्तरवर्त्ती व्याख्याकारों ने प्रत्यक्ष-परोक्ष आचार्य का लोहा मान लिया।

श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि जी ने ललिता व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इस सारी सामग्री को ध्यान में रखा है। उनकी 'विद्यानन्दवृत्ति' को पढ़ कर यदि शाङ्कर सिद्धान्त का मानचित्र समक्ष में आता है तो इस भाष्य को पढ़ कर उस मानचित्र की रङ्गयोजना और मणिकुट्टिम शृङ्गार की एक-एक बारीकी पकड़ में आ जाती है। उन्होंने प्रथमाध्याय को समन्वयाध्याय, द्वितीयाध्याय को विरोध परिहाराख्याध्याय, तृतीय अध्याय को साधनाख्याध्याय तथा चतुर्थ को फलाध्याय कह कर व्याख्या प्रस्तुत की है, जिससे सूत्रकार तथा भाष्यकार के मूल मन्तव्य का पता चल जाता है। यह क्रम भामतीकार के अनुसार ही है, बस द्वितीय अध्याय का नाम भामतीकार ने अविरोधाख्य रखा है और स्वामी विद्यानन्द जी ने उसे प्रासङ्गिकम् में विरोध परिहाराख्य कहा है। ललिता व्याख्या में स्वामी जी ने पहले आचार्य शङ्कर के सूत्र भाष्य का अर्थ प्रस्तुत किया है फिर रत्नप्रभा के सूत्रपोषक अर्थ की हिन्दी दी है। इसके बाद सारे विवेचन का सङ्गति, विषय, संशय, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त शीर्षक से सार प्रस्तुत कर दिया है। इससे सिद्धान्त को हृदयंगम करने में पूर्ण सुविधा मिलेगी। उदाहरण के लिए **'शास्त्रयोनित्वाधिकरण'** को लें। इसका सारांश स्वामी जी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

१. **सङ्गति**—निखिल जगत् का कारण होने से आपने ब्रह्म में सर्वज्ञत्व कहा, वह ठीक नहीं है क्योंकि जगदन्तःपाती वेद भी है और वह नित्य है, फिर तो निखिल जगत्कारणत्व ब्रह्म में कहना अयुक्त है, ऐसा आक्षेप होने पर शास्त्रयोनित्वाधिकरण प्रारम्भ करते हैं।

२. **विषय**—शास्त्रयोनित्वाधिकरण में वेद का कर्ता ब्रह्म का विचार किया गया है।

३. **संशय**—वेद का कर्ता ब्रह्म है या नहीं।

४. **पूर्वपक्ष**—**'वाचा विरूपनित्यया'** इस वेदवाक्य में वेद को नित्य कहा गया है, उसका कर्त्ता कोई नहीं हो सकता। अतः वेद का कर्ता ब्रह्म नहीं है।

५. **सिद्धान्त**—वेद का कर्ता ब्रह्म ही है क्योंकि वेद परमेश्वर का श्वास-निःश्वास है नित्यता तो समानता को लेकर कही गई है। अतः सबका प्रकाशक वेद का कर्ता होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है।

स्वामी जी ने सूत्र के ठीक बाद वैयासिक न्यायमाला के श्लोक दिए हैं और उसी पृष्ठ में पञ्चावयवों का वर्णन भी है। पर कहीं-कहीं प्रकरण समाप्ति पर उन श्लोकों का सार उक्त पञ्चावयव के आधार पर हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया है, उदाहरण के लिए उक्त सारांश के बोधक न्यायमाला के श्लोक लीजिए—

न कर्तृ ब्रह्म वेदस्य किं वा कर्तृ न कर्तृ तत्। विरूपनित्यया वाचेत्येवं नित्यत्वकीर्तनात्॥
कर्तृ निःश्वसितायुक्तेर्नित्यत्वं पूर्वसाम्यतः। सर्वावभासिवेदस्य कर्तृत्वात्सर्वविद्भवेत्॥

पाठक देखेंगे कि स्वामी जी को सम्पूर्ण भाष्य हस्तामलकवत् है, उनकी ललिता व्याख्या विषय का सांगोपांग रमणीय निरूपण करती है तथा भाष्यकार के सूत्रार्थ विचार की प्रामाणिकता युक्तियुक्त ढङ्ग से प्रतिपादित करती है। तृतीय अध्याय (साधनाख्य अध्याय) में स्वामी जी की

प्रतिभा तथा निपुणता का विशेष परिचय मिलता है। पूर्वमीमांसा शास्त्र के पूर्ण अध्ययन के बिना न तो इस अध्याय के भाष्य को समझा जा सकता है और न इसका पठन-पाठन किया या कराया जा सकता है। स्वामी जी का इस सम्बन्ध में यह कथन विद्वानों के लिए चुनौती है कि "वैदिक उपासनाओं के लिए इस पाद पर अनुसन्धान की परम आवश्यकता है। अनुसन्धान के बाद उपनिषदों में वर्णित परावर विद्या के अनुष्ठान के लिए एक तालिका बनाने की भी आवश्यकता है जिससे साधक उपनिषदों में वर्णित वैदिक उपासनाओं का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान कर समुचित फल प्राप्त कर सकें।" ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों की प्रतीकात्मक शैली में कथित उपासना विधियाँ, उपास्यदेव तथा उपासना के फलों में दिखाई देने वाले विरोध का निरसन तभी सम्भव है जब मूल मन्त्र भाग के तात्पर्य से गहरा परिचय हो। मूल सूत्रकार का लक्ष्य समन्वय है। अतः भाष्यकार तथा टीकाकारों ने ऊपर से विरोधी दीखने वाली उपासनाओं में अन्तरवर्ती एकत्व दिखाया है। '**दर्शयति च**' सूत्र की व्याख्या में कह दिया गया है—'**अन्यत्रोपासनाविधानायोपादानात्प्रायेणोपासनानामस्त्येकत्वं सर्वत्रेति सिद्धम्**।"

एक बात और। धर्मशास्त्र में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के अर्थ को जानने के लिए पाठक को अन्यत्र न जाना पड़े, उसके सतत स्वाध्याय का आसन खण्डित न हो। अतः व्याख्याकार ने उनकी परिभाषाएँ यथास्थान दे दी हैं। जैसे इष्ट और पूर्त शब्दों की व्याख्या में प्रस्तुत निम्नाङ्कित श्लोक ध्यान आकृष्ट करते हैं—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्, आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते।
वापी कूपतडागादि देवतायतनानि च, अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ शाङ्करभाष्य का एकमात्र ऐसा हिन्दी अनुवाद है जिसमें आचार्य के चिन्तन की विशिष्टता बताते हुए भाष्यगत सिद्धान्त का निर्मल प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ द्वारा प्रबुद्ध पाठकों को सूत्रानुसार सम्पूर्ण विवेचन सामग्री एक ही स्थान पर प्राप्त हो सकेगी तथा अद्वैत विषयक समस्त परम्पराओं के समन्वयक सूत्र उपलब्ध हो सकेंगे। अद्वैत सम्प्रदाय की शास्त्र सम्मत पुष्टि तथा अवैदिक और अद्वैत-इतर सिद्धान्तों का निराकरण भाष्यकार का लक्ष्य रहा है। श्री स्वामी जी ने ललिता व्याख्या में सर्वत्र इसी सिद्धान्त की रक्षा की है। आचार्य शङ्कर के मूल सिद्धान्त के इस नाभिकेन्द्र में पाठकों को वैदिक सिद्धान्त का स्वच्छ, मनोरम और नित्य शतदल खिलता हुआ मिलेगा; वह शतदल जिस पर श्री वाचस्पति मिश्र, श्री मधुसूदन जी सरस्वती तथा कैलासपीठ के महामण्डलेश्वर वृन्द मधुकर बन कर अध्यात्म के मधुकण एकत्र करते रहे हैं। श्रीविद्यानन्दगिरि जी इसी मधुविद्या के निष्णात आचार्य हैं। वे हमारी अर्चना के योग्य प्रज्ञापुरुष हैं।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भगवदीयः

डॉ० विष्णुदत्त राकेश
पी-एच-डी., डी. लिट्.
मानविकी सङ्कायाध्यक्ष
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

मकरसंक्रान्तिः
वि० सं० २०५३
शाङ्कराब्दः १२०६



॥ प्रासङ्गिकम् ॥

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

अपौरुषेय वेद, कल्पवृक्ष के तुल्य है जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ के साधनों एवं अधिकारी आदि का निपुणतम वर्णन है। वेद में कर्म, उपासना और ज्ञान ऐसे तीन काण्ड हैं। इनमें कर्म और उपासना लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही फल के साधन हैं। सकाम भाव से कर्म और उपासना का अनुष्ठान करने पर केवल ऐहिक तथा आमुष्मिक सुख-साधन प्राप्त होते हैं, पर निष्काम भाव से अनुष्ठान किये जाने पर अन्तःशुद्धि एवं चित्तऐकाग्र्य द्वारा परम्परया मोक्ष के भी साधन होते हैं। इससे भिन्न ज्ञान मोक्ष का साधन है जिसका निरूपण वेद के शिरोभाग उपनिषदों में किया गया है। यूँ तो उपनिषदों में धर्म, अर्थ एवं काम का भी निरूपण है किन्तु प्रधान रूप से मोक्ष के साधन ज्ञान का ही निरूपण किया गया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है जो ब्रह्मात्मैक्य दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान से सद्यः प्राप्त होता है और अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान से परम्परया मोक्ष मिलता है। उपनिषदों के संदिग्ध वाक्यों का विचार उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) में किया गया है जिसके रचयिता भगवान् बादरायण हैं। भगवान् बादरायण के अभिप्राय को जगद्गुरु आदि शङ्कराचार्य भगवत्पाद ने ही ठीक-ठीक समझा है, क्योंकि इसके पूर्व ब्रह्मसूत्र पर भाष्य या वृत्ति लिखने वालों के पक्षों का निराकरण भी ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य में देखने को मिलता है। शाङ्करभाष्य के केवलाद्वैत सिद्धान्त पर धूलि प्रक्षेप करने का असफल प्रयत्न बाद के विद्वानों ने किया है, जिसकी चर्चा यहाँ पर अनावश्यक है। हम तो यहाँ पर ब्रह्मसूत्र और उसके प्राञ्जल, गम्भीर शाङ्करभाष्य पर ही कुछ विचार करना उचित समझते हैं।

ब्रह्मसूत्र चार अध्यायों में विभक्त है, जिसके प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भिक चार अधिकरण इतने अधिक महत्वपूर्ण हैं कि कुछ विद्वान् भगवत्पाद आदि शङ्कराचार्य के सिद्धान्त को समझने के लिए इन चार अधिकरणों का अध्ययन ही पर्याप्त मानते हैं। उनकी यह भी धारणा है कि शेष ब्रह्मसूत्र में इन्हीं चार अधिकरणस्थ चार सूत्रों के विषयों का पल्लवन किया गया है, फिर भी उसका अध्ययन-अध्यापन अनावश्यक नहीं है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम जिज्ञासा अधिकरण में चार वर्णकों द्वारा भगवान् भाष्यकार ने इस अधिकरण के अभिप्राय को सुस्पष्ट किया है, १. अध्यास वर्णक २. अगतार्थ वर्णक ३. अधिकारी वर्णक तथा ४. ब्रह्म को आपात प्रसिद्धि वर्णक। इन चारों वर्णकों द्वारा जो भी भगवान् भाष्यकार ने इस अधिकरण के अभिप्राय को सुस्पष्ट किया है वह मनन करने योग्य है। विशेषतः समन्वयाधिकरण के दो वर्णकों में जो भाव व्यक्त किया है वह मनन करने योग्य है। विशेषतः समन्वयाधिकरण के दो वर्णकों में जो भाव व्यक्त किया है वह तो

देखने में ही बनता है। ऐसे ही आगे के अधिकरणों में भी अनुपम चिन्तन ब्रह्मजिज्ञासुओं को मिलता है। इसीलिए तो श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी ने सिद्धान्त बिन्दु में लिखा है—

न नौमि तं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ्न सूत्रैरपि यो बबन्धः।
बिनाऽपि तैः संग्रथितमशेषं तं शङ्करं नौमि सुरेश्वरं च॥

अर्थात् सूत्रों की रचना करने के बाद भी उपनिषदों के अभिप्राय को वेदव्यास जी नहीं बाँध सके क्योंकि वेदव्यास जी के सूत्रों की व्याख्या अन्यथाभी विद्वानों ने की है। पर बिना सूत्ररचना के ही आदि शङ्कराचार्य जी तथा सुरेश्वराचार्य जी ने जिस केवलाद्वैत श्रौतसिद्धान्त को सुस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है एतदर्थ वेदव्यास की अपेक्षा भी हम आदि शङ्कराचार्य एवं सुरेश्वराचार्य जी को अधिक वन्दनीय मानते हैं। ऐसा ही अभिप्राय संक्षेप शारीरकाचार्य श्री सर्वज्ञात्ममुनि ने भी व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताभूत्।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का नमामि तं शंकरमर्चिताङ्घ्रिम्।

(नित्य सरस्वती वेदवाणी जगद्गुरु आदि शङ्कराचार्य को प्राप्तकर अपने अर्थ से सम्पन्न हो गयी, जिस वेद वाणी में दुष्तर्क पङ्ककलङ्क का नाम तक भी नहीं है, ऐसे भगवत्पाद के चरणों में मैं नमस्कार करता हूँ।)

समन्वयाध्याय के प्रथम पाद में उन श्रुति वाक्यों का विचारकर अद्वय ब्रह्म में समन्वय बतलाया गया है जिनमें ब्रह्मलिङ्ग सुस्पष्ट भासते हैं। पर जिनमें ब्रह्मलिङ्ग सुस्पष्ट नहीं भासते और उपास्य ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले हैं ऐसे श्रुतिवाक्यों का विचारकर अद्वय ब्रह्म में समन्वय समन्वयाध्याय के द्वितीय पाद से किया गया है। ऐसे ही जिन श्रुतिवाक्यों में ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट तो नहीं है किन्तु प्रायशः वे ज्ञेय ब्रह्म को विषय करते हैं, ऐसे श्रुतिवाक्यों पर विचारकर अद्वय ब्रह्म में समन्वय प्रथमाध्याय के तृतीय पाद से किया गया है और श्रुतियों में जो अव्यक्त एवं अजादि पद आये हैं जिन्हें देखने पर सन्देह होता है कि सम्भवतः ये पद प्रधान, परमाणु या शून्य को तो विषय नहीं कर रहे हैं, ऐसे सन्दिग्ध पदों का विचारकर पूर्वोक्त अद्वयब्रह्म में ही इनका भी समन्वय दिखलाया गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण श्रुतियों का अद्वय ब्रह्म में समन्वय निश्चित हो जाने पर विरोध परिहार के लिए द्वितीय अध्याय की रचना वेदव्यास जी ने की है।

विरोध परिहाराख्य द्वितीय अध्याय के चार पाद हैं—१. स्मृतिपाद २. तर्क पाद ३. वियत् पाद और ४. प्राण पाद। सांख्य, योग, काणादादि स्मृतियों और उनके तर्कों के साथ जब समन्वय में विरोध खड़ा हो गया, तो उस विरोध का परिहार द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद से किया गया है। द्वितीय अध्याय के द्वितीय तर्क पाद द्वारा उन्हीं के तर्कों से उनके दर्शनों की समीक्षा की है जिससे सांख्य, काणाद, बौद्ध, जैन, पाशुपत एवं पाञ्चरात्र भागवत मत में दुष्टत्व बतलाया गया है। जब इनके तर्क इनके दर्शनों में ही पङ्गु हो रहे हैं तो भला इनके तर्कों द्वारा ब्रह्मसूत्र के प्रथमाध्याय से सुनिश्चित समन्वय में विरोध की आशा कैसे की जा सकती है। द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद द्वारा महाभूत एवं जीवादि श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है। उसका मूल कारण यह था कि जब तर्क पाद के अन्तिम अधिकरण में '**विप्रतिषेधाच्च**' इस सूत्र द्वारा भगवान् वेदव्यास ने यह कहा कि पाञ्चरात्र मत इसलिए भी असङ्गत है क्योंकि उसमें परस्पर विरोध दीखता है, इसी बात को लेकर वियदादि भूतों एवं जीव आदि के सम्बन्ध में जब श्रुतिविरोध दीखता है तब क्यों नहीं श्रुति

सिद्धान्त को असङ्गत मान लिया जाय; इस विरोध का परिहार द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद से किया गया है। विरोध परिहाराख्य द्वितीय अध्याय के चतुर्थपाद द्वारा लिङ्ग शरीर सम्बन्धी श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है। इन्द्रियाँ, मुख्यप्राण, इनके स्वरूप, परिमाण एवं संख्या आदि के विषय में जब श्रुतियों का मतैक्य नहीं है, तो क्यों नहीं परस्पर विरुद्ध बोलने वाली श्रुतियों की उपेक्षा की जाय; ऐसा विरोध आने पर भगवान् वेदव्यास ने उसका भी परिहार ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय चतुर्थ पाद द्वारा कर दिया है। इस प्रकार सभी विरोधों के निरस्त हो जाने पर केवलाद्वैत सिद्धान्त में श्रुतियों का पूर्वोक्त समन्वय सुस्थिर हो जाता है। तत्पश्चात् मुमुक्षु साधक मोक्षसाधनों के अनुष्ठान में तत्पर होता है। उन्हीं साधनों का विचार ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय में किया गया है।

तृतीय अध्याय को साधनाख्य अध्याय भी कहते हैं, जिसमें मोक्ष के सभी साधनों पर विचार किया गया है, इसमें भी चार पाद हैं—१. वैराग्य पाद २. तत्त्वमपदार्थशोधन पाद ३. गुणोपसंहार पाद और ४. निर्गुणविद्या के अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधन विचार पाद। इसके प्रथम वैराग्य पाद में जीव की परलोक गति और आगति का विस्तृत विचार किया गया है, जिससे साधक के मन में पुनर्जन्म से छूटने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हो जाय और वह लोक-परलोक के समस्त भोगों से उपरत हो अध्यात्म साधना में तत्पर हो जाये। इसके द्वितीय तत्-त्वम् पदार्थशोधन पाद में महावाक्य के तत् एवं त्वम् पदार्थ का विचार किया गया है, जिसमें सभी आठ अधिकरण हैं। प्रारम्भिक चार अधिकरणों द्वारा त्वम् पदार्थ का विचार और तत्पश्चात् चार अधिकरणों द्वारा तत् पदार्थ का विचार किया गया है। पदार्थ ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान का हेतु है, इसे सभी विद्वान् मानते हैं। अतः वाक्यार्थ ज्ञान से पूर्व तत्-त्वम् पदार्थ का विचार अत्यावश्यक है। इस अध्याय के तृतीय पाद में परापर विद्या के गुणों का उपसंहार कहाँ और कैसे होना चाहिए, इसका निपुणतम विचार छत्तीस अधिकरणों में किया गया है। पूर्वमीमांसा से अनुप्राणित होने के कारण इसके अध्ययन-अध्यापन में विद्वान् कठिनाई का अनुभव करते हैं, किन्तु वैदिक उपासनाओं के लिए इस पाद पर अनुसन्धान की परम आवश्यकता है। अनुसन्धान के बाद उपनिषदों में वर्णित परापर विद्या के अनुष्ठान के लिए एक तालिका बनाने की भी आवश्यकता है, जिससे साधक उपनिषदों में वर्णित वैदिक उपासनाओं का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठानकर समुचित फल प्राप्त कर सके। साधनाख्य तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्मविद्या के अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग साधनों का विशेष विचार किया गया है, जिसमें सभी सत्रह अधिकरण हैं। इस पाद के विषयों का सम्यक् विचार किये बिना निर्गुण ब्रह्मविद्या में साधकों की दाढ्‌र्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रसङ्गवश इस पाद में भी सगुण विद्या का भी किञ्चित विचार है।

ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय का नाम फलाध्याय है जिसमें निर्गुण एवं सगुण ब्रह्मविद्या के फलविशेष का निर्णय किया गया है। इसके प्रथम पाद में जीवनमुक्ति एवं उसके साधनों का निरूपण है, द्वितीय पाद में विद्या के फलस्वरूप उपासक को उत्क्रान्ति एवं गति का विचार विस्तार से किया गया है। इस अध्याय के तृतीय पाद में सगुण ब्रह्मोपासक के मरने पर उत्तरायण मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गयी है, ब्रह्मलोक के मार्ग का वर्णन विस्तार से किया गया है। अन्तिम चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्मज्ञानियों को विदेहकैवल्य की प्राप्ति एवं ब्रह्माविर्भाव भी बतलाया गया है और सगुण ब्रह्म उपासकों को ब्रह्मलोक के शासक के समान ऐश्वर्य की प्राप्ति बतलायी

गयी है; किन्तु उस लोक के शासन का अधिकार वहाँ के शासक ब्रह्मा के अधीन ही बतलाया गया है, भोगमात्र की समता कही गयी है। इस प्रकार संक्षेपतः इस ब्रह्मसूत्र के विषयों का विचार पूर्ण हो जाता है।

कुछ विद्वानों ने ब्रह्मसूत्र के **'जन्माद्यस्य यतः'** एवं **'अनावृत्ति शब्दात्'** इन दोनों सूत्रों को देखकर सगुण ब्रह्म के प्रतिपादन में ब्रह्मसूत्र का चरम तात्पर्य माना है जो आपात रमणीय है क्योंकि उपनिषदों में सगुण ब्रह्म की उपासना एवं उसके ज्ञान से ब्रह्मलोक के भोगों की प्राप्ति कही है, मोक्ष तो निर्गुण ब्रह्मज्ञान से ही मिलता है अन्यथा निर्गुण ब्रह्म की उपनिषदों में चर्चा एवं उसके ज्ञान का वैषिष्ट्य ही नहीं रह जायेगा।

प्रस्तुत संस्करण में प्रत्येक अधिकरणों के सङ्गति, विषय, संशय, पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्त पक्ष इन पञ्चावयवों का सुस्पष्ट प्रतिपादन ललिता व्याख्या में किया गया है जो वैयासिक न्यायमाला के ऊपर आधारित है। प्रत्येक अधिकरण का नाम जहाँ दिया गया है, उसके नीचे वैयासिक न्यायमाला के श्लोक दिये गये हैं और उसी पृष्ठ में ललिता व्याख्या के साथ अधिकरणों के पञ्चावयवों को बतलाया है। सूत्र सदा शिरोभाग में दिये गये हैं और सूत्रारम्भ के पूर्व उपोद्घात भाष्य दिया गया है और तत्पश्चात् भाष्यकार द्वारा सूत्रार्थ विचार दिखलाया गया है। भाष्यसम्बन्धित रत्नप्रभा टीका एवं टिप्पणियों को यथासम्भव उसी पृष्ठ में रखने का प्रयास किया गया है और ललिता व्याख्या कभी आगे-पीछे भी हो गयी है। पाठकों की सुविधा के लिए इन सभी बातों का ध्यान रखकर सम्पादन किया गया है; उसी दृष्टि से इस ग्रन्थ में चतुःसूत्री (टीका, टिप्पणी एवं ललिता व्याख्या के सहित) पृथक भी एक भाग में सङ्कलन किया गया है और सम्पूर्ण ग्रन्थ दो भागों में उपलब्ध है। आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन पाठकों एवं जिज्ञासुओं के लिए इसके पूर्व प्रकाशनों की अपेक्षा अधिक उपादेय होगा। इसकी पाण्डुलिपि, टिप्पण सङ्कलन, शोध्यपत्रसंशोधन एवं सम्पादन में सम्पादक मण्डल के सदस्यों ने अत्यन्त मनोयोग दिया है, एतदर्थ ये सभी साधुवाद एवं भगवत्कृपा के पात्र हैं। अतः हम उन सबकी मङ्गल कामना करते हैं। इत्योंशम्।

वासन्ती नवरात्रि
शाङ्कराब्द १२०८
विक्रमाब्द २०५३
दिनाङ्क २९-३-९६

भगवत्पादीयः
आचार्य म. मं. स्वामी विद्यानन्द गिरि
श्री कैलास आश्रम
हृषीकेश पिन–२४९२०१





ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यस्थविषयानुक्रमणिका ।

प्रथमोऽध्यायः पृ० १–४४४

प्रथमः पादः पृ० १–१८१

द्वितीयः पादः (पृ० १८२-२४७)

५ अन्तर्याम्यधिकरणम् । (पृ० २१५–२२१)

६ अदृश्यत्वाद्यधिकरणम् । (पृ० २२१–२३२)

७. वैश्वानराधिकरणम् । (पृ० २३२–२४७)



तृतीयः पादः (पृ: २४८–३७०)

१ द्युभ्वाद्यधिकरणम् (२४८–२५९)

२ भूमाधिकरणम् । (पृ० २५९-२६९)

३ अक्षराधिकरणम् । (पृ० २६९-२७२)

॥ इति प्रथमोध्यायः ॥





विषयविटपाः

* * *

प्रथमाध्याये (पृ० १–४४२) प्रथमः पादः (पृ० १–१८१)

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः (पृ० १८२–२४७)

प्रथमाध्याये तृतीयः पादः (पृ० २४८–३७०)

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः (पृ० ३७१–४४२)

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥



ॐ

ब्रह्मविद्यापीठश्रीकैलासाश्रमस्याधिष्ठातृदेवानां भगवताम-

भिनवचन्द्रेश्वरमहादेवानां प्रतिष्ठाशताब्दीमहोत्सवप्रसङ्गे

षष्ठकैलासपीठाधीश्वराणामाचार्यमहामण्डलेश्वराणां

विद्यावाचस्पतीनामनन्तश्रीविभूषितानां स्वामि-

विष्णुदेवानन्दगिरिमहोदयानामष्टमपीठाधीश्व-

राणामाचार्यमहामण्डलेश्वराणामनन्तश्री-

विभूषितानां स्वामिचैतन्यगिरिमहोद-

यानां च निर्वाणरजतमहोत्सवा-

वसरे तेषां पूज्यचरणानां

कराब्जयोरिमाम-

भिनवां कृतिं

सादरं

समर्पयति ।

कैलासपीठाधीश्वर आ. म. मं. स्वामी विद्यानन्दगिरिः ।



॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

॥ श्रीबादरायणविरचितम् ॥

॥ ब्रह्मसूत्रम् ॥



॥ सटिप्पणशाङ्करभाष्यरत्नप्रभाललिताव्याख्यायुतम् ॥

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ श्रीमद्गोविन्दानन्दप्रणीता भाष्यरत्नप्रभाख्या टीका ॥

यमिह कारुणिकं [1]शरणं गतोऽप्यरिसहोदर आप महत्पदम् ।
तमहमाशु हरिं परमाश्रये जनकजाङ्कमनन्तसुखाकृतिम् ॥१॥

श्रीगौर्या सकलार्थदं निजपदाम्भोजेन मुक्तिप्रदं
प्रौढं विघ्नवनं हरन्तमनघं श्रीढुण्ढितुण्डासिना ।
वन्दे चर्मकपालिकोपकरणैर्वैराग्यसौख्यात्परं
नास्तीति प्रदिशन्तमन्तविधुरं श्रीकाशिकेशं शिवम् ॥२॥

यत्कृपालवमात्रेण मूको भवति पण्डितः ।
वेदशास्त्रशरीरान्तां वाणीं वीणाकरां भजे ॥३॥

वेदान्तसर्वदर्शनाचार्येण श्रीकैलासपीठाधीश्वरेणाचार्यमहामण्डलेश्वरेण
श्रीमत्स्वामिविद्यानन्दगिरिणा प्रणीता

❁ ललिताख्या व्याख्या ❁

॥ दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः ॥

यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव विलीयते ।
येन प्राणिति तद्ब्रह्म विज्ञानानन्दविग्रहम् ॥१॥
नित्यं विज्ञानमानन्दं महेशं यतिसेवितम् ।
प्रणौमि शिरसा देवं ज्ञानविज्ञानमोक्षदम् ॥२॥

॥ विद्यावाचस्पतिमहामण्डलेश्वरश्रीमत्स्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिविरचिता **'गोविन्दप्रसादिनी'** टिप्पणी ॥

१. शरणं परममभयस्थानं निःश्रेयसरूपम् ।

कामाक्षीदत्तदुग्धप्रचुरसुरनुतप्राज्यभोज्याधिपूज्य-
श्रीगौरीनायकाभिव्यक्टनशिवरामार्यलब्धात्मबोधैः ।
श्रीमद्गोपालगीर्भिः प्रकटितपरमाद्वैतभासास्मिताऽत्र
श्रीमद्गोविन्दवाणीचरणकमलगो निर्वृतोऽहं यथालिः ॥४॥
श्रीशंकरं भाष्यकृतं प्रणम्य व्यासं हरिं सूत्रकृतं च वच्मि ।
श्रीभाष्यतीर्थे परहंसतुष्ट्यै वाग्जालबन्धच्छिदमभ्युपायम् ॥५॥
विस्तृतग्रन्थवीक्षायामलसं यस्य मानसम् ।
व्याख्या तदर्थमारब्धा भाष्यरत्नप्रभाभिधा ॥६॥
श्रीमच्छारीरकं भाष्यं प्राप्य वाक् शुद्धिमाप्नुयात् ।
इति श्रमो मे सफलो गङ्गां रथ्योदकं यथा ॥७॥
यदज्ञानसमुद्भूतमिन्द्रजालमिदं जगत् ।
सत्यज्ञानसुखानन्तं तदहं ब्रह्म निर्भयम् ॥८॥

इह खलु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (श.ब्रा. ११-५-७) इति नित्याध्ययनविधिनाऽधीतसाङ्गस्वाध्याये 'तद्विजिज्ञासस्व' (तै. ३-१), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा. ८-७-१), 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' (बृ. २-४-५) इति श्रवणविधिरुपलभ्यते । तस्यार्थः—अमृतत्वकामेनाद्वैतात्मविचार एव वेदान्तवाक्यैः कर्तव्य इति । तेन काम्येन नियमविधिनाऽर्थाद्बाह्यशास्त्रप्रवृत्तिः, वैदिकानां पुराणादिप्राधान्यं वा निरस्यत इति वस्तुगतिः । तत्र कश्चिदिह जन्मनि जन्मान्तरे वाऽनुष्ठितयज्ञादिभिर्नितान्तविमलस्वान्तोऽस्य श्रवणविधेः को विषयः ? किं फलं ? कोऽधिकारी ? कः सम्बन्धः ? इति जिज्ञासते । तं जिज्ञासुमुपलभमानो भगवान्बादरायणस्तदनुबन्धचतुष्टयं श्रवणात्मकशास्त्रारम्भप्रयोजकं न्यायेन निर्णेतुमिदं सूत्रं रचयाञ्चकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र.सू. १-१-१) इति । नन्वनुबन्धजातं 'विधिसन्निहितार्थवादवाक्यैरेव ज्ञातुं शक्यम् । तथाहि—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा. ८-१-६) इति श्रुत्या 'यत्कृतकं तदनित्यं' इति न्यायवत्या 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ. १-२-१८), 'यो वै भूमा तदमृतमतोऽन्यदार्तम्' (छा. ७-२४-१) इत्यादिश्रुत्या च भूमात्मा नित्यस्ततोऽन्यदनित्यमज्ञानस्वरूपमिति विवेको लभ्यते । कर्मणा कृष्यादिना

ललिताऽस्ति जगन्माता, सैवैतद्देहजन्मदा ।
शोभना ललिता व्याख्या, तद्धेतोर्ललिताऽभिधा ॥३॥
स्वान्तः सुखाय टीकेयं, विद्यानन्देन निर्मिता ।
तुष्यन्तु पाठकास्तत्र, तन्मे शम्भुः प्रसीदतु ॥४॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



१. श्रोतव्यः । २. सन्निहितेति — गुणोपसंहारन्यायेनेति शेषः । ३. विनाशग्रस्तम् ।

चितः संपादितः सत्यादिर्लोको भोग्य इत्यर्थः। विपश्चिन्नित्यज्ञानस्वरूपः। 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' (मु. १-२-१२), 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ. २-४-५) इत्यादिश्रुत्याऽनात्ममात्रे देहेन्द्रियादिसकलपदार्थजाते वैराग्यं लभ्यते। परीक्ष्यानित्यत्वेन निश्चित्य, अकृतो मोक्षः कृतेन कर्मणा नास्तीति कर्मतत्फलेभ्यो वैराग्यं प्राप्नुयादित्यर्थः। 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ. ४-४-२३) इति श्रुत्या शमादिषट्कं लभ्यते। 'समाहितो भूत्वा' इति काण्वपाठः। उपरतिः संन्यासः। 'न स पुनरावर्तते' (कालाग्निरुद्र उ. २) इति स्वयंज्योतिरानन्दात्मकमोक्षस्य नित्यत्वश्रुत्या मुमुक्षा लभ्यते। तथा च विवेकादिविशेषणवानधिकारीति ज्ञातुं शक्यम्। यथा "य एता रात्रीरुपयन्ति' इति रात्रिसत्रविधौ 'प्रतितिष्ठन्ति' इत्यर्थवादस्थप्रतिष्ठाकामस्तद्वत्। तथा 'श्रोतव्यः' इत्यत्र प्रत्ययार्थस्य नियोगस्य प्रकृत्यर्थो विचारो विषयः, विचारस्य वेदान्ता विषय इति शक्यं ज्ञातुम्, 'आत्मा द्रष्टव्यः' इत्यद्वैतात्मदर्शनमुद्दिश्य 'श्रोतव्यः' इति विचारविधानात्। न हि विचारः साक्षाद्दर्शनहेतुः, अप्रमाणत्वात्, अपि तु प्रमाणविषयत्वेन। प्रमाणं चाद्वैतात्मनि वेदान्ता एव, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' (बृ. ३-९-२६), 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मु. ३-२-६) इति श्रुतेः। वेदान्तानां च प्रत्यग्ब्रह्मैक्यं विषयः, 'तत्त्वमसि' (छा. ६-८-७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. १-४-१०) इति श्रुतेः। एवं विचारविधेः फलमपि ज्ञानद्वारा मुक्तिः, 'तरति शोकमात्मवित्' (छा. ७-१-३), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु. ३-२-९) इत्यादिश्रुतेः। तथा संबन्धोऽप्यधिकारिणा विचारस्य कर्तव्यतारूपः, फलस्य प्राप्यतारूप इति यथायोग्यं सुबोधः। तस्मादिदं सूत्रं व्यर्थमिति चेत्, न। तासामधिकार्यादिश्रुतीनां स्वार्थे तात्पर्यनिर्णायकन्यायसूत्राभावे किं विवेकादिविशेषणवानधिकारी? उतान्यः? किं वेदान्ताः पूर्वतन्त्रेण गतार्था अगतार्था वा? किं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नं न वा? किं मुक्तिः स्वर्गादिवल्लोकान्तरम्? आत्मस्वरूपा वा? इति संशयानिवृत्तेः। तस्मादागमवाक्यैरापाततः प्रतिपन्नाधिकार्यादिनिर्णयार्थमिदं सूत्रमावश्यकम्।

किसी भी ग्रन्थ के अध्ययनादि में प्रयोजन, अधिकारी, विषय, फल और सम्बन्धरूप **अनुबन्धचतुष्टय** हुआ करता है। '**श्रोतव्यः**' इस श्रवणविधि में अधिकारी शुद्धान्तःकरण पुरुष माना गया है, जिसने इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में यागादि का अनुष्ठान कर अपने अन्तःकरण को शुद्ध एवं शान्त बना रखा है। ऐसे जिज्ञासु को दृष्टि में रखकर भगवान् वेदव्यास ने श्रवणाद्यात्मक शास्त्रारम्भ प्रयोजक अनुबन्धचतुष्टय को युक्ति से सिद्ध करने के लिए '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इस सूत्र को बनाया है। यद्यपि श्रोतव्यविधि के निकट पढ़े गये अर्थवाद वाक्यों से भी अनुबन्धचतुष्टय का बोध होता है, फिर भी अधिकारी आदि बोधक श्रुतियों का स्वार्थ में तात्पर्य बतलाने वाले सूत्र की रचना न करने पर सन्देह होने लगेगा, कि विवेकादिसाधनसम्पन्नपुरुष वेदान्त श्रवणादि का अधिकारी है अथवा कोई अन्य है? पूर्वमीमांसादर्शन से वेदान्त गतार्थ है या नहीं? ब्रह्म आत्मा से भिन्न है या अभिन्न है? स्वर्गादि के समान मोक्ष भी लोकान्तर है अथवा आत्मस्वरूपस्थिति ही है? ये सब संशय बने रहेंगे। अतः आगमवाक्यों द्वारा आपाततः अवगत अधिकारी आदि के युक्ति से निर्णय के लिए इस सूत्र की रचना आवश्यक है। ऐसा ही प्रकाशात्मयतिजी ने विवरण-ग्रन्थ में कहा भी

१. प्रतितिष्ठन्ति ह वा य इति शेषः। २. यथात्र विधौ प्रतिष्ठाफलदर्शनेन ये प्रतिष्ठा सन्ति त एता रात्रीरुपेयुरिति प्रतिष्ठाकामोऽधिकारी कल्प्यते, तथात्रापि उक्त विशेषणवानधिकारीति कल्पयितुं शक्य इति। ३. कर्तव्यस्य। ४. अद्वैतात्मा। ५. अन्य इति—अर्थी दक्षो द्विजो बुद्ध इत्यादि विशेषणवानित्यर्थः। ६. आपाततोऽप्रामाण्यज्ञानतः प्रतिपन्ना आस्कन्दिता येऽधिकार्यादयस्तेषामित्यादि।

तदुक्तं प्रकाशात्मश्रीचरणैः—'अधिकार्यादीनामागमिकत्वेऽपि न्यायेन निर्णयार्थमिदं सूत्रम्' इति। येषां मते श्रवणे विधिर्नास्ति तेषाम[1]विहितश्रवणेऽधिकार्यादिनिर्णयानपेक्षणात्सूत्रं व्यर्थमित्यापततीत्यलं[2]प्रसङ्गेन।

तथा चास्य सूत्रस्य श्रवणविध्यपेक्षिताधिकार्यादिश्रुतिभिः [3]स्वार्थनिर्णयायोत्थापितत्वाद्धेतुहेतुमद्भावः श्रुतिसंगतिः, शास्त्रारम्भहेत्वनुबन्धनिर्णायकत्वेनो[4]पोद्घातत्वाच्छास्त्रादौ संगतिः, अधिकार्यादिश्रुतीनां स्वार्थे समन्वयोक्तेः समन्वयाध्यायसंगतिः, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा. ६-८-७) इत्यादिश्रुतीनां सर्वात्मत्वादिस्पष्टब्रह्मलिङ्गानां विषयादौ समन्वयोक्तेः पादसंगतिः, एवं सर्वसूत्राणां श्रुत्यर्थनिर्णायकत्वाच्छ्रुतिसंगतिः, तत्तदध्याये तत्तत्पादे च समानप्रमेयत्वेन संगतिरूहनीया। प्रमेयं च कृत्स्नशास्त्रस्य ब्रह्म। अध्यायानां तु समन्वयाविरोधसाधनफलानि। तत्र प्रथमपादस्य स्पष्टब्रह्मलिङ्गानां श्रुतीनां समन्वयः प्रमेयः। द्वितीयतृतीययोरस्पष्टब्रह्मलिङ्गानाम्। चतुर्थपादस्य पदमात्रसमन्वय इति भेदः। अस्याधिकरणस्य प्राथम्यान्नाधिकरणसंगतिरपेक्षिता।

अथाधिकरणमारच्यते—'श्रोतव्यः' इति विहितश्रवणात्मकं वेदान्तमीमांसाशास्त्रं विषयः। तत्किमारब्धव्यं न वा? इति विषयप्रयोजनसंभवासंभवाभ्यां संशयः। तत्र नाहं ब्रह्मेति भेदग्राहिप्रत्यक्षेण कर्तृत्वाकर्तृत्वादिविरुद्धधर्मवत्त्वलिङ्गकानुमानेन च विरोधेन ब्रह्मात्मनोरैक्यस्य विषयस्यासंभवात्,

---

है। हाँ, जो लोग श्रवण में विधि नहीं मानते उनकी दृष्टि से **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** सूत्र की रचना व्यर्थ हो सकती है।

ब्रह्मविचाररूप इस शास्त्र में प्रवेश के लिए जिज्ञासाधिकरण उपोद्घातरूप है **'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः'** इति। प्रकृत अर्थ की सिद्धि के लिए चिन्ता को विद्वानों ने उपोद्घात कहा है। यथा किसी को छाछ की आवश्यकता हो और वह पड़ोस के घर में जाकर पूछे कि 'आप की गाय दूध देती है' तो इसे उपोद्घात कहेंगे। अतः जिज्ञासाधिकरण उपोद्घातरूप है—

'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
संगतिश्चेतिपञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम्'॥

इस वाक्य में अधिकरण का लक्षण बतलाया गया है। तदनुसार **'श्रोतव्यः'** इस वाक्य से विहित श्रवणरूप वेदान्त,मीमांसाशास्त्र इस अधिकरण का विचारणीय विषय है। विषय, प्रयोजन के रहने पर यह शास्त्र आरम्भणीय है और न रहने पर आरम्भणीय नहीं है, ऐसा संशय होता है।

इस पर पूर्वपक्ष—'मैं ब्रह्म नहीं हूं' ऐसे भेदग्राही प्रत्यक्ष और कर्तृत्वाकर्तृत्वादिविरुद्धधर्मवत्वलिङ्गक अनुमान से ब्रह्म और आत्मा की एकता का विरोध होने के कारण उक्त ऐक्यविषय सम्भव नहीं है, साथ ही सत्यबन्ध की ज्ञान से निवृत्ति होना भी सम्भव नहीं है अतः यह उत्तरमीमांसाशास्त्र आरम्भणीय नहीं है।

सिद्धान्त—**'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** यहाँ पर भी श्रवणविधि है जिसमें **'कर्त्तव्या'** इस पद का अध्याहार करना चाहिए, अर्थात् **'ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या'**। **'ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा'** इस षष्ठी समास में ब्रह्म पद का अर्थ गौण होने के कारण अध्याहृत कर्त्तव्या पद के साथ उसका अन्वय

---

१. अविहितेत्यादि—नन्वविहितेऽपि श्रवणे कुतो नाधिकार्यादिनिर्णयापेक्षा कुतश्च विहिते एव सेति चेच्छृणु—विधिना हि प्रवृत्तिजनने प्रतिबन्धकाभावोऽपेक्ष्यते, प्रवृत्तिप्रतिबन्धकश्चाधिकार्याद्यनिर्णय इति तदभावरूपो निर्णयोऽपेक्षणीयो विधेः। अविधिस्तु न प्रवृत्तिं जनयतीति न तत्प्रतिबन्धकाभावमपेक्षत इति। २. विस्तरेणेत्यर्थः। ३. स्वं श्रुतिः। ४. प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ संगृह्य प्रागेव तदर्थमर्थान्तरवर्णनमुपोद्घातः।

श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितम्

अध्यासभाष्यम्



युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावा-

---

सत्यबन्धस्य ज्ञानाभिवृत्तिरूपफलासंभवान्नारम्भणीयमिति प्राप्ते, सिद्धान्तः 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति । अत्र श्रवणविधिसमानार्थत्वाय 'कर्तव्या' इति पदमध्याहर्तव्यम् । अध्याहृतं च भाष्यकृता 'ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या' इति । तत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोर्ज्ञानेच्छयोः कर्तव्यत्वानन्वयात्प्रकृत्या फलीभूतं ज्ञानमजहल्लक्षणयोच्यते । प्रत्ययेनेच्छासाध्यो विचारो जहल्लक्षणया । तथा च ब्रह्मज्ञानाय विचारः कर्तव्य इति सूत्रस्य श्रौतोऽर्थः संपद्यते । तत्र ज्ञानस्य स्वतः फलत्वायोगात्प्रमातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वात्मकानर्थनिवर्तकत्वेनैव फलत्वं वक्तव्यम् । तत्रानर्थस्य सत्यत्वे ज्ञानमात्रान्निवृत्त्ययोगादध्यस्तत्वं वक्तव्यमिति बन्धस्याध्यस्तत्वमर्थात्सूचितम् । तच्च शास्त्रस्य विषयप्रयोजनवत्त्वसिद्धिहेतुः । तथा हि, शास्त्रमारब्धव्यं, विषयप्रयोजनवत्त्वात्, भोजनादिवत् । शास्त्रं प्रयोजनवत्, बन्धनिवर्तकज्ञानहेतुत्वात्, रज्जुरियमित्यादिवाक्यवत् । बन्धो ज्ञाननिवर्त्योऽध्यस्तत्वात्, रज्जुसर्पवत् । इति प्रयोजनसिद्धिः । एवमर्थाद्[1]ब्रह्मज्ञानाज्जीवगतानर्थभ्रमनिवृत्तिं फलं सूत्रयञ्जीवब्रह्मणोरैक्यं विषयमप्यर्थात्सूचयति, अन्यज्ञानादन्यत्र भ्रमानिवृत्तेः । जीवो ब्रह्माभिन्नः, तज्ज्ञाननिवर्त्याध्यासाश्रयत्वात् । यन्नैवं तन्नैवं, यथा शुक्त्यभिन्न इदमंश इति विषयसिद्धिहेतुरध्यासः । इत्येवं विषयप्रयोजनवत्त्वाच्छास्त्रमारम्भणीयमिति । अत्र पूर्वपक्षे बन्धस्य सत्यत्वेन ज्ञानादनिवृत्तेरुपायान्तरसाध्या मुक्तिरिति फलम् । सिद्धान्ते ज्ञानादेव मुक्तिरिति विवेकः । इति सर्वं मनसि निधाय ब्रह्मसूत्राणि व्याख्यातुकामो भगवान् भाष्यकारः सूत्रेण विचारकर्तव्यतारूपश्रौतार्थान्यथानुपपत्त्याऽर्थात्सूत्रितं विषयप्रयोजनवत्त्वमुपोद्घातत्वात्त[2]त्सिद्धिहेत्वध्यासाक्षेपसमाधानभाष्याभ्यां प्रथमं वर्णयति—युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति ।

नहीं बनता है। वैसे ही धात्वर्थज्ञान और प्रत्ययार्थ इच्छा के साथ भी कर्त्तव्या पद का अन्वय सम्भव नहीं है। अतः अजहल्लक्षणा द्वारा धातु का अर्थ अपरोक्षज्ञान और जहल्लक्षणा द्वारा प्रत्यय का अर्थ विचार करना पड़ेगा। यह इस सूत्र का सामान्य अर्थ है। ज्ञान स्वतः फलरूप न होने पर भी **'त्वम्'** पदार्थ आत्मा में प्रमातृत्वादि अनर्थ का निवर्तक होने से उसे फल मानना चाहिए। प्रमातृत्वादि अनर्थ को सत्य मानने पर आत्मज्ञान मात्र से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः भगवान् वेदव्यास आत्मज्ञान से बन्ध की निवृत्ति बतलाकर अर्थतः बन्ध को अध्यस्त सूचित करते हैं। इस प्रकार विषय, प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर यह शास्त्र आरम्भणीय है। पूर्वपक्ष में बन्ध को सत्य मानकर ज्ञान से निवृत्ति असम्भव होने के कारण मोक्ष को उपायान्तर-साध्य कहा गया है, किन्तु सिद्धान्त पक्ष में ज्ञान से ही मुक्ति मानी है, इतना भेद है। इन सभी बातों को मन में रखकर ब्रह्मसूत्र के व्याख्याता भगवान् भाष्यकार ने अध्यासनिरूपण द्वारा विषय-प्रयोजन को उपोद्घातरूप से बतलाया है। **युष्मदस्मदादि** अध्यासग्रन्थ का सूत्रार्थ के साथ शब्दतः स्पर्श न होने पर भी आर्थिक स्पर्श तो है ही। अन्यथा मुमुक्षु तत्त्वज्ञान के लिए वेदान्तशास्त्र का विचार क्यों करेगा !

---

१. उक्तप्रयोजकाद् ब्रह्मज्ञानात्। २. वत्त्वमित्यत्र वत्त्वस्येति विवेचनानुरोधात्पाठोऽपेक्षितः। ३. तदिति—विषयप्रयोजनादि।

एतेन सूत्रार्थास्पर्शित्वादध्यासग्रन्थो न भाष्यमिति निरस्तम्, 'आर्थिकार्थस्पर्शित्वात् ।

यत्तु मङ्गलाचरणाभावादव्याख्येयमिदं भाष्यमिति, तन्न । 'सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः' इत्यन्तभाष्य'रचनार्थं तदर्थस्य सर्वोपप्लवरहितस्य विज्ञानघनप्रत्यगर्थस्य 'तत्त्वस्य स्मृतत्वात् । 'अतो निर्दोषत्वादिदं भाष्यं व्याख्येयम् ।

इस अध्यासभाष्य में **'इतरेतरभावानुपपत्तिः'** पर्यन्त भाष्यग्रन्थ से सर्व उपद्रवरहित विज्ञानघन अन्तरात्मतत्त्व का स्मरण किया गया है जो मंगलाचरणरूप है। अतः भाष्यग्रन्थ मंगलाचरणशून्य नहीं है। शुक्तिरजत भ्रमस्थल में भ्रम के लिए सत्यरजत के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार भी भ्रम-सामग्री में कारण माना गया है। वैसे ही आत्मा-अनात्मा का पारमार्थिक ऐक्यज्ञान पहले होता तो तज्जनित भ्रम हो सकता था। वह यहाँ पर है नहीं। इस शंका के समाधान के लिए **'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः'** यह अध्यासभाष्यग्रन्थ है। व्याकरण नियम के अनुसार प्रत्यय और उत्तरपद परे रहते युष्मद् अस्मद् सर्वनाम के मपर्यन्त स्थान में त्व और म आदेश होता है। इसीलिए त्वदीयं, मदीयं, त्वत्पुत्रो, मत्पुत्रः ऐसा शब्द बनता है। इस नियम के अनुसार यहाँ पर **'त्वन्मत्प्रत्ययगोचरयोः'** ऐसा भाष्यग्रन्थ होना चाहिए था। ऐसी शंका का समाधान यह है कि वह आदेश एकवचन के प्रसंग में कहा गया है। यहाँ पर युष्मद् पदार्थ अनात्मा एक नहीं है अपितु अनेक हैं। ऐसे ही उपाधिभेद से अस्मद् पदार्थ चैतन्य आत्मा भी अनेक है। अहंकारादि को यूयं अर्थात् तुम शब्द से सम्बोधित नहीं करते और न किसी को ऐसी प्रतीति होती है। पर आत्मबोध हो जाने के बाद वह आत्मा से भिन्न प्रतीत होने लगता है। अतः अहंकारादि में युष्मद् पद योग्यता तो है ही। ऐसे ही चैतन्य आत्मा अज्ञान दशा में अस्मद् प्रतीति का विषय न होने पर भी बोधकाल में अस्मद् प्रत्यय के योग्य देखा गया है क्योंकि 'मैं सच्चिदानन्द हूं' ऐसा बोध होते ही संशयविपर्यय आदि की निवृत्ति रूप फल उसमें दीखने लगता है। भाष्यकार ने उसे **'न तावदयमेकान्तेनाविषयः'** इत्यादि ग्रन्थ से स्पष्ट किया है। वैसी योग्यता यद्यपि अहंकारादि में भी है फिर भी उसमें चेतनात्मा से अत्यन्त भेद सिद्ध करने के लिए युष्मद्प्रत्यय योग्य कहा गया है।

१—पराक् और प्रत्यक् रूप से आत्मा एवं अनात्मा के वास्तविक विरोध को भाष्यकार ने युष्मद् अस्मद् पद द्वारा बतलाया है। (२) प्रत्यय पद से प्रतीतितः विरोध कहा है। अहंकारादि अनात्मा दृश्यरूप से भासता है, किन्तु आत्मा स्वप्रकाशरूप से भासता है अर्थात् दोनों ही प्रत्यय पद से कहे गये हैं। (३) गोचर पद द्वारा व्यवहारतः विरोध कहा है। युष्मद् अर्थ अहंकारादि प्रत्यगात्मा का तिरस्कार करके 'मैं कर्त्ता हूं' इस व्यवहार का विषय है किन्तु अस्मद् अर्थ आत्मा तो आत्म-बोध काल में अनात्मा का विलय कराते हुए अहं ब्रह्म इस परमार्थज्ञान दशा में व्यवहार का विषय होता है। इस प्रकार वस्तुतः, प्रतीतितः और व्यवहारतः त्रिविध विरोध इस पूर्वपक्ष भाष्य में स्पष्ट किया गया है।

उक्त रीति से आत्मा-अनात्मा का ऐक्य सम्भव न होने पर भी शुक्लो घटः की भाँति उनका तादात्म्य क्यों न माना जाय। अतः विषयविषयिणोः ऐसा पूर्वपक्ष भाष्य में कहा गया है। अनात्मा

१. आर्थिकार्थेति—आर्थिकार्थो न सूत्रार्थ इति न भ्रमितव्यम्। सूत्राणां विश्वतोमुखत्वात्। तदुक्तम्—'अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः' इति। २. अर्थं बुध्वा वाक्य-रचनेति न्यायात्। ३. तत्त्वस्येति—तत्त्वानुस्मरणात्मकं तदाचरितमेव। ४. आत्मानात्मनोरैक्याध्यासेऽपीत्यर्थः।

लोके शुक्ताविदं रजतमिति भ्रमः, सत्यरजते इदं रजतमित्यधिष्ठानसामान्यारोप्यविशेषयोरैक्यप्रमाहितसंस्कारजन्यो दृष्ट इति। अत्राप्यात्मन्यनात्माहंकाराध्यासे पूर्वप्रमा वाच्या, सा चात्मानात्मनोर्वास्तवैक्यमपेक्षते, न हि तदस्ति । तथा हि—आत्मानात्मानावैक्यशून्यौ, परस्परैक्या[1]योग्यत्वात्, तमःप्रकाशवदिति मत्वा [2]हेतुभूतं विरोधं वस्तुतः प्रतीतितो व्यवहारतश्च साधयति—युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति । न च 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (पा.अ. ७-२-९८) इति सूत्रेण 'प्रत्यये चोत्तरपदे च परतो युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमादेशौ स्तः' इति विधानात्, 'त्वदीयं, मदीयं, त्वत्पुत्रो, मत्पुत्रः' इतिवत् 'त्वन्मत्प्रत्ययगोचरयोः' इति स्यादिति वाच्यम् । 'त्वमावेकवचने' (पा.अ. ७-२-९७) इत्येकवचनाधिकारात् । अत्र च युष्मदस्मदोरेकार्थवाचित्वाभावादनात्मनां युष्मदर्थानां बहुत्वादस्मदर्थचैतन्यस्याप्युपाधितो बहुत्वात् ।

नन्वेवं सति कथमत्र भाष्ये विग्रहः ? न च यूयमिति[3] प्रत्ययो युष्मत्प्रत्ययः, वयमिति प्रत्ययोऽस्मत्प्रत्ययस्तद्गोचरयोरिति विग्रह इति वाच्यम्, शब्दसाधुत्वेऽप्यर्थासाधुत्वात् । न ह्यहंकाराद्यनात्मनो यूयमिति प्रत्ययविषयत्वमस्तीति चेत्, न । गोचरपदस्य योग्यतापरत्वात् । चिदात्मा तावदस्मत्प्रत्यययोग्यः, '[4]तत्प्रयुक्तसंशया[5]दिनिवृत्तिफलभाक्त्वात्, 'न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' इति भाष्योक्तेश्च । यद्यप्यहंकारादिरपि तद्योग्यस्तथापि चिदात्मनः सकाशादत्यन्तभेदसिद्ध्यर्थं युष्मत्प्रत्यययोग्य इत्युच्यते ।

आश्रमश्रीचरणास्तु [6]टीकायोजनायामेवमाहुः—'[7]संबोध्यचेतनो[8] युष्मत्पद[9]वाच्यः, अहंकारादिविशिष्टचेतनोऽस्मत्पद[10]वाच्यः', तथा च युष्मदस्मदोः स्वार्थे प्रयुज्यमानयोरेव त्वमादेशनियमो न लाक्षणिकयोः, 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' (पा.अ. ८-१-२०) इति सूत्रासांगत्यप्रसङ्गात् । अत्र शब्दलक्षकयोरिव चिन्मात्रजडमात्रलक्षकयोरपि न त्वमादेशो लक्षकत्वाविशेषात्' इति । यदि [11]तयोः शब्दबोधकत्वे सत्येव त्वमादेशाभाव इत्यनेन सूत्रेण ज्ञापितं तदास्मिन्भाष्ये युष्मत्पदेन युष्मच्छब्दजन्यप्रत्यययोग्यः परागर्थो लक्ष्यते, अस्मच्छब्देन अस्मच्छब्दजन्यप्रत्यययोग्यः प्रत्यगात्मा । तथा च लक्ष्यतावच्छेदकतया [12]शब्दोऽपि बोध्यत इति न त्वमादेशः । न च पराक्त्वप्रत्यक्त्वयोरेव लक्ष्यतावच्छेदकत्वं, न शब्दयोग्यत्वांशस्य, गौरवादिति वाच्यम् । पराक्प्रतीचोर्विरोधस्फुरणार्थं विरुद्धशब्दयोग्यत्वस्यापि वक्तव्यत्वात् । [13]अत एवेदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति वक्तव्येऽपीदंशब्दोऽस्मदर्थे

१. विरुद्धधर्माक्रान्तत्वात् । २. उक्तानुमितौ । ३. इतिशब्द आकारसमर्पकः यूयमित्याकारको यः प्रत्यय इत्यर्थः । एवमग्रेऽपीति बोध्यम् । ४. अस्मत्प्रत्ययः । ५. आदिना विपर्ययव्यतिरेकप्रभृति गृह्यते । ६. विवरणकृतः पञ्चपादिका टीकेत्यर्थः । ७. सम्बोध्येति—क्रियाकरणाय वक्त्राभिप्रेतत्वं वक्तृनिष्ठविलक्षणबोधविशेष्यत्वं वा संबोध्यत्वम् । यथा चैत्र व्रजेत्यादौ प्रथमार्थः, अत्र तादृशसम्बोध्यत्ववांश्चैत्रोऽनुमतव्रजनवानिति बोधः । शाब्दिकस्तु सम्बोधनविषयत्वं सम्बोध्यत्वमित्याहुः । ८. सम्बोध्यचेतन इत्यादि—ननु सम्बोध्यचेतनोऽपि नाहङ्कारादिनिर्मुक्तोऽहङ्कारादिविशिष्टश्च न सम्बोध्यत्वनिर्मुक्त इति वाच्यत्वद्वयं सङ्कर इति चेन्न, सम्बोध्यत्वेन विवक्षितोऽहङ्कारादिविशिष्टत्वेन चाविवक्षितो युष्मत्पदवाच्य एवमहङ्कारादिना विवक्षितः, सम्बोध्यत्वेन चाविवक्षितोऽस्मत्पदवाच्य इति विवक्षितत्वात् । ९. शक्यः । १०. शक्यः । ११. युष्मदस्मदोः । १२. शब्दोऽपि बोध्यत इति न त्वमादेश इति —न च युष्मदस्मदोरिति सूत्रे तयोः शब्दमात्रबोधकत्वात् तन्मात्राबोधकत्व एव तदभाव इति ज्ञापनीयमिति शङ्कितव्यम् । तथा ज्ञापनस्यान्यत्र फलालाभेनासम्भवाद् ज्ञापनं हि सर्वमन्यत्र फलवदेवाभ्युपगम्यते । सूत्रमात्रस्य तु च्छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति च्छान्दसत्वेनैव निर्वाहादित्यवधेयम् । अन्यत्रफललाभेनेति—ननु युष्मदस्मच्छब्दयोरित्येव प्रयोगोपपत्त्या सूत्रव्याख्यादावेव लब्धफलं तथा ज्ञापनमिति चेत्, किमपराद्धं प्रकृतभाष्योपपत्त्या शिष्टप्रयोगोपपत्तये ज्ञापनानि भवन्तीति मन्तव्यम् । १३. विरोधस्फूर्तेरावश्यकत्वादेव ।

लोके वेदे च बहुशः, इमे वयमास्महे, इमे विदेहाः, अयमहमस्मीति च प्रयोगदर्शनाद्यास्मच्छब्द-विरोधीति मत्वा युष्मच्छब्दः प्रयुक्तः, इदंशब्दप्रयोगे विरोधस्फूर्तेः। एतेन चेतनवाचित्वादस्मच्छब्दः पूर्वं प्रयोक्तव्यः 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति न्यायात्, 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' (पा.अ. १-२-७२) इति सूत्रेण विहित एकशेषश्च स्यादिति निरस्तम्। 'युष्मदस्मदोः' इति सूत्र इवात्रापि पूर्वनिपातैकशेषयोर[1]प्राप्तेः, एकशेषे विवक्षितविरोधास्फूर्तेश्च। वृद्धास्तु "युष्मदर्थादनात्मनो [2]निष्कृष्य शुद्धस्य चिद्धातोरध्यारोपापवादन्यायेन ग्रहणं द्योतयितुमादौ युष्मद्ग्रहणम्' इत्याहुः। तत्र युष्मदस्मत्पदाभ्यां पराक्प्रत्यक्त्वेनात्मानात्मनोर्वस्तुतो विरोध उक्तः। प्रत्ययपदेन प्रतीतितो विरोध उक्तः। प्रतीयत इति प्रत्ययोऽहंकारादिरनात्मा दृश्यतया भाति। आत्मा तु प्रतीतित्वात्प्रत्ययः स्वप्रकाशतया भाति। गोचरपदेन व्यवहारतो विरोध उक्तः। युष्मदर्थः प्रत्यगात्मतिरस्कारेण कर्ताहमित्यादिव्यवहारगोचरः, अस्मदर्थस्त्वनात्मप्रविलापेन 'अहं ब्रह्मे'ति व्यवहारगोचर इति त्रिधा विरोधः स्फुटीकृतः। युष्मच्चास्मच्च [5]युष्मदस्मदी, ते एव [6]प्रत्ययौ च तौ [7]गोचरौ चेति युष्मदस्मत्प्रत्यय-गोचरौ, तयोस्त्रिधा विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावोऽत्यन्ताभेदस्[8]तादात्म्यं वा तदनुपपत्तौ सिद्धायामित्यन्वयः। ऐक्यासंभवेऽपि शुक्लो घट इतिवत्तादात्म्यं किं न स्यादित्यत आह—विषयविषयिणोरिति। चिज्जडयोर्विषयविषयित्वाद्दीपघटयोरिव न तादात्म्यमिति भावः। युष्मदस्मदी पराक्प्रत्यग्वस्तुनी, ते एव [9]प्रत्ययश्च गोचरश्चेति वा विग्रहः। अत्र प्रत्ययगोचरपदाभ्यामात्मानात्मनोः प्रत्यक्पराग्भावे चिदचित्त्वं हेतुरुक्तस्तत्र हेतुमाह—विषयविषयिणोरिति। अनात्मनो ग्राह्यत्वादचित्त्वं, आत्मनस्तु ग्राहकत्वाच्चित्त्वं वाच्यम्। अचित्त्वे स्वस्य स्वेन ग्रहस्य [10]कर्मकर्तृत्वविरोधेनासंभवादप्रत्यक्षत्वापत्तेरित्यर्थः। यथेष्टं वा हेतुहेतुमद्भावः। नन्वेवमात्मानात्मनोः पराक्प्रत्यक्त्वेन, चिदचित्त्वेन ग्राह्यग्राहकत्वेन च विरोधात्तमःप्रकाशवदैक्यस्य तादात्म्यस्य वानुपपत्तौ सत्यां तत्प्रमित्यभावेनाध्या-

विषय जड़ है और आत्मा विषयी चेतन है। अतः जिस प्रकार दीपक और घर का सम्बन्ध विषय-विषयी होने के कारण तादात्म्य सम्भव नहीं है, ऐसे ही आत्मा और अनात्मा का तादात्म्य होना असम्भव है।

प्रश्न—आत्मा और अनात्मा का तादात्म्य पूर्वोक्त त्रिधाविरोध के कारण यदि सम्भव नहीं है अतएव ऐसे प्रमाज्ञान के अभावदशा में धर्मी का अध्यास न होने पर भी उनके धर्मों का

१. अप्राप्तेरिति—पूर्वनिपातैकशेषयोरनित्यत्वाभिप्रायेणैव हि सूत्रेऽकरणम्, ततश्चात्रापि तन्नानुपपन्नमिति भावः। २. युष्मदर्थादनात्मनो निष्कृष्येत्यादि—मुञ्जादिषीका निष्कर्षे हि मुञ्ज एवादावुपादीयत इति भावः। निष्कर्षप्रकारस्तु न मुञ्जेषीकावदित्याशयेनाह—अध्यारोपेति। यथाऽध्यस्तं स्थाणुत्वमपोह्य पुमानुपगृह्यते 'स्थाणुरेष पुमानिति' तद्वदिति भावः। ३. विविच्य। ४. आहुरिति—अध्यासाक्षेपप्रस्तावे यथोक्तनिष्कृष्य ग्रहणं नातीवोपयुज्यत इत्यस्वरसः। ५. प्रत्यक्पराचौ। ६. प्रकाश्यप्रकाशकौ। ७. कर्ताहं ब्रह्माहमिति व्यवहारगोचरौ। ८. तादात्म्यमिति—भेदासहिष्णुभेदत्वं हि तत्त्वम्। किञ्चिदंशेन भेदशालित्वे सति किञ्चिदंशेन भेदाभाववत्वम्। तथाहि व्यावहारिकसत्ताकयोः शुक्लघटयोः सत्तांशेनाभेदः शुक्लत्वेन घटत्वेन च भेद इति विवेकः। ९. प्रत्यक्प्रत्ययः प्रकाशकः पराग्गोचरःप्रकाश्यः। १०. कर्मकर्तृत्वविरोधेनेति—परसमवेतक्रियाफलशालित्वं हि कर्मत्वं, क्रियाश्रयत्वं च कर्तृत्वमिति भावः।

नुपपत्तौ सिद्धायां, [1]तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः । इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे

साभावेऽपि तद्धर्माणां चैतन्यसुखजाड्यदुःखादीनां विनिमयेनाध्यासोऽस्त्वित्यत आह—तद्धर्माणामपीति । **तयोरात्मानात्मनोर्धर्मास्तद्धर्मास्तेषामपीतरेतरभावानुपपत्तिः । इतरत्र धर्म्यन्तरे इतरेषां धर्माणां भावः संसर्गस्तस्यानुपपत्तिरित्यर्थः । न हि धर्मिणोः संसर्गं विना धर्माणां विनिमयोऽस्ति । स्फटिके लोहितवस्तुसान्निध्याल्लौहित्यधर्मसंसर्गः । असङ्गात्मधर्मिणः केनाऽप्यसंसर्गाद्धर्मिसंसर्गपूर्वको धर्मसंसर्गः कुतस्त्यः ? इत्यभिप्रेत्योक्तम्**—सुतरामिति । **नन्वात्मानात्मनोस्तादात्म्यस्य तद्धर्मसंसर्गस्य चाभावेऽप्यध्यासः किं न स्यात् ? इत्यत आह**—इत्यत इति । **इत्युक्तरीत्या तादात्म्याद्यभावेन तत्प्रमाया अभावादतः प्रमाजन्यसंस्कारस्याध्यासहेतोरभावात् 'अध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तं' इत्यन्वयः । मिथ्याशब्दो द्व्यर्थः, अपह्नववचनः, अनिर्वचनीयतावचनश्चेति । अत्र चापह्नवार्थः । ननु कुत्र कस्याध्यासोऽपह्नूयते ? इत्याशङ्क्य, आत्मन्यनात्मतद्धर्माणामनात्मन्यात्मतद्धर्माणामध्यासो निरस्यत इत्याह**—अस्मत्प्रत्ययगोचर इत्यादिना । **अहमिति प्रत्यययोग्यत्वं बुद्ध्यादेरप्यस्तीति मत्वा**

इतरेतरभाव तो हो ही सकता है ? इसका समाधान पूर्वपक्षी ने **'तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः'** इस वाक्य से दिया है। स्फटिक में जपाकुसुम सान्निध्य रहने पर लालिमारूपधर्म का संसर्ग भासते देखा गया है तभी **'लोहितः स्फटिकः'** ऐसा प्रयोग देखा जाता है। पर असङ्ग आत्मारूप धर्मी का तो किसी के साथ संसर्ग हो ही नहीं सकता, फिर भला धर्मीसंसर्गपूर्वक धर्मसंसर्ग कैसे हो सकता है ? इसे स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष भाष्य में **'सुतरां'** पद दिया गया है। यदि आत्मा-अनात्मा, धर्मी और उनके धर्म का संसर्ग सम्भव नहीं हो, फिर भी अध्यास क्यों न माना जाय ? इसका उत्तर **'इत्यतः'** इत्यादि अग्रिम भाष्य से दिया गया है अर्थात् पूर्वोक्त रीति से तादात्म्यादि के अभाव हो जाने पर उसकी प्रमा नहीं हो सकती, फिर तो प्रमाजन्य संस्कार जो अध्यास का कारण है उसके अभाव में अध्यास का कहना सर्वथा असंगत ही है। भाष्य में **'मिथ्या'** शब्द अनिर्वचनीयता का वाचक नहीं है अपितु असत्य अर्थ का वाचक है। भाव यह है कि अस्मद् प्रत्ययगोचर विषयी चिदात्मा में युष्मद्प्रत्ययगोचर विषय जड़, अनात्म अहंकारादि का और उनके कर्तृत्वादि धर्मों का अध्यास असत्य है। उस अहंकारादि अनात्मा से विपरीत विषयी आत्मा का और उसके चैतन्यादि धर्मों का युष्मद्प्रत्ययगोचर विषय जड़वर्ग अहंकारादि अनात्म वस्तु में अध्यास कहना भी सर्वथा असंगत ही है। बुद्ध्यादि साक्षीभास्य हैं इसलिए अज्ञान-दशा में अज्ञानी जीव बुद्ध्यादि को भी अहं पद से कहता है पर अहं इस प्रतीति में स्वयंप्रकाश आत्मा सदा भासता है। उसमें त्वंकार योग्य इदं अर्थ साक्षीभास्य का तादात्म्य कभी भी नहीं हो सकता। **'षिञ् बन्धने, विसिनोति बध्नाति इति विषयः'** जो जीवों को बाँधता हो ऐसे जड़ अनात्मवर्ग अहंकारादि को विषय कहते हैं और उसे प्रकाशित करने वाले स्वयंप्रकाशचिदात्मा को विषयी कहते हैं। अनात्मा के विरुद्ध स्वभाव विपर्यय चैतन्य है, यहाँ पर **'तद्विपर्ययेण'** इस पद में तृतीयाविभक्ति इत्थंभाव अर्थ में है अर्थात् चैतन्यरूप से विषयी आत्मा और उसके धर्म चैतन्यादि का जो अहंकारादि विषय में अध्यास कहा जाता है वह भी युक्तिसंगत नहीं हैं क्योंकि अध्यास सामग्री पूर्वप्रमाजन्यसंस्कार, अधिष्ठान और अध्यस्यमान का सादृश्य एवं अज्ञानरूप सामग्री है नहीं। यदि आत्मा निर्गुण है तो भला **'तद्धर्माणाम्'** यह पूर्वपक्षभाष्य कैसे कहा गया ? बुद्धिवृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य जो विषय से

१. तयोरात्मानात्मनोर्धर्मिणां चैतन्यजडत्वादीनाम् ।

विषयिणि [1]चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य [2]विषयस्य [3]तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण [4]विष-

तत आत्मानं विवेचयति—विषयिणीति । **बुद्ध्यादिसाक्षिणीत्यर्थः । साक्षित्वे हेतुः**—चिदात्मक इति । **अहमिति भासमाने चिदंशात्मनीत्यर्थः ।** युष्मत्प्रत्ययगोचरस्येति । **त्वंकारयोग्यस्य, इदमथस्येति यावत् । नन्वहमिति भासमानबुद्ध्यादेः कथमिदमर्थत्वमित्यत आह**—विषयस्येति । **साक्षिभास्यस्येत्यर्थः । साक्षिभास्यत्वरूप[5]लक्षणयोगाद्[6]बुद्ध्यादेर्घटादिवदिदमर्थत्वं न [7]प्रतिभासत इति भावः । अथवा यदात्मनो मुख्यं सर्वान्तरत्वरूपं प्रत्यक्त्वं [8]प्रतीतित्वं ब्रह्मास्मीति व्यवहारगोचरत्वं चोक्तं तदसिद्धं, अहमिति प्रतीयमानत्वात्, अहंकारवदित्याशङ्क्याह**—अस्मत्प्रत्ययगोचर इति । **अस्मच्चासौ प्रत्ययश्चासौ गोचरश्च तस्मिन्नित्यर्थः । अहंवृत्तिव्यङ्ग्यस्फुरणत्वं स्फुरणविषयत्वं वा हेतुः । आद्ये दृष्टान्ते हेत्वसिद्धिः । द्वितीये तु पक्षे तदसिद्धिरित्यात्मनो मुख्यं प्रत्यक्त्वादि युक्तमिति भावः । ननु यदात्मनो विषयित्वं तदसिद्धं, अनुभवामीति शब्दवत्त्वाद्, अहङ्कारवदित्यत आह**—विषयिणीति । **वाच्यत्वं लक्ष्यत्वं वा हेतुः ? नाद्यः, पक्षे तदसिद्धेः । नान्त्यः, दृष्टान्ते तद्वैकल्यादिति भावः । 'देहं जानामि' इति देहाहङ्कारयोर्विषयविषयित्वेऽपि मनुष्योऽहमित्यभेदाध्यासवदात्माहङ्कारयोरप्यभेदाध्यासः स्यादित्यत आह**—चिदात्मक इति । **तयोर्जाड्या[9]ल्पत्वाभ्यां सादृश्यादध्यासेऽपि चिदात्मन्य[10]नवच्छिन्ने जडाल्पाहंकारादेर्नाध्यास इति भावः । अहमिति भास्यत्वादात्मवदहङ्कारस्यापि प्रत्यक्त्वादिकं मुख्यमेव, ततः पूर्वोक्तपराक्त्वाद्यसिद्धिरित्याशङ्क्याह**—युष्मदिति । **अहंवृत्तिभास्यत्वमहङ्कारे नास्ति कर्तृकर्मत्वविरोधात्, चिद्भास्यत्वं चिदात्मनि नास्तीति हेत्वसिद्धिः । अतो बुद्ध्यादेः [11]प्रतिभासतः प्रत्यक्त्वेऽपि पराक्त्वादिकं मुख्यमेवेति भावः । युष्मत्पराक्चासौ प्रतीयत इति प्रत्ययश्चासौ कर्तृत्वादिव्यवहारगोचरश्च तस्येति विग्रहः । तस्य हेयत्वार्थमाह**—विषयस्येति । **षिञ् बन्धने । विसिनोति बध्नाति इति विषयस्तस्येत्यर्थः । आत्मन्यनात्मतद्धर्माध्यासो मिथ्या भवतु, अनात्मन्यात्मतद्धर्माध्यासः किं न स्यात् ? अहं स्फुरामि सुखीत्याद्यनुभवादित्याशङ्क्याह**—तद्विपर्ययेणेति ।

अभिन्नरूप होकर अभिव्यक्त होता है उस स्फुरण को ही ज्ञान कहा गया है एवं शुभकर्मजन्य सात्त्विक-वृत्ति में आत्मसुख की अभिव्यक्ति को आनन्द कहा गया है। ये सब आत्मस्वरूप होते हुए भी वृत्तिरूप उपाधि के भेद से आत्मा के धर्म माने गये हैं। इसीलिए पञ्चपादिका टीका में पद्मपादाचार्य जी ने कहा है—**'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते'** अर्थात् चैतन्य आत्मा से आनन्दादि अभिन्न हैं फिर भी उपाधिभेद से पृथक् जैसे जान पड़ते हैं। इस प्रकार बन्धन के सत्य होने से ज्ञान द्वारा उसकी निवृत्तिरूप फल की आशा दुराशा ही है। फिर तो बद्धजीव और मुक्तब्रह्म का अभेद बतलाना भी युक्तिसंगत न होने के कारण शास्त्र का विषय भी सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में यह वेदान्त-शास्त्र आरम्भण के योग्य नहीं, ऐसा पूर्वपक्षभाष्य का तात्पर्य है। पूर्वपक्षभाष्य में **'युक्तम्'** पद दुर्बलत्व का सूचक है जिसे विकल्पपुरस्सर **'तथापि'**

१. आत्मनि । २. जडस्यानात्मवर्गस्याहङ्कारादेः । ३. कर्तृत्वादीनाम् । ४. अस्मत्प्रत्ययगोचरस्य चिदात्मकस्य । ५. गुणयोगादित्यर्थः । ६. यथा द्विविधसत्त्ववादिनये घटादेरसाक्षिभास्यत्वेनेदमर्थत्वम् । तथा साक्षिभास्यत्वरूपगुणयोगाद्बुद्ध्यादेरपीदमर्थत्वं घटादेः प्रतीतितस्तदर्थत्वं बुद्ध्यादेरनुगुणायोगादिरन्यदेतत् । ७. प्रतीतितः । ८. प्रकाशकत्वम् । ९. अल्पत्वं परिच्छिन्नत्वम् । १०. यच्चाप्नोतीति स्मृतिमभिसंधाय चिदात्मक इत्यत्रत्यात्मशब्दार्थमाह—अनवच्छिन्न इति । ११. प्रतीतितः ।

तस्मादनात्मनो विपर्ययो विरुद्धस्वभावश्चैतन्यम् । इत्थंभावे तृतीया । चैतन्यात्मना विषयिणस्तद्धर्माणां च योऽहंकारादौ विषयेऽध्यासः स मिथ्येति नास्तीति भवितुं युक्तम्, अध्याससामग्र्यभावात् । न ह्यत्र पूर्वप्रमाहितसंस्कारः सादृश्यमज्ञानं वाऽस्ति । निरवयवनिर्गुणस्वप्रकाशात्मनि गुणावयवसादृश्यस्य चाज्ञानस्य चायोगात् ।

नन्वात्मनो निर्गुणत्वे तद्धर्माणामिति भाष्यं कथमिति चेत्, उच्यते—बुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तं चैतन्यं ज्ञानं, विषयाभेदेनाभिव्यक्तं स्फुरणम्, शुभकर्मजन्यवृत्तिव्यक्तमानन्द इत्येवं वृत्त्युपाधिकृतभेदात् ज्ञानादीनामात्मधर्मत्वव्यपदेशः । तदुक्तं टीकायां—'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते' इति । अतो निर्गुणब्रह्मात्मत्वमते, अहं करोमीति प्रतीतेरर्थस्य चाध्यासत्वायोगात्प्रमात्वं सत्यत्वं च । 'अहं नरः' इति सामानाधिकरण्यस्य 'गौणत्वमिति मतमास्थेयम् । तथा च बन्धस्य सत्यतया ज्ञानान्निवृत्तिरूपफलासंभवाद्बद्धमुक्तयोर्जीवब्रह्मणोरैक्यायोगेन विषयासंभवात् शास्त्रं नारम्भणीयमिति पूर्वपक्षभाष्यतात्पर्यम् । 'युक्तग्रहणात् पूर्वपक्षस्य

इत्यादि सिद्धान्तभाष्य द्वारा सुस्पष्ट किया गया है। सिद्धान्तभाष्य में **'तथापि'** पद को देखते हुए पूर्वपक्षभाष्य में यद्यपि पद का पाठ कर लेना चाहिए ।

असंग स्वप्रकाश आत्मा में वस्तुतः अध्यास का न होना कोई दोष नहीं किन्तु अलङ्कार ही है। वैसे ही अज्ञः कर्ता, मनुष्योऽहं इस प्रत्यक्ष अनुभव से अध्यास जब सिद्ध हो रहा है फिर भला अध्यास का भान नहीं होता है, यह कहना तो असंगत ही है। अध्यास की अन्यान्य कारण सामग्री कदाचित् न भी हो फिर भी अनादि, अनिर्वचनीय मूलाविद्या तो कारण है ही, जिससे अध्यास का होना संभव है। यद्यपि सर्वसामान्य व्यक्ति को—मैं अज्ञानी हूँ, कर्ता हूँ, मनुष्य हूँ—ऐसा भान होता है फिर भी अपौरुषेय (उपक्रमादि षड्विध तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों से युक्त निर्दोष) **'तत्त्वमसि'** महावाक्य द्वारा अकर्ता ब्रह्मभाव का बोध होने पर पूर्वज्ञान में भ्रमत्व का निश्चय हो जाता है। प्रत्यक्षज्ञान ज्येष्ठ है, उसके साथ आगमज्ञान का विरोध होने पर आगमज्ञान को बाधित मानेंगे तो देहात्मवाद का प्रसङ्ग आ जायेगा क्योंकि मैं मनुष्य हूँ इस प्रत्यक्षज्ञान के साथ विरोध आने के कारण **'अथाऽयम शरीरः'** (यह आत्मा अशरीर है) इस श्रुति के द्वारा देह से भिन्न आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकेगी। कोई ज्ञान ज्येष्ठ होने के कारण उसे बाधक मानना आवश्यक नहीं है अन्यथा **'इदं रजतम्'** यह ज्ञान भी प्रथम उत्पन्न होने के कारण ज्येष्ठ है और वह भी नेदं रजतम् इस पश्चात्भावी ज्ञान का बाधक होने लग जायेगा। मैं मनुष्य हूँ इस पूर्वभावी ज्येष्ठ ज्ञान का पश्चात्भावी आगमज्ञान से बाध नहीं हो सकता ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि ज्येष्ठ रजत भ्रम का भी पश्चात् भावी शुक्तिज्ञान से बाध होता देखा गया है। इसके अतिरिक्त आगमज्ञान की उत्पत्ति में प्रत्यक्षादिनिष्ठ व्यावहारिक प्रामाण्य उपजीव्य है, तात्त्विक प्रामाण्य नहीं। आगमज्ञान से प्रत्यक्षादिनिष्ठ तात्त्विक प्रामाण्य का बाध तो सम्भव ही है। अतः इस शास्त्र के प्रारम्भ में अध्यास का निरूपण युक्तियुक्त है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र द्वितीय अध्याय प्रथमपाद के **'अनन्यत्वाधिकरण'** द्वारा अध्यास का वर्णन किया गया है। तथापि उस अध्यास का ही शास्त्र में प्रवृत्ति के अङ्गभूत विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी की सिद्धि के लिए ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भ में भी स्मरण करना अनुचित नहीं है।

१. गौणत्वमिति—यज्ञादिकार्यनिर्वाहकत्वगुणसाम्यादिति बोध्यम् । २. युक्तग्रहणादित्यादि—पूर्वपक्षो हि युक्त्येकशरणः सिद्धान्तश्चानुभवानुसारी युक्तेश्च बलवानेवानुभवः । युक्त्या हि तन्तुषु सिद्धेऽपि पटाभावेऽनुभवबलादेव तद्व्यवहार इति भावः ।

यिणस्[1]तद्धर्माणां च [2]विषयेऽ[3]ध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् । तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्या-

दुर्बलत्वं सूचयति । तथाहि—किमध्यासस्य नास्तित्वमयुक्तत्वादभानाद्वा ? कारणाभावाद्वा ? आद्य इष्ट इत्याह—तथापीति । **एतदनुरोधादादौ यद्यपीति पठितव्यम् । अध्यासस्यासङ्गस्वप्रकाशात्मन्य-युक्तत्वम[4]लङ्कार इति** भावः । **न द्वितीय इत्याह**—अयमिति । **अज्ञः, कर्ता, मनुष्योऽहमिति प्रत्यक्षानु-भवादध्यासस्याभानमसिद्धमित्यर्थः । न चेदं प्रत्यक्षं कर्तृत्वादौ प्रमेति वाच्यम् । अपौरुषेयतथा [5]निर्दोषेण, उपक्रमादिलिङ्गावधृततात्पर्येण च, तत्त्वमस्यादिवाक्येनाकर्तृब्रह्मत्वबोधनेनास्य भ्रमत्व-निश्चयात् । न च ज्येष्ठप्रत्यक्षविरोधादागमज्ञानस्यैव बाध इति वाच्यं, [6]देहात्मवादप्रसङ्गात्, 'मनुष्योऽहम्' इति प्रत्यक्षविरोधेन "अथायमशरीरः' (बृ. ४-४-७), इत्यादिश्रुत्या देहादन्यात्मासिद्धेः । तस्मादिदं रजतमितिवत्सामानाधिकरण्यप्रत्यक्षस्य भ्रमत्वशङ्काकलंकितस्य नागमात्प्राबल्यमित्या-**

अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास के भेद से अध्यास दो प्रकार का है। इनमें **'मनुष्योऽहं'** ऐसा अभिमान होता है इस अर्थाध्यास को **'लोक'** शब्द से कहा गया है और उसके विषय व्यवहाराभिमान को ज्ञानाध्यास कहा गया है जिसे व्यवहार पद से दिखलाया गया है। दोनों ही अध्यास का स्वरूप **'अन्योन्यस्मिन्'** से लेकर **'धर्मधर्मिणोः'** यहाँ तक के भाष्यग्रन्थ से बतलाया गया है। अहंकारादि अनात्मा में जाड्यादि धर्म और आत्मा में चैतन्यादि धर्म रहते हैं। ये दोनों ही अत्यन्त भिन्न हैं पर इन दोनों का भेदग्रहण न होने के कारण आत्मा-अनात्मा का तादात्म्य और अन्य के धर्म अन्य में भासने लग जाते हैं ऐसा सामान्य लोकव्यवहार में देखा जाता है। कभी-कभी मैं नेत्र हूँ ऐसा धर्मी का अध्यास तो नहीं होता पर इन्द्रियों के अन्धत्वादि धर्म का अध्यास 'मैं अन्धा हूँ' इस व्यवहार में होता है। इसकी स्पष्टता के लिए अन्योन्य तादात्म्य अध्यास के साथ-साथ अन्योन्य धर्मों के अध्यास की भी चर्चा की गयी है। आत्मा सत्य है और अनात्मा मिथ्या है। सत्य आत्मा में अनात्मा का स्वरूप एवं संसर्ग दोनों ही अध्यस्त हैं किन्तु अनात्मा अहंकारादि में सत्य आत्मा का स्वरूप अध्यस्त नहीं है, संसर्गमात्र अध्यस्त है। इसलिए अन्योन्याध्यास मानने पर शून्यवाद प्रसङ्ग आ जायेगा ऐसी आशंका नहीं कर सकते हैं।

अध्यास, मिथुनीकरण और व्यवहार ये तीनों शब्द समानार्थक हैं फिर भला **अध्यास** एवं **मिथुनीकृत्य** इन दोनों पदों में क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग क्यों किया गया ? अध्यासव्यक्ति भिन्न-भिन्न होने के कारण पूर्व-पूर्व अध्यास उत्तरोत्तर अध्यास का संस्कार द्वारा हेतु बतलाने के लिए ही

१. चैतन्यादीनाम् । २. युष्मत्प्रत्ययगोचरे जडेऽनात्मवर्गेऽहङ्कारादौ । ३. अध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तमिति—अध्यासाभावो युक्तो युक्तिमान् युक्तिसिद्ध इति यावत् । तथा च युक्तिः—अध्यासोऽत्यन्ताभावप्रतियोगी तादृश-कारणकत्वाद्यो योऽत्यन्ताभावप्रतियोगिकारणकः स स्वयमत्यन्ताभावप्रतियोगी यथा वन्ध्यापुत्र इति । ४. अल-ङ्कार इति—भूषणमित्यर्थः। अनुकूलमिति यावत् । अनुकूलत्वं च स्वरूपघटकत्वात् । अयुक्तत्वे सति भास-मानत्वमध्यासत्वमिति युक्त्या स्वाभावाधिकरणे प्रतीयमानत्वमिति यावत् । ५. निर्दोषेणेति—भ्रमप्रमादविप्रलि-प्साकरणापाटवदोषविवर्जितेनेत्यर्थः । ६. नागमाज्ज्येष्ठं प्रत्यक्षमिति मत्वाऽऽह—देहात्मेत्यादि । ७. तदेष श्लोको भवति—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति । 'तद्यथाऽ-हि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदँशरीरँशेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः' (बृ० ४. ४. ७) इति श्रुतेरपेक्षितं गृह्णाति—अथेति ।

स्थेयम्। किञ्च ज्येष्ठत्वं पूर्वभावित्वं वा? आगमज्ञानं प्रत्युपजीव्यत्वं वा? आद्ये न प्राबल्यम्, ज्येष्ठस्यापि रजतभ्रमस्य पश्चाद्भाविना शुक्तिज्ञानेन बाधदर्शनात्। न द्वितीयः, आगमज्ञानोत्पत्तौ प्रत्यक्षादिमूलवृद्धव्यवहारे 'संगतिग्रहद्वारा[1], शब्दोपलब्धिद्वारा च प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकप्रामाण्यस्योपजीव्यत्वेऽपि तात्त्विकप्रामाण्यस्यानपेक्षितत्वात्, अनपेक्षितांशस्यागमेन बाधसंभवादिति। यत्तु क्षणिकयागस्य श्रुतिबलात्कालान्तरभाविफलहेतुत्ववत् 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः' (मु. ३-२-८) इति श्रुतिबलात्सत्यस्यापि ज्ञानान्निवृत्तिसंभवादध्यासवर्णनं व्यर्थमिति, तन्न। ज्ञानमात्रनिवर्त्यस्य क्वापि सत्यत्वादर्शनात्, सत्यस्य चात्मनो निवृत्त्यदर्शनाच्च, [2]अयोग्यतानिश्चये सति सत्यबन्धस्य ज्ञानान्निवृत्तिश्रुतेर्बोधकत्वायोगात्। न च [3]सेतुदर्शनात्सत्यस्य पापस्य नाशदर्शनान्नायोग्यतानिश्चय इति वाच्यम्, तस्य श्रद्धानियमादिसापेक्षज्ञाननाश्यत्वात्। बन्धस्य च [4]'नान्यः पन्था.' (श्वे. ३-८) इति श्रुत्या ज्ञानमात्रान्निवृत्तिप्रतीतेः, अतः श्रुतज्ञाननिवर्त्यत्वनिर्वाहार्थमध्यस्तत्वं वर्णनीयम्। किञ्च ज्ञानैकनिवर्त्यस्य किं नाम सत्यत्वम्? न तावदज्ञानाजन्यत्वम्। 'मायां तु प्रकृतिम्[5]' (श्वे. ४-१०) इति श्रुतिविरोधान्मायाविद्ययोरैक्यात्। नापि स्वाधिष्ठाने स्वाभावशून्यत्वम्, 'अस्थूलम्' (बृ. ३-८-८) इत्यादिनिषेधश्रुतिविरोधात्। नापि ब्रह्मवद्बाधायोग्यत्वं, ज्ञानान्निवृत्तिश्रुतिविरोधात्। अथ व्यवहारकाले बाधशून्यत्वम्, तर्हि व्यावहारिकमेव सत्यत्वमित्यागतमध्यस्तत्वम्। [6]तच्च श्रुत्यर्थे योग्यताज्ञानार्थं वर्णनीयमेव, यागस्यापूर्वद्वारत्ववत्। न च तदनन्यत्वाधिकरणे तस्य वर्णनात्पौनरुक्त्यम्, तत्रोक्ताध्यासस्यैव प्रवृत्त्यङ्गविषयादिसिद्ध्यर्थमादौ स्मार्यमाणत्वादिति दिक्।

पूर्वकालिक क्रिया में क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग हुआ है, जिसे भाष्यकार ने नैसर्गिक पद से स्पष्ट किया है। प्रत्यगात्मा में कार्यकारणभाव से अध्यास का प्रवाह अनादि है यही नैसर्गिक पद का अर्थ है। इससे कारणाभाव कल्प भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि उत्तरोत्तर अध्यास में पूर्व-पूर्व अध्याससंस्कार द्वारा कारण विद्यमान है। पूर्व अनुभवजन्य संस्कार को अध्यास का हेतु मानने में लाघव है और पूर्व प्रमाजन्य संस्कार को हेतु मानने में गौरव है। अतः उत्तर अध्यास का पूर्व अध्यासजन्य संस्कार कारण है और यह अनादि प्रवाह चल रहा है।

अध्यास का उपादानकारण मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान उपादानकारण होने पर भी स्वप्रकाश आत्मतत्त्व का आवरक है और संस्कार, काल, कर्मादि निमित्त पाकर परिणत होता है, इसीलिए भाष्य में **'निमित्त'** पद का प्रयोग किया गया है। स्वप्रकाश आत्मा में अनिर्वचनीय अविद्या का सम्बन्ध सत्य नहीं है, अतः अध्यास के कारण अज्ञान को मिथ्या कहा गया है। जो मिथ्या होता हुआ साक्षात् ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, ऐसे अज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा गया है। आध्यात्मिक कार्याध्यास में पहले **अहं** ऐसा अध्यास होता है अर्थात् आत्मा और अहंकारादि का तादात्म्य अध्यास होता है तत्पश्चात् **ममेदं** ऐसा संसर्गाध्यास होता है। **'मनुष्योऽहं'** इस अध्यास

१. शक्तिग्रहद्वारा। २. सत्यबन्धेऽनुमानेन निवृत्त्ययोग्यतानिश्चये सतीत्यर्थः। ३. सेतुदर्शनादिति—तथा चोक्तम्—'कार्तिक्यां कृत्तिकायोगे यः कुर्यात्सेतुदर्शनम्। सप्तजन्मभवेद्विप्रो धनाढ्यो वेदपारगः' इति। ४. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति। ५. 'विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिद जगत्' (श्वे. ४-१०) इति शेषः। ६. बन्धमध्यस्तत्वम्।

त्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ।

अध्यासं द्वेधा दर्शयति—लोकव्यवहार इति । लोक्यते मनुष्योऽहमित्यभिमन्यत इति लोकोऽर्थाध्यासः, तद्विषयो व्यवहारोऽभिमान इति ज्ञानाध्यासो दर्शितः । द्विविधाध्यासस्वरूपलक्षणमाह—अन्योन्यस्मिन् इत्यादिना धर्मधर्मिणोः इत्यन्तेन । जाड्यचैतन्यादिधर्माणां धर्मिणावहङ्कारात्मानौ, तयोरत्यन्तं भिन्नयोरितरेतरभेदाग्रहेणान्योन्यस्मिन् अन्योन्यतादात्म्यमन्योन्यधर्मांश्च व्यत्यासेनाध्यस्य लोकव्यवहार इति योजना । अतः सोऽयमिति प्रमाया नाध्यासत्वम्, तदिदमर्थयोः कालभेदेन कल्पितभेदेऽप्यत्यन्तभेदाभावादिति वक्तुमत्यन्तेत्युक्तम् । न च धर्मितादात्म्याध्यासे धर्माध्याससिद्धेः 'धर्मांश्च' इति व्यर्थमिति वाच्यम्, अन्धत्वादीनामिन्द्रियधर्माणां धर्म्यध्यासास्फुटत्वेऽप्यन्धोऽहमिति स्फुटोऽध्यास इति ज्ञापनार्थत्वात् । नन्वात्मानात्मनोः परस्पराध्यस्तत्वे शून्यवादः स्यादित्याशङ्क्याह—सत्यानृते मिथुनीकृत्येति । सत्यमनिदं चैतन्यं, तस्यानात्मनि संसर्गमात्राध्यासो न स्वरूपस्य । अनृतं युष्मदर्थः तस्य स्वरूपतोऽप्यध्यासात्तयोर्मिथुनीकरणमध्यास इति न शून्यतेत्यर्थः ।

नन्वध्यासमिथुनीकरणलोकव्यवहारशब्दानामेकार्थत्वेऽध्यस्य मिथुनीकृत्येति पूर्वकालत्ववाचिक्त्वाप्रत्ययादेशस्य ल्यपः कथं प्रयोगः ? इति चेन्न, अध्यासव्यक्तिभेदात् । तत्र पूर्वपूर्वाध्यासस्योत्तरोत्तराध्यासं प्रति संस्कारद्वारा पूर्वकालत्वेन हेतुत्वद्योतनार्थं ल्यपः प्रयोगः । तदेव स्पष्टयति—नैसर्गिक इति । प्रत्यगात्मनि हेतुहेतुमद्भावेनाध्यासप्रवाहोऽनादिरित्यर्थः । ननु प्रवाहस्या[1]वस्तुत्वात्, अध्यासव्यक्तीनां सादित्वात्, कथमनादित्वमिति चेत् । उच्यते—अध्यासत्वावच्छिन्नव्यक्तीनां मध्येऽन्यतमया व्यक्त्या विनाऽनादिकालस्यावर्तनं कार्यानादित्वमित्यङ्गीकारात् । एतेन कारणाभावादिति [2]कल्पो निरस्तः, संस्कारस्य निमित्तस्य नैसर्गिकपदेनोक्तत्वात् । न च पूर्वप्रमाजन्य एव संस्कारो हेतुरिति वाच्यम्, लाघवेन पूर्वा[3]नुभवजन्यसंस्कारस्य हेतुत्वात् । अतः पूर्वाध्यासजन्यः संस्कारोऽस्तीति सिद्धम् । अध्यासस्योपादानमाह—मिथ्याज्ञाननिमित्त इति । मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानं, तन्निमित्तमुपादानं यस्य स तन्निमित्तस्तदुपादानक इत्यर्थः । अज्ञानस्योपादानत्वेऽपि संस्फुरदात्मतत्त्वावरकतया [4]दोषत्वेनाऽहंकाराध्यासकर्तुरीश्वरस्योपाधित्वेन संस्कारकालकर्मादिनिमित्तपरिणामित्वेन च निमित्तत्वमिति द्योतयितुं निमित्तपदम् । स्वप्रकाशात्मन्यसङ्गे कथमविद्यासङ्गः, संस्कारादिसामग्र्यभावात् इति शङ्कानिरासार्थं मिथ्यापदम् । प्रचण्डमार्तण्डमण्डले पेचकानुभवसिद्धान्धकारवत्, 'अहमज्ञः' इत्यनुभवसिद्धमज्ञानं दुरपह्नवम्, कल्पितस्याधिष्ठानास्पर्शित्वात्, नित्यस्वरूपज्ञानस्याविरोधित्वाच्चेति । यद्वा अज्ञानं [5]ज्ञानाभाव इति शङ्कानिरासार्थं मिथ्यापदम् ।

में ऐक्य अंश का भान होता है अतः अध्यास सामग्री और अनुभव दोनों विद्यमान होने के कारण अध्यास है, जिसकी निवृत्ति ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से होती है। इसलिए शास्त्रारम्भ युक्तिसंगत है, ऐसा सिद्धान्त भाष्य का तात्पर्य है ।

१. अवस्तुत्वादिति—अध्यासरूपप्रवाहिव्यतिरेकेणासत्वादित्यर्थः । २. कल्प इति—विवेकानुरोधादत्र विकल्प इति पाठः । ३. अनुभवेति—स च भ्रमः प्रमा वेत्यनाग्रहः । ४. अध्यासनिमित्तीभूतः प्रमात्रादिनिष्ठदोषोऽप्यज्ञानविशेष एवेत्यभिप्रेत्याह—दोषत्वेनेति । ५. तस्योपादानाभावान्नाध्यासो नाभावः ।

[1]आह—कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते—[2]स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। [3]तं केचिद-

मिथ्यात्वे सति साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वमज्ञानस्य लक्षणं मिथ्याज्ञानपदेनोक्तम्। ज्ञानेनेच्छाप्रागभावः साक्षान्निवर्त्यत इति वदन्तं प्रति मिथ्यात्वे सतीत्युक्तम्। अज्ञाननिवृत्तिद्वारा ज्ञाननिवर्त्यबन्धेऽतिव्याप्तिनिरासाय साक्षादिति। [4]अनाद्युपादानत्वे सति मिथ्यात्वं वा लक्षणम्। ब्रह्मनिरासार्थं मिथ्यात्वमिति। मृदादिनिरासार्थमनादीति। अविद्यात्मनोः संबन्धनिरासार्थमुपादानत्वे सतीति। सम्प्रति अध्यासं द्रढयितुमभिलपति—अहमिदं ममेदमिति। आध्यात्मिककार्याध्यासेष्वहमिति प्रथमोऽध्यासः। न चाधिष्ठानारोप्यांशद्वयानुपलम्भात् नायमध्यास इति वाच्यम्, 'अयो दहति' इतिवद् 'अहमुपलभे' इति दृग्दृश्यांशयोरुपलम्भात्। इदंपदेन भोग्यः संघात उच्यते। अत्र 'अहमिदम्' इत्यनेन 'मनुष्योऽहम्' इति तादात्म्याध्यासो दर्शितः। 'ममेदं शरीरम्' इति संसर्गाध्यासः।

ननु देहात्मनोस्तादात्म्यमेव संसर्ग इति तयोः को भेदः? इति चेत्, सत्यम्। [5]सत्त्वैक्ये सति मिथो भेदस्तादात्म्यम्। तत्र 'मनुष्योऽहम्' इत्यैक्यांशभानं 'ममेदम्' इति भेदांशरूपसंसर्गभानमिति भेदः। एवं सामग्रीसत्त्वादनुभवसत्त्वादध्यासोऽस्तीत्यतो ब्रह्मात्मैक्ये विरोधाभावेन विषयप्रयोजनयोः सत्त्वात् शास्त्रमारम्भणीयमिति सिद्धान्तभाष्यतात्पर्यम्।

एवं सूत्रेणार्थात्सूचिते विषयप्रयोजने प्रतिपाद्य तद्धे[6]तुमध्यासं लक्षणसंभावनाप्रमाणैः साधयितुं लक्षणं पृच्छति—आहेति। किंलक्षणकोऽध्यास इत्याह। पूर्ववादीत्यर्थः। अस्य शास्त्रस्य तत्त्वनिर्णयप्रधानत्वेन वादकथात्वद्योतनार्थमाहेति परोक्तिः। 'आह' इत्यादि 'कथं पुनःप्रत्यगात्मनि' इत्यतः प्रागध्यासलक्षणपरं भाष्यम्। तदारभ्य संभावनापरम्। 'तमेतमविद्याख्यम्' इत्यारभ्य 'सर्वलोकप्रत्यक्षः' इत्यन्तं प्रमाणपरमिति विभागः। लक्षणमाह—उच्यते—स्मृतिरूप इति। अध्यास इत्य[7]नुषङ्गः।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र द्वारा विषय-प्रयोजन का प्रतिपादन किया गया। उसके कारण अध्यास को लक्षण, सम्भावना और प्रमाण से सिद्ध करने के लिए पहले लक्षण के विषय में पूछते हैं—'आह—कोऽयं अध्यासो नाम'। यह शास्त्र तत्त्वनिर्णय प्रधान होने से वादकथारूप है, इसीलिए 'आह' पद का प्रयोग किया है। पहले सिद्धान्तानुसार अध्यास का लक्षण बतलाते हैं और तत्पश्चात् वादियों की विप्रतिपत्ति भी कहते हैं। तत्पश्चात् 'कथं पुनः' इत्यादि सम्भावनापरक भाष्य है। तदनन्तर 'तमेतम्' इत्यादि ग्रन्थ से अध्यास में प्रमाण बतलाया गया है। 'परत्रावभासोऽध्यासः' इतना ही अध्यास का लक्षण है, इसी को स्पष्ट करने के लिए 'स्मृतिरूपः' और 'पूर्वदृष्टः' पद अध्यास के लक्षण में दिये गये हैं। 'परत्र' पद से मिथ्या प्रतीत होने वाले रजतादि के अधिकरण शुक्ति को अयोग्य कहा गया है, क्योंकि रजत अपने अवयव में रहता है न कि शुक्ति में। शुक्ति में

१. आहेति—किं लक्षणोऽध्यास इत्याह शिष्य इति मध्यस्थोक्तिः। २. दर्शनं दृष्टं पूर्वं च तद्दृष्टं चेति पूर्वदृष्टं पूर्वानुभव इत्यर्थस्तस्मात्संस्कारद्वाराऽवभास इति पूर्वदृष्टावभासस्तथाच परत्र स्मृतसदृशपूर्वानुभवाहितसंस्कारजन्यपरात्मकोऽवभासोऽर्थाध्यासः। परत्र परस्य स्मृतिसदृशपूर्वानुभवजनितसंस्कारजन्योऽवभासः प्रतीतिर्ज्ञानाध्यास इति फलितम्। ३. उक्तमध्यासम्। ४. अभ्यर्हितं पूर्वमिति मनसीकृत्य लक्षणं वक्ति—अनाद्युपादानत्वे सतीत्यादि। ५. सत्त्वैक्य इति—यद्यप्यात्मनः सत्ता पारमार्थिकी, देहादेस्तु व्यावहारिकी, तथाप्यहङ्कारस्य व्यवहारकत्वेनाहमाकारवृत्त्यवच्छिन्नस्यात्मनोऽपि सत्ता व्यावहारिकीत्यभिप्रेत्योक्तः सत्त्वैक्ये सतीति। एवं सत्त्वैक्ये सति मिथो भेदः संसर्ग इत्यपि बोध्यम्। ६. विषयप्रयोजनहेतुम्। ७. अनुषङ्ग इति—नेदीयस्थानांतरस्थितस्य पदस्य पुनरनुसंधानमनुषङ्गः।

अत्र परत्रावभास इत्येव लक्षणम्, शिष्टं पदद्वयं तदुपपादनार्थम् । तथाहि–अवभास्यत इत्यवभासो रजताद्यर्थः । तस्यायोग्यमधिकरणं परत्रपदार्थः । अधिकरणस्यायोग्यत्वमारोप्यात्यन्ताभावत्वं तद्वत्त्वं वा? तथा च 'एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वमध्यस्तत्वम्' इत्यर्थः । इदं च साद्यनाद्यध्याससाधारणं लक्षणम् । संयोगेऽतिव्याप्तिनिरासायैकावच्छेदेनेति । संयोगस्य स्वसंसृज्यमाने वृक्षे स्वात्यन्ताभाववत्यवभास्यत्वेऽपि स्वस्वात्यन्ताभावयोर्मूलाग्रावच्छेदकभेदान्नातिव्याप्तिः । पूर्वं स्वाभाववति भूतले पश्चादानीतो घटो भातीति घटेऽतिव्याप्तिनिरासाय स्वसंसृज्यमान इति पदम्, तेन स्वाभावकाले प्रतियोगिसंसर्गस्य विद्यमानतोच्यत इति नातिव्याप्तिः । भूत्वावच्छेदेनावभास्यगन्धेऽतिव्याप्तिवारणाय स्वात्यन्ताभाववतीति पदम् । शुक्त्याविदन्त्वावच्छेदेन रजतसंसर्गकालेऽत्यन्ताभावोऽस्तीति नाव्याप्तिः । नन्वस्य लक्षणस्यासंभवः, शुक्तौ रजतस्य सामग्र्यभावेन संसर्गासत्त्वात् । न च स्मर्यमाणसत्यरजतस्यैव परत्र शुक्तावभास्यत्वेनाध्यस्तत्वोक्तिरिति वाच्यम्, अन्यथाख्यातिप्रसङ्गादित्यत आह—स्मृतिरूप इति । स्मर्यत इति स्मृतिः सत्यरजतादिः, तस्य रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूपः स्मर्यमाणसदृश इत्यर्थः । सादृश्योक्त्या स्मर्यमाणादारोप्यस्य भेदात्, नान्यथाख्यातिरित्युक्तं भवति । सादृश्यमुपपादयति—पूर्वदृष्टेति । दृष्टं दर्शनं, संस्कारद्वारा पूर्वदर्शनादवभास्यत इति पूर्वदृष्टावभासः । तेन संस्कारजन्यज्ञानविषयत्वं स्मर्यमाणारोप्ययोः सादृश्यमुक्तं भवति, स्मृत्यारोपयोः संस्कारजन्यत्वात् । न च संस्कारजन्यत्वादारोपस्य स्मृतित्वापत्तिरिति वाच्यम् । दोषसंप्रयोगजन्यत्वस्यापि विवक्षितत्वेन संस्कारमात्रजन्यत्वाभावात् । अत्र सम्प्रयोगशब्देन अधिष्ठानसामान्यज्ञानमुच्यते, अहंकाराध्यासे इन्द्रियसंप्रयोगालाभात् । एवं च दोषसंप्रयोगसंस्कारबलाच्छुक्त्यादौ रजतमुत्पन्नमस्तीति परत्र परावभास्यत्वलक्षणमुपपन्नमिति स्मृतिरूपपूर्वदृष्टपदाभ्यामुपपादितम् । अन्ये तु 'ताभ्यां दोषादित्रयजन्यत्वं कार्याध्यासलक्षणमुक्तमित्याहुः । अपरे तु स्मृतिरूपः स्मर्यमाणसदृशः, सादृश्यं च प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वम्, स्मृत्यारोपयोः प्रमाणाजन्यत्वात् । पूर्वदृष्टपदं तज्जातीयपरं, अभिनवरजतादेः पूर्वदृष्टत्वाभावात् । तथा च प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वे सति पूर्वदृष्टजातीयत्वं प्रातीतिकाध्यासलक्षणं ताभ्यामुक्तम् । परत्रावभासशब्दाभ्यामध्यासमात्रलक्षणं व्याख्यातमेव । तत्र स्मर्यमाणगङ्गादौ अभिनवघटे चातिव्याप्तिनिरासाय प्रमाणेत्यादिपदद्वयमित्याहुः । तत्रार्थाध्यासे स्मर्यमाणसदृशः परत्र पूर्वदर्शनादवभास्यत इति योजना । ज्ञानाध्यासे तु 'स्मृतिसदृशः परत्र पूर्वदर्शनादवभास इति वाक्यं योजनीयमिति संक्षेपः । ननु अध्यासे वादिविप्रतिपत्तेः कथमुक्तलक्षणसिद्धिरित्याशङ्क्याधिष्ठानारोप्यस्वरूपविवादेऽपि परत्र परावभास इति लक्षणे 'संवादाद्युक्तिभिः सत्याधिष्ठाने मिथ्यार्थावभाससिद्धेः सर्वतन्त्रसिद्धान्त इदं लक्षणमिति मत्वा अन्यथात्मख्यातिवादिनोर्मतमाह—तं केचिदिति । केचिदन्यथाख्यातिवादिनोऽन्यत्र शुक्त्यादावन्यधर्मस्य

रजत का अत्यन्ताभाव है वहाँ पर यदि रजत भासता हो तो वह रजत मिथ्या ही मानना पड़ेगा। अध्यास का परिष्कृत लक्षण यह है **'एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वमध्यस्तत्वम्'** यह लक्षण सादि और अनादि दोनों ही अध्यासों में घटता है। संयोग में अतिव्याप्ति वारण के लिए एकावच्छेदन विशेषण है। घटादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए स्वाभाववति विशेषण है और गन्ध में अतिव्याप्ति वारण के लिए अत्यन्त पद दिया गया है। अन्यथाख्यातिवाद का प्रसङ्ग न आ जाये एतदर्थ अध्यास लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए **'स्मृतिरूपः'** कहा गया

---

१. स्मृतिरूपपूर्वदृष्टपदाभ्याम् । २. स्मरणं स्मृतिज्ञानम् । ३. सम्मतिसत्वात् ।

न्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति। अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षत इति।

स्वावयवधर्मस्य देशान्तरस्थरूप्यादेरध्यास इति वदन्ति । आत्मख्यातिवादिनस्तु बाह्ये शुक्त्यादौ बुद्धिरूपात्मनो धर्मस्य रजतस्याध्यासः, आन्तरस्य रजतस्य बहिर्वदवभास इति वदन्तीत्यर्थः । अख्यातिमतमाह—केचिदिति । **यत्र यस्याध्यासो लोकसिद्धस्तयोरर्थयोस्तद्धियोश्च भेदाग्रहे सति तन्मूलो भ्रमः, इदं रूप्यमिति विशिष्टव्यवहार इति वदन्तीत्यर्थः । तैरपि विशिष्टव्यवहारान्यथानुपपत्त्या विशिष्टभ्रान्तेः स्वीकार्यत्वात्, परत्र परावभाससंमतिरिति भावः । शून्यमतमाह**—अन्ये त्विति । **तस्यैवाधिष्ठानस्य शुक्त्यादेर्विपरीतधर्मत्वकल्पनां विपरीतो विरुद्धो धर्मो यस्य तद्भावस्तस्य रजता-**

है अर्थात् स्मृति में स्मर्यमाण पदार्थ भासता है और अध्यास में उसके सदृश आरोप्य वस्तु का भान होता है। पूर्वदृष्ट रजत में जैसा चाकचिक्य था वैसे ही इस अध्यस्तरजत में भी दीखता है जिसमें पूर्वदर्शनजन्यसंस्कार भी कारण है। स्मृति में संस्कारमात्र कारण होता है किन्तु अध्यास में दोष, संप्रयोग और संस्कार भी कारण होते हैं। यहाँ पर अर्थाध्यास में स्मर्यमाणसदृश अन्य वस्तु में पूर्व दर्शनजनित संस्कार द्वारा अध्यास का होना कहा गया है, किन्तु ज्ञानाध्यास में स्मृति के समान दूसरी वस्तु में पूर्वदर्शनजनित संस्कार से प्रतीति मानी गयी है, ऐसी वाक्ययोजना कर लेनी चाहिए।

यद्यपि अध्यास लक्षण में वादियों का मतभेद है फिर भी **'परत्र परावभासः'** इस लक्षण में सभी की सहमति है। क्योंकि सत्य अधिष्ठान में मिथ्यापदार्थ का अवभास सिद्ध होने से सभी के मत में यह लक्षण घटता है। इसीलिए क्रमशः वादियों का मत दिखलाते हैं।

(१) वैशेषिक और क्षणिकविज्ञानवादी ये दोनों ही अन्यथाख्याति मानते हैं, इसीलिए इन दोनों ने 'अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः' ऐसा लक्षण किया है। अपने अवयव में रहने वाला देशान्तरस्थ रजत अन्य धर्म है, उसका अन्यत्र शुक्त्यादि में जो संसर्ग भासता है। इसीलिए **'इदं रजतम्'** ऐसा प्रयोग होता है।

क्षणिक विज्ञानवादियों का कहना है कि रजत क्षणिकविज्ञानरूप बुद्धि का धर्म है, जो भीतर है उसका बाह्य शुक्त्यादि देश में भासना अध्यास है। इतना ही वैशेषिक और आत्मख्याति बौद्धों के मत में भेद है।

(२) **'केचित्तु'** इत्यादि ग्रन्थ से अख्यातिमत कहा गया है। **'इदं रजतम्'** इस प्रतीति में **'इदं'** अंश शुक्ति का है और **'रजतम्'** यह अंश पूर्वदृष्ट रजत का है। वैसे ही, इदमाकार वृत्ति प्रत्यक्ष है और रजताकारवृत्ति पूर्वदृष्टरजत का स्मरण रूप है। इन दोनों का भेदग्रह न होने पर **'इदं रजतम्'** ऐसा विशिष्ट व्यवहार होता है, जिसे दूसरे लोग भ्रम कहते हैं। वस्तुतः दोनों ही यथार्थ हैं। ये लोग भी विशिष्टव्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से हमारे लक्षण को विशिष्ट भ्रान्ति के रूप में स्वीकार करते ही हैं क्योंकि भ्रान्ति न मानने पर विशिष्टव्यवहार नहीं सिद्ध हो सकेगा।

(३) शून्यवादियों का मत **'अन्ये तु'** इत्यादि ग्रन्थ से कहते हैं। जहाँ पर जिसका अध्यास होता है उस शुक्त्यादि अधिष्ठान के विरुद्धधर्म की कल्पना को ही अध्यास कहते हैं। बाहर की भाँति भीतर भी रजत अत्यन्त असत् है, उसी असत् रजत की कल्पना शुक्त्यादि देश में होती है, जिसे अध्यास कहते हैं। इन सभी मतों में **'परत्र परावभासः'** यह सिद्धान्तलक्षण घटता है। चाहे अन्यथाख्यातिवादि प्रकार में विवाद भी हो किन्तु सिद्धान्तलक्षण का परित्याग कोई भी अध्यास

सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति । [1]तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति ।

कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये

वेरत्यन्तासतः कल्पनामाचक्षत इत्यर्थः । एतेषु मतेषु परत्र परावभासत्वलक्षणसंवादमाह्—सर्वथापि त्विति । **अन्यथाख्यातित्वादिप्रकारविवादेऽप्यध्यासः परत्र परावभासत्वलक्षणं न जहातीत्यर्थः । शुक्तावपरोक्षस्य रजतस्य देशान्तरे बुद्धौ वा सत्त्वायोगात्, शून्यत्वे प्रत्यक्षत्वायोगात्, शुक्तौ सत्त्वे बाधायोगात्, मिथ्यात्वमेवेति भावः । आरोप्यमिथ्यात्वे न युक्त्यपेक्षा, तस्यानुभवसिद्धत्वादित्याह्**—तथा चेति । **बाधानन्तरकालीनोऽयमनुभवः, तत्पूर्वं शुक्तिकात्वज्ञानायोगात्, रजतस्य बाधप्रत्यक्षसिद्धं मिथ्यात्वं वच्छब्देनोच्यते । आत्मनि निरुपाधिकेऽहङ्काराध्यासे दृष्टान्तमुक्त्वा ब्रह्मजीवावान्तरभेदस्याविद्याद्युपाधिकस्याध्यासे दृष्टान्तमाह्**—एक इति । **द्वितीयचन्द्रसहितवदेक एवाङ्गुल्या द्विधा भातीत्यर्थः । लक्षणप्रकरणोपसंहारार्थं इतिशब्दः ।**

भवत्वध्यासः शुक्त्यादौ, आत्मनि तु न संभवतीत्याक्षिपति—कथं पुनरिति । **यत्रापरोक्षाध्यासाधिष्ठानत्वं तत्रेन्द्रियसंयुक्तत्वं विषयत्वं चेति व्याप्तिः शुक्त्यादौ दृष्टा । तत्र व्यापकाभावादात्मनोऽधिष्ठानत्वं न संभवतीत्यभिप्रेत्याह्**—प्रत्यगात्मनीति । **प्रतीचि पूर्णे इन्द्रियाग्राह्ये विषयस्याहङ्कारादेस्तद्धर्माणां चाध्यासः कथमित्यर्थः । उक्तव्याप्तिमाह्**—सर्वो हीति । **पुरोऽवस्थितत्वमिन्द्रिय-**

नहीं करता। शुक्ति में अपरोक्ष प्रतीत होने वाले रजत का देशान्तर (बाजार) में अथवा बुद्धि में कहना असङ्गत है। अत्यन्त असत् मानने पर प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा और सत्य मानने पर रजत का बाध नहीं हो सकेगा। इसलिए **'इदं रजतम्'** इस प्रतीति में भासने वाला रजत मिथ्या ही है। आरोप्य रजत के मिथ्यात्व मानने में शुक्ति का **'रजतवदवभासते'** ऐसा अनुभव-प्रमाण जब मिलता है तो युक्ति की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती, इसी को **'तथा च'** इत्यादि ग्रन्थ से दिखलाते हैं। यह प्रतीति बाध के बाद होती है, उससे पूर्व तो शुक्तिकात्व का ज्ञान ही नहीं होता। रजत के मिथ्यात्व को **'वत्'** शब्द से कहा गया है, जो बाधप्रत्यक्ष से सिद्ध है। उक्त दृष्टान्त निरुपाधिक आत्मा में अहंकाराध्यास बतलाने के लिए दिया गया था। अब ब्रह्म एवं जीव के अवान्तरभेद जो अविद्यादि उपाधि के कारण हैं उसके अध्यास के लिए कहते हैं **'एकश्चन्द्रः'** इत्यादि। एक ही चन्द्र नेत्र के सामने उँगली रखकर देखने पर दो प्रतीत होता है। भाष्य में **'इति'** शब्द लक्षणप्रकरण समाप्ति के लिए कहा गया है।

इसके आगे **'कथं पुनः'** इत्यादि ग्रन्थ से आत्मा तथा शुक्त्यादि में अध्यास की सम्भावना पर आक्षेप करते हैं। किसी भी अध्यास का अधिष्ठान वह होता है जो नेत्र के सामने स्थित हो और विषय हो, तभी उसमें विषयान्तर का अध्यास हो सकता है। प्रत्यगात्मा **इदम्** शब्द से निर्देश के योग्य नहीं और वह विषय भी नहीं है। ऐसे आत्मा में अहंकारादि विषय एवं उसके कर्तृत्वादि धर्मों का अध्यास कैसे हो सकता है। प्रत्यगात्मा में विषयत्व इसलिए भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह **इदम्** प्रत्यय के योग्य नहीं है साथ ही **'न चक्षुषा गृह्यते'** इत्यादि श्रुति भी है। इतने पर भी अब अध्यास के लोभ से उसमें विषयत्व मानोगे तो श्रुति और सिद्धान्त दोनों से ही हाथ धो बैठोगे। इस शङ्का के

---

१. तथैवेत्यर्थः। परत्र परावभासविषयक एवेति यावत्।

विषयान्तरमध्यस्यति, [1]युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि । उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः । न चायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि

संयुक्तत्वम् । नन्वात्मनोऽप्यधिष्ठानत्वार्थं विषयत्वादिकमस्त्वित्यत आह—युष्मदिति । इदंप्रत्ययानर्हस्य प्रत्यगात्मनो 'न चक्षुषा गृह्यते' (मु. ३-१-८) इत्यादिश्रुतिमनुसृत्य त्वमविषयत्वं ब्रवीषि । संप्रत्यध्यासलोभेन विषयत्वाङ्गीकारे श्रुतिसिद्धान्तयोर्बाधः स्यादित्यर्थः । आत्मन्यध्याससंभावनां प्रतिजानीते—उच्यत इति । अधिष्ठानारोप्ययोरेकस्मिन् ज्ञाने भासमानत्वमात्रमध्यासव्यापकं, तच्च भानप्रयुक्तसंशयनिवृत्त्यादिफलभाक्त्वं, तदेव भानभिन्नत्वघटितं विषयत्वं, तन्न व्यापकं, गौरवादिति मत्वाह—न तावदिति । अयमात्मा नियमेनाविषयो न भवति । तत्र हेतुमाह—अस्मदिति । अस्मत्प्रत्ययोऽहमित्यध्यासः[2]तत्र भासमानत्वादित्यर्थः । [3]अस्मदर्थश्चिदात्मा प्रतिबिम्बितत्वेन यत्र प्रतीयते सोऽस्मत्प्रत्ययोऽहङ्कारस्तत्र भासमानत्वादिति वाऽर्थः । न चाध्यासे सति भासमानत्वं, तस्मिन्सति स इति परस्पराश्रय इति वाच्यम्, [4]अनादित्वात्, पूर्वाध्यासे भासमानात्मन उत्तराध्यासाधिष्ठानत्वसंभवात् । नन्वहमित्यहङ्कारविषयकभानरूपस्यात्मनो [5]भासमानत्वं कथं? तद्विषयत्वं विना तत्फलभाक्त्वायोगादित्यत आह—अपरोक्षत्वाच्चेति । चशब्दः शङ्कानिरासार्थः । स्वप्रकाशत्वादित्यर्थः । स्वप्रकाशत्वं साधयति—प्रत्यगिति । आबालपण्डितमात्मनः संशयादिशून्यत्वेन प्रसिद्धेः स्वप्रकाशत्वमित्यर्थः । अतः स्वप्रकाशत्वेन भासमानत्वादात्मनोऽध्यासाधिष्ठानत्वं संभवतीति भावः । यदुक्तमपरोक्षाध्यासाधिष्ठानत्वस्येन्द्रियसंयुक्ततया ग्राह्यत्वं व्यापकमिति तत्राह—न चायमिति । तत्र हेतुमाह—अप्रत्यक्षेऽपीति । इन्द्रियाग्राह्योऽपीत्यर्थः । बाला अविवेकिनः तलमिन्द्रनीलकटाहकल्पं नभो

निराकरण के लिए आत्मा में अध्यास की सम्भावना बतलाने को प्रतिज्ञा **'उच्यते'** ग्रन्थ से करते हैं। जहाँ अध्यास होता है वहाँ पर अधिष्ठान और आरोप्य वस्तु का एक ज्ञान में भान होना अनिवार्य है, इन्द्रियसंयुक्त होना अनिवार्य नहीं है। अध्यास काल में आत्मा का भान होता है, इसीलिए तो मैं हूँ या नहीं ऐसा संदेह आत्मा के विषय में नहीं होता और मैं नहीं ही हूँ, ऐसा विपर्यय भी नहीं होता है। यदि इससे भिन्न विषयत्व को अध्यास का व्यापक मानोगे तो गौरव होगा, साथ ही अहमस्मि इस प्रतीति का विषय होने से आत्मा सर्वथा अविषय भी नहीं कहा जा सकता। अहम् इस प्रतीति में सभी को प्रत्यगात्मा अपरोक्ष भासता है क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है। उसी साक्षी चैतन्य से अहंकारादि अनात्म वस्तु का भी भान होता है। यदि प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाश न हो, तो भला जड़ अहंकारादि को कौन प्रकाश सकेगा। आबालवृद्धादि सभी को आत्मा के सम्बन्ध में संशयादि नहीं होते। अतः आत्मा का स्वप्रकाशत्व प्रसिद्ध है। **'अपरोक्षत्वाच्च'** इसमें चकार शब्द पूर्वोक्त शङ्कानिवृत्ति के लिए है। पूर्वपक्षी ने पहले कहा था कि अपरोक्ष अध्यास के अधिष्ठान को इन्द्रियसंयुक्त होना चाहिए। पूर्व अवस्थित विषय में ही विषयान्तर का अध्यास होता है, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि निरवयव, नीरूप, व्यापक आकाश इन्द्रियग्राह्य नहीं है फिर भी अविवेकी लोग

---

१. विषयतासम्बन्धेन युष्मच्छब्दजन्यप्रत्ययासम्बन्धिनश्चेत्यर्थः । २. तत्रेति—अहमध्यासावच्छेदेनेत्यर्थः ।
३. अवच्छेदवादिमतेनोक्त्वाप्रतिबिंबवादिरीत्याऽप्याह—अस्मदर्थ इत्यादिना । ४. अध्यासस्येति शेषः ।
५. भासमानत्वं कथमिति—भानप्रयुक्तसंशयादिनिवृत्तिफलभाक्त्वं कथमित्यर्थः ।

ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। [1]एवम[2]विरुद्धः प्रत्यगात्मन्य[3]प्यनात्माध्यासः।

[4]तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति, यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते। तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं [5]पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः। सर्वाणि च शास्त्राणि

मलिनं पीतमित्येवमपरोक्षमध्यस्यन्ति, तत्रेन्द्रियग्राह्यत्वं नास्तीति व्यभिचारान्न व्याप्तिः। एतेनात्मानात्मनोः सादृश्याभावान्नाध्यास इत्यपास्तम्, नीलनभसोस्तदभावेऽप्यध्यासदर्शनात्। सिद्धान्त आलोकाकारचाक्षुषवृत्त्यभिव्यक्तसाक्षिवेद्यत्वं नभस इति ज्ञेयम्। सम्भावनां निगमयति—एवमिति।

ननु ब्रह्मज्ञाननाश्यत्वेन सूत्रितामविद्यां हित्वा अध्यासः किमिति वर्ण्यते ? इत्यत आह—तमेतमिति। आक्षिप्तं समाहितमुक्तलक्षणलक्षितमध्यासमविद्याकार्यत्वादविद्येति मन्यन्त इत्यर्थः। विद्यानिवर्त्यत्वाच्चास्याविद्यात्वमित्याह—तद्विवेकेनेति। अध्यस्तनिषेधेनाधिष्ठानस्वरूपनिर्धारणं विद्यामध्यासनिवर्तिकामाहुरित्यर्थः। तथापि कारणाविद्यां त्यक्त्वा कार्याविद्या किमिति वर्ण्यते ? तत्राह—तत्रेति। तस्मिन्नध्यासे उक्तन्यायेनाविद्यात्मके सतीत्यर्थः। मूलाविद्यायाः सुषुप्तावनर्थत्वादर्शनात् कार्यात्मना तस्या अनर्थत्वज्ञापनार्थं तद्वर्णनमिति भावः। अध्यस्तकृतगुणदोषाभ्यामधिष्ठानं न लिप्यत इत्यक्षरार्थः। एवमध्यासस्य लक्षणसम्भावने उक्त्वा प्रमाणमाह—तमेतमिति। तं वर्णितमेतं साक्षिप्रत्यक्षसिद्धं पुरस्कृत्य हेतुं कृत्वा लौकिकः कर्मशास्त्रीयो मोक्षशास्त्रीयश्चेति त्रिविधो व्यवहारः प्रवर्तत इत्यर्थः। तत्र विधिनिषेधपराणि कर्मशास्त्राण्यृग्वेदादीनि, विधिनिषेधशून्यप्रत्यग्ब्रह्मपराणि मोक्षशास्त्राणि वेदान्तवाक्यानीति विभागः। एवं व्यवहारहेतुत्वेनाध्यासे प्रत्यक्षसिद्धेऽपि प्रमाणान्तरं

'नीलं नभः' 'मलिनं नभः' ऐसा उस आकाश में इन्द्रनीलकटाहरूपता का और मलिनता का अध्यास करते हैं। वैसे ही प्रत्यगात्मा में भी अनात्म अहंकारादि का अध्यास मानना कोई विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार सम्भावना ग्रन्थ यहाँ तक पूर्ण हो जाता है।

इसके आगे अध्यासविषयक प्रमाण का विचार करते हैं। ब्रह्मज्ञान से नाश होने वाली अविद्या की चर्चा न कर अध्यास का वर्णन भाष्यकार ने क्यों किया ? इसका समाधान **'तमेतम्'** इत्यादि भाष्य से देते हैं कि अविद्या का कार्य होने से पण्डित लोग उक्त लक्षणवाले अध्यास को अविद्या मानते हैं। विद्या से अध्यस्त वस्तु के निवृत्त हो जाने पर अधिष्ठानस्वरूप के साक्षात्कार को विद्या कहते हैं। इस प्रकार जहाँ जिस वस्तु का अध्यास होता है उस अध्यस्त वस्तु के दोष और गुण से लेशमात्र भी अधिष्ठान का सम्बन्ध नहीं होता। उस अविद्यानामक आत्मा-अनात्मा के अन्योन्याध्यास को लेकर सभी प्रमाण-प्रमेय व्यवहार, लौकिक और वैदिक, प्रवृत्त होते हैं एवं **'यजेत'** यह विधिशास्त्र, **'न हन्तव्यः'** यह निषेधशास्त्र और **'तरति शोकमात्मवित्'** यह मोक्षशास्त्र ये

---

१. एवमिति—उक्तेन प्रकारेण सर्वाक्षेपपरिहारात्। २. अविरुद्धः सम्भावितः। ३. प्रत्यगात्मन्यपिशब्दोऽनात्मनीवेति दृष्टान्तार्थः। ४. तमेतमेवंलक्षणमिति—आक्षिप्तं समाहितं लक्षितस्वरूपञ्जननाद्यर्थकारणमित्यर्थः। ५. निमित्तीकृत्य।

[1]विधि[2]प्रतिषेधमोक्षपराणि । कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति । उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नहीन्द्रियाण्य[4]नुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति । न चाधिष्ठानम[5]न्तरेणेन्द्रियाणां

पृच्छति—कथं पुनरिति । अविद्यावानहमित्यध्यासवानात्मा प्रमाता स विषय आश्रयो येषां तानि अविद्यावद्विषयाणीति विग्रहः । तत्तत्प्रमेयव्यवहारहेतुभूतायाः प्रमाया अध्यासात्मकप्रमात्राश्रितत्वात् प्रमाणानामविद्यावद्विषयत्वं यद्यपि प्रत्यक्षं, तथापि पुनरपि कथं केन प्रामाणेनाविद्यावद्विषयत्वमिति योजना । यद्वाऽविद्यावद्विषयाणि कथं प्रमाणानि स्युः ? आश्रयदोषादप्रामाण्यापत्तेरित्याक्षेपः । तत्र प्रमाणप्रश्ने व्यवहारार्थापत्तिं, तल्लिङ्गकानुमानं चाह—उच्यते इत्यादिना तस्मात् इत्यन्तेन । देवदत्तकर्तृको व्यवहारः, तदीयदेहादिष्वहंममाध्यासमूलः, तदन्वयव्यतिरेकानुसारित्वात्, यदित्थं तत्तथा, यथा मृन्मूलो घट इति प्रयोगः । तत्र व्यतिरेकं दर्शयति—देहेति । देवदत्तस्य सुषुप्तावध्यासाभावे व्यवहाराभावो दृष्टः, जाग्रत्स्वप्नयोरध्यासे सति व्यवहार इत्यन्वयः, स्फुटत्वान्नोक्तः । अनेन लिङ्गेन कारणतयाऽध्यासः सिध्यति, व्यवहाररूपकार्यानुपपत्त्या वेति भावः । ननु मनुष्यत्वादिजातिमति देहेऽहमित्यभिमानमात्राद्व्यवहारः सिध्यतु, किमिन्द्रियादिषु ममाभिमानेनेत्याशङ्क्याह—नहीति । इन्द्रियपदं लिङ्गादेरप्युपलक्षणं, प्रत्यक्षादीत्यादिपदप्रयोगात् । तथा च प्रत्यक्षलिङ्गादिप्रयुक्तो यो व्यवहारो द्रष्टा अनुमाता श्रोताऽहमित्यादिरूपः स इन्द्रियादीनि ममतास्पदान्यगृहीत्वा न सम्भवतीत्यर्थः । यद्वा तानि ममत्वेनानुपादाय यो व्यवहारः स नेति योजना । पूर्वत्रानुपादानासंभवक्रिययोरेको व्यवहारः कर्ता इति क्त्वाप्रत्ययः साधुः । उत्तरत्रानुपादानव्यवहारयोरेकात्मकर्तृकत्वात्, तत्साधुत्वमिति भेदः । इन्द्रियादिषु ममेत्यध्यासाभावेऽन्धादेरिव द्रष्टृत्वादिव्यवहारो न स्यादिति भावः । इन्द्रियाध्यासेनैव व्यवहारादलं देहाध्यासेनेत्यत आह—न चेति ।

सभी अध्यास को लेकर ही प्रवृत्त होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रमाण की आकांक्षा होने पर **'कथं पुनः अविद्यावद्विषयाणि'** यह पूर्वपक्ष होता है जिसका उत्तर **'उच्यते'** इत्यादि से लेकर **'तस्मात्'** इस अन्तग्रन्थ द्वारा दिया गया है। व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति और व्यवहारलिङ्गक अनुमान ये दोनों ही उक्त विषय में प्रमाण हैं। देवदत्त के द्वारा किया गया व्यवहार देवदत्त को देहादि में अहं मम ऐसा अध्यास रहने पर ही होता है एवं अध्यास न रहने पर व्यवहार भी नहीं होता ऐसा अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध है। जाग्रत और स्वप्न में अध्यास रहने पर व्यवहार होता है एवं सुषुप्तावस्था में अध्यास न रहने पर व्यवहार नहीं होता। अतः व्यवहाररूप लिङ्ग से एवं व्यवहाररूप कार्य की अन्यथानुपपत्ति से अध्यास सिद्ध होता है। यहाँ पर भाष्यकार **'देहेन्द्रियादिषु'** इत्यादि ग्रन्थ से अन्वयव्यतिरेक दिखलाते हैं अर्थात् इन्द्रियादि में **'अहंमम'** अभिमानरहित चेतन को प्रमाता नहीं कह सकते और उस स्थिति में प्रमाण की प्रवृत्ति भी सिद्ध नहीं होती है। इन्द्रियों को ग्रहण किये बिना प्रत्यक्षादि व्यवहार भी नहीं होता। इतना ही नहीं, प्रत्युत इन्द्रियों का आश्रय शरीर यदि न हो या उसमें **'मम'** अभिमान न हो तो भी इन्द्रियों का व्यवहार सम्भव नहीं है। शरीर में आत्माध्यास के बिना शरीर से कोई भी व्यवहार होता ही नहीं है। अध्यस्त देह का असङ्ग

१. यजेत, दद्याज्जुहुयात् । २. न भक्षयेत् । ३. अविद्यावदाश्रयाणीत्यर्थः । ४. ममत्वेनागृहीत्वा । ५. इन्द्रियाणामाश्रयं शरीरं विना ।

व्यवहारः सम्भवति । न चा[1]नध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्या[2]प्रियते । न चै[3]तस्मिन्सर्वस्मिन्नसत्यसङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते । न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति । तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति । पश्वादिभिश्चाविशेषात् । यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति

इन्द्रियाणामधिष्ठानम् आश्रयः शरीरमित्यर्थः । नन्वस्त्वा[4]त्मना संयुक्तं शरीरं तेषामाश्रयः किमध्यासेनेत्यत्राह—न चानध्यस्तात्मभावेनेति । अनध्यस्त आत्मभावः आत्मतादात्म्यं यस्मिन् तेनेत्यर्थः । 'असङ्गो हि' (बृ. ४-३-१५) इति श्रुतेः, आध्यासिक एव देहात्मनोः संबन्धो न संयोगादिरिति भावः । नन्वात्मनो देहादिभिराध्यासिकसंबन्धोऽपि मास्तु, स्वतश्चेतनतया प्रमातृत्वोपपत्तेः । न च सुषुप्तौ प्रमातृत्वापत्तिः करणोपरमादिति तत्राह—न चैतस्मिन्निति । प्रमाश्रयत्वं हि प्रमातृत्वम् । प्रमा यदि नित्यचिन्मात्रं तर्ह्याश्रयत्वायोगः करणवैयर्थ्यं च । यदि वृत्तिमात्रं, जगदान्ध्यप्रसङ्गः, वृत्तेजडत्वात् । अतो वृत्तीद्धो बोधः प्रमा, तदाश्रयत्वमसङ्गस्यात्मनो वृत्तिमन्मनस्तादात्म्याध्यासं विना न सम्भवतीति भावः । देहाध्यासे, तद्धर्माध्यासे चासतीत्यक्षरार्थः । तर्ह्यात्मनः प्रमातृत्वं मास्तु इति वदन्तं प्रत्याह—न चेति । तस्मादात्मनः प्रमातृत्वादिव्यवहारार्थमध्यासोऽङ्गीकर्तव्य इत्यनुमानार्थापत्त्योः फलमुपसंहरति—तस्मादिति । [5]प्रमाणसत्त्वादित्यर्थः । यद्वा प्रमाणप्रश्नं समाधाया[6]क्षेपं परिहरति—तस्मादिति । अहमित्यध्यासस्य प्रमात्रन्तर्गतत्वेनादोषत्वात्, अविद्यावदाश्रयाण्यपि प्रमाणान्येवेति योजना । सति प्रमातरि पश्चाद्भवन्दोष इत्युच्यते, यथा काचादिः । अविद्या तु प्रमात्रन्तर्गतत्वान्न दोषः, येन प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं भवेदिति भावः । ननु यदुक्तमन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यवहारोऽध्यासकार्य इति, तदयुक्तं, विदुषामध्यासाभावेऽपि व्यवहारदृष्टेरित्यत आह—पश्वादिभिश्चेति । चशब्दः शङ्कानिरासार्थः । किं विद्वत्त्वं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारः ? उत यौक्तिकमात्मानात्मभेदज्ञानम् ? आद्ये 'बाधिताध्यासानुवृत्त्या व्यवहारः' इति समन्वयसूत्रे वक्ष्यते । द्वितीये परोक्षज्ञानस्यापरोक्षभ्रान्त्यनिवर्तकत्वात्, विवेकिनामपि व्यवहारकाले पश्वादिभिरविशेषादध्यासवत्त्वेन तुल्यत्वाद्व्यवहारोऽध्यासकार्य इति, [7]युक्तमित्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः—विवेकिनोऽध्यासवन्तः, व्यवहारवत्त्वात्, पश्वादिवदिति । तत्र संग्रहवाक्यं व्याकुर्वन् दृष्टान्ते हेतुं स्फुटयति—यथाहीति ।

आत्मा के साथ सम्बन्ध भी आध्यासिक ही है, संयोगादि नहीं है । सिद्धान्त में स्वयंप्रकाश होने से चेतन आत्मा में प्रमातृत्व स्वाभाविक है ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि मन के सहित इन्द्रियों के उपराम हो जाने पर सुषुप्ति में प्रमातृत्व नहीं भासता । इस बात को **'न चैतस्मिन्'** इत्यादि ग्रन्थ से भाष्यकार ने कहा है । उक्त अध्यास के बिना असङ्ग आत्मा में प्रमातृत्व नहीं बनता और प्रमातृत्व के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण सभी अज्ञानियों को विषय करते हैं । इसलिए आत्मा में प्रमातृत्व व्यवहार की सिद्धि के लिए अध्यास मानना ही पड़ेगा क्योंकि पूर्वोक्त अनुमान और अर्थापत्ति ये दोनों प्रमाण विद्यमान हैं । अविद्या दोष प्रधान है, अध्यास के लिए अन्य दोष उसके बाद के हैं और वे अनिवार्य नहीं ।

१. नाध्यस्तमात्मतादात्म्यं यत्र तादृशेन देहेन । २. व्यवहारवान्भवति । ३. अन्तःकरणादिचिदात्मनोरितरेतराध्यास इतरेतरधर्माध्यासे चासतीत्यर्थः । ४. आत्मना संयुक्तं शरीरमिति—आत्मशरीरयोर्द्रव्यत्वात्संयोगः संभवत्येवाध्यासमंतरापीति तार्किकः शङ्कते । ५. अनुमानार्थापत्तिरूपप्रमाणसत्वात् । ६. आश्रयदोषादप्रामाण्यापत्तेरित्याक्षेपः । ७. युक्तमित्यत्रोक्तमिति विवेचनानुसृतः पाठः ।

शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते [1]ततो निवर्तन्ते, [2]अनुकूले च प्रवर्तन्ते। यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति। एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते,तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते।[3]अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्ध एवाविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद्[4]व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः

विज्ञानस्यानुकूलत्वं प्रतिकूलत्वं चेष्टानिष्टसाधनगोचरत्वं, तदेवोदाहरति—यथेति। अयं दण्डो मदनिष्टसाधनं, दण्डत्वात्, अनुभूतदण्डवत्। इदं तृणमिष्टसाधनं, अनुभूतजातीयत्वात्, अनुभूततृणवदित्यनुमाय व्यवहरन्तीत्यर्थः। अधुना हेतोः पक्षधर्मतामाह—एवमिति। व्युत्पन्नचित्ता अपीत्यन्वयः। विवेकिनोऽपीत्यर्थः। फलितमाह—अत इति। अनुभवबलादित्यर्थः। समान इति। अध्यासकार्यत्वेन तुल्य इत्यर्थः। नन्वस्माकं प्रवृत्तिरध्यासादिति न पश्वादयो ब्रुवन्ति, नापि परेषामेतत्प्रत्यक्षं, अतः साध्यविकलो दृष्टान्त इति, नेत्याह—पश्वादीनां चेति। तेषामात्मानात्मनोर्ज्ञानमात्रमस्ति, न विवेकः, उपदेशाभावात्। अतः सामग्रीसत्त्वादध्यासस्तेषां प्रसिद्ध इत्यर्थः। निगमयति—तत्सामान्येति। तैः पश्वादिभिः सामान्यं व्यवहारवत्त्वं तस्य दर्शनाद्विवेकिनामप्ययं व्यवहारः समान इति निश्चीयत इति सम्बन्धः। समानत्वं व्यवहारस्याध्यासकार्यत्वेनेत्युक्तं पुरस्तात्। तत्रोक्तान्वयव्यतिरेकौ स्मारयति—तत्काल इति। तस्याध्यासस्य काल एव कालो यस्य स तत्कालः। यदा अध्यासस्तदा व्यवहारः, तदभावे सुषुप्तौ तदभाव इत्युक्तान्वयादिमानिति यावत्। अतो व्यवहारलिङ्गा-

अब तक अन्वयव्यतिरेक के आधार पर व्यवहार, अध्यास का कार्य सिद्ध हुआ। वह आध्यासिक व्यवहार पशुओं में अविवेकपूर्ण होता है यह तो प्रसिद्ध ही है, विद्वानों का व्यवहार भी आध्यासिक ही है वहाँ पर भी अविवेक का अनुमान कर लेना चाहिए। अतः पश्वादि के समान ही विवेकियों का भी व्यवहार होता है, जिस प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियों का शब्दादि विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर अनुकूल हो तो पशु उसमें प्रवृत्त होते हैं और प्रतिकूल हो तो वहाँ से भाग जाते हैं। यथा हाथ में दण्ड लिये पुरुष को सामने देख पश्वादि यह अनुमान लगाते हैं कि यह पुरुष मुझे मारना चाहता है। अतः वे भाग जाते हैं और हरी घास से भरे हुए हाथवाले व्यक्ति को देख वे पशु भी उसके पास जाते हैं। ऐसे ही व्युत्पन्न पुरुष भी हाथ में तलवार लिए क्रूर दृष्टि वाले, बलवान क्रोधी को देख वहाँ से भाग जाते हैं और उससे विपरीत पुरुषों को देख उनके पास जाते हैं। इस अनुभव के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि व्युत्पन्न पुरुष के प्रमाण-प्रमेय व्यवहार भी पश्वादि के समान ही होते हैं। पश्वादियों को भी मैं, मेरे का बोध तो होता है किन्तु उपदेशाभाव के कारण विवेक नहीं होता। अतः उनमें अध्यास प्रसिद्ध है। उसके समान व्यवहार देखने से व्युत्पन्न पुरुषों में उस समय प्रत्यक्षादि व्यवहार आध्यासिक ही है, यह निश्चित होता है। यद्यपि यज्ञ यागादि के अनुष्ठान रूप शास्त्रीय व्यवहार में शरीरभिन्न परलोक सम्बन्धी

१. शब्दादिप्रातिकूल्यज्ञानानन्तरम्। २. अनुकूले चेति—चकारेण विज्ञाने जाते सतीत्यनुकृष्यते। ३. विवेकिनामप्युक्तप्रवृत्तिनिवृत्त्यनुभवादित्यर्थः। ४. परोक्षविज्ञानवताम्।

समान इति [1]निश्चीयते। शास्त्रीये तु [2]व्यवहारे यद्यपि [3]बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसंबन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यमशनायाद्यतीतम[4]पेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च। प्राक्च[5]तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रम[6]विद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथाहि—'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्या-

द्विवेकिनामपि देहादिष्वहंममाभिमानोऽस्तीत्यनवद्यम्। ननु लौकिकव्यवहारस्याध्यासिकत्वेऽपि ज्योतिष्टोमादिव्यवहारस्य नाध्यासजन्यत्वं, तस्य देहातिरिक्तात्मज्ञानपूर्वकत्वादित्याशङ्क्य हेतुमङ्गीकरोति—शास्त्रीये त्विति। **तर्हि कथं वैदिककर्मणोऽध्यासजन्यत्वसिद्धिरित्याशङ्क्य किं तत्र देहान्यात्मधीमात्रमपेक्षितम्? उतात्मतत्त्वज्ञानम्? आद्ये तस्याध्यासाबाधकत्वात्तत्सिद्धिरित्याह**—तथापीति। **न द्वितीय इत्याह**—न वेदान्तेति। **क्षुत्पिपासादिग्रस्तो जातिविशेषवानहं संसारीति ज्ञानं कर्मण्यपेक्षितं न तद्विपरीतात्मतत्त्वज्ञानं, अनुपयोगात् प्रवृत्तिबाधाच्चेत्यर्थः। शास्त्रीयकर्मणोऽप्यध्यासजन्यत्वं निगमयति**—प्राक्चेति। **अध्यासे आगमं प्रमाणयति**—तथा हीति। **यथा प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तयोऽध्यासे प्रमाणं तथागमोऽपीत्यर्थः। 'ब्राह्मणो यजेत' 'न ह वै स्नात्वा भिक्षेत' 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' '[7]कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्यागमो ब्राह्मणादिपदैरधिकारिणं वर्णाद्यभिमानिनमनुवदन् अध्यासं**

आत्मबोध के बिना अधिकारी नहीं हो सकता। अतः बुद्धिपूर्वक शास्त्रीय व्यवहार में अधिकार प्राप्त होता है। फिर भी, वेदान्तवेद्य क्षुधा-पिपासा से परे ब्रह्मक्षत्रादिभेदशून्य असंसारी आत्मतत्त्व अधिकार में अपेक्षित नहीं है क्योंकि उसका वहाँ पर कोई उपयोग नहीं, प्रत्युत ऐसा आत्मतत्त्व एवं उसका बोध अधिकार का विरोध करता है। यज्ञ यागादि के अनुष्ठानरूप व्यवहार में देहादि से भिन्न आत्मज्ञान मात्र अपेक्षित है, वेदान्तवेद्य विशुद्ध आत्मतत्त्व का बोध यागादि अनुष्ठान में अधिकार का प्रयोजक नहीं है, प्रत्युत ऐसा बोध हो जाने के बाद यागादि के अनुष्ठान में उस पुरुष की प्रवृत्ति ही नहीं होती। अतः मानना पड़ेगा कि यथार्थ आत्मविज्ञान से पूर्व जो शास्त्र प्रवृत्त होता है वह अज्ञानी को ही विषय करता है। इस नियम का अतिक्रमण कहीं नहीं दीखता।

अब तक अध्यास की सिद्धि में प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाण बतलाया था। अब **'तथा हि'** इत्यादि भाष्यग्रन्थ से आगमप्रमाण भी दिखला रहे हैं। **'ब्राह्मणो यजेत'** यह आगम ब्राह्मणत्वाभिमान रखने वाले व्यक्ति का यागानुष्ठान में अधिकार बतलाता है। **'न ह वै स्नात्वा भिक्षेत'** यह आगमवाक्य समावर्तन संस्कारयुक्त व्यक्ति को भिक्षा का निषेध करता है। यहाँ पर आश्रम का अध्यास रहने पर ही शास्त्र प्रवृत्ति होती है। **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत'** अर्थात् अष्टवर्षीय ब्राह्मण का उपनयन करे, इस आगम की प्रवृत्ति आठ वर्ष की आयु वाले बालक में ही होती है। **'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत'** यह आगमवाक्य आत्मा में अवस्था का अध्यास रखने वाले के लिए प्रवृत्त होता है। अतः इन सभी आगमवाक्यों से अध्यास का बोध होता है। इस प्रकार अध्यास प्रमाण सिद्ध हो जाने पर भी, किसका कहाँ अध्यास होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर उसके लक्षण का स्मरण दिलाने के लिए उदाहरण देते हैं। जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें वैसी बुद्धि को अध्यास पद से पहले कह आये हैं। अपने देह से भिन्न पुत्रादि बाह्य वस्तु को जानता है

१. अनुमीयते। २. यजनादौ। ३. विचारपुरःसरं प्रवर्तमानः। ४. अपेतोऽपगतो ब्रह्मक्षत्रादिभेदो यस्मात्तत्तथा। ५. अशनायाद्यतीतो य आत्मा तद्विज्ञानात्प्राक्चेत्यर्थः। ६. अविद्यावदाश्रयत्वं नातिक्रामति। ७. जातपुत्रः।

त्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते। अध्यासो नाम 'अतस्मिँस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। [2]तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति; तथा देहधर्मान्—स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, [3]लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्—मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान्कामसंकल्पविचिकित्साऽध्यवसायादीन्। [4]एवम[5]हंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणा[6]दिष्वध्यस्यति।

गमयतीति भावः। एवमध्यासे प्रमाणसिद्धेऽपि कस्य कुत्राध्यासः ? इति जिज्ञासायां तमुदाहर्तुं लक्षणं स्मारयति—अध्यासो नामेति। उदाहरति—तद्यथेति। तल्लक्षणं यथा स्पष्टं भवति तथोदाह्रियत इत्यर्थः। स्वदेहाद्भेदेन प्रत्यक्षाः पुत्रादयो बाह्याः, तद्धर्मान्साकल्यादीन्देहविशिष्टात्मन्यध्यस्यति, तद्धर्मज्ञानात् स्वस्मिस्तत्तुल्यधर्मानध्यस्यतीत्यर्थः। भेदापरोक्षज्ञाने तद्धर्माध्यासायोगात्, अन्यथाख्यात्यनङ्गीकाराच्चेति द्रष्टव्यम्। देहेन्द्रियधर्मान्मनोविशिष्टात्मन्यध्यस्यतीत्याह—तथेति। कृशत्वादिधर्मवतो देहादेरात्मनि तादात्म्येन कल्पितत्वात्तद्धर्माः साक्षादात्मन्यध्यस्ता इति मन्तव्यम्। अज्ञातप्रत्यग्रूपे साक्षिणि मनोधर्माध्यासमाह—तथान्तःकरणेति। धर्माध्यासमुक्त्वा तद्वदेव धर्म्यध्यासमाह—एवमिति। अन्तःकरणं साक्षिण्यभेदेनाध्यस्य तद्धर्मान् कामादीन् अध्यस्यतीति मन्तव्यम्। स्वप्रचारा मनोवृत्तयः। प्रति—प्रातिलोम्येनासज्जडदुःखात्मकाहङ्कारादिविलक्षणतया सच्चित्सुखात्मकत्वेनाञ्चति प्रकाशत इति प्रत्यक्। एवमात्मन्यनात्मतद्धर्माध्यासमुदाहृत्यानात्मन्यात्मनोऽपि संसृष्टत्वेनाध्यासमाह—तं चेति। अहमित्यध्यासे चिदात्मनो भानं वाच्यं, अन्यथा जगदान्ध्यापत्तेः। न चानध्यस्तस्याध्यासे भानमस्ति। तस्माद्रजतादाविदम इवात्मनः संसर्गाध्यास एष्टव्यः। तद्विपर्ययेणेति।

उसमें साकल्य-वैकल्य को देखकर उसके समान धर्मों का देहविशिष्ट-आत्मा में अध्यास कर बैठता है। भेद का अपरोक्षज्ञान हो जाने पर पुत्रादि के धर्म का अध्यास देहविशिष्ट-आत्मा में हो ही नहीं सकता क्योंकि हम अन्यथाख्यातिवादी नहीं हैं। अतः पुत्रादि के साकल्य-वैकल्य के समान साकल्य-वैकल्य की कल्पना आत्मा में करता है। ऐसे ही देह इन्द्रिय के धर्मों की कल्पना मनोविशिष्ट-आत्मा में करते हैं और स्थूलत्वादि देहधर्म का आरोप आत्मा में करके '**स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि**' इत्यादि अध्यास कर बैठते हैं। वैसे ही इन्द्रियधर्म मूकत्वादि का अध्यास भी आत्मा में होता है। इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय और निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का साक्षी आत्मा में अध्यास कर बैठता है। '**अहं**' इस प्रतीति में भासनेवाला अहंकार का स्वरूप असत्, जड़, दुःखात्मक है, प्रत्यगात्मा उनसे विलक्षण है जो सम्पूर्ण मनोवृत्तियों का साक्षी है। उस प्रत्यगात्मा में अहंकार का स्वरूप और संसर्ग दोनों ही अध्यस्त हैं किन्तु सर्वसाक्षी उस प्रत्यगात्मा का उससे

---

१. पूर्वोक्ताध्यासलक्षणनिष्कृष्टार्थकथनमिदम्। २. अध्यासलक्षणं यथा स्फुटं भवति तथोदाह्रियत इत्यर्थः। ३. अतिक्राम्यामीतीत्यर्थः। ४. एवमिति—देहादिधर्मिवदित्यर्थः। ५. अहंप्रत्ययिनमिति— अहंप्रत्ययो वृत्तिर्यस्मिन्सोऽयमहंप्रत्ययी तमन्तःकरणमित्यर्थः। ६. देहादिकमादिपदार्थः।

एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।

तस्याध्यस्तस्य जडस्य विपर्ययोऽधिष्ठानत्वं, चैतन्यं च तदात्मना स्थितमिति यावत्। तत्राज्ञाने केवलात्मना संसर्गः, मनस्यज्ञानोपहितस्य, देहादौ मनउपहितस्येति विशेषः। एवमात्मनि बुद्ध्याद्यध्यासात् कर्तृत्वादिलाभः, बुद्ध्यादौ चात्माध्यासाच्चैतन्यलाभ इति भावः। वर्णिताध्यासमुपसंहरति —एवमयमिति। **अनाद्यविद्यात्मकतया कार्याध्यासस्यानादित्वमध्यासात् संस्कारस्ततोऽध्यास इति प्रवाहतो नैसर्गिकत्वम्। एवमुपादानं निमित्तं चोक्तं भवति। ज्ञानं विना ध्वंसाभावादानन्त्यम्। तदुक्तं भगवद्गीतासु—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' (गी० १५-३) इति। हेतुमुक्त्वा स्वरूपमाह**—मिथ्येति। **मिथ्या माया तया प्रतीयत इति प्रत्ययः कार्यप्रपञ्चः तत्प्रतीतिश्चेत्येवंस्वरूप इत्यर्थः। तस्य कार्यमाह**—कर्तृत्वेति। **प्रमाणं निगमयति**—सर्वेति। **साक्षिप्रत्यक्षमेवाध्यासधर्मिग्राहकं मानं, अनुमानादिकं तु सम्भावनार्थमित्यभिप्रेत्य प्रत्यक्षोपसंहारः कृतः। एवमध्यासं वर्णयित्वा तत्साध्ये विषयप्रयोजने दर्शयति**—अस्येति। **कर्तृत्वाद्यनर्थहेतोरध्यासस्य समूलस्यात्यन्तिकनाशो मोक्षः स केन? इत्यत आह**—आत्मेति। **ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारस्य प्रतिपत्तिः श्रवणादिभिरप्रतिबन्धेन लाभस्तस्या इत्यर्थः। विद्यायां कारणमाह**—सर्व इति। **आरभ्यन्ते**

विलक्षण अन्तःकरणादि में स्वरूप अध्यस्त नहीं है अपितु संसर्गमात्र अध्यस्त है। ऐसे अध्यास से संस्कार और संस्कार से पुनः अध्यास—ऐसा अध्यास का प्रवाह अनादि है और वह तत्त्वज्ञान के बिना मिटता नहीं, अतः अनन्त है। प्रवाहरूप से कार्याध्यास नैसर्गिक है, जिसका स्वरूप माया से प्रतीत होने के कारण मिथ्या है अर्थात् कार्यप्रपञ्च भी मिथ्या है और उसकी प्रतीति भी मिथ्या है, वही आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रवर्तक है, सर्वलोकप्रत्यक्ष है। साक्षी-प्रत्यक्ष ही अध्यासधर्मीग्राहक प्रमाण है, अनुमानादि तो सम्भावना दिखलाने के लिए कहा जाता है। इस प्रकार अध्यास का निरूपण कर तत्साध्य विषयप्रयोजन को भाष्यकार **'अस्यानर्थहेतोः'** इत्यादि ग्रन्थ से दिखलाते हैं। कर्तृत्वादि अनर्थ का हेतु अध्यास और अध्यास का मूलकारण अनादि अविद्या, इन सब के आत्यन्तिक ध्वंस को मोक्ष कहते हैं। ऐसा मोक्ष ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से प्राप्त होता है। उसी ज्ञान प्राप्ति के निमित्त सम्पूर्ण वेदान्त के अध्ययनपूर्वक विचार करने के लिए यह शास्त्र आरम्भ किया जा रहा है। जब विचारित वेदान्त का विषय ब्रह्मात्मैक्य है और मोक्ष फल है तो विचारात्मक ब्रह्मसूत्र का भी वही विषय और प्रयोजन समझना चाहिए।

---

१. पूर्वोक्तप्रमाणैः समर्थितः।

यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां,तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः ।

।। इत्यध्यासभाष्यम् ।।

अधीत्य विचार्यन्त इत्यर्थः । विचारितवेदान्तानां ब्रह्मात्मैक्यं विषयः, मोक्षः फलमित्युक्तं भवति । अर्थात्तद्विचारात्मकशास्त्रस्यापि ते एव विषयप्रयोजने इति ज्ञेयम् । ननु वेदान्तेषु प्राणाद्युपास्तीनां भानादात्मैक्यमेव तेषामर्थ इति कथम् ? इत्यत आह—यथा चेति । शरीरमेव शरीरकं, कुत्सितत्वात्, तन्निवासी शारीरको जीवस्तस्य ब्रह्मत्वविचारो मीमांसा तस्यामित्यर्थः । उपास्तीनां चित्तैकाग्र्यद्वारात्मैक्यज्ञानार्थत्वात्तद्वाक्यानामपि महातात्पर्यमैक्ये इति वक्ष्यते । एवमध्यासोक्त्या ब्रह्मात्म्यैक्ये[1] विरोधाभावेन विषयप्रयोजनवत्त्वाच्छास्त्रमारम्भणीयमिति दर्शितम् ।

।। इति प्रथमवर्णकम् ।।

शरीर शब्द से कुत्सित अर्थ में कन् प्रत्यय होने पर शरीर को ही शरीरक कहा गया है और उसमें निवास करने वाले जीव को शारीरक कहते हैं। उस जीव के ब्रह्मत्वविचार को मीमांसा कहा गया है। ऐसे शारीरक मीमांसा दर्शन में हम स्थल-स्थल पर यह दिखलायेंगे कि वेदान्त में प्राणादि उपासना का भी चित्तएकाग्रच द्वारा ब्रह्मात्मैक्यज्ञान में ही तात्पर्य है और उपासनाबोधक श्रुतिवाक्यों का भी महातात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यबोध कराने में है। इस प्रकार अध्यास के कथन से ब्रह्मात्मैक्य में विरोधाभाव बतला दिया गया। इससे विषय-प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर यह शास्त्र आरम्भणीय है। यहाँ तक भाष्यग्रन्थ प्रथमवर्णक माना जाता है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र-भाष्य पर चार वर्णक हैं। **'गहनमर्थं वर्णयतीति वर्णकं व्याख्यानमित्यर्थः'**। वे (१) **अध्यास-वर्णक**, (२) **अगतार्थवर्णक**, (३) **अधिकारी वर्णक** और (४) **ब्रह्म की आपातप्रसिद्धिवर्णक** हैं।

---

१. ब्रह्मात्मनोरभेदः ।



१. जिज्ञासाधिकरणम् (सू० १)

(१) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥१॥

॥ वैयासिकन्यायमाला ॥

अविचार्यं विचार्यं वा ब्रह्माध्यासानिरूपणात् । असंदेहाफलत्वाभ्यां न विचार तदर्हति ॥
अध्यासोऽहंबुद्धिसिद्धोऽसङ्गं ब्रह्म श्रुतीरितम् । संदेहान्मुक्तिभावाच्च विचार्यं ब्रह्म वेदतः ॥

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

विचारस्य साक्षाद्विषया वेदान्ताः; तेषां गतार्थत्वागतार्थत्वाभ्यामारम्भसंदेहे कृत्स्नस्य वेदस्य [1]विधिपरत्वात्, विधेश्च 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै. १-१-१) इत्यादिना पूर्वतन्त्रेण विचारितत्वात्, अवगतार्था एव वेदान्ता इत्य[2]व्यवहितविषयाभावान्नारम्भ इति प्राप्ते ब्रूते—वेदान्तेति । **वेदान्तविषयक-पूजितविचारात्मकशास्त्रस्य व्याख्यातुमिष्टस्य सूत्रसंदर्भस्येदं प्रथमसूत्रमित्यर्थः । यदि विधिरेव वेदार्थः स्यात्तदा सर्वज्ञो बादरायणो ब्रह्मजिज्ञासां न ब्रूयात्, ब्रह्मणि मानाभावात् । अतो ब्रह्मणो जिज्ञास्य-त्वोक्त्या केनापि तन्त्रेणानवगतब्रह्मपरवेदान्तविचार आरम्भणीय इति सूत्रकृद्दर्शयति । [3]तच्च 'व्याचिख्यासितस्य' इति पदेन भाष्यकारो बभाषे ।**

॥ इति द्वितीयवर्णकम् ॥

---

(२) **अगतार्थ वर्णक**—अब तक प्रथम वर्णक पर विचार हो रहा था। इस पर जब पूर्वपक्ष कहता है कि विचार के साक्षात् विषय वेदान्त हैं और उनकी गतार्थता **'अथातो धर्म जिज्ञासा'** इस पूर्वतन्त्र से हो जाती है क्योंकि सम्पूर्ण वेद विधिपरक ही हैं। तदन्तःपाती वेदान्त भी विधिपरक है। विधिवाक्यों का विचार पूर्वमीमांसादर्शन में किया गया है फिर तो वेदान्त का विषय ब्रह्म और आत्मा की एकता और प्रयोजन मोक्ष पृथक् नहीं रहा, जिससे कि यह शास्त्र आरम्भ-णीय माना जाय। इसका उत्तर द्वितीय वर्णक **'वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य'** इत्यादि वाक्य से दे रहे हैं। पूजित विचार को मीमांसा कहते हैं। वेदान्त की मीमांसा पूजित विचार है और उसका शासन इस उत्तर मीमांसा शास्त्र में किया गया है जिसकी व्याख्या लिखना हमें अभीष्ट है, जिसका यह **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** प्रथम सूत्र है। यदि सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य विधि में ही होता तो सर्वज्ञ वेदव्यास ब्रह्मजिज्ञासा नहीं बतलाते क्योंकि लोकतः ब्रह्म को प्रसिद्धि नहीं है। अतः ब्रह्म में जिज्ञास्यत्व कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि किसी भी अन्यदर्शन द्वारा वेदान्त का विषय अवगत नहीं है, इस-लिए उसका विचार करना आवश्यक है। इसे सूत्रकार दिखलाते हैं और उसी आरम्भ को भाष्यकार **'व्याचिख्यासितस्य'** इस पद से कहते हैं। यहाँ दूसरा वर्णक पूर्ण हुआ।

---

१. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादिति न्यायेन। २. अव्यवहितविषयस्य मोक्षस्याभावादित्यर्थः। ३. आरम्भणम्।

तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते 'नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया 'अनधिकार्यत्वात् । मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् । अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गल-

---

एवं वर्णकद्वयेन वेदान्तविचारस्य कर्तव्यतायां विषयप्रयोजनवत्त्वमगतार्थत्वं चेति हेतुद्वयं सूत्रस्यार्थिकार्थं व्याख्यायाक्षरव्याख्यामारभमाणः पुनरप्यधिकारिभावाभावाभ्यां शास्त्रारम्भसंदेहे सति अथशब्दस्यानन्तर्यार्थकत्वोक्त्या अधिकारिणं साधयति—तत्राथशब्द इति । **सूत्र इत्यर्थः । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यथशब्दस्य बहवोऽर्थाः** सन्ति । **नत्र 'अथ योगानुशासनम्' (यो. सू. १-१) इत्यत्र सूत्रे यथा अथशब्द आरम्भार्थकः योगशास्त्रमारभ्यत इति तद्वदत्र किं न स्यात् ? इत्यत** आह—नाधिकारार्थ इति । **अयमाशयः—किं जिज्ञासापदं ज्ञानेच्छापरम् ? उत विचार-लक्षकम् ? आद्येऽथशब्दस्यारम्भार्थत्वे ब्रह्मज्ञानेच्छारभ्यत इति सूत्रार्थः स्यात्, स चासंगतः, तस्या अनारम्यत्वात् । नहि प्रत्यधिकरणं इच्छा क्रियते किंतु तया विचारः । न द्वितीयः, कर्तव्यपदाध्याहारं विना विचारलक्षकत्वायोगात्, अध्याहृते च तेनैवारम्भोक्तेरथशब्दवैयर्थ्यात् । किंत्वधिकारिसिद्ध्यर्थ-मानन्तर्यार्थतैव युक्तेति । अधुना सम्भावितमर्थान्तरं दूषयति—**मङ्गलस्येति । **वाक्यार्थो विचारकर्तव्यता, न हि तत्र मङ्गलस्य कर्तृत्वादिनाऽन्वयोऽस्तीत्यर्थः । ननु सूत्रकृता शास्त्रादौ मङ्गलं कार्यमित्यथशब्दः प्रयुक्त इति चेत्, सत्यं, न तस्यार्थो मङ्गलं किन्तु तच्छ्रवणमुच्चारणं च मङ्गलकृत्यं करोति । तदर्थस्त्वा-नन्तर्यमेवेत्याह**—अर्थान्तरेति । अर्थान्तरमानन्तर्यम् । **श्रुत्या श्रवणेन शङ्खवीणादिनादश्रवणवदों-कारायशब्दयोः श्रवणं मङ्गलफलकम् ।**

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

इति स्मरणादिति भावः । ननु प्रपञ्चो मिथ्येति प्रकृते सति, अर्थतन्मतं प्रपञ्चः सत्य इत्यत्र पूर्व-

---

(३) **अधिकारी वर्णक**–पिछले दो वर्णकों द्वारा जो कुछ कहा गया है वह सूत्र का शब्दार्थ नहीं है अपितु तात्पर्यार्थ है । अब तृतीय-अधिकारी वर्णक में सूत्र के अक्षरों (पदों) का अर्थ भाष्यकार करेंगे । अधिकारी के रहने पर शास्त्र आरम्भणीय है, न रहने पर आरम्भणीय नहीं है ? ऐसा सन्देह होने पर **'तत्राथशब्दः'** इत्यादि भाष्यग्रन्थ से **'अथ'** शब्द का आनन्तर्य अर्थ बतलाकर भगवान् भाष्यकार अधिकारी की सिद्धि करते हैं । मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न और कार्त्स्न्य इन अर्थों में अथ शब्द का प्रयोग देखा जाता है । अतः **'अथ'** शब्द अनेकार्थक है । इनमें से **'अथ योगानुशासनम्'** इस योगसूत्र में जैसे अथ शब्द आरम्भार्थक है अर्थात् योगशास्त्र आरम्भ किया जाता है ऐसा हो **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** सूत्र में **'अथ'** शब्द आरम्भार्थक क्यों न माना जाय ? इस पूर्वपक्ष का खण्डन **'नाधिकारार्थः'** इस वाक्य द्वारा भाष्य में किया गया है । तात्पर्य यह है कि जिज्ञासा पद का वाच्यार्थ है—ज्ञानेच्छा और लक्ष्यार्थ है—विचार । इनमें से जब **'अथ'** शब्द का आरम्भ अर्थ करोगे तो इस सूत्र का अर्थ होगा कि ज्ञानेच्छा आरम्भ की जाती है जो युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि प्रत्येक अधिकरण में इच्छा ही नहीं की जाती है अपितु इच्छा से विचार किया जाता है । **'जिज्ञासा'** पद का लक्ष्यार्थ विचार माना जाय इसके लिए **'कर्तव्या'** पद का अध्याहार पहले करना पड़ेगा, उसके बिना लक्षणा का प्रसंग ही नहीं आता क्योंकि अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति

---

१. नाऽऽरम्भार्थः । २. अनारभ्यत्वात् ।

प्रयोजनो भवति । पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात् । सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षत एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि यत्पूर्ववृत्तं निय-

प्रकृतार्थादुत्तरार्थस्या'र्थान्तरस्यार्थोऽथशब्दो दृष्टः, तथात्र किं न स्यात् ? इत्यत आह—पूर्वेति । **फलतः फलस्येत्यर्थः । ब्रह्मजिज्ञासायाः पूर्वं अर्थ विशेषः प्रकृतो नास्ति 'यस्मात्तस्या अर्थान्तरत्वमथशब्देनोच्येत । 'यतः कुतश्चिदर्थान्तरत्वं सूत्रकृता न वक्तव्यं, फलाभावात् । यदि फलस्य जिज्ञासापदोक्तकर्तव्य-विचारस्य 'हेतुत्वेन यत्पूर्वं प्रकृतं तदपेक्षास्तीत्यपेक्षाबलात्प्रकृतहेतुमाक्षिप्य 'ततोऽर्थान्तरत्वमुच्यते, तदार्थान्तरत्वमानन्तर्येऽ'न्तर्भवति 'हेतुफलभावज्ञानायानन्तर्यस्यावश्यं वाच्यत्वात् । तस्मादिदमर्था-न्तरमित्युक्ते तस्य हेतुत्वाप्रतीतेः । तस्मादिदमनन्तरमित्युक्ते भवत्येव हेतुत्वप्रतीतिः । न चाश्वादनन्तरो गौरित्यत्र हेतुत्वभानापत्तिरिति वाच्यं, तयोर्देशतः कालतो वा व्यवधानेनानन्तर्यस्यामुख्यत्वात् । अतः 'सामग्रीफलयोरेव मुख्यमानन्तर्यं, अव्यवधानात् । 'तस्मिन्नुक्ते सत्यर्थान्तरत्वं न वाच्यं "ज्ञातत्वाद्वफल्या-च"चेति भावः । फलस्य विचारस्य पूर्वप्रकृतहेत्वपेक्षाया बलाद्यदर्थान्तरत्वं तस्यानन्तर्याभेदात् "न पृथगथशब्दार्थत्वमित्यध्याहृत्य भाष्यं योजनीयम् । यद्वा पूर्वप्रकृतेऽर्थेऽपेक्षा यस्या अर्थान्तरतायास्तस्याः फलं ज्ञानं तद्द्वारानन्तर्याव्यतिरेकात्त"ज्ञाने"तस्याः ज्ञानतोऽ"न्तर्भावान्नाथशब्दार्थतेत्यर्थः। नन्वानन्त-र्यार्थकत्वेऽप्यानन्तर्यस्यावधिः क इत्याशङ्क्याह**—सति चेति । **यन्नियमेन पूर्ववृत्तं पूर्वभाव्यसाधारण-**

लक्षणाबीज मानी गयी है । **'कर्तव्या'** पद अध्याहार के बाद उसी से आरम्भ अर्थ सिद्ध हो जाता है, फिर तो आरम्भ अर्थ में अथ शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन ही होगा । अतः अधिकारी सिद्धि के लिए अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ मानना ही युक्तियुक्त है ।

'अथ' शब्द का मङ्गल अर्थ करना भी ठीक नहीं क्योंकि इस सूत्र का वाक्यार्थ है—विचार-कर्तव्यता । उस वाक्यार्थ में **'अथ'** शब्दार्थ मङ्गल का अन्वय कर्ता आदि कारकरूप में बनता नहीं अर्थात् विचारकतव्यता का कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान या अधिकरण मङ्गल है ऐसा अन्वय बनता नहीं । हाँ, सूत्रकार ने शास्त्रारम्भ में मङ्गल कार्य के लिए **'अथ'** शब्द का प्रयोग किया होगा जो श्रवण अथवा उच्चारण से ही सिद्ध हो जाता है किन्तु **'अथ'** शब्द का अर्थ तो आनन्तर्य ही हैं । जिस प्रकार शंखवीणादि नाद सुनने से मङ्गल होता है, ऐसे ही **'ॐ कार'** और **'अथ'** शब्द के सुनने से भी मङ्गल होता है । इसीलिए स्मृति वाक्य है कि 'ॐकार' और 'अथ' शब्द, ये दोनों वेद के कण्ठ को छेदकर निकले थे, अतः ये दोनों माङ्गलिक हैं ।"

पूर्वप्रकृतापेक्ष अर्थ 'अथ' शब्द का माना जाय तो वह आनन्तर्य से भिन्न नहीं हैं । अर्थान्तरत्व मानने पर ब्रह्मजिज्ञासा कार्य के साथ अर्थान्तरत्व का कारण-कार्यभाव नहीं बनता है । अतः कारण-कार्यभाव की सिद्धि के लिए **'अथ'** शब्द का आनन्तर्य अर्थ करना ही उचित होगा । आनन्तर्य की एक अवधि माननी पड़ेगी जिसके रहने पर ब्रह्मजिज्ञासा वैसे ही होगी जैसे धर्मजिज्ञासा से पूर्व नियमतः

१. निष्ठत्वं षष्ठ्यर्थः । २. अर्थविशेषात्तस्या जिज्ञासायाः । ३. अप्रकृतादर्थविशेषात् । ४. साधनत्वेन कारण-त्वेनेति यावत् । ५. ब्रह्मजिज्ञासायाः । ६. अन्तर्भवतीत्यनंतरं यद्यपि तथापीति शेषो द्रष्टव्यः । ७. कारण-कार्यभिति यावत् । ८. सामग्रीकारणं, फलं कार्यम् । ९. आनंतर्ये । १०. अनंतरोक्तो वेति शेषः । ११. चो हेतौ । १२. उक्तार्थान्तरताया आनन्तर्यात्पृथगथशब्दार्थत्वं न भवति । १३. आनन्तर्यज्ञाने । १४. अर्थान्तरतायाः । १५. अर्थान्तरताया इत्यनुषङ्गः शेषो वा ।

मेनापेक्षते,तद्वक्तव्यम् । स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम् । नन्विह 'कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः । न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः । यथा च हृदयाद्यवदा-

---

कारणं पुष्कलकारणमिति यावत्, तदेवावधिरिति वक्तव्यमित्यर्थः । नन्वस्तु धर्मविचार इव ब्रह्मविचारेऽपि वेदाध्ययनं पुष्कलकारणमित्यत आह—स्वाध्यायेति । **समानं ब्रह्मविचारे साधारणकारणं न पुष्कलकारणमित्यर्थः । ननु संयोगपृथक्त्वन्यायेन 'यज्ञेन दानेन' (बृ. ४-४-२२) इत्यादिश्रुत्या 'यज्ञादिकर्माणि ज्ञानाय विधीयन्ते' इति सर्वापेक्षाधिकरणे (ब्र. सू. ३-४-२६) वक्ष्यते । तथा च पूर्वतन्त्रेण तदवबोधः पुष्कलकारणमिति शङ्कते**—नन्विति । **इह ब्रह्मजिज्ञासायां विशेषोऽसाधारणं कारणम् । ['एकस्य तूभयार्थत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इति जैमिनिसूत्रं, तदर्थस्तु—एकस्य कर्मण उभयार्थत्वेऽनेकफलसम्बन्धे संयोगः उभयसम्बन्धबोधकं वाक्यं तस्य पृथक्त्वं भेदः स हेतुः । ततश्चात्रापि ज्योतिष्टोमादिकर्मणां स्वर्गादिफलैकानामपि 'यज्ञेन दानेन' इत्यादि वचनात् ज्ञानार्थत्वं चेति ।] परिहरति**—नेत्यादिना । **अयमाशयः**—**न तावत् पूर्वतन्त्रस्थं न्यायसहस्र**[2] **ब्रह्मज्ञाने तद्विचारे वा पुष्कलं कारणं, तस्य धर्मनिर्णयमात्रहेतुत्वात् । नापि कर्मनिर्णयः, तस्यानुष्ठानहेतुत्वात् । न हि धूमाग्न्योरिव धर्मब्रह्मणोर्व्याप्तिरस्ति, यथा धर्मज्ञानात् ब्रह्मज्ञानं भवेत् । यद्यपि शुद्धिविवेकादिद्वारा कर्माणि हेतवः, तथापि** [3]**तेषां नाधिकारिविशेषणत्वं, अज्ञातानां तेषां जन्मान्तरकृतानामपि फलहेतुत्वात् । अधिकारिविशेषणं ज्ञायमानं प्रवृत्तिपुष्कलकारणमानन्तर्यावधित्वेन वक्तव्यम् । अतः कर्माणि, तदवबोधः, तन्न्यायविचारो वा नावधिरिति न ब्रह्मजिज्ञासाया धर्मजिज्ञासानन्तर्यमिति । ननु धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः कार्यकारणत्वाभावेऽप्यानन्तर्योक्तिद्वारा क्रमज्ञानार्थोऽथशब्दः । 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः' (तै. संहि.) इत्यवदानानां क्रमज्ञानार्थाथशब्दवदित्याशङ्क्याह**—यथेति ।

वेदाध्ययन की अपेक्षा होती है । ऐसे ही ब्रह्मजिज्ञासा से पूर्व नियमतः कुछ साधनों की अपेक्षा होती है, वही आनन्तर्य की अवधि मानी जायेगी । स्वाध्याय के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा मानोगे तो वह वेदाध्ययन ब्रह्मविचार के लिए पुष्कलकारण नहीं माना जा सकता, वह तो साधारणकारण है जो धर्म एवं ब्रह्मजिज्ञासा के लिए एक जैसा है । यदि कहो कि धर्मविचार में वेदाध्ययनमात्र कारण है किन्तु ब्रह्मविचार में यागादि कर्मों का बोध भी होना चाहिए, बस यही धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा में विशेष है । ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि जिसने वेदान्त पढ़ रखा है ऐसे व्यक्ति में भी धर्मजिज्ञासा से पूर्व ब्रह्मजिज्ञासा देखी जाती है । पूर्वमीमांसा के सहस्रों अधिकरणों का विचार ही ब्रह्मज्ञान या उसके लिए विचार में पुष्कल कारण नहीं मान सकते क्योंकि वह धर्मनिर्णयमात्र का कारण है । धूम और अग्नि की भांति धर्म और ब्रह्म में व्याप्ति भी नहीं है जिससे कि धर्मज्ञान से ब्रह्मज्ञान का होना माना जाय । कर्म अन्तःशुद्धि एवं विवेकादि द्वारा ब्रह्मज्ञान का बहिरङ्ग साधन तो है किन्तु वह अधिकारी विशेषण नहीं बन सकता । पूर्वजन्म में किये हुए अनेकों सत्कर्म जो अज्ञात हैं, उनसे भी ब्रह्मविचार में प्रवृत्ति होती है । अतः धर्मज्ञान ब्रह्मविचार का प्रयोजक नहीं माना जा सकता । **'संयोगपृथक्त्वन्याय'** से **'यज्ञेन दानेन'** इत्यादि श्रुति द्वारा ब्रह्मज्ञान के लिए कर्म का विधान किया गया है जिसे **'सर्वापेक्षाधिकरण'** में भगवान् वेदव्यास कहेंगे । इस प्रकार पूर्वमीमांसादर्शन से कर्मावबोध होता है जो ब्रह्मज्ञान का पुष्कलकारण है । मीमांसादर्शन में **'एकस्य**

---

१. कर्मपदेन, यज्ञादिधर्मो गृह्यते,तदवबोधस्तस्य जिज्ञासा । २. पूर्वतन्त्रस्थ । ३. कर्मणाम् ।

नानामानन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः शेषशेषित्वेऽधिकृता-

---

अवदानानामानन्तर्यनियमः क्रमो यथाथशब्दार्थस्तस्य विवक्षितत्वात् न तथेह धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः क्रमो विवक्षितः, एककर्तृकत्वाभावेन तयोः क्रमानपेक्षणात्। अतो न क्रमार्थोऽथशब्द इत्यर्थः। ननु तयोरेककर्तृकत्वं कुतो नास्तीत्यत आह—शेषेति। 'येषामेकप्रधानशेषता, यथाऽवदानानां प्रयाजादीनां च। ययोश्च शेषशेषित्वं, यथा प्रयाजदर्शयोः। यस्य चाधिकृताधिकारत्वं, यथा अपां प्रणयनं दर्शपूर्णमासाङ्गमाश्रित्य 'गोदोहनेन पशुकामस्य' इति विहितस्य गोदोहनस्य। यथा वा 'दर्शपूर्ण-मासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इति दर्शाद्युत्तरकाले विहितस्य सोमयागस्य दर्शाद्यधिकृताधिकारत्वं तेषामेककर्तृकत्वं भवति। ततश्चैकप्रयोगवचनगृहीतानां तेषां युगपदनुष्ठानासम्भवात् क्रमाकाङ्क्षायां श्रुत्यादिभिर्हि क्रमो बोध्यते, नैवं जिज्ञासयोः शेषशेषित्वे श्रुतिलिङ्गादिकं मानमस्ति। ननु 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' (जा. ४) इति श्रुत्या, 'अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।' इति स्मृत्या चाधिकृताधिकारत्वं भातीति तन्न। 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा. ४)। 'आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे।' इति श्रुति-

---

तुभयत्वे संयोगपृथक्त्वं' इति, इस सूत्र से महर्षि जैमिनि ने कहा कि एक साधन भी उभयप्रयोजन का नियामक हो सकता है। **'दध्ना जुहुयात्'** इसमें दधि से होम यागसिद्धिमात्र के लिए विहित है वही दधिहोम **"दध्नः इन्द्रियकामस्य जुहुयात्"** इस वाक्य द्वारा इन्द्रियपुष्टिरूप फलसाधन भी हो जाता है वैसे ही ज्योतिष्टोम आदि स्वर्गफल के लिए विहित है फिर भी **'यज्ञेन दानेन'** इत्यादि वाक्य के द्वारा ज्ञान का साधन भी माना जाता है। अतः ब्रह्मजिज्ञासा में कर्माव-बोध संयोगपृथक्त्वन्याय से पुष्कलकारण बन सकता है? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। जन्मान्तरीय अज्ञात अनेकों सत्कर्म अन्तःशुद्धि द्वारा मोक्ष के साधन माने गये हैं, इसलिए कर्म-ज्ञान मोक्ष का पुष्कलकारण नहीं माना जा सकता।

यदि अथ शब्द **"हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः"** इन हृदयादि खण्डन में क्रम अर्थ बतलाने के लिए जैसे 'अथ' शब्द आया है, ऐसे ही इस सूत्र में भी 'अथ' शब्द क्रमार्थक माना जाय अर्थात् धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासा में क्रम बतलाने के लिए **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** सूत्र में अथ शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जहाँ शेषशेषीभाव, अधिकृत अधिकार भाव होता है वहाँ पर ही अथ शब्द का अर्थ क्रम बतलाना अभीष्ट है। प्रधान और अङ्गभाव जहाँ होता हो वहाँ पर पहले अङ्ग का अनुष्ठान तत्पश्चात् प्रधान का अनुष्ठान करना अभीष्ट होता है। अङ्गानुष्ठान के लिए भी क्रम निश्चित है जिसका बोध श्रुत्यादि प्रमाण से होता है ऐसा दर्शपूर्णमास याग और उसके प्रयाजादि अङ्गों के अनुष्ठान में क्रमबोधप्रसङ्ग पर कहा गया है। वैसे ही दर्शपूर्णमास का अङ्ग चमस पात्र से जलाहरण कहा गया है। जो व्यक्ति दर्शपूर्णमास का अधिकारी है उसी का अनुष्ठानकाल में पशुकाम हो जाने पर गोदोहन पात्र से जलाहरण का विधान किया गया है। पर जहाँ शेषशेषीभाव नहीं, अधिकृत अधिकार में भी प्रमाण नहीं, ऐसे धर्म एवं ब्रह्मजिज्ञासा में क्रमबोध के लिए अथ शब्द का प्रयोग मानना अनुपयुक्त होगा। धर्मज्ञान का फल अभ्युदय है, (ऐहिक—पारलौकिक विषयविषयक सुख है)। जिसे अनुष्ठान

---

१. अवदानप्रयाजादीनां चाग्निषोमैकप्रधानशेषतेति स्पष्टमन्यत्र।

धिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुष-

स्मृतिभ्यां त्वयोदाहृतश्रुतिस्मृत्योरशुद्धचित्तविषयत्वावगमात्। एतदुक्तं भवति—यदि जन्मान्तरकृतकर्मभिः शुद्धं चित्तं तदा ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्य ब्रह्म जिज्ञासितव्यं, यदा न शुद्धमिति रागेण ज्ञायते तदा गृही भवेत्, तत्राप्यशुद्धौ वनी भवेत्, तत्राप्यशुद्धौ तथैव कालमाकलयेत्, वने शुद्धौ प्रव्रजेदिति। तथा च श्रुतिः—'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (जा. ४) इति। तस्माज्ज्ञानयोरधिकृताधिकारत्वे किञ्चिन्मानमिति भावः। ननु मीमांसयोः शेषशेषित्वमधिकृताधिकारत्वं च मास्तु। एकमोक्षफलकत्वेनैककर्तृकत्वं स्यादेव। 'वदन्ति हि—'ज्ञानकर्मभ्यां मुक्तिः' इति समुच्चयवादिनः। एवमेकवेदार्थजिज्ञास्यैकत्वाच्चैककर्तृकत्वम्। तथा चाग्नेयादिषड्यागानामेकस्वर्गफलकानां, द्वादशाध्यायानां चैकधर्मजिज्ञास्यकानां क्रमवत्तयोः क्रमो विवक्षित इति क्रमार्थोऽथशब्द इत्याशङ्क्याह—फलेति। फलभेदाज्जिज्ञास्यभेदाच्च न क्रमो विवक्षित इत्यनुषङ्गः। यथा सौर्यार्यम्णप्राजापत्यचरूणां ब्रह्मवर्चसस्वर्गायुःफलभेदात्, यथा वा कामचिकित्सातन्त्रयोर्जिज्ञास्यभेदान्न क्रमापेक्षा, तद्वन्मीमांसयोर्न क्रमापेक्षेति भावः। तत्र फलभेदं विवृणोति—अभ्युदयेति। विषयाभिमुख्येनोदेतीत्यभ्युदयो विषयाधीनं सुखं स्वर्गादिकं तच्च धर्मज्ञानहेतोर्मीमांसायाः फलमित्यर्थः। न केवलं फलस्य स्वरूपतो भेदः किन्तु हेतुतोऽपीत्याह—तच्चेति। ब्रह्मज्ञानहेतोर्मीमांसायाः फलं तु तद्विरुद्धमित्याह—निःश्रेयसेति। नित्यं निरपेक्षं श्रेयो निःश्रेयसं मोक्षस्तत्फलमित्यर्थः। ब्रह्मज्ञानं च स्वोत्पत्तिव्यतिरिक्तमनुष्ठानं नापेक्षत इत्याह—न चेति। स्वरूपतो हेतुतश्च फलभेदान्न समुच्चय इति भावः। जिज्ञास्यभेदं विवृणोति—भव्यश्चेति। भवतीति भव्यः साध्य इत्यर्थः। साध्यत्वे हेतुमाह—नेति। तर्हि तुच्छत्वं, नेत्याह—पुरुषेति। पुरुषव्यापारः

की अपेक्षा होती है किन्तु ब्रह्मज्ञान का फल निर्विषयक-सुख निःश्रेयस है जिसमें अन्य अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती। साथ ही धर्म भव्य है जो ज्ञानकाल में नहीं रहता किन्तु पुरुष व्यापार से उसे उत्पन्न किया जाता है। ब्रह्म सिद्धवस्तु है जो सदा विद्यमान है, पुरुषव्यापाराधीन नहीं है। ऐसी स्थिति में धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासा के फल एवं जिज्ञास्यवस्तु में भेद होने के कारण भी यहाँ पर क्रम विवक्षित नहीं है। इन दोनों के बोधक श्रुतिवाक्य की प्रवृत्ति में भी भेद देखा जाता है। अज्ञातज्ञापकवाक्य को चोदना कहते हैं जो धर्म एवं ब्रह्मबोधक है उभयप्रकार के वाक्य चोदना पदवाच्य हैं। इनमें धर्म का बोधक **'स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि वाक्य अपने विषय धर्म में पुरुष को प्रवृत्त कराता हुआ स्वार्थ का बोधक है। किन्तु **'अयमात्माब्रह्म'** इत्यादि महावाक्य केवल निष्प्रपञ्चब्रह्म अर्थ का बोध ही कराता है, प्रवृत्ति नहीं कराता क्योंकि वहाँ पर कोई विषय नहीं है। ब्रह्मज्ञान तो महावाक्य से होता है जो बोध कराने के बाद कृतकार्य हो जाता है, जैसे इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से विषय का बोध होने पर इन्द्रिय कृतार्थ हो जाता है वैसे ही महावाक्य भी ब्रह्मात्मैक्य अर्थ का बोध कराकर कृतार्थ हो जाता है। इन सभी बातों पर विचार करने से यह अर्थ निश्चित होता है कि 'अथ' शब्द यहाँ पर क्रमार्थक नहीं है किन्तु आनन्तर्यार्थक

१. 'द्वाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः। तथैव कर्मज्ञानाभ्यां प्राप्यते शाश्वती गतिः' इत्यादिवचनैरिति शेषः।

व्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं [1]नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलं, अवबोधस्य चोदनाऽजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्। तस्मात्किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोग-

---

प्रयत्नस्तन्त्रं हेतुर्यस्य तत्त्वादित्यर्थः। कृतिसाध्यत्वात् कृतिजनकज्ञानकाले धर्मस्यासत्त्वं, न तुच्छत्वादित्यर्थः। ब्रह्मणो धर्माद्वैलक्षण्यमाह—इह त्विति। **उत्तरमीमांसायामित्यर्थः। भूतमसाध्यम्। तत्र हेतुः**—नित्येति। **सदा सत्त्वादित्यर्थः। साध्यासाध्यत्वेन धर्मब्रह्मणोः स्वरूपभेदमुक्त्वा हेतुतोऽप्याह**—नेति। **धर्मवत् कृत्यधीनं नेत्यर्थः। मानतोऽपि भेदमाह**—चोदनेति। **अज्ञातज्ञापकं वाक्यमत्र चोदना। तस्याः प्रवृत्तिर्बोधकत्वं तद्वैलक्षण्याच्च जिज्ञास्यभेद इत्यर्थः। संग्रहवाक्यं विवृणोति**—या हीति। **लक्षणं प्रमाणम्। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यं हि स्वविषये धर्मे [2]यागादिकरणस्वर्गादिफलक[3]भावनारूपे [4]'फलहेतुयागादिगोचरनियोगे वा [5]हितसाधने यागादौ वा पुरुषं प्रवर्तयदेवावबोधयति। 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ. २-५-१९) इत्यादि वाक्यं तु स्वमर्थं केवलमप्रपञ्चं ब्रह्म बोधयत्येव न प्रवर्तयति, विषयाभावादित्यर्थः। नन्ववबोध एव विषयस्तत्राह**—न पुरुष इति। **ब्रह्मचोदनया पुरुषोऽवबोधे न प्रवर्त्यत इत्यत्र हेतुं पूर्ववाक्येनाह**—अवबोधस्येति। **स्वजन्यज्ञाने स्वयं प्रमाणं न प्रवर्तकमित्यत्र दृष्टान्तमाह**—यथेति। **मानादेव बोधस्य जातत्वात्, जाते च विध्ययोगात्, न वाक्यार्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिः। तथा च प्रवर्तकमानमेयो धर्मः, उदासीनमानमेयं ब्रह्म, इति जिज्ञास्यभेदात्, न तन्मीमांसयोः क्रमार्थोऽथशब्द इति भावः। एवमथशब्दस्यार्थान्तरासंभवात्, आनन्तर्यवाचित्वे सति तदवधित्वेन पुष्कलकारणं वक्तव्यमित्याह**—तस्मादिति। उपदिश्यते **सूत्रकृतेति शेषः। तत्किमित्यत** आह—उच्यत इति। **विवेकादीनामागमिकत्वेन प्रामाणिकत्वं पुरस्तादेवोक्तम्। लौकिकव्यापारान्मनस उपरमः शमः। बाह्यकरणानामुपरमो दमः। ज्ञानार्थं विहितनित्यादिकर्मसंन्यास उपरतिः।**

है। अतः जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश करना सुनिश्चित है, ऐसा ही कुछ साधन ब्रह्मजिज्ञासा से पूर्व बतलाना सूत्रकार को अभीष्ट है, एतदर्थ अथ शब्द का प्रयोग किया है। वह है 'नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमदमादि षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुता'। इन सब का बोध आगमप्रमाण से होने के कारण इन्हें पहले ही प्रामाणिक माना गया है। लौकिकव्यापार से मन का उपरत हो जाना शम है, बाह्यइन्द्रियों को उपरमता को दम कहते हैं, नित्यनैमित्तिकादि विहितकर्मों का संन्यास जो ज्ञानप्राप्ति के लिए किया जाता है उसे उपरति कहते हैं, शीतोष्णादि द्वन्द्वों का सहन तितिक्षा है, निद्रालस्यप्रमाद के त्याग से जो मानसिक स्थिति बनती है उसे

---

१. नित्यत्वादिति—अत्र नित्यनिर्वृत्तत्वादिति प्राचीनपुस्तकेषु पाठो दृश्यते, प्रकृतटीकया च स एव कल्प्यते यथाश्रुतस्य व्याख्यानपेक्षत्वात्। २. यागेन स्वर्गं भावयेदिति भावनैव लिङर्थ इति भट्टमतेनाह—यागादिकरणेत्यादि। ३. आर्थीभावनारूपे। ४. यागेन तथा व्याप्रियेत यथा स्वर्गफलं भवतीति यथोक्तो नियोगो व्यापारविशेष एव तदर्थ इति प्रभाकरमतेनाह—फलहेत्वित्यादि। ५. यागः स्वर्गादीष्टसाधनमितीष्टसाधनत्वमेव तदर्थ इति मण्डनमतेनाह—हितेत्यादि।

विरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते।

अतःशब्दो हेत्वर्थः। यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'

शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनं तितिक्षा। निद्रालस्यप्रमादत्यागेन मनःस्थितिः समाधानम्। सर्वत्रास्तिकता श्रद्धा। एतत्षट्कप्राप्तिः शमादिसम्पत्। अत्र विवेकादीनामुत्तरोत्तरहेतुत्वेनाधिकारिविशेषणत्वं मन्तव्यम्। तेषामन्वयव्यतिरेकाभ्यां ब्रह्मजिज्ञासाहेतुत्वमाह—तेष्विति। यथाकथंचित् कुतूहलितया ब्रह्मविचारप्रवृत्तस्यापि फलपर्यन्तं तज्ज्ञानानुदयाद् व्यतिरेकसिद्धिः। अथशब्दव्याख्यानमुपसंहरति—तस्मादिति।

ननूक्तविवेकादिकं न सम्भवति, 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्' इत्यादिश्रुत्या कर्मफलस्य नित्यत्वेन ततो वैराग्यासिद्धेः। जीवस्य ब्रह्मस्वरूपमोक्षश्चायुक्तः, भेदात्, तस्य लोष्टादिवत् पुरुषार्थत्वायोगाच्च। ततो न मुमुक्षासम्भव इत्याक्षेपपरिहारार्थोऽतःशब्दः, तं व्याचष्टे—अतःशब्द इति। अथशब्देनानन्तर्यवाचिना 'तदवधित्वेनार्थाद्विवेकादिचतुष्टयस्य ब्रह्मजिज्ञासाहेतुत्वं यदुक्तं तस्यार्थिकहेतुत्वस्याक्षेपनिरासायानुवादकोऽतःशब्द इत्यर्थः। उक्तं विवृणोति—यस्मादिति। तस्मादित्युत्तरेण सम्बन्धः। 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७-२४-१) 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इति न्यायवती 'तद्यथेह' (छा० ८-१-६) इत्यादिश्रुतिः कर्मफलाक्षयत्वश्रुतेर्बाधिका। तस्मात् 'अतोऽन्यदार्तम्' इति

समाधान कहते हैं और वेदादि शास्त्रों एवं गुरुवाक्यों में आस्तिकता का नाम श्रद्धा है। विवेकादि साधनों में पूर्व पूर्व साधन उत्तर उत्तर का कारण भी माना गया है। इस जन्म में धर्मजिज्ञासा से पूर्व जन्मान्तरीय कर्मादि अनुष्ठान के फलस्वरूप विवेकादि साधन जुड़ गये हों तो ब्रह्मजिज्ञासा कर सकता है और ब्रह्म को जान भी सकता है। पूर्वसाधन न हो तो ऐहिक धर्मानुष्ठान के पश्चात् विवेकादि साधनों के आने पर ही ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव होती है अन्यथा नहीं। उस अथ शब्द से यथोक्त साधनसम्पत्ति के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश पूर्वोक्त अन्वय व्यतिरेक के आधार पर सिद्ध होता है।

'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्' इस श्रुति से कर्मफल को नित्य कहा गया है फिर तो उससे वैराग्य होना सम्भव नहीं है और जीव-ब्रह्म में भेद होने के कारण जीव को ब्रह्मस्वरूप की प्राप्तिरूप मोक्ष भी नहीं मिल सकता। साथ ही लोष्ठादि की भाँति निःस्पृह होने के कारण ब्रह्म पुरुषार्थ भी नहीं बन सकता। इन आक्षेपों का समाधान देने के लिए इस सूत्र में हेत्वर्थक 'अतः' शब्द का प्रयोग किया गया है। आनन्तर्यवाची अथ शब्द से जिज्ञासा के हेतु विवेकादि साधनों को जो बतलाया था वह तो आर्थिकहेतुत्व सिद्ध करता था, शब्द से जिज्ञासा के प्रति विवेकादि में कारणत्व सिद्ध नहीं हुआ था। इस आक्षेप को दूर करने के लिए अतः शब्द उक्त हेतुत्व का अनुवादक

---

१. आनन्तर्यम्। २. अर्थादिति—अथशब्दोक्तमुख्यानन्तर्यान्यथाऽनुपपत्तेरिति यावत्। ३. परिच्छिन्नम्। ४. विनाशग्रस्तम्।

(छान्दो० ८/१/६) इत्यादिः । तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति— 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २/१)इत्यादिः । तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या ।

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः'(ब्र.सू.१-१-२)

श्रुत्याऽनात्ममात्रस्यानित्यत्वविवेकाद्वैराग्यलाभ इति भावः । मुमुक्षां सम्भावयति—तथेति । यथा वेदः कर्मफलानित्यत्वं दर्शयति, तथा ब्रह्मज्ञानात् प्रशान्तशोकानलमपारं स्वयंज्योतिरानन्दं दर्शयतीत्यर्थः । जीवत्वादेरध्यासोक्त्या ब्रह्मत्वसम्भव उक्त एवेति भावः । एवमथातःशब्दाभ्यां पुष्कलकारणवतोऽधिकारिणः समर्थनाच्छास्त्रमारब्धव्यमित्याह—तस्मादिति ।

[1]सूत्रवाक्य[2]पूरणार्थमध्याहृतकर्तव्यपदान्वयार्थं ब्रह्मजिज्ञासापदेन विचारं लक्षयितुं तस्य स्वाभिमतसमासकथनेनावयवार्थं दर्शयति—ब्रह्मण इति । ननु धर्माय जिज्ञासा इतिवत् ब्रह्मणे जिज्ञासेति चतुर्थीसमासः किं न स्यात् ? इति चेत् । उच्यते—जिज्ञासापदस्य हि मुख्यार्थ इच्छा, तस्याः प्रथमं कर्मकारकमपेक्षितं, पश्चात् फलं, ततश्चादौ कर्मज्ञानार्थं षष्ठीसमासो युक्तः । कर्मण्युक्ते सत्यर्थात् फलमुक्तं भवति, इच्छायाः कर्मण एव फलत्वात् । यथा स्वर्गस्येच्छेत्युक्ते स्वर्गस्य फलत्वं लभ्यते, तद्वत् । [3]अत एव 'धर्मजिज्ञासा' इत्यत्रापि "[4]सा हि [5]तस्य ज्ञातुमिच्छा' इतीच्छां गृहीत्वा षष्ठीसमासो दर्शितः । विचारलक्षणायां तु विचारस्य क्लेशात्मकतया प्रथमं फलाकाङ्क्षत्वात् धर्माय जिज्ञासेति चतुर्थीसमास उक्तः, तथा वृत्तिकारैब्रह्मणे जिज्ञासेत्युक्तं चेदस्तु, ज्ञानत्वेन ब्रह्मणः फलत्वादिति । अधुना ब्रह्मपदार्थमाह—ब्रह्म चेति । ननु 'ब्रह्मक्षत्रमिदं ब्रह्म आयाति ब्रह्म स्वयम्भूर्ब्रह्म प्रजापतिः'

है क्योंकि वेद में ही अग्निहोत्रादि श्रेयसाधनों को अनित्यफलवाला कहा गया है। "जिस प्रकार इस लोक में कर्म से सञ्चित कृष्यादि लोक काल पाकर नष्ट हो जाता है ऐसे ही पुण्यकर्म से सञ्चित स्वर्गादिलोक काल पाकर नष्ट हो जाते हैं"। "परिच्छिन्न वस्तु एवं कृतिजन्यवस्तु लोक में अनित्य देखी गयी हैं" इस श्रुति एवं युक्ति से कर्मफल को अक्षय बतलाने वाली श्रुति बाधित हो जाती है। अतः अनात्ममात्र में अनित्यत्व के ज्ञान से वैराग्य प्राप्त होता ही है । वैसे ही **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** (तै० २।१) इस श्रुति के आधार पर ब्रह्मविज्ञान से परतत्त्व की प्राप्ति देखी जाती है । इससे मुमुक्षा भी सिद्ध होती है । ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य स्वाभाविक है, जीवभाव अविद्या जन्य-आध्यासिक है । इस प्रकार अधिकारी का समर्थन मिल जाने पर इस शास्त्र का आरम्भ सार्थक है जिसे भाष्यकार ने **'यस्मात्'** से लेकर **'तस्मात्'** इत्यादि भाष्य से कहा है ।

सूत्र-वाक्य पूर्ण करने के लिए **'कर्तव्या'** पद का अध्याहार करना पड़ेगा, उस समय ब्रह्मजिज्ञासा पद से विचार अर्थ लक्षितहोगा । अतः ब्रह्मजिज्ञासा पद में भाष्यकार विग्रह दिखलाते हैं —**'ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा'** । जिज्ञासा पद में ज्ञा धातु और सन् प्रत्यय है । **'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्'** इस नियम से जिज्ञासा पद में मुख्यार्थ इच्छा है । उस इच्छा को पहले कर्म कारक की ही अपेक्षा होती है। अतः कर्मज्ञानार्थषष्ठी समास किया जाता है। कर्म के कह देने पर फल सिद्ध ही हो जाता है क्योंकि इच्छा का फल कर्म ही होता है, जिस प्रकार स्वर्ग की इच्छा ऐसा कहने पर स्वर्ग में फलत्व

१. सूत्रात्मक वाक्य इत्यर्थः । २. क्रियामन्तरेण तदपूर्तेः । ३. कर्मण इच्छायाः फलत्वादेव । ४. जिज्ञासा । ५. धर्मस्य ।

इति। अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्। ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च। ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्।

इति श्रुतिषु, लोके च ब्राह्मणत्वजातौ जीवे वेदे कमलासने च ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यत इत्याशङ्क्याह— अत एवेति। **जगत्कारणत्वलक्षणप्रतिपादकसूत्रासांगत्यप्रसङ्गादेवेत्यर्थः। वृत्त्यन्तरे शेषे षष्ठीत्युक्तं दूषयति**—ब्रह्मण इतीति। **सम्बन्धसामान्यं शेषः। जिज्ञासेत्यत्र सन्प्रत्ययवाच्याया इच्छाया ज्ञानं कर्म, तस्य ज्ञानस्य ब्रह्म कर्म। तत्र सकर्मकक्रियायाः कर्मज्ञानं विना ज्ञातुमशक्यत्वात्, इच्छाया विषयज्ञानजन्यत्वाच्च प्रथमापेक्षितं कर्मैव षष्ठ्या वाच्यं न शेष इत्यर्थः। ननु प्रमाणादिकमन्यदेव तत्कर्मास्तु ब्रह्म तु शेषितया सम्बध्यतां तत्राह**—जिज्ञास्यान्तरेति। **श्रुतं कर्म त्यक्त्वान्यदश्रुतं कल्पयन् 'पिण्डमुत्सृज्य करं लेढि' इति न्यायमनुसरतीति भावः। गूढाभिसंधिः शङ्कते**—नन्विति। **'षष्ठी शेषे' (पा० २-३-५०) इति विधानात्, षष्ठ्या सम्बन्धमात्रं प्रतीतमपि विशेषाकाङ्क्षायां सकर्मक-क्रियासन्निधानात् कर्मत्वे पर्यवस्यतीत्यर्थः। अभिसन्धिमजानन्निवोत्तरमाह**—एवमपीति। **कर्मलाभेऽपि प्रत्यक्षं 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० २-३-५) इति सूत्रेण जिज्ञासापदस्याकारप्रत्ययान्तत्वेन [2]कृदन्तस्य योगे**

सुतरां सिद्ध होता है। इस सूत्र में जिस ब्रह्म को जिज्ञासा बतलायी गयी है उसका लक्षण **'जन्माद्यस्य यतः'** इस दूसरे सूत्र से किया जायेगा, फिर तो ब्रह्म शब्द से ब्राह्मण जाति, ब्रह्मा, वेद या किसी अन्य अर्थ की शङ्का करनी ही नहीं चाहिए। यदि **'ब्रह्मजिज्ञासा'** सूत्र में आये हुए ब्रह्म पद का **अर्थ** अन्य कुछ करोगे तो जगत्कारणत्वप्रतिपादक द्वितीय सूत्र असङ्गत हो जायेगा। **'ब्रह्मणः'** इस पद में कर्मणि षष्ठी माननी चाहिए शेषे षष्ठी नहीं क्योंकि जिज्ञासा को सर्वप्रथम कर्मरूप जिज्ञास्य की अपेक्षा होती है और इस दर्शन में ब्रह्म से भिन्न ब्राह्मणत्व जाति आदि को जिज्ञास्यरूप में निर्देश नहीं किया गया है। अतः सम्पूर्ण जगत् के कारणरूप से लक्षित ब्रह्म ही **'जिज्ञासा'** सूत्र में पड़े हुए **'ब्रह्म'** पद का अर्थ है। यदि कहो कि इस शास्त्र में ब्रह्म सम्बन्धी प्रमाणादि का विचार भी तो किया गया है, ऐसी स्थिति में **'शेषे षष्ठी'** स्वीकार कर लेने पर भी ब्रह्म में जिज्ञासाकर्मत्व का विरोध नहीं आता है क्योंकि सम्बन्धसामान्य का सम्बन्धविशेष में ही पर्यवसान होना देखा गया है? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि कर्मणि षष्ठी मानने पर ब्रह्म में प्रत्यक्षकर्मत्व सिद्ध होता है, उसे छोड़कर द्राविड़प्राणायाम की भाँति सामान्य द्वारा उसमें परोक्षकर्मत्व की कल्पना करना व्यर्थ प्रयास होगा। यदि कहो कि नहीं नहीं; ब्रह्माश्रित लक्षण, प्रमाण, युक्ति, ज्ञान—साधन और फल का विचार भी शेषे षष्ठी करने पर प्रतिज्ञात माने जायेंगे जो कर्मणि षष्ठी करने पर सिद्ध नहीं होता। अतः शेषे षष्ठी कल्पना व्यर्थ नहीं है? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मणि षष्ठी मानने पर जिज्ञासा के कर्म ब्रह्म का प्रधानरूप से परिग्रह हो जाने के पश्चात् उसमें अपेक्षित लक्षणादि अर्थतः आक्षिप्त हो जाते हैं। ज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त करना ही इष्ट है, इसीलिए ब्रह्म प्रधान है। उस जिज्ञासा का कर्म प्रधान ब्रह्म गृहीत होने पर जिनकी जिज्ञासा के बिना ब्रह्मजिज्ञासा जिज्ञासित नहीं होती, वे सभी

---

१. प्रमाणलक्षणयुक्तिज्ञानसाधनफलादिकम्। २. कृदन्तप्रकृतिकस्येति यावत्।

न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेन्न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन्प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि। यथा 'राजासौ गच्छति' इत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति तद्वत्। श्रुत्यनुगमाच्च। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३/१) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' (तै० ३/१) इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। [1]तच्च कर्मणिषष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद्ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी। ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म फलविषयत्वादिच्छायाः।

विहितं प्रथमापेक्षितं च कर्मत्वं त्यक्त्वा परोक्षमशाब्दं कल्पयत इत्यर्थः। शेषवादी स्वाभिसंधिमुद्घाटयति—न व्यर्थ इति। शेषषष्ठ्यां ब्रह्मसम्बन्धिनी जिज्ञासा प्रतिज्ञाता भवति। तत्र यानि ब्रह्माश्रितानि लक्षणप्रमाणयुक्तिज्ञानसाधनफलानि तेषामपि विचारः प्रतिज्ञातो भवति। तज्जिज्ञासाया अपि ब्रह्मज्ञानार्थत्वेन ब्रह्मसम्बन्धित्वात्। कर्मणिषष्ठ्यां तु ब्रह्मकर्मक एव विचारः प्रतिज्ञातो भवतीत्यभिसन्धिना शेषषष्ठीत्युच्यते। अतो मत्प्रयासो न व्यर्थः। ब्रह्मतत्संबन्धिनां सर्वेषां विचारप्रतिज्ञानमर्थः फलं यस्य तत्त्वादित्यर्थः। त्वत्प्रयासस्येदं फलं न युक्तं, सूत्रेण मुखतः प्रधानस्य ब्रह्मणो विचारे प्रतिज्ञाते सति तदुपकरणानां विचारस्यार्थिकप्रतिज्ञाया उदितत्वादित्याह सिद्धान्ती—न, प्रधानेति। संगृहीतमर्थं सदृष्टान्तं व्याकरोति—ब्रह्म हीत्यादिना। 'तद्विजिज्ञासस्व' इति मूलश्रुत्यनुसाराच्च कर्मणि षष्ठीत्याह—श्रुत्यनुगमाच्चेति। श्रुतिसूत्रयोरेकार्थत्वलाभाच्चेत्यर्थः। जिज्ञासापदस्यावयवार्थमाह—ज्ञातुमिति। नन्वनवगते वस्तुनीच्छाया अदर्शनात् तस्या मूलं विषयज्ञानं वक्तव्यम्। ब्रह्मज्ञानं तु जिज्ञासायाः फलं, तदेव मूलं कथमित्याशङ्क्याह—अवगतीति। आवरणनिवृत्तिरूपाभिव्यक्तिमच्चैतन्यमवगतिः पर्यन्तोऽवधिर्यस्याखण्डसाक्षात्कारवृत्तिज्ञानस्य तदेव जिज्ञासायाः कर्म, तदेव फलम्। मूलं त्वापातज्ञानमित्य[2]धुना वक्ष्यत इति फलमूलज्ञानयोर्भेदान्न जिज्ञासानुपपत्तिरित्यर्थः। ननु गमनस्य ग्रामः कर्म, तत्प्राप्तिः फलमिति भेदात् कर्म एव फलमित्ययुक्तं तथाह—फलेति। क्रियान्तरे

अर्थतः आक्षिप्त हो जाते ही हैं, उनको बतलाने के लिए पृथक् सूत्ररचना की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार किसी ने कहा कि वह राजा जाता है, ऐसा कहने पर परिवार सहित राजा का गमन माना जाता है वैसे ही कर्मणि षष्ठी पक्ष में भी मानना चाहिए। '**ब्रह्मसूत्र**' श्रुतियों के तात्पर्य को बतलाने के लिए बनाया गया है। '**तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म**' इस श्रुति में ब्रह्म को जिज्ञासा का कर्म प्रत्यक्षतः बतला रहे हैं। कर्मणि षष्ठी मानने पर इस श्रुति का अनुगमन भी सिद्ध होता है। अतः कर्मणि षष्ठी मानना ही श्रुति एवं युक्ति से सिद्ध होता है। जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं। साक्षात्कारपर्यन्त ज्ञान सन्प्रत्ययवाच्य इच्छा का कर्म है, क्योंकि इच्छा फल को विषय करती है। वृत्तिरूप ज्ञान से ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है और उस वृत्ति में अवगत ब्रह्म निःशेष संसार के बीज अविद्यादि अनर्थ का नाशक होने से पुरुषार्थ माना गया है। अतः ब्रह्म का विचार करना चाहिए। सन् प्रत्यय विचार अर्थ को लक्षित करता

१. श्रुतिदर्शितकर्मत्वम्। २. अधुनेति—'अस्ति तावद्' इत्यादिभाष्येण वक्ष्यत इत्यर्थः।

ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते—अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्व-

---

तयोर्भेदेऽपि इच्छायाः फलविषयत्वात् कर्मैव फलमित्यर्थः। ननु ज्ञानावगत्योरैक्याद्भेदोक्तिरयुक्तेत्यत आह— ज्ञानेनेति। ज्ञानं वृत्तिः; अवगतिस्तत्फलं[1] इति भेद इति भावः। अवगन्तुमभिव्यञ्जयितुम्। [2]अवगतेः फलत्वं स्फुटयति—ब्रह्मेति। हिशब्दोक्तं हेतुमाह—निःशेषेति। बीजमविद्या आदिर्यस्यानर्थस्य तन्नाशकत्वादित्यर्थः। अवयवार्थमुक्त्वा सूत्रवाक्यार्थमाह—तस्मादिति। अत्र सन्प्रत्ययस्य विचारलक्षकत्वं तव्यप्रत्ययेन सूचयति। अथातःशब्दाभ्यामधिकारिणः साधितत्वात्तेन[3] ब्रह्मज्ञानाय विचारः कर्तव्य इत्यर्थः।

॥ इति तृतीयवर्णकम् ॥

प्रथमवर्णके बन्धस्याध्यासत्वोक्त्या विषयादिप्रसिद्धावपि ब्रह्मप्रसिद्ध्यप्रसिद्ध्योर्विषयादिसंभवासंभवाभ्यां शास्त्रारम्भसंदेहे पूर्वपक्षमाह—तत्पुनरिति। पुनःशब्दो वर्णकान्तरद्योतनार्थः। यदि वेदान्तविचारात्प्रागेव ब्रह्मज्ञानं तर्ह्यज्ञातत्वरूपविषयत्वं नास्ति, अज्ञानाभावेन तन्निवृत्तिरूपफलमपि नास्तीति न विचारयितव्यम्। अथाज्ञातं केनापि तर्हि तदुद्देशेन विचारः कर्तुं न शक्यते, अज्ञातस्योद्देशायोगात्। तथा च बुद्धावनारूढस्य विचारात्मकशास्त्रेण वेदान्तैश्च प्रतिपादनायोगात्। तत्प्रतिपाद्यत्वरूपः सम्बन्धो नास्तीति ज्ञानानुत्पत्तेः फलमपि नास्तीत्यनारम्यं शास्त्रमित्यर्थः। आपातप्रसिद्ध्या विषयादिलाभादारम्भणीयमिति सिद्धान्तयति—उच्यत इत्यादिना। [4]प्रसिद्धं तावदित्यर्थः।

है। इस प्रकार 'अथ' और 'अतः' शब्द द्वारा इस शास्त्र का अधिकारी सिद्ध हुआ जो ब्रह्मज्ञान के लिए विचार करेगा।

(४) ब्रह्म की आपातप्रसिद्धिवर्णक—प्रथम वर्णक में बन्ध के आध्यासिक होने से विषयादि की सिद्धि तो हो गयी फिर भी जिज्ञासा का कर्म ब्रह्म प्रसिद्ध है या नहीं ? ऐसा सन्देह होने पर विषयादि की पुनः सम्भावना और असम्भावना को देखते हुए पूर्वपक्ष होता है। भाष्य में पुनः' शब्द वर्णकान्तर का द्योतक है। वेदान्तविचार से पूर्व ही ब्रह्म ज्ञात हो तो वह जिज्ञासा का विषय नहीं बनता, फिर तो उसकी निवृत्तिरूप फल भी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में विचार की कर्तव्यता ही नहीं रह जाती है और वेदान्तविचार से पूर्व ब्रह्म अज्ञात हो तो भला उसके उद्देश्य से विचार करना कैसे शक्य हो सकता है क्योंकि अज्ञात वस्तु कभी भी उद्देश्य के योग्य नहीं होती। बुद्धि में अनारूढ़ पदार्थ का प्रतिपादन न ब्रह्मसूत्र कर सकता है, न वेदान्त ही कर सकता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म और वेदान्तशास्त्र का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध भी नहीं बनता, फिर तो ज्ञान की उत्पत्ति न होने से मोक्षरूप फल की

---

१. तत्फलमिति—तत्राभिव्यक्तं चैतन्यमित्यर्थः। २ अवगतेः फलत्वमिति—नन्वयुक्तमेतत्पुरस्तादवगतिपर्यन्तस्य वृत्तिज्ञानस्यैव तदेव फलमिति फलत्वाभिधानादिति चेन्न, अवगतिपर्यन्तज्ञानस्य फलत्वे तद्विशेषणस्यावगतेरपि फलत्वात्। किञ्च पूर्वमिच्छाफलत्वं वृत्तेरुक्तमधुना तु वृत्तिफलत्वमवगतेरित्यविरोधः। ३ अधिकारिणा। ४. अस्तितावदिति व्याख्याति प्रसिद्धं तावदिति।

शक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृंहतेर्धातोर[1]र्थानुगमात्। सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति,

अस्तित्वस्याप्रकृतत्वेनास्तिपदस्य प्रसिद्धिपरत्वात्। ननु केन मानेन ब्रह्मणः प्रसिद्धिः? न च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २-१) इति श्रुत्या सेति वाच्यम्। ब्रह्मपदस्य लोके संगतिग्रहाभावेन 'तद्घटितवाक्यस्याबोधकत्वादित्याशङ्क्य ब्रह्मपदव्युत्पत्त्या प्रथमं तस्य निर्गुणस्य सगुणस्य च प्रसिद्धिरित्याह— ब्रह्मशब्दस्य हीति। अस्यार्थः—श्रुतौ सूत्रे च ब्रह्मपदस्य प्रयोगान्यथानुपपत्त्या कश्चिदर्थोऽस्तीति ज्ञायते, प्रमाणवाक्ये निरर्थकशब्दप्रयोगादर्शनात्। स चार्थो महत्त्वरूप इति व्याकरणान्निश्चीयते, 'बृहि वृद्धौ' इति स्मरणात्। सा च वृद्धिर्निरवधिकमहत्त्वमिति संकोचकाभावात्, श्रुतावनन्तपदेन सह प्रयोगाच्च ज्ञायते। निरवधिकमहत्त्वं चान्तवत्त्वादिदोषवत्त्वे सर्वज्ञत्वादिगुणहीनत्वे च न सम्भवति, लोके गुणहीनदोषवतोरल्पत्वप्रसिद्धेः। अतो बृंहणाद्ब्रह्मेति व्युत्पत्त्या देशकालवस्तुतः परिच्छेदाभावरूपं नित्यत्वं प्रतीयते। अविद्यादिदोषशून्यत्वं शुद्धत्वम्। जाड्यराहित्यं बुद्धत्वम्। बन्धकालेऽपि स्वतो बन्धाभावो मुक्तत्वं च प्रतीयते। एवं सकलदोषशून्यं निर्गुणं प्रसिद्धम्। तथा सर्वज्ञत्वादिगुणकं च तत्पदवाच्यं प्रसिद्धम्। [3]ज्ञेयस्य कार्यस्य वा परिशेषेऽल्पत्वप्रसङ्गेन सर्वज्ञत्वस्य सर्वकार्यशक्तिमत्त्वस्य चालाभादिति। एवं [5]तत्पदात्[6]प्रसिद्धे[7]रप्रमाणत्वेनापातत्वादज्ञानानिवर्तकत्वाज्जिज्ञासोपपत्तिरित्युक्त्वा त्वंपदार्थात्मनापि ब्रह्मणः प्रसिद्ध्या तदुपपत्तिरित्याह—सर्वस्येति। सर्वस्य लोकस्य योऽ[8]यमात्मा तदभेदाद्ब्रह्मणः प्रसिद्धिरित्यर्थः। नन्वात्मनः प्रसिद्धिः का? इत्यत आह—सर्वो हीति। अहमस्मीति न

आशा भी नहीं बनती है। अतः यह शास्त्र अनारम्भणीय है।

'**उच्यते**' इत्यादि ग्रन्थ से सिद्धान्ती समाधान देते हैं कि आपातप्रसिद्धि से भी विषयादि का लाभ होने के कारण शास्त्र आरम्भणीय है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त—स्वभाव सर्वशक्तिमान ब्रह्म आपाततः प्रसिद्ध है। यहाँ पर ब्रह्म के अस्तित्व का प्रसङ्ग न होने के कारण 'अस्ति' शब्द का अर्थ प्रसिद्धि मानना चाहिए। वह प्रसिद्धि, श्रुति और सूत्र में ब्रह्म शब्द का प्रयोग असङ्गत न हो जाय, इस आधार पर माननी चाहिए क्योंकि प्रमाणवाक्य में निरर्थक शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता। '**बृहि वृद्धौ**' ऐसा धातु पाठ है, इस प्रकार ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति करने पर नित्यशुद्धत्वादि अर्थ प्रसिद्ध होते हैं। सर्वाधिक महत्त्व जिसमें हो उसे ब्रह्म कहते हैं। देश, काल एवं वस्तुपरिच्छेद से शून्य होने के कारण वह नित्य है, अविद्यादि दोषरहित होने के कारण शुद्ध है, जाड्यराहित्य के कारण बुद्ध है, बन्धनकाल में भी वह स्वतः बन्धनरहित होने से मुक्त है। इस प्रकार सम्पूर्ण दोषों से शून्य निर्गुण ब्रह्म प्रसिद्ध है और सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्ट तत्पदवाच्य सगुण ब्रह्म भी प्रसिद्ध है। ज्ञेय अथवा कार्यवस्तु में अल्पत्व रहता है ऐसी स्थिति में सर्वज्ञत्व एवं सर्व-

१. अर्थानुगमादिति—अर्थस्य बुद्धेः सम्बन्धाद्ब्रह्मपदवाच्य इत्यर्थः। २. शक्तिः। ३. ब्रह्म। ४. कस्यचिज्ज्ञेयस्य वस्तुन ईश्वरज्ञानाविषयत्वे कस्यचित्कार्यस्य वा ईश्वरशक्त्यविषयत्वे तस्याल्पत्वप्रसंगेनेत्यर्थः। ५. ब्रह्म। ६. प्रसिद्धेरित्यस्यापातत्वादित्यनेन सम्बन्धः। तत्र हेतुमाह—अप्रमाणत्वेनेति पदस्येत्यादौ शेषः। ७. अप्रमाणत्वेनेति—अप्रमात्वेनेत्यर्थः। तत्त्वं च तस्याः पदमात्रजन्यत्वात्। आकाङ्क्षादिमद्वाक्यं हि प्रमाणं न पदमात्रमिति भावः। यद्वा अविचारितादेव पदाज्जातायास्तस्या न प्रमात्वमिति। वस्तुतस्त्वप्रमाणत्वेनेत्यस्यानिश्चयात्मकत्वेनेत्यर्थः। ८. प्रत्यगात्मा।

न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न। तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। मन इत्यन्ये।

प्रत्येतीति न,किन्तु प्रत्येत्येव। एवं सन्दिग्धवदात्मनः प्रसिद्धिरित्यर्थः। आत्मनः कुतः सत्ता? इति शून्यमत-माशङ्क्याह—यदि हीति। आत्मनः शून्यस्य प्रतीतौ 'अहं नास्मि' इति लोको जानीयात्। लोकस्तु अहमस्मीति जानाति, तस्मादात्मनोऽस्तित्वप्रसिद्धिरित्यर्थः। आत्मप्रसिद्धावपि ब्रह्मणः किमायातम्? तत्राह—आत्मा चेति। 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २-५-१९) इत्यादिश्रुतेरिति भावः। प्रसिद्धिपक्षोक्तं दोषं पूर्वपक्षेण स्मारयति—यदीति। अज्ञातत्वाभावेन विषयाद्यभावादविचार्यत्वं प्राप्तमित्यर्थः। यथा इदं रजतमिति वस्तुतः शुक्तिप्रसिद्धिस्तद्वदहमस्मीति सत्त्वचैतन्यरूपात्मत्वसामान्येन वस्तुतो ब्रह्मणः प्रसिद्धिः, नेयं पूर्णानन्दब्रह्मत्वरूपविशेषगोचरा, वादिनां विवादाभावप्रसङ्गात्। न हि शुक्तित्वविशेषदर्शने सति रजतं रङ्गमन्यद्वेति विप्रतिपत्तिरस्ति। अतो विप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या सामान्यतः प्रसिद्धावपि विशेषस्याज्ञातत्वाद्विषयादिसिद्धिरिति सिद्धान्तयति—न इत्यादिना। सामान्यविशेषभावः स्वात्मनि सच्चित्पूर्णादिपदवाच्यभेदात् कल्पित इति मन्तव्यम्। तत्र स्थूल-सूक्ष्मक्रमेण विप्रतिपत्तीरुपन्यस्यति—देहमात्रमित्यादिना। शास्त्रज्ञानशून्याः प्राकृताः।

शक्तिमत्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः व्युत्पत्ति के आधार पर ब्रह्म शब्द का सामान्यतः अर्थ ज्ञात है। ऐसा ही त्वम्पदार्थरूप से ही ब्रह्म की प्रसिद्धि **'सर्वस्यात्मा'** इत्यादि ग्रन्थ से वतलाते हैं। वृहि धातु का अर्थ अनुगम होने से तत् पदार्थ के रूप में ब्रह्म की प्रसिद्धि है और सभी लोग आत्मा के अस्तित्व को जानते हैं। इस सार्वजनीन अनुभव के आधार पर भी आत्मरूप से ब्रह्म की प्रसिद्धि है। यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध नहीं होता तो सभी लोग मैं नहीं हूँ ऐसा जानते और कहते किन्तु मैं नहीं हूँ ऐसा कोई नहीं कहता। इस सार्वजनीन अनुभवसिद्ध आत्मा को **'अयमात्मा ब्रह्म'** इस श्रुति ने ब्रह्म कहा है। यदि लोक में आत्मरूप से ब्रह्म प्रसिद्ध है तब तो वह ज्ञात ही हो गया, फिर तो पूर्वकथित अजिज्ञास्यत्वदोष उसमें आ जायेगा? ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सामान्यतः ज्ञात होने पर भी उसके विशेषरूप में परस्पर मतभेद देखा जाता है। निरवयव निर्विशेष आत्मा में सामान्य-विशेषभाव सच्चित्पूर्णादि पदवाच्यत्व के भेद से कल्पित माना गया है। उनमें से शास्त्रज्ञानशून्य चार्वाक ने चैतन्यविशिष्ट देहमात्र को आत्मा माना है। उन्होंने **श्रुत्याभास** और **युक्त्याभास** के आधार पर स्थूलदेह को आत्मा मानने का दुःसाहस किया है। इनसे भिन्न अन्य चार्वाकों ने चक्षुरादि इन्द्रियों का संवाद श्रुतियों में देखकर इन्द्रियों को चेतन समझ उनके आत्मा होने का दावा किया है। ऐसे ही मन, क्षणिक विज्ञान और शून्य को आत्मा मानने वाले लोगों का भी वाक्याभास एवं युक्त्याभास के आधार पर दुराग्रह है। वैशेषिकादिकों ने देह से भिन्न, संसारी, कर्ता, भोक्ता आत्मा को कहा है। सांख्यों ने आत्मा को कर्ता नहीं माना, केवल भोक्ता ही माना और पातञ्जलों ने जीवात्मा से भिन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर को भी स्वीकार किया है। किन्तु सिद्धान्तपक्ष में भोक्ता-जीव के अकर्ता साक्षी स्वरूप ईश्वर ही आत्मा है, ऐसा कहा है। इस प्रकार श्रुति, युक्ति के आधार पर वेदान्तियों ने आत्मा का

विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी, कर्ता, भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्।

वेदबाह्यमतान्युक्त्वा तार्किकादिमतमाह—अस्तीति। सांख्यमतमाह—भोक्तेति। किमात्मा देहादिरूपः? उत तद्भिन्नः? इति विप्रतिपत्तिकोटित्वेन देहेन्द्रियमनोबुद्धिशून्यान्युक्त्वा तद्भिन्नोऽपि कर्तृत्वादिमान्न वेति विप्रतिपत्तिकोटित्वेन तार्किकसांख्यपक्षावुपन्यस्याकर्तापीश्वराद्भिन्नो न वेति विवादकोटित्वेन योगिमतमाह—अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वर इति। निरतिशयत्वं गृहीत्वा ईश्वरः सर्वज्ञत्वादिसम्पन्न इति योगिनो वदन्ति। भेदकोटिमुक्त्वा सिद्धान्तकोटिमाह—आत्मा स भोक्तुरिति। भोक्तुर्जीवस्याकर्तुः साक्षिणः स ईश्वर आत्मास्वरूपमिति वेदान्तिनो वदन्तीत्यर्थः। विप्रतिपत्तीरुपसंहरति—एवं बहव इति। विप्रतिपत्तीनां प्रपञ्चो निरासश्च विवरणोपन्यासेन दर्शितः सुखबोधायेतीहोपरम्यते। तत्र युक्तिवाक्याश्रयाः सिद्धान्तिनः, जीवो ब्रह्मैव, आत्मत्वात्, ब्रह्मवत् इत्यादि युक्तेः, 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-१६) इत्यादिश्रुतेश्चाबाधितायाः सत्त्वात्। अन्ये तु देहादिरात्मा, अहंप्रत्ययगोचरत्वात्, व्यतिरेकेण घटादिवदित्यादियुक्त्याभासं, 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै०आ० २-१-२) इन्द्रियसम्वादे 'चक्षुरादयस्ते ह वाचमूचुः' (बृ० १-३-२) 'मन उवाच' 'योऽयं विज्ञानमयः' (बृ. ४-४-२२) 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा. २-१३-१) 'कर्ता बोद्धा' (प्र. ४-६) 'अनश्नन्नन्यः' (मु० ३-१-१) 'आत्मानमन्तरो यमयति' इति वाक्याभासं चाश्रिता इति विभागः। देहादिरनात्मा, भौतिकत्वात्, दृश्यत्वात् इत्यादिन्यायैः, 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १-१-१२) इत्यादिसूत्रैश्चाभासत्वं वक्ष्यते। ननु सन्तु विप्रतिपत्तयस्तथापि यस्य यन्मते श्रद्धा तदाश्रयणात्तस्य स्वार्थः सेत्स्यति, किं ब्रह्मविचारारम्भेण? इत्यत आह—तत्राविचार्येति। ब्रह्मात्मैक्यज्ञानादेव मुक्तिरिति वस्तुगतिः। मतान्तराश्रयणे तदभावान्मोक्षासिद्धिः। किञ्चात्मानमन्यथा ज्ञात्वा तत्पापेन संसारान्धकूपे पतेत्, 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' (ई. १२) 'ये के चात्महनो जनाः' (ई. ३) इति श्रुतेः, 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।' इति वचनाच्चेत्यर्थः। अतः सर्वेषां

स्वरूप निश्चित किया है और श्रुत्याभास एवं युक्त्याभास के आधार पर अन्य वादियों ने आत्मा के सम्बन्ध में अपना-अपना विचार व्यक्त किया है। जब आत्मा के सम्बन्ध में ऐसी विप्रतिपत्ति है तो उस पर कुछ विचार न कर जिस किसी को आत्मा मान लिया जाय तो इस दशा में मुमुक्षु कल्याण से भ्रष्ट हो जायेगा एवं अनर्थ को प्राप्त करेगा। अतः सभी मुमुक्षुओं के कल्याण के लिए वेदान्तविचार आवश्यक हो जाता है। जब बन्धन अध्यस्त है तो विषयादि की सिद्धि हो जाती है और यह पूर्वमीमांसा से गतार्थ भी नहीं है।। इसके अधिकारी भी हैं और आपात प्रसिद्धि भी ब्रह्म की है। इस स्थिति में वेदान्तविषयक पूजित विचार जो दूसरे शास्त्रों में प्रसिद्ध श्रुति अविरुद्ध तर्क से युक्त भी है ऐसी मोक्ष प्रयोजन वाली उद्धरमीमांसा प्रारम्भ की जाती है। **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** यह वेदमन्त्र अपने से भिन्न वेदवाक्य के अध्ययन का विधान करता है, और साथ ही स्व के अध्ययन का विधान भी करता है, ठीक इसी प्रकार **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** यह सूत्र भी अन्य सूत्रों पर विचार के लिए प्रेरणा देता हुआ अपने पर भी विचार करने के लिए प्रेरित करता है। अतः यह सूत्र उत्तरमीमांसा के अन्तर्गत ही है ।।१।।

तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥१॥

ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत आह भगवान्सूत्रकारः—

मुमुक्षूणां निःश्रेयसफलाय वेदान्तविचारः कर्तव्य इति सूत्रार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । बन्धस्याध्यस्तत्वेन विषयादिसद्भावादगतार्थत्वात्, अधिकारिलाभादापातप्रसिद्ध्या विषयादिसम्भवाच्च वेदान्तविषया मीमांसापूजिता विचारणा, वेदान्ताविरोधिनो ये तर्कास्तन्त्रान्तरस्थास्तान्युपकरणानि यस्याः सा निःश्रेयसायारभ्यत इत्यर्थः । ननु सूत्रे विचारवाचिपदाभावात्तदारम्भः कथं सूत्रार्थः ? इत्यत आह—ब्रह्मेति । ब्रह्मज्ञानेच्छोक्तिद्वारा विचारं लक्षयित्वा तत्कर्तव्यतां ब्रवीतीति भावः । एवं प्रथमसूत्रस्य चत्वारोऽर्था व्याख्यानचतुष्टयेन दर्शिताः । सूत्रस्य चानेकार्थत्वं [1]भूषणम् । नन्विदं सूत्रं शास्त्राद्बहिः स्थित्वा शास्त्रमारम्भयति अन्तर्भूत्वा वा । आद्ये तस्य हेयता, शास्त्रासम्बन्धात् । द्वितीये तस्यारम्भकं वाच्यम् । न च स्वयमेवारम्भकं, स्वस्मात् स्वोत्पत्तेरित्यात्माश्रयात् । न चारम्भकान्तरं पश्याम इति । उच्यते—श्रवणविधिना आरब्धमिदं शास्त्रं शास्त्रान्तर्गतमेव शास्त्रारम्भं प्रतिपादयति । यथाध्ययनविधिर्वेदान्तर्गत एव कृत्स्नवेदस्याध्ययने प्रयुङ्क्ते तद्वदित्यनवद्यम् ॥१॥

॥ इति चतुर्थवर्णकम् ॥

प्रथमसूत्रेण शास्त्रारम्भमुपपाद्य शास्त्रमारभमाणः पूर्वोत्तराधिकरणयोः संगतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—ब्रह्मेति । मुमुक्षुणा ब्रह्मज्ञानाय वेदान्तविचारः कर्तव्य इत्युक्तम् । ब्रह्मणो विचार्यत्वोक्त्या अर्थात् प्रमाणा[2]दिविचाराणां प्रतिज्ञातत्वेऽपि ब्रह्मप्रमाणं ब्रह्मयुक्तिरित्यादिविशिष्टविचाराणां विशेषणब्रह्मज्ञानं विना कर्तुमशक्यत्वात्, तत्स्वरूपज्ञानायादौ लक्षणं वक्तव्यं, तच्च सम्भवतीत्याक्षिप्य सूत्रकृतं पूजयन्नेव लक्षणसूत्रमवतारयति—किंलक्षणकमिति । किमाक्षेपे । नास्त्येव लक्षणमित्यर्थः । आक्षेपेणास्योत्थानादाक्षेपसंगतिः । लक्षणद्योतिवेदान्तानां स्पष्टब्रह्मलिङ्गानां लक्ष्ये ब्रह्मणि समन्वयोक्तेः श्रुतिशास्त्राध्यायपादसंगतयः । तथा हि—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिवाक्यं विषयः । तत्किं ब्रह्मणो लक्षणं वक्ति न वा ? इति सन्देहः । तत्र पूर्वपक्षे ब्रह्मस्वरूपासिद्ध्या मुक्त्यसिद्धिः फलं, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः । यद्यप्याक्षेपसंगतौ पूर्वाधिकरणफलमेव फलमिति कृत्वा पृथङ्न वक्तव्यम् । तदुक्तम्—[3]'आक्षेपे चापवादे च [4]प्राप्त्यां लक्षणकर्मणि । प्रयोजनं न वक्तव्यं [5]यच्च कृत्वा प्रवर्तते' इति ।

पिछले अधिकरण में, मुमुक्षुओं को ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्तविचार करना चाहिए, ऐसा कहा था । ब्रह्मविचार की प्रतिज्ञा से प्रमाण, लक्षण, युक्ति, ज्ञान, साधन और फल की प्रतिज्ञा भी हो गयी फिर भी सभी विशिष्ट विचारों का विशेषण जो ब्रह्म है उसको जाने बिना ब्रह्मसम्बन्धी

---

१. भूषणमिति—सूत्राणां विश्वतोमुखत्वात्तदुक्तम् । २. आदिना लक्षणयुक्तिज्ञानसाधनफलानि गृह्यन्ते । ३. अनुपपत्तिबोधनमाक्षेपः, उत्सर्गबाधकोऽपवादः, पूर्वप्रकृतार्था प्राप्तिर्लक्षणाभिधानं लक्षणकर्म, अभ्युपगमवादः कृत्वा चिता । एतेषु पञ्चसु प्रयोजनं न वक्तव्यमेतेषां पूर्वप्रयोजनेनैव प्रयोजनवत्वात् शेषा विषयादयस्तु वक्तव्या एवेत्यर्थः । यत्र पूर्वाधिकरणसिद्धान्ताक्षेपेण पूर्वः पक्षस्तत्राक्षेपिकी सङ्गतिरिति ज्ञेयम्—आक्षेप इति । ४. प्राप्त्यामिति—प्राप्तिस्तदर्थचिन्तेति कल्पतरुः, यदर्था सा तत्फलेन फलवती, यथा दर्शपूर्णमासादिप्रकरणाम्नातान्यङ्गानि प्राकरणिकेष्वेव व्यतिष्ठन्ते । ननु सौर्यादिष्वप्युपदेशविधया परिप्लवानि भवन्तीति सप्तमाद्यचिन्ता सौर्यादिषु प्रयाजादीनामतिदेशेन प्राप्तिरित्यग्रिमचिन्ताफलेनफलवतीति परिमलः । ५. यच्चेति यश्चेति पाटान्तरम् ।

२. जन्माद्यधिकरणम् (सू० २)

(२) जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

लक्षणं ब्रह्मणो नास्ति किं वास्ति नहि विद्यते । जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात्सत्यादेश्चाप्रसिद्धितः ॥
ब्रह्मनिष्ठं कारणत्वं स्याल्लक्ष्यं स्रग्भुजङ्गवत् । लौकिकानीव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि ॥

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्‌गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः ।

तथापि स्पष्टार्थमुक्तमिति मन्तव्यम् । यत्र पूर्वाधिकरणसिद्धान्तेन पूर्वपक्षः तत्रापवादिको संगतिः प्राप्तिर्'तदर्था चिन्ता । तत्र नेति प्राप्तं, जन्मादेर्जगद्धर्मत्वेन ब्रह्मलक्षणत्वायोगात् । न च जगदुपादानत्वे सति कर्तृत्वं लक्षणमिति वाच्यं, कर्तुरुपादानत्वे दृष्टान्ताभावेनानुमानाप्रवृत्तेः । न च श्रौतस्य ब्रह्मणः श्रुत्यैव लक्षणसिद्धेः किमनुमानेनेति वाच्यं, अनुमानस्य श्रुत्यनुग्राहकत्वेन तदभावे तद्विरोधे वा श्रुत्यर्थासिद्धेः । न च जगत्कर्तृत्वमुपादानत्वं वा प्रत्येकं लक्षणमस्त्विति वाच्यं, कर्तृमात्रस्योपादानाद्भिन्नस्य ब्रह्मत्वायोगात्, वस्तुतः परिच्छेदादिति प्राप्ते पुरुषाभ्यूहमात्रस्यानुमानस्याप्रतिष्ठितस्यातीन्द्रियार्थे स्वातन्त्र्यायोगात् । अपौरुषेयतया 'निर्दोषश्रुत्युक्तोभयकारणत्वस्य मृदादिदृष्टान्तेन सम्भावयितुं शक्यत्वात्, तदेव लक्षणमिति सिद्धान्तयति—जन्माद्यस्य यत [३]इतीति । **अत्र यद्यपि जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वं लक्षणं प्रतिपाद्यते तथाप्यग्रे 'प्रकृतिश्च' इत्यधिकरणे तत्कारणत्वं न कर्तृत्वमात्रं किन्तु कर्तृत्वोपादानत्वोभयरूपत्वमिति वक्ष्यमाणं सिद्धवत्कृत्योभयकारणत्वं लक्षणमित्युच्यत इति न पौनरुक्त्यम् । ननु जिज्ञास्यनिर्गुणब्रह्मणः कारणत्वं कथं लक्षणम्? इति चेत्, उच्यते—यथा रजतं शुक्तेर्लक्षणं यद्रजतं सा शुक्तिरिति, तथा यज्जगत्कारणं तद्ब्रह्मेति कल्पितं कारणत्वं तटस्थं सदेव ब्रह्मणो लक्षणमित्यनवद्यम् । सूत्रं व्याचष्टे—**जन्मेत्यादिना । **बहुव्रीहौ पदार्थाः सर्वे वाक्यार्थस्यान्यपदार्थस्य विशेषणानि । यथा चित्रगोर्देवदत्तस्य चित्रा गावः तद्वदत्रापि जन्मादीति नपुंसकैकवचनद्योतितस्य समाहारस्य जन्मस्थितिभङ्गस्य जन्म विशेषणं, तथा च जन्मनः**

प्रमाणादि का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मस्वरूपावबोध के लिए पहले उसका लक्षण कहना चाहिए। वह लक्षण तो बनता ही नहीं है ऐसा आक्षेप होने पर उसके समाधान के लिए आक्षेप सङ्गति के कारण इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है अतः पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण की आक्षेप सङ्गति है। **'जन्माद्यस्य यतः'** इत्यादि लक्षणद्योतक स्पष्टब्रह्मलिङ्ग श्रुतवाक्यों का लक्ष्य ब्रह्म में समन्वय बतला देने से **श्रुति, शास्त्र, अध्याय** एवं **पाद सङ्गति** का बोध भी सहज में हो जाता है। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** इत्यादि श्रुतिवाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है। इस पर संशय होता है कि क्या यह वाक्य ब्रह्म का लक्षण कहता है अथवा नहीं कहता ? पूर्वपक्ष में कहा है कि ब्रह्मस्वरूप की सिद्धि न होने से मोक्ष की सिद्धि नहीं होती, किन्तु सिद्धान्तपक्ष में, स्वरूप की सिद्धि हो जाने से मोक्ष की सिद्धि होती है, ऐसा कहा है। लक्ष्यनिष्ठ असाधारणधर्म को लक्षण कहते हैं। जन्मादि जगत् का धर्म है वह भला ब्रह्म का लक्षण कैसे हो सकता है ? इसका

---

१. तदर्थेति प्राप्त्यर्थेत्यर्थः । २. दोषा भ्रमप्रमादादयः । ३. जन्मादिसूत्रादूर्ध्वमिति शब्दष्टीकानुरोधाद्द्रष्टव्यो भाति ।

जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३/१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि, जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसम्भवात्। अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्था। यत इति कारणनिर्देशः।

समासार्थैकदेशस्य गुणत्वेन संविज्ञानं यस्मिन् बहुव्रीहौ स तद्गुणसंविज्ञान इत्यर्थः। तत्र यज्जन्मकारणं तद्ब्रह्मेति ब्रह्मत्वविधानमयुक्तं, स्थितिलयकारणाद्भिन्नत्वेन ज्ञाते ब्रह्मत्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। अतो जन्मस्थितिभङ्गैर्निरूपितानि त्रीणि कारणत्वानि मिलितान्येव लक्षणमिति मत्वा सूत्रे समाहारो द्योतित इति ध्येयम्। नन्वादित्वं जन्मनः कथं ज्ञातव्यं, संसारस्यानादित्वादित्यत आह—जन्मनश्चेति। **मूलश्रुत्या वस्तुगत्या चादित्वं ज्ञात्वा तदपेक्ष्य सूत्रकृता जन्मन आदित्वमुक्तमित्यर्थः। इदमः प्रत्यक्षार्थमात्रवाचित्वमाशङ्क्योपस्थितसर्वकार्यवाचित्वमाह**—अस्येतीति। **वियदादिजगतो नित्यत्वान्न जन्मादिसम्बन्ध इत्यत** आह—षष्ठीति। **वियदादिमहाभूतानां जन्मादिसम्बन्धो वक्ष्यत इति भावः। ननु जगतो जन्मादेर्वा ब्रह्मसम्बन्धाभावान्न लक्षणत्वमित्याशङ्क्य तत्कारणत्वं** लक्षणमिति [2]**पञ्चम्यर्थमाह**—यत इतीति। [3]**यच्छब्देन सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दरूपं वस्तूच्यते, 'आनन्दाद्ध्येव' इति निर्णीतत्वात्। तथा च स्वरूपलक्षणसिद्धिरिति मन्तव्यम्। पदार्थमुक्त्वा**

उत्तर सूत्रकार भगवान् वेदव्यास इस सूत्र द्वारा देते हैं। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और भङ्ग जिससे होती हो वह ब्रह्म है अर्थात् जन्मादि पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास कहा गया है। बहुव्रीहि समास में समस्यमान पदों का अर्थ गौण होता है और अन्य पदार्थ प्रधान माना जाता है, इस नियम के अनुसार जन्मादि धर्म जगन्निष्ठ होने पर भी जिससे जन्मादि होते हैं वह पदार्थ ब्रह्म ही है ऐसा अर्थ सिद्ध होता है। **जन्मादि** पद में नपुंसकलिङ्ग समाहार द्वन्द्व का सूचक है और समाहार द्वन्द्व में नपुंसकलिङ्ग एवं एकवचन हो जाता है। जन्म, स्थिति, भङ्ग इन तीनों में जन्मविकार प्रथम होता है तत्पश्चात् स्थिति और लय यथासमय होते हैं। यह लोकसिद्ध जन्म का आदित्व है। श्रुति में **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** ऐसा ही निर्देश किया है और वस्तु को इसी क्रम की अपेक्षा भी होती है। इस प्रकार श्रुति एवं लोकव्यवहार में जन्म, स्थिति, लय का क्रम देखा जाता है। इसी क्रम का सूचक जन्मादि पद है। वस्तु का स्वभाव भी ऐसा ही है। जब कोई पदार्थ उत्पन्न होकर लब्धसत्ताक हो जाता है तब उसको स्थिति और लय भी सम्भव हो जाते हैं। इसलिए मूलश्रुति और वस्तुस्वभाव को देखते हुए जन्म में आदित्व मान लेना निर्विवाद है। इस जगत् के जन्म का कारण, स्थिति का कारण, और लय का कारण ब्रह्म है, इस प्रकार जन्म, स्थिति और भङ्ग के द्वारा ब्रह्म के तीन लक्षण का निरूपण किया गया है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि इस सूत्र में समाहार द्योतित होता है।

इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण ब्रह्म है ऐसा **'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्' (ब्र० सू० १-४-२३)** इस सूत्र से बतलाया जायेगा। उसी को निर्विवाद मानकर यहां पर उभयकारणत्व ब्रह्म का लक्षण किया गया है। निर्गुणनिर्विशेष ब्रह्म के अपरोक्षानुभव से मोक्ष

१. वस्तुपरिच्छेदादिति शेषः। २. पञ्चम्यर्थमिति—विभक्तिमात्रार्थमित्यर्थः। जनिकर्तुः प्रकृतिरिति कारणत्वं पञ्चम्यर्थः। ३. स्वरूपलक्षणं प्रकृत्यर्थ इत्याशयेनाह—यच्छब्देनेत्यादि।

अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्त-क्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः। अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव

पूर्वसूत्रस्थब्रह्मपदानुषङ्गेण तच्छब्दाध्याहारेण च सूत्रवाक्यार्थमाह—अस्येत्यादिना। **कारणस्य सर्वज्ञत्वादिसम्भावनार्थानि जगतो विशेषणानि। यथा कुम्भकारः प्रथमं कुम्भशब्दाभेदेन विकल्पितं पृथुबुध्नोदराकारस्वरूपं बुद्धावालिख्य तदात्मना कुम्भं व्याकरोति-बहिः प्रकटयति, तथा परम-कारणमपि स्वेक्षितं नामरूपात्मना व्याकरोतीत्यनुमीयत इति मत्वाह**—नामरूपाभ्यामिति। **इत्थंभावे तृतीया। आद्यकार्यं चेतनजन्यं, कार्यत्वात्, कुम्भवदिति प्रधानशून्ययोर्निरासः। हिरण्यगर्भादि-जीवजन्यत्वं निरस्यति**—अनेकेति। **श्राद्धवैश्वानरेष्ट्यादौ पितापुत्रयोः कर्तृभोक्त्रोर्भेदात्पृथगुक्तिः। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' 'सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' (श्वे. ६-१८) इति श्रुत्या स्थूलसूक्ष्म-देहोपाधिद्वारा जीवानां कार्यत्वेन जगन्मध्यपातित्वान्न जगत्कारणत्वमित्यर्थः। कारणस्य सर्वज्ञत्वं सम्भावयति**—प्रतिनियतेति। **प्रतिनियतानि व्यवस्थितानि देशकालनिमित्तानि येषां क्रियाफलानां तदाश्रयस्येत्यर्थः। स्वर्गस्य क्रियाफलस्य मेरुपृष्ठं देशः, देहपातादूर्ध्वं काल उत्तरायणमरणादिनिमित्तं च प्रतिनियतम्। एवं राजसेवाफले ग्रामादेर्देशादिव्यवस्था ज्ञेया। तथा च यथा सेवाफलं देशाद्यभिज्ञदातृकं तथा कर्मफलं, फलत्वादिति सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति भावः। सर्वशक्तित्वं सम्भावयति**—मनसापीति। **नन्वन्येऽपि वृद्धिपरिणामादयो भावविकाराः सन्तीति किमिति जन्मादीत्यादिपदेन न गृह्यन्ते तत्राह**—अन्येषामिति। **वृद्धिपरिणामयो**[1]**र्जन्मन्यपक्षयस्य नाशेऽन्तर्भाव इति भावः। ननु**

मिलता है। अतः जिज्ञास्य निर्गुण ब्रह्म है। फिर भला जगज्जन्मादिकारणत्व यह उस ब्रह्म का लक्षण कैसे हो सकेगा ? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, स्वरूपलक्षण तो **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै. २. १) इस श्रुति से किया गया है। जो लक्ष्य में कदाचित् रहता हो, सदा नहीं और इतरव्यावृत्ति के साथ लक्ष्य का बोध करता हो उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं तथा जो लक्ष्य के स्वरूपभूत हो, उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस श्रुति के द्वारा कथित स्वरूप लक्षण वाले ब्रह्म का **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** इत्यादि श्रुति में 'यत्' पद से परामर्श किया गया है। अतः उभयलक्षण लक्षित ब्रह्म इस ग्रन्थ का विचारणीय विषय है। यद्यपि 'इदम्' सर्वनाम समीपवर्ती प्रत्यक्षमात्र का वाचक है फिर भी यहां पर प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों से उपस्थापित धर्मी का निर्देश समझना चाहिए, जिसके जन्मादि धर्म का सम्बन्ध 'षष्ठी' विभक्ति बतला रही है। **'यतः'** इस पद से कारण का निर्देश हुआ है। तात्पर्य यह कि नाम-रूप से व्याकृत, अनेक कर्ता-भोक्ता संयुक्त, जिसमें देश, काल, निमित्त और क्रियाफल भी व्यवस्थित है जिसकी रचना तो दूर मन से भी उसकी रचना (कल्पना) सम्भव नहीं है, ऐसे जगत् का जन्म, स्थिति और लय जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कारण से होता है—वह ब्रह्म है। आदि कार्य, चेतनजन्य है, कार्य होने से, घट की भाँति—इस अनुमान द्वारा प्रधान एवं शून्यवाद का निराकरण हो गया। जगत् का विशेषण अनेकादि देने पर हिरण्य-गर्भादिजीवजन्यत्व पक्ष का निराकरण हो जाता। **'प्रतिनियतादि'** विशेषण से कारण में

१: वृद्धिपरिणामयोर्देशान्तराविर्भावादाह—जन्मनीति। अस्थितावस्तित्वस्येति ध्येयम्।

इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम् । यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले सम्भाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते । न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात्संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम् । न च स्वभावतः विशिष्ट-

---

'देहो जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' (निघं. १-१-१) इति यास्कमुनिवाक्यं [1]एतत्सूत्रमूलं किं न स्यादत आह–यास्केति । यास्कमुनिः किल महाभूतानामुत्पन्नानां स्थितिकाले भौतिकेषु प्रत्यक्षेण जन्मादिषट्कमुपलभ्य निरुक्तवाक्यं चकार । तन्मूलीकृत्य जन्मादिषट्ककारणत्वं लक्षणं सूत्रार्थ इति ग्रहणे सूत्रकृता ब्रह्मलक्षणं न संगृहीतं किन्तु महाभूतानां लक्षणमुक्तमिति शङ्का स्यात् सा मा भूदिति ये श्रुत्युक्ता जन्मादयस्त एव गृह्यन्त इत्यर्थः । यदि निरुक्तस्यापि श्रुतिर्मूलमिति महाभूतजन्मादिकमर्थस्तर्हि सा श्रुतिरेव सूत्रस्य मूलमस्तु, किम[2]न्तर्गडुना निरुक्तेनेति भावः । यदि जगतो ब्रह्मातिरिक्तं कारणं स्यात् तदा ब्रह्मलक्षणस्य तत्रातिव्याप्त्यादिदोषः स्यात्, अतस्तन्निरासाय लक्षणसूत्रेण ब्रह्म विना जगज्जन्मादिकं न सम्भवति, कारणान्तरासम्भवादिति [3]युक्तिः सूत्रिता । सा तर्कपादे विस्तरेण वक्ष्यते । अधुना संक्षेपेण तां दर्शयति—न यथोक्तेत्यादिना । नामरूपाभ्यां व्याकृतस्येत्यादिनां च चतुर्णां जगद्विशेषणानां व्याख्यानावसरे प्रधानशून्ययोः संसारिणश्च निरासो दर्शितः । परमाणूनामचेतनानां स्वतः प्रवृत्त्ययोगात्, जीवान्तरस्य ज्ञानशून्यत्वनियमेना[4]नुमानात् सर्वज्ञेश्वरासिद्धौ तेषां प्रेरकाभावात्, जगदारम्भकत्वासम्भव इति भावः । स्वभावादेव विचित्रं जगदिति लोकायतस्तं प्रत्याह—न चेति । जगत उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं न शक्यमित्यन्वयः । किं स्वयमेव स्वस्य हेतुरिति स्वभावः? उत कारणानपेक्षत्वम् ? नाद्यः, आत्माश्रयात् । न द्वितीय इत्याह—विशिष्टेति । विशिष्टान्यसाधारणानि देशकालनिमित्तानि । तेषां कार्यार्थिभिरुपादीयमानत्वात् कार्यस्य कारणानपेक्षत्वं न युक्तमित्यर्थः । अनपेक्षत्वे धान्यार्थिनां भूविशेषे, वर्षादिकाले बीजादिनिमित्ते च प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः । पूर्वोक्तसर्वज्ञत्वादिविशेषणकमीश्वरं मुक्त्वा जगत उत्पत्त्यादिकं

सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है, वैसे ही **'मनसापि'** इत्यादि विशेषण द्वारा सर्वशक्तिमत्व सिद्ध होता है। यद्यपि विपरिणामादि भावविकार अन्य भी हैं तथापि वृद्धि एवं विपरिणाम का जन्म में और अपक्षय का नाश में अन्तर्भाव हो जाने के कारण जन्म, स्थिति, नाश इन तीनों का ही इस सूत्र में ग्रहण किया गया है। निरुक्त में यास्क मुनि द्वारा पठित **'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति'**—इन छः भावविकारों का ग्रहण करने पर स्थिति काल का वर्णन माना जायेगा, मूलकारण से जगदुत्पत्ति, स्थिति और नाश अर्थ का संग्रह नहीं हो सकेगा ऐसी शङ्का न हो इसीलिए जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है, उसी में जगत की स्थिति है और उसी में जगत् का प्रलय होता है ये सभी गृहीत हो जाते हैं क्योंकि पूर्वोक्त विशिष्ट जगत् की उत्पत्ति यथोक्त-

---

१. विषयवाक्यम् । २. अन्तर्गडुनेति—ग्रीवाप्रदेशे जातो गलमांसपिण्डोऽन्तर्गडुस्तद्वन्निरर्थकेनेत्यर्थः । अन्तर्गडु-निरर्थकमिति मेदिनी । ३. युक्तिरिति—जगद्ब्रह्मकारणकं कारणान्तरासम्भवे सति सकारणकत्वादित्येवंविधा युक्तिरित्यर्थः । ४. अचेतनत्वाद्घटवत् ।

देशकालनिमित्तानामिहोपादानात् । एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादि-साधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः ।

नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे । न । वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम् ।

न सम्भवतीति भाष्येण कर्तारं विना कार्यं नास्तीति व्यतिरेक उक्तः । तेन यत्कार्यं तत्सकर्तृकमिति व्याप्तिर्ज्ञायते । एतदेव व्याप्तिज्ञानं जगति पक्षे कर्तारं साधयत् सर्वज्ञेश्वरं साधयति, किं श्रुत्येति तार्किकाणां भ्रान्तिमुपन्यस्यति—एतदेवेति । एतदेवानुमानमेव साधनं, न श्रुतिरिति मन्यन्त इति योजना । अथवा एतद्व्याप्तिज्ञानमेव श्रुत्यनुग्राहकयुक्तिमात्रत्वेना[1]स्मत्सम्मतं सदनुमानं स्वतन्त्रमिति मन्यन्त इत्यर्थः । सर्वज्ञत्वमादिशब्दार्थः । यद्वा व्याप्तिज्ञानसहकृतमेतल्लक्षणमेवनुमानं स्वतन्त्रं मन्यन्त इत्यर्थः । तत्रायं विभागः—व्याप्तिज्ञानात् जगतः कर्तास्तीत्यस्तित्वसिद्धिः । पश्चात् स कर्ता, सर्वज्ञः, जगत्कारणत्वात्, व्यतिरेकेण कुलालादिवदिति सर्वज्ञत्वसिद्धि[2]र्लक्षणादिति । अत्र मन्यन्त इत्यनुमानस्याभासत्वं सूचितम् । तथाहि—अङ्कुरादौ तावज्जीवः कर्ता न भवति, जीवाद्भिन्नस्य [3]घटवदचेतनत्वनियमादन्यः कर्ता नास्त्येवेति व्यतिरेकनिश्चयात्, यत्कार्यं तत्सकर्तृकमिति व्याप्ति-ज्ञानासिद्धिः । [4]लक्षणलिङ्गकानुमाने तु [5]बाधः, [6]अशरीरस्य जन्यज्ञानायोगात्, [7]यज्ज्ञानं तन्मनोजन्यमिति व्याप्तिविरोधेन नित्यज्ञानासिद्धेर्ज्ञानाभावनिश्चयात्, तस्मादतीन्द्रियार्थे श्रुतिरेव शरणम् । श्रुत्यर्थसम्भावनार्थत्वेनानुमानं युक्तिमात्रं न स्वतन्त्रमिति भावः ।

नन्विदमयुक्तं श्रुतेरनुमानान्तर्भावमभिप्रेत्य भवदीयसूत्रकृतानुमानस्यैवोपन्यस्यत्वादिति वैशेषिकः शङ्कते—नन्विति । अतो मन्यन्ते इत्यनुमानस्याभासोक्तिरयुक्तेति भावः । यदि श्रुतीनां स्वतन्त्र-मानत्वं न स्यात्तर्हि 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र. सू. १-१-४) इत्यादिना तासां तात्पर्यं सूत्रकृन्न विचारयेत्, तस्मादुत्तरसूत्राणां श्रुतिविचारार्थत्वाज्जन्मादिसूत्रेऽपि श्रुतिरेव स्वातन्त्र्येण विचार्यते नानुमानमिति परिहरति—नेति । किं च मुमुक्षोर्ब्रह्मावगतिरभीष्टा यदर्थमस्य शास्त्रस्यारम्भः, सा च नानुमानात्,

---

विशेषण विशिष्ट ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी अचेतन प्रधान से, परमाणुओं से, शून्य से अथवा किसी संसारी जीव से नहीं हो सकती । जगदुत्पत्ति के लिए विशिष्ट देश, काल और निमित्त का यहाँ पर ग्रहण होता है, ऐसी स्थिति में स्वभाव से भी विचित्र जगत् की उत्पत्ति चार्वाक नहीं कह सकता । इसी श्रुतिकथित व्याप्तिज्ञान को ईश्वरकारणवादी तार्किक लोग जीव से भिन्न ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने वाला अनुमान मानते हैं और उस अनुमान को स्वतन्त्र ईश्वरास्तित्व का साधन भी मानते हैं । वेदान्ती ने इस व्याप्तिज्ञान को श्रुति का अनुग्राहक तर्कमात्र माना है, स्वतन्त्र सदनुमान नहीं कहा ।

यहाँ पर वैशेषिकों को शङ्का हो सकती है कि सूत्रकार वेदव्यास ने अनुमान में ही श्रुति का अन्तर्भाव कर अनुमान का ही वर्णन **'जन्मादि'** सूत्र से किया है । अतः **'मन्यन्ते'** इस पद से अनुमान में आभासत्व नहीं कह सकते? उनकी यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति को स्वतन्त्र न मानने पर **'तत्तु समन्वयात्'** इत्यादि वाक्य द्वारा सूत्रकार श्रुति के तात्पर्य पर विचार नहीं कर पायेंगे । अतः आगे के सूत्रों में श्रुति विचारार्थ है तो **'जन्मादि'** सूत्र में भी स्वतन्त्ररूप से श्रुति का ही विचार

---

१. अस्मदिति सिद्धान्तिपरम् । २. तल्लिङ्गकानुमानादित्यर्थः । ३. ज्ञानशून्यत्वादिति हेतोः । ४. जगत्कारणत्वं लक्षणं तल्लिङ्गकानुमाने ५. साध्यशून्यो यत्र पक्षस्त्वसौ बाध उदाहृतः । उत्पत्तिकालीनघटे गन्धादिर्यत्र साध्यत इति । ६. ईश्वरस्य । ७. तवमते इति शेषः ।

वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिर्नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता। सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। तथाहि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृह० २।४।५) इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद' (छा. ६/१४/२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति। न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्। किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासम्भवमिह

'तन्त्वौपनिषदम्' (बृ० ३ ९-२६) इति श्रुतेः। अतो नानुमानं विचार्यमित्याह—वाक्यार्थेति। वाक्यस्य तदर्थस्य च विचाराद्यध्यवसानं तात्पर्यनिश्चयः प्रमेयसम्भवनिश्चयश्च तेन जाता ब्रह्मावगतिर्मुक्तये भवतीत्यर्थः। सम्भवो बाधाभावः। ननु किमनुमानमुपेक्षितमेव? नेत्याह—सत्सु त्विति। विमतमभिन्ननिमित्तोपादानकं, कार्यत्वादूर्णनाभ्यारब्धतन्त्वादिवत्, विमतं चेतनप्रकृतिकं, कार्यत्वात्, सुखादिवदित्यनुमानं श्रुत्यर्थदार्ढ्यायापेक्षितमित्यर्थः। दार्ढ्यं संशयविपर्यासनिवृत्तिः। 'मन्तव्य.' इति श्रुतार्थस्तर्केण सम्भावनीय इत्यर्थः। यथा कश्चित् गन्धारदेशेभ्यश्चोरैरन्यत्रारण्ये बद्धनेत्र एव त्यक्तः केनचिन्मुक्तबन्धस्तदुक्तमार्गग्रहणसमर्थः पण्डितः स्वयं तर्ककुशलो मेधावी स्वदेशानेव प्राप्नुयात्, एवमेवेहाविद्याकामादिभिः स्वरूपानन्दात्प्रच्याव्यास्मिन्नरण्ये संसारे क्षिप्तः केनचिद्दयापरवशेनाचार्येण, नासि त्वं संसारी किन्तु 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इत्युपदिष्टस्वरूपः स्वयं तर्ककुशलश्चेत् स्वरूपं जानीयान्नान्यथेति। श्रुतिः स्वस्याः पुरुषमतिरूपतर्कापेक्षां दर्शयतीत्याह—पण्डित इति। आत्मनः श्रुतेरित्यर्थः। ननु ब्रह्मणो मननाद्यपेक्षा न युक्ता, वेदार्थत्वात्, धर्मवत्। किन्तु श्रुतिलिङ्गवाक्यादय एवापेक्षिता इत्यत आह—नेति। जिज्ञास्ये धर्मे इव जिज्ञास्ये ब्रह्मणीति व्याख्येयम्। अनुभवो ब्रह्मसाक्षात्काराख्यो विद्वदनुभवः। आदिपदान्मनननिदिध्यासनयोर्ग्रहः। तत्र हेतुमाह—अनुभवेति।

किया जाता है, अनुमान का नहीं ऐसा समाधान 'न' इत्यादि वाक्य से भाष्यकार दे रहे हैं। वेदान्तवाक्यकुसुम हैं और उन्हें गूँथने के लिए वेदव्यास ने सूत्रों की रचना की है, क्योंकि सूत्रों से वेदान्तवाक्यों का ही उत्थापन कर विचार करते हैं। श्रुतिविचार के अन्त में परिणामरूप से ब्रह्म का बोध होता है जो अनुमानादि किसी दूसरे प्रमाण से नहीं हो सकता। जगज्जन्मादि कारणवादी वेदान्तवाक्यों द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है उसी ज्ञान को संशय-विपर्यय से शून्य दृढ़ करने के लिए वेदान्तवाक्यअविरोधी अनुमान भी प्रमाण माना जाय तो हम उसका निषेध नहीं करते हैं, क्योंकि **'श्रोतव्यो मन्तव्यः'** इस वाक्य में श्रुति ने सहायकरूप से तर्क को भी स्वीकार किया ही है। **'पण्डितो मेधावी'** इत्यादि श्रुति पुरुषबुद्धिरूप तर्क की अपेक्षा अपने सहायकरूप से करती ही है। स्वतन्त्र तर्क अतीन्द्रिय अर्थ के निर्णय में श्रुति को प्रमाणरूप से मान्य नहीं है। किसी-किसी का यह आग्रह है कि जैसे वेदार्थ होने से धर्मनिर्णय में मनन की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासा में भी मननादि की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, केवल श्रुत्यादि ही प्रमाण होंगे। पर ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि धर्म नित्य, परोक्ष और साध्य है, उसका साक्षात्कार न सम्भव है और न अनुष्ठान के लिए उसकी अपेक्षा ही है। अतः वहाँ पर मननादि का कोई उपयोग नहीं होता। इससे विपरीत

प्रमाणं, अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य । कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य । कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं च कर्म, यथाश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति । तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च ।

मुक्त्यर्थं ब्रह्मज्ञानस्य 'शाब्दस्य साक्षात्कारावसानत्वापेक्षणात्, प्रत्यग्भूतसिद्धब्रह्मगोचरत्वेन साक्षात्कारफलकत्वसम्भवात्, तदर्थं मननाद्यपेक्षा युक्ता । धर्मे तु नित्यपरोक्षे साध्ये साक्षात्कारस्यानपेक्षितत्वादसम्भवाच्च श्रुत्या निगमात्रमनुष्ठानायापेक्षितम् । लिङ्गादयस्तु श्रुत्यन्तर्भूता एव श्रुतिद्वारा निर्णयोपयोगित्वेनापेक्ष्यन्ते न मननादयः, अनुपयोगादित्यर्थः । निरपेक्षः शब्दः श्रुतिः । शब्दस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यं 'लिङ्गम् । पदं योग्येतरपदाकाङ्क्षं वाक्यम् । अङ्गवाक्यसापेक्षं प्रधानवाक्यं प्रकरणम् । क्रमपठितानामर्थानां क्रमपठितैर्यथाक्रमं सम्बन्धः स्थानम् । यथा ऐन्द्राग्न्यादय इष्टयो दश क्रमेण पठिताः दशमन्त्राश्च 'इन्द्राग्नी रोचना दिवि' इत्याद्याः । तत्र प्रथमेष्टौ प्रथममन्त्रस्य विनियोग इत्याद्यूहनीयम् । संज्ञासाम्यं समाख्या । यथाध्वर्यवसंज्ञकानां मन्त्राणामाध्वर्यवसंज्ञके कर्मणि विनियोग इति विवेकः । एवं तावद्ब्रह्म न मननाद्यपेक्षं, वेदार्थत्वात्, धर्मवत्, इत्यनुमाने साध्यत्वेन धर्मस्यानुभवायोग्यत्वं, अनपेक्षितानुभवत्वं चोपाधिरित्युक्तम् । उपाधिव्यतिरेकाद्ब्रह्मणि मननाद्यपेक्षत्वं चोक्तम् । 'तत्र यदि वेदार्थत्वमात्रेण ब्रह्मणो धर्मेण साम्यं त्वयोच्येत तर्हि कृतिसाध्यत्वं विधिनिषेधविकल्पोत्सर्गापवादाश्च ब्रह्मणि धर्मवत् स्युरिति । विपक्षे बाधकमाह—पुरुषेत्यादिना । पुरुषकृत्यधीना आत्मलाभ उत्पत्तिर्यस्य तद्भावाच्च धर्मे श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यमित्यन्वयः । धर्मस्य साध्यत्वं लौकिककर्मदृष्टान्तेन स्फुटयति—कर्तुमिति । 'लौकिकवदित्यर्थः । दृष्टान्तं स्फुटयति—यथेति । दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । तद्वद्धर्मस्य कर्तुमकर्तुं शक्यत्वमुक्त्वा अन्यथाकर्तुं शक्यत्वमाह—उदित इति । धर्मस्य साध्यत्वमुपपाद्य तत्र विध्यादियोग्यतामाह—विधीति । विधिप्रतिषेधाश्च विकल्पादयश्च धर्मे साध्ये येऽर्थवन्तः सावकाशा भवन्ति ते ब्रह्मण्यपि स्युरित्यर्थः । 'यजेत' 'न सुरां

ब्रह्मतत्त्व के निर्णय में श्रुत्यादि और अनुभवादि दोनों प्रमाण हैं। ब्रह्म सिद्धवस्तु है, उसका निर्णय साक्षात्कार होने पर ह पूर्ण होता है; पर धर्म का निर्णय साक्षात्कार की अपेक्षा नहीं रखता। 'श्रुत्यादि' पद में आदि शब्द से लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या का ग्रहण होता है जो प्रकारान्तर से श्रुति के ही अन्तर्भूत होकर धर्मनिर्णय में उपयोगी होते हैं। 'अनुभवादि' पद में आये हुए आदि पद से मनन एवं निदिध्यासन का ग्रहण होता है। यदि कोई हठात् ब्रह्मज्ञान के विषय को कर्तव्यरूप में स्वीकार करेगा तो वहाँ भी अनुभव क अपेक्षा नहीं होगी और उस स्थिति में केवल श्रुत्यादि ही प्रमाण माने जायेंगे क्योंकि कर्तव्य की सिद्धि पुरुषप्रयत्नाधीन होती है जो धर्म के लिए ही कहना उचित होगा। लौकिक और वैदिक कर्म करने, न करने और अन्यथा करने में पुरुष स्वतन्त्र होता है जैसे क्रिया के द्वारा किसी गाँव तक पहुँचना हो तो उसमें गन्ता-पुरुष स्वतन्त्र

१. श्रौतस्येति यादव । २. लिङ्गमिति—यथा बर्हिर्देवसदनं दामीत्यत्र कुशलवनाङ्गत्वमेव मन्त्रस्य नतूलपादिलवनाङ्गत्वम् । ३. अनुमाने । ४. लौकिकं चेत्यनयोरर्थमाह—लौकिकवदिति ।

न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि वस्तुतन्त्रमेव तत्? नहि स्थाणावेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तु[1]विषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्।

पिबेत्' इत्यादयो विधिनिषेधाः। व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेतेति [2]सम्भावितो विकल्पः ग्रहणाग्रहणयोरैच्छिकः। उदितानुदितहोमयोर्व्यवस्थितविकल्पः। 'न हिंस्यात्' इत्युत्सर्गः, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यपवादः। तथा 'आहवनीये जुहोति' इत्युत्सर्गः। 'अश्वस्य पदे पदे जुहोति' इत्यपवाद इति विवेकः। एते ब्रह्मणि स्युरित्यत्रेष्टापत्तिं वारयति—न इत्यादिना। भूतवस्तुविषयत्वात् इत्यन्तेन। इदं वस्तु, एवं नैवं घटः पटो वेति प्रकारविकल्पः। अस्ति नास्ति वेति [3]सत्तास्वरूपविकल्पः। ननु वस्तुन्यप्यात्मादौ वादिनामस्ति नास्तीत्यादिविकल्पा दृश्यन्ते तत्राह—विकल्पनास्त्विति। अस्तित्वादिकोटिस्मरणं पुरुषबुद्धिस्तन्मूला मनःस्पन्दितमात्राः संशयविपर्ययविकल्पा न प्रमारूपा इत्यक्षरार्थः। अयं भावः—धर्मो हि यथा यथा ज्ञायते तथा तथा कर्तुं शक्यत इति यथाशास्त्रं पुरुषबुद्ध्यपेक्षा विकल्पाः सर्वे प्रमारूपा एव भवन्ति, तत्साम्येन ब्रह्मण्यपि सर्वे विकल्पा यथार्थाः स्युरिति। तत्राप्योमिति वदन्तं प्रत्याह—नेति। यदि सिद्धवस्तुज्ञानमपि साध्यज्ञानवत्पुरुषबुद्धिमपेक्ष्य जायेत तदा सिद्धे विकल्पा यथार्थाः स्युः, न सिद्धवस्तुज्ञानं पौरुषं, किं तर्हि प्रमाणवस्तुजन्यं? तथा च वस्तुन एकरूपत्वादेकमेव ज्ञानं प्रमा, अन्ये विकल्पा अयथार्था एवेत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तमाह—नहि स्थाणाविति। स्थाणुरेवेत्यवधारणे सिद्धे सर्वे विकल्पा यथार्था न भवन्तीत्यर्थः। तत्र यद्वस्तुतन्त्रं ज्ञानं तद्यथार्थं, यत्पुरुषतन्त्रं तन्मिथ्येति विभजते—तत्रेति। स्थाणावित्यर्थः। स्थाणावुक्तन्यायं घटादिष्वतिदिशति—एवमिति। प्रकृतमाह—तत्रैवं सतीति। सिद्धेऽर्थे ज्ञानप्रमात्वस्य वस्त्वधीनत्वे

है—घोड़े से जाता है, पैरों से जाता है और नहीं भी जाता है। इस लौकिक दृष्टान्तानुसार वैदिक कर्मानुष्ठान में भी पुरुष की स्वतन्त्रता है। 'अतिरात्र याग में षोडशी पात्र को ग्रहण करे', वैसे ही 'अतिरात्र याग में षोडशीपात्र को ग्रहण न करे', 'सूर्योदय होने पर होम करे' 'उदय होने से पूर्व होम करे' इन सभी वैदिककर्मानुष्ठानों में पुरुष की स्वतन्त्रता है क्योंकि धर्म में साध्यत्व है और वह पुरुषप्रयत्नाधीन है। वेदार्थ होने से धर्म के समान ही ब्रह्म को यदि माना जाय तो ब्रह्म में भी विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग एवं अपवाद ये सभी सावकाश होने लग जायेंगे। **'यजेत'** यह विधि, **'न सुरां पिबेत'** यह निषेध, **'व्रीहिभिर्यजेत' यवैर्वायजेत'** यह सम्भावित विकल्प, पूर्वोक्त ग्रहणाग्रहण का ऐच्छिक विकल्प, उदित अनुदित होम में व्यवस्थित विकल्प, **'न हिंस्यात्'** यह उत्सर्ग, **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** यह अपवाद इत्यादि सब के सब ब्रह्म में भी होने लग जायेंगे; किन्तु वस्तु में यह ऐसी है यह ऐसी नहीं है, ऐसा विकल्प होता ही नहीं है क्योंकि विकल्प पुरुषबुद्धि की अपेक्षा से हुआ करता है। वस्तु का यथार्थज्ञान पुरुषबुद्धि अधीन नहीं है, वह तो वस्तुतन्त्र ही है। एक ही स्थाणु में कोई स्थाणु समझता हो, कोई उसे पुरुष समझता हो और कोई उसे अन्य कुछ

१. प्रत्यक्षादि प्रमाणानाम्। २. सम्भावित इति—साम्भविक इत्यर्थः। ३. सत्तात्मकस्वरूपेति।

ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता। न। इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा सम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति

सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुजन्यमेव यथार्थं, न पुरुषतन्त्रं, भूतार्थविषयत्वात्, स्थाणुज्ञानवदित्यर्थः। अतः साध्येऽर्थे सर्वे विकल्पाः पुन्तन्त्रा न सिद्धेऽर्थे इति वैलक्षण्यात्, न धर्मसाम्यं ब्रह्मण इति मननाद्यपेक्षा सिद्धेति भावः।

ननु तर्हि ब्रह्म प्रत्यक्षादिगोचरं, धर्मविलक्षणत्वात्, घटादिवत्। तथा च जन्मादिसूत्रे 'जगत्कारणानुमानं[1] विचार्यं, सिद्धार्थे तस्य मानत्वात्, न श्रुतिः, 'सिद्धार्थे[2] 'तस्या अमानत्वेन[3] तद्विचारस्य निष्फलत्वादिति शङ्कते—नन्विति। प्रमाणान्तरविषयत्वमेव प्राप्तमिति कृत्वा प्रमाणान्तरस्यैव विचारप्राप्ताविति शेषः। अत्र पूर्वपक्षी प्रष्टव्यः, किं यत्कार्यं तद्ब्रह्मजमित्यनुमानं ब्रह्मसाधकं ? किं वा यत्कार्यं तत्सकारणम् ? इति। नाद्यः, 'व्याप्त्यसिद्धेरित्याह[4]—नेति। ब्रह्मण इन्द्रियाग्राह्यत्वात्, प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहायोगान्न प्रमाणान्तरविषयत्वमित्यर्थः। इन्द्रियाग्राह्यत्वं कुत इत्यत आह—स्वभावत इति। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः' (काठ० २-१) इति श्रुतेः, ब्रह्मणो रूपादिहीनत्वाच्चेत्यर्थः। इन्द्रियाग्राह्यत्वेऽपि व्याप्तिग्रहः किं न स्यात् ? अत आह—सति हीति। तन्नास्तीति शेषः। इदं कार्यं ब्रह्मजमिति व्याप्तिप्रत्यक्षं ब्रह्मणोऽतीन्द्रियत्वान्न सम्भवतीत्यर्थः। द्वितीये कारणसिद्धावपि कारणस्य ब्रह्मत्वं श्रुतिं विना ज्ञातुमशक्यमित्याह—कार्यमात्रमिति। सम्बद्धं कृतं यस्मात्, श्रुतिमन्तरेण जगत्कारणं ब्रह्मेति निश्चयालाभस्तस्मात् तल्लाभाय श्रुतिरेव प्राधान्येन विचारणीया,

समझता हो ये सब के सब तत्त्वज्ञान नहीं हैं; इनमें से स्थाणु को स्थाणु समझना ही तत्त्वज्ञान है, क्योंकि वह वस्तुतन्त्र है, पुरुष या अन्य कुछ समझना मिथ्याज्ञान है। ऐसा ही घटादि अन्य सिद्धवस्तु के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए, उन वस्तुओं के प्रत्यक्षादि प्रमाण में प्रामाण्य वस्तुतन्त्र ही है। उसी प्रकार भूतवस्तुविषयक ब्रह्मज्ञान भी वस्तुतन्त्र ही है, उसमें पूर्वोक्त विधि-प्रतिषेधादि सावकाश नहीं हो सकते।

घटादि की भाँति ब्रह्म को सिद्धवस्तु मानने पर घटादि की भाँति ही प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर का विषय भी होने लग जायेगा, फिर तो वेदान्तवाक्यविचार निरर्थक हो जायेगा ! ऐसी शङ्का नहीं कर सकते क्योंकि सिद्धवस्तु दो प्रकार की है— एक इन्द्रियग्राह्य और दूसरी इन्द्रियाग्राह्य। इन्द्रियग्राह्य भूतवस्तु के सम्बन्ध में प्रमाणान्तर विषयत्व की शङ्का ठीक ही है, किन्तु इन्द्रियाग्राह्य सिद्धवस्तु ब्रह्म के सम्बन्ध में आप की शङ्का ठीक नहीं है। ब्रह्म को इन्द्रियों से अग्राह्य **'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः' (क०४।१)** इत्यादि श्रुति ने स्वभावतः कहा है। इन्द्रियाँ तो विषयों को जानती हैं ब्रह्म को नहीं जानती। यदि जगत्कारण ब्रह्म इन्द्रियग्राह्य होता तो, यह कार्यरूप जगत् ब्रह्म से सम्बद्ध है, इसे भी ग्रहण कर सकता था; किन्तु इन्द्रियग्राह्य न होने के कारण उसे तो केवल श्रुति से ही जान सकते हो, अन्य किसी प्रमाण से नहीं। कार्य जगत् अवश्य गृहीत होता है, वह ब्रह्मकारण

१. जगत्कारणत्वहेतुकानुमानम्। २. विचार्येति शेषः। ३. तस्या अमानत्वेनेति—प्रमाणान्तरप्रसरादिति भावः। ४. व्याप्त्यसिद्धेरिति—अन्तविवेचनानुरोधाद् व्याप्त्यासिद्धेरिति पाठः प्रतिपद्यते।

न शक्यं निश्चेतुम् । तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थं किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम् । किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् । 'भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याह—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति' (तै० ३।१) तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तै० ३।६) अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि ॥२॥

'अनुमानं तूपादानत्वादि[१]सामान्यद्वारा मृदादिवत् ब्रह्मणः स्वकार्यात्मकत्वादिश्रौतार्थसम्भावनार्थं गुणतया विचार्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति । एतत्सूत्रस्य विषयवाक्यं पृच्छति—किं पुनरिति । इह ब्रह्मणि लक्षणार्थत्वेन विचारयितुमिष्टं वाक्यं किमित्यर्थः । अत्र हि प्रथमसूत्रे विशिष्टाधिकारिणो ब्रह्मविचारं प्रतिज्ञाय ब्रह्मज्ञातुकामस्य द्वितीयसूत्रे लक्षणमुच्यते । तथैव श्रुतावपि मुमुक्षोर्ब्रह्मज्ञातुकामस्य जगत्कारणत्वोपलक्षणानुवादेन ब्रह्म ज्ञाप्यत इति श्रौतार्थक्रमानुसारित्वं सूत्रस्य दर्शयितुं सोपक्रमं वाक्यं पठति—भृगुरिति । अधीहि स्मारय उपदिशेत्यर्थः । अत्र येनेत्येकत्वं विवक्षितं, नानात्वे ब्रह्मत्वविधानायोगात् । यज्जगत्कारणं तदेकमित्यवान्तरवाक्यम् । यदेकं कारणं तद्ब्रह्मेति वा, यत्कारणं तदेकं ब्रह्मेति वा महावाक्यमिति भेदः । किं तर्हि स्वरूपलक्षणमित्याशङ्क्य वाक्यशेषान्निर्णितो यतःशब्दार्थः सत्यज्ञानानन्द इत्याह—तस्य चेति । 'यः सर्वज्ञः' (मु० १-१-१०) 'तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' (मु० १-१-१०) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३-९-२८) इत्यादिशाखान्तरीयवाक्यान्यप्यस्य विषय इत्याह—अन्यान्यपी[२]ति । एवंजातीयकत्वमेवाह—नित्येति । तदेवं सर्वासु शाखासु लक्षणद्वयवाक्यानि जिज्ञास्ये ब्रह्मणि समन्वितानि, तद्धिया मुक्तिरिति सिद्धम् ॥२॥

से सम्बद्ध है अथवा किसी अन्य कारण से, इस बात का निश्चय नहीं हो पाता । उसी का निश्चय कराने के लिए प्रधानरूप से इस शास्त्र में श्रुति का विचार किया गया है । अतः **'जन्मादि'** सूत्र अनुमान का उपन्यास नहीं करता, अपितु ब्रह्म के लक्षणनिर्वचन व्याज से वेदान्तवाक्य का ही विचार करता है ।

इस द्वितीय सूत्र के विचारणीय श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में **'किं पुनः'** इत्यादि वाक्य से प्रश्न करते हैं, वह वेदान्त कौन है जो ब्रह्म का इस सूत्र से लक्षण बतला रहा है ? प्रथम सूत्र में विशिष्ट अधिकारी के लिए ब्रह्मविचार की प्रतिज्ञा की गई थी, अब द्वितीय सूत्र से ब्रह्मजिज्ञासु को ब्रह्म का लक्षण बतला रहे हैं । श्रुति में भी ऐसी ही ब्रह्मजिज्ञासु को बोध कराया गया है, उसी श्रौतक्रम का अनुसरण सूत्र में भी दिखलाया जा रहा है । 'वरुणपुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और बोला—हे भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश करें, यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर कहते हैं 'जिससे सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए भूत जिससे जीवित रहते हैं और अन्ततः जिसमें लीन होते हैं, उसी

१. अनुमानंत्विति—ब्रह्मस्वकार्यात्मकमुपादानत्वान्मृद्वदिति, जगत्स्वोपादानजन्यं कार्यत्वाद्घटवदित्यनुमानन्तु श्रौतार्थस्याद्वितीयब्रह्मणोऽसम्भावनादिनिवृत्त्यर्थं विचार्यमित्यर्थः । २. तुल्यत्वम् ।

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं तदेव द्रढयन्नाह—

यस्य निःश्वसितं वेदाः सर्वार्थज्ञानशक्तयः ।
श्रीरामं सर्ववेत्तारं वेदवेद्यमहं भजे ॥

वृत्तानुवादेन सङ्गतिं वदन्नुत्तरसूत्रमवतारयति—जगदिति । **चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वोक्त्या सर्वज्ञत्वमर्थात्प्रतिज्ञातं सूत्रकृता, चेतनसृष्टेर्ज्ञानपूर्वकत्वात् । तथा च ब्रह्म सर्वज्ञं, सर्वकारणत्वात्, यो यत्कर्ता स तज्ज्ञः, यथा कुलाल इति स्थितम् । तदेवार्थिकं सर्वज्ञत्वं प्रधानादिनिरासाय वेदकर्तृत्वहेतुना द्रढयन्नाहेत्यर्थः । 'हेतुद्वयस्य[1] कार्थसाधनत्वात्, एकविषयत्वम'[2]वान्तरसङ्गतिः[3] । यद्वा वेदस्य नित्यत्वाद्-ब्रह्मणः सर्वहेतुता नास्तीत्याक्षेपसंगत्या वेदहेतुत्वमुच्यते 'अस्य महतो भूतस्य 'नि श्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः'[4] (बृ० २-४-१०) इति वाक्यं विषयः । तत्किं वेदहेतुत्वेन ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं साधयति ? उत न साधयति ? इति सन्देहः । तत्र व्याकरणादिवद्वेदस्य पौरुषेयत्वे मूलप्रमाण-सापेक्षत्वेनाप्रामाण्यापातान्न साधयतीति पूर्वपक्षे जगद्धेतोश्चेतनत्वासिद्धिः फलम् । सिद्धान्ते तत्सिद्धिः । अस्य वेदान्तवाक्यस्य स्पष्टब्रह्मलिङ्गस्य वेदकर्तरि समन्वयोक्तेः श्रुतिशास्त्राध्यायपादसङ्गतयः । एवमापादं श्रुत्यादिसङ्गतय ऊह्याः । वेदे हि सर्वार्थप्रकाशनशक्तिरुपलभ्यते, सा तदुपादानब्रह्मगत-शक्तिपूर्विका तद्गता वा ? प्रकाशनशक्तित्वात्, कार्यगतशक्तित्वाद्वा, प्रदीपशक्तिवदिति वेदोपादानत्वेन ब्रह्मणः स्वसम्बद्धाशेषार्थप्रकाशनसामर्थ्यरूपं सर्वसाक्षित्वं सिध्यति । यद्वा यथा अध्येतारः पूर्वक्रमं ज्ञात्वा वेदं कुर्वन्ति, तथा विचित्रगुणमायासहायोऽनावृतानन्तस्वप्रकाशचिन्मात्रः परमेश्वरः स्वकृत-पूर्वकल्पीयक्रमसजातीयक्रमवन्तं वेदराशिं तदर्थांश्च युगपज्जानन्नेव करोतीति न वेदस्य पौरुषेयता ।**

की जिज्ञासा कर, वह ब्रह्म है ।' इस क्रम में निर्णयवाक्य यह है कि 'आनन्द से ही सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए भूत आनन्द से ही जीवित रहते हैं और आनन्द में ही लीन होते हैं ।' इस प्रकार **नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-**स्वभाव सर्वज्ञस्वरूप जगत्कारणविषयक अन्य श्रुतिवाक्य भी यहाँ पर उदाहरण के रूप ग्रहण कर लेना चाहिए । स्वरूप एवं तटस्थ भेद से ब्रह्म के दो लक्षण श्रुतियों में बतलाये गये हैं, ये दोनों ही लक्षणवाक्य सभी शाखाओं में उपलब्ध होते हैं जिनका समन्वय जिज्ञास्य ब्रह्म में होता है ऐसा साक्षात्कार हो जाने पर मोक्ष मिलता है ॥२॥

॥ जन्माद्यधिकरण समाप्त ॥

॥ शास्त्रयोनित्वाधिकरण ॥

जगत् का कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ सिद्ध हुआ उसी को शास्त्रयोनित्वाधिकरण से दृढ़ करना है । अतः सर्वज्ञत्वरूप एकार्थ का साधन होने के करण दोनों की एकविषयत्व संगति है । अथवा नित्य वेद का कर्ता ब्रह्म हो नहीं सकता फिर उसमें सर्वजगत्कर्तृत्व कैसे माना जायेगा ? ऐसा आक्षेप होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है । अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति है । उक्त दोनों संगतियों के अनुसार इस सूत्र की योजना करते हुए भाष्यकार व्याख्या करते हैं ।

१. सर्वकारणत्वशास्त्रयोनित्वेति हेतुद्वयस्य । २. सर्वज्ञत्वम् । ३. अवान्तरेति—पूर्वोत्तराधिकरणयोरित्यर्थः । ४. इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि ॥

३. शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् (सू० ३)

(३) शास्त्रयोनित्वात् ॥३॥

न कर्तृ ब्रह्म वेदस्य किं वा कर्तृ न कर्तृ तत्। विरूपनित्यया वाचेत्येवं नित्यत्वकीर्तनात् ॥
कर्तृ निःश्वसितााद्युक्तेर्नित्यत्वं पूर्वतास्यतः। सर्वावभासिवेदस्य कर्तृत्वात्सर्वविद्भवेत् ॥
अस्त्यन्यमेयताप्यस्य किं वा वेदैकमेयता। घटवत्सिद्धवस्तुत्वाद्ब्रह्मान्येनापि मीयते ॥
रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता। तं त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता ॥

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्सम्भवति, यथा

यत्र ह्यर्थज्ञानपूर्वकं वाक्यज्ञानं वाक्यसृष्टौ कारणं तत्र पौरुषेयता, अत्र च यौगपद्यान्न सा, अतो वेदकर्ता वेदमिव तदर्थमपि स्वसम्बद्धं नान्तरीयकतया जानातीति सर्वज्ञ इति सिद्धान्तयति—शास्त्रेति। **शास्त्रं प्रति हेतुत्वात्, ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वकारणं च इति** [1]**सङ्गतिद्वयानुसारेण सूत्रयोजनामभिप्रेत्य पदानि व्याचष्टे**—महत इति। **हेतोः सर्वज्ञत्वसिद्धये वेदस्य विशेषणानि। तत्र ग्रन्थतोऽर्थतश्च महत्त्वं, हितशासनात् शास्त्रत्वम्। शास्त्रशब्दः शब्दमात्रोपलक्षणार्थ इति मत्वाह**—अनेकेति। **पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिषाणि षडङ्गानि इति दश विद्यास्थानानि वेदार्थज्ञानहेतवः। तैरुपकृतस्येत्यर्थः। अनेन मन्वादिभिः परिगृहीतत्वेन वेदस्य प्रामाण्यं सूचितम्। अबोधकत्वाभावादपि प्रामाण्यमित्याह**—प्रदीपवदिति। **सर्वार्थप्रकाशनशक्तिमत्त्वेऽप्यचेतनत्वात् सर्वज्ञकल्पत्वं योनिरुपादानं कर्तृ च। ननु सर्वज्ञस्य यो गुणः सर्वार्थज्ञानशक्तिमत्त्वं वेदस्य तदन्वितत्वेऽपि तद्योनेः सर्वज्ञत्वं कुत इत्यत आह**—न हीति। **उपादाने तच्छक्तिं विना कार्ये तदयोगाद्वेदोपादानस्य सर्वज्ञत्वम्, अनुमानं तु** [2]**पूर्वं दर्शितम्। न चाविद्यायास्तथापत्तिः।** [3]**शक्तिमत्त्वेऽप्यचेतनत्वादिति भावः। वेदः स्वविषयादधिकार्थज्ञानवज्जन्यः, प्रमाणवाक्यत्वात्, व्याकररामायणादिवदित्यनुमानान्तरम्। तत्र व्याप्तिमाह**—यद्यदिति। **विस्तरः शब्दाधिक्यम्। अनेनार्थतोऽल्पत्वं**

ऋग्वेदादि ग्रन्थ की दृष्टि से और अर्थ की दृष्टि से भी महान् हैं, हित का उपदेशक होने के कारण शास्त्र है जिसमें पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र इत्यादि अनेक विद्यायें हैं; **'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष'** जिसके छः अङ्ग हैं, ऐसे दश प्रस्थान हैं जो वेदार्थज्ञान के कारण हैं। ऋग्वेदादि शास्त्र उनसे उपकृत है प्रदीप के समान सभी अर्थों का प्रकाशक है। अत एव वेद सर्वज्ञकल्प है। उस वेद का कारण ब्रह्म है क्योंकि सर्वज्ञ गुणों से युक्त ऋग्वेदादि पूर्वोक्त शास्त्र का जन्म सर्वज्ञ परमेश्वर को छोड़कर किसी अन्य से हो नहीं सकता। उपादान कारण के गुण ही कार्य में आते हैं यह सर्वत्र देखा गया है। यह भी देखा गया है कि जिस-जिस विस्तृत अर्थ का प्रकाशकशास्त्र जिस पुरुषविशेष से उत्पन्न होता है वह पुरुष शास्त्रोक्त ज्ञान से अधिक ज्ञान वाला हुआ करता

---

१. वर्णकान्तरे सङ्गत्यन्तरस्य प्रयोजकत्वमभिप्रेत्याह—सङ्गतिद्वयेति। २. तथा चेत्यादिना। ३. शक्तिमत्त्वेऽपीति—सर्वकार्यात्मना परिणमनशक्तित्वेऽपीत्यर्थः।

व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके। किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः सम्भवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० २।४।१०) इत्यादिश्रुतेः। तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति।

अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपा-

---

चकम् कर्तुर्ज्ञानस्यार्थाधिक्यं सूचयति, दृश्यते चार्थवादाधिक्यं वेदे। अत्रैषा योजना—यद्यच्छास्त्रं यस्मादाप्तात्सम्भवति स ततः शास्त्रादधिकार्थज्ञान इति प्रसिद्धं, यथा शब्दसाधुत्वादिर्ज्ञेयैकदेशोऽर्थो यस्य तदपि व्याकरणादि पाणिन्यादेरधिकार्थज्ञात्सम्भवति। यद्यल्पार्थमपि शास्त्रमधिकार्थज्ञात् सम्भवति तदा 'अस्य महतः' (बृ० २-४-१०) इत्यादिश्रुतेर्यस्मान्महतोऽपरिच्छिन्नाद् भूतात्सत्याद्योनेः सकाशादनेकशाखेत्यादिविशिष्टस्य वेदस्य पुरुषनिःश्वासवदप्रयत्नेनैव सम्भवः, तस्य सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति किमु वक्तव्यमिति। तत्र वेदस्य पौरुषेयत्वशङ्कानिरासार्थं श्रुतिस्थनिःश्वसितपदार्थमाह—अप्रयत्नेनेति। प्रमाणान्तरेणार्थज्ञानप्रयासं विना निमेषादिन्यायेनेत्यर्थः। अत्रानुमानेन 'यः सर्वज्ञः' (मु० १-१) इति श्रुत्युक्तसर्वज्ञत्वदार्ढ्याय पाणिन्यादिवद्वेदकर्तरि अधिकार्थज्ञानसत्तामात्रं साध्यते, न स्वर्थज्ञानस्य वेदहेतुत्वं, निःश्वसितश्रुतिविरोधात्, वेदज्ञानमात्रेणाध्येतृवद्वेदकर्तृत्वोपपत्तेश्च। इयान् विशेषः—अध्येता परापेक्षः, ईश्वरस्तु स्वकृतवेदानुपूर्वी स्वयमेव स्मृत्वा तथैव कल्पादौ ब्रह्मादिष्वाविर्भावयन् अनावृतज्ञानत्वात्तदर्थमप्यवर्जनीयतया जानातीति सर्वज्ञ इत्यनवद्यम्।

अधुना ब्रह्मणो लक्षणानन्तरं प्रमाणजिज्ञासायां वर्णकान्तरमाह—अथवेति। लक्षणप्रमाणयोर्ब्रह्मनिर्णयार्थत्वादेकफलकत्वं सङ्गतिः। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' (बृ० ३-९-२६) इति श्रुतिर्ब्रह्मणो वेदैकवेद्यत्वं ब्रूते न वेति संशये, कार्यलिङ्गेनैव लाघवात् कर्तुरेकस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः सिद्धेर्न ब्रूते इति प्राप्ते वेदप्रमाणकत्वात् ब्रह्मणो न प्रमाणान्तरवेद्यत्वमिति सिद्धान्तयति—शास्त्रयोनित्वादिति। तद् व्याचष्टे—यथोक्तमिति। सर्वत्र पूर्वोत्तरपक्षयुक्तिद्वयं संशयबीजं द्रष्टव्यम्। अत्र पूर्वपक्षे अनुमानस्यैव

है, यथा पाणिन्यादि व्याकरण निर्माता के ज्ञान की अपेक्षा उनके द्वारा रचित व्याकरणादि ज्ञेयवस्तु के एकदेश को ही बतलाता है, फिर तो अनेक शाखाभेद से भिन्न देवता, तिर्यक्, मनुष्य, ब्राह्मणादि वर्ण, ब्रह्मचर्यादि आश्रम प्रविभाग का कारण, सम्पूर्ण ज्ञान की खान ऋग्वेदादि का निर्माण बिना परिश्रम के पुरुष निःश्वास की भाँति लीलामात्र में जिस महद्भूत योनि से होता है वह ब्रह्म है। ऐसे ही 'इस महद्भूत ब्रह्म का निःश्वास ऋग्वेदादि हैं' इत्यादि श्रुति से भी इस जगत् कारण परमात्मा में निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व सिद्ध होता है। ऋग्वेदादि को ईश्वरकृत मानने पर उसमें पौरुषेयत्वापत्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि अर्थज्ञान के बाद शब्दरचना मानने पर पौरुषेयत्वापत्ति आती है। परमेश्वर को वेदराशि का एवं तदर्थ का ज्ञान पूर्वकल्पीय होता है जिसे कल्पारम्भ में स्मरण कर ब्रह्मादि में उस वेद का आविर्भाव करता है। ईश्वरीय ज्ञान पर कभी आवरण नहीं आता, ईश्वर को वेदार्थ ज्ञान भी निश्चितरूप से रहता ही है। अतः वह सर्वज्ञ है। उसके द्वारा रचित वेद में पौरुषेयत्वापत्ति की आशङ्का निर्मूल है।

लक्षण और प्रमाण से किसी भी अर्थ की सिद्धि होती है। जब **'जन्मादि'** सूत्र द्वारा ब्रह्म

विगमे । शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः । शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि । किमर्थं तर्हीदं सूत्रं, यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम् । उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते, शास्त्रयोनित्वादिति ॥३॥

विचार्यतासिद्धिः फलं, सिद्धान्ते वेदान्तानामिति भेदः । अनुमानादिना ब्रह्मसिद्धिः पूर्वसूत्रे प्रसङ्गान्निरस्ता । किञ्च विचित्रप्रपञ्चस्य प्रासादादिवदेककर्तृकताबाधात्र लाघवावतारः । न च सर्वज्ञत्वात्कर्तुरेकत्वसम्भवः । एकत्वज्ञानात् सर्वज्ञत्वज्ञानं ततस्तदित्यन्योन्याश्रयमभिप्रेत्याह—शास्त्रादेवेति । किं तच्छास्त्रमिति तदाह—शास्त्रमिति । पृथगारम्भमाक्षिपति—किमर्थमिति । येन हेतुना दर्शितं ततः किमर्थमित्यर्थः । जन्मादिलिङ्गकानुमानस्य स्वातन्त्र्येणोपन्यासशङ्कानिरासार्थं पृथक्सूत्रमित्याह—उच्यत इति ॥३॥

का लक्षण बतला दिया गया तो फिर उसके सम्बन्ध में प्रमाण की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। एतदर्थ 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र की रचना भगवान बादरायण करते हैं। इस अर्थ को बतलाने के लिए 'अथवा' इत्यादि ग्रन्थ से द्वितीय वर्णक प्रारम्भ करते हैं। पिछले सूत्र से लक्षण और इस सूत्र से प्रमाण बतलाने पर जिज्ञासा का विषय ब्रह्मार्थ सिद्ध होता है। अतः पिछले अधिकरण के साथ इसकी एकफलकत्व संगति है। 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३।६।२६) यह श्रुति ब्रह्म को वेदैकगम्य कहती है अथवा नहीं ? ऐसा संशय होने पर जब पूर्वपक्ष में कार्यलिङ्ग से ही एक कर्ता सर्वज्ञ ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है फिर श्रुति की क्या आवश्यकता रही ? ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती की ओर से 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र की रचना भगवान् वेदव्यास करते हैं। ब्रह्म प्रमाणान्तरवेद्य नहीं है, वेदप्रमाण से सिद्ध होने के कारण, यथा धर्म। जिस प्रकार धर्म में वेदप्रमाणकत्व हेतु है और वहाँ पर वेदैकप्रमाणगम्यत्व साध्य भी है ऐसा ही ब्रह्म को समझना चाहिए। यथोक्त ऋग्वेदादि शास्त्र इस ब्रह्म के यथार्थस्वरूपज्ञान कराने में प्रमाण माने गये हैं अर्थात् जगज्जन्मादिकारण ब्रह्म का ज्ञान शास्त्रप्रमाण से ही होता है जिस शास्त्र का उदाहरण 'जन्मादि' सूत्र में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस वाक्य द्वारा दिया गया है। शङ्का—जब पूर्वसूत्र में ही ऐसे शास्त्र के उदाहरण द्वारा ब्रह्म में शास्त्रयोनित्व दिखला दिया गया तो फिर इस सूत्र को पृथक क्यों बनाया ? समाधान—जगज्जन्मादिलिङ्ग से अनुमान स्वतन्त्र (शास्त्रनिरपेक्ष) होकर ब्रह्म की सिद्धि कराता है, ऐसी शङ्का किसी के मन में हो सकती है उसी शङ्का के निवारणार्थ यह पृथक सूत्र बनाया गया है अर्थात् 'जन्मादि' सूत्र में शब्द से शास्त्र का ग्रहण नहीं होता। अतः जगज्जन्मादिकारण ब्रह्म की सिद्धि के लिए केवल अनुमान ही प्रमाण है ऐसी शङ्का किसी के मन में हो सकती थी जिसे दूर करने के लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र बनाना पड़ा ॥३॥

॥ शास्त्रयोनित्वाधिकरण समाप्त ॥

कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते ? यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य-

---

वेदान्ताः सिद्धब्रह्मपराः ? उत कार्यपराः ? इति निष्फलत्व[1]सापेक्षत्वयोः प्रसङ्गाप्रसङ्गाभ्यां संशये पूर्वसूत्रे द्वितीयवर्णकेनाक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षमाह—कथं पुनरित्यादिना। 'सदेव सोम्य' (छा० ६-२-१) श्रुत्यादीनां सर्वात्मकत्वादिस्पष्टब्रह्मलिङ्गानां ब्रह्मणि समन्वयोक्तेः, श्रुत्यादिसङ्गतयः। पूर्वपक्षे वेदान्तेषु मुमुक्षुप्रवृत्त्यसिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः। कथमित्याक्षेपे हेतुः—यावतेति। यतो जैमिनिसूत्रेण शास्त्रस्य वेदस्य क्रियापरत्वं दर्शितमतोऽक्रियार्थत्वाद्वेदान्तानामानर्थक्यं [2]फलवदर्थशून्यत्वं प्राप्तमित्यन्वयः। सूत्रस्यायमर्थः—[3]प्रथमसूत्रे तावद्वे[4]दस्याध्ययनकरणकभावनाविधिभाव्यस्य फलवदर्थपरत्वमुक्तम्। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै० १-१-२) इति द्वितीयसूत्रे धर्मे कार्ये चोदना प्रमाणमिति

प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त श्रुतिवाक्यों का विचार किया गया है। उसके प्रारम्भिक तीन अधिकरणों का सार निम्नाङ्कित है।

१. जिज्ञासाधिकरण

१. **संगति**—जिज्ञासाधिकरण पहला है इससे पूर्व कोई अधिकरण नहीं है। अतः इसकी अधिकरण संगति बतलाना आवश्यक नहीं है।

२. **विषय**—जिज्ञासाधिकरण का विचारणीय विषय वेदान्त-शास्त्र है।

३. **संशय**—ब्रह्म विचारणीय है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—अध्यास का निरूपण न होने से सन्देह तथा फल भी नहीं दीखते, अतः ब्रह्म विचारणीय नहीं है।

५. **सिद्धान्त**—अहंबुद्धि में अध्यास सिद्ध होता है और श्रुति ने ब्रह्म को असङ्ग कहा है, अतः ब्रह्म के विषय में सन्देह है और ब्रह्मज्ञान से मोक्षरूप फल भी होता है, इसलिए श्रुति के आधार पर ब्रह्म का विचार करना चाहिए।

२. जन्माद्यधिकरण

१. **संगति**—जिज्ञास्य ब्रह्म का जब लक्षण ही नहीं बनता फिर स्वरूप की सिद्धि कैसे ? ऐसी स्थिति में ब्रह्म विचार का विषय कैसे होगा ? इस प्रकार आक्षेप होने पर जन्माद्यधिकरण लिखना पड़ा।

२. **विषय**—जन्माद्यधिकरण में ब्रह्मलक्षण पर विचार किया गया है।

३. **संशय**—ब्रह्म का लक्षण है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—जन्मादि जगन्निष्ठ है और सत्यादि पद का अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए ब्रह्म का लक्षण नहीं बन सकता है।

५. **सिद्धान्त**—ब्रह्म जगज्जन्मादि का कारण है। अतः जगज्जन्मादिकारणता ब्रह्म में है। जैसे रज्जुसर्पादि के जन्म का कारण रज्जु है ऐसे ही जगज्जन्मादि कारण अधिष्ठान रूप से ब्रह्म है। वैसे ही लौकिकवाक्यों की भाँति **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि वाक्य भी लक्षण से ब्रह्म का बोध कराते हैं।

---

१. प्रत्यक्षादिप्रमाणसापेक्षत्वम्। २. फलं स्वर्गादिस्तद्वानर्थो धर्म इत्यर्थः। ३. अथातो धर्मजिज्ञासेत्यत्र। ४. अध्ययनेन वेदं भावयेदिति वाक्यार्थः।

मतवर्थानाम्' (जै० १।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम् । अतो वेदान्ता-

'वेदप्रामाण्यव्यापकं कार्यपरत्वमवसितम् । तत्र 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्याद्यर्थवादानां धर्मे प्रामाण्यमस्ति न वेति संशये आम्नायप्रामाण्यस्य क्रियार्थत्वेन 'व्याप्तत्वात्, अर्थवादेषु धर्मस्याप्रतीतेः, अक्रियार्थानां तेषामानर्थक्यं निष्फलार्थत्वम् । न चाध्ययनविध्युपात्तानां निष्फले सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यं युक्तं, तस्माद-नित्यमेषां प्रामाण्यमुच्यते । 'व्यापकाभावाद्व्याप्यं प्रामाण्यं नास्त्येवेति यावत् । एवं पूर्वपक्षेऽपि 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १-२-७) इति सूत्रेण सिद्धान्तमाह—क्रियापरत्वमिति । अनित्यमिति प्राप्ते दर्शितमित्यर्थः । वायुर्वै क्षिप्रतमगामिनी देवता, तद्देवताकं कर्म क्षिप्रमेव फलं दास्यति, इत्येवं विधेयार्थानां स्तुतिरूपार्थेन द्वारेण 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यादि विधिवाक्येनैकवाक्यत्वादर्थवादाः सफलाः स्युः । 'स्तुतिलक्षणया सफलकार्यपरत्वात् प्रमाणमर्थवादा

३. शास्त्रयोनित्वाधिकरण

(प्रथम वर्णक)

१. **संगति**—निखिल जगत् का कारण होने से आप ने ब्रह्म में सर्वज्ञत्व कहा, वह ठीक नहीं है क्योंकि जगदन्तःपाती वेद भी है और वह नित्य है, फिर तो निखिलजगत्कारणत्व ब्रह्म में कहना अयुक्त है ऐसा आक्षेप होने पर शास्त्रयोनित्वाधिकरण प्रारम्भ करते हैं ।

२. **विषय**—शास्त्रयोनित्वाधिकरण में वेद का कर्ता-ब्रह्म का विचार किया गया है ।

३. **संशय**—वेद का कर्ता ब्रह्म है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—**'वाचा विरूपनित्यया'** इस वेदवाक्य में वेद को नित्य कहा गया है, उसका कर्ता कोई नहीं हो सकता । अतः वेद का कर्ता ब्रह्म नहीं है ।

५ **सिद्धान्त**—वेद का कर्ता ब्रह्म ही है क्योंकि वेद परमेश्वर का श्वास-निःश्वास है, नित्यता तो समानता को लेकर कही गयी है । सब का प्रकाशक वेद का कर्ता होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है ।

(द्वितीय वर्णक)

१. **संगति**—पूर्वाधिकरण में सम्पूर्ण जगत् का कारणत्व ब्रह्म का लक्षण किया, वह तो प्रमाणान्तर गम्य है ऐसी शङ्का हो सकती है अतः **'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'** इस नियम के अनुसार लक्षण और प्रमाण दोनों ही ब्रह्म के निर्णायक हैं । अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की एकफलकत्व संगति है । अर्थात् पूर्व अधिकरण से ब्रह्म का लक्षण किया और इस अधिकरण से ब्रह्म के विषय में प्रमाण प्रस्तुत किया गया ।

२. **विषय**—यहाँ पर ब्रह्म विषयक प्रमाणों का विचार किया गया है ।

३. **संशय**—सिद्ध ब्रह्म शास्त्रैकगम्य है अथवा अन्य प्रमाण का भी विषय है ।

४. **पूर्वपक्ष**—घटादि की भाँति सिद्धवस्तु होने से ब्रह्म वेदभिन्न प्रमाण से भी जाना जा सकता है ।

५. **सिद्धान्त**—रूप, लिङ्गादि से रहित होने के कारण वेदभिन्न प्रमाण से ब्रह्म जानने योग्य नहीं है । साथ ही **'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'** इत्यादि श्रुतिवाक्य में ब्रह्म को वेदैकगम्य बतलाया गया है । अतः वेदभिन्न किसी भी प्रमाण से ब्रह्म नहीं जाना जा सकता ।

१. वेदप्रामाण्यस्य व्यापकं यत्कार्यपरत्वं तत्स्थितम् । २. व्याप्तिविशिष्टत्वात् । ३. कार्यपरत्वाभावात् ।
४. क्रतोः स्तुतौ लक्षणतया ।

नामानर्थक्यं, अक्रियार्थत्वात् । कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वं, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा । नहि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं सम्भवति,

---

इति यावत् । नन्वध्ययनविधिगृहीतानां वेदान्तानामानर्थक्यं न युक्तमित्यत आह—कर्त्रिति । न वयं वेदान्तानामानर्थक्यं साधयामः किन्तु लोके 'सिद्धस्य मानान्तरवेद्यत्वान्निष्फलत्वाच्च सिद्धब्रह्मपरत्वे तेषां मानान्तरसापेक्षत्वनिष्फलत्वयोः प्रसङ्गादप्रामाण्यापातात्, कार्यशेषकर्तृदेवताफलानां प्रकाशनद्वारा कार्यपरत्वं वक्तव्यमिति ब्रूमः । तत्र ²त्वंतत्पदार्थवाक्यानां कर्तृदेवतास्तावकत्वं, विविदिषादिवाक्यानां फलस्तावकत्वम् । ननु कर्मविशेषमनारभ्य प्रकरणान्तराधीतानां वेदान्तानां कथं तच्छेषत्वं ? मानाभावादित्यरुच्या पक्षान्तरमाह—उपासनेति । मोक्षकामोऽसद्ब्रह्माभेदमारोप्य 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०) इत्युपासीत इत्युपासनाविधिः, आदिशब्दाच्छ्³रवणादयः । तत्कार्यपरत्वं वा वक्तव्यमित्यर्थः । ननु श्रुतं ब्रह्म विहायाश्रुतं कार्यपरत्वं किमर्थं वक्तव्यमिति तत्राह—नहीति । परितः समन्तान्निश्चयेन स्थितं परिनिष्ठितं कृत्यनपेक्षम् । सिद्धमिति यावत् । तस्य प्रतिपादनमज्ञातस्य

ललिता प्रथम वर्णक

शङ्का—ब्रह्म को शास्त्रप्रमाणगम्य कैसे कहा गया क्योंकि जैमिनी सूत्रानुसार "वेद क्रियाबोधक है और जिन वेदवाक्यों का क्रिया के साथ साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध न हो, ऐसे वाक्य अनर्थक माने जाते हैं," इस नियम के अनुसार शास्त्र को क्रियापरक बतलाया गया है। वेदान्त से क्रिया का बोध यदि नहीं होता है, तो वेदान्त अनर्थक हो जायगा, कदाचित् साक्षात् क्रिया न रहने पर भी कर्ता जीव और देवता, ईश्वरादि के प्रकाशक होने से वेदान्त को क्रियाविधि का शेष मानकर सार्थक बनाया जा सकता है अथवा वेदान्त में उपासनादि क्रियान्तर का विधान है उसी के अङ्गरूप से जीव और ईश्वर का वर्णन अन्य श्रुतियों में भी किया गया है। अतः उपासनाविधि का शेष कथञ्चित् वेदान्त को मानकर उसे सार्थक बनाया जा सकता है। सिद्ध वस्तु तो सदा प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय होती रहती है। इसलिए वेदान्तवाक्य द्वारा परिनिष्ठित सिद्धवस्तु ब्रह्म का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। साथ ही ब्रह्म न हेय है, न उपादेय है; ऐसी वस्तु के प्रतिपादन से कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। अतः जिस प्रकार **'बर्हिषि रजतं न देयम्'** इस वाक्य द्वारा बर्हि याग में रजत दान का निषेध बतलाया गया है जिसकी निन्दा **'सोऽरोदीत्'** इस वाक्य से की गयी है। इस प्रकार सफल निषेध के शेष की भाँति वेदान्त को विध्यादि का शेष माना जा सकता है। पूर्वमीमांसा दर्शन के प्रथमाध्याय में अर्थवाद विचार के बाद मन्त्रों की सार्थकता के लिए निर्णय दिया गया है कि प्रयोगसमवेत अर्थ का स्मारक होने से मन्त्र भी कर्मविधि शेष है। अतः **'इषेत्वा'** इस मन्त्र में **'छिनद्मि'** का अध्याहार कर शाखाछेदन क्रिया अर्थ का बोध होता है ऐसे ही **'अग्निर्मूर्द्धा'** इत्यादि में क्रियासाधन देवतादि की प्रतीति होती है। वे मन्त्र श्रुत्यादि प्रमाणों के द्वारा कर्म में विनियुक्त होते हैं। मन्त्र उच्चारण का फल जहाँ तक सम्भव हो दृष्ट ही ग्रहण करना उचित होगा दृष्ट सम्भव हो तो अदृष्ट की कल्पना करना असंगत है अर्थवाद स्तावक होने से पदार्थ

---

१. घटादेः । २. 'योऽन्तर्हृदये ज्योतिर्मयः पुरुषः' इत्यादीनि त्वंपदार्थवाक्यानि । 'सदेव सोम्येदम्' इत्यादीनि ततपदार्थवाक्यानि, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादीनि 'तत्त्वमसी'त्यादिवाक्यजातसहितानि विविदिषावाक्यानि । ३. श्रवणादय इति—गृह्यन्ते तथा चेति शेषः ।

प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः । तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात् । अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम् । मन्त्राणां च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम् ।

वेदेन ज्ञापनं, तन्न सम्भवति, 'मानान्तरयोग्येऽर्थे वाक्यस्य 'संवादे सत्यनुवादकत्वात्, 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इति वाक्यवत् । 'विसंवादे च बोधकत्वात्, 'आदित्यो यूपः' इति वाक्यवदित्यर्थः । सिद्धो न वेदार्थः, मानान्तरयोग्यत्वाद्घटवदित्युक्त्वा निष्फलत्वाच्च तदेत्याह—तदिति । सिद्धज्ञापने हेयोपादेयागोचरे फलाभावाच्च तन्न सम्भवतीत्यर्थः । फलं हि सुखावाप्तिर्दुःख'हानिश्च । तच्च 'प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां साध्यम् । 'ते चोपादेयस्य 'प्रवृत्तिप्रयत्नकार्यस्य हेयस्य निवृत्तिप्रयत्नकार्यस्य ज्ञानाभ्यां जायेते, न सिद्धज्ञानादिति भावः । तर्हि सिद्धबोधिवेदवादानां साफल्यं कथम् ? इत्याशङ्क्य 'आम्नायस्य' इत्यादिसंग्रहवाक्यं विवृणोति—अत एवेति । सिद्धवस्तुज्ञानात् फलाभावादेवेत्यर्थः । 'देवैर्निरुद्धः सोऽग्निररोदीत्' इति वाक्यस्याश्रुजत्वेन रजतस्य निन्दाद्वारा' 'बर्हिषि न देयं' इति सफलनिषेधशेषत्ववत् वेदान्तानां विध्यादिशेषत्वं वाच्यमित्यर्थः । ननु तेषां मन्त्रवत् स्वातन्त्र्यमस्तु नार्थवादवद्विध्येकवाक्यत्वमित्याशङ्क्य दृष्टान्तासिद्धिमाह—मन्त्राणां चेति । प्रथमाध्याये प्रमाणलक्षणेऽर्थवादचिन्तानन्तरं मन्त्रचिन्ता कृता—'इषे त्वा' (तै० सं० १-१-१) इति मन्त्रे 'छिनद्मि' इत्यध्याहाराच्छाखाच्छेदनक्रियाप्रतीतेः, 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादौ च क्रियासाधनदेवतादिप्रतीतेः, मन्त्राः श्रुत्यादिभिः क्रतौ विनियुक्ताः, ते किमुच्चारणमात्रेणादृष्टं कुर्वन्तः क्रतावुपकुर्वन्ति उत दृष्टेनैवार्थस्मरणेनेति सन्देहे चिन्तादिनाप्यध्ययनकालावगतमन्त्रार्थस्य स्मृतिसम्भवाददृष्टार्था मन्त्रा इति प्राप्ते सिद्धान्तः—'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० १-२-४०) इति लोकवेदयोर्वाक्यार्थस्याविशेषान्मन्त्रवाक्यानां दृष्टेनैव स्वार्थप्रकाशनेन क्रतूपकारकत्वसम्भवात्, दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनानुपपत्तेः, फलवदनुष्ठानापेक्षितेन क्रियातत्साधनस्मरणेन द्वारेण मन्त्राणां कर्माङ्गत्वम् । 'मन्त्रैरेवार्थः स्मर्तव्यः'

है तत्पश्चात् विधिवाक्य के साथ उसकी एकवाक्यता होती है । इसलिए उसमें पदैकवाक्यत्व है किन्तु मन्त्रों का विधिवाक्य के साथ में वाक्यार्थज्ञान द्वारा वाक्यैकवाक्यता मानी जाती है । कथञ्चित् कर्म प्रकरण से वेदान्त का प्रकरण भिन्न होने पर कर्मशेष वेदान्त को न भी माना जाय फिर भी क्रिया के साधनों का कथन करने के कारण कर्म से सम्बद्ध तो माना ही जा सकता है । कहीं भी वेदवाक्य विधिवाक्य के साथ सम्बन्ध किये बिना न सार्थक देखा गया है और न युक्तिसंगत ही है । दधि सिद्धवस्तु है फिर भी होम क्रिया का साधन होने पर 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में उसे भी साध्य मानकर होमाङ्गरूप से दधि का विधान किया है किन्तु निष्क्रियब्रह्म तो किसि भी प्रकार से साध्य हो ही नहीं सकता, फिर भला स्वतन्त्ररूप से वह विधेय कैसे कहा जा सकेगा ? इसलिए किसी न किसी प्रकार से कर्म के साथ वेदान्त का सम्बन्ध स्थापित करके ही उसे

---

१. प्रत्यक्षादि । २. प्रत्यक्षादिभिः साम्ये सति वेदान्तवाक्यमप्रमाणमिति पक्षसाध्यौ योजनीयावेवमुत्तरत्रापि । ३. तैर्विरुद्धे सति । ४. हानिश्चेति—स च स्वर्ग एव यदाहुः 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । स्वाभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्' । ५. प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यामिति यदाहुः-प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते । ६. प्रवृत्तिनिवृत्ती च । ७. प्रवृत्तिरूपयत्नः । ८. तव्यधानकयागे ।

४. समन्वयाधिकरणम् (सू० ४)

(४) तत्तु समन्वयात् ॥४॥

वेदान्ताः कर्तृदेवादिपरा ब्रह्मपरा उत। अनुष्ठानोपयोगित्वात्कर्त्रादिप्रतिपादकाः ॥
भिन्नप्रकरणाल्लिङ्गषट्काच्च ब्रह्मबोधकाः। सति प्रयोजनेऽनर्थहानेऽनुष्ठानतोऽत्र किम् ॥
प्रतिपत्तिं विधित्सन्ति ब्रह्मण्यवसिता उत। शास्त्रत्वात्ते विधातारो मननादेश्च कीर्तनात् ॥
नाकर्तृतन्त्रेऽस्ति विधिः शास्त्रत्वं शंसनादपि। 'मननादेः पुरा बोधाद्ब्रह्मण्यवसितास्ततः ॥

न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा। न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः। तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते—

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद्ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं

इति नियमस्त्वदृष्टार्थ इति। तथा चार्थवादानां स्तुतिपदार्थद्वारा पदैकवाक्यत्वं विधिभिः, मन्त्राणां तु वाक्यार्थज्ञानद्वारा तैर्वाक्यैकवाक्यत्वमिति विभागः। नन्वस्तु कर्मप्रकरणस्थवाक्यानां विध्येकवाक्यत्वं, वेदान्तानां तु सिद्धे प्रामाण्यं किं न स्यादिति तत्राह—न क्वचिदिति। वेदान्ता विध्येकवाक्यत्वेनैवार्थवन्तः, सिद्धार्थवेदकत्वात्, मन्त्रार्थवादादिवदित्यर्थः। अन्यत्रादृष्टापि वेदान्तेषु कल्प्यतामिति तत्राह—उपपन्ना वेति। नेत्यनुषङ्गः। सिद्धे फलाभावस्योक्तत्वादिति भावः। तर्हि ब्रह्मण्येव स्वार्थे विधिः कल्प्यतां कृतं वेदान्तानां विध्यन्तरशेषत्वेनेत्यत आह—न चेति। ननु 'दध्ना जुहोति' इति सिद्धे दधनि विधिर्दृष्टस्तत्राह—क्रियेति। दध्नः क्रियासाधनस्य प्रयुज्यमानतया साध्यत्वाद्विधेयता, निष्क्रियब्रह्मणः कथमप्यसाध्यत्वान्न विधेयत्वमित्यर्थः। भाट्टमतमुपसंहरति—तस्मादिति। स्वयमेवार्थवित् वदन्पक्षान्तरमाह—अथेति।

सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्द इति। तद्ब्रह्म वेदान्तप्रमाणकमिति प्रतिज्ञातेऽर्थे हेतुं पृच्छति

सार्थक बनाया जा सकता है, वह है कर्म को कर्ता और देवता को आवश्यकता पड़ती है। जीवबोधक वेदान्तवाक्य कर्ता के स्वरूप का प्रकाशक है और ईश्वरबोधक वेदान्तवाक्य देवतादि स्वरूप का प्रकाशक है इस प्रकार वेदान्त को क्रियाविधि का शेष माना जा सकता है। कथञ्चित् प्रकरणान्तर के भय से यह स्वीकार न भी किया जाय, तो भी वेदान्तवाक्य में जो उपासनायें कही गयी हैं वे भी मानसकर्म ही तो हैं। उन उपासनाओं का शेष कर्तृदेवतादि स्वरूपप्रतिपादन द्वारा वेदान्त को माना जा सकता है—

४. समन्वयाधिकरण
(प्रथम वर्णक)

१. **संगति**—ब्रह्म में शास्त्रप्रमाणकत्व आप ने कैसे कहा, जब कि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० १-२-१) इस वाक्य से महर्षि जैमिनी ने शास्त्र में क्रियापरत्व दिखलाया

---

१. मननादेर्बोधात्पुरैव विधानादिति शेषः।

वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते । कथम् ? समन्वयात् । सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि

—कथमिति । हेतुमाह—समिति । अन्वयतात्पर्यविषयत्वं तस्मादित्येव हेतुः । तात्पर्यस्य सम्यक्त्वं अखण्डार्थविषयकत्वं सूचयितुं सम् पदं प्रतिज्ञान्तर्गतमेव । तथा चाखण्डं ब्रह्म वेदान्तजप्रमाविषयः, वेदान्ततात्पर्यविषयत्वात्, यो यद्वाक्यतात्पर्यविषयः स तद्वाक्यप्रमेयः, यथा कर्मवाक्यप्रमेयो धर्म इति प्रयोगः । वाक्यार्थस्याखण्डत्वं-असंसृष्टत्वम् । वाक्यस्य चाखण्डार्थकत्वं-स्वपदोपस्थिता ये पदार्थास्तेषां यः संसर्गस्तदगोचरप्रमाजनकत्वम् । न चेदमप्रसिद्धम् । प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्यानां लोके लक्षणया चन्द्रादिव्यक्तिमात्रप्रमाहेतुत्वात् । सर्वपदलक्षणा चाविरुद्धा, सर्वैरर्थवाक्पदैरेकस्याः

है, ऐसा आक्षेप होने पर समन्वयाधिकरण लिखना पड़ा ।

२. **विषय**—इस अधिकरण में सभी वेदान्तवाक्य विचार के विषय हैं ।

३. **संशय**—वेदान्त कर्ता एवं देवतादि के प्रकाशक होने से क्रिया के शेष हैं, अथवा नित्यसिद्ध-ब्रह्मप्रतिपादक होने से ब्रह्मपरक हैं ? ऐसा सन्देह होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—वेदान्त अनुष्ठानोपयोगी होने से कर्ता, देवतादि अर्थ के ही बोधक हैं ।

५. **सिद्धान्त**—वेदान्त कर्मकाण्ड से भिन्न प्रकरण है । अतः वे कर्मशेष नहीं, किन्तु ब्रह्मबोधक हैं, साथ ही तात्पर्यनिर्णायक षड्विधलिङ्गों के कारण भी वेदान्त ब्रह्मतत्त्व के बोधक हैं । जब अनर्थ की निवृत्ति वेदान्तज्ञान का स्वतन्त्र प्रयोजन है, फिर भला क्रिया का शेष इसे क्यों माना जाय ।

(द्वितीय वर्णक)

१. **संगति**—मान लिया कि ब्रह्म शास्त्रप्रमाण से सिद्ध है फिर भी यूपादि की भाँति विधि के शेष रूप से ही शास्त्र ने ब्रह्म को बतलाया है । ऐसा प्रसङ्ग उपस्थित होने पर समन्वयाधिकरण लिखना पड़ा । अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की प्रसङ्ग संगति है ।

२. **विषय**—वेदान्त में स्वातन्त्र्य का विचार किया गया है ।

३. **संशय**—वेदान्त उपासनाविधि के विषयरूप से ब्रह्म को बतलाते हैं ? अथवा स्वतन्त्ररूप से ? ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—प्रवृत्त्यादि के बोधक वाक्य को शास्त्र कहते हैं, सिद्ध अर्थ में तो शक्तिग्रह होता ही नहीं, ऐसी स्थिति में विधिविषयरूप से ही वेदान्त शास्त्र ब्रह्म का समर्पक है ।

५. **सिद्धान्त**—सिद्धवस्तु में विधि की प्रवृत्ति नहीं होती और हित का उपदेशक होने से भी वेदान्त शास्त्र कहा गया है । ब्रह्मसाक्षात्कार से पूर्व मनन एवं निदिध्यासन का विधान है, अतः अद्वयब्रह्म में ही वेदान्त शास्त्र का पर्यवसान माना गया है, क्रिया में नहीं ।

४. तत्तु समन्वयात् (ललिता)

अतः आप ब्रह्म के शास्त्रप्रमाणगम्य होने का दावा नहीं कर सकते ऐसा पूर्वपक्ष होने पर भगवान् वेदव्यास ने '**तत्तु समन्वयात्**' यह सूत्र बनाया । '**तु**' शब्द पूर्वपक्ष व्यावृत्ति के लिए है अर्थात् आप की शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, जगदुत्पत्ति-स्थिति-लयकारण ब्रह्म वेदान्तशास्त्र से ही जाना जाता है । कैसे ? सभी वेदान्तवाक्य तात्पर्यरूप से उसी अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण अद्वयब्रह्म में ही समनुगत हैं । सम् उपसर्ग का अर्थ सम्यक्त्व होता है जो अखण्डार्थ-

तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० २।१।१) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१६)

स्तुतेर्लक्ष्यत्वाङ्गीकारात् । तथा सत्यज्ञानादिपदैरखण्डं ब्रह्म भातीति न पक्षासिद्धिः । नापि हेत्वसिद्धिः, उपक्रमादिलिङ्गैर्वेदान्तानामद्वितीयाखण्डब्रह्मणि तात्पर्यनिर्णयात् । तत्र छान्दोग्यषष्ठे उपक्रमं दर्शयति—सदेवेति । उद्दालकः 'पुत्रमुवाच—हे सोम्य प्रियदर्शन, इदं सर्वं जगत्, अग्रे-उत्पत्तेः प्राक्काले सदबाधितं ब्रह्मैवासीत् । एवकारेण जगतः पृथक्सत्ता निषिध्यते । सजातीयविजातीयस्वगतभेद-निरासार्थं 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) इति पदत्रयम् । एवमद्वितीयं ब्रह्मोपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६-८-७) इत्युपसंहरति । इदमुपक्रमोपसंहारैकरूप्यं तात्पर्यलिङ्गं, यथा 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८ ७) इति नवकृत्वोऽभ्यासः । रूपादिहीनाद्वितीयब्रह्मणो मानान्तरायोग्यत्वादपूर्वत्वमुक्तम्-'अत्र वाव किल सत् सोम्य न निभालयसे' इति । संघाते स्थितं प्रत्यग्ब्रह्म न जानासीत्यर्थः । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' (छा० ६-१४-२) इति ब्रह्मज्ञानात्फलमुक्तं विदुषः । तस्य यावत्कालं देहो न विमोक्ष्यते तावदेव देहपातपर्यन्तो विलम्बः । अथ देहपातानन्तरं विद्वान् ब्रह्म सम्पत्स्यते । विदेहकैवल्यमनुभवतीत्यर्थः । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (छा० ६-३ २) इत्याद्य-द्वितीयब्रह्मज्ञानार्थोऽर्थवादः । मृदादिदृष्टान्तैः प्रकृत्यतिरेकेण विकारो नास्तीत्युपपत्तिरुक्ता । एवं षड्विधानि तात्पर्यलिङ्गानि व्यस्तानि समस्तानि वा प्रतिवेदान्तं दृश्यन्त इत्यैतरेयोपक्रमवाक्यं पठति —आत्मा वा इति । बृहदारण्यके मधुकाण्डोपसंहारवाक्यं सदात्मनो निर्विशेषत्वार्थमाह—तदेतदिति । मायाधिष्ठानरूपं तद्ब्रह्म । एतदपरोक्षम् । अपूर्वं कारणशून्यम् । अनपरं कार्यरहितम् । अनन्तरं आत्यन्तरमस्य नास्तीत्यनन्तरम् । एकरसमित्यर्थः । अबाह्यं अद्वितीयम् । तस्यापरोक्षत्वमुपपा-दयति—अयमिति । सर्वमनुभवतीति सर्वानुभूः । चिन्मात्रमित्यर्थः । ऋग्यजुःसामवाक्यान्युक्त्वा

विषयक है । इस प्राकर अखण्ड ब्रह्म वेदान्तप्रमाणजन्य ज्ञान का विषय है क्योंकि उसी में वेदान्त का तात्पर्य है । जो जिस वाक्य का तात्पर्यविषय होता है वह उस वाक्य का प्रमेय माना जाता है, जैसे कर्मवाक्य का प्रमेय धर्म है । श्रुति के पद से उपस्थित जो भी पदार्थ हैं उनके संगर्ग को न बतलाने वाला ज्ञान अखण्डार्थ कहा जाता है और ऐसे प्रमा के जनकवाक्य को अखण्डार्थक कहते हैं । छान्दोग्योपनिषद् षष्ठाध्याय में उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु से कहा कि 'हे सोम्य ! यह सम्पूर्ण जगत् उत्पत्ति से पूर्व अबाधित सत्यब्रह्म ही था ।' एवकार से जगत् की पृथक् सत्ता का निषेध किया गया है । 'एकमेवाद्वितीयम्' इस वाक्य में तीन पद हैं जो सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद का निरास करते हैं । इस प्रकार अद्वयब्रह्म से प्रसंग प्रारम्भ कर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इससे उपसंहार करते हैं । उपक्रम उपसंहार की एकरूपता ग्रन्थ का तात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग माना गया है वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का नौ बार अभ्यास भी जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादक है । रूपादिहीन होने के कारण अद्वयब्रह्म वेदान्तवाक्य को छोड़कर किसी अन्य प्रमाण से जानने योग्य नहीं है । यह उसकी अपूर्वता है जिसे उद्दालक ऋषि ने कहा है 'हे सोम्य ! इस संघात में स्थित अन्तरात्मारूप ब्रह्म को तुम नहीं जानते हो ।' 'ज्ञानी को प्रारब्धक्षय तक ही मोक्षप्राप्ति में विलम्ब है'

१. श्वेतकेतुम् । २. तं प्रत्येमेति शेषः ।

'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११) इत्यादीनि। नच तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। नच तेषां कर्तृदेवतादिस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते 'तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४) इत्यादि क्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः। न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात्। यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः, हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः,

आथर्वणवाक्यमाह—ब्रह्मैवेदमिति यत्पुरस्तात्पूर्वदिग्वस्तुजातमिदमब्रह्मवाविदुषां भाति तदमृतं ब्रह्मैव वस्तु इत्यर्थः। आदिपदेन 'सत्यं ज्ञानम्' (तै० २-१)इत्यादिवाक्यानि गृह्यन्ते। नन्वस्तु ब्रह्मणस्तात्पर्यविषयत्वं, वेदान्तानां [1]कार्यमेवार्थः किं न स्यादिति तत्राह—न चेति। वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्ये निश्चीयमाने कार्यार्थत्वं न युक्तं 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायादित्यर्थः। यदुक्तमर्थवादन्यायेन वेदान्तानां कर्त्रादिस्तावकत्वमिति तत्राह—न च तेषामिति। तेषां [3]कर्मशेषस्तावकत्वं न भाति किन्तु ज्ञानद्वारा कर्म तत्साधननाशकत्वमेव। तत्र विद्याकाले कः कर्ता केन करणेन कं विषयं पश्येत् इति श्रुतेरित्यर्थः। अर्थवादानां तु स्वार्थे फलाभावात्[4]स्तुतिलक्षणतेति भावः। यदुक्तं सिद्धत्वेन मानान्तरवेद्यं ब्रह्म न वेदार्थ इति तत्राह—न च परीति। 'तत्त्वमसि' इति शास्त्रमन्तरेणेति सम्बन्धः। धर्मो न वेदार्थः, साध्यत्वेन पाकवन्मानान्तरवेद्यत्वात्। यदि वेदं विना धर्मस्यानिर्णयान्न मानान्तरवेद्यता तदा ब्रह्मण्यपि तुल्यम्। यच्चोक्तं निष्फलत्वाद्ब्रह्म न वेदार्थ इति तदनूद्य परिहरति—यत्त्वित्यादिना। रहितत्वाद्भिन्नत्वात्। ब्रह्मण इति शेषः। यदप्युक्तम्—'उपासनापरत्वं

इस वाक्य से देहपात के बाद विद्वान् विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है, यह फल बतलाया गया। 'इस जीवात्मरूप से देह में प्रवेश कर' इस वाक्य द्वारा अद्वयब्रह्मविज्ञानार्थ अर्थवाद द्योतित होता है। मृदादि दृष्टान्तों से कारण से भिन्न कार्य का निषेधरूप उपपत्ति कही गयी है। ऐसे षड्विध तात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग कहीं व्यस्तरूप में कहीं समस्तरूप में सभी श्रुतियों में दिखाई पड़ते हैं। अत एव ऐतरेयक उपक्रमवाक्य को पढ़ते हैं 'सृष्टि से पूर्व आत्मा ही था।' बृहदारण्यक मधुकाण्ड उपसंहारवाक्य भी 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' यह वाक्य आत्मा को निर्विशेष बतलाता है। माया से बहुरूप में प्रतीत होने वाला वह ब्रह्म अपरोक्ष है, उसका कोई कारण नहीं और न कार्य ही है। वह अन्तर-बाह्यभाव से शून्य एकरस है। यह आत्मा ब्रह्मस्वरूप है जो सबका प्रकाशक है। अज्ञानियों को जो ब्रह्म नानारूप में भासता है वह अमृतस्वरूप ब्रह्म सभी दिशाओं में है। जब वेदान्तवाक्यगत सभी पदों का अर्थ ब्रह्मस्वरूप निश्चित हो गया तो कार्य में ब्रह्म का समन्वय मानना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर श्रुतहानि और अश्रुत की कल्पना करनी पड़ती है। वैसे ही, वेदान्तवाक्यों को कर्तास्वरूपप्रतिपादक मानना भी ठीक नहीं क्योंकि 'तत्केन कं पश्येत्' इस वाक्य द्वारा क्रिया, कारक एवं फल का निराकरण सुना जाता है। सिद्धवस्तु में प्रत्यक्षादि-प्रमाण विषयत्व देखा जाता है, वह दोष भी ब्रह्म में नहीं आ सकेगा क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के बिना ब्रह्मात्मैक्यबोध अन्य किसी भी प्रमाण से हो नहीं सकता।

१. लक्षणयेति शेषः। २. शक्त्येति शेषः। ३. कर्तृदेवते फलस्तावकत्वम्। ४. स्तुतिलक्षणकतेत्यर्थः।

देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। ननु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं सम्भवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। नह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः सम्भवोऽस्ति। येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं

वेदान्तानाम्' इति तत्र किं प्राणपञ्चाग्न्यादिवाक्यानामुत सर्वेषाम्? इति। तत्राद्यमङ्गीकरोति—देवतादीति। ज्येष्ठत्वादिगुणः 'फलं चादिशब्दार्थः। न द्वितीयः, विधिशून्यानां 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादीनां स्वार्थे फलवतामुपासनापरत्वकल्पनाऽयोगात्। किञ्च 'तदर्थस्य ब्रह्मणस्तच्छेषत्वं ज्ञानात्प्रागूर्ध्वं वा? आद्ये, 'अध्यस्तगुणवतस्तस्य तच्छेषत्वेऽपि न द्वितीय इत्याह—ननु तथेति। प्राणादिदेवतावदित्यर्थः। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येकत्वे ज्ञाते सति हेयोपादेयशून्यतया ब्रह्मात्मनः 'फलाभावात्, उपास्योपासकद्वैतज्ञानस्य 'कारणस्य नाशाच्च नोपासनाशेषत्वमित्याह—एकत्व इति। द्वैतज्ञानस्य संस्कारबलात्पुनरुदये विधानमिति नेत्याह—नहीति। दृढस्येति शेषः। भ्रान्तित्वानिश्चयो दार्ढ्यं, 'संस्कारोत्थं तु भ्रान्तित्वेन निश्चितं न विधिनिमित्तम्। येनेति। उपासनायां कारणस्य सत्त्वेनेत्यर्थः। वेदप्रामाण्यस्य व्यापकं क्रियार्थकत्वमनुवदति—यद्यपीति। कर्मकाण्डेऽर्थवादादीनामित्यर्थः। तथा च 'व्यापकाभावाद्वेदान्तेषु व्याप्याभावानुमानमिति भावः। 'वेदान्ता न स्वार्थे मानं, अक्रियार्थत्वात्, 'सोऽरोदीत्' इत्यादिवदित्यनुमाने निष्फलार्थकत्वमुपाधिरित्याह—तथापीति। अर्थवादानां निष्फलस्वार्थमानत्वेऽपीत्यर्थः। तद्विषयस्य '°तत्कारणस्य। स्वार्थे ब्रह्मात्मनीति शेषः। सफलज्ञानकरणत्वेन वेदान्तानां

शङ्का—सिद्ध तथा आत्मा होने के कारण ब्रह्म न हेय है और न उपादेय ही है, ऐसे पदार्थ के उपदेशकवाक्य निष्फल माने जायेंगे। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है। हेय-उपादेयशून्य ब्रह्म का आत्मभाव से साक्षात् हो जाने पर ही सम्पूर्ण क्लेशों का नाश होता है, जो पुरुषार्थ है। ऐसे मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि होने से ब्रह्म उपदेशक वेदान्तवाक्य को अनर्थक नहीं कह सकते। प्राण-उपासनादि बतलाने वाले वाक्य देवता, श्रेष्ठत्वादि गुण एवं सालोक्य, सायुज्यादि फल के प्रतिपादक मानने पर भी विधिशून्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि फलवद्वाक्य को उपासनापरकत्व कल्पना ठीक नहीं। ब्रह्मज्ञान से पूर्व अध्यस्तगुणविशिष्ट चेतन को उपासना का शेष मान भी लिया जाय पर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्य से ब्रह्मात्मैक्य बोध हो जाने पर अभेदज्ञान, उपासना का शेष किसी प्रकार से नहीं माना जा सकता क्योंकि एकत्व ज्ञात हो जाने पर हेय-उपादेयशून्य होने के कारण क्रियाकारकादि द्वैतविज्ञान का उपमर्दन हो जाता है। एकत्वज्ञान से उन्मथित द्वैतज्ञान का पुनः उदय होना सम्भव नहीं है जिससे कि ब्रह्म को उपासनाविधि का शेष माना जा सके। यद्यपि कर्मकाण्ड में अर्थवाद वाक्यों का विधिसंस्पर्श के बिना प्रामाण्य नहीं देखा गया है, फिर भी आत्मविज्ञान का फल उस प्रकरण में ही दीखता है। ऐसी स्थिति में

---

१. सालोक्यसायुज्यादिफलं चेत्यर्थः। २. वेदान्तः। ३. उपासनाविधिशेषत्वम्। ४. अध्यस्तस्याकाशादेर्गुणाश्शब्दादयस्तद्वत इत्यर्थः। ५. उपासनाया इति शेषः। ६. उपासनायाम्। ७. द्वैतज्ञानम्। ८. क्रियार्थकत्वाभावात्। ९. प्रामाण्यस्याभावानुमानमित्यर्थः, अनुमानमेव दर्शयति-वेदान्ता इति। १०. तद्-ब्रह्मात्मविज्ञानम्।

प्रत्याख्यातुम्। न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्षेत। तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्।

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव

स्वार्थे मानत्वसिद्धेर्न क्रियार्थकत्वं तद्व्यापकमिति भावः। ननु मा भूद्वेदप्रामाण्यस्य व्यापकं क्रियार्थकत्वं, व्याप्यं तु भविष्यति, तदभावाद्वेदान्तानां प्रामाण्यं दुर्ज्ञानमिति, नेत्याह—न चेति। येन वेदप्रामाण्यं स्वस्यानुमानगम्यत्वेनान्यत्र क्वचिद्दृष्टं दृष्टान्तमपेक्षेत तदेव नास्तीत्यर्थः। चक्षुरादिवद्वेदस्य स्वतःप्रामाण्यज्ञानान्न [1]तद्व्याप्तिलिङ्गाद्यपेक्षा। प्रामाण्यसंशये तु फलवदज्ञाताबाधितार्थतात्पर्यात् प्रामाण्यनिश्चयो न क्रियार्थत्वेन। 'न कूपे पतेत्' इति वाक्ये व्यभिचारादिति भावः। वर्णकार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। समन्वयादित्यर्थः। विधिवाक्यानामपि फलवदज्ञातार्थत्वेन प्रामाण्यं तत्तुल्यं वेदान्तानामपीति स्थितम्। एवं पदानां सिद्धेऽर्थेऽव्युत्पत्तिमिच्छतां ब्रह्मनास्तिकानां मतं, ब्रह्मणो [2]मानान्तरायोग्यत्वात्, सफलत्वाच्च वेदान्तैकमेयत्वमित्युक्त्या निरस्तम्।

संप्रति सर्वेषां पदानां कार्यान्वितार्थे शक्तिमिच्छतां [3]विधिशेषत्वेन प्रत्यग्ब्रह्म वेदान्तैर्बोध्यते न स्वातन्त्र्येणेति वदतां वृत्तिकाराणां मतनिरासाय सूत्रस्य वर्णकान्तरमारभ्यते। तत्र वेदान्ताः किमुपासनाविधिशेषत्वेन ब्रह्म बोधयन्ति? उत स्वातन्त्र्येण? इति सिद्धे व्युत्पत्त्यभावभावाभ्यां संशये पूर्वपक्षमाह—अत्रापर इति। ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यत्वोक्तौ वृत्तिकाराः पूर्वपक्षयन्तीत्यर्थः। उपासनातो मुक्तिः पूर्वपक्षे, तत्त्वज्ञानादेवेति सिद्धान्ते फलम्। विधिर्नियोगः तस्य विषयः प्रतिपत्तिरुपासना। अस्याः को विषय इत्याकाङ्क्षायां सत्यादिवाक्यै[4]र्विधिपरैरेव ब्रह्म समर्प्यत इत्याह—प्रतिपत्तीति।

फलपर्यन्त आत्मविज्ञान के जनक वेदान्तवाक्य में प्रामाण्य का खण्डन नहीं कर सकते। साथ ही, शास्त्रगत प्रामाण्य अनुमानगम्य नहीं है जिससे कि अन्यत्र **'यत्र यत्र प्रामाण्यं तत्र तत्र क्रियार्थकत्वम्'** ऐसी व्याप्तिग्रह का दृष्टान्त बन सके। अतः जिस प्रकार विधिवाक्य फलवद् अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होने से प्रमाण है ऐसे ही वेदान्तवाक्य भी फलवद् अद्वैत अर्थ का बोधक होने से प्रमाण माना जायेगा। प्रामाण्य का निश्चय फलवद् अज्ञात अबाधितार्थतात्पर्य रहने से होता है न कि क्रियार्थत्वेन प्रामाण्यनिश्चय होता है क्योंकि **'न कूपे पतेत्'** इस वाक्य में प्रामाण्य तो है किन्तु वहाँ पर क्रियार्थत्व नहीं है जिस प्रकार विधिवाक्य में फलवद् अज्ञातार्थत्वेन प्रामाण्य है ऐसे ही वेदान्तवाक्य में भी समझना चाहिए। अतः ब्रह्म वेदान्तैकगम्य सिद्ध हुआ। **प्रथमवर्णक समाप्त।**

द्वितीय वर्णक

कार्यान्वित अर्थ में सभी पदों की शक्ति का ग्रहण होता है ऐसा मानने वाले बोधायन वृत्तिकार विधिशेषत्वेन वेदान्त द्वारा प्रत्यग्-ब्रह्म का बोध मानते हैं, स्वातन्त्र्येण नहीं। अब इनके मत का खण्डन करना है, इसके लिए इस सूत्र के दूसरे वर्णक को प्रारम्भ करते हैं।

पूर्वपक्ष में उपासना से मोक्ष माना है और सिद्धान्तपक्ष में तत्त्वज्ञान से। विधि का विषय उपासना है पर उपासना का विषय क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि वाक्य द्वारा जो ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया वह विधिशेषरूप में ही बतलाना अभीष्ट

१. तत्र वेदप्रामाण्यतायाम्। २. प्रत्यक्षादि। ३. उपासनाविधिरित्यर्थः। ४. विधिशेषैः।

शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत्। कुत एतत्? 'प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य। तथाहि शास्त्र-'तात्पर्यविद आहुः—'दृष्टो हि तस्यार्थः 'कर्मावबोधनम्' इति। 'चोदना' इति क्रियायाः

विधिविषयप्रतिपत्तिविषयतयेत्यर्थः। विधिपराद्वाक्यात्तच्छेषलाभे दृष्टान्तमाह—यथेति। 'यूपे पशुं बध्नाति' 'आहवनीये जुहोति' 'इन्द्रं यजेत' इति विधिषु के यूपादयः? इत्याकाङ्क्षायां 'यूपं तक्षति, अष्टाश्रीकरोति' इति तक्षणादिसंस्कृतं दारु यूपः। 'अग्नीनादधीत' इत्याधानसंस्कृतोऽग्निराहवनीयः। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इति विधिपरैरेव वाक्यैः समर्प्यन्ते तद्वद्ब्रह्मेत्यर्थः। विधिपरवाक्यस्यापि अन्यार्थबोधित्वे वाक्यभेदः स्यादिति शङ्कानिरासार्थमपिशब्दः। मानान्तराज्ञातान्यपि शेषतयोच्यन्ते न प्रधानत्वेनेति न वाक्यभेदः। प्रधानार्थभेदस्यैव वाक्यभेदकत्वादिति भावः। ननूक्तषड्विधलिङ्गैस्तात्पर्यविषयस्य ब्रह्मणः कुतो विधिशेषत्वमिति शङ्कते—कुत इति। वृद्धव्यवहारेण हि शास्त्रतात्पर्यनिश्चयः। वृद्धव्यवहारे च श्रोतुः प्रवृत्तिनिवृत्ती उद्दिश्याप्तप्रयोगो दृश्यते। अतः शास्त्रस्यापि ते एव प्रयोजने। ते च कार्यज्ञानजन्य इति कार्यपरत्वं शास्त्रस्य। ततः कार्यशेषत्वं ब्रह्मण इत्याह—प्रवृत्तीति। शास्त्रस्य नियोगपरत्वे वृद्धसम्मतिमाह—तथाहीत्यादिना। क्रिया कार्यं, नियोगो विधिः, धर्मोऽपूर्वमित्यनर्थान्तरम्। को वेदार्थः? इत्याकाङ्क्षायां शाबरभाष्यकृतोक्तम्—दृष्टो होति। तस्य वेदस्य। कार्यं वेदार्थ इत्यत्र चोदनासूत्रस्थं भाष्यमाह—चोदनेति। क्रियाया नियोगस्य ज्ञान-

है इसे पूर्वपक्ष उपस्थापित करता है। **'अपरे'** शब्द का अर्थ बोधायन-वृत्तिकार करना चाहिए। वे कहते हैं कि यद्यपि शास्त्रप्रमाण से ब्रह्म सिद्ध होता है फिर भी विधि का विषय उपासनाविषयत्वेन शास्त्र द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है। जैसे 'यूप में पशु को बाँधे' 'आहवनीय अग्नि में होम करे' 'इन्द्र की पूजा करे' इस विधि के शेषरूप से बतलाये गये पशु, आहवनीय अग्नि और इन्द्र अर्थ का बोध विधिपरक वाक्यों से ही होता है। यूप, आहवनीयादि पदार्थ अलौकिक हैं, उनका ज्ञान शास्त्र द्वारा विधिशेषत्वेन होता है। ठीक उसी प्रकार उपासनविधि के शेष अलौकिक ब्रह्मपदार्थ का ज्ञान भी शास्त्र से विधिशेषत्वेन होता है क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन प्रवृत्ति और निवृत्ति ही है। **'घटं आनय' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** इत्यादि वृद्धव्यवहार में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति देखी गयी है। इसीलिए शास्त्रतात्पर्य जानने वाले विद्वानों ने कहा है कि वेद का तात्पर्य कर्मावबोधन में है। चोदनासूत्रस्थ भाष्य में शबर स्वामी ने क्रिया के प्रवर्तक-वचन को चोदना कहा है उस धर्म के ज्ञापक अपौरुषेय-विधिवाक्य को उपदेश कहते हैं। वेद में सिद्धार्थनिष्ठ पदों का कार्यवाची लिङ्गादि पद के साथ उच्चारण करना चाहिए क्योंकि पदार्थज्ञान वाक्यार्थरूप कार्यज्ञान का निमित्त है। कार्य से अन्वित अर्थ में सशक्त पद ही कार्यवाची पद के साथ पदार्थ के स्मरण द्वारा कार्यरूप वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इसीलिए वेद को क्रियार्थ जैमिनि ने कहा है और जो क्रियार्थ नहीं हैं वे अनर्थक हैं। अतः यागादि विषयविशेष में पुरुष को प्रवृत्त करता हुआ और परदारादिगमन से पुरुष को निवृत्त करता हुआ शास्त्र सार्थक माना जाता है। अन्य पदार्थ तो प्रवृत्ति निवृत्ति के अङ्गरूप से उपयुक्त होते हैं, तदनुसार वेदान्त की भी अर्थवत्ता इसी प्रकार से सिद्ध हो सकती है। शङ्का—वेदान्त में नियुज्य

१. प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥ इति। २. तात्पर्यविद आहुरित्यस्य स्थाने तात्पर्याद् मनुक्रमणमिति विवेचनाभिमतः पाठः। ३. कार्यज्ञानम्। ४. शेषैः। ५. यूपादयः।

प्रवर्तकं वचनम्। 'तस्य ज्ञानमुपदेशः—' (जै० १-१-५) 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' (जै० १-१-२५) 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० १-२-१) इति च। अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्। तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयत एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्। नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्—कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्य, इह तु भूतं नित्यनिवृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति। तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्। कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ. २-४-५) इति। 'य आत्माऽपहतपाप्मा—सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८-७-१)।

द्वारा प्रवर्तकं वाक्यं चोदनेत्युच्यत इत्यर्थः। शबरस्वामिसम्मतिमुक्त्वा जैमिनिसम्मतिमाह—तस्य ज्ञानमिति। तस्य धर्मस्य ज्ञापकमपौरुषेयविधिवाक्यमुपदेशः। 'तस्य धर्मेणाव्यतिरेकादित्यर्थः। पदानां कार्यान्वितार्थे शक्तिरित्यत्र सूत्रं पठति—तद्भूतानामिति। तत् तत्र वेदे भूतानां सिद्धार्थनिष्ठानां पदानां क्रियार्थेन कार्यवाचिना लिङादिपदेन समाम्नायः सहोच्चारणं कर्तव्यम्। पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थरूपकार्यधीनिमित्तत्वादित्यर्थः। कार्यान्वितार्थे शक्तानि पदानि कार्यवाचिपदेन सह पदार्थस्मृतिद्वारा कार्यमेव वाक्यार्थं बोधयन्तीति भावः। फलितमाह—अत इति। यतो वृद्धा एवमाहुः, अतो विधिनिषेधवाक्यमेव शास्त्रम्। अर्थवादादिकं तु तच्छेषतयोपक्षीणम्। तेन कर्मशास्त्रेण सामान्यं शास्त्रत्वम्। तस्माद्वेदान्तानां कार्यपरत्वेनैव अर्थवत्त्वं स्यादित्यर्थः। ननु वेदान्तेषु [1]नियोज्यस्य [2]विधेयस्य चादर्शनात्कथं कार्यधीः? इति। तत्राह—सति चेति। ननु धर्मब्रह्मजिज्ञासासूत्रकाराभ्यामिह काण्डद्वयेऽर्थभेद उक्तः, एककार्यार्थत्वे शास्त्रभेदानुपपत्तेः। तत्र काण्डद्वये जिज्ञास्यभेदे सति फलवैलक्षण्यं वाच्यम्। तथा च न मुक्तिफलाय ज्ञानस्य विधेयता, मुक्तेर्विधेयक्रियाजन्यत्वे कर्मफलादविशेषप्रसङ्गादविशेषे जिज्ञास्यभेदासिद्धेः। अतः कर्मफलविलक्षणवान्नित्यसिद्धमुक्तेस्तद्व्यञ्जकज्ञानविधिरयुक्त इत्याशङ्कते—नन्विहेति। मुक्तेः कर्मफलाद्वैलक्षण्यमसिद्धमिति तदर्थं ज्ञानं विधेयम्। न च तर्हि सफलं कार्यमेव वेदान्तेष्वपि जिज्ञास्यमिति तद्भेदासिद्धिरिति वाच्यं, इष्टत्वात्। न च ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वसूत्र[7]विरोधः, [8]ज्ञानविधिशेषत्वेन सूत्रकृता ब्रह्मप्रतिपादनादिति परिहरति—नेति। ब्रह्मणो विधिप्रयुक्तत्वं स्फुटयति—आत्मा वा इति। 'ब्रह्म वेद' इत्यत्र ब्रह्मभावकामो ब्रह्म-

अधिकारी और विधेय कार्य जब नहीं दिखाई पड़ते हैं तो फिर कार्यज्ञान वेदान्त से कैसे होगा? समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है। जिस प्रकार विधिपरत्व निश्चित हो जाने पर स्वर्गादि चाहने

१, यागादौ। २. परदारागमनादितः। ३. आत्मदर्शनेन मोक्षं भावयेदिति वाक्यार्थः पूर्वपक्षे। ४. वेदस्य। ५. अधिकारिणः। ६. कार्यस्य। ७. विरोध इति—कार्यमेव तदा जिज्ञासितव्यं सूत्रयितव्यं भवेन्न नित्यसिद्धं ब्रह्मेति भावः। ८. उपासनम्।

'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १-४-७) 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० १-४-१५) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९) इत्यादिविधानेषु सत्सु कोऽसावात्मा ? किं तद्ब्रह्म ? इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्येवमादयः। तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति। कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासम्भवात्, 'सप्तद्वीपा वसुमती' 'राजासौ गच्छति' इत्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात्। ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टं, तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात्। स्यादेतदेवं, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्ति-

---

वेदनं कुर्यादिति विधिः परिणम्यत इति द्रष्टव्यम्। लोकं ज्ञानस्वरूपम्। वेदान्तानेवार्थतो दर्शयति—नित्य इति। ननु किं विधिफलमिति तदाह—तदुपासनादिति। प्रत्यग्ब्रह्मोपासनात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति शास्त्रोक्तो मोक्षः स्वर्गवल्लोकाप्रसिद्धः फलमित्यर्थः। ब्रह्मणः कर्तव्योपासनाविषयकविधिशेषत्वानङ्गीकारे बाधकमाह—कर्तव्येति। विध्यसम्बद्धसिद्धबोधे प्रवृत्त्यादिफलाभावाद्वेदान्तानां वैफल्यं स्यादित्यर्थः। नन्विति शङ्का स्पष्टार्था। दृष्टान्तवैषम्येण परिहरति—स्यादिति। एतदर्थवत्त्वमेवं चेत् स्यादित्यर्थः। एवंशब्दार्थमाह—यदिति। किञ्च यदि ज्ञानादेव मुक्तिस्तदा श्रवणजन्य-

---

वाले नियोज्य पुरुष के लिए अग्निहोत्रादि साधन का विधान है, ऐसे ही मोक्षकाम नियोज्य अधिकारी के लिए वेदान्त में ब्रह्मविज्ञान का विधान किया गया है, ऐसा मानना युक्तियुक्त है। वेदान्त में जैसा जिज्ञास्य कहा गया है उससे विलक्षण जिज्ञास्य कर्मकाण्ड में है क्योंकि कर्मकाण्ड में भव्यरूप धर्म जिज्ञास्य है और वेदान्त में भूत-नित्यशान्त-ब्रह्म जिज्ञास्य है। इसके अतिरिक्त धर्मज्ञान का फल अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है, इससे विलक्षण ब्रह्मज्ञान का फल है जिसे अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है। पूर्वपक्षी—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कार्यविधि-प्रयुक्त ही ब्रह्म का प्रतिपादन वेदान्त करता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस श्रुति में 'आत्मदर्शनेन मोक्षं भावयेत्' ऐसा वाक्यार्थ मानना चाहिए। 'जो आत्मा पापरहित है—उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए' (छा. ८-७-१) 'आत्मा ऐसा मानकर उपासना करे' (बृ. १-४-७) 'आत्मलोक की ही उपासना करे' (बृ. १-४-१५) 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है' (मु. ३-२-९) इत्यादि विधिवाक्य के रहने पर यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि वह आत्मा कौन है और वह ब्रह्म कौन है ? तब ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप प्रतिपादन द्वारा सभी वेदान्त उपयुक्त होते हैं। 'आत्मा नित्य सर्वव्यापक, नित्यतृप्त, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव विज्ञान आनन्दरूप ब्रह्म है।' इन वाक्यों में भी ब्रह्म और आत्मा का स्वरूप ही तो बतलाया गया है जिसकी उपासना द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण से न देखा गया ब्रह्मरूपादि मोक्षरूप फल शास्त्र द्वारा बतलाया गया है। यदि ब्रह्म और आत्मा का कर्तव्यविधि में प्रवेश नहीं मानोगे और वस्तुमात्र का कथन कहोगे तो उस स्थिति में हान और उपादान का होना सम्भव नहीं है, फिर तो 'पृथ्वी सात द्वीपवाली है' 'वह राजा जाता है' इत्यादि वाक्य जैसे अनर्थक

---

१. ब्रह्मलोकादिः।

ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत। न तु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुख-दुःखादि-संसारिधर्मदर्शनात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २-४-५) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात्। तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति।

अत्राभिधीयते—न, कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० १-१-१)

ज्ञानानन्तरं मननादिविधिर्न स्यात्, तद्विधेश्च कार्यसाध्या मुक्तिरित्याह—श्रोतव्य इति। शब्दानां कार्यान्वितशक्तेः, प्रवृत्त्यादिफलस्यैव शास्त्रत्वात्, सिद्धे फलाभावात्, मननादिविधेश्च कार्यपरा वेदान्ता इति पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति।

वेदान्ता न विधिपराः स्वार्थे फलवत्त्वे सति नियोज्यविधुरत्वात्, नायं सर्प इति वाक्यवत्। 'सोऽरोदीत्' 'स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्ययोर्निरासाय हेतौ विशेषणद्वयमिति सिद्धान्तयति—अत्रेति। यदुक्तं मोक्षकामस्य नियोज्यस्य ज्ञानं विधेयमिति, तन्नेत्याह—नेति। मोक्षो न विधिजन्यः, कर्मफलविलक्षणत्वात्, आत्मवदित्यर्थः। उक्तहेतुज्ञानाय कर्मतत्फले प्रपञ्चयति—शारीरम् इत्यादिना वर्णितं संसाररूपमनुवदति इत्यन्तेन। अथ—वेदाध्ययनानन्तरं, अतो—वेदस्य फलवदर्थ-

---

हैं वैसे ही वेदान्तवाक्य में भी आनर्थक्य आ जायेगा। सिद्धान्ती—यह रस्सी है, सर्प नहीं है; ऐसे वस्तुमात्र के कथन से भी भ्रम से उत्पन्न भयनिवृत्ति हो जाने के कारण इन सिद्धार्थबोधक वाक्यों में सार्थकत्व देखा गया है, वैसे ही वेदान्त में भी संसारधर्म से निर्मुक्त आत्मवस्तु के कथन से भी संसारित्वभ्रान्ति की निवृत्ति हो जाने पर उनकी अर्थवत्ता सिद्ध होती है। पूर्वपक्षी—यह हो सकता था यदि रज्जुस्वरूप के श्रवण से जैसे सर्पभ्रम की निवृत्ति होती है वैसे ही ब्रह्मस्वरूप श्रवणमात्र से संसारित्वधर्म की निवृत्ति हो जाती तो, किन्तु ब्रह्मस्वरूप श्रवणमात्र से संसारित्वभ्रान्ति की निवृत्ति होती नहीं, क्योंकि जिसने वेदान्त सुन रखा है उसमें भी पूर्व की भाँति ही सुखदुःखादि संसारित्वधर्म देखा जाता है। साथ ही, श्रवणमात्र से ही यदि संसारित्वधर्म की निवृत्ति सम्भव थी तो **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** इस वाक्य में श्रवण के बाद मनन, निदिध्यासन नहीं देखा जाता। पर श्रवण उत्तरकाल में मनन और निदिध्यासन भी देखे जाते हैं। अतः उपासनाविधि के विषयरूप से ही शास्त्रप्रमाण द्वारा ब्रह्म का उपदेश वेदान्त में स्वीकारना होगा।

सिद्धान्ती—इस सम्बन्ध में सिद्धान्ती कहता है कि मोक्ष विधिजन्य नहीं है क्योंकि कर्म एवं ब्रह्मविद्या का फल परस्पर विलक्षण है। जिस प्रकार आत्मा में कर्मफलविलक्षणत्व है और उसमें विधिजन्यत्व नहीं है ऐसे ही मोक्ष में कर्मफलविलक्षणत्व होने से विधिजन्यत्वाभाव सिद्ध होगा। शरीर, वाणी और मन से जो श्रुति-स्मृति प्रसिद्ध धर्माख्यकर्म सम्पादित होते हैं उन्हें विषय करने वाली जिज्ञासा को **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** सूत्र से सूत्रित किया गया है। वहाँ पर धर्म, हिंसादि अधर्म का भी उपलक्षण है जो प्रतिषेध वेदवाक्यरूप है, उसे त्यागने के लिए उसकी भी जिज्ञासा करनी चाहिए। वेदवाक्य से ही अर्थ एवं अनर्थ फल देने वाले उन धर्म और अधर्म का बोध होता है जिनका फल सुख-दुःख प्रत्यक्ष शरीर, वाणी एवं मन से भोगे जाते हैं जो विषय एवं इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होने वाले हैं और वे ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त योनि में प्रसिद्ध हैं। इनमें मनुष्य देह से लेकर

इति सूत्रिता; अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्। प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम्। तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनं, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च

परत्वात्, धर्मनिर्णयाय कर्मवाक्यविचारः कर्तव्य इति सूत्रार्थः। न केवलं धर्माख्यं कर्म किन्तु अधर्मोऽपीत्याह—अधर्मोऽपीति। निषेधवाक्यप्रमाणत्वादित्यर्थः। कर्मोक्त्वा फलमाह—तयोरिति। मोक्षस्तु अतीन्द्रियो विशोकः शरीराद्यभोग्यो विषयाद्यजन्योऽनात्मवित्स्वप्रसिद्ध इति वैलक्षण्यज्ञानाय प्रत्यक्षादीनि विशेषणानि। सामान्येन कर्मफलमुक्त्वा धर्मफलं पृथक्प्रपञ्चयति—मनुष्यत्वादिति। 'स एको मानुष आनन्दः' ततः शतगुणो गन्धर्वादीनामिति श्रुतेरनुभवानुसारित्वमनुशब्दार्थः। ततश्च सुखतारतम्यादित्यर्थः। मोक्षस्तु निरतिशयः, तत्साधनं च तत्त्वज्ञानमेकरूपमिति वैलक्षण्यम्। किं च साधनचतुष्टयसम्पन्न एकरूप एव मोक्षविद्याधिकारी, कर्मणि तु नानाविध इति वैलक्षण्यमाह—धर्मेति। गम्यते न केवलं किन्तु प्रसिद्धं चेत्यर्थः। अर्थित्वं फलकामित्वम्। सामर्थ्यं लौकिकं पुत्रादि। आदिपदाद्विद्वत्त्वं शास्त्रानिन्दितत्वं च। किञ्च कर्मफलं मार्गप्राप्यं, मोक्षस्तु नित्याप्त इति भेदमाह–तथेति। उपासनायां चित्तस्थैर्यप्रकर्षादर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं 'तेऽर्चिषम्'(छा. ४-१५-५) इत्यादिना श्रूयत इत्यर्थः। 'अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥ शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते॥' तत्रापि—चन्द्रलोकेऽपीत्यर्थः। सम्पतति गच्छति अस्माल्लोकादमुं लोकमनेनेति सम्पातः कर्म। यावत्कर्म भोक्तव्यं

ब्रह्मा के शरीर तक सबमें सुख का तारतम्य सुना जाता है सुख के तारतम्य से उसके हेतु धर्म में भी तारतम्य जाना जाता है धर्म के तारतम्य से अधिकारी का तारतम्य सिद्ध होता है जो अर्थित्व एवं सामर्थ्य के कारण अधिकारी तारतम्य प्रसिद्ध ही है। कर्मफल मार्ग से चलकर प्राप्त करने योग्य है किन्तु मोक्षफल नित्यप्राप्त है। यागादि अनुष्ठान करने वाले को उपासना एवं चित्त की स्थिरता का प्रकर्ष रहने पर उत्तरायण मार्ग से चलकर ब्रह्मलोक मिलता है और केवल अग्निहोत्रादि इष्ट, बापीकूपतडागादि निर्माण करानारूप पूर्त और वेदी से बाहर दान देनारूप दत्त कर्मों के अनुष्ठान से धूमादिक्रमेण दक्षिणायन मार्ग से चलकर चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। उस चन्द्रलोक में भी सुख का तारतम्य एवं उसके साधनों का तारतम्य शास्त्रप्रमाण से जाना जाता है। इसी लिए कहा है कि उस लोक में जब तक कर्मफल भोगना शेष रहता है तब तक वहाँ रहकर पुनः मनुष्यलोक में लौट आता है वैसे ही मनुष्यादि से लेकर नारक एवं स्थावरपर्यन्त शरीरों में जो कुछ भी सुख का अनुभव होता है वह चोदनालक्षणधर्मसाध्य ही है। इस प्रकार तारतम्यरूप से वर्तमान सुखादि देखा गया है। ऊपर और नीचे वाले लोकों में जो शरीर हैं, उनमें जो दुःखतारतम्य दिखाई पड़ता

तस्मात् 'यावत्सम्पातमुषित्वा' (छा० ५-१०-५) इत्यस्माद्गम्यते। तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८-१२-१) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव [1]धर्मकार्यमिति चेन्न, तस्य स्वाभाविकत्वात्। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं [2]मत्वा धीरो न शोचति' (का० १-२-२१)। 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'

तावत्स्थित्वा पुनरायान्तीत्यर्थः। मनुष्यत्वादूर्ध्वं गतेषु सुखस्य तारतम्यमुक्त्वा अधोगतेषु तदाह—तथेति। इदानीं दुःखतद्धेतुतदनुष्ठायिनां तारतम्यं वदन्नधर्मफलं प्रपञ्चयति—तथोर्ध्वमिति। द्विविधं कर्मफलं मोक्षस्य तद्वैलक्षण्यज्ञानाय प्रपञ्चितमुपसंहरति—एवमिति। अस्मिताकामक्रोधभयान्यादि-शब्दार्थः। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्' (गी० ९-२१) इत्याद्या स्मृतिः। काष्ठोपचयाज्ज्वालोपचयदर्शनात्, फलतारतम्येन साधनतारतम्यानुमानं न्यायः। श्रुतिमाह—तथा चेति। मोक्षो न कर्मफलं, कर्मफलविरुद्धातीन्द्रियत्वविशोकत्वशरीराद्यभोग्यत्वादिधर्मवत्त्वात्, व्यतिरेकेण स्वर्गादिवदिति न्यायानुग्राह्यां श्रुतिमाह—अशरीरमिति। वावेत्यवधारणे। तत्त्वतो विदेहं सन्तमात्मानं वैषयिके सुखदुःखे नैव स्पृशत इत्यर्थः। मोक्षश्चेदुपासनारूपधर्मफलं, तदेव प्रियमस्तीति तन्निषेधायोग इत्याह—धर्मकार्यत्वे हीति। ननु प्रियं नाम वैषयिकं सुखं तन्निषिध्यते, मोक्षस्तु धर्मफलमेव, कर्मणां विचित्रदानसामर्थ्यादिति शङ्कते—अशरीरत्वमेवेति। आत्मनो देहासङ्गित्वमशरीरत्वं, तस्यानादित्वान्न कर्मसाध्यतेत्याह—नेति। अशरीरं स्थूलदेहशून्यं, देहेष्वनेकेषु अनित्येषु एकं नित्यमवस्थितं, महान्तं व्यापिनम्। आपेक्षिकमहत्त्वं वारयति—विभुमिति। तमात्मानं ज्ञात्वा धीरः सन् शोकोपलक्षितं संसारं नानुभवतीत्यर्थः। सूक्ष्मदेहाभावे श्रुतिमाह—अप्राण इति। प्राणमनसोः क्रियाज्ञानशक्त्यो-

है उसका कारण प्रतिषेधश्रुतिवाक्य से जाना गया अधर्म ही है। उस अधर्म और उसके अनुष्ठाता में भी तारतम्य देखा जाता है। द्विविध कर्मफल से विलक्षण मोक्ष का स्वरूप है उसे सुस्पष्टरूप में बतलाने के लिए 'एवमविद्यादिदोषवताम्' इत्यादि भाष्यग्रन्थ है अर्थात् अविद्यादिदोषयुक्त व्यक्ति को पुण्य-पापरूप तारतम्य के कारण उच्चावच शरीर प्राप्त होता है, तत्पश्चात् सुख-दुःख का तारतम्य जो अनित्यसंसाररूप श्रुतिस्मृतिन्याय में प्रसिद्ध है। 'शरीरधारी जीवित व्यक्ति के प्रिय और अप्रिय का सर्वथा नाश नहीं होता' ऐसी श्रुति है। 'वे स्वर्गलोक में विशालभोगों को भोगकर पुण्यक्षीण होते ही पुनः मर्त्यलोक में आ जाते हैं' ऐसी स्मृति है। इंधन के अधिक रहने पर

१. धर्मकार्यं भवत्विति पाठान्तरम्। २. मत्वेति—उपासनासाध्यत्वाभावादेव कृत्वेति नोक्तमिति भावः।

(मु० २-१-२) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४-३-१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः १ अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम् । तत्र किञ्चित्परिणामिनित्यं यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते । यथा पृथिव्यादिजगन्नित्यत्ववादिनाम् । यथा च सांख्यानां गुणाः । इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिःस्वभावम् । यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च

निषेधात्, तदधीनानां कर्मज्ञानेन्द्रियाणां निषेधो हि यतः, अतः शुद्ध इत्यर्थः । देहद्वयाभावे श्रुतिः—'असङ्गो हि' इति । निर्देहात्मस्वरूपमोक्षस्यानादिभावत्वे सिद्धे फलितमाह–अत एवेति । नित्यत्वेऽपि परिणामितया धर्मकार्यत्वं मोक्षस्येत्याशङ्क्य नित्यं द्वेधा विभजते—तत्र किञ्चिदिति । नित्यवस्तुमध्य इत्यर्थः । परिणामि च तन्नित्यं चेति परिणामिनित्यम् । आत्मा तु कूटस्थनित्य इति न कर्मसाध्य इत्याह—इदं त्विति । परिणामिनो नित्यत्वं प्रत्यभिज्ञाकल्पितं मिथ्यैव । कूटस्थस्य तु नाशकाभावान्नित्यत्वं पारमार्थिकम् । कूटस्थत्वसिध्यर्थं परिस्पन्दाभावमाह—व्योमवदिति । परिणामाभावमाह—सर्वविक्रियारहितमिति । फलानपेक्षित्वान्न फलार्थापि क्रियेत्याह—नित्यतृप्तमिति । तृप्तिरनपेक्षत्वं, विशोकं सुखं वा । निरवयवत्वान्न क्रिया । तस्य भानार्थमपि न क्रिया, स्वयंज्योतिष्ट्वात् । अतः कूटस्थत्वान्न कर्मसाध्यो मोक्ष इत्युक्तम् । कर्मतत्कार्यासङ्गित्वाच्च तथेत्याह—यत्रेति । कालानवच्छिन्नत्वाच्चेत्याह—कालेति । कालत्रयं च नोपावर्तत इति योग्यतया सम्बन्ध-

---

ज्वालाधिक्य देखा गया है, ऐसा न्याय भी है । इस प्रकार श्रुति, स्मृति एवं न्यायसिद्ध संसार का अनुवाद श्रुति करती है । इसके विपरीत 'विदेहकैवल्य को प्राप्त अशरीर पुरुष को प्रिय और अप्रिय का स्पर्श नहीं होता' इस श्रुतिवाक्य से इष्टानिष्ट स्पर्शप्रतिषेध द्वारा अशरीरत्वरूप मोक्ष में धर्मकार्यत्व का प्रतिषेध जाना जाता है । यदि मोक्ष भी धर्मकार्य होता, तो प्रिय-अप्रिय के सम्बन्ध का प्रतिषेध करना युक्तिसंगत नहीं था । यदि कहा जाय कि धर्म का कार्य अशरीरत्व को ही मानना चाहिए क्योंकि कर्म में विचित्र फल देने की शक्ति है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा में अशरीरत्व अनादिसिद्ध स्वाभाविक है । ऐसा ही-'अनित्य-अनेक शरीरों में शरीररहित, सदा एकरस, निरपेक्ष महान् विभु आत्मा को जानकर धीरपुरुष शोकोपलक्षित संसार का अनुभव नहीं करता' 'यह आत्मा प्राण एवं मनवाला नहीं है' 'यह पुरुष असङ्ग है' इन श्रुतियों से सिद्ध होता है । निर्देह आत्मस्वरूप मोक्ष के अनादिसिद्ध होने पर अनुष्टेय कर्मफल से विलक्षण मोक्षाख्य अशरीरत्व नित्यसिद्ध हुआ । परिणामिनित्यत्व और कूटस्थनित्यत्व भेद से नित्यत्व दो प्रकार का होता है । उनमें से परिणामिनित्यत्व उसे कहते हैं जिसके विकृत होने पर भी, वही यह है, ऐसी बुद्धि नष्ट नहीं होती है । जिस प्रकार पृथिव्यादि को जगत् नित्यत्ववादियों ने प्रत्यभिज्ञा के आधार पर नित्य कहा है और जिस प्रकार सांख्यों ने सत्त्वादि गुणों को नित्य कहा है, वह प्रत्यभिज्ञा के आधार पर कल्पित परिणामिनित्यत्व मिथ्या ही है । किन्तु आत्मा में पारमार्थिक कूटस्थनित्यत्व आकाश की भाँति सर्वव्यापक, सम्पूर्ण विकारों से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव, स्वयंज्योतिस्वरूप है, जहाँ पर कार्य के सहित धर्माधर्म तीनों काल में नहीं रहते वह मोक्षाख्य अशरीरत्व नित्य

---

१. मत्स्वाद्यः । २. कूटस्थम् ।

नोपावर्तते । तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' (क० १-२-१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता, तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात् । तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत । नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः । अपि च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २-२-८) । 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चन' (तै० २-९) 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४-२-४)

नीयम् । धर्माद्यनवच्छेदे मानमाह—अन्यत्रेति । अन्यदित्यर्थः । कृतात्कार्यात्, अकृताच्च कारणात्, भूताद्भव्याच्च, चकाराद्वर्तमानाच्च अन्यद्यत्पश्यसि तद्वदेत्यर्थः । ननु उक्ताः श्रुतयो ब्रह्मणः कूटस्थासङ्गित्वं वदन्तु, मोक्षस्य नियोगफलत्वं किं न स्यात् ? इति, तत्राह—अत इति । तत्कैवल्यं ब्रह्मैव । कर्मफलविलक्षणत्वादित्यर्थः । ब्रह्माभेदान्मोक्षस्य कूटस्थत्वं धर्माद्यसङ्गित्वं चेति भावः । यद्वा यज्जिज्ञास्यं तद् ब्रह्म । अतः पृथग्जिज्ञास्यत्वाद्धर्माद्यस्पृष्टमित्यर्थः । अतः शब्दाभावपाठेऽप्ययमेवार्थः । ब्रह्मणो विधिस्पर्शे शास्त्रपृथक्त्वं न स्यात्, कार्यविलक्षणानधिगतविषयालाभात् । नहि ब्रह्मात्मैक्यं[1] भेदप्रमाणे जाग्रति विधिपरवाक्याल्लब्धं शक्यम् । न वा तद्विना विधेरनुपपत्तिः । योषिदग्न्यैक्योपास्तिविधिदर्शनादिति भावः । अथवा मोक्षस्य नियोगासाध्यत्वे फलितं सूत्रार्थमाह—अत इति । यदत्र जिज्ञास्यं ब्रह्म तत्स्वतन्त्रमेव वेदान्तैरुपदिश्यते । समन्वयादित्यर्थः । विपक्षे दण्डं पातयति—तद्यदीति । तत्रैवं सतीति । मोक्षे साध्यत्वेनानित्ये सतीत्यर्थः । अत इति । मुक्तेर्नियोगासाध्यत्वेन नियोज्यालाभात् । कर्तव्यनियोगाभावादित्यर्थः । प्रदीपात्तमोनिवृत्तिवज्ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिरूपमोक्षस्य दृष्टफलत्वाच्च न नियोगसाध्यत्वमित्याह—अपिचेति । यो ब्रह्माहमिति वेद स ब्रह्मैव भवति । परं कारणमवरं कार्यं तद्रूपे तदधिष्ठाने तस्मिन्दृष्टे सति अस्य द्रष्टुरनारब्धफलानि कर्माणि नश्यन्ति । ब्रह्मणः स्वरूपमानन्दं विद्वान् निर्भयो भवति, द्वितीयाभावात् । अभयं ब्रह्म

कूटस्थरूप है 'धर्म से भिन्न, अधर्म से भिन्न, कार्य, कारण, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान से भिन्न तत्त्व को आप जानते हो तो बतलाओ' इत्यादि । अतः ब्रह्मतत्त्व वही है जिसकी जिज्ञासा का प्रसंग प्रस्तुत है । यदि उसका उपदेश कर्तव्यशेषत्वेन किया जाय तो वह मोक्ष कर्तव्यसाध्य माना जायेगा फिर तो उसे अनित्य ही कहना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त कर्मफल जो तारतम्यभाववाले एवं अनित्य हैं उन्हीं में से मोक्ष भी कोई अतिशयविशेष मानना पड़ेगा, यह दोष भी आ जायेगा, किन्तु सभी मोक्षवादियों ने मोक्ष को नित्य माना है । इसलिए कर्तव्यशेषरूप से ब्रह्म का उपदेश युक्तिसंगत नहीं है । ज्ञान का फल मोक्ष प्रत्यक्षसिद्ध है वह नियोगसाध्य नहीं है क्योंकि 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही है' 'उस परावरब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर सभी सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं' 'ब्रह्मानन्द को जानने वाला विद्वान किसी से डरता नहीं' 'हे जनक ! निःसन्देह तुम अभय को प्राप्त कर चुके हो' 'उसने आत्मा को ही जाना, कि मैं ब्रह्म हूँ' 'आत्मज्ञान से सर्वभाव को प्राप्त

१. ब्रह्मात्मैक्यम् ।

'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (बृ० १-४-१०) 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। तथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १-४-१०) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम्। यथा तिष्ठन्गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते। 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' (प्र० ६-८) 'श्रुतं

प्राप्तोऽसि, अज्ञानहानात् तज्जीवाख्यं ब्रह्म गुरूपदेशादात्मानमेव अहं ब्रह्मास्मीत्यवेद् विदितवत्। तस्माद्वेदनात्तद्ब्रह्म पूर्णमभवत्। परिच्छेदभ्रान्तिहानादेकत्वम्, अहं ब्रह्म इत्यनुभवतस्तत्रानुभवकाले मोहशोकौ न स्त इति श्रुतीनामर्थः। तासां तात्पर्यमाह—ब्रह्मेति। विद्यातत्फलयोर्मध्य इत्यर्थः। मोक्षस्य विधिफलत्वे स्वर्गादिवत्कालान्तरभावित्वं स्यात्, तथा च श्रुतिबाध इति भावः। इतश्च मोक्षो वैधो नेत्याह—तथेति। तद्ब्रह्मैतत्प्रत्यगस्मीति पश्यन् तस्माज्ज्ञानात् वामदेवो मुनीन्द्रः शुद्धं ब्रह्म प्रतिपेदे ह तत्र ज्ञाने तिष्ठन् दृष्टवानात्ममन्त्रान् स्वस्य सर्वात्मत्वप्रकाशकान् 'अहं मनुः' इत्यादीन्ददर्शेत्यर्थः। यद्यपि स्थितिर्गानक्रियाया लक्षणं, ब्रह्मदर्शनं तु ब्रह्मप्रतिपत्तिक्रियाया हेतुरिति वैषम्यमस्ति, तथापि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पा० ३ २-१२६) इति सूत्रेण क्रियां प्रति लक्षणहेत्वोरर्थयोर्वर्तमानाद्धातोः परस्य लटः शतृशानचावादेशौ भवत इति विहितशतृप्रत्ययसामर्थ्यात् तिष्ठन्गायति इत्युक्ते तत्कर्तृकं कार्यान्तरं मध्ये न भातीत्येतावता पश्यन्प्रतिपेदे इत्यस्य दृष्टान्तमाह—यथेति। किञ्च ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिः श्रूयते। ज्ञानस्य विधेयत्वे कर्मत्वादविद्यानिवर्तकत्वं न युक्तं, अतो बोधका एव वेदान्ता न विधायका इत्याह—त्वं हीति। भारद्वाजादयः षड् ऋषयः पिप्पलादं गुरुं पादयोः प्रणम्य ऊचिरे—त्वं खल्वस्माकं पिता। यस्त्वमविद्यामहोदधेः परं पुनरावृत्तिशून्यं पारं ब्रह्म विद्याप्लवेनास्मांस्तारयसि प्रापयसि। ज्ञानेनाज्ञानं नाशयसीति यावत्। प्रश्नवाक्यमुक्त्वा छान्दोग्यमाह—श्रुतमिति।

कर गया' 'उस अभेद आत्मदर्शन के बाद क्या मोह और क्या शोक, एकत्व-आत्मदर्शी को हो सकते हैं?' ये सभी श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान के बाद मोक्ष को बतलाती है, साथ ही, ज्ञान और मोक्ष के मध्य में कार्यान्तर का निषेध भी करती हैं। ऐसे ही, 'मैं प्रत्यग्ब्रह्मस्वरूप हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाने के बाद वामदेव ऋषि ने शुद्धब्रह्म को प्राप्त किया और घोषणा कर दी कि 'मैं ही सर्गारम्भ में मनु एवं सूर्य था' इत्यादि श्रुति से भी ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभावप्राप्ति के मध्य में कर्तव्यान्तर का वारण हो जाता है। इसके लिए यह श्रुति उदाहरण समझना चाहिए। जिस प्रकार, खड़ा-खड़ा गीत गाता है, इस वाक्य में तिष्ठति और गायति के मध्य में उस पुरुष के द्वारा कोई कार्यान्तर प्रतीत नहीं होता। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति जब सुनी जाती है, ऐसी स्थिति में ज्ञान को विधेय मानने पर वह भी कर्म हो जायेगा, फिर तो अविद्या का निवर्तक वह हो ही नहीं सकता; इसलिए वेदान्त तत्त्व का बोधक है, विधायक नहीं है। इसी बात को भारद्वाज आदि छः ऋषियों ने आचार्य पिप्पलाद के चरणों में प्रणाम कर कहा है कि 'आप हमारे पिता है क्योंकि आप ने अविद्या महासागर से हमें

१. मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरमिति पुस्तकान्तरपाठः। २. मध्ये न भातीत्यस्य स्थाने साध्ये नास्तीति पाठान्तरम्।
३. कार्यत्वात्।

ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७-१-३) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' (छा० ७-२६-२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति। तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'(न्या०सू०१-१-२) इति। मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति। न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्पद्रूपम्।

अत्र 'तारयतु' इत्यन्तमुपक्रमस्थं, शेषमुपसंहारस्थमिति भेदः। आत्मविच्छोकं तरतीति भगवत्तुल्येभ्यो मया श्रुतमेव हि न दृष्टं, सोऽहमज्ञत्वात् हे भगवः, शोचामि, तं शोचन्तं मां भगवानेव ज्ञानप्लवेन शोकसागरस्य परं पारं प्रापयत्विति नारदेनोक्तः सनत्कुमारस्तस्मै तपसा दग्धकिल्बिषाय नारदाय तमसः शोकनिदानाज्ञानस्य ज्ञानेन निवृत्तिरूपं परं पारं ब्रह्म दर्शितवानित्यर्थः। 'एतद्यो वेद—सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति' (मु. २-१-१०)इति वाक्यमादिशब्दार्थः। एवं श्रुतेस्तत्त्वप्रमा मुक्तिहेतुर्न कर्मेत्युक्तम्। तत्राक्षपादगौतममुनिसम्मतिमाह—तथा चेति। गौरोऽहमिति मिथ्याज्ञानस्यापाये रागद्वेषमोहादिदोषाणां नाशः, दोषापायाद्धर्माधर्मस्वरूपप्रवृत्तेरपायः, प्रवृत्त्यपायात्पुनर्देहप्राप्तिरूपजन्मापायः, एवं पाठक्रमेणोत्तरोत्तरस्य हेतुनाशान्नाशे सति तस्य प्रवृत्तिरूपहेतोरनन्तरस्य कार्यस्य जन्मनोऽपायाद्दुःखध्वंसरूपोऽपवर्गो भवतीत्यर्थः। ननु 'पूर्वसूत्रे 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' इत्युक्ते सतीतरपदार्थभिन्नात्मतत्त्वज्ञानं कथं मोक्षं साधयतीत्याकाङ्क्षायां मिथ्याज्ञाननिवृत्तिद्वारेणेति वक्तुमिदं सूत्रं प्रवृत्तम्। तथा च भिन्नात्मज्ञानान्मुक्तिं वदत्सूत्रं सम्मतं चेत् परमता२नुज्ञा स्यादित्यत आह—मिथ्येति। तत्त्वज्ञानान्मुक्तिरित्यंशे सम्मतिरुक्ता, भेदज्ञानं तु 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' (बृ० २-४-१४) इति श्रुत्या भ्रान्तित्वात् 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४-४-१९) इति श्रुत्या अनर्थहेतुत्वाच्च न मुक्तिहेतुरिति भावः। ननु ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमपि भेदज्ञानवन्न प्रमा, सम्पदादिरूपत्वेन भ्रान्तित्वादित्यत आह—न चेदमित्यादिना। अल्पालम्बनतिरस्कारेणोत्कृष्टवस्त्वभेदध्यानं सम्पत्, यथा मनःस्ववृत्त्या-

---

पुनरावृत्तिशून्य परब्रह्म को प्राप्त करा दिया है' अर्थात् ज्ञान से अज्ञान का नाश होता ही है। ऐसे ही देवर्षि नारद ने भी छान्दोग्य में सनत्कुमार से कहा है कि 'आप जैसे महापुरुषों से मैंने सुना है कि आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है, किन्तु हे भगवन्! मैं तो शोक करता हूँ ऐसे शोकयुक्त मुझ अज्ञानी को आप ज्ञाननौका द्वारा शोकसागर से पार पहुँचा दें।' नारद जी के ऐसा कहने पर सनत्कुमार जी ने नारद जी को, शोककारण अज्ञान को ज्ञान द्वारा निवृत्त कर परब्रह्म का दर्शन करा दिया 'नारद जी ने तप के द्वारा अपने समस्त पाप को दग्ध कर दिया था' अतः वे इस आत्मविद्या के अधिकारी थे। भाष्य में आये हुए 'आदि' शब्द से 'एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति' इस वाक्य का संग्रह कर लेना चाहिए। इस प्रकार मोक्षप्रतिबन्धकनिवृत्तिमात्र ही आत्मज्ञान का फल श्रुति बतलाती है जो कर्म से सम्भव नहीं है। इस अर्थ में गौतम मुनि की सम्मति भी भाष्यकार 'तथा च' इत्यादि भाष्य से कहते हैं जो आचार्यप्रणीत न्यायबृंहित सूत्र है—'दुःख से लेकर मिथ्याज्ञानपर्यन्त उत्तरोत्तर के नाश होने पर पूर्व पूर्व का नाश

---

१. प्रमाणप्रमेयेत्यादिपूर्वसूत्रे। २. सम्मतिः।

यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृ० ३-१-९) इति। न चाध्यासरूपम्। यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३-१८-१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३-१९-१) इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः। नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तं 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४-३-१), 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४-३-३) इतिवत्। नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम्। सम्पदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २-५-१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः

मनस्त्यादनन्तं, तत उत्कृष्टा विश्वेदेवा अप्यनन्ता इत्यनन्तत्वसाम्यात् विश्वेदेवा एव मन इति सम्पत्तयानन्तफलप्राप्तिर्भवति तथा चेतनत्वसाम्याज्जीवे ब्रह्माभेदः सम्पदिति न चेत्यर्थः। आलम्बनस्य प्राधान्येन ध्यानं प्रतीकोपास्तिरध्यासः। यथा ब्रह्मदृष्ट्या मनस आदित्यस्य वा। तथा अहं ब्रह्मेति ज्ञानमध्यासो नेत्याह—न चेति। आदेश उपदेशः। क्रियाविशेषो विशिष्टक्रिया तया योगो निमित्तं यस्य ध्यानस्य तत्तथा। यथा प्रलयकाले वायुरग्न्यादीन्संवृणोति संहरतीति संवर्गः। स्वापकाले प्राणो वागादीन्संहरतीति संहारक्रियायोगात्संवर्ग इति ध्यानं छान्दोग्ये विहितं तथा बृंहिक्रियायोगाज्जीवो ब्रह्मेति ज्ञानमिति नेत्याह—नापीति। यथा 'पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति' इति उपांशुयाजाद्यङ्गस्याज्यस्य संस्कारकमवेक्षणं विहितं तथा कर्मणि कर्तृत्वेनाङ्गस्यात्मनः संस्कारार्थं ब्रह्मज्ञानं नेत्याह—नाप्याज्येति। प्रतिज्ञाचतुष्टये हेतुमाह—सम्पदादीति। उपक्रमादिलिङ्गैर्ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुनि

होने से अपवर्ग प्राप्त होगा' अर्थात् ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान से 'मनुष्योऽहं, गौरोऽहं' इस मिथ्याज्ञान का नाश होता है। इस मिथ्याज्ञान के नाश से रागद्वेषमोहादि दोष का नाश होता है, दोष के नाश से धर्माधर्मस्वरूप प्रवृत्ति का नाश होता है और प्रवृत्ति के नाश से पुनर्देहप्राप्तिरूप जन्म का नाश हो जाता है, जन्म के नाश से दुःखध्वंसरूप मोक्ष मिलता है। यद्यपि गौतम सूत्र में इतरपदार्थभिन्न आत्मतत्त्व-ज्ञान से मिथ्याज्ञान निवृत्तिपूर्वक मोक्ष कहा है किन्तु हमें तो, तत्त्वज्ञान से मोक्ष मिलता है, इसी अंश में उनकी सम्मति अभिमत है। भेदज्ञान भ्रान्तिमूलक है, वह अनर्थ का कारण होने से मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता। यदि कहो कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान भी भेदज्ञान की भाँति प्रमा नहीं है किन्तु सम्पदादिरूप होने से भ्रम ही है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। यह ब्रह्मात्मैक्यत्वविज्ञान सम्पद्रूप नहीं है। जिस प्रकार 'मनोवृत्तियाँ अनन्त हैं और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं' इसी साम्य को लेकर मनोवृत्ति में विश्वेदेवरूप सम्पद् उपासना बतलाई गयी है जिससे अनन्तलोक पर विजय प्राप्त करता है और जिस प्रकार 'मन को ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने के लिए कहा है' 'आदित्य को ब्रह्मदृष्टि से उपासना का उपदेश है' इन श्रुतिवाक्यों से मन, आदित्यादि में ब्रह्मदृष्टि का अध्यास बतलाया गया है ऐसे ही विशिष्टक्रियासम्बन्धनिमित्त को लेकर प्रलयकाल में वायु अग्न्यादि का संवर्जन करता है एवं सुषुप्तिकाल में प्राण वागादि का संवर्जन करता है, इसी लिए इन दोनों को संवर्ग कहा है। इस उपासना के सदृश भी ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान नहीं है वैसे ही आज्यावेक्षण आदि कर्म की भाँति कर्माङ्गसंस्काररूप भी ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान नहीं है। यदि कथञ्चित् ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान को सम्पदादिरूप मानोगे तो 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्य जो ब्रह्म और आत्मा के एकत्ववस्तु का प्रतिपादन करते हैं वह पदसमन्वय पीडित हो जायेगा। साथ ही, 'परब्रह्म

पीड्येत । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मु० २-२-८) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन् । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि सम्पदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन् । तस्मान्न सम्पदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् । अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या । किं तर्हि ? प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रैव । एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम् । न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, 'अन्यदेव तद्विदितादथो 'अविदितादधि' (केन० १-३) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (बृ० २-४-१३) इति च । तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति—

प्रमितिहेतुर्यः समानाधिकरणवाक्यानां पदनिष्ठः समन्वयस्तात्पर्यं निश्चितं तत्पीड्येत । किञ्च एकत्वज्ञानादाज्ञानिकहृदयस्यान्तःकरणस्य यो रागादिग्रन्थिश्चिज्जडतादात्म्यरूपाहंकारग्रन्थिर्वा नश्यतीत्यज्ञाननिवृत्तिफलवाक्यबाधः स्यात्, सम्पदादिज्ञानस्याप्रमात्वेनाज्ञानानिवर्तकत्वात् । किञ्च जीवस्य ब्रह्मत्वसम्पदा कथं तद्भावः । पूर्वरूपे स्थिते नष्टे वान्यस्यान्यात्मताऽयोगात् । तस्मान्न सम्पदादिरूपमित्यर्थः । सम्पदादिरूपत्वाभावे फलितमाह—अत इति । प्रमात्वान्न कृतिसाध्या, किं तर्हि ? नित्यैव । न प्रमाणसाध्येत्यर्थः । उक्तरीत्या सिद्धब्रह्मरूपमोक्षस्य कार्यसाध्यत्वं तज्ज्ञानस्य नियोगविषयत्वं च कल्पयितुमशक्यं कृत्यसाध्यत्वादित्याह—एवंभूतस्येति । ननु ब्रह्म कार्याङ्गं, कारकत्वात्, पत्न्यवेक्षणकर्मकारकाज्यवदिति चेत्, किं ज्ञाने ब्रह्मणः कर्मकारकत्वं ? उतोपासनायाम् ? नाद्य इत्याह—न चेति । शाब्दज्ञानं विदिक्रियाशब्दार्थः—विदितं कार्यं, अविदितं कारणं, तस्मादधि अन्यदित्यर्थः । येनात्मना इदं सर्वं दृश्यं लोको जानाति तं केन करणेन जानीयात् । तस्मादविषय आत्मेत्यर्थः । न द्वितीय इत्याह—तथेति । 'यन्मनसा न मनुते' (के० १-६) इति श्रुत्या लोको मनसा यद्

का साक्षात्कार हो जाने पर चिज्जडग्रन्थिरूप अन्योन्याध्यास नष्ट हो जाता है, सभी संशय नष्ट हो जाते हैं' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्मज्ञान से अविद्यादिनिवृत्तिरूप जो फल सुना गया है वे सब के सब सब उपरुद्ध हो जायेंगे । 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है' ये सब ब्रह्मभावापत्ति बतलाने वाले वचन सम्पदादिपक्ष में सामञ्जस्य न होने के कारण युक्तियुक्त नहीं रह जायेंगे । अतः ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान सम्पदादिरूप नहीं है । जब ब्रह्मात्मैक्यबोध सम्पदादिरूप नहीं है, तो ब्रह्मविद्या पुरुषव्यापाराधीन नहीं, किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषयभूतज्ञान जैसे प्रमाणतन्त्र एवं वस्तुतन्त्र होते हैं वैसे यह ज्ञान भी प्रमाणतन्त्र एवं वस्तुतन्त्र ही है । इस प्रकार ब्रह्म अथवा उसके ज्ञान का किसी भी युक्ति से कार्यानुप्रवेश की कल्पना नहीं कर सकते हैं । विदि क्रिया के कर्मरूप से ब्रह्म का कार्यानुप्रवेश इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि 'वह ब्रह्म कार्य से भिन्न और कारण से भी भिन्न ही है' इस श्रुति द्वारा ज्ञानक्रिया के कर्मत्व का निषेध कर दिया गया है । 'जिस आत्मा से इन सभी दृश्य को लोक जानता है उसे भला किस करण से जाने' इस श्रुति द्वारा भी ब्रह्म में ज्ञानकर्मत्व का निषेध ही किया गया है । वैसे ही, उपासनाक्रिया का कर्मत्वनिषेध भी केन श्रुति करती है । 'जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिससे वाणी भी प्रकाशित होती है' इस वाक्य से ब्रह्म को वागादि इन्द्रियों का अविषय बतलाकर 'उसी को तू ब्रह्म जान, जिस देशकालवस्तुपरिच्छिन्न वस्तु

'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केन० १-४) इति । अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत् । न । अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य । नहि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति । किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति । तथा च शास्त्रम्—'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' (केन० २-३) 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृ० ३-४-२) इति चैवमादि । अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्ता-

---

ब्रह्म न जानातीत्यविषयत्वमुक्त्वा तदेवावेद्यं ब्रह्म त्वं विद्धि । यत्तूपाधिविशिष्टं देवतादिकमित्युपासते जना नेदं ब्रह्मेत्यर्थः । ब्रह्मणः शाब्दबोधाविषयत्वे प्रतिज्ञाहानिरिति शङ्कते—अविषयत्व इति । वेदान्तजन्य[1]वृत्तिकृताविद्यानिवृत्तिफलशालितया [2]शास्त्रप्रमाणकत्वं वृत्तिविषयत्वेऽपि स्वप्रकाशब्रह्मणो वृत्त्यभिव्यक्तस्फुरणाविषयत्वादप्रमेयत्वमिति परिहरति—नेति । परत्वात् फलत्वादित्यर्थः । निवृत्तिरूपब्रह्मतात्पर्यादिति वार्थः । उक्तं विवृणोति—नहीति । विद्विषयत्वमिदंत्वम् । अविषयतया अनिदन्तया । अदृश्यत्वे श्रुतिमाह—तथा चेति । यस्य ब्रह्मामतं चैतन्याविषय इति निश्चयस्तेन सम्यगवगतम् । यस्य त्वज्ञस्य ब्रह्म चैतन्यविषय इति मतं स न वेद । उक्तमेव दार्ढ्यार्थमनुवदति—अविज्ञातमिति । अविषयतया ब्रह्म विजानतामविज्ञातमदृश्यमिति पक्षः । अज्ञानां तु ब्रह्म विज्ञातं दृश्यमिति पक्ष इत्यर्थः । दृष्टेर्द्रष्टारं चाक्षुषमनोवृत्तेः साक्षिणं, अनया दृश्यया दृष्ट्या न पश्येः विज्ञातेर्बुद्धिवृत्तेर्निश्चयरूपायाः साक्षिणं तथा न विषयीकुर्यादित्याह—नेति । नन्वविद्यानिवर्तकत्वेन शास्त्रस्य प्रामाण्येऽपि निवृत्तेरागन्तुकत्वान्मोक्षस्यानित्यत्वं स्यादिति नेत्याह—अत इति । तत्त्वज्ञाना-

---

की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है' इस वाक्य द्वारा उपासनाक्रिया के कर्मत्व का भी प्रतिषेध कर दिया गया ।

शङ्का—यदि ब्रह्म शाब्दबोध का अविषय है तो फिर शास्त्रयोनित्व की युक्तियुक्तता कैसे सिद्ध होगी ?

समाधान—ऐसी शङ्का ठीक नहीं । शास्त्र अविद्याकल्पितभेद को निवृत्त करता है, वह इदंरूप से विषयभूत ब्रह्म को बतलाना नहीं चाहता किन्तु प्रत्यगात्मरूप से, ज्ञान के अविषयरूप से बतलाता हुआ शास्त्र ब्रह्म में अविद्याकल्पित वेद्यवेदितृत्व एवं वेदनादि भेद का अपनयन करता है । 'जिस साधक को, ब्रह्म चैतन्य अविषयरूप है, ऐसा निश्चय हो गया उसी को ब्रह्म सम्यग्रूप से अवगत हो गया किन्तु जिस अज्ञानी को ब्रह्म चैतन्य विषयरूप में भासता है वह वस्तुतः नहीं जानता' ऐसा बतलाने के बाद उसी बात को दृढ़ करने के लिए 'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यादि ग्रन्थ कहा है अर्थात् विषयत्वेन ब्रह्म को जानने वाले व्यक्ति के लिए ब्रह्म सदा अविज्ञात रहता है किन्तु अज्ञानियों को ब्रह्म विज्ञात कहा गया है । 'चाक्षुषवृत्ति एवं मानसवृत्ति के साक्षी को किसी दृश्यरूप दृष्टि से देखोगे एवं निश्चियरूपा बुद्धिवृत्ति के साक्षी को किस बुद्धिवृत्ति से जान सकोगे ?' ये सब श्रुतियाँ भी ब्रह्म को चाक्षुषादि ज्ञान का अविषय ही बतलाती हैं । अतः तत्त्वज्ञान से अविद्याकल्पित

---

१. ब्रह्माकार इति शेषः । २. ब्रह्मण इति शेषः ।

त्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः। यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं, कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। नहि दध्यादि विकार्यं, उत्पाद्यं वा घटादि, नित्यं दृष्टं लोके। न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा, स्वात्मरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वं, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः, आकाशस्येव। नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा। न तावद्गुणाधानेन सम्भवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि

दित्यर्थः। ध्वंसस्य नित्यत्वादात्मरूपत्वाच्च नानित्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। उत्पत्तिविकाराप्तिसंस्काररूपं चतुर्विधमेव क्रियाफलं, तद्भिन्नत्वान्मोक्षस्य नोपासनासाध्यत्वमित्याह—यस्य तु इत्यादिना तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा इत्यन्तेन। तथा उत्पाद्यत्ववत् विकार्यत्वे चापेक्षत इति युक्तमित्यन्वयः। दूषयति—तयोरिति। स्थितस्यावस्थान्तरं विकारः। नन्वनित्यत्वनिरासाय क्रियया स्थितस्यैव ब्रह्मणो ग्रामवदाप्तिरस्तु, नेत्याह—न चेति। ब्रह्म जीवाभिन्नं न वा? उभयथाप्याप्तत्वान्न क्रियापेक्षेत्याह—स्वात्मेत्यादिना। यथा व्रीहीणां संस्कार्यत्वेन प्रोक्षणापेक्षा तथा मोक्षस्य नेत्याह—नापीत्यादिना। गुणाधानं व्रीहिषु प्रोक्षणादिना, क्षालनादिना वस्त्रादौ मलापनयः। शङ्कते—स्वात्मधर्म इति। ब्रह्मात्मस्वरूप एव मोक्षोऽनाद्यविद्यामलावृत उपासनया मले नष्टेऽभिव्यज्यत

संसारित्व की निवृत्ति हो जाने पर नित्यमुक्त आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है। ऐसे मोक्ष में अनित्यत्वदोष किसी भी प्रकार से नहीं आता है अर्थात् अविद्यानिवृत्ति आत्मस्वरूप होने के कारण मोक्ष में अनित्यत्व का प्रसङ्ग नहीं आता।

उत्पत्ति, विकार, प्राप्ति और संस्कार ऐसे चार प्रकार ही क्रिया के फल होते हैं। मोक्ष इन सबसे भिन्न होने के कारण उपासनासाध्य नहीं है जिसे **'यस्य तु'** से लेकर **'तस्मात् ज्ञानमेकम्'** पर्यन्त ग्रन्थ द्वारा स्पष्ट करते हैं। जिसके मत में मोक्ष उत्पाद्य है उसके मत में मोक्षप्राप्ति के लिए कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म की अपेक्षा होती है ऐसा कहना ठीक ही है। वैसे ही विकार्य पक्ष में भी उक्त कर्मों की उपेक्षा कही जा सकती है। इन दोनों ही पक्षों में मोक्ष अनित्य सुनिश्चित सिद्ध होगा, क्योंकि दध्यादि विकार्य और घटादि उत्पाद्य लोक में नित्य नहीं देखे गये हैं। वैसे ही, मोक्ष को आप्यरूप मानकर ही कायिक आदि क्रिया की अपेक्षा नहीं कह सकते क्योंकि मोक्ष स्वात्मस्वरूप होने के कारण आप्य नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म को जीव से भिन्न मानने पर भी सर्वव्यापक होने के कारण ब्रह्म सदा सबको प्राप्त ही है। जैसे व्यापक आकाश सदा सबको प्राप्त ही है, ऐसे ही, ब्रह्मस्वरूप मोक्ष भी सदा प्राप्त ही है; अतः मोक्ष में आप्यत्व नहीं है। यज्ञाङ्ग व्रीहि में प्रोक्षणादि द्वारा गुणों का आधान कर संकार किया जाता है और वस्त्रादि में प्रक्षालन द्वारा मलापनयन किया जाता है, वैसा ब्रह्मस्वरूप मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है जिससे कि व्यापार की अपेक्षा हो। गुणाधान अथवा दोषापनयन के द्वारा संस्कार से युक्त ब्रह्मरूप मोक्ष को नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म आधेय अतिशय वाला नहीं है, तत्स्वरूप ही तो मोक्ष है। नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूप मोक्ष होने के कारण उसमें

संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथादर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्, न; क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया हि क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेतानित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। 'अविकार्योऽयमुच्यते' (गी.२-२५) इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रियात्मनः सम्भवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयात्मा संस्क्रियते। ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः। न, देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्। तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदविद्ययात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम्। यथा

इत्यत्र दृष्टान्तः—यथेति। संस्कारो मलनाशः। किमात्मनि मलः सत्यः कल्पितो वा? द्वितीये ज्ञानादेव तन्नाशो न क्रियया। आद्ये क्रिया किमात्मनिष्ठा अन्यनिष्ठा वा? नाद्य इत्याह—न; क्रियेति। अनुपपत्तिं स्फुटयति—यदीति। क्रिया हि स्वाश्रये संयोगादिविकारमकुर्वती न जायत इत्यर्थः। तच्च वाक्यबाधनम्। न द्वितीय इत्याह—अन्येति। अविषयत्वात् क्रियाश्रयद्रव्या-संयोगित्वादिति यावत्। दर्पणं तु सावयवं क्रियाश्रयेष्टकाचूर्णादिद्रव्यसंयोगित्वात्संस्क्रियत इति भावः। अन्यक्रिययान्यो न संस्क्रियत इत्यत्र व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति। आत्मनो मूलाविद्या-प्रतिबिम्बितत्वेन गृहीतस्य नरोऽहमिति भ्रान्त्या देहतादात्म्यमापन्नस्य क्रियाश्रयत्वभ्रान्त्या संस्कार्यत्वभ्रमान्न व्यभिचार इत्याह—नेति। कश्चिदिति। अनिश्चितब्रह्मस्वरूप इत्यर्थः। यत्रात्मनि विषय आरोग्यबुद्धिरुत्पद्यते तस्य देहसंहतस्यैवारोग्यफलमित्यन्वयः। ननु देहाभिन्नस्य कथं संस्कारः?

दोषापनयन भी नहीं होता। शङ्का—स्वात्मधर्म ही मोक्ष तिरोहित है जो क्रिया के द्वारा आत्मा के संस्कृत होने पर अभिव्यक्त होता है। जैसे ईंट का चूर्ण घर्षणरूप क्रिया से संस्कार किये जाने पर दर्पण में भास्वरत्वधर्म अभिव्यक्त होता है, ऐसे ही उपासनादि क्रिया से आत्मा के संस्कारयुक्त होने पर स्वात्मधर्मरूप मोक्ष अभिव्यक्त होता है। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मनिष्ठ क्रिया मानने पर क्रियाश्रयत्व आत्मा में सिद्ध नहीं हो सकता। क्रिया जिसके आश्रित होती है उसमें विकार उत्पन्न किये बिना अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाती। यदि आत्माश्रित क्रिया द्वारा आत्मा का विकारी होना मानोगे तो उसमें अनित्यत्व आ जायेगा, फिर तो **'अविकार्योऽयमुच्यते'** **(गी. २-२५)** इत्यादि आगमवाक्य बाधित होने लग जायेंगे, वह अनिष्ट होगा। अतः स्वाश्रित क्रिया आत्मा में सम्भव नहीं है। आत्मा से भिन्न में क्रिया मानोगे तो उसका विषय आत्मा नहीं हो सकता, फिर तो ऐसा क्रिया से आत्मा में संस्कार बन ही नहीं सकता। शङ्का—स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि क्रिया देह के आश्रित होती है, उस क्रिया से देही का संस्कार होते देखा गया है। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं। अविद्या से गृहीत देहादिसंघातरूप आत्मा का ही संस्कार होता है क्योंकि स्नान, आचमन आदि व्यापार देह से सम्बद्ध प्रत्यक्ष भासता है। ऐसे देहाश्रित क्रिया द्वारा देह से जुड़ा हुआ अविद्या के कारण आत्मत्वेन परिगृहीत का ही संस्कार होता है। जो अज्ञान के कारण देह के साथ तादात्म्य कर बैठा है ऐसे सोपाधिक आत्मा का ही संस्कार होता है, शुद्ध का नहीं। जैसे देह में चिकित्सा होने से धातु की समता होती है, उससे देहाभिमानी संघात से

देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलं, अहमरोग इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते। एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना अहं शुद्धः संस्कृत इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैव ह्यहंकर्त्राहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते। तत्फलं च स एवाश्नाति, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'(मु० ३-१-१) इति मन्त्रवर्णात्। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (का० १-३-४) इति च। तथा च 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ६-११) इति।

तस्यामुष्मिकफलभोक्तृत्वायोगादित्यत आह—तेनेति। देहसंहतेनैवान्तःकरणप्रतिबिम्बात्मना कर्ताहमिति भासमानेन प्रत्ययाः कामादयो मनस्तादात्म्यादस्य सन्तीति प्रत्ययिना क्रियाफलं भुज्यत इत्यर्थः। मनोविशिष्टस्यामुष्मिकभोक्तुः संस्कारो युक्त इति भावः। विशिष्टस्य भोक्तृत्वं न केवलस्य साक्षिण इत्यत्र मानमाह—तयोरिति। प्रमातृसाक्षिणोर्मध्ये 'सत्त्वसंसर्गमात्रेण कल्पितकर्तृत्वादिमान् प्रमाता पिप्पलं [2]कर्मफलं भुङ्क्ते, स एव शोधितत्वेनान्यः साक्षितया प्रकाशत इत्यर्थः। आत्मा देहः। देहादियुक्तं प्रमात्रात्मानमित्यर्थः। एवं सोपाधिकस्य चिद्धातोर्मिथ्यासंस्कार्यत्वमुक्त्वा निरुपाधिकस्यासंस्कार्यत्वे मानमाह—एक इति। सर्वभूतेष्वद्वितीय एको देवः स्वप्रकाशः। तथापि मायावृतत्वान्न प्रकाशत इत्याह—गूढ इति। ननु जीवेनासम्बन्धाद्भिन्नत्वाद्वा देवस्याभानं, न तु मायागूहनादिति, नेत्याह—सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मेति। देवस्य विभुत्वात्सर्वप्राणिप्रत्यक्त्वाच्चावरणादेवाभानमित्यर्थः। प्रत्यक्त्वे कर्तृत्वं स्यादिति चेन्न, कर्माध्यक्षः। क्रियासाक्षीत्यर्थः। तर्हि साक्ष्यमस्तीति द्वैतापत्तिः। न, [3]'सर्वभूतानामधिष्ठानं भूत्वा साक्षी भवति। साक्ष्यमधिष्ठाने साक्षिणि कल्पितमिति भावः। साक्षिशब्दार्थमाह—चेता केवल इति। बोद्धृत्वे सति अकर्ता साक्षीति लोक-

---

जुड़े जीव में ही 'अहं नीरोगः' ऐसी बुद्धि जहाँ उत्पन्न होती है उसी में आरोग्यफल देखा गया है। ठीक ऐसे ही, जहाँ पर स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि के द्वारा मैं शुद्ध संस्कृत हो गया, ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, वह संस्कृत माना जाता है। वह देह के साथ जुड़ा हुआ आत्मा ही संस्कारयुक्त कहा जाता है। मैं कर्ता हूँ, ऐसे अहं प्रत्यय वाले जीव के द्वारा सभी क्रिया निष्पन्न होती है और फल भी वही भोगता है, निरुपाधिक आत्मा में न क्रिया है और न उसका फल भोग ही है। इसी बात को 'शुद्ध एवं विशिष्ट में से विशिष्ट आत्मा इस शरीर में होने वाले फल का उपभोग करता है, उससे भिन्न शुद्ध आत्मा केवल साक्षिरूप से प्रकाशता रहता है' यह मन्त्रवर्ण बतला रहा है। 'देह, इन्द्रियों और मन से युक्त चेतन को मनीषियों ने भोक्ता, ऐसी संज्ञा दी है' यह कठश्रुति भी सोपाधिक को ही कर्ता-भोक्ता बतलाती है। वैसे ही, 'सम्पूर्ण भूतों में अद्वितीय, एक, स्वयंप्रकाश देव माया के कारण छिपा हुआ भासता है जो सर्वव्यापक और सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा है। क्रिया का साक्षी, सम्पूर्ण भूतों का अधिष्ठान, चेतन, केवल और निर्गुण है।' चेतन होता हुआ जो निष्पक्षभाव से रहता हो, लोक में उसी को साक्षी कहते हैं। 'निर्गुणश्च' इस पद में चकार अव्यय दोषाभावसमुच्चय के लिए

१, अन्तःकरणम्। २. कर्मफलमिति विवेचनानुरोधादधिकम्। ३. सर्वभूतानामधिवासोऽधिष्ठानं तद्भूत्वेति विवेचनानुगतः पाठः।

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' (ई० ८) इति च। एतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः, ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः। अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम्। तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते। ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया। न, वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च। यथा 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' इति। 'संध्यां मनसा ध्यायेत्' (ऐ० ब्रा० ३-८-१) इति चैवमादिषु।

प्रसिद्धम्। चकारो दोषाभावसमुच्चयार्थः। निर्गुणत्वान्निर्दोषत्वाच्च गुणो दोषनाशो वा संस्कारो नेत्यर्थः। 'सः' इत्युपक्रमाच्छुक्रादिशब्दाः पुंस्त्वेन वाच्याः। स एव आत्मा परि सर्वमगात् व्याप्तः, शुक्रो दीप्तिमान्, अकायो लिङ्गशून्यः, अव्रणोऽक्षतः, अस्नाविरः शिराविधुरः अनश्वर इति वा। आभ्यां पदाभ्यां स्थूलदेहशून्यत्वमुक्तम्। शुद्धो रागादिमलशून्यः। अपापविद्धः पुण्यपापाभ्यामसंस्पृष्ट इत्यर्थः। अत इति। उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारेभ्योऽन्यत्पञ्चमं क्रियाफलं नास्ति, यन्मोक्षस्य क्रियासाध्यत्वे द्वारं भवेदित्यर्थः। ननु मोक्षस्यासाध्यत्वे शास्त्रारम्भो वृथा। न, ज्ञानार्थत्वादित्याह—तस्मादिति। द्वाराभावादित्यर्थः। व्याघातं शङ्कते—नन्विति। तथा च मोक्षे क्रियानुप्रवेशो नास्तीति व्याहतमिति भावः। मानसमपि ज्ञानं—न विधियोग्या क्रिया, वस्तुतन्त्रत्वात्, कृत्यसाध्यत्वाच्चेत्याह—नेति। वैलक्षण्यं प्रपञ्चयति—क्रिया हीति। यत्र विषये तदनपेक्ष्यैव या चोद्यते तत्र सा हि क्रियेति योजना। विषयवस्त्वनपेक्षा, कृतिसाध्या च क्रियेत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। गृहीतमध्वर्युणेति शेषः। वषट्करिष्यन्होता, संध्यां देवतामिति चैवमादिवाक्येषु यथा यादृशी ध्यानक्रिया

दिया गया है अर्थात् निर्गुण और निर्दोष होने के कारण आत्मा में न गुणाधानरूप और न दोषापनयरूप संस्कार ही होता है। **'स पर्यगात्'** इस मन्त्र में **'सः'** शब्द पुंलिङ्ग निर्देश होने के कारण शुक्रादि शब्द को भी पुंलिङ्गरूप से विपरिणाम कर लेना चाहिए। वह आत्मा सभी ओर व्याप्त है, दीप्तिमान है, सूक्ष्मशरीर से रहित है। **'अव्रणम्'** और **'अस्नाविरम्'** इन दोनों पदों से स्थूलदेह से शून्य आत्मा को कहा गया है। रागादि मलरहित, पुण्य-पापसंसर्गशून्य आत्मा है। पूर्वोक्त दोनों मन्त्र ब्रह्म को अनाधेय, अतिशय और नित्यशुद्ध बतलाते हैं। ब्रह्मभाव ही मोक्ष है, इसीलिए मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है। पूर्वोक्त उत्पत्त्यादि चार से भिन्न पञ्चम प्रकार मोक्ष के लिए क्रियानुप्रवेशद्वार के रूप में कोई दिखला नहीं सकता। अतः केवल ज्ञान को छोड़कर मोक्ष में क्रिया का गन्धमात्र भी अनुप्रवेश युक्तिसिद्ध नहीं है।

शङ्का—ज्ञान भी तो मानसिक क्रिया ही है, फिर मोक्ष में क्रिया का अनुप्रवेश नहीं है, यह कहना वदतोव्याघातदोषग्रस्त है। समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान और क्रिया में वैलक्षण्य है। वस्तुस्वरूप की अपेक्षा किये बिना ही जिसका विधान होता है, उसे क्रिया कहते हैं, वह क्रिया पुरुषचित्तव्यापार के अधीन होती है; उसी प्रकार, जिस प्रकार 'अध्वर्यु जिस देवता के लिए हविग्रहण करता है उसका मन से चिन्तन करता हुआ आहुति डाले' 'होता मन से देवता का

ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं, पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्। अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न चोदनातन्त्रम्। नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः' (छा० ५-७-१) 'योषा वाव गौतमाग्निः' (छा० ५-८-१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति। केवलचोदनाजन्यत्वात्क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिर्न सा चोदनातन्त्रा। नापि पुरुषतन्त्रा। किं तर्हि ? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेव तन्न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्य-

---

वस्त्वनपेक्षा पुंतन्त्रा च चोद्यते तादृशी क्रियेत्यर्थः। ध्यानमपि मानसत्वाज्[1]ज्ञानवन्न क्रियेत्यत आह—ध्यानमित्यादिना। तथापि क्रियैवेति शेषः। कृत्यसाध्यत्वमुपाधिरिति भावः। ध्यानक्रियामुक्त्वा ततो वैलक्षण्यं ज्ञानस्य स्फुटयति—ज्ञानं त्विति। अतः प्रमात्वान्न चोदनातन्त्रं न विधेर्विषयः। पुरुषः कृतिद्वारा तन्त्रं हेतुर्यस्य तत्पुरुषतन्त्रं, तस्माद्वस्त्वव्यभिचारादपुंतन्त्रत्वाच्च ध्यानाज्ज्ञानस्य महान्भेद इत्यर्थः। भेदमेव दृष्टान्तान्तरेणाह—यथा चेति। अभेदासत्त्वेऽपि विधितो ध्यानं कर्तुं शक्यं, न ज्ञानमित्यर्थः। ननु प्रत्यक्षज्ञानस्य विषयजन्यतया [2]तत्तन्त्रत्वेऽपि शाब्द[3]बोधस्य [4]तदभावाद्विधेयक्रियात्वमिति, नेत्याह—एवं सर्वेति। शब्दानुमानाद्यर्थेष्वपि ज्ञानम[5]विधेयक्रियात्वेन ज्ञातव्यम्। [6]तत्रापि मानादेव ज्ञानस्य प्राप्तेर्विध्ययोगादित्यर्थः। तत्रैवं सति। लोके ज्ञानस्याविधेयत्वे सतीत्यर्थः। यथाभूतत्वमबाधितत्वम्। ननु 'आत्मानं पश्येत्' 'ब्रह्म त्वं विद्धि' (केन० १-५) 'आत्मा द्रष्टव्यः' (बृ० २-४ ५) इति विज्ञाने लिङ्लोट्तव्यप्रत्यया विधायकाः श्रूयन्ते, अतो ज्ञानं विधेयमित्यत आह—तद्विषय इति। तस्मिन् ज्ञानरूपविषये विधयः पुरुषं प्रवर्तयितुमशक्ता भवन्ति। अनियोज्यं कृत्यसाध्यं नियोज्यशून्यं वा ज्ञानं तद्विषयकत्वादित्यर्थः। ममायं नियोग इति बोद्धा नियोज्यो विषयश्च

ध्यान करे' इत्यादि मन्त्रों में क्रिया का विधान किया गया है। यहाँ पर ध्यान, चिन्तन यद्यपि मानस है, फिर भी पुरुषाधीन होने के कारण उसे करने, न करने, अन्यथा करने में पुरुष स्वतन्त्र है। इसके विपरीत, ज्ञान प्रमाणजन्य है और प्रमाण यथाभूतवस्तु को बतलाता है; अतः ज्ञान में करना, न करना, अन्यथा करना सम्भव नहीं है, वह तो केवल वस्तुतन्त्र ही है। वह न तो विधि के अधीन है और न पुरुष के ही अधीन है। अतः मानस होने पर भी ज्ञान में क्रिया की अपेक्षा अत्यन्त वैलक्षण्य है। उस वैलक्षण्य को दृष्टान्त से **'यथा च'** इत्यादि ग्रन्थ द्वारा भाष्यकार बतलाते हैं। 'हे गौतम ! पुरुष अग्नि है' 'निःसन्देह, हे गौतम ! स्त्री भी अग्नि है' इन मन्त्रों में अग्निबुद्धि मानसीक्रिया है जो केवल विधिजन्य है और वह पुरुष प्रयत्न के अधीन भी है। किन्तु जब प्रसिद्ध अग्नि में अग्निबुद्धि की जाती है, तो वह विधितन्त्र नहीं है और न पुरुषव्यापाराधीन ही है। फिर वह क्या है ? वह तो

---

१. ज्ञानवदिति—अत्र ज्ञानमेवेति विवेचनानुसृतः पाठः। २. वस्तुतन्त्रत्वेऽपि। ३. ज्ञानस्य। ४. विषयजन्यत्वाभावात्। ५. अविधेयक्रियात्वेनेति—विधानार्हक्रियाभिन्नत्वेनेत्यर्थः। ६. शब्दादौ।

नियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्त्युपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्, अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात् । किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' (बृ० २-४-५) इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि ? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः । यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूत्' इति, न च तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि । तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते—'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ०२-४-६)

विधेर्नास्तीति भावः । तर्हि ज्ञेयं ब्रह्म **विधीयतां**, नेत्याह—अहेयेति । **वस्तुस्वरूपो विषयस्तत्त्वात्** । **ब्रह्मणो निरतिशयस्यासाध्यत्वान्न विधेयत्वमित्यर्थः** । **उदासीनवस्तुविषयकत्वाच्च ज्ञानं न विधेयं, प्रवृत्त्यादिफलाभावादित्यर्थः** । **विधिपदानां गतिं पृच्छति**—किमर्थानीति । **विधिच्छायानि प्रसिद्धयागादिविधितुल्यानीत्यर्थः** । **विधिप्रत्ययैरात्मज्ञानं परमपुरुषार्थसाधनमिति स्तूयते । स्तुत्या आत्यन्तिकेष्टहेतुत्वभ्रान्त्या या विषयेषु प्रवृत्तिरात्मश्रवणादिप्रतिबन्धिका तन्निवृत्तिफलानि विधिपदानीत्याह**—स्वाभाविकेति । **विवृणोति**—यो हीत्यादिना । **तत्र विषयेषु संघातस्य या प्रवृत्तिः तद्गोचराच्छब्दादेरित्यर्थः** । **स्रोतश्चित्तवृत्तिप्रवाहः** । **प्रवर्तयन्ति ज्ञानसाधनश्रवणादाविति शेषः** । **श्रवणस्वरूपमाह**—तस्येति । **अन्वेषणं ज्ञानम्** । **यदिदं जगत्तत्सर्वमात्मैवेत्यनात्मबाधेनात्मा बोध्यते** ।

प्रत्यक्षविषयवस्तु के अधीन होने से ज्ञानरूप ही है, क्रियारूप नहीं । इस प्रकार शब्द, अनुमान इत्यादि प्रमाण के विषय में भी ज्ञान, अविधेयरूप-क्रिया होने से ज्ञातव्य है । जब लोक में ज्ञान विधेय नहीं तो वेद में भी ज्ञान विधेय नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में ज्ञान यथाभूत ब्रह्मात्मवस्तु को ही विषय करता है जो विधितन्त्र नहीं है । शङ्का—**'आत्मानं पश्येत्' 'ब्रह्म त्वं विद्धि' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** इन सब स्थलों में **लिङ् लोट् तव्य** प्रत्यय विधायक जब सुनायी पड़ रहे है तो ज्ञान भी विधेय माना जा सकता है । समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं । उस ज्ञानरूप विषय में लिङादि प्रत्यय पुरुष को प्रवृत्त नहीं कर सकते क्योंकि वहाँ पर कोई नियोज्य नहीं है जिसे विधिज्ञान में नियुक्त कर सकें । ऐसी स्थिति में पत्थर आदि कठोर वस्तु पर चलाये हुए तीक्ष्ण छूरे जैसे निरर्थक हो जाते हैं ऐसे ही नियोज्य के अभाव में आपाततः सुने गये लिङादि प्रत्यय पुरुष को प्रवृत्त करने में कुण्ठित हो जाते हैं । ज्ञान का विषय ब्रह्म एक ऐसा पदार्थ है जो न हेय है और न उपादेय ही है, फिर भला तद्विषयकज्ञान का विधान लिङादि प्रत्यय कैसे कर सकेंगे ।

शङ्का—तब तो **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'** इत्यादि विधितुल्य वचन क्यों कहे गये ? समाधान—अज्ञानी मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषय की ओर होती है, उससे विमुख करने के लिए उक्त वाक्यों में विधिछाया प्रत्यय दिखायी पड़ते हैं, यह हमारा निश्चय है । जो बहिर्मुख पुरुष मेरा इष्ट हो अनिष्ट न हो, ऐसा मानकर विषयों में प्रवृत्त होता रहता है वह वहाँ पर आत्यन्तिक पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर पाता, पर चाहता तो है वह भी आत्यन्तिक पुरुषार्थ को प्राप्त करना । ऐसे व्यक्ति के स्थूलसूक्ष्मशरीर की प्रवृत्ति स्वभाव से बाह्यविषयों में हुआ करती है । उससे विमुखकर प्रत्यगात्मा की ओर ज्ञान के साधन श्रवणादि में **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** इत्यादि वाक्य प्रवृत्त

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ० ४-५-१५) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २-५-१९) इत्यादिभिः। यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलङ्कारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति। तथा च श्रुतिः—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।' (बृ० ४-४-१२) इति। 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत' (गी० १५-२०) इति च स्मृतिः। तस्मान्न [1]प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

यदपि केचिदाहुः—'प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो

अद्वितीयादृश्यात्मबोधे क्व विधिस्तपस्वी द्वैतवनोपजीवनः स्थास्यतीति भावः। आत्मज्ञानिनः कर्तव्याभावे मानमाह—तथा चेति। 'अयं स्वयं [2]प्रभानन्दः परमात्माहमस्मि' इति यदि कश्चित्पुरुष आत्मानं जानीयात्तदा किं फलमिच्छन्, कस्य वा भोक्तुः प्रीतये, शरीरं तप्यमानमनुसंज्वरेत् तप्येत। भोक्तृभोग्यद्वैताभावात्कृतकृत्य आत्मविदित्यभिप्रायः। ज्ञानदौर्लभ्यार्थश्चेच्छब्दः। एतद्गुह्यतमं तत्त्वम्। वृत्तिकारमतनिरासमुपसंहरति—तस्मादिति।

प्राभाकरोक्तमुपन्यस्यति—यदपि केचिदिति। कर्तात्मा लोकसिद्धत्वान्न वेदान्तार्थः। तदन्यद्-

---

कराते हैं। ऐसे ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील साधक को हेय-उपादेय से शून्य आत्मतत्त्व का उपदेश किया जाता है। 'यह सब जो कुछ भी दीखता है वह आत्मा ही है' 'जिस अवस्था में इस ज्ञानी का सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहाँ कौन किससे किसको देखेगा? कौन किससे किसको जानेगा? अरे! विज्ञाता को किससे जाने?' 'यह आत्मा ही ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा मुमुक्षु के लिए आत्मतत्त्व का उपदेश किया गया है। जब अकर्तव्यप्रधान आत्मज्ञान है जो हान या उपादान के लिए नहीं है तो उसे उसी रूप में माना जाता है और यह हमारे लिए ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार हो जाने पर सभी कर्म का छूट जाना, कृतकृत्यता का आ जाना भूषण है, दूषण नहीं है। ऐसा ही श्रुति ने भी कहा है कि 'यह स्वयंप्रकाश परमात्मा ही मैं हूँ। ऐसा किसी पुरुष ने अपने को जान लिया तो भला वह किस फल को चाहता हुआ किस भोक्ता की प्रसन्नता के लिए संतप्त शरीर के पीछे तपने लग जाय।' भोक्ता-भोग्य द्वैत का अभाव हो जाने से वह आत्मज्ञानी कृतकृत्य हो जाता है। **'चेत्'** अव्यय से ज्ञान का दौर्लभ्य बतलाया गया है। 'इस गुह्यतम आत्मतत्त्व को जानकर साधक बुद्धिमान और कृतकृत्य हो जाता है' ऐसी स्मृति भी है। बोधायन वृत्तिकार के मतनिराकरण प्रसङ्ग को **'तस्मात्'** इत्यादि ग्रन्थ से अब समाप्त कर रहे हैं। अतः प्रतिपत्तिविधि के विषयरूप में वेद ब्रह्म को नहीं बतलाता, यह निश्चित हुआ।

'यदपि केचित्' इस ग्रन्थ से प्राभाकरमत का उपन्यास करते हैं। प्राभाकरों ने कहा है कि प्रवृत्तिविधि, निवृत्तिविधि एवं प्रवृत्ति-निवृत्तिविधि के शेष से भिन्न केवल सिद्धवस्तु को कहने वाला वेदभाग है ही नहीं क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं? प्राभाकरों का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि औपनिषद पुरुष किसी अन्य का अङ्ग नहीं है। विशुद्ध आत्मा जो उपनिषदों में जाना

---

१. प्रतिपत्तिविधिविषयतयेति—उपासनविधिविषयतयेत्यर्थः। २. स्वप्रकाशानन्दरूप इत्यर्थः।

नास्ति' इति, तन्न, औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात् । योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म, उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्, 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३-९-२६) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात् । नन्वात्माहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम् । न, तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात् । नह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः

ब्रह्म नास्त्येव, वेदस्य कार्यपरत्वेन मानाभावादित्यर्थः । मानाभावोऽसिद्ध इत्याह—तन्नेति । अज्ञातस्य फलस्वरूपस्यात्मन उपनिषदेकवेद्यस्याकार्यशेषत्वात् कृत्स्नवेदस्य कार्यपरत्वमसिद्धम् । न च प्रवृत्तिनिवृत्तिलिङ्गाभ्यां 'श्रोतुस्तद्धेतुं कार्यबोधमनुमाय वक्तृवाक्यस्य कार्यपरत्वं निश्चित्य वाक्यस्थपदानां कार्यान्विते शक्तिग्रहान्न सिद्धस्यापदार्थस्य वाक्यार्थत्वमिति वाच्यम् । 'पुत्रस्ते जातः' इति वाक्यश्रोतुः पितुर्हर्षलिङ्गेनेष्टं पुत्रजन्मानुमाय पुत्रादिपदानां सिद्धे संगतिग्रहात्, कार्यान्वितापेक्षयान्वितार्थे शक्तिरित्यङ्गीकारे लाघवात्, सिद्धस्यापि वाक्यार्थत्वादित्यलम् । किञ्च ब्रह्मणो नास्तित्वादेव कृत्स्नवेदस्य कार्यपरत्वं उत वेदान्तेषु तस्याभानात्, अथवा कार्यशेषत्वात्, किं वा लोकसिद्धत्वाद्वाहोस्वित् मानान्तरविरोधात् ? तत्राद्यं पक्षत्रयं निराचष्टे—योऽसाविति । **अनन्यशेषत्वार्थं 'असंसारी' इत्यादि विशेषणम् । नास्तित्वाभावे हेतुं वेदान्तमानसिद्धत्वमुक्त्वा हेत्वन्तरमात्मत्वमाह**—स एष इति । **इतिरिदमर्थे । 'इदं न इदं न' इति सर्वदृश्यनिषेधेन य आत्मा उपदिष्टः स एष इत्यर्थः । चतुर्थं शङ्कते**—नन्वात्माहमिति । **आत्मनोऽहङ्कारादिसाक्षित्वेनाहंधीविषयत्वस्य निरस्तत्वान्न लोकसिद्धतेत्याह**—नेति । **यं तीर्थकारा अपि न जानन्ति तस्यालौकिकत्वं किमु वाच्यमित्याह**—नहीति । **समस्ततारतम्यवर्जितः । तत्तन्मते आत्मानधिगतिद्योतकानि विशेषणानि ।**

गया है, जो असंसारी ब्रह्मरूप है; उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य ऐसे चतुर्विध द्रव्य से विलक्षण है, अपने प्रकरण में ही स्थित है, वह किसी अन्य का अङ्ग नहीं है। उसके सम्बन्ध में, ऐसा पुरुष नहीं है और न उसका बोध ही होता है, इस प्रकार नहीं कह सकते। 'यह नहीं, यह नहीं' इस प्रकार सर्वदृश्यनिषेधपूर्वक आत्मा का उपदेश किया गया है। उस आत्मा का निराकरण कोई कर नहीं सकता, क्योंकि जो निराकरण करने वाला है वही आत्मा है, फिर भला अपने विषय में वह प्रतिवादी कैसे बन सकता है। सम्पूर्ण वेद कार्यबोधक है, इसमें पूर्वपक्षी पाँच हेतु दे सकता है—(१) ब्रह्म नहीं है। (२) वेदान्त से ब्रह्म का भान नहीं होता। (३) ब्रह्म कार्य का शेष है। (४) ब्रह्म लोकसिद्ध वस्तु है और (५) मानान्तर से विरोध है। इनमें से तीन कारणों का अब तक निषेध किया गया था, अब चतुर्थ की आशङ्का कर निषेध के लिए **'नन्वात्माहम्'** इत्यादि ग्रन्थ प्रारम्भ करते हैं। जब मैं आत्मा हूँ इस प्रतीति का विषय ब्रह्मस्वरूप आत्मा हो रहा है तो फिर ब्रह्म उपनिषदों से ही जाना जाता है ऐसा कहना असङ्गत ही है। यह चतुर्थ कल्प भी ठीक नहीं क्योंकि आत्मा अहं प्रतीति का विषय नहीं, अपितु अहं प्रतीति का साक्षी है, ऐसा अनुभव सिद्ध होने के कारण ब्रह्म लोकसिद्ध नहीं है। अहं प्रतीति का साक्षी अहं प्रतीति के विषय-कर्ता से भिन्न है जो सम्पूर्ण भूतों में स्थित है

---

१. श्रोतुर्मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्त्यादिलिङ्गेन। २. प्रवृत्त्यादिहेतुम्। ३. ज्ञानम्। ४. बालेनेति शेषः। ५. वृद्धवाक्यस्य। ६. शक्तिः। ७. तीर्थकारा इति—अत्र तीर्थकरा इति पाठो विवेचनानुगतः।

पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा, अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम् । आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः । सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति । पुरुषो हि विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः । तस्मात् 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (का० १-३-११) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३-९-२६) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते । अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम् ।

पञ्चमं निरस्यति—अत इति । केनचिद्वादिना प्रमाणेन युक्त्या वेत्यर्थः । अगम्यत्वान्न मानान्तरविरोध इति भावः । साक्षी कर्माङ्गं, चेतनत्वात्, कर्तृवदिति, तत्राह—विधीति । अज्ञातसाक्षिणोऽनुपयोगाज्ज्ञातस्य व्याघातकत्वान्न कर्मशेषत्वमित्यर्थः । साक्षिणः सर्वशेषित्वादहेयानुपादेयत्वाच्च न कर्मशेषत्वमित्याह—आत्मत्वादिति । अनित्यत्वेनात्मनो हेयत्वमाशङ्क्याह—सर्वं हीति । परिणामित्वेन हेयतां निराचष्टे—विक्रियेति । उपादेयत्वं निराचष्टे—अत एवेति । निर्विकारित्वादित्यर्थः । उपादेयत्वं हि साध्यस्य न त्वात्मनः, नित्यसिद्धत्वादित्यर्थः । परप्राप्त्यर्थं आत्मा हेय इत्यत आह—तस्मात् पुरुषान्न परं किञ्चिदिति । काष्ठा सर्वस्यावधिः । एवमात्मनोऽनन्यशेषत्वात्, अबाध्यत्वात्, अपूर्वत्वात्, वेदान्तेषु 'स्फुटभानाच्च वेदान्तैकवेद्यत्वमुक्तम् । तत्र श्रुतिमाह—तं त्वेति । तं सकारणसूत्रस्याधिष्ठानं पुरुषं पूर्णं हे शाकल्य, त्वा त्वां पृच्छामीत्यर्थः । अत इति । उक्तलिङ्गैः श्रुत्या च वेदान्तानामात्मवस्तुपरत्वनिश्चयादित्यर्थः ।

और वह सर्वत्र समान है । एक, कूटस्थ, नित्य पुरुष है जो सबकी आत्मा है, उसे न तो किसी ने वेद के विधिकाण्ड में जाना और न तर्कशास्त्र में ही उसे पहचाना, फिर भला प्रमाणान्तर से ब्रह्म को कैसे सिद्ध कर सकते हो । मानान्तर-विरोध की शङ्का भी उचित नहीं है क्योंकि कोई वादी किसी प्रमाण और तर्क से उस आत्मा का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता और न विधि का शेष ही उसे बना सकता है क्योंकि जब तक वह अज्ञात रहता है तब तक उसका उपयोग नहीं होता और ज्ञात होने पर वह कर्म का शेष नहीं रह जाता । साक्षी आत्मा सभी का शेषी होने से न वह हेय है और न वह उपादेय ही है । अनित्य होने के कारण आत्मा को हेय कहने का साहस कोई नहीं कर सकता क्योंकि सभी कार्य नष्ट होते-होते अन्त में पुरुष शेष रहता है । पुरुष के नाश का कोई कारण नहीं, इसलिए वह अविनाशी है । विकाररहित होने से वह कूटस्थनित्य है । साध्य पदार्थ ही उपादेय हुआ करता है । अतः आत्मा नित्यसिद्ध होने के कारण उपादेय भी नहीं है, वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है । इसीलिए तो 'पुरुष से श्रेष्ठ सूक्ष्म कोई दूसरा नहीं है, वह सबकी अवधि है और वही परागति है ।' इस प्रकार आत्मा अन्यशेष नहीं, अबाधित, अपूर्व, वेदान्तशास्त्र से स्फुट भान होने वाला है । अतः वह वेदान्तैकवेद्य है । 'मैं तुझे उस उपनिषदैकसमधिगम्य पुरुष के सम्बन्ध में पूछता हूँ' ऐसा औपनिषदत्वविशेषण तभी युक्तिसंगत होगा, जब आत्मा को उपनिषदों में ही प्रधानरूप से प्रकाशित होना मानोगे । जब उक्त तर्कों और श्रुति से वेदान्त आत्मवस्तुबोधक सिद्ध हो गया, तो भूतवस्तुपरक वेदभाग है ही नहीं, ऐसा कहना अपने अविवेक का परिचय देना है ।

१. स्फुटभानादिति—स्फुटत्वादित्यर्थः ।

यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' (शाब० भा०) इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै. १-२-१) इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रवृत्तिनिवृत्ति[1]विधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन,

पूर्वोक्तमनुवदति—यदपीति। वेदस्य नैरर्थक्ये शङ्किते 'तस्यार्थवत्तापरमिदं भाष्यम्—दृष्टो हीति। तत्र 'फलवदर्थावबोधनम्' इति वक्तव्ये धर्मविचारप्रक्रमात् 'कर्मावबोधनम्' इत्युक्तं, नैतावता वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वनिरासः। 'अत एवानुपलब्धेऽर्थे 'तत्प्रमाणम्' इति सूत्रकारो धर्मस्य फलवदज्ञातत्वेनैव वेदार्थतां दर्शयति। 'तच्चाविशिष्टं ब्रह्मण इति न वृद्धवाक्यविरोध इत्याह—तद्धर्मेति। निषेधशास्त्रस्यापि निवृत्तिकार्यपरत्वमस्ति, तत्सूत्रभाष्यवाक्यजातं 'कर्मकाण्डस्य कार्यपरत्वाभिप्रायमित्यर्थः। वस्तुतस्तु लिङर्थे कर्मकाण्डस्य तात्पर्यं, लिङर्थश्च लोके प्रवर्तकज्ञानगोचरत्वेन क्लृप्तं यागादिक्रियागतमिष्टसाधनत्वमेव, न क्रियातोऽतिरिक्तं कार्यं, तस्य कूर्मलोमवदप्रसिद्धत्वादिति तस्यापि पराभिमतकार्यविलक्षणे सिद्धे प्रामाण्यं किमुत ज्ञानकाण्डस्येति मन्तव्यम्। किञ्च वेदान्ताः सिद्धवस्तुपराः, 'फलवद्भूतशब्दत्वात्, दध्यादिशब्दवदित्याह—अपि चेति। किमक्रियार्थकशब्दानामानर्थक्यमभिधेयाभावः, फलाभावो वा? आद्य आह—आम्नायस्येति। इति न्यायेन एतदभिधेयराहित्यं नियमेनाङ्गीकुर्वतां 'सोमेन यजेत' 'दध्ना जुहोति' (आ० श्रौ० सू० ६-२५) इत्यादिवाक्येषु दधिसोमादिशब्दानामर्थशून्यत्वं स्यादित्यर्थः। ननु केनोक्तमभिधेयराहित्यमित्याशङ्क्याह—प्रवृत्तीति। कार्यातिरेकेण भव्यार्थत्वेन कार्यशेषत्वेन दध्यादिशब्दो भूतं वक्ति चेत्, तर्हि सत्यादिशब्दः कूटस्थं न वक्तीत्यत्र को हेतुः, किं कूटस्थस्याक्रियात्वादुताक्रियाशेषत्वाद्वेति प्रश्नः। ननु दध्यादेः कार्यान्वयित्वेन कार्यत्वादुपदेशः, न

और जो पूर्ववादी ने कार्यपरक न मानने पर वेद के निरर्थक होने की आशङ्का की थी कि शास्त्रतात्पर्य जानने वालों का अनुक्रमण है कि 'वेद का तात्पर्य कर्मावबोध में ही देखा गया है' इत्यादि, वह तो धर्मजिज्ञासा के सम्बन्ध में होने से विधि एवं प्रतिषेधशास्त्र के अभिप्राय से कहा गया समझना चाहिए। अनुपलब्ध अर्थ में यदि वेद प्रमाण है तो फलवाले अज्ञात अर्थ का बोधक होने से ब्रह्म भी वेदार्थ ही है, ऐसा मानने पर किसी वृद्धवाक्यों के साथ विरोध नहीं है, इस प्रकार समझना चाहिए। कर्मकाण्ड का लिङर्थ मे तात्पर्य है, लोक में प्रवर्तकज्ञान का विषय होने के कारण यागादिक्रियागत इष्टसाधनत्व ही लिङर्थ है, क्रिया से भिन्न कोई कार्य लिङर्थ नहीं है। जब कर्मकाण्ड का भी, वादी को अभिमत, कार्य से विलक्षणसिद्ध दधिसोमादि में प्रामाण्य माना जाता है तो फिर ज्ञानकाण्ड का भी क्यों नहीं ब्रह्म में प्रामाण्य माना जायेगा। **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्'** इस सूत्र का तात्पर्य केवल क्रियाबोधन में ही यदि मान लिया जाय, तो सिद्ध वस्तु का उपदेश अनर्थक होने लग जायेगा और यदि प्रवृत्ति-निवृत्तिविधि से भिन्न सिद्धवस्तु का उपदेश भव्यार्थ हो सकता है तो कोई कारण नहीं रह जाता कि कूटस्थनित्य सिद्धब्रह्म का वेदान्त उपदेश न करे। सिद्धवस्तु का उपदेश करने पर वह क्रिया नहीं बन जाती है किन्तु सिद्ध ही बनी रहती है। यदि

१. विधितच्छेषेत्यधिकं लिखितपुस्तके विवेचनायां चानुपादानात्। २. पूर्वपक्षिणा। ३. वेदस्य। ४. वेदान्तानां तत्परत्वनिरासाभावादेव। ५. फलवदज्ञातत्वेन वेदार्थतादर्शनञ्च। ६. न तु ज्ञानकाण्डस्यापि। ७. फलवद्भूतं शब्दयन्तीति तथा तस्य भावस्तस्मात्।

कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः ? नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्। नैष दोषः, क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति। यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति। उच्यते—अनवगतात्म-वस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन। अपि च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति चैव-

कूटस्थस्याकार्यत्वादित्याद्यमाशङ्क्य निरस्यति—नहीति। दध्यादेः कार्यत्वे कार्यमिवे शेषत्वहानिः। अतो भूतस्य कार्याङ्गभूतस्य दध्यादेः शब्दार्थत्वं लब्धमिति भावः। द्वितीयं शङ्कते—अक्रियात्वेऽपीति। क्रियार्थः कार्यशेषपरः। कूटस्थस्य त्वकार्यशेषत्वान्नोपदेश इति भावः। भूतस्य कार्यशेषत्वं 'शब्दार्थ-त्वाय फलाय वा ? नाद्य इत्याह—नैष दोष इति। दध्यादेः कार्यशेषत्वे सत्यपि शब्देन वस्तुमात्रमेवो-पदिष्टं न कार्यान्वयी शब्दार्थः। अन्वितार्थमात्रे शब्दानां शक्तिग्रहणादित्यर्थः। द्वितीयमङ्गीकरोति—क्रियार्थत्वं त्विति। तस्य भूतविशेषस्य दध्यादेः क्रियाशेषत्वं फलमुद्दिश्याङ्गीक्रियत इत्यर्थः। नतु ब्रह्मण इति तुशब्दार्थः। ननु भूतस्य कार्यशेषत्वाङ्गीकारे स्वातन्त्र्येण कथं शब्दार्थतेति, तत्राह—न चेति। फलार्थं शेषत्वाङ्गीकारमात्रेण शब्दार्थत्वभङ्गो नास्ति, शेषत्वस्य शब्दार्थतायामप्रवेशा-दित्यर्थः। आनर्थक्यं फलाभाव इति पक्षं शङ्कते—यदीति। यद्यपि दध्यादि स्वतो निष्फलमपि क्रिया-द्वारा सफलत्वादुपदिष्टं तथापि कूटस्थब्रह्मवादिनः क्रियाद्वाराभावात् तेन दृष्टान्तेन किं फलं स्यादित्यर्थः। भूतस्य साफल्ये क्रियैव द्वारमिति न नियमः, रज्ज्वाः ज्ञानमात्रेण साफल्यदर्शनादित्याह—उच्यत इति। तथैव-दध्यादिवदेवेत्यर्थः। दध्यादेः क्रियाद्वारा साफल्यं ब्रह्मणस्तु स्वत इति विशेषे सत्यपि वेदान्तानां सफलभूतार्थकत्वमात्रेण दध्याद्युपदेशसाम्यमित्यनवद्यम्। इदानीं वेदान्तानां निषेधवाक्यवत्सिद्धार्थपरत्वमित्याह—अपि चेति। नञः प्रकृत्यर्थेन सम्बन्धात् हननाभावो नञर्थः,

कहो कि भूतवस्तु क्रियारूप न होने पर भी क्रिया का साधन होने से क्रियार्थ ही है किन्तु नित्यकूटस्थ ब्रह्म जब किसी भी प्रकार से कार्य का शेष हो ही नहीं सकता, तो उसका उपदेश निरर्थक ही माना जायेगा। ऐसा कहना ठीक नहीं, भूतवस्तु क्रिया के लिए मान लेने के बाद भी क्रियासम्पादनशक्ति वाले भूतवस्तु का उपदेश तो हो ही गया, उस भूतवस्तु दध्यादि में क्रियाशेषत्व तो फल को उद्देश्य रख करके माना गया है इतने मात्र से वह सिद्धवस्तु अनुपदिष्ट तो नहीं मानी जायेगी। शङ्का—यद्यपि दध्यादि स्वतः निष्फल है तथापि क्रिया द्वारा सफल होने के कारण उसका उपदेश सार्थक ही माना जायेगा किन्तु कूटस्थब्रह्मवादी ब्रह्म में क्रिया का प्रवेश मानते ही नहीं फिर भला उक्त दृष्टान्त से क्या लाभ होगा ? समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि दध्यादि के समान ही अनधिगत आत्मवस्तु का उपदेश तो हो ही गया, अन्तर इतना ही है कि दध्यादि में क्रिया द्वारा साफल्य आया और ब्रह्मज्ञान स्वतः संसार-कारण मिथ्याज्ञानका निवर्तक होने से संसार की निवृत्ति प्रयोजनवाला है। क्रिया के साधन सिद्धवस्तु उपदेश के समान ही अर्थवत्ता ब्रह्मात्मवस्तु के उपदेश में भी है ही, साफल्य दोनों में समानरूप से सिद्ध होता है।

१. शब्दाभिधेयत्वसिद्धये।

मात्रा निवृत्तिरुपदिश्यते । न च सा क्रिया, नापि क्रियासाधनम् । अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम् । तच्चानिष्टम् । न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं, हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण । नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधय-

---

इष्टसाधनत्वं तव्यादिप्रत्ययार्थः, इष्टश्चात्र नरकदुःखाभावः, तत्परिपालको हननाभाव इति निषेधवाक्यार्थः । हननाभावो दुःखाभावहेतुरित्युक्तावर्थाद्धननस्य दुःखसाधनत्वधिया पुरुषो [1]**निवर्तते । नात्र नियोगः कश्चिदिति,** [2]**तस्य क्रियातत्साधनद्रव्यादिविषयत्वात् । न च हननाभावरूपा नञ्वाच्या निवृत्तिः क्रिया, अभावत्वात् । नापि क्रियासाधनम् । अभावस्य भावार्थहेतुत्वाद्भावार्थासत्त्वाच्चे**[3]**त्यर्थः । अतो निषेधशास्त्रस्य सिद्धार्थे प्रामाण्यमिति भावः । विपक्षे दण्डमाह**—अक्रियेति । **ननु** [4]**स्वभावतो रागतः प्राप्तेन हन्त्यर्थेनानुरागेण** [5]**नञ्सम्बन्धेन हेतुना हननविरोधिनी संकल्पक्रिया बोध्यते, सा च नञर्थरूपा** [6]**तत्रा**[7]**प्राप्तत्वाद्विधीयते, अहननं कुर्यादिति । तथा च कार्यार्थकमिदं वाक्यमित्याशङ्क्य निषेधति**—न चेति । **औदासीन्यं पुरुषस्य स्वरूपं, तच्च हननक्रियानिवृत्त्युपलक्षितं निवृत्त्यौदासीन्यं हननाभाव इति यावत् । तद्व्यतिरेकेण नञः क्रियार्थत्वं कल्पयितुं न च शक्यमिति योजना । मुख्यार्थस्याभावस्य नञर्थत्वसम्भवे** [8]**तद्विरोधिक्रियालक्षणाया अन्याय्यत्वात् निषेधवाक्यस्यापि कार्यार्थकत्वे विधिनिषेधभेदविप्लवापत्तेश्चेति भावः । ननु तदभाववत्तदन्यतद्विरुद्धयोरपि नञः शक्तिः किं न स्यात्, अब्राह्मणः अधर्म इति प्रयोगदर्शनात्,** [9]**'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ।' इत्यनेकार्थत्वादिति चेन्न, अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वादित्याह**—नञश्चेति । **गवादिशब्दानां तु अगत्या नानार्थकत्वं,** [10]**स्वर्गेषुवाग्वज्रादीनां शक्यपशुसम्बन्धाभावेन**

इसके अतिरिक्त निषेधवाक्य को भाँति वेदान्तवाक्य भी सिद्धार्थबोधक हो ही सकता है, जिस प्रकार **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** ऐसे निषेधवाक्य निवृत्ति का उपदेश करते हैं। वह निवृत्ति कोई क्रिया नहीं है और न क्रिया का साधन हो है। ऐसी स्थिति में अक्रियार्थ का उपदेश यदि अनर्थक माना जाय तो **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'सुरा न पेया'** इत्यादि निवृत्ति के उपदेशकवाक्य भी अनर्थक होने लग जायेंगे जो किसो को इष्ट नहीं है। यदि कहो कि रागतः प्राप्त हनन में अनुराग के कारण जब उसका नञ् के साथ सम्बन्ध होता है तब हननविरोधी संकल्परूपक्रिया का बोध होता है, जो नञर्थरूप है और वह पहले से प्राप्त नहीं है, अपूर्व होने के कारण **'अहननं कुर्यात्'** ऐसा विधान किया जाता है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। औदासीन्य, पुरुष का स्वरूप है जो हननक्रिया की निवृत्ति से उपलक्षित होता है। निवृत्ति औदासीन्य का हननाभाव अर्थ होता है। **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** इस वाक्य में औदासीन्य के अतिरिक्त किसी भी क्रिया की कल्पना नहीं कर सकते। जब नञ् का

---

१. निवर्तत इत्यत्र हननान्निवर्तत इति विवेचनानुगतः पाठः । २. नियोगस्य । ३. नञ इति शेषः । ४. स्वभावत इत्यस्यैव विवरणं रागत इति । ५. हननेन सहानुरागेणेत्यस्यार्थमाह—नञिति । ६. तत्र यथोक्तनिषेधवाक्ये । ७. हननस्य रागतः प्राप्तत्वेऽपि तस्या अप्राप्तत्वादिति भावः । ८. हननम् । ९. तत्सादृश्यमित्यादि—अनिक्षुः शर इत्यादौ सादृश्यं नञर्थः । भूतले घटो नास्तीत्यभावः । अघटः पट इत्यन्यत्वम् । अनुदरमुदर तरुण्या इत्यल्पत्वम् । अब्राह्मणो वार्धुषिक इत्यप्राशस्त्यम् । असुरो दैत्य इति विरोध इत्युदाहरणानि । १०. 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले' इत्यमरः ।

तीति। अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम् । सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात्[1]प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं

लक्षणानवतारात्। अन्यविरुद्धयोस्तु लक्ष्यत्वं युक्तम्, शक्यसम्बन्धात्। ब्राह्मणादन्यस्मिन् क्षत्रियादौ, धर्मविरुद्धे वा पापे [2]ब्राह्मणाद्यभावस्य नञ्शब्दस्य सम्बन्धात्। प्रकृते च आख्यातयोगान्नञ् प्रसज्यप्रतिषेधक एव न पर्युदासलक्षक इति मन्तव्यम्। यद्वा नञः प्रकृत्या न सम्बन्धः, प्रकृतेः प्रत्ययार्थोपसर्जनत्वात्, [3]प्रधानसम्बन्धाच्चाप्रधानानां किन्तु प्रकृत्यर्थनिष्ठेन प्रत्ययार्थेनेष्टसाधनत्वेन सम्बन्धो नञः, इष्टं च [4]स्वापेक्षया बलवदनिष्टाननुबन्धि यत्तदेव, न तात्कालिकसुखमात्रं, विषसंयुक्तान्नभोगस्यापि इष्टत्वापत्तेः। तथा च 'न हन्तव्यः' हननं बलवदनिष्टासाधनत्वे सति इष्टसाधनं न भवतीत्यर्थः। अत्र च 'हन्तव्यः' इति हनने विशिष्टे[5]ष्टसाधनत्वं भ्रान्तिप्राप्तमनूद्य नेत्यभावबोधने बलवदनिष्टसाधनं हननमिति बुद्धिर्भवति, हनने तात्कालिकेष्टसाधनत्वरूपविशेष्यसत्त्वेन विशिष्टाभावबुद्धेर्विशेषणाभावपर्यवसानात्। विशेषणं बलवदनिष्टासाधनत्वमिति तदभावो बलवदनिष्टसाधनत्वं नञर्थ इति पर्यवसन्नम्। [6]तद्बुद्धिरौदासीन्यपरिपालिकेत्याह—अभावेति। चोऽप्यर्थः पक्षान्तरद्योती। प्रकृत्यर्थाभावबुद्धिवत्प्रत्ययार्थाभावबुद्धिरपीत्यर्थः। बुद्धेः क्षणिकत्वात्तदभावे[7] सत्यौदासीन्यात्प्रच्युतिरूपा हननादौ प्रवृत्तिः स्यादिति, तत्राह—सा चेति। यथाग्निरिन्धनं दग्ध्वा शाम्यति एवं सा नञर्थाभावबुद्धिः हननादाविष्टसाधनत्वभ्रान्तिमूलं रागेन्धनं दग्ध्वैव शाम्यतीत्य-

---

मुख्यार्थ अभाव सम्भव है तो हननविरोधी क्रिया में लक्षणा न्यायसंगत नहीं है और कदाचित् निषेधवाक्य को भी कार्यपरक मानोगे तो विधि और निषेधवाक्य में जो अब तक भेद माना जाता था वह आज समाप्त हो जायेगा। नञ् का यह स्वभाव है कि अपने से सम्बन्धी के अभाव का बोध कराता है। ऐसी स्थिति में नञ् का भेद और विरुद्ध अर्थ करना उचित नहीं होगा। **अभावबुद्धि औदासीन्य** का कारण है वह अभावबुद्धि भी स्वयं वैसे ही शान्त हो जाती है जैसे इंधन को जलाकर अग्नि शान्त हो जाती है। ब्राह्मण हननादि में भ्रम से इष्टसाधनत्व प्रतीत होता था, उसमें राग ही कारण था। उस रागरूप इंधन को जलाकर नञर्थ अभावबुद्धि स्वयं शान्त हो जाती है और राग नष्ट हो जाने पर ब्राह्मणहनन जैसे जघन्यकार्य में मनुष्य कैसे प्रवृत्त हो सकता है। अतः रागतः जो हननक्रिया में प्रवृत्ति थी उसे निवृत्त-कर औदासीन्य स्थापित करना **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** इस प्रतिषेधवाक्य का अर्थ हम मानते हैं। केवल प्रजापतिव्रत आदि स्थलों में नञ् का अर्थ भिन्न और विरुद्ध किया जाता है क्योंकि वहाँ पर **'अथ तस्य बटोर्व्रतम्'** ऐसा प्रसंग प्रारम्भ कर **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** इस वाक्य द्वारा प्रजापति व्रत बतलाया गया है। व्रत शब्द अनुष्ठेयक्रियावाचक है और वह प्रसंग के आरम्भ में आया है, इसलिए इस वाक्य में नञ् का अर्थ ईक्षणविरोधी संकल्पक्रिया माना गया है अर्थात् ब्रह्मचारी आदित्य अनोक्षण संकल्प करे। ऐसे स्थलों को छोड़कर सभी जगह नञ्प्रसक्तक्रिया निवृत्तिरूप औदासीन्य का ही बोध कराता है। इस प्रकार दुःखाभाव फल नञ् का जब सिद्ध हो गया तो ऐसे अर्थ में जिस प्रकार निषेधशास्त्र प्रमाण है ऐसे ही **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** यह श्रुतिवाक्य ब्रह्मबोध कराने में प्रमाण माना जाता है। **'आनर्थक्यमतदर्थानाम्'** इस सूत्र में

---

१. रागतः प्रसक्ता या हननक्रिया तन्निवृत्त्युपलक्षितमौदासीन्यमित्यर्थः। २. ब्राह्मणेति—भावप्रधानम्। ३. न ह्युपाधेरिति न्यायात्। ४. स्वमिष्टम्। ५. बलवदनिष्टासाधनत्वे सतीष्टसाधनत्वम्। ६. हननं बलवदनिष्टसाधनमिति बुद्धिः। ७. तादृशबुद्ध्यभावे।

मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः । तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम् ।

यदप्युक्तम्—कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात्, 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादिवदिति, तत्परिहृतम् । 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात् । ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम् । अत्रोच्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात् । 'नहि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभया-

क्षरार्थः । रागनाशे कुतः प्रच्युतिरिति भावः । यद्वा रागतः प्राप्ता सा क्रिया रागनाशे स्वयमेव शाम्यतीत्यर्थः । [2]परपक्षे तु हननविरोधिक्रिया कार्येत्युक्तेऽपि हननस्येष्टसाधनत्वभ्रान्त्यनिरासात् प्रच्युतिर्दुर्वारा । तस्मात्त[3]दभाव एव नञर्थ इत्युपसंहरति–तस्मादिति । [4]भावार्थभावेन [5]तद्विषयककृत्यभावात् कार्याभावस्तच्छब्दार्थः । यद्वत्युक्तपक्षे निवृत्त्युपलक्षितमौदासीन्यं यस्माद्विशिष्टाभावायत्तमेवेति व्याख्येयम् । स्वतःसिद्धस्यौदासीन्यस्य नञर्थसाध्यत्वोपपादनार्थं निवृत्त्युपलक्षितत्वमिति ध्येयम् । 'तस्य बटोर्व्रतम्' इत्यनुष्ठेयक्रियावाचिव्रतशब्देन कार्यमुपक्रम्य '[7]नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इति प्रजापतिव्रतमुक्तम् । अत उपक्रमबलात्तत्र नञ ईक्षणविरोधिसङ्कल्पक्रियालक्षणाङ्गीकृता । एवमगौरसुरा अधर्म इत्यादौ नामधात्वर्थयुक्तस्य नञः प्रतिषेधवाचित्वायोगात् अन्यविरुद्धलक्षकत्वम् । एतेभ्यः प्रजापतिव्रतादिभ्योऽन्यत्राभावमेव नञर्थं मन्यामह इत्यर्थः । दुःखाभावफलके नञर्थे सिद्धे निषेधशास्त्रमानत्ववद्वेदान्तानां ब्रह्मणि मानत्वमिति भावः । तर्ह्यक्रियार्थानामानर्थक्यमिति सूत्रं किंविषयमिति, तत्राह—तस्मादिति । वेदान्तानां स्वार्थे फलवत्त्वाद्व्यर्थकथाविषयं तदित्यर्थः ।

यदपीत्यादि स्पष्टार्थम् । श्रवणज्ञानमात्रात्संसारानिवृत्तावपि साक्षात्काराज्जीवत एव मुक्तिर्दुरपह्नवेति सदृष्टान्तमाह—अत्रोच्यत इत्यादिना । ब्रह्माहमिति साक्षात्कारविरोधादित्यर्थः । तत्त्व-

अक्रियार्थ के बोधक वाक्य को जो अनर्थक कहा गया है उसका तात्पर्य है कि जो वेदवाक्य पुरुषार्थ के योग्य नहीं हैं ऐसे उपाख्यान आदि भूतार्थविषय को बतलाने वाले वाक्य को अनर्थक समझना चाहिए । वेदान्तवाक्य का तो स्वार्थ में ही फल सुना जाता है, अतः व्यर्थकथाविषयक आनर्थक्यवचन सूत्र में कहा गया है ।

और जो पहले प्राभाकरों ने कहा था कि कर्तव्यविधि में प्रवेश के बिना 'सप्तद्वीपवाली पृथ्वी है' इत्यादि वाक्य की भाँति वस्तुमात्र को बतलाने वाला वाक्य अनर्थक है इत्यादि? इस शङ्का का समाधान 'यह रस्सी है, सर्प नहीं है' ऐसे वस्तुमात्रबोधक वाक्य में प्रयोजन देखते हुए दे दिया गया है । यदि कहो कि जिसने वेदान्त श्रवण किया है ऐसे व्यक्ति में भी जब पहले की भाँति सुखदुःखादि संसार दीखता है तो रज्जुस्वरूपकथन की भाँति ब्रह्मात्मबोधक वाक्य को सार्थक कैसे माना जायेगा? तो उसका समाधान यह है कि श्रवण-मात्र से संसार की निवृत्ति न होने पर भी

१. न हीत्यस्य शक्यः कल्पयितुमित्युत्तरेण सम्बन्धः । २. मीमांसकपक्षे । ३. तत्स्वसम्बन्धि । ४. नञ इति शेषः । ५. नञर्थः । ६. अभावस्य सिद्धरूपत्वादिति भावः । ७. नेक्षेतेत्यादेः श्लोकस्यावशिष्टा पादत्रयी 'नास्तं यन्तं कदाचन । नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्' इति ।

विमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवती[१]ति शक्यं कल्पयितुम्। [२]नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति। [३]नच कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या—"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"(छा. ८-१२-१) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेन्न, सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वा[५]न्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम। [६]तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं

विदो जीवन्मुक्तौ मानमाह—तदुक्तं श्रुत्येति। **जीवतोऽशरीरत्वं विरुद्धमिति शङ्कते**—शरीर इति। **आत्मनो देहसम्बन्धस्य भ्रान्तिप्रयुक्तत्वात्तत्त्वधिया तन्नाशरूपमशरीरत्वं जीवतो युक्तमित्याह**—नेत्यादिना। **असङ्गात्मरूपं त्वशरीरत्वं तत्त्वधिया जीवतो व्यज्यत इत्याह**—नित्यमिति। **देहात्मनोः सम्बन्धः सत्य इति शङ्कते**—तत्कृतेति। **तन्नाशार्थं कार्यापेक्षेति भावः। आत्मनः शरीरसम्बन्धे**

तत्त्वसाक्षात्कार के बाद तो जीवनमुक्ति प्राप्त होती ही है, इसका अपलाप कोई कर नहीं सकता क्योंकि ब्रह्मात्मभाव का अपरोक्षज्ञान हो जाने पर पहले की भाँति उस ज्ञानी में संसार नहीं दिखला सकते। कारण यह कि संसार भ्रान्तिजन्य है, उसका वेदप्रमाणजनित ब्रह्मात्मभाव के साथ विरोध है। शरीरादि में आत्माभिमान रखने वाले में दुःखभयादि देखा गया है। उसी व्यक्ति को वेदप्रमाणजन्य ब्रह्मात्मैक्यबोध हो जाने पर जब शरीरादि में अभिमान निवृत्त हो जाता है, तब पहले की भाँति मिथ्याज्ञाननिमित्तक दुःखभयादि बना ही रहता है ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। धनवान गृहस्थ को धन नष्ट हो जाने पर दुःख होता देखा गया है पर जब वही धनाभिमान को छोड़ कर संन्यास ग्रहण कर लेता है तब उसे धनापहारनिमित्तक दुःख नहीं होता। एक व्यक्ति ने कुण्डल पहन रखा है, उसे कुण्डली होने का अभिमान भी है। उस कुण्डलित्वाभिमान के कारण सुख देखा गया है, किन्तु जब वह कुण्डल छोड़ देता है और कुण्डलित्वाभिमान का भी परित्याग कर डालता है तब वही कुण्डलित्वाभिमानप्रयुक्त सुख उसे नहीं होता। इसीलिए तो श्रुति ने कहा है 'आत्मा वास्तव में शरीररहित है, उस अशरीर आत्मा को सुख-दुःख स्पर्श नही करते'। यदि कहो कि मरने के बाद ही किसी जीव में अशरीरत्व आयेगा, जीवित दशा में नहीं? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा में सशरीरत्व मिथ्याज्ञान से भासता है। '**अहं शरीरी**' इस अभिमानरूप मिथ्याज्ञान (भ्रम) को छोड़कर आत्मा में सशरीरत्व का कारण अन्य नहीं हो सकता। शरीर कर्म से बनता है, जब आत्मा में कर्म नहीं तो भला उसका शरीर कैसे कहा जा सकेगा। अतः आत्मा नित्य अशरीर है, ऐसा हम कह आये हैं। यदि कहो कि आत्मा के किये हुए धर्माधर्म के कारण

---

१. इति शक्यं कल्पयितुमिति विवेचनाऽनभ्युपगतः पाठः। २. न हीत्यस्य भवतीत्यनेन सम्बन्धः। ३. नचेत्यस्य भवतीत्यनेन सम्बन्धः। ४. तत्त्वतो विदेहमात्मानं वैषयिके सुखदुःखे न स्पृशतः। ५. कारणान्तरात्। ६. आत्मा।

सशरीरत्वमिति चेन्न, शरीरसम्बन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः । शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषा अनादित्वकल्पना । क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः । संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेन्न, धनदानाद्युपार्जितभृत्यसम्बन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः । न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसम्बन्धनिमित्तं किंचिच्छक्यं कल्पयितुम् । मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्धहेतुः । एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम् । अत्राहुः—देहादि-

जाते धर्माधर्मोत्पत्तिः, तस्यां सत्यां सम्बन्धजन्मेत्यन्योन्याश्रयादेकस्यासिद्ध्या द्वितीयस्याप्यसिद्धिः स्यादिति परिहरति—नेत्यादिना । **नन्वेतद्देहजन्यधर्माधर्मकर्मण एतद्देहसम्बन्धहेतुत्वे स्यादन्योन्याश्रयः, पूर्वदेहकर्मण** एतद्देहसम्बन्धोत्पत्तिः, **पूर्वदेहश्च तत्पूर्वदेहकृतकर्मण इति बीजाङ्कुरवदनादित्वान्नायं दोष इत्यत** आह—अन्धेति । अप्रामाणिकीत्यर्थः । **न हि बीजादङ्कुरः ततो बीजान्तरं च यथा प्रत्यक्षेण दृश्यते तद्वदात्मनो देहसम्बन्धः पूर्वकर्मकृतः प्रत्यक्षः । नाप्यस्ति कश्चिदागमः । प्रत्युत 'असङ्गो हि' (बृ० ४-३-१५) इत्यादिश्रुतिः सर्वकर्तृत्वं वारयतीति भावः । तत्र युक्तिमाह—** क्रियेति । **कूटस्थस्य कृत्ययोगान्न कर्तृत्वमित्यर्थः । स्वतो निष्क्रियस्यापि** [1]**'कारकसंनिधिना कर्तृत्वमिति शङ्कां दृष्टान्तवैधर्म्येण** निरस्यति—नेति । **राजादीनां स्वक्रीतभृत्यकार्ये कर्तृत्वं युक्तं नात्मन इत्यर्थः । देहकर्मणोरविद्याभूमौ बीजाङ्कुरवदावर्तमानयोरात्मना सम्बन्धो भ्रान्तिकृत एवेत्याह—** मिथ्येति । **ननु 'यजेत' इति विध्यनुपपत्त्यात्मनः कर्तृत्वमेष्टव्यमिति, तत्राह**—एतेनेति । **भ्रान्तिकृतेन देहादिसम्बन्धेन यागादिकर्तृत्वमाब्रह्मबोधाद्व्याख्यातमित्यर्थः ।** अत्राहुः । **प्राभाकरा इत्यर्थः ।**

सशरीरत्व होता है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध न सिद्ध होने के कारण धर्माधर्म आत्मकृत ही सिद्ध नही होता । साथ ही, शरीरसम्बन्ध के कारण धर्माधर्म होता है और धर्माधर्म से शरीर बनता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रयत्वदोष आ जायेगा । इसके अतिरिक्त बीजाङ्कुरवत् धर्माधर्म और सशरीरत्व में अप्रामाणिक अनादित्वकल्पना भी अन्धपरम्परा ही मानी जायेगी । क्रिया के साथ आत्मा का सम्बन्ध न होने से उसमें कर्तृत्व भी सिद्ध नहीं होता । यदि कहो कि सेना के जय-पराजय का फल राजा में देखा जाता है क्योंकि उसमें सन्निधिमात्र से कर्तृत्व माना गया है ? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि राजा में धनदानादि से भृत्य का सम्बन्ध खरीदा हुआ है, इसी सेना के जय-पराजय का कर्तृत्व राजा में सिद्ध होता है । पर उस प्रकार धनदानादि के द्वारा शरीरादि के साथ आत्मा के स्व-स्वामीभाव-सम्बन्ध की कल्पना नहीं कर सकते । हाँ, शरीरादि में मिथ्याभिमान ही सम्बन्ध का कारण प्रत्यक्ष दीख पड़ता है । किसी ने कहा था कि '**यजेत**' इस विधि की अन्यथानुपपत्ति से आत्मा में कर्तृत्व मानना चाहिए । यदि आत्मा कर्ता नहीं होता तो 'याग करो' इस विधि की सिद्धि ही नहीं होती, इत्यादि ? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि ब्रह्मज्ञान से पूर्व भ्रान्तिकृत देहादि सम्बन्ध के कारण यागादि का कर्ता आत्मा को कहा गया है ।

इस पर प्राभाकर कहते हैं कि भ्रमज्ञान तो है ही नहीं जिसके आधार पर आत्मा में

१. कारकेति—'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथक्' इति स्मृत्युक्तानि कारकाणि गृहीतव्यानि ।

व्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेन्न, प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः,यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययमाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः सम्पन्नः सिद्धः, [1]तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतः, नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। [2]तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतः, न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम्। आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। तथाच ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—'तद्यथाऽहि-

'भ्रान्त्यभावाद्देहसम्बन्धादिकं सत्यमिति भावः। भेदज्ञानाभावान्न गौण इत्याह—नेति। प्रसिद्धो ज्ञातो वस्तुनोर्भेदो येन तस्य गौणमुख्यज्ञानाश्रयत्वप्रसिद्धेरित्यर्थः। यस्य तस्य पुंसो गौणौ भवत इत्यन्वयः। शौर्यादिगुणविषयावित्यर्थः। तस्य त्विति। भेदज्ञानशून्यस्य पुंस इत्यर्थः। शब्दप्रत्ययाविति। शब्दः शाब्दबोधश्चेत्यर्थः। संशयमूलौ तावुदाहरति—यथा मन्देति। यदा संशयमूलयोर्न गौणत्वं तदा भ्रान्तिमूलयोः किं वाच्यमित्याह—यथा वेति। अकस्मादिति। अतर्किताहृष्टादिना संस्कारोद्बोधे सतीत्यर्थः। निरुपचारेण गुणज्ञानं विनेत्यर्थः। देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनामिति। देहात्मवादिनां तु प्रमेत्यभिमान इति भावः। जीवन्मुक्तौ प्रमाणमाह—तथाचेति।

मिथ्याकर्तृत्व माना जा सके। आत्मा देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि से भिन्न है, उसका अपने शरीर में जो अभिमान भासता है वह गौण है, मिथ्या नहीं है ? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि जहाँ दो वस्तु का भेद ज्ञात हो और एक के गुण दूसरे में दीखते हों तो वहां पर गौणत्व-मुख्यत्व का प्रयोग होता है, जिस प्रकार केसरादि से युक्त आकृतिविशेष अन्वयव्यतिरेक के द्वारा सिंह शब्द एवं प्रतीति का विषय अन्य सिंह प्रसिद्ध है और उससे भिन्न पुरुष प्रायशः सिंह के शूरत्व-क्रूरत्वादि गुणों से युक्त दीखता है तो उस स्थिति में उस पुरुष में सिंह शब्द का प्रयोग गौण माना जायेगा और प्रतीति भी गौण मानी जायेगी। पर जहाँ वस्तु का भेद सिद्ध नहीं हुआ ऐसे स्थल पर यदि किसी अन्य शब्द का प्रयोग होता हो और वैसा शाब्दबोध भी होता हो तो वहाँ पर भ्रान्तिनिमित्तक ही शब्दप्रयोग एवं शाब्दबोध माने जायेंगे, उन्हें गौण नहीं कह सकते। जैसे मन्द अन्धकार में 'यह स्थाणु है' ऐसा स्थाणुत्वविशेष का ग्रहण जब नहीं होता तो उसमें पुरुष शब्द का प्रयोग एवं प्रतीति स्थाणु को ही विषय करते हैं जो मिथ्या हैं। वैसे ही सीप में जब अतर्कित अदृष्ट के कारण पूर्वसंस्कार का उदय होता है तो उस शुक्तिका में अकस्मात् 'यह रजत है' ऐसा शब्दप्रयोग और शाब्दबोध जो आत्मानात्मा-अविवेक के कारण से उत्पन्न होते हैं, उसे गौण कैसे कह सकते हो, वह तो मिथ्या ही है। आत्मानात्मा के विवेकी, परोक्षआत्मज्ञानी पण्डित को भी भेड़-बकरी पालने वाले गड़ेरिये की भाँति आत्मशब्द का

१. तस्य तस्मिन्पुरुष इति विवेचनाभ्युपगतः पाठः। २. अप्रसिद्धवस्तुभेदस्य पुरुषस्य त्वित्यर्थः। ३. तन्मते भ्रान्तेरेवाभावादित्यर्थः। इदं रजतमित्यादिज्ञानं तु भेदाग्रहमूलकम्।

निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते । अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृ०४-४-७) इति । 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च । स्मृतिरपि च 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (भ०गी०२-५४)इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसम्बन्धं दर्शयति । तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम् । यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं, नासावगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम् ।

यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति । न । अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः । यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र

तत्तत्र जीवन्मुक्तस्य देहे। यथा दृष्टान्तः—अहिनिर्ल्वयनी सर्पत्वक् वल्मीकादौ प्रत्यस्ता निक्षिप्ता मृता सर्पेण त्यक्ताभिमाना वर्तते, एवमेवेदं विदुषा त्यक्ताभिमानं शरीरं तिष्ठति । अथ तथा त्वचा निर्मुक्तसर्पवदेवाय देहस्थोऽशरीरः विदुषो देहे सर्पस्य त्वचीवाभिमानाभावादशरीरत्वादमृतः प्राणितीति प्राणो जीवन्नपि ब्रह्मैव, किं तद्ब्रह्म तेजः स्वयंज्योतिरानन्द एवेत्यर्थः । वस्तुतोऽचक्षुरपि बाधितचक्षुराद्यनुवृत्त्या सचक्षुरिवेत्यादि योज्यम् । इत्यनवद्यमिति । ब्रह्मात्मज्ञानान्मुक्तिलाभात्सिद्धं वेदान्तानां प्रामाण्यं, हितशासनाच्छास्त्रत्वं च निर्दोषतया स्थितमित्यर्थः ।

ब्रह्मज्ञानमुद्दिश्य श्रवणवन्मनननिदिध्यासनयोरप्यवान्तरवाक्यभेदेन विध्यङ्गीकाराच्च ब्रह्मणो विधिशेषत्वं उद्देश्यज्ञानलक्ष्यतया प्राधान्यादित्याह—नेति । श्रवणं ज्ञानकरणवेदान्तगोचरत्वात्प्रधानं, मनननिदिध्यासनयोः प्रमेयगोचरत्वात्तदङ्गत्वं, नियमादृष्टस्य ज्ञान उपयोगः सर्वापेक्षान्यायादिति मन्तव्यम् । तर्हि ज्ञाने विधिः किमिति त्यक्तः, तत्राह—यदि हीति । यदि ज्ञाने विधिमङ्गीकृत्य

प्रयोग और शाब्दबोध अविविक्त रूप से दीखते हैं । अतः देहादि से भिन्न आत्मास्तित्व मानने वाले सभी आस्तिक दार्शनिकों को देहादि में जो अहं प्रतीति होती है वह मिथ्या ही है गौण नहीं है । इसीलिए मिथ्याज्ञान के कारण जब आत्मा में सशरीरत्व सिद्ध हुआ तो जीवित दशा में भी ब्रह्मज्ञानियों में अशरीरत्व सिद्ध हो जाता है । वैसे ही, जीवनमुक्त ब्रह्मज्ञानियों के सम्बन्ध में श्रुति कहती है कि 'जैसे सर्प द्वारा छोड़ी गयी केंचुली सर्पविल के उपरिभाग में निर्जीव पड़ी रहती है ऐसे ही जीवनमुक्त पुरुष का यह शरीर भी निर्जीव की भाँति पड़ा रहता है । यह आत्मा तो अशरीर, अमृत, प्राण, ब्रह्म ही है, यह तेजस्वरूप ही है ।' 'ज्ञानी सचक्षु होता हुआ भी अचक्षु की भाँति है, सकर्ण होता हुआ भी अकर्ण की भाँति है, सवाक् होता हुआ भी अवाक् की भाँति है, समन होता हुआ भी अमन की भाँति है और सप्राण होता हुआ अप्राण की भाँति है ।' 'स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण है' इत्यादि वाक्य के द्वारा गीता स्मृति भी स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाती हुई ज्ञानियों की सभी प्रकार की प्रवृत्ति का अभाव ही बतलाती है । अतः जिसे ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्षबोध हो गया है उसमें पूर्व की भाँति संसारित्व बना ही रहता है ऐसा कहना ठीक नहीं और जिसे पूर्ववत् संसारित्व दीखता हो, तो वह वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी नहीं है; वेदान्त का यह सिद्धान्त निर्दुष्ट सिद्ध हुआ ।

और जो आपने कहा था कि **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** इस श्रुति में श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन जो देखा जाता है उससे ब्रह्म विधिशेष जान पड़ता है, स्वरूपमात्र पर्यवसायी नहीं है? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि श्रवण की

---

१. श्रवणम् । २. श्रोतव्यनियमविधिजन्यादृष्टस्य । ३. श्रवणादौ विध्यङ्गीकारे ।

विनियुज्येत, भवेत्तदा विधिशेषत्वम् । न तु तदस्ति । मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदव-गत्यर्थत्वात् । तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम् । एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रारम्भ उपपद्यते । प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्येवारब्धत्वान्न पृथक्शास्त्रमारभ्येत । आरभ्यमाणं चैवमा-रभ्येत—अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति, 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा' (जै० ४-१-१) इतिवत् । ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' (ब्र०सू० १-१-१) इति । तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः,

---

वेदान्तैरवगतं ब्रह्म विधेयज्ञाने कर्मकारकत्वेन विनियुज्येत तदा विधिशेषत्वं स्यात् । न त्ववगतस्य विनियुक्तत्वमस्ति, प्राप्ताऽवगत्या फललाभे **विध्ययोगादित्यर्थः** । तस्मात् । **विध्यसम्भवात्** । अतः—**शेषत्वासम्भवात्** । सत्यादिवाक्यैर्लब्धज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिरूपफललाभे सतीत्यर्थः । **सूत्रं योजयति**—स्वतन्त्रमिति । एवं च सतीति । **चोऽवधारणे । उक्तरीत्या ब्रह्मणः स्वातन्त्र्ये सत्येव भगवतो व्यासस्य पृथक्शास्त्रकृतिर्युक्ता, धर्मविलक्षणप्रमेयलाभात्** । वेदान्तानां **कार्यपरत्वे तु प्रमेयाभेदान्न युक्तेरर्थः । ननु मानसधर्मविचारार्थं पृथगारम्भ इत्याशङ्क्याह**—आरभ्यमाणं चेति । **अथ बाह्य-साधनधर्मविचारानन्तरम् । अतो बाह्यधर्मस्य शुद्धिद्वारा मानसोपासनाधर्महेतुत्वात्परिशिष्टो मानसधर्मो जिज्ञास्य इति सूत्रं स्यादिति । अत्र दृष्टान्तमाह**—अथेति । **तृतीयाध्याये श्रुत्यादिभिः शेषशेषित्वनिर्णयानन्तरं** '**शेषिणा शेषस्य प्रयोगसम्भवात् कः क्रतुशेषः को वा पुरुषशेष इति जिज्ञास्यत इत्यर्थः** । एवमारभ्येत । **नत्वारब्धं, तस्मादवान्तरधर्मार्थमारम्भ इत्ययुक्तमिति भावः । स्वमते सूत्रानुगुण्यमस्तीत्याह**—ब्रह्मेति । **जैमिनिना ब्रह्म न विचारितमिति तज्जिज्ञास्यत्वसूत्रणं युक्त-मित्यर्थः । वेदान्तार्थेऽद्वैते तर्हि द्वैतसापेक्षविध्यादीनां का गतिरित्याशङ्क्य ज्ञानात्प्रागेव तेषां प्रामाण्यं न पश्चादित्याह**—तस्मादिति । **ज्ञानस्य प्रमेयप्रमातृबाधकत्वादित्यर्थः । ब्रह्म न कार्यशेषः,**

भाँति मनन और निदिध्यासन भी ब्रह्मबोध के लिए ही कहे गये हैं। यदि श्रुति से अवगत ब्रह्म का विनियोग अन्यत्र हो सकता था तो उसे विधिशेष मान सकते थे, पर बात ऐसी नहीं है। मनन और निदिध्यासन भी श्रवण की भाँति उक्तश्रुति में ब्रह्मज्ञान के लिए ही बतलाये गये हैं। अतः उपासनाविधि के विषयरूप से ब्रह्म को शास्त्रप्रमाणगम्य कहना उचित नहीं है, अपितु ब्रह्म स्वतन्त्र ही शास्त्रप्रमाणगम्य है, क्योंकि उसी में वेदान्तवाक्य का समन्वय होता है यह सिद्ध हुआ। ऐसी स्थिति में वेदव्यासजी का **'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'** यह ब्रह्म-विषयक पृथक् शास्त्रारम्भ भी युक्तिसंगत होता है। उपासनाविधि के शेष मानने पर तो **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** इस वाक्य से जब वेदार्थविचार प्रारम्भ हो गया था तो पुनः **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इस ब्रह्मविचार-शास्त्र के पृथक् आरम्भ की आवश्यकता ही नहीं थी। यदि आरम्भ करना ही था तो **'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा'** की भाँति **'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा'** सूत्र वेदव्यासजी को बनाना चाहिए था। जैमिनी महर्षि ने ब्रह्मात्मैक्य-बोध की प्रतिज्ञा ही नहीं की थी, उस अवशिष्ट कार्य को पूर्ण करने के लिए भगवान् वेदव्यास ने **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इस सूत्र की पृथक् रचना की। इसलिए **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस बोध में सभी विधियों का पर्यवसान होता है

---

१. उपासना। २. उपासना। ३. शेषिणेत्यादेः शेषस्य शेषिप्रयुक्तानुष्ठानकत्वादित्यर्थः।

सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि। नह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति। अपि चाहुः 'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्। सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥ अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः। अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥ देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः। लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्' इति ॥४॥ इति चतुःसूत्रीशाङ्करभाष्यम् ॥

तद्बोधात्प्रागेव सर्वव्यवहार इत्यत्र ब्रह्मविदां गाथामुदाहरति—अपि चेति। सदबाधितं ब्रह्म पूर्णमात्मा विषयानादत्त इति सर्वसाक्ष्यहमित्येवं बोधे जाते सति पुत्रदेहादेः सत्ताबाधनात् मायामात्रत्वनिश्चयात् पुत्रदारादिरहमिति स्वीयदुःखसुखभाक्त्वगुणयोगाद्गौणात्माभिमानस्य 'नरोऽहं कर्ता मूढः' इति मिथ्यात्माभिमानस्य च सर्वव्यवहारहेतोरसत्त्वे कार्यं विधिनिषेधादिव्यवहारः कथं भवेत्, हेत्वभावान्न कथंचिद्भवेदित्यर्थः। नन्वहं ब्रह्मेति बोधो बाधितः, अहमर्थस्य प्रमातुः ब्रह्मत्वायोगादित्याशङ्क्य प्रमातृत्वस्याज्ञानविलसितान्तःकरणतादात्म्यकृतत्वान्न बाध इत्याह—अन्वेष्टव्येति। 'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः सोऽन्वेष्टव्यः' (छा० ८-४-१) इति श्रुतेः ज्ञातव्यपरमात्मविज्ञानात्प्रागेवाज्ञानाच्चिद्धातोरात्मनः प्रमातृत्वं, प्रमातैव ज्ञातः सन् पाप्मरागद्वेषमरणविवर्जितः परमात्मा स्यादित्यर्थः। प्रमातृत्वस्य कल्पितत्वे तदाश्रितानां प्रमाणानां प्रामाण्यं कथमित्यत आह—देहेति। यथा देहात्मत्वप्रत्ययः कल्पितो भ्रमोऽपि व्यवहाराङ्गतया मानत्वेनेष्यते वैदिकैः, तद्वल्लौकिकम[1]ध्यक्षादिकमात्मबोधावधि व्यवहारकाले बाधाभावाद् व्यावहारिकं प्रामाण्यमिष्यतां, वेदान्तानां तु कालत्रयाबाध्यबोधित्वात् तत्त्वावेदकं प्रामाण्यमिति तुशब्दार्थः। आ आत्मनिश्चयात्। आ आत्मनिश्चयादित्याङ्मर्यादायाम्। प्रमातृत्वस्य कल्पितत्वेऽपि विषयाबाधात्[2]प्रामाण्यमिति भावः।

रामनाम्नि परे धाम्नि कृत्स्नाम्नायसमन्वयः।
कार्यतात्पर्यबाधेन साधितः शुद्धबुद्धये ॥४॥
॥ इति चतुःसूत्रीब्रह्मसूत्रभाष्यरत्नप्रभाटीका समाप्ता ॥

और सभी प्रमाण भी इसी के लिए हैं। अद्वैत आत्मा न किसी के लिए हेय है, न उपादेय ही है; ऐसे आत्मा का बोध हो जाने पर तो सभी प्रमाण निर्विषय एवं प्रमाता से हीन हो जाते हैं। अतः ब्रह्मज्ञान से पूर्व ही प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहार होते हैं। इस सम्बन्ध में ब्रह्मज्ञानियों की गाथा उपस्थित करते हैं। ब्रह्म त्रिकालाबाधित पूर्णतत्त्व है और सोपाधिक चैतन्य आत्मा कर्ता-भोक्ता है। जब, सर्वसाक्षी ब्रह्मस्वरूप आत्मा मैं हूँ, ऐसा बोध हो गया तो पुत्रादि गौण आत्मा और देहादि मिथ्या आत्मा का बाध हो जाने से वे सब सत्य नहीं रह गये फिर भला वह कार्यशेष कैसे माना जायेगा। अतः अन्वेषण के योग्य आत्मा के साक्षात्कार से पूर्व ही आत्मा में प्रमातृत्व रहता है। जब सर्वपापादिदोष से रहित प्रमाता का साक्षात्कार हो गया तो फिर व्यवहारकाल में जैसे शरीर में आत्मप्रत्यय प्रमाणरूप से कल्पित है वैसे ही आत्मसाक्षात्कार से पूर्व यह सब लौकिक प्रमाण भी है अर्थात् देहात्मप्रत्यय कल्पित होता हुआ भी व्यवहार का अङ्ग माना जाता है वैसे ही लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण भी व्यवहारकाल में व्यावहारिक दृष्टि से प्रमाण माना ही जाता है। वेद में तत्त्वावेदक प्रामाण्य है और उससे भिन्न अन्य सभी प्रमाणों में व्यावहारिक प्रामाण्य है ॥४॥

॥ इति चतुःसूत्रीशाङ्करभाष्यललिताव्याख्या समाप्ता ॥

१. प्रत्यक्षादि। २. वेदानाम्। ॥ इति चतुःसूत्रीभाष्यटीकागोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी ॥

५. ईक्षत्यधिकरणम् (सू० ५-११)

तदैक्षतेति वाक्येन प्रधानं ब्रह्म वोच्यते । ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्प्रधानं सर्वकारणम् ।।
ईक्षणाच्चेतनं ब्रह्म क्रियाज्ञाने तु मायया । आत्मशब्दात्मतादात्म्ये प्रधानस्य विरोधिनी ।।

एवं तावद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्रह्मात्मनि तात्पर्येण समन्वितानामन्तरेणापि कार्यानुप्रवेशं ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम् । ब्रह्म च सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमित्युक्तम् । सांख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्ति । सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव [1]कार्येण कारणं लिलक्षयि-

वृत्तमनूद्याक्षेपलक्षणामवान्तरसंगतिमाह—सांख्यादयस्त्विति । भवतु सिद्धे वेदान्तानां समन्वयः, तथापि मानान्तरायोगे ब्रह्मणि शक्तिग्रहायोगात्, कूटस्थत्वेनाविकारित्वेन कारणत्वायोगाच्च न समन्वयः । किन्तु सर्गाद्यं कार्यं जडप्रकृतिकं, कार्यत्वात्, घटवदित्यनुमानगम्ये त्रिगुणे प्रधाने समन्वय इत्याक्षिपन्तीत्यर्थः । सिद्धं मानान्तरगम्यमेवेत्याग्रहः शक्तिग्रहार्थः । अत एव प्रधानादावनुमानोपस्थिते शक्तिग्रहसम्भवात् तत्परतया वाक्यानि योजयन्तीत्युक्तम् । किञ्च 'तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (छा० ६-८-४) इत्याद्याः श्रुतयः । शुङ्गेन लिङ्गेन कारणस्य स्वतोऽन्वेषणं दर्शयन्तो मानान्तरसिद्धमेव जगत्कारणं वदन्तीत्याह—सर्वेष्विति । नन्वतीन्द्रियत्वेन प्रधानादेर्व्याप्तिग्रहायोगात्कथमनुमानं, तत्राह—प्रधानेति । [2]यत्कार्यं तज्जडप्रकृतिकं, यथा घटः । यज्जडं तच्चेतनसंयुक्तं, यथा रथादिरिति सामान्यतोदृष्टानुमानगम्याः प्रधानपुरुषसंयोगा इत्यर्थः । अद्वितीयब्रह्मणः

५. ईक्षत्यधिकरण

१. **संगति**—कूटस्थ होने के कारण जब ब्रह्म में क्रियाशक्ति ही नहीं तो भला वह जगत् का कारण कैसे हो सकेगा ? इस प्रकार आक्षेप होने पर इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ । अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की आक्षेप संगति है ।

२. **विषय**—यहाँ पर **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छा. ६।२।१) इत्यादि श्रुतिवाक्य विचार का विषय है ।

३. **संशय**—**'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'** (छा. ६।२।३) इस वाक्य द्वारा प्रधान बतलाया गया है अथवा ब्रह्म ? ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—ज्ञान एवं क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण सब का कारण सच्छब्दवाच्य प्रधान ही है ।

५. **सिद्धान्त**—जगत्स्रष्टा को ईक्षणकर्ता कहा गया है जो चेतन का धर्म है । कूटस्थब्रह्म में माया से ज्ञान एवं क्रियाशक्ति सम्भव हो जाती है । साथ ही, सच्छब्दवाच्य तत्त्व को आत्मा कहा है, इसके साथ तादात्म्य होने पर मोक्ष मिलता है । ये सभी बातें प्रधानपक्ष के विरोधी हैं ।

इस प्रकार ब्रह्मात्मज्ञान जिनका प्रयोजन है और जो तात्पर्यदृष्टि से ब्रह्मात्मा में समन्वित भी है, ऐसे वेदान्तवाक्यों का कार्यानुप्रवेश के बिना भी अद्वयब्रह्म में पर्यवसान बतलाया गया । सर्वज्ञ,

१. कार्यलिङ्गकेन । २. सर्गाद्यम् ।

षितम्। प्रधानपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते। काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम्। एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते। तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते।

तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः—यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दर्शयन्तीत्यवोचस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते। एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते। कथम्? यत्तु ज्ञानं मन्यसे स 'सत्त्व-

कारणत्वविरोधिमतान्तरमाह—काणादास्त्विति। सृष्टिवाक्येभ्य एव परार्थानुमानरूपेभ्यो यत्कार्यं तद्बुद्धिमत्कर्तृकमितीश्वरं कर्तारं, परमाणूंश्च यत्कार्यद्रव्यं तत्स्वन्यूनपरिमाणद्रव्यारब्धमित्यनुमिमत इत्यर्थः। अन्येऽपि बौद्धादयः। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २-७-१) इत्यादिवाक्याभासः। यद्वस्तु तच्छून्यावसानं, यथा दीप इति युक्त्याभासः। एवं वादिविप्रतिपत्तिमुक्त्वा तन्निरासायोत्तरसूत्रसन्दर्भमवतारयति—तत्रेति। वादिविवादे सतीत्यर्थः। व्याकरणमीमांसान्यायनिधित्वात्पदवाक्यप्रमाणज्ञत्वम्।

यज्जगत्कारणं तच्चेतनमचेतनं वेति ईक्षणस्य मुख्यत्वगौणत्वाभ्यां संशये पूर्वपक्षमाह—तत्र सांख्या इति। अपिशब्दावेवकारार्थौ। 'सदेव' इत्यादिस्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यानां प्रधानपरत्वनिरासेन ब्रह्मपरत्वोक्तेः श्रुत्यादिसंगतयः। पूर्वपक्षे जीवस्य प्रधानैक्योपास्तिः, सिद्धान्ते ब्रह्मैक्यज्ञानमिति

सर्वशक्तिमान ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश का कारण है, यह भी कहा गया। किन्तु सांख्यादि दर्शन परिनिष्ठित वस्तु प्रमाणान्तरगम्य ही मानते हैं, वे ब्रह्म से भिन्न प्रधानादि को अनुमान से जगत्कारण सिद्ध करते हैं; इसीलिए वेदान्तवाक्य की योजना भी प्रधानादिपरत्वेन करते हैं। सृष्टिविषयक सभी वेदान्तवाक्यों में कार्यरूप लिङ्ग के द्वारा अनुमान से ही कारण का बोध कराते हैं। प्रधान और पुरुष का संयोग अनित्य है और अनुमेय है, ऐसा सांख्य मानते हैं। किन्तु इनसे भिन्न काणादादि उन्हीं वेदान्तवाक्यों के आधार पर जगत् के निमित्तकारण ईश्वर का अनुमान करते हैं और चतुर्विध परमाणुओं को समवायिकारण के रूप में अनुमान से सिद्ध करते हैं। ऐसे ही '**असद्वा इदमग्र आसीत्**' ऐसे वाक्याभास और दीपक के दृष्टान्त से सभी वस्तुओं का शून्य में पर्यवसानरूप युक्त्याभास मानने वाले बौद्धादि पूर्वपक्षीरूप में यहाँ उपस्थित होते हैं। ऐसी स्थिति में व्याकरण, मीमांसा और तर्कशास्त्र में कुशल आचार्य वेदान्तवाक्य को ब्रह्मज्ञानपरक दिखलाने के लिए पहले कहे गये वाक्याभास और युक्त्याभास से होने वाले बोध को पूर्वपक्ष में रखकर खण्डन करते हैं।

उनमें सांख्यमतावलम्वी त्रिगुणात्मक अचेतनप्रधान को जगत् कारण मानने वालों ने कहा है कि जितने वेदान्तवाक्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ब्रह्म को जगत् का कारण बतलाते हैं वे सभी श्रुतिवाक्य प्रधानकारणवाद पक्ष में भी लगाये जा सकते हैं। प्रधान ही सर्वशक्तिमान है जो अपने विकार महदादि को उत्पन्न करने में समर्थ है और उसमें सर्वज्ञत्व मानना भी युक्तियुक्त ही है। वह कैसे? तो सुनिये।

१. सत्त्ववृत्तिस्तत्कार्यमिति यावत्।

धर्मः 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' (गी० १४-१७) इति स्मृतेः। तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन [1]कार्यकरणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। सत्त्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम्। न केवलस्या[2]कार्यकारणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किञ्चिज्ज्ञत्वं वा कल्पयितुं शक्यम्। त्रिगुणत्वात्तु प्रधानस्य सर्वज्ञानकारणभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते वेदान्तवाक्येषु, अवश्यं च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमभ्युपगन्तव्यम्। नहि सर्वविषयं ज्ञानं कुर्वदेव ब्रह्म वर्तते। तथाहि—ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयेत। अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति। अपिच प्रागुत्पत्तेः सर्वकारकशून्यं ब्रह्मेष्यते त्वया। नच ज्ञान-

---

विवेकः। अचेतनसत्त्वस्यैव सर्वज्ञत्वं, न चेतनस्येत्याह—तेन च सत्त्वधर्मेणेति। न केवलस्येति। जन्यज्ञानस्य सत्त्वधर्मत्वान्नित्योपलब्धेरकार्यत्वाच्चिन्मात्रस्य न सर्वज्ञानकर्तृत्वमित्यर्थः। ननु गुणानां साम्यावस्थायां सत्त्वस्योत्कर्षाभावात्कथं सर्वज्ञतेत्याह—त्रिगुणत्वादिति। त्रयो गुणा एव प्रधानं, [3]तस्य साम्यावस्था [4]तदभेदात्प्रधानमित्युच्यते। तदवस्थायामपि प्रलये सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वरूपं सर्वज्ञत्वमक्षतमित्यर्थः। ननु मया किमिति शक्तिमत्त्वरूपं गौणं सर्वज्ञत्वमङ्गीकार्यमिति, तत्राह—नहीति। अनित्यज्ञानस्य प्रलये नाशाच्छक्तिमत्त्वं वाच्यं कारकाभावाच्चेत्याह—अपिचेति। मतद्वयसाम्य-

---

जिसे ज्ञान मानते हो वह तो सत्त्वगुण का कार्य है क्योंकि 'सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसा गीता भी कहती है। उसी सत्त्व (गुण) के धर्मरूप ज्ञान के कारण स्थूलसूक्ष्मशरीर वाले पुरुष सर्वज्ञ योगी लोक में प्रसिद्ध माने जाते हैं और सत्त्व के सर्वाधिक बढ़ जाने पर सर्वज्ञत्व आ जाता है, जो प्रसिद्ध है। किन्तु आत्मा स्थूलसूक्ष्मशरीर रहित है, वह तो वेदान्तमत में चेतनमात्र स्वरूप है, उसमें सर्वज्ञत्व अथवा किंचिज्ज्ञत्व की कल्पना नहीं कर सकते। हाँ, त्रिगुणात्मक होने से प्रधान में सभी ज्ञानों के कारणभूत सत्त्व प्रधानावस्था में भी रहता ही है। इसलिए अचेतन सत्त्व प्रधान में ही वेदान्तवाक्यों द्वारा सर्वज्ञत्व औपचारिकदृष्टि से कहा गया है ब्रह्म को सर्वज्ञ मानने वाले आप भी सर्वज्ञानशक्तिवाला होने के कारण ही ब्रह्म में सर्वज्ञत्व स्वीकार करेंगे ही। ब्रह्म सदा सभी विषयों का ज्ञान करता हुआ नहीं रहता अर्थात् उसमें ज्ञान सदा नहीं रहता। यदि ब्रह्म में ज्ञान नित्य माना जाय तो ज्ञानक्रिया के प्रति ब्रह्म की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायेगी और ब्रह्म में ज्ञान अनित्य है, ऐसा कहा जाय तो ज्ञानक्रिया के उपरत हो जाने पर भी ब्रह्म रहेगा ही। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए ब्रह्म में सर्वज्ञत्व, सर्वज्ञानशक्तिमत्ता के कारण ही सिद्ध होता है, न कि चैतन्यरूपता के कारण। एक बात और भी सुनिये। उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म सभी कारकशून्य रहता है यह आप को अभीष्ट है पर ज्ञान के साधन शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि के अभाव में किसी को भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। आप कह सकते हैं कि प्रधान भी तो ऐसा ही है, उसके भी शरीर और इन्द्रियादि नहीं हैं; तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रधान अनेकात्मक है मृदादि की भाँति उसमें विकार का होना सम्भव होने से जगत्कारणता

---

१. स्थूलसूक्ष्मशरीरवन्तः। २. कार्यं शरीरं कारणमिन्द्रियम्। ३. प्रधानस्य। ४. तदभेदादिति—अवस्थावस्थावतोरभेदात्।

(५) ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥५॥

साधनानां शरीरेन्द्रियादीनामभावे ज्ञानोत्पत्तिः कस्यचिदुपपन्ना । अपिच प्रधानस्यानेकात्मकस्य परिणामसम्भवात्कारणत्वोपपत्तिर्मृदादिवत्, नासंहतस्यैकात्मकस्य ब्रह्मण इत्येवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम् । अशब्दं हि तत् । कथमशब्दत्वम् ? ईक्षतेः—ईक्षितृत्वश्रवणात्कारणस्य । कथम् ? एवं हि श्रूयते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इति । तत्रेदंशब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत्प्रागुत्पत्तेः सदात्मनावधार्य तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजःप्रभृतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति । तथान्यत्र—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत

मुक्त्वा स्वमते विशेषमाह—अपिचेति ।

ब्रह्मणः कारणत्वं स्मृतिपादे समर्थ्यते । प्रधानादेः कारणत्वं तर्कपादे युक्तिभिर्निरस्यति । अधुना तु श्रुत्या निरस्यति—ईक्षतेर्नाशब्दमिति । ईक्षणश्रवणाद्वेदशब्दावाच्यमशब्दं प्रधानम् । अशब्दत्वान्न कारणमिति सूत्रयोजना । तत्सच्छब्दवाच्यं कारणमैक्षत । ईक्षणमेवाह—बह्विति । बहु प्रपञ्चरूपेण स्थित्यर्थमहमेवोपादानतया कार्यमिदाज्जनिष्यामीत्याह—प्रजेति । एवं तत्सदीक्षित्वा आकाशं वायुं च सृष्ट्वा तेजः सृष्टवदित्याह—तदिति । मिषच्चलत् । सत्त्वाक्रान्तमिति यावत् । स जीवाभिन्नः परमात्मा, 'प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं

सिद्ध होती है । हाँ, ब्रह्म एकात्मक है और वह सङ्घातरहित है, उसमें विकार का होना सम्भव नहीं है । इसलिए ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता । ऐसा पूर्वपक्ष होने पर भगवान् वेदव्यास **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** यह सूत्र बनाते हैं ।

ईक्षतेर्नाशब्दम् (ललिता)

स्मृतिपाद में ब्रह्म में कारणत्व का समर्थन किया जायेगा और तर्कपाद में युक्तियों के द्वारा प्रधानादिकारणवाद का खण्डन किया जायेगा । अभी श्रुतियों के द्वारा प्रधानादि कारणवाद का खण्डन प्रारम्भ करते हैं । प्रधान वेदशब्दवाच्य नहीं है, अतः वह जगत्कारण नहीं हो सकता । साथ ही जगत्कारण में ईक्षण भी सुना जाता है । अतः सांख्यपरिकल्पित अचेतन प्रधान को वेदान्त में जगत् का कारण नहीं मान सकते । वह प्रधान इसलिए अशब्द है क्योंकि जगत्कारण को ईक्षणकर्ता उपनिषदों में कहा गया है । वह कैसे ? तो इस प्रकार सुनिये, कि छान्दोग्य के षष्ठाध्याय में उद्दालक ऋषि श्वेतकेतु से कहते हैं कि 'हे सोम्य ! नामरूपात्मक यह जगत् सृष्टि से पूर्व सत् ही था और वह सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य था' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर कहा है 'उस सत् ने सङ्कल्प किया कि मैं बहुतरूप में हो जाऊँ और प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ, तत्पश्चात् उस सत् ने अकाश और वायु की सृष्टि के बाद तेज की सृष्टि की' यहाँ पर इदंशब्दवाच्य नामरूपव्याकृत जगत् माना गया है जो उत्पत्ति से पूर्व सदात्मरूप में ही था । उसी प्रकृत सच्छब्दवाच्य परमेश्वर में सङ्कल्पपूर्वक अग्नि इत्यादि सृष्टि का स्रष्टृत्व श्रुति बतलाती है । वैसे ही ऐतरेयोपनिषद् में कहा है 'यह नामरूपात्मक जगत् उत्पत्ति से पूर्व आत्मा ही तो था उससे भिन्न चलनादिक्रियायुक्त जङ्गम

लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत'(ऐ० १-१-१)इतीक्षापूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे । क्वचिच्च षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याह—'स ईक्षांचक्रे । स प्राणमसृजत' (प्र० ६-३) इति । ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः, यजतेरितिवत् । न धातुनिर्देशः । तेन 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' (मु० १-१-९) इत्येवमादीन्यपि सर्वज्ञेश्वरकारणपराणि वाक्यान्युदाहर्तव्यानि ।

यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति, तन्नोपपद्यते । नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात्सत्त्वधर्मो ज्ञानं सम्भवति । ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति । तदपि नोपपद्यते । यदि गुणसाम्ये सति सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किञ्चिज्ज्ञमुच्येत । अपिच नासाक्षिका 'सत्त्ववृत्तिर्जानाति'नाऽभिधीयते । न चाचेतनस्य प्रधानस्य

तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च' (प्र० ६-४) इत्युक्ताः षोडशकलाः । ननु 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति कात्यायनस्मरणादीक्षतेरिति पदेन श्तिबन्तेन धातुरुच्यते । तेन धात्वर्थं ईक्षणं कथं व्याख्यायत इत्याशङ्क्य लक्षणयेत्याह—ईक्षतेरिति चेति । 'इतिकर्तव्यताऽविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम्' (जै० ७-४-१) इति जैमिनिसूत्रे यथा यजतिपदेन लक्षणया धात्वर्थो याग उच्यते तद्वदिहापीत्यर्थः । सौर्यादिविकृतियागस्याङ्गानामविधानात् पूर्ववत्त्वं दर्शादिप्रकृतिस्थाङ्गवत्त्वमिति सूत्रार्थः । धात्वर्थनिर्देशेन लाभमाह—तेनेति । सामान्यतः सर्वज्ञो विशेषतः सर्वविदिति भेदः । ज्ञानमीक्षणमेव तपः । तपस्विनः फलमाह—तस्मादिति । एतत्कार्यं सूत्राख्यं ब्रह्म । केवलसत्त्ववृत्तेर्ज्ञानत्वमङ्गीकृत्य प्रधानस्य सर्वज्ञत्वं निरस्तम् ।

सम्प्रति न केवलजडवृत्तिर्ज्ञानशब्दार्थः, किन्तु साक्षिबोधविशिष्टा वृत्तिर्वृत्तिव्यक्तबोधो वा ज्ञानम् । तच्चान्धस्य प्रधानस्य नास्तीत्याह—अपिचेति । साक्षित्वमस्ति येनोक्तज्ञानवत्त्वं स्यादिति

पदार्थ नहीं था । उसने सङ्कल्प किया कि मैं भूरादि लोकों की सृष्टि करूँ और तत्पश्चात् उसने उन लोकों की सृष्टि कर डाली ।' इस प्रकार ईक्षणपूर्वक ही सृष्टि को श्रुति कहती है । कहीं कहीं पर षोडशकल पुरुष का प्रसङ्ग प्रारम्भ कर कहा है कि 'उस षोडशकल पुरुष ने ईक्षण किया और उसने प्राण की सृष्टि की' इत्यादि । **'ईक्षति'** श्रुति में धात्वर्थनिर्देश अभिप्रेत है, **'यजतेः'** की भाँति धातु का निर्देश नहीं है । इससे 'जो सामान्यतः सबको जानता है इसलिए सर्वज्ञ है और विशेषतः जानता है अतः सर्ववित् है, जिसका तप ज्ञानमय है, उसी ज्ञानमय तप से विशिष्ट ब्रह्म ने नाम, रूप और अन्न को उत्पन्न किया' इत्यादि श्रुतियों से नाम, रूप एवं अन्न की सृष्टि ब्रह्म ने की, इन सर्वज्ञेश्वरकारणपरक वाक्यों का उदाहरण भी यहाँ पर समझ लेना चाहिए ।

और जो आप ने कहा था कि सत्त्वगुण के धर्म ज्ञान के कारण प्रधान ही सर्वज्ञ माना जायेगा ? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रधानावस्था में तीनों गुण समभाव से रहते हैं, उस समय सत्त्वगुण का उत्कर्ष नहीं रहता, जिससे कि ज्ञान उत्पन्न हो सके । यदि कहो कि सत्त्व का उत्कर्ष न रहने पर भी सर्वज्ञानशक्ति सत्त्व में है, उसी सर्वज्ञानशक्तिमत्ता सत्त्व के कारण प्रधान सर्वज्ञ माना जायेगा, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं । यदि गुणों की साम्य अवस्था में सत्त्व के आश्रित ज्ञानशक्ति को

---

१. इयमेवात्र कर्त्री जानातेः असाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातीति केनापि नाभिधीयते ।

साक्षित्वमस्ति । तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम् । योगिनां तु चेतनत्वात्सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदाहरणम् । अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्प्येत, यथाग्निनिमित्तमयःपिण्डादेर्दग्धृत्वम् । तथा सति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञं मुख्यं ब्रह्म जगतः कारणमिति युक्तम् । यत्पुनरुक्तं—ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासम्भवादिति । अत्रोच्यते—इदं तावद्भवान्प्रष्टव्यः, कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति । यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम् । अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्जानाति कदाचिन्न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात् । नासौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति । ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेन्न, प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात् । ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे

शेषः । ननु सत्त्ववृत्तिमात्रेण योगिनां सर्वज्ञत्वमुक्तमित्यत आह—योगिनां त्विति । **सेश्वरसांख्यमतमाह—**अथेति । **सर्वज्ञत्वं नाम सर्वगोचरज्ञानवत्त्वं, न ज्ञानकर्तृत्वं, ज्ञानस्य कृत्यसाध्यत्वादिति हृदि कृत्वा पृच्छति—**इदं तावदिति । **सर्वं जानातीति शब्दासाधुत्वं शङ्कते—**ज्ञाननित्यत्व इति । **नित्यस्यापि ज्ञानस्य तत्तदर्थोपहितत्वेन ब्रह्मस्वरूपाद्भेदं कल्पयित्वा कार्यत्वोपचाराद्ब्रह्मणस्तत्कर्तृत्वव्यपदेशः साधुरिति सदृष्टान्तमाह—**न, प्रततेति । **सन्ततेत्यर्थः । असत्यपि अविवक्षितेऽपि ।**

लेकर प्रधान को सर्वज्ञ कहोगे, तो कोई दूसरा स्वेच्छा से ज्ञान क प्रतिबन्धकशक्ति रजोगुण एवं तमोगुण को लेकर प्रधान में किञ्चिज्ज्ञत्व (अल्पज्ञत्व) की कल्पना भी करने लग जायेगा। एक बात याद रखें कि साक्षीशून्य सत्त्ववृत्ति जड़ होने के कारण किसी को जानती नहीं और न उसे कोई जानने वाला ही कहता है। स्वयं प्रधान अचेतन होने के कारण साक्षी नहीं कहा जा सकता। अतः प्रधान में सर्वज्ञत्व मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। चेतन होने के कारण योगियों में सत्त्वगुण का उत्कर्ष तो होता है। इसलिए उनमें सर्वज्ञत्व तो युक्तियुक्त सिद्ध हो जायेगा पर योगी का उदाहरण देकर प्रधान में सर्वज्ञत्व सिद्ध करना सम्भव नहीं है।

यदि सेश्वरसांख्यमत के आधार पर ईश्वर को साक्षी मान लेने के कारण प्रधान में ईक्षितृत्व की कल्पना उसी प्रकार करेंगे जैसे अग्नि के साथ तादात्म्य हो जाने पर लोहपिण्ड में दाहकत्व की कल्पना करते हैं, तब तो जिस निमित्त को लेकर प्रधान में ईक्षितृत्व आप ने माना है वही सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का मुख्य कारण है, इसे आप ने मान ही लिया। और जो आप ने कहा था कि ब्रह्म में भी मुख्य सर्वज्ञत्व युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता क्योंकि उसमें ज्ञान और क्रिया को नित्य मानने पर ज्ञान के प्रति ब्रह्म में स्वातन्त्र्य नहीं रह जायेगा और जो क्रिया में स्वतन्त्र होता है उसी को कर्ता कहते हैं फिर भला नित्यज्ञानरूप क्रिया का कर्ता ब्रह्म कैसे हो सकेगा और ऐसी स्थिति में उस ब्रह्म में मुख्य सर्वज्ञत्व भी कैसे सिद्ध हो सकेगा? यहाँ पर हम आप से पूँछते हैं कि नित्यज्ञान क्रिया ब्रह्म में मानने पर सर्वज्ञत्व की हानि कैसे हो जायेगी। जिस ब्रह्म में सभी विषयों के प्रकाशन करने का सक्षमज्ञान सदा रहता है, वह असर्वज्ञ है, ऐसा कहना तो वदतोव्याघातदोषग्रस्त होने के कारण परस्पर विरुद्ध है। ऐसे ही, ब्रह्म का ज्ञान अनित्य मानने पर, कदाचित् वह जानता है कदाचित् नहीं जानता है, ऐसा असर्वज्ञत्व भी आने लग जायेगा। अतः ब्रह्म का ज्ञान नित्य मानने में वह दोष

सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात्, नतु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्मसंयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः। न। असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात्। एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षत' इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम्। कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः। किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति। तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः। यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं

ननु प्रकाशतेरकर्मकत्वात्सविता प्रकाशत इति प्रयोगेऽपि जानातेः सकर्मकत्वात्कर्माभावे 'तदैक्षत' इत्ययुक्तमिति, तत्राह—कर्मापेक्षायां त्विति। **कर्माविवक्षायामपि प्रकाशरूपे सवितरि प्रकाशत इति कथंचित्प्रकाशक्रियाश्रयत्वेन कर्तृत्वोपचारवच्चिदात्मन्यपि चिद्रूपेक्षणकर्तृत्वोपचाराच्च वैषम्यमित्युक्तं पूर्वम्। अधुना तु कुम्भकारस्य स्वोपाध्यन्तःकरणवृत्तिरूपेक्षणवदीश्वरस्यापि स्वोपाध्यविद्यायाः विविधसृष्टिसंस्कारायाः प्रलयावसानेनोद्बुद्धसंस्कारायाः सर्गोन्मुखः कश्चित्परिणामः सम्भवति, अतः तस्यां सूक्ष्मरूपेण निलीनसर्वकार्यविषयकमीक्षणं, [1]तस्य कार्यत्वात्कर्मसद्भावाच्च तत्कर्तृत्वं मुख्यमिति द्योतयति**—सुतरामिति। **ननु मायोपाधिकबिम्बचिन्मात्रस्येश्वरस्य कथमीक्षणं प्रति मुख्यं कर्तृत्वं, कृत्यभावादिति चेन्न, [3]कार्यानुकूलज्ञानवत एव कर्तृत्वादीश्वरस्यापि ईक्षणानुकूलनित्यज्ञानवत्त्वात्। नच नित्यज्ञानेनैव कर्तृत्वनिर्वाहात्किमीक्षणेनेति वाच्यम्, वाय्वादेरेव शब्दवत्त्वसम्भवात्किमाकाशेनेत्यतिप्रसङ्गात्। अतः श्रुतत्वाद्वाय्वादिकारणत्वेनाकाशवदीक्षतेत्यागन्तुकत्वेन श्रुतमीक्षण-**

नहीं है। यदि कहो कि ज्ञाननित्यत्वपक्ष में ज्ञानविषयक स्वातन्त्र्य व्यवहार ब्रह्म में सिद्ध नहीं होता है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सूर्य सदा प्रकाशमान है और उष्णस्वरूप है फिर भी सूर्य ताप देता है और प्रकाशता है, ऐसा दाह एवं प्रकाश के प्रति सूर्य में स्वतन्त्रता का व्यवहार होता ही है। यदि कहो कि दाह्य एवं प्रकाश्य वस्तु के साथ संयोग होने पर ही सूर्य ताप देता है और प्रकाश देता है, ऐसा व्यवहार होता है किन्तु उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म का ईक्षणरूप कर्म के साथ संयोग ही नहीं है, इसलिए सूर्य का दृष्टान्त विषम माना जायेगा? ऐसा कहना ठीक नहीं। कर्म के न रहने पर भी सूर्य प्रकाशता है, ऐसा सूर्य में प्रकाशकर्तृत्व व्यवहार देखा जाता है। ऐसे ही, ईक्षण का कर्म नामरूपात्मक जगत् उत्पत्ति से पूर्व नहीं है फिर भी उस ब्रह्म में 'तदैक्षत' ऐसा कर्तृत्व-उपदेश हो सकता है। अतः विषम दृष्टान्त नहीं कह सकते, क्योंकि कर्म की अपेक्षा होने पर ही ईक्षितृत्व बतलाने वाली श्रुतियाँ सुतरां युक्तियुक्त हैं नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति के लिए ही तो उसमें सङ्कल्प हुआ है जो उत्पत्ति से पूर्व नहीं थे।

वे नामरूप हैं क्या जो उत्पत्ति से पूर्व ईश्वरज्ञान के विषय माने जायेंगे? जिन्हें सत्य एवं असत्य नहीं कहा जा सकता, जो अब तक व्याकृत भी नहीं थे और जिनका व्याकरण ईश्वर करना चाहता है, वे ही नाम-रूप ईश्वरीय ईक्षण के विषय हैं, यह हमारा कहना है। जिसके प्रसाद से योगियों में भी भूत, भविष्यत् विषय का प्रत्यक्षज्ञान योगशास्त्र का रहस्य जानने वाले विद्वान् लोग

---

१. ज्ञानस्येक्षणस्य कर्मेत्यर्थः। २. ईक्षणस्य। ३. कार्यानुकूलकृतिमत एव कर्तृत्वे ज्ञानादेः कृत्यसाध्यत्वेन कार्यत्वं न स्यादात्मनश्चाश्रौतं कृतिरूपत्वं कल्पयितव्यं स्यादित्यभिप्रेत्य कर्तृत्वं निर्वक्ति—कार्यानुकूलेत्यादिना।

भवतीति । यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादिसम्बन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यमवतरति, सवितृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः । अपि चाऽविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्, न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य । मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः— 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वेता० ६-८) इति । 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' (श्वेता० ३-१९) इति च । ननु नास्ति तावज्ज्ञानप्रतिबन्धकारणवानीश्व-

---

माकाशादिहेतुत्वेनाङ्गीकार्यमित्यलम् । अव्याकृते सूक्ष्मात्मना स्थिते व्याकर्तुं स्थूलीकर्तुमिष्टे इत्यर्थः । अव्याकृतकार्योपरक्तचैतन्यरूपेक्षणस्य कारकानपेक्षत्वेऽपि वृत्तिरूपेक्षणस्य कारकं वाच्यमित्याशङ्क्याह—अपि चाऽविद्यादिमत इति । यथैकस्य ज्ञानं तथान्यस्यापीति नियमाभावान्मायिनोऽशरीरस्यापि जन्येक्षणकारकत्वमिति भावः । ननु यज्जन्यज्ञानं तच्छरीरसाध्यमिति व्याप्तिरस्तीत्याशङ्क्य श्रुतिबाधमाह—मन्त्रौ चेति । कार्यं शरीरम् । करणमिन्द्रियम् । अस्येश्वरस्य शक्तिर्माया स्वकार्यापेक्षया परा, विचित्रकार्यकारित्वाद्विविधा । सा स्वैतिह्यमात्रसिद्धा न प्रमाणसिद्धेत्याह—श्रूयत इति । ज्ञानरूपेण बलेन या सृष्टिक्रिया सा स्वाभाविकी । अनादिमायात्मकत्वादित्यर्थः । ज्ञानस्य चैतन्यस्य [1]बलं मायावृत्तिप्रतिबिम्बितत्वेन स्फुटत्वं तस्य क्रियानाम बिम्बत्वेन ब्रह्मणो जनकता ज्ञातृतापि स्वाभाविकीति वार्थः । अपाणिरपि ग्रहीता । अपादोऽपि जवनः । ईश्वरस्य स्वकार्ये लौकिकहेत्वपेक्षा नास्तीति भावः । अग्र्यमनादिं, पुरुषमनन्तं, महान्तं विभुमित्यर्थः । अपसिद्धान्तं शङ्कते—नन्विति ।

मानते हैं, उस नित्यशुद्ध ईश्वर का सृष्टि, स्थिति एवं संहारविषयक ज्ञान सदा विद्यमान रहता है, इस विषय में तो कहना ही क्या है ।

और जो आप ने कहा था कि उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म का शरीर आदि के साथ सम्बन्ध ही नहीं था तो भला उसमें ईक्षितृत्व कैसे सिद्ध होगा ? यह शङ्का यहाँ पर नहीं कर सकते क्योंकि सूर्य के प्रकाश की भाँति ब्रह्म का ज्ञान स्वरूपतः नित्य है, उसे ज्ञान के लिए साधनों की अपेक्षा नहीं होती । अज्ञानी संसारी-जीव को तो ज्ञान की उत्पत्ति के लिए शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि की अपेक्षा होती है पर ज्ञान के प्रतिबन्ध का कारण ईश्वर में है ही नहीं, इसलिए ईश्वर को ज्ञान उत्पत्ति के लिए शरीरादि की अपेक्षा नहीं होती । ईश्वर को शरीरादि की अपेक्षा नहीं और न उसके ज्ञान में आवरण ही है, इन बातों को अग्रिम दो मन्त्रों द्वारा दिखलाते हैं । 'ईश्वर का स्थूल और सूक्ष्म शरीर नहीं है, ईश्वर के समान भी जब कोई नहीं देखा जाता तो उससे बढ़कर किसी के होने की तो बात ही नहीं रह जाती । उस ईश्वर की अपने कार्य की अपेक्षा विचित्र कार्य उत्पादन करने वाली पराशक्ति अनेक प्रकार की सुनी जाती है, जो अनादि मायारूप होने के कारण स्वाभाविकी है । उस शक्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ही बल है जिससे वह शक्ति सब कुछ करने में समर्थ हो जाती है' 'वह बिना हाथ का होता हुआ सबको ग्रहण करता है, बिना पैर का होता हुआ तीव्र गति से भागता है, वह बिना आंख के सबको देखता है और बिना कान के सबको सुनता है । वह सभी वेद्यवस्तुओं को

---

१. इत्याहेत्यत्रेत्यत आहेति युक्तं, नञः पूर्वान्वयित्वं वा कल्पनीयम् । २. बलम्-बलत्वम् ।

रावन्यः संसारी, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३-७-२३) इति श्रुतेः। तत्र किमिदमुच्यते संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्येति। अत्रोच्यते—सत्यं, नेश्वरादन्यः संसारी। तथापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्योम्नः, तत्कृतश्च शब्दप्रत्ययव्यवहारो लोकस्य दृष्टो घटच्छिद्रं करकादिच्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि। तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेदमिथ्याबुद्धिर्दृष्टा। तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः। दृश्यते चात्मन एव सतो देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्याबुद्धिमात्रेण पूर्वपूर्वेण। सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः। यदप्युक्तं—प्रधानस्यानेकात्मकत्वान्मृदादिवत्कारण-

---

ज्ञाने प्रतिबन्धकारणान्यविद्यारागादीनि श्रुतावत ईश्वरादन्यो नास्तीत्यन्वयः। औपाधिकस्य जीवेश्वरभेदस्य मयोक्तत्वान्नापसिद्धान्त इत्याह—अत्रोच्यत इति। तत्कृत उपाधिसम्बन्धकृतः शब्दतज्जन्यप्रत्ययरूपो व्यवहारः। असंकीर्ण इति शेषः। अव्यतिरेके कथमसंकरस्तत्राह—तत्कृता चेति। उपाधिसम्बन्धकृतेत्यर्थः। तथेति। देहादिसम्बन्धस्य हेतुरविवेकोऽनाद्यविद्या तया कृत इत्यर्थः। अविद्यायां हि प्रतिबिम्बो जीवः, बिम्बचैतन्यमीश्वर इति भेदोऽविद्याधीनसत्ताकः, अनादिभेदस्य कार्यत्वायोगात्। कार्यबुद्ध्यादिकृत[२]प्रमाणादिभेदश्च कार्य एवेति विवेकः। नन्वखण्डस्वप्रकाशात्मनि कथमविवेकः, तत्राह—दृश्यते चेति। वस्तुतो देहादिभिन्नस्वप्रकाशस्यैव सत आत्मनो नरोऽहमिति भ्रमो दृष्टत्वाद्दुरपह्नवः। स च मिथ्याबुद्ध्या मीयत इति मिथ्याबुद्धिमात्रेण भ्रान्तिसिद्धाज्ञानेन कल्पित इति चकारार्थः। यद्वोक्तमिथ्याबुद्धौ लोकानुभवमाह—दृश्यते चेति। इत्थंभावे तृतीया। भ्रान्त्यात्मना दृश्यत इत्यर्थः। पूर्वपूर्वभ्रान्तिमात्रेण दृश्यते न च प्रमेयतयेति वार्थः। कूटस्थस्यापि

जानता है पर उसका जानने वाला दूसरा नहीं, उस अनादि, अनन्त, महानपुरुष को ऋषियों ने जाना।'

आप के मत में ईश्वर से भिन्न संसारीजीव नहीं है, जो ज्ञान के प्रतिबन्धकारण से युक्त हो क्योंकि 'उस परमेश्वर से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, उससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है' ऐसा श्रुति कहती है, फिर भला आप कैसे कहते हो कि जीव को ज्ञान उत्पत्ति के लिए शरीरादि की अपेक्षा होती है और ईश्वर को नहीं होती? आप ने ठीक ही कहा कि ईश्वर से भिन्न संसारी जीव नहीं है फिर भी जैसे महाकाश का घट, कमण्डलु, पर्वत की गुफायें इत्यादि उपाधियों के साथ सम्बन्ध होने पर घटाकाशादि व्यवहार होता है, ऐसे ही देहादि संघात उपाधि के कारण उस ब्रह्म में जीव व्यवहार होता है। अर्थात् घट के भीतर आकाश को लोक में घटाकाश कहा जाता है, जब कि वह महाकाश से अभिन्न है फिर भी आकाश में घटादि उपाधिकृत घटाकाशादि भेदव्यवहार मिथ्या ही देखा गया है, वैसे ही यहाँ पर देहादि संघातरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध अविवेक के कारण भासता है जो ईश्वर और जीव के भेद को बतलाने वाली मिथ्याबुद्धि ही है। देखा भी जाता है कि सत् आत्मा का ही अनात्मा देहादि में पूर्व पूर्व मिथ्याबुद्धिमात्र के कारण आत्मत्वाभिनिवेश अज्ञानी जीवों में प्रसिद्ध है। इस प्रकार चेतन में संसारित्व औपाधिक जब सिद्ध हो गया तब उस संसारी जीव को संकल्पादि

---

१. कमण्डलुः। २. प्रमाणादिभेद इति—प्रमाणप्रमेयादिचैतन्यभेद इत्यर्थः। प्रमात्रादीति वा पाठो जीवनानात्वप्रतीत्युपपत्त्यनुकूल इति ध्येयम्।

त्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्रधानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम् । यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते न प्रधानादीनां तथा प्रपञ्चयिष्यति—'न विलक्षणत्वादस्य-' (ब्र०२-१-४) इत्येवमादिना ॥५॥

अत्राह—यदुक्तं नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणमीक्षितृत्वश्रवणादिति, तदन्यथाप्युपपद्यते, अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात् । यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्यालक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वदचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्नसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति । यथा लोके कश्चिच्चेतनः स्नात्वा भुक्त्वा चापराह्णे ग्रामं रथेन गमिष्यामीतीक्षित्वानन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते । तस्माच्चेतनवदुपचर्यते । कस्मात्पुनः कारणाद्विहाय मुख्यमीक्षितृत्वमौपचारिकं कल्प्यते, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६-२-३,४) इति

मायिकं कारणत्वं युक्तमित्याह—यथा त्विति । यत्त्ववेद्ये शब्दशक्तिप्रहायोग इति, तन्न । सत्यादिपदानामबाधितार्थेषु लोकावगतशक्तिकानां वाच्यैकदेशत्वेनोपस्थिताखण्डब्रह्मलक्षकत्वादिति स्थितम् ॥५॥

संप्रत्युत्तरसूत्रनिरस्याशङ्कामाह—अत्राहेति । अन्यथापि अचेतनत्वेऽपि । ननु प्रधानस्य चेतनेन किं साम्यं येन गौणमीक्षणमिति तत्राह—यथेति । नियतक्रमवत्कार्यकारित्वं साम्यमित्यर्थः ।

व्यवहार के लिए देहादि की अपेक्षा होती है, पर ईश्वर को नहीं होती । और जो आप ने कहा था कि मृदादि की भाँति अनेकात्मक होने से प्रधान में जगत्कारणता युक्तिसंगत है किन्तु संघातशून्य असहायब्रह्म में जगत्कारणता युक्तियुक्त नहीं है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रधानकारणवाद का अशब्दत्व कहकर सूत्रकार ने निषेध कर दिया है किन्तु स्मृतिपाद द्वारा तर्क से ब्रह्म में कारणत्व का निर्वाह जिस प्रकार कहा जायेगा वैसे ही तर्कपाद द्वारा प्रधान आदि में कारणत्व का निराकरण भी किया जायेगा जिसका विस्तार स्मृतिपाद के **'न विलक्षणत्वादस्य'** (ब्र. सू. २।१।१३८) इत्यादि सूत्रों से किया जायेगा ॥५॥

इस पर सांख्यों का कहना है कि जो वेदान्ती ने कहा कि जगत्कारण मे ईक्षितृत्व का श्रवण होने से अचेतन प्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता ? इस पर हमारा (सांख्य का) कहना है कि अचेतन होने पर भी प्रधान में चेतन की भाँति गौण ईक्षितृत्व हो सकता है । ऐसा ही देखा भी गया है, जिस प्रकार नदी का तट जब गिरने वाला होता है तो उसे देखकर लोग कहते हैं "कि नदी तट गिरना चाहता है ।" इस वाक्य के द्वारा अचेतन तट में चेतन की भाँति औपचारिक दृष्टि से पतन इच्छा देखी गयी है, वैसे ही जब सृष्टि का समय आता है, तब चेतन की भाँति अचेतन-प्रधान में गौण दृष्टि से ईक्षितृत्व कहना युक्तिविरुद्ध नहीं है । जिस प्रकार लोक में कोई चेतन पुरुष स्नान और भोजन कर अपराह्ण में रथ से गाँव जाऊँगा, ऐसा संकल्पकर पश्चात् वैसा ही नियमतः प्रवृत्त होता है ठीक उसी प्रकार प्रधान भी महदादिरूप से नियमतः परिणत होता है, इसीलिए उसमें चेतन की भाँति औपचारिक ईक्षितृत्व कहा गया है । यदि सिद्धान्ती कहता हो कि मुख्य ईक्षितृत्व को छोड़कर गौण ईक्षितृत्व की कल्पना क्यों करते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'उस तेज ने ईक्षण किया' 'उस जल ने ईक्षण किया' ऐसे अचेतन तेज और जल में चेतन की भाँति जब औपचारिक ईक्षण

(६) गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

चाचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात् । तस्मात्सत्कर्तृकमपीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते, उपचारप्राये वचनात् । इत्येवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते--

यदुक्तं प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं तस्मिन्नौपचारिक ईक्षतिः, अप्तेजसोरिवेति, तदसत् । कस्मात् ? आत्मशब्दात् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-१,३) इति च तेजोऽबन्नानां सृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितृ, तानि च तेजोऽबन्नानि, देवताशब्देन परामृश्याह--'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इति । तत्र यदि प्रधानमचेतनं गुणवृत्त्येक्षितृ कल्प्येत तदेव प्रकृतत्वात्सेयं देवतेति परामृश्येत । न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाभिदध्यात् । जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता, तत्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च । स कथमचेतनस्य प्रधानस्यात्मा भवेत् । आत्मा हि

'उपचारप्राये वचनात्' इति 'गौणार्थप्रचुरे प्रकरणे 'समाम्नानादित्यर्थः ।

अप्तेजसोरिवाचेतने 'सति गौणी ईक्षतिरिति चेन्न, आत्मशब्दात्सतश्चेतनत्वनिश्चयादिति सूत्रार्थमाह--यदुक्तमित्यादिना । सा प्रकृता सच्छब्दवाच्या इयमीक्षित्री देवता परोक्षा, हन्त इदानीं भूतसृष्ट्यनन्तरं इमाः सृष्टास्तिस्रस्तेजोऽबन्नरूपाः । परोक्षत्वाद्देवता इति द्वितीयाबहुवचनम् । अनेन पूर्वकल्पानुभूतेन जीवेनात्मना मम स्वरूपेण ता अनुप्रविश्य तासां 'भोग्यत्वाय नाम च रूपं च स्थूलं करिष्यामीत्यैक्षतेत्यन्वयः । लौकिकप्रसिद्धेः, 'जीव प्राणधारणे' इति धातोर्जीवति प्राणान्धारयतीति

देखा गया इसलिए उस प्रकरण में आये हुए ईक्षणवचन सत्कर्तृक गौण ही जान पड़ता है । ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर यह सूत्र बनाया जाता है कि गौण ईक्षितृत्व मानना ठीक नहीं है क्योंकि ईक्षणकर्ता में आत्मशब्द का प्रयोग किया गया है ।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् (ललिता)

जो सांख्य ने कहा था, कि अचेतन प्रधान सत् शब्दवाच्य है, उसी में प्रकरणानुसार जल और तेज की भाँति गौणईक्षण कहा गया है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ईक्षणकर्ता में आत्मशब्द का प्रयोग देखा गया है । 'हे सोम्य ! सृष्टि से पहले यह जगत् सत् ही था' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर कहा है--'उसने संकल्प किया' 'उसने तेज की सृष्टि की ।' इस प्रकार तेज, जल और पृथ्वी की सृष्टिकर वही प्रकृत ईक्षणकर्ता सत् तेज, जल और पृथ्वी को सत् शब्द से परामर्शकर कहता है कि उस देवता ने संकल्प किया 'प्रसन्नता की बात है कि मैं इन तीनों देवताओं में इस जीवरूप से प्रवेश कर नाम-रूप का विस्तार करूँ ।' इस परिस्थिति में यदि अचेतन प्रधान को गौण दृष्टि से ईक्षणकर्ता मानोगे तो उसका प्रकरण होने से वही देवताओं का परामर्श करेगा, उस समय देवता जीवात्मा को आत्मा शब्द से नहीं कह सकेगा, क्योंकि जीवचेतन, शरीर का अध्यक्ष और प्राणों का धारण करने वाला है ऐसी प्रसिद्धि है और ऐसा ही निर्वचन भी होता है । ऐसे

१. अन्नं पृथिवी । २. प्रधानम् । ३. उक्तलक्षणो जीवः । ४. गौणार्थः प्रचुरो यस्मिन्प्रकरणे । ५. ईक्षणवाक्यानाम् । ६. प्रधाने । ७. सर्वप्राणिनां भोगयोग्यत्वायेत्यर्थः ।

नाम स्वरूपम् । नाचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति । अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितृ परिगृह्यते तस्य जीवविषय आत्मशब्दप्रयोग उपपद्यते । तथा 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा०६-१४-३) 'इत्यत्र 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति, अप्तेजसोस्तु विषयत्वादचेतनत्वं, नामरूपव्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेनैव निर्देशात्, न चात्मशब्दवत्किंचिन्मुख्यत्वे कारणमस्तीति युक्तं कूलवद्गौणत्वमीक्षितृत्वस्य । तयोरपि च सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम् । सतस्त्वात्मशब्दान्न गौणमीक्षितृत्वमित्युक्तम् ॥६॥

निर्वचनाच्चेत्यर्थः । अथ त्विति । स्वपक्षे तु बिम्बप्रतिबिम्बयोर्लोके भेदस्य कल्पितत्वदर्शनाज्जीवो ब्रह्मणः सत आत्मेति युक्तमित्यर्थः । जीवस्य सच्छब्दार्थं प्रत्यात्मशब्दात् सन्न प्रधानमित्युक्त्वा सतो जीवं प्रत्यात्मशब्दान्न प्रधानमिति विधान्तरेण हेतुं व्याचष्टे—तथेति । स यः सदाख्य एषोऽणिमा परमसूक्ष्मः, ऐतदात्म्यकमिदं सर्वं जगत्, तत्सदेव सत्यं, विकारस्य मिथ्यात्वात् । सः सत्पदार्थः सर्वस्यात्मा । हे श्वेतकेतो,त्वं च नासि संसारी, किन्तु तदेव सदबाधितं सर्वात्मकं ब्रह्मासीति श्रुत्यर्थः । इत्यत्रोपदिशति । अतश्चेतनात्मकत्वात् सच्चेतनमेवेति वाक्यशेषः । यदुक्तमप्तेजसोरिव सत ईक्षणं गौणमिति, तत्राह—अप्तेजसोस्त्विति । नामरूपयोर्व्याकरणं सृष्टिः । आदिपदान्नियमनम् । अप्तेजसोर्विषयत्वात्सृज्यत्वान्नियम्यत्वाच्चाचेतनत्वमीक्षणस्य मुख्यत्वे बाधकमस्ति, साधकं च नास्तीति हेतोर्युक्तमीक्षणस्य गौणत्वमिति योजना । चेतनवत्कार्यकारित्वं गुणः 'तेज ऐक्षत' चेतनवत्कार्यकारीत्यर्थः । यद्वा तेजःपदेन तदधिष्ठानं सल्लक्ष्यते । तथाच मुख्यमीक्षणमित्याह—तयोरिति । स्यादेतद्यदि सत ईक्षणं मुख्यं स्यात्तदेव कुत इत्यत आह—सतस्त्विति । गौणमुख्ययोर[1]तुल्ययोः संशयाभावेन गौणप्रायपाठस्या[3]निश्चायकत्वादात्मशब्दाच्च सत ईक्षणं मुख्यमित्यर्थः ॥६॥

लक्षणवाला जीव अचेतन प्रधान की आत्मा कैसे हो सकेगा क्योंकि आत्मा तो अपना स्वरूप होता है, वह चेतन जीव अचेतन प्रधान का स्वरूप कैसे हो सकेगा । किन्तु चेतन ब्रह्म को मुख्य ईक्षणकर्ता के रूप में ग्रहण किया जाय तो उसमें चेतनविषयक आत्मशब्द का प्रयोग उचित माना जायेगा । इसीलिए तो 'वह आत्मा अतिसूक्ष्म है, उसी में सम्पूर्ण जगत् तादात्म्यरूप से रहता है, वह सत्य है और हे श्वेतकेतु ! वही आत्मा है और वही तू है' इस छान्दोग्य श्रुति में 'स आत्मा' इस वाक्य के द्वारा प्रसंगागत सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा को आत्मशब्द से कहकर 'हे श्वेतकेतु ! वही तू है' इस वाक्य से चेतन श्वेतकेतु को आत्मा के रूप में उस सत्यतत्त्व का उपदेश किया गया है । तेज और जल तो विषयरूप होने से अचेतन है ही, उनका निर्देश नामरूपसृष्टि प्रसंग में प्रयोज्यरूप में किया गया है । इस प्रकार ब्रह्म को जगत्कारण और ईक्षणकर्ता मानने में आत्मशब्द का प्रयोग एक श्रौततर्क दिखायी पड़ता है वैसा प्रधान को जगत्कारण मानने में कोई अनुकूल तर्क नहीं है । इसलिए उसमें, नदी का तट गिरना चाहता है, इस वाक्य की भाँति ईक्षितृत्व गौण कहा गया है । सत् जगत्कारण जिसका अर्थ आप प्रधान करना चाहते हैं वह अचेतन है और नदी का तट भी अचेतन है उसे

---

१. इत्यत्रेत्यस्योपदिशतीत्युत्तरेण सम्बन्धः । २. अतुल्ययोरिति—मिथो विरुद्धयोरित्यर्थः । अविरुद्धयोः (सदृशयोः) किलैकसंशयविषयत्वं दृष्टं लोके स्थाणुर्वा पुमान्वा रज्जुर्वा सर्पो वेत्यादीति भावः । ३. अनिश्चायकत्वादिति—सन्दिग्धे तु वाक्यशेषादिति नियमादिति भावः ।

(७) तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥७॥

अथोच्येताचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः, आत्मनः सर्वार्थकारित्वात्, यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। प्रधानं हि पुरुषस्यात्मनो भोगापवर्गौ कुर्वदुपकरोति, राज्ञ इव भृत्यः संधिविग्रहादिषु वर्तमानः। अथवैक एवात्मशब्दश्चेतनाचेतनविषयो भविष्यति, भूतात्मेन्द्रियात्मेति च प्रयोगदर्शनात्। यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलनविषयः। तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणमित्यत उत्तरं पठति—

न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति, 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठामुपदिश्य 'आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा०६-१४-२) इति मोक्षोपदेशात्। यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राहयेन्मुमुक्षुं चेतनं

आत्महितकारित्वगुणयोगादात्मशब्दोऽपि प्रधाने गौण इति शङ्कते—अथेत्यादिना। आत्मशब्दः प्रधानेऽपि मुख्यो नानार्थकत्वादित्याह—अथवेति। नानार्थकत्वे दृष्टान्तः—यथेति। 'अथैष ज्योतिः' इति श्रुत्या सहस्रदक्षिणाके क्रतौ ज्योतिष्टोमे लोकप्रयोगादग्नौ च ज्योतिःशब्दो यथा मुख्यस्तद्वदित्यर्थः।

तस्मिन्सत्पदार्थे निष्ठा अभेदज्ञानं यस्य स तन्निष्ठस्तस्य मुक्तिश्रवणादिति सूत्रार्थमाह—नेत्यादिना।

ईक्षणकर्ता मानने के लिए किसी अधिष्ठान की अपेक्षा होती है किन्तु सत् तो आत्मा है और वह चेतन है। अतः उसमें गौण ईक्षितृत्व नहीं माना जा सकता। जहाँ गौण और मुख्य दो प्रकार के ईक्षण का प्रसङ्ग आता हो, वहाँ मुख्य ईक्षण मानना ही उचित होगा, गौणप्राय पाठ किसी अर्थ का निर्णायक नहीं होता ॥६॥

यदि आत्मा का सर्वार्थकारी होने से अचेतन प्रधान में भी आत्मशब्द का प्रयोग वैसे ही हो सकता है जैसे राजा के सर्वार्थकारी भृत्य में राजा "**ममात्मा भद्रसेनः**" ऐसे आत्मशब्द का प्रयोग करता है, क्योंकि आत्मा के भोग और अपवर्ग को प्रधान वैसे ही सिद्ध करता है जैसे सन्धि, विग्रह आदि कार्य में राजा का मन्त्री सहायक होता है। अथवा एक ही आत्मशब्द चेतन और अचेतन सभी अर्थ में प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि भूतात्मा, इन्द्रिय आत्मा ऐसा प्रयोग देखा जाता है। ज्योति शब्द का प्रयोग सहस्रदक्षिणा वाले ज्योतिष्टोम नामक याग में भी होता है और लौकिक दृष्टि से अग्नि में भी ज्योति शब्द का प्रयोग होता है। वैसी स्थिति में इस आत्मशब्द का प्रयोग होने से ईक्षण मुख्य है, यह कैसे कह सकते हो? सांख्यों के इस प्रश्न का ही उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया जाता है कि आत्मनिष्ठ पुरुष को मोक्ष का उपदेश श्रुति करती है जो प्रधान में निष्ठा रखने वाले को प्राप्त नहीं हो सकता।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (ललिता)

अचेतन प्रधान आत्मशब्द का विषय नहीं हो सकता क्योंकि 'वह आत्मा है' इस प्रकृत अतिसूक्ष्म सत्यतत्त्व को लेकर 'हे श्वेतकेतु! वह तू है' इस वाक्य से मुमुक्षु चेतन श्वेतकेतु को आत्मनिष्ठा का उपदेश कर 'आचार्यवान पुरुष उस ब्रह्म को जानता है' उस ब्रह्मज्ञानी को

---

१. संधिः संधानं स्वर्णादिना शत्रूणां प्रीत्युत्पादनं निग्रहो रणः।

सन्तमचेतनोऽसीति तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्यानर्थायेत्यप्रमाणं स्यात् । नतु निर्दोषं शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम् । यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत्प्रमाणभूतं शास्त्रं स श्रद्दधानतयान्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्, तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद्विहन्येतानर्थं च ऋच्छेत् । तस्माद्यथा स्वर्गाद्यर्थिनोऽग्निहोत्रादिसाधनं यथाभूतमुपदिशति तथा मुमुक्षोरपि 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति यथाभूतमेवात्मानमुपदिशतीति युक्तम् । एवं च सति तप्तपरशुग्रहणमोक्षदृष्टान्तेन सत्याभिसंधस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते । अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' (ऐ० आर० २-१-२-६) इतिवत्संपन्मात्रमिदमनित्यफलं स्यात् । तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत । तस्मान्न सदणिमन्यात्मशब्दस्य गौणत्वम् । भृत्ये तु स्वामि-

श्रुतिः समन्वयसूत्रे व्याख्याता । अनर्थायेत्युक्तं प्रपञ्चयति—यदि चाज्ञस्येति । कश्चित्किल दुष्टात्मा महारण्यमार्गे पतितमन्धं स्वबन्धुनगरं जिगमिषुं बभाषे—किमत्रायुष्मता दुःखितेन स्थीयत इति । स चान्धः सुखां वाणीमाकर्ण्य तमाप्तं मत्वोवाच, अहो मद्भागधेयं, यदत्र भवान्मां दीनं स्वाभीष्टनगरप्राप्त्यसमर्थं भाषत इति । स च विप्रलिप्सुर्दुष्टगोयुवानमानीय तदीयलाङ्गूलमन्धं ग्राहयामास, उपदिदेश च एनमन्धं—एष गोयुवा त्वां नगरं नेष्यति, मा त्यज लाङ्गूलमिति । स चान्धः श्रद्धालुतया तदत्यजन्स्वाभीष्टमप्राप्यानर्थपरम्परां प्राप्तः । तेन न्यायेनेत्यर्थः । तथा सतीति । आत्मज्ञानाभावे सति विहन्येत, मोक्षं न प्राप्नुयात्, प्रत्युतानर्थं संसारं च प्राप्नुयादित्यर्थः । ननु जीवस्य प्रधानैक्य[1]सम्पदुपासनार्थमिदं वाक्यमस्त्विति, तत्राह—एवं च सतीति । अबाधितात्मप्रमायां सत्यामित्यर्थः । कस्यचिदारोपितचोरत्वस्य सत्येन तप्तं परशुं गृह्णतो मोक्षो दृष्टः, तद्दृष्टान्तेन सत्ये ब्रह्मणि अहमित्यभिसन्धिमतो मोक्षः, यथा 'सत्याभिसन्धस्तप्तं परशुं गृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते' (छा० ६-१६-२) इति श्रुत्योपदिष्टः । स उपदेशः सम्पत्पक्षे न युक्त इत्याह—अन्यथेति । देहमुत्थापयतीत्युक्थं प्राणः ।

को विदेहकैवल्य प्राप्त करने में उतनी ही देर है जब तक उसकी प्रारब्ध क्षीण नहीं हो जाती' इन वाक्यों से मोक्ष का उपदेश देखा जाता है । यदि अचेतन प्रधान को सत् शब्दवाच्य मानोगे तो उसी के सम्बन्ध में 'वह तू है' ऐसा चेतन मुमुक्षु को आचार्य बोध करायेंगे तब तो 'चेतन तू अब अचेतन हो' ऐसा विपरीत अर्थ मानना होगा । इस विपरीत अर्थ को कहने वाला शास्त्र पुरुष को अनर्थ में ले जायेगा, फिर तो वह प्रमाण ही नहीं रह जायेगा । किन्तु निर्दोष प्रमाण के अप्रमाण होने की कल्पना करना उचित नहीं है और यदि अज्ञानी मुमुक्षु को अचेतन प्रधान अनात्मा का ही प्रमाणभूत शास्त्र आत्मशब्द से उपदेश करेगा तो वह मुमुक्षु अन्धगोलाङ्गूलन्याय से उसमें श्रद्धा कर लेने के कारण उस प्रधान में आत्मदृष्टि का परित्याग नहीं करेगा और न प्रधान से भिन्न आत्मा को ही जान सकेगा । ऐसी स्थिति में वह परमार्थ से भ्रष्ट हो जायेगा; साथ ही, अनर्थ को भी प्राप्त करेगा । अतः जिस प्रकार स्वर्गादि चाहने वाले के लिए अग्निहोत्रादि यथार्थ साधन का उपदेश शास्त्र करता है वैसे ही मुमुक्षु को भी यथार्थ आत्मा का उपदेश 'वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! वही तू है' इस वाक्य से श्रुति करती है, ऐसा कहना ही उचित होगा । ऐसा मानने पर तपे हुए फरसे को ग्रहण कराकर बन्धन से मुक्ति के लिए दृष्टान्त द्वारा सत्याग्रही व्यक्ति को मोक्ष का उपदेश युक्तिसङ्गत हो जाता है, अन्यथा अमुख्य प्रधान सदात्मतत्त्व का उपदेश मानने पर 'मैं उक्थ हूँ, ऐसा जाने' इस उपासना की भाँति

१. प्रधाने इति शेषः । २. अल्पालंबनतिरस्कारेणोत्कृष्टवस्त्वभेदज्ञान सम्पद् ।

भृत्यमेवस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। अपिच क्वचिद्गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्तूक्तं—चेतनाचेतनयोः साधारण आत्मशब्दः क्रतुज्वलनयोरिव ज्योतिःशब्द इति, तन्न, अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात्। तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशब्दश्चेतनत्वोपचाराद्भूतादिषु प्रयुज्यते भूतात्मेन्द्रियात्मेति च। साधारणत्वेऽप्यात्मशब्दस्य न प्रकरणमुपपदं वा किंचिन्निश्चायकमन्तरेणान्यतरवृत्तिता निर्धारयितुं शक्यते। न चात्राचेतनस्य निश्चायकं किंचित्कारणमस्ति। प्रकृतं तु सदीक्षितृ, संनिहितश्चेतनः श्वेतकेतुः, नहि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा सम्भवतीत्यवोचाम। तस्माच्चेतनविषय इहात्मशब्द इति निश्चीयते। ज्योतिःशब्दोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव रूढोऽर्थवादकल्पितेन तु

तस्मान्मोक्षोपदेशान्मुख्ये सम्भवति गौणत्वस्यान्याय्यत्वाच्चात्मशब्दः सति मुख्य इत्याह—अपि चेति। क्वचिद्भृत्यादौ। सर्वत्राहमात्मेत्यत्रापि मुख्य आत्मशब्दो न स्यादित्यर्थः। चेतनत्वोपचाराद्भूतादिषु। सर्वत्र चैतन्यतादात्म्यादित्यर्थः। आत्मशब्दश्चेतनस्यैवासाधारण इत्युक्तम्। अस्तु वाऽव्याप्तिवस्तूनां साधारणस्तथापि तस्यात्र श्रुतो प्रधानपरत्वेऽपि निश्चायकाभावान्न प्रधानवृत्तितेत्याह—साधारणत्वेऽपीति। चेतनवाचित्वे तु प्रकरणं श्वेतकेतुपदं च निश्चायकमस्तीत्याह—प्रकृतं त्विति। उपपदस्य निश्चायकत्वं स्फुटयति—नहीति। ततः किं? तत्राह—तस्मादिति। आत्मशब्दो ज्योतिःशब्दवन्नानार्थक इत्युक्तं दृष्टान्तं निरस्यति—ज्योतिरिति। कथं तर्हि 'ज्योतिषा यजेत' इति ज्योतिष्टोमे प्रयोगः, तत्राह—अर्थवादेति। 'एतानि वाव तानि ज्योतींषि य एतेऽस्य स्तोमाः' इत्यर्थवादेन कल्पितं

'**तत्त्वमसि**' उपदेश भी सम्पद् उपासनामात्र होने के कारण अनित्यफलवाला हो जायेगा, फिर तो वहाँ पर मोक्ष उपदेश युक्तियुक्त सिद्ध न हो सकेगा। अतः अतिसूक्ष्म प्रधान सत् तत्त्व में आत्मशब्द का प्रयोग गौण नहीं कह सकते। राजा और भृत्य का भेद प्रत्यक्षतः सिद्ध होने के कारण भृत्य में तो 'ममात्मा भद्रसेनः' इस लौकिकवाक्य के द्वारा आत्मशब्द का गौण प्रयोग उचित ही है।

एकबात और भी याद रखें, कहीं कहीं पर भृत्यादि में आत्मशब्द का प्रयोग गौण देखा गया है, इतने मात्र से शब्दैकप्रमाणगम्य परमार्थतत्त्व में भी '**स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**' इस वाक्य द्वारा आत्मशब्द गौण प्रयुक्त हुआ है, ऐसी कल्पना युक्तियुक्त नहीं है और ऐसी कल्पना करने पर सर्वत्र अविश्वास का प्रसङ्ग आ जायेगा। और जो आप ने कहा था कि जैसे क्रतु और प्रसिद्ध अग्नि में ज्योति शब्द का प्रयोग होता है वैसे ही चेतन ब्रह्म और अचेतन प्रधान के लिए आत्मशब्द साधारण है, बस इतना मानकर इस विषय में विवाद छोड़ देना चाहिए? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि किसी भी शब्द को अनेकार्थक मानना अन्याय है। इसलिए इस छान्दोग्य श्रुति में मुख्य चेतन आत्मा में ही आत्मशब्द का प्रयोग हुआ है। सर्वत्र भूतादि में चेतनत्व तादात्म्य होने के कारण उनमें भूतआत्मा, इन्द्रिय आत्मा प्रयोग गौण माना जा सकता है। आत्मशब्द चेतन और अचेतन के लिए साधारण होने पर भी प्रकरण एवं कुछ उपपद निर्णायक के बिना किसी एक में प्रयोग सुनिश्चित मानना शक्य नहीं है। आत्मशब्द का प्रयोग छान्दोग्य श्रुति में अचेतन प्रधान के लिए किया गया है इसका निश्चायक कोई कारण नहीं है। प्रकृत सत्तत्त्व ईक्षणकर्ता संनिहितचेतन श्वेतकेतु ही है, उस चेतन श्वेतकेतु को अचेतन प्रधान मान लेना सम्भव नहीं, ऐसा हम पिछले प्रसङ्ग में कह आये

(८) हेयत्वावचनाच्च ॥८॥

ज्वलनसादृश्येन क्रतौ प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः। अथवा पूर्वसूत्र एवात्मशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्वशङ्कतया व्याख्याय ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिराकरणहेतुर्व्याख्येयः— 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इति। तस्मान्नाचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥७॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' इतीहोपदिष्टं स्यात्स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुस्तस्य हेयत्वं ब्रूयात्। यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराममुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति तद्वन्नायमात्मेति ब्रूयात्। नचैवमवोचत्।

ज्वलनेन सादृश्यम्। "[१]त्रिवृत्पञ्चदशस्त्रिवृत्सप्तदशस्त्रिवृदेकविंशस्तोमाः' इति तत्तदर्थप्रकाशकत्वेन गुणेन ज्योतिष्पदोक्ता ऋक्संघाः। तथा च ज्योतींषि स्तोमा यस्येति ज्योतिष्टोम इत्यत्र ज्योतिःशब्दो गौण इत्यर्थः। नन्वात्मशब्दादिति पूर्वसूत्र एवात्मशब्दस्य प्रधाने गौणत्वसाधारणत्वशङ्कानिरासः कर्तुमुचितः, मुख्यार्थस्य लाघवेनोक्तिसम्भवे गौणत्वनानार्थकत्वशङ्काया दुर्बलत्वेन तन्निरासार्थं पृथक्सूत्रायासानपेक्षणात्। तथा च शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रव्याख्यानं नातीव शोभत इत्यरुचेराह— अथवेति। निरस्ता समस्ता गौणत्वनानार्थकत्वशङ्का यस्यात्मशब्दस्य स तच्छङ्कस्तस्य भावस्तत्ता तयेत्यर्थः। तत इति। सत आत्मशब्देन जीवाभिन्नत्वादिति हेत्वपेक्षया मोक्षोपदेशः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणत्वनिरासे हेतुरित्यर्थः ॥७॥

ननु यथा कश्चिदरुन्धतीं दर्शयितुं निकटस्थां स्थूलां तारामरुन्धतीत्वेनोपदिशति, तद्वदनात्मन एव प्रधानस्य सत्पदार्थस्यात्मत्वोपदेश इति शङ्कते—कुतश्चेति। प्रधानं सच्छब्दवाच्यं नेति कुत

हैं। अतः इस छान्दोग्य श्रुति में चेतन विषयक ही आत्मशब्द है, ऐसा निश्चित होता है। ज्योतिः शब्द भी लौकिक प्रयोग को देखते हुए ज्वलन अर्थ में ही रूढ़ है क्योंकि अर्थवाद से कल्पित ज्वलनसादृश्य के कारण ही क्रतु में ज्योति शब्द प्रयुक्त हुआ ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है। अथवा **गौणोऽचेन्नात्मशब्दात्'** इस पूर्वसूत्र में ही आत्मशब्द का व्याख्यान हो चुका है। जिस आत्मशब्द में गौणत्व और साधारणत्व की शङ्का थी, उस शङ्का का निरास कर दिया गया था अब **'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'** इस सूत्र द्वारा स्वतन्त्ररूप से प्रधानकारणवाद का निराकरण करना है, ऐसा व्याख्यान कर लेना चाहिए। अतः अचेतन प्रधान सत् शब्दवाच्य नहीं है ॥७॥

हेयत्वावचनाच्च (ललिता)

सत् शब्दवाच्य प्रधान क्यों नहीं हो सकता? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं। यदि अनात्मा प्रधान को ही सत् शब्दवाच्य माना जाय तो 'वह आत्मा है, वहीं तू है' इस वाक्य से उस प्रधान का ही उपदेश किया गया है, ऐसा मानना पड़ेगा। वह श्वेतकेतु प्रधान का सत्शब्दवाच्यरूप में उपदेश सुनकर अनात्मज्ञ हो प्रधाननिष्ठ न हो जाय, इसलिए मुख्य आत्मा का उपदेश करने वाले आचार्य को प्रधान में हेयत्व बतलाना चाहिए। जिस प्रकार अरुन्धती तारा दिखलाने वाला व्यक्ति पहले उसके

---

१. त्रिवृदिति—पञ्चदशो मन्त्रस्त्रिःप्रयोज्य इत्यर्थोऽवगम्यते।

सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव हि षष्ठप्रपाठकपरिसमाप्तिर्दृश्यते । चशब्दः प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः । सत्यपि हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोधः प्रसज्येत । कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम् । 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६-१-२,३,४) । 'एवं सोम्य स आदेशो भवति' (छा० ६-१-६) इति वाक्योपक्रमे श्रवणात् । नच सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवति,

---

इत्यर्थः । सौत्रश्चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ इत्याह—चशब्द इति । विवृणोति—सत्यपीति । अपिशब्दात्रास्त्येवेति सूचयति । वेदानधीत्याऽऽगतं स्तब्धं पुत्रं पितोवाच—हे पुत्र, उत अपि, आदिश्यत इत्यादेश उपदेशैकलभ्यः सदात्मा तमप्यप्राक्ष्यः गुरुनिकटे पृष्टवानसि, यस्य श्रवणेन मननेन विज्ञानेनान्यस्य श्रवणादिकं भवतीत्यन्वयः । नन्वन्येन ज्ञातेन कथमन्यदज्ञातमपि ज्ञातं स्यादिति पुत्रः शङ्कते—कथमिति । हे भगवः, कथं नु खलु स भवतीत्यर्थः । कार्यस्य कारणान्यत्वं नास्तीत्याह—यथेति । पिण्डः स्वरूपं, तेन विज्ञातेनेति शेषः । तत्र युक्तिमाह—वाचेति । वाचा वागिन्द्रियेणारभ्यत इति विकारो वाचारम्भणम् । ननु वाचा नामैवारभ्यते, न घटादिरित्याशङ्क्य नाममात्रमेव विकार इत्याह—नामधेयमिति । 'नामधेयं विकारोऽयं वाचा केवलमुच्यते । वस्तुतः कारणाद्भिन्नो नास्ति तस्मान्मृषैव सः ॥' इति भावः । विकारस्य मिथ्यात्वे तदभिन्नकारणस्यापि मिथ्यात्वमिति, नेत्याह—मृत्तिकेति । कारणं कार्याद्भिन्नसत्ताकं, न कार्यं कारणाद्भिन्नम्, अतः कारणातिरिक्तस्य कार्यस्वरूपस्याभावात्कारणज्ञानेन तज्ज्ञानं भवतीति स्थिते दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति । मृद्वद्ब्रह्मैव सत्यं वियदादिविकारो मृषेति ब्रह्मज्ञाने सति ज्ञेयं किञ्चिन्नावशिष्यत इत्यर्थः । यद्यपि प्रधाने ज्ञाते तादात्म्याद्विकाराणां ज्ञानं भवति तथापि न पुरुषाणां, तेषां प्रधानविकारत्वाभावादित्याह—नचेति ।

समीपवर्ती स्थूल अमुख्य तारा को अरुन्धती शब्द से ग्रहण कराता है तत्पश्चात् उसका खण्डन कर वास्तविक अरुन्धती का ही बोध कराता है, ऐसे ही श्रुति को भी कहना चाहिए कि अब तक जिस प्रधान को तूने आत्मा माना था वह आत्मा नहीं है, किन्तु ऐसा श्रुति ने वहाँ पर कहा नहीं है। सन्मात्र आत्मा का बोध करा करके ही छान्दोग्य का षष्ठाध्याय समाप्त देखा जाता है। सूत्र में 'चकार' शब्द अनुक्त प्रतिज्ञाविरोध समुच्चयार्थक है। यदि कदाचित् प्रधान का हेयत्व कहा गया होता फिर भी प्रतिज्ञाविरोध तो आयेगा ही, क्योंकि कारण के ज्ञान से सभी कार्य विज्ञात होता है, ऐसी प्रतिज्ञा पहले की गयी है। आचार्य उद्दालक ने कहा कि 'हे पुत्र! तुमने गुरु के निकट उपदेशैकलभ्य उस सदात्मा को भी पूछा था कि जिसके सुनने से अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, अमत भी मत और अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है? इस पर श्वेतकेतु ने कहा कि 'भगवन् वह आदेश कैसा है? श्वेतकेतु के इस प्रश्न का उत्तर महर्षि उद्दालक ने दिया, कि 'जैसे हे सौम्य! एक मृत्पिण्ड के जानने से मृत्तिका के सभी विकार विज्ञात हो जाते हैं, क्योंकि विकार तो वाणी से कहने मात्र भर है सत्य तो मृत्तिका ही है।' 'हे प्रियदर्शन! वह आदेश भी ऐसा ही है' आरम्भ में ऐसा वाक्य सुना जाता है। कदाचित् महदादि भोग्यवर्ग के कारण सच्छब्दवाच्य प्रधान हेयत्वेन अथवा अहेयत्वेन विज्ञात हो भी जाय फिर भी भोक्तृवर्ग पुरुष आत्मा विज्ञात नहीं हो सकता,

(९) स्वाप्ययात् ॥९॥

अप्रधानविकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य । तस्मान्न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥८॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इति । एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति । स्वशब्देनेहात्मोच्यते । यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः । अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं, प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात् । मनःप्रचारोपाधिविशेषसम्बन्धादिन्द्रियार्थान्गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति । तद्वासनाविशिष्टः

'अस्माकं जीवानां सद्रूपत्वात्तज्ज्ञाने ज्ञानमिति भावः ॥८॥

कुतश्चेति । पुनरपि कस्माद्धेतोरित्यर्थः । सुषुप्तौ जीवस्य सदात्मनि स्वस्मिन्नप्ययश्रवणात्सच्चेतनमेवेति सूत्रयोजना । एतत्स्वपनं यथा स्यात्तथा यत्र सुषुप्तौ स्वपितीति नाम भवति तदा पुरुषः सता सम्पन्न एकीभवति । सदैक्येऽपि नामप्रवृत्तिः कथम् ? तत्राह—स्वमिति । तत्र लोकप्रसिद्धिमाह—तस्मादिति । हि यस्मात्स्वं सदात्मानमपीतो भवति तस्मादित्यर्थः । श्रुतेस्तात्पर्यमाह—एषेत्यादिना । कथमेतावता प्रधाननिरास इत्यत आह—स्वशब्देनेति । एतेर्धातोर्गत्यर्थस्यापिपूर्वस्य लयार्थत्वेऽपि कथं नित्यस्य जीवस्य लय इत्याशङ्क्य उपाधिलयादिति वक्तुं जाग्रत्स्वप्नयोरुपाधिमाह—मन इति । ऐन्द्रियकमनोवृत्तय उपाधयः, तैर्घटादिस्थूलार्थविशेषाणामात्मना सम्बन्धादात्मा तानिन्द्रियार्थान्पश्यन्स्थूलविशेषेण देहेनैक्यभ्रान्तिमापन्नो विश्वसंज्ञो जागर्ति । जाग्रद्वासनामयमनोविशिष्टः संस्तैजससंज्ञः स्वप्ने विचित्रवासनासहकृतमायापरिणामान्पश्यन् 'सोम्य तन्मनः' इति श्रुतिस्थमनःशब्दवाच्यो

क्योंकि भोक्तृवर्ग प्रधान का कार्य नहीं है। अतः 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) इस वाक्य में आये हुए सत् शब्द का अर्थ प्रधान नहीं हो सकता ॥८॥

स्वाप्ययात् (ललिता)

शङ्का—सत्शब्दवाच्य प्रधान क्यों न माना जाय ? इस शङ्का का समाधान अग्रिम सूत्र से दिया गया है क्योंकि सत्शब्दवाच्य उसी कारण के प्रकरण में आगे सुना जाता है 'जहाँ पर यह पुरुष सोता है वहाँ हे सोम्य ! वह सत् के साथ सम्पन्न हो जाता है, स्वमपीत हो जाता है, इसलिए इसको स्वपिति इस नाम से कहते हैं क्योंकि वह अपने में लीन होता है।' ऐसी श्रुति पुरुष का लोकप्रसिद्ध 'स्वपिति' इस नाम का निर्वचन करती है। यहाँ पर 'स्व' शब्द से आत्मा कहा गया है जिसका प्रसङ्ग चल रहा है और जो सत् शब्दवाच्य है। उसी स्व में वह जीव निद्रावस्था में लीन हो जाता है। अपिपूर्वक इण् धातु का लय अर्थ लोकप्रसिद्ध है, उत्पत्ति में प्रभव और प्रलय में अप्यय शब्द का प्रयोग देखा जाता है। विषयों में इन्द्रियों का सहारा लेकर मन जाता है, इसलिए इन्द्रियाँ और विषय मन के विचरण की उपाधिविशेष माने जाते हैं। जब मन उन्हें ग्रहण कर लेता है तब वह चिदात्मा के आभासविशेष को लेकर जीव कहलाता है जो जाग्रत अवस्था में जगा हुआ कहा

---

१. मते तिवति शेषः । २. चक्षुरादीन्द्रियद्वारा बहिर्निर्गता मनोवृत्तयः ।

स्वप्नान्पश्यन्मनःशब्दवाच्यो भवति । स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृत-विशेषाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति 'स्वं ह्यपीतो भवति' इत्युच्यते । यथा हृदयशब्द-निर्वचनं श्रुत्या दर्शितम्—'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्मा-द्धृदयम्' (छा० ८-३-३) इति । यथा चाशनायोदन्याशब्दप्रवृत्तिमूलं दर्शयति श्रुतिः—'आप एव तदशितं नयन्ते' 'तेज एव तत्पीतं नयते' (छा० ६-८-३,५) इति च । एवं स्वमात्मानं सच्छब्दवाच्यमपीतो भवतीतीममर्थं स्वपितिनामनिर्वचनेन दर्शयति । न च चेतन आत्माऽचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्येत । यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात्स्व-शब्देनैवोच्येत एवमपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत । श्रुत्यन्तरं च—'प्राज्ञेना-त्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृ० ४-३-२१) इति सुषुप्तावस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति । अतो यस्मिन्नप्ययः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं न प्रधानम् ॥९॥

भवति । स आत्मा स्थूलसूक्ष्मोपाधिद्वयोपरमेऽहं नरः कर्तेति विशेषाभिमानाभावाल्लीन इत्युपचर्यत इत्यर्थः । ननु स्वपितीति नामनिरुक्तेरर्थवादत्वान्न यथार्थतेत्यत आह—यथेति । तस्य हृदयशब्दस्यै-तन्निर्वचनम् । तदशितमन्नं द्रवीकृत्य नयन्ते जरयन्तीत्याप एवाशनायापदार्थः । तत्पीतमुदकं नयते शोषयतीति तेज एवोदन्यम् । अत्र दीर्घश्छान्दसः । एवमिदमपि निर्वचनं यथार्थमित्याह—एवमिति । इदं च प्रधानपक्षे न युक्तमित्याह—नचेति । स्वशब्दस्यात्मनीवात्मीयेऽपि शक्तिरस्तीत्याशङ्क्याह—यदीति । प्राज्ञेन बिम्बचैतन्येनेश्वरेण संपरिष्वक्तो भेदभ्रमाभावेनाभेद इत्यर्थः ॥९॥

जाता है । वही जब जाग्रत की वासनाओं से विशिष्ट हो स्वप्न को देखता है, तब मनःशब्दवाच्य कहलाता है और जब स्थूल, सूक्ष्म दोनों उपाधियों के उपरत हो जाने पर सुषुप्ति अवस्था में उपाधिकृत विशेष नहीं रह जाता है तब तो वह जीव अपने में ही लीन सा प्रतीत होता है । इसलिए उसे '**स्वं ह्यपीतो भवति**' ऐसा कहा जाता है । (इस प्रकार वैदिक नाम का निर्वचन अन्यत्र भी देखा जाता है) जैसे हृदय शब्द का निर्वचन श्रुति ने किया है 'प्रकृत आत्मा हृदय में रहता है इसलिए उसका नाम हृद्यम् है ।' और जिस प्रकार अशनाया एवं उदन्या शब्दप्रवृत्ति का मूल श्रुति दिखलाती है 'खाये हुए अन्न को जल ही भीतर ले जाता है, पिये हुए जल को तेज ही भीतर ले जाता है' इसलिए जल को अशनाया और तेज को उदन्या नाम से कहा गया है । ठीक ऐसे ही 'सत् शब्दवाच्य अपने स्वरूप में लीन होता है' इस अर्थ को '**स्वपोति**' नामनिर्वचन द्वारा श्रुति दिखलाती है । चेतन आत्मा अचेतन प्रधान को अपना स्वरूप मानकर प्राप्त नहीं कर सकता । यदि स्व शब्द का आत्मीय अर्थ मानकर स्व शब्द से प्रधान ही लिया जाय, तब तो चेतन अचेतन में लीन होता है ऐसा मानना पड़ेगा, जो लोकानुभवविरुद्ध हो जायेगा क्योंकि दूसरी श्रुतियों ने भी निद्रावस्था में जीव का विलय चेतन में दिखलाया है । चेतन आत्मा के साथ अभिन्न होकर वह सुषुप्त पुरुष बाहर और भीतर कुछ भी नहीं जानता । अतः जिसमें सभी चेतन का विलय होता है वह सत् शब्दवाच्य जगत् का कारण चेतन ही होगा; अचेतन प्रधान नहीं, यह अर्थ सिद्ध हुआ ॥९॥

---

१. अर्थवादत्वादिति—यदरोदीदित्यादेरिवेत्यर्थः ।

(१०) गतिसामान्यात् ॥१०॥

कुतश्च न प्रधानं जगतः कारणम्—

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत्क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं क्वचिदचेतनं प्रधानं क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत् । नत्वेतदस्ति । समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः । 'यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ३-३) इति । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २-१) इति । 'आत्मत एवेदं सर्वम्' (छा० ७-२६-१) इति । 'आत्मन एष प्राणो जायते' (प्र० ३-३) इति चात्मनः कारणत्वं दर्शयन्ति सर्वे वेदान्ताः । आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम । महच्च प्रामाण्यकारणमेतद्यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वं, चक्षुरादीनामिव रूपादिषु । अतो गतिसामान्यात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ॥१०॥

तत्तद्वेदान्तजन्यानामवगतीनां चेतनकारणविषयकत्वेन सामान्यान्नाचेतनं जगतः कारणमिति सूत्रार्थं व्यतिरेकमुखेनाह—यदि तार्किकेत्यादिना । अन्यत्परमाण्वादिकम् । न त्वेतदिति । अवगतिवैषम्यमित्यर्थः । विप्रतिष्ठेरन्विविधं नानादिशः प्रति गच्छेयुः । प्राणाश्चक्षुरादयो यथागोलकं प्रादुर्भवन्ति, प्राणेभ्योऽनन्तरं, देवाः सूर्यादयस्तदनुग्राहकाः, तदनन्तरं लोक्यन्त इति लोका विषया इत्यर्थः । ननु वेदान्तानां स्वतःप्रामाण्यत्वेन प्रत्येकं स्वार्थनिश्चायकत्वसम्भवात्किं गतिसामान्येनेत्यत आह—महच्चेति । एकरूपावगतिहेतुत्वं वेदान्तानां प्रामाण्यसंशयनिवृत्तिहेतुरित्यत्र दृष्टान्तमाह—चक्षुरिति । यथा सर्वेषां चक्षुषामेकरूपावगतिहेतुत्वं, श्रवणानां शब्दावगतिहेतुत्वं, प्राणादीनां गन्धादिषु, एवं ब्रह्मणि वेदान्तानां गतिसामान्यं प्रामाण्यदार्ढ्ये हेतुरित्यर्थः ॥१०॥

गतिसामान्यात् (ललिता)

जगत् का कारण प्रधान क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम 'गतिसामान्यात्' सूत्र से दिया गया है । जिस सूत्र का अर्थ भाष्यकार व्यतिरेक द्वारा करते हैं कि यदि तार्किक-सिद्धान्त की भाँति वेदान्त में भी भिन्न-भिन्न जगत्कारण का ज्ञान कराया गया होता तो किसी श्रुति में जगत् का कारण ब्रह्म है, किसी में अचेतन प्रधान जगत्कारण है और किसी में परमाणु आदि जगत् के कारण हैं, ऐसा कहा गया होता । उस स्थिति में कदाचित् प्रधानकारणवाद के आधार पर भी 'तदैक्षत' इति ईक्षत्यादि श्रवण की कल्पना की जा सकती थी, किन्तु श्रुति में भिन्न-भिन्न जगत्कारण बतलाया नहीं है । इसके विपरीत, सभी वेदान्त में जगत् का कारण चेतन को ही बतलाया गया है; 'जैसा कि प्रज्वलित अग्नि से सभी दिशाओं में जिस प्रकार चिनगारी उठकर फैलती है ऐसे ही इस आत्मा से सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलक में प्रतिष्ठित हो गयीं उन इन्द्रियों के आदित्यादि देवता उत्पन्न हुए फिर उनके रूपादि विषय भी उत्पन्न हुए, इसी प्रकार आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' 'आत्मा से ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है' 'आत्मा से ही प्राण उत्पन्न होता है' इत्यादि सभी वेदान्तवाक्य

(११) श्रुतत्वाच्च ॥११॥

६. आनन्दमयाधिकरणम् (सू० १२-१९)

संसारी ब्रह्म वानन्दमयः संसार्ययं भवेत्। विकारार्थमयट्शब्दात्प्रियाद्यवयवोक्तितः॥
अभ्यासोपक्रमादिभ्यो ब्रह्मानन्दमयो भवेत्। प्राचुर्यार्थो मयट्शब्दः प्रियाद्याः स्युरुपाधिगाः॥
अन्याङ्गं स्वप्रधानं वा ब्रह्मपुच्छमिति श्रुतम्। स्यादानन्दमयस्याङ्गं पुच्छेऽङ्गत्वसिद्धितः॥
लाङ्गूलासम्भवादत्र पुच्छेनाधारलक्षणा। आनन्दमयजीवोऽस्मिन्नाश्रितोऽतः प्रधानता॥

कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्—

स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६-९) इति। तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणं, नाचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम् ॥११॥

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'श्रुतत्वाच्च' इत्येवमन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्त-

---

एवमीक्षत्यादिलिङ्गैरचेतने वेदान्तानां समन्वयं निरस्य चेतनवाचकशब्देनापि निरस्यति—श्रुतत्वाच्चेति। **सूत्रं व्याचष्टे**—स्वशब्देनेति। **स्वस्य चेतनस्य वाचकः सर्ववित्छब्दः। 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' (श्वे० ६-१६) इति सर्वज्ञं परमेश्वरं प्रकृत्य 'स सर्ववित्कारणम्' इति श्रुतत्वान्नाचेतनं कारणमिति सूत्रार्थः। करणाधिपा जीवास्तेषामधिपः। अधिकरणार्थमुपसंहरति**—तस्मादिति। **ईक्षणात्मशब्दादिकं परमाण्वादावप्ययुक्तमिति मत्वाह**—अन्यद्वेति ॥११॥

वृत्तानुवादेनोत्तरसूत्रसन्दर्भमाक्षिपति—जन्मादीति। **प्रथमसूत्रस्य शास्त्रोपोद्घातत्वाज्जन्मादि-**

आत्मा को ही जगत् का कारण बतलाते हैं। आत्मशब्द चेतन अर्थ का वाचक है, यह पहले हम कह आये हैं। रूपादि विषयों का बोध कराने वाले जैसे असाधारण कारण चक्षुरादि हैं वैसे ही चेतन ब्रह्म जगत् का कारण है, इस बात को बतलाने में वेदान्तवाक्य भी असाधारण प्रबल प्रमाण हैं। अतः श्रुतियों की गति एक सी देखकर सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण सिद्ध होता है ॥१०॥

श्रुतत्वाच्च (ललिता)

इस प्रकार ईक्षत्यादि लिङ्गों से अचेतन प्रधान में श्रुतियों का समन्वय नहीं माना जा सकता, ऐसा कहने के बाद चेतनवाचक शब्द से भी प्रधान में वेदान्त समन्वय का निषेध अग्रिम सूत्र से करते हैं। जगत् का कारण सर्वज्ञ ब्रह्म क्यों है? इसका उत्तर **'श्रुतत्वाच्च'** सूत्र से दिया गया है। श्रुति ने अपने ही शब्दों में सर्वज्ञ ईश्वर को जगत्कारण माना है। श्वेताश्वेतर मन्त्रोपनिषद् में सर्वज्ञ ईश्वर के प्रसङ्ग में सुना जाता है, 'उस जगत्कारण परमात्मा का लोक में कोई पति नहीं है, न उसका कोई शासक है और न उसके कोई लिङ्ग है, वही सम्पूर्ण विश्व का कारण है, इन्द्रियों के अधिपति जीव का भी वह पति है किन्तु उस परमात्मा का कोई न जनक है, न अधिपति है' इत्यादि। अतः सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है; अचेतन प्रधान या परमाण्वादि नहीं हैं, यह अर्थ सिद्ध हुआ ॥११॥

६. आनन्दमयाधिकरण

(एकदेशी मत)

१. सङ्गति—ईक्षत्यधिकरण में **'तत्तेज ऐक्षत'** (छा० ६-२-३) इत्यादि वाक्यगत ईक्षण अमुख्यप्राय

वाक्यानि तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम् । गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणवादिन इति व्याख्यातम् । अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति । उच्यते—द्विरूपं हि

सूत्रमारभ्येत्युक्तम्—सर्ववेदान्तानां कार्ये प्रधानाद्यचेतने च समन्वयनिरासेन ब्रह्मपरत्वं व्याख्यातम् । अतः प्रथमाध्यायार्थस्य समाप्तत्वादुत्तरग्रन्थारम्भे किं कारणमित्यर्थः । वेदान्तेषु सगुणनिर्गुणब्रह्मवाक्यानां बहुलमुपलब्धेः, तत्र कस्य वाक्यस्य सगुणोपासनाविधिद्वारा निर्गुणे समन्वयः, कस्य वा गुणविवक्षां विना साक्षादेव ब्रह्मणि समन्वय इत्याकाङ्क्षेव कारणमित्याह—उच्यत इति । **संक्षिप्य सगुणनिर्गुणवाक्यार्थमाह**—द्विरूपं हीति । **नामरूपात्मको विकारः सर्वं जगत्, तद्भेदो हिरण्यगर्भ-**

कहा गया है । अतः जिस प्रकार वह जगत्कारणत्व का निर्णायक नहीं है । वैसे ही **'आत्माऽऽनन्दमयः'** (तै० २·५) इस वाक्य में मयट् प्रत्यय विकारार्थक होने से तत्त्वनिर्णायक नहीं हो सकता इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की प्रत्युदाहरण सङ्गति है ।

२. **विषय**—यहाँ पर **'आत्माऽऽनन्दमयः'** इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य पर विचार किया गया है ।

३. **संशय**—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २-१) इस वाक्य द्वारा प्रकान्त ब्रह्म को ही **'आनन्दमयः'** शब्द से कहा गया है अथवा कोई दूसरा पदार्थ आनन्दमयपदवाच्य है ?

४. **पूर्वपक्ष**—**'आनन्दमयः'** इस पद में विकारार्थक मयट् प्रत्यय रहने के कारण ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ आनन्दमयपदवाच्य होना चाहिए जिसके प्रिय, मोद एवं प्रमोद अवयव हैं ।

५. **सिद्धान्त**—पुनरावृत्ति और उपक्रमादि को देखते हुए आनन्दमय पद का अर्थ ब्रह्म ही करना चाहिए । मयट् प्रत्यय यहाँ पर प्राचुर्य अर्थ में है, विकार अर्थ में नहीं । विशुद्ध, निरवयव ब्रह्म में प्रियादि अवयव औपाधिक है, परमार्थतः नहीं हैं ।

(सैद्धान्तिक मत)

१. **सङ्गति**—भगवत्पादीय मतानुसार जैसे पूर्वाधिकरण में मुख्यईक्षण अनुरोध से ब्रह्मनिणय में गौणप्रवाहपाठ निर्णायक नहीं है ऐसे ही **'पुच्छ'** शब्द आधार एवं अवयव दोनों अर्थ का लक्षक समानरूप से है, ऐसी स्थिति में अवयवप्राय पठित होने पर भी **'पुच्छं'** शब्द किसी अर्थ का निश्चायक नहीं हो सकता । इस प्रकार पूर्वाधिकरण के साथ इसकी प्रत्युदाहरण संगति है ।

२. **विषय**—सिद्धान्तपक्ष में **'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'** (तै० २।५) यह वाक्य विचारणीय है ।

३. **संशय**—आनन्दमय के पुच्छरूप से इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य में ब्रह्म का उपदेश है अथवा स्वप्रधानरूप से ?

४. **पूर्वपक्ष**—ब्रह्म आनन्दमय का अङ्ग है क्योंकि पुच्छ में अङ्गत्व प्रसिद्ध है ।

५. **सिद्धान्त**—निरवयव ब्रह्म में पुच्छ का होना सम्भव नहीं है । अतः **'पुच्छं'** शब्द का आधार अर्थ में लक्षणा करनी चाहिए । साथ ही, **'आनन्दमयः'** पद का अर्थ जीव है, जो ब्रह्म के आश्रित है, इसलिए पुच्छ वाक्य में ब्रह्म की ही स्वरूपतः प्रधानता है ।

'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र से प्रारम्भकर **'श्रुतत्वाच्च'** यहाँ तक के सूत्रों द्वारा जिन वेदान्तवाक्यों का उदाहरण दिया गया है, उनसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर ही जगत् के जन्म-स्थिति-लय का कारण है, यह कहा गया । साथ ही, इस अर्थ का तर्क से भी प्रतिपादन किया गया है और गतिसामान्य उपन्यास व्याज से सभी वेदान्त को चेतनब्रह्मकारणवादी माना गया है । ऐसी स्थिति में अब इस समन्वय अध्याय ग्रन्थ का समापन यहाँ पर ही कर देना चाहिए । आनन्दमयाधिकरण से

ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम् । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्'(बृ० ४-५-१५) 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७-२४-१) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३-१२-७) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' (श्वे० ६-१६) 'नेति नेति' (बृ० २-३-६) इति 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३-८-८) 'न्यूनमन्यत्स्थानं सम्पूर्णमन्यत्' इति चैवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन

श्रुत्वादिविशेष इति वाक्यार्थः । वाक्यान्युदाहरति—यत्र हीत्यादिना । यस्यां खल्वज्ञानावस्थायां द्वैतमिव कल्पितं भवति तत्तदेतरः स्मितरं पश्यतीति दृश्योपाधिकं वस्तु भाति । यत्र ज्ञानकाले विदुषः सर्वं जगदात्ममात्रमभूत्तदा तु केन कं पश्येदित्याक्षेपान्निरुपाधिकं तत्त्वं भाति । यत्र भूम्नि निश्चितो विद्वान् द्वितीयं किमपि न वेत्ति सोऽद्वितीयो भूमा परमात्मा निर्गुणः । अथ निर्गुणोक्त्यनन्तरं सगुणमुच्यते । यत्र सगुणे स्थितो द्वितीयं वेत्ति तदल्पं परिच्छिन्नं, यस्तु भूमा तदमृतं नित्यम् । अथेति । पूर्ववद्व्याख्येयम् । धीरः परमात्मैव सर्वाणि रूपाणि विचित्य सृष्ट्वा नामानि च कृत्वा बुद्ध्यादौ प्रविश्य जीवसंज्ञो व्यवहरन्यो वर्तते स सगुणस्तं निर्गुणत्वेन विद्वानप्यमृतो भवति । निर्गताः कला अंशा यस्मात्तन्निष्कलम् । अतो निरंशत्वान्निष्क्रियम् । अतः शान्तमपरिणामि । निरवद्यं रागादिदोषशून्यम् । अञ्जनं मूलतमःसम्बन्धो धर्मादिकं वा तच्छून्यं निरञ्जनम् । किञ्चामृतस्य मोक्षस्य स्वयमेव वाक्योत्थवृत्तिस्थत्वेन परमुत्कृष्टं सेतुं लौकिकसेतुवत्प्रापकम् । यथा दग्धेन्धनोऽनलः शाम्यति तभिवाविद्यां तज्जं च दग्ध्वा प्रशान्तं निर्गुणमात्मानं विद्यादित्यर्थः—नेति नेतीति । 'व्याख्यातम् । स्थूलादिद्वैतशून्यम् । रूपद्वये श्रुतिमाह—न्यूनमिति । द्वैतस्थानं न्यूनमल्पं सगुणरूपं निर्गुणादन्यत्, तथा सम्पूर्णं निर्गुणं सगुणादन्यदित्यर्थः । एकस्य द्विरूपत्वं विरुद्धमित्यत आह—विद्येति । विद्याविषयो ज्ञेयं निर्गुणत्वं सत्यं, अविद्याविषय उपास्यं सगुणत्वं कल्पितमित्यविरोधः ।

लेकर प्रथम अध्याय समाप्तिपर्यन्त ग्रन्थ का उत्थान क्यों हुआ ? सिद्धान्ती कहते हैं कि नाम-रूप विकारभेद उपाधि से विशिष्ट और इससे विपरीत सर्वउपाधिरहित ब्रह्म दो रूप वाला श्रुतियों से जाना जाता है । 'जहाँ द्वैत जैसा होता है वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है और जहाँ इस विद्वान् के लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया वहाँ वह किस साधन से किसको देखेगा' जहाँ पर न दूसरे को देखता है, न दूसरे को सुनता है, न दूसरे को जानता है, वह अपरिच्छिन्न भूमा है और जहाँ दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है एवं दूसरे को जानता है वह तो परिच्छिन्न है; इनमें से निःसन्देह जो भूमा है वह अमृत है और जो परिच्छिन्न है वह मरणशील है ।' धीरपुरुष सम्पूर्ण जगत् का चिन्तनकर उन्हें नाममात्र मानता हुआ अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है' 'जो निष्फल, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष, मायामल से रहित, अमृत का अन्तिम सेतु है, निरिन्धन वह्नि के समान है' 'वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं और दीर्घ नहीं' 'न्यून भिन्नस्थान (भिन्नवस्तु) है, जो सगुण है और निर्गुण सगुण से भिन्न रूप है ।' इस प्रकार सहस्रशः श्रुतिवाक्य विद्या और अविद्या

१. समन्वयसूत्रं व्याख्यावसरे ।

ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि। तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः। तत्र कानिचिद्ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित्क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृद्ध्यर्थानि। तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः। एक एव तु परमात्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषैर्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' (मुद्गलो. ३-३) इति श्रुतेः, 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' (छा० ३-१४-१) इति च। स्मृतेश्च—'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥' (गी० ८-६) इति। यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढस्तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते—'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' (ऐ० आ० २-३-२-१) इत्यत्र। स्मृतावपि—'यद्यद्विभूति-

---

तत्राविद्याविषयं विवृणोति—तत्रेति। निर्गुणज्ञानार्थमारोपितप्रपञ्चमाश्रित्य बाधात्प्राक्काले गुडजिह्विकान्यायेन 'तत्तत्फलार्थान्युपासनानि विधीयन्ते, तेषां चित्तैकाग्र्यद्वारा ज्ञानं मुख्यं फलमिति तद्वाक्यानामपि महातात्पर्यं ब्रह्मणीति मन्तव्यम्। 'नाम ब्रह्म' इत्याद्युपास्तीनां कामचारादिरभ्युदयः फलं, दहराद्युपास्तीनां क्रममुक्तिः, उद्गीथादिध्यानस्य कर्मसमृद्धिः फलमिति भेदः। ध्यानानां मानसत्वात्, ज्ञानान्तरङ्गत्वाच्च, ज्ञानकाण्डे विधानमिति भावः। ननूपास्यब्रह्मण एकत्वात्कथमुपासनानां भेदः, तत्राह—तेषामिति। गुणविशेषाः सत्यकामत्वादयः। हृदयादिरुपाधिः। अत्र स्वयमेवाशङ्क्य परिहरति—एक इति। परमात्मस्वरूपाभेदेऽप्युपाधिभेदेनोपहितोपास्यरूपभेदादुपासनानां भेदे सति फलभेद इति भावः। तं परमात्मानं यद्यद्गुणत्वेन लोका राजानमिवोपासते तत्तद्गुणवत्त्वमेव तेषां फलं भवति। क्रतुः सङ्कल्पो ध्यानम्। इह यादृशध्यानवान् भवति मृत्वा तादृशोपास्यरूपो भवति। अत्रैव भगवद्वाक्यमाह—स्मृतेश्चेति। ननु सर्वभूतेषु निरतिशयात्मन एकत्वादुपास्योपासकयोस्तारतम्यश्रुतयः कथमित्याशङ्क्य परिहरति—यद्यप्येक इति। उक्तानामुपाधीनां शुद्धितारतम्यादैश्वर्यज्ञानसुखरूपशक्तीनां तारतम्यरूपा विशेषा भवन्ति तैरेकरूपस्यात्मन उत्तरोत्तरं मनुष्यादिहिरण्यगर्भान्तेष्वाविर्भावतारतम्यं श्रूयते। तस्यात्मन

के भेद से ब्रह्म को दो रूप वाला बतलाते हैं। उनमें से अविद्यावस्था में ब्रह्म में उपास्य-उपासकरूप सर्वव्यवहार होता है। उस ब्रह्म की कुछ उपासनायें अभ्युदय के लिए है, कुछ क्रममुक्ति के लिए और कुछ कर्म को समृद्ध बनाने के लिए है। उनमें भी गुण विशेष उपाधि भेद से कहा गया है। यद्यपि परमात्मा उन-उन गुण-विशेषों से विशिष्ट होता हुआ एक ही उपास्य है, फिर भी गुणानुरूप उपासनाभेद से फल भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसा ही 'जिस-जिस प्रकार से उस परमात्मा की उपासना करते हैं तदनुरूप ही फल मिलता है' श्रुति ने कहा है। 'इस लोक में पुरुष जैसा सङ्कल्प करता है, मरने के बाद वैसा ही हो जाता है' ऐसी भी श्रुति है। 'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! शरीर छोड़ते समय जिस-जिस पदार्थ का स्मरण करता हुआ जीव देह को त्यागता है उस भाव से सदा भावित रहने के कारण उस-उस को ही प्राप्त करता है' ऐसी स्मृति भी है।

यद्यपि स्थावर, जङ्गम सभी भूतों में एक ही आत्मा छिपा हुआ है, फिर भी चित्तरूप उपाधि-

---

१. तत्तत्फलेति—प्रपञ्चफलेत्यर्थः। २. सर्वज्ञानः सर्वकर्मेत्यादय आदिशब्दग्राह्याः।

मत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥' (गी० १०-४१) इति यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोद्यते । एवमिहाप्यादित्य-मण्डले हिरण्मयः पुरुषः सर्वपाप्मोदयलिङ्गात्पर एवेति 'वक्ष्यति'। एवं 'आकाशस्त-ल्लिङ्गात्' (ब्र.सू. १-१-२२) इत्यादिषु 'द्रष्टव्यम् । एवं सद्योमुक्तिकारणमप्यात्मज्ञानमुपाधि-विशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविवक्षितोपाधिसम्बन्धविशेषं परापरविषयत्वेन सन्दिह्यमानं वाक्यगतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति । तथेहैव तावत्'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति । एव-मेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपाधिसम्बन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्ते-षूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते । यच्च 'गतिसामान्यात्' इत्यचेतनकारण-निराकरणमुक्तं तदपि वाक्यान्तराणि ब्रह्मविषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतकारण-निषेधेन प्रपञ्च्यते—

आत्मानं स्वरूपमाविस्तरां प्रकटतरं यो वेद उपास्ते सोऽश्नुते तदिति तरप्प्रत्ययादित्यर्थः । तथाच निकृष्टोपाधिरात्मैवोपासकः, उत्कृष्टोपाधिरीश्वरं उपास्य इत्यौपाधिकं तारतम्यमविरुद्धमिति भावः । अत्रार्थे भगवद्गीतामुदाहरति—स्मृताविति । अत्र सूर्यादेरपि न जीवत्वेनोपास्यता किन्त्वीश्वरत्वेने-त्युक्तं भवति । तत्र सूत्रकारसम्मतिमाह—एवमिति । उदयः असम्बन्धः । एवं यस्मिन्वाक्ये उपाधि-र्विवक्षितः तद्वाक्यमुपासनपरमिति वक्तुमुत्तरसूत्रसन्दर्भस्यारम्भ इत्युक्त्वा यत्र न विवक्षितः तद्वाक्यं ज्ञेयब्रह्मपरमिति निर्णयार्थमारम्भ इत्याह—एवं सद्य इति । अन्नमयादिकोशा उपाधिविशेषाः । वाक्य-गतिस्तात्पर्यम् । आरम्भसमर्थनमुपसंहरति—एवमेकमपीति । सिद्धवदुक्तगतिसामान्यस्य साधनार्थ-मप्युत्तरारम्भ इत्याह—यच्चेति ।

विशेष के तारतम्य से नित्यकूटस्थ आत्मा में भी उत्तरोत्तर आविष्कार के कारण ऐश्वर्यशक्ति का तारतम्य सुना जाता है—'उस आत्मा के स्वीय आविष्कार को जो जानता है वह विशिष्ट फल प्राप्त करता है' यहाँ भी ऐसा ही कहा गया है। 'जहाँ-जहाँ विभूति का अतिशय दिखायी पड़ता हो, श्री, तेज अधिक दीखता हो उन सब को मेरे तेज के एक अंश से उत्पन्न समझो' ऐसा गीता में भी कहा है। अर्थात् जहाँ-जहाँ विभूति का अतिशय है, वहाँ ईश्वर उपास्य रूप से कहा गया है। ऐसे ही यहाँ भी आदित्यमण्डल में हिरण्मयपुरुष को सर्वपाप से रहित लिङ्ग के कारण परमात्मा ही '**अन्तस्तद्ध-र्मोपदेशात्**' (ब्र० सू० १-१-२०) इस सूत्र से कहा जायेगा। ऐसा ही '**आकाशस्तल्लिङ्गात्**' (ब्र० सू० १-१-२२) इत्यादि सूत्रों में भी समझना चाहिए। इस प्रकार अन्नमयादि उपाधि से मुक्त शुद्ध-ब्रह्म का आत्मभावेन ज्ञान कराया गया है। उपाधिविशेष द्वारा उपदेश किये जाने पर भी उपाधि-सम्बन्धविशेष की विवक्षा न करने पर सन्देह होता है, कि यह श्रुति परब्रह्म को बतलाती है अथवा अपरब्रह्म को? ऐसे संदिग्धवाक्य की पर्यालोचना कर निर्णय लेना है। इसलिए अग्रिम ग्रन्थ प्रारम्भ किया गया है, जैसे कि '**आनन्दमयोऽभ्यासात्**' यह सूत्र है 'ब्रह्म एक ही है फिर भी उपाधि की अपेक्षा कर उपास्य माना जाता है और उपाधि सम्बन्ध छोड़ देने पर ज्ञेय माना जाता है', ऐसा श्रुतियों में उपदेश किया गया है; इसी बात को बतलाने के लिए अग्रिम ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है तथा '**गतिसामान्यात्**' इस सूत्र द्वारा जो अचेतन प्रधानकारण का निषेध किया गया था उसका भी ब्रह्मविषयक वाक्यान्तर का व्याख्यान करते हुए ब्रह्मभिन्नकारण निषेधकर विस्तार किया जायेगा।

---

१. अन्तस्तद्धर्मेत्यत्र । २. आकाशादयः परा एवेति द्रष्टव्यमित्यर्थः ।

(१२) आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥१२॥

तैत्तिरीयकेऽन्नमयं, प्राणमयं, मनोमयं, विज्ञानमयं, चानुक्रम्याम्नायते—'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २-५) इति। तत्र संशयः—किमिहानन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते यत्प्रकृतम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१)इति, किंवाऽन्नमयादिवद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति। किं तावत्प्राप्तं ब्रह्मणोऽर्थान्तरममुख्य आत्मानन्दमयः स्यात्। कस्मात्? अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वात्। अथापि स्यात्सर्वान्तरत्वादानन्दमयो मुख्य एवात्मेति। न स्यात्प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्रवणाच्च। मुख्यश्चेदात्माऽऽनन्दमयः स्यान्न प्रियादिसंस्पर्शः स्यात्। इह तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रूयते। शारीरत्वं च श्रूयते—'तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य' इति। तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शारीर आत्मा य एष आनन्दमय इत्यर्थः। नच सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिय-

अन्नं प्रसिद्धं, प्राणमनोबुद्धयः [१]**हिरण्यगर्भरूपाः बिम्बचैतन्यमीश्वर आनन्दः। तेषां पञ्चानां विकारा आध्यात्मिका** [२]**देहप्राणमनोबुद्धिजीवा अन्नमयादयः पञ्चकोशाः इति श्रुतेः परमार्थः। पूर्वाधिकरणे गौणमुख्येक्षणयोरतुल्यत्वेन संशयाभावाद्गौणप्रायपाठो न निश्चायक इत्युक्तं तर्हि मयटो विकारे प्राचुर्ये च मुख्यत्वात्संशये विकारप्रायपाठादानन्दविकारो जीव आनन्दमय इति निश्चयोऽस्तीति प्रत्युदाहरणसङ्गत्या पूर्वपक्षमाह—** किं तावदिति। **आनन्दमयपदस्यामुख्यार्थग्रहे हेतुं पृच्छति—**कस्मादिति। **विकारप्रायपाठहेतुमाह—**अन्नमयादीति। **श्रुत्यादिसङ्गतयः स्फुटा एव। पूर्वपक्षे वृत्तिकारमते जीवोपास्त्या प्रियादिप्राप्तिः फलं, सिद्धान्ते तु ब्रह्मोपास्त्येति भेदः। शङ्कते—**अथापीति। **परिहरति—**न स्यादिति। **सङ्गृहीतं विवृणोति—**मुख्य इति। **परमात्मेत्यर्थः। शारीरत्वेऽपीश्वरत्वं किं न स्यादित्यत आह—**नचेति।

आनन्दमयोऽभ्यासात् (ललिता)

तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय के क्रम में पढ़ा गया है कि 'विज्ञानमय के भीतर इससे भिन्न आत्मा आनन्दमय है।' उस पर संशय होता है कि यहाँ पर आनन्दमय शब्द से परब्रह्म कहा जाता है जो **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस वाक्य से प्रकृत है अथवा अन्नमयादि की भाँति ब्रह्म से कोई भिन्न ही पदार्थ आनन्दमयपदवाच्य है? पूर्वपक्षी ब्रह्म से भिन्न अमुख्य आत्मा आनन्दमयपदवाच्य मानता है क्योंकि अन्नमयादि अमुख्य आत्मा के प्रसङ्ग में आनन्दमय आया है। सर्वान्तर होने के कारण भी आनन्दमय मुख्य आत्मा का ही वाचक है ऐसा सिद्धान्ती का मत है। पूर्वपक्ष कहता है कि जिस आनन्दमय के प्रिय आदि अवयव हैं और जिसमें शारीरत्व भी सुना गया है वह मुख्य आत्मा नहीं हो सकता। यदि आनन्दमय मुख्य आत्मा माना जायेगा तो उसका प्रियादि अवयव के साथ संस्पर्श नहीं कहा जा सकता किन्तु इस प्रसङ्ग में उस आनन्दमय का 'प्रिय वृत्ति ही शिर है' ऐसा सुना जाता है। साथ ही उसे 'उस पूर्वोक्त विज्ञानमय आत्मा का यही आनन्दमय आत्मा शारीर है' इस वाक्य द्वारा विज्ञानमय को शरीर कहा है और उस विज्ञानमय के भीतर रहने वाले का यही शारीर आत्मा है जो कि आनन्दमय है। शरीरधारी सदात्मा का

१. समष्टय इत्यर्थः। २. व्यष्टय इत्यर्थः।

संस्पर्शो वारयितुं शक्यः। तस्मात्संसार्येवानन्दमय आत्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' पर एवात्माऽऽनन्दमयो भवितुमर्हति। कुतः? अभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते। आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै सः' इति तस्यैव रसत्वमुक्त्वोच्यते—'रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति' (तै० २-७) 'सैषानन्दस्य मीमाँसा भवति, एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति'। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तै० २-८,९) इति। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३-६) इति च। श्रुत्यन्तरे च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३-९-२८) इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्टः। एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते। यत्तूक्तम्—अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याप्यमुख्यत्वमिति, नासौ दोषः।

जीवत्वं दुर्वारमित्यर्थः। नन्वानन्दपदाभ्यासेऽप्यानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं कथमित्याशङ्क्य ज्योतिष्टोमाधिकारे ज्योतिष्पदस्य ज्योतिष्टोमपरत्ववदानन्दमयप्रकरणस्थानन्दपदस्यानन्दमयपरत्वात्तदभ्यासस्तस्य ब्रह्मत्वसाधक इत्यभिप्रेत्याह—आनन्दमयं प्रस्तुत्येति। रसः सारः आनन्द इत्यर्थः। अयं लोकः। यद्यदि एष आकाशः पूर्णः आनन्दः साक्षी प्रेरको न स्यात्तदा को वान्याच्चलेत्, को वा विशिष्य प्राण्याज्जीवेत्, तस्मादेष एवानन्दयाति, आनन्दयतीत्यर्थः। 'युवा स्यात्साधुयुवा' (तै. २-८-१) इत्यादिना वक्ष्यमाणमनुष्ययुवानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दावसाना एषा सन्निहिता आनन्दस्य तारतम्यमीमांसा भवति। उपसंक्रामति विद्वान्प्राप्नोतीत्येकदेशिनामर्थः। मुख्यसिद्धान्ते तूपसंक्रमणं विदुषः कोशानां प्रत्यङ्मात्रत्वेन विलापनमिति ज्ञेयम्। शिष्टमुक्तार्थम्। आनन्दशब्दाद्ब्रह्मावगतिः सर्वत्र समानेति गतिसामान्यार्थमाह—श्रुत्यन्तरे चेति। लिङ्गादमुख्यात्मसन्निधं[1] बाध इति मत्वाह—नासाविति। सर्वान्तरत्वं न श्रुतमित्याशङ्क्य ततोऽन्यस्यानुक्तेस्तस्य सर्वान्तरत्वमिति विवृणोति—

प्रिय-अप्रिय संस्पर्श निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि शरीरधारी का इष्टानिष्ट के साथ सम्बन्ध होता ही है। अतः आनन्दमय आत्मा संसारी है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहता है कि परमात्मा ही आनन्दमय हो सकता है, क्योंकि परमात्मा में ही अनेक बार आनन्द शब्द की आवृत्ति देखी जाती है। आनन्दमय का प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'निःसन्देह वह रसरूप है' इस वाक्य द्वारा उसमें रसत्व बतलाने के बाद कहा है कि 'रस को प्राप्त कर यह जीव आनन्दित होता है' 'कौन भला स्वांस और निःस्वाँस भी ले सकता था यदि आनन्दरूप आकाश न होता' यही सबको आनन्द देता है। आनन्द की मीमांसा भी वही है। 'विद्वान् इसी आनन्दमय आत्मा का उपसंक्रमण करता है।' 'ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से डरता नहीं।' 'आनन्दरूप ब्रह्म है, ऐसा भृगु ने जाना।' इन सभी श्रुतियों में आनन्द की आवृत्ति सुनी जाती है। अन्य श्रुति में भी 'ब्रह्म विज्ञान और आनन्दरूप है' इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म में ही आनन्द शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार आनन्द शब्द का ब्रह्म में अनेक बार अभ्यास होने के कारण प्रकृत आनन्दमय आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसा जाना जाता है। और जो आप ने कहा था कि अन्नमयादि अमुख्य आत्मा के प्रवाहपाती

---

१. सन्निधेः स्थानरूपत्वात् लिङ्गस्य च स्थानापेक्षया प्रबलप्रमाणत्वादिति भावः।

(१३) विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१३॥

आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात् । मुख्यमेव ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरत्, अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य [1]मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत्, प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरं मुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम् । यथारुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु यान्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारुन्धती भवती, एवमिहाप्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम् । यत्तु ब्रूषे—प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनाऽनुपपन्ना मुख्यस्यात्मन इति—अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा न स्वाभाविकीत्यदोषः । शारीरत्वमप्यानन्दमयस्यान्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वात्, न पुनः साक्षादेव शारीरत्वं संसारिवत्, तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥१२॥

अत्राह—नानन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति । कस्मात् ? विकारशब्दात् । [2]प्रकृतिवचनादयमन्यः शब्दो [3]विकारवचनः समधिगतः, आनन्दमय इति, मयटो विकारार्थत्वात् ।

मुख्यमिति । लोकबुद्धिमिति । तस्याः स्थूलग्राहितामनुसरदित्यर्थः । ताम्रस्य मूषाकारत्ववत्प्राणस्य देहाकारत्वं देहेन सामान्यं, तथा मनः प्राणाकारं तेन सममित्याह—पूर्वेणेति । अतीतो योऽनन्तर उपाधिर्विज्ञानकोशस्तत्कृता सावयवत्वकल्पना, शरीरेण ज्ञेयत्वाच्छारीरत्वमिति लिङ्गद्वयं दुर्बलम् । अतः सहायाभावादभ्यासस्सर्वान्तरत्वाभ्यां विकारसन्निधेर्बाध इति भावः ॥१२॥

विकारार्थकमयट्श्रुति[4]सहाय इत्याशङ्क्य मयटः प्राचुर्येऽपि विधानान्मैवमित्याह—विकारेत्यादिना ।

होने से आनन्दमय में भी अमुख्य आत्मतत्त्व ही है, वह कोई दोष नहीं है क्योंकि यह आनन्दमय सर्वान्तर है । मुख्य आत्मा का उपदेश करने वाला शास्त्र लोकबुद्धि का अनुसरण करता हुआ जिस अन्नमय अनात्मा को अत्यन्त मूढ़पुरुषों ने आत्मा मान रखा है उस प्रसिद्ध अन्नमयादि आत्मा का अनुवाद कर साँचे में ढाले द्रुतताम्रादि प्रतिमा की भाँति पुनः उससे भीतर-उससे भीतर इस प्रकार पूर्व पूर्व के समान उत्तर उत्तर अनात्मा को भी आत्मारूप से ग्रहण कराता है । बोध सरलता की अपेक्षा से सर्वान्तर मुख्य आनन्दमय आत्मा का जो उपदेश किया है, वह युक्तियुक्त ही है । जैसे अनेक अमुख्य अरुन्धती तारा को दिखलाने के बाद अन्त में मुख्य अरुन्धती तारा का दर्शन अरुन्धती निदर्शन में कराया गया है ऐसे ही यहाँ भी आनन्दमय सर्वान्तर होने के कारण मुख्य आत्मा ही है । और जो आप ने कहा कि प्रिय, मोद, प्रमोदादि की शिरस्त्वादि की कल्पना आनन्दमय का मुख्य आत्मा अर्थ मानने पर असंगत हो जाती है, यह भी कोई दोष नहीं है क्योंकि यह तो इससे पूर्व कही गई विज्ञानमय उपाधि से उत्पन्न कल्पना है जो स्वाभाविक नहीं है । आनन्दमय में जो शारीरत्व कहा गया है वह भी आनन्दमयादि शरीर परम्परा से मानना चाहिए, न कि संसारी जीव की भाँति आनन्दमय आत्मा में साक्षात् शारीरत्व है । अतः आनन्दमय पद से परमात्मा ही कहा गया है ॥१२॥

---

१. स्थाता । २. स्वार्थिकमयटा ब्रह्मपरत्वं स्यादित्यत आह—प्रकृतिवचनादिति । ३. विकारवचनः कार्यवाचीत्यर्थः । ४. सहायः संनिधिरिति शेषः ।

(१४) तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१४॥

तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकारविषय एवानन्दमयशब्द इति चेत्, न। प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा० ५-४-२१) इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते। यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यन्नप्रचुर उच्यते, एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमय उच्यते। आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्। तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट् ॥१३॥

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट्। यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः—'एष ह्येवानन्दयाति' इति। आनन्दयतीत्यर्थः। यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति। यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत्। तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः सम्भवादानन्दमयः पर एवात्मा ॥१४॥

तत्प्रकृतवचने मयडिति। **तदिति प्रथमासमर्थाच्छब्दात्प्राचुर्यविशिष्टस्य प्रस्तुतस्य वचनेऽभिधाने गम्यमाने मयट्प्रत्ययो भवतीति सूत्रार्थः। अत्र वचनग्रहणात्प्रकृतस्य प्राचुर्यवैशिष्ट्यसिद्धिः, तादृशस्य लोके मयटोऽभिधानात्, यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इति। अत्र ह्यन्नं प्रचुरमस्मिन्नित्यन्नशब्दः प्रथमाविभक्तियुक्तस्तस्मान्मयट् यज्ञस्य प्रकृत्यर्थाऽन्नप्राचुर्यवाची दृश्यते, न शुद्धप्रकृतवचन इति ध्येयम् ॥१३॥**

सूत्रस्थचशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थ इति मत्वा व्याचष्टे—इतश्चेति। **तच्चानुक्तं ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणं पूर्वमुक्तम् ॥१४॥**

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् (ललिता)

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि आनन्दमय परमात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकरणप्रतिपाद्य आनन्दवाचक शब्द से विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय हुआ है। अतः जैसे अन्नादि शब्द में मयट् प्रत्यय विकारार्थक है वैसे ही आनन्द शब्द में भी मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में ही हुआ है। ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि प्राचुर्य अर्थ में भी मयट् प्रत्यय का '**तत्प्रकृतवचने मयट्**' इस पाणिनिसूत्र से विधान किया गया है। जब प्राचुर्य अर्थ में भी मयट् प्रत्यय का स्मरण होता है तो जिस प्रकार यह यज्ञ अन्नमय है अर्थात् अन्नप्राचुर्य यह यज्ञ है ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार आनन्दबहुल ब्रह्म आनन्दमय पद से कहा गया है। मनुष्यानन्द से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त उत्तरोत्तर आनन्द का पर्यवसान ब्रह्म में ही होता है इसलिए ब्रह्म में आनन्द का प्राचुर्य है। उस आनन्दमीमांसा प्रसंग में उत्तरोत्तर स्थान में सौ गुणा अधिक आनन्द बतलाकर ब्रह्मानन्द में निरतिशय आनन्द का निश्चय होता है। अतः प्राचुर्य अर्थ में ही मयट् प्रत्यय मानना उचित होगा ॥१३॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च (ललिता)

इसलिए भी प्राचुर्य अर्थ में ही मयट् प्रत्यय मानना चाहिये, क्योंकि श्रुति में ब्रह्म को आनन्द का हेतु कहा गया है। 'यही परमात्मा सबको आनन्द देता है।' जो दूसरे को आनन्द देता है वह निःसन्देह आनन्दप्रचुर है, ऐसी लोक में प्रसिद्धि देखी जाती है और जैसे लोक में जो दूसरों को धनिक बनाता है वह प्रचुर धनवाला है, ऐसा जाना जाता है। अतः प्राचुर्य अर्थ में भी जब मयट् प्रत्यय का होना सम्भव है तो आनन्दमय शब्द का अर्थ मुख्य आत्मा ही होगा ॥१४॥

(१५) मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥१५॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। यस्मात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युपक्रम्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१) इत्यस्मिन्मन्त्रे यत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारितं, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं सर्वान्तरं, यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्मान्योऽन्तर आत्मा' इति प्रक्रान्तं तन्मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २-५) इति। मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तं, अविरोधात्। अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम्। न चान्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्माभिधीयते। एतन्निष्ठैव च 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या' (तै० ३-६) तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥१५॥

आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे लिङ्गमुक्त्वा प्रकरणमाह—मान्त्रेति। **यस्मादेवं प्रकृतं तस्मात्तन्मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मानन्दमय इति वाक्ये गीयत इति योजना। ननु मन्त्रोक्तमेवात्र ग्राह्यमिति को निर्बन्धः,** तत्राह—मन्त्रेति। **ब्राह्मणस्य [1]मन्त्रव्याख्यानत्वादुपायत्वमस्ति, मन्त्रस्तूपेयः, तदिदमुक्तम्**—अविरोधादिति। **तयोरुपायोपेयभावादित्यर्थः।** **तर्ह्यन्नमयादीनामपि मान्त्रवर्णिकब्रह्मत्वं स्यादित्यत आह**—न चेति। **किञ्च भृगवे प्रोक्ता, वरुणेनोपदिष्टा भृगुवल्ली [2]पञ्चमपर्यायस्थानन्दे प्रतिष्ठिता। तत्र [3]स्थानन्यायेन [4]तदेकार्थब्रह्मवल्लघा आनन्दमये निष्ठेत्याह**—एतन्निष्ठैवेति ॥१५॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते (ललिता)

इसलिए भी आनन्दमय शब्द मुख्य आत्मा का ही वाचक है क्योंकि 'ब्रह्मज्ञानी पर को प्राप्त कर लेता है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप है' इस मन्त्र में जो प्रकृत ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त विशेषणों से निर्धारित है और जो आकाशादि क्रम से स्थावर, जङ्गम भूतों को उत्पन्न करता है एवं भूतों की सृष्टिकर उसमें प्रविष्ट हो बुद्धिरूप गुहा में अवस्थित सर्वान्तर तत्त्व है, जिसके विज्ञान के लिए 'दूसरा अन्तर आत्मा है दूसरा अन्तर आत्मा है' ऐसा प्रकरण से प्राप्त है, उसी मान्त्रवर्णिक ब्रह्म का गान अग्रिम **'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः'** इस वाक्य से किया गया है। मन्त्र और ब्राह्मण में एकार्थता युक्तियुक्त ही है क्योंकि ऐकार्थ्य मानने पर विरोध नहीं रह जाता, अन्यथा प्रकृत की हानि और अप्रकृत की प्रक्रिया का प्रसंग आ जायेगा। और अन्नमयादि के भीतर उससे भिन्न तत्त्व का निरूपण जिस प्रकार पहले किया गया है वैसा आनन्दमय से भिन्न उसके भीतर किसी अन्य आत्मा का वर्णन नहीं है प्रत्युत उस आनन्दमय में ही निष्ठ यह **'भार्गवी वारुणी विद्या'** पूर्ण हो जाती है। भृगु ने इस विद्या को प्राप्त किया और वरुण ने उपदेश किया, इसलिए इसे भार्गवी वारुणी विद्या कहते हैं। अतः आनन्दमय शब्द का अर्थ परमात्मा ही है ॥१५॥

---

१. मन्त्रब्राह्मणयोः साध्यसाधनरूपत्वात्। २. पञ्चमपर्यायेति—अन्नं ब्रह्मेति व्यजानादित्यारभ्य आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादित्यादिपञ्चमपर्यायेत्यर्थः। ३. देशसामान्यं स्थानं तद्द्विविधं पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति। तत्र पाठसादेश्यमपि द्विविधं यथासंख्यपाठः संनिधिपाठश्चेति, तत्र यथासंख्यपाठात्मकं स्थानं दृष्टान्तयन्नाह—स्थानन्यायेनेति। ४. तथा भृगुवल्ल्यैकार्थो यस्येति।

(१६) नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

(१७) भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च' (तै० २-६) इति। तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं, सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते ॥१६॥

इतश्च नानन्दमयः संसारी। यस्मादानन्दमयाधिकारे—'रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तै० २-७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति। कथं तर्हि 'आत्मान्वेष्टव्यः' (छा० ८-७-१) 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतिस्मृती, यावता न लब्धैव लब्धव्यो भवतीत्युक्तम्। बाढम्। तथाप्यात्मनो-

---

स ईश्वरः तपः सृष्ट्यालोचनमतप्यत कृतवानित्यर्थः। अभिध्यानं कामना। 'बहु स्याम्' इत्यव्यतिरेकः ॥१६॥

अधिकारे प्रकरणे। स आनन्दमयो रसः। ननु लब्धृलब्धव्यभावेऽप्यभेदः किं न स्यादत आह—नहि लब्धैवेति। **ननु लब्धृलब्धव्ययोर्भेदस्यावश्यकत्वे श्रुतिस्मृत्योर्बाधः स्यादित्याशङ्कते—**कथमिति। **यावता यतस्त्वयेत्युक्तमतः श्रुतिस्मृती कथमित्यन्वयः। उक्तां** '**शङ्कामङ्गीकरोति**—बाढमिति। **तर्ह्यात्मन एवात्मना लभ्यत्वोक्तिबाधः अभेदादित्याशङ्क्य कल्पितभेदान्न बाध इत्याह**—तथापीति।

नेतरोऽनुपपत्तेः (ललिता)

और इस कारण से भी आनन्दमय परमात्मा ही है, अन्य नहीं है अर्थात् परमात्मा से भिन्न संसारी जीव आनन्दमय पदवाच्य नहीं है। आनन्दमय शब्द से जीव को क्यों नहीं कहा जाता, इसमें हेतु देते है कि ऐसा मानने पर उस प्रसंग की संगति नहीं बनती। आनन्दमय का प्रसंग प्रारम्भकर सुना जाता है कि 'उसने कामना की कि मैं बहुतरूप में और प्रजारूप में हो जाऊँ, तत्पश्चात् उसने तप किया और तप करने के बाद यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम जगत् दीखता है, इन सबकी सृष्टि कर डाली।' वहाँ पर शरीरादि की उत्पत्ति से पूर्व अभिध्यान, सृज्यमान विकारों का स्रष्टा से अभेद और सम्पूर्ण विकारसृष्टि—ये सब के सब परमात्मा से भिन्न आनन्दमय को मानने पर असंगत हो जायेंगे ॥१६॥

भेदव्यपदेशाच्च (ललिता)

इसलिए भी आनन्दमयपदवाच्य संसारी जीव नहीं है, क्योंकि आनन्दमय के अधिकार में 'निःसन्देह वह परमात्मा रसस्वरूप है, उसी रस को प्राप्तकर यह जीव आनन्दित होता है' इस श्रुति में जीवात्मा और आनन्दमय को भिन्नरूप से बतलाया है। लब्धा और लब्धव्य एक नहीं होते। यदि कहो कि तब 'आत्मा का अन्वेषण करना चाहिए' 'आत्मलाभ से बड़ा दूसरा लाभ नहीं है'

---

१. अभेदशङ्काम्।

ऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सततस्तत्त्वानवबोधनिमित्तो मिथ्यैव देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः । तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽप्यात्माऽनन्विष्टोऽन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्योऽविज्ञातो विज्ञातव्य इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते । प्रतिषिध्यत एव तु परमार्थतः सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३-७-२३) इत्यादिना । परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्मास्यादन्यः । यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः । यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधि(र)परिच्छिन्न आकाशोऽन्यः । ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य 'नेतरोऽनुपपत्तेः' 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्युक्तम् ॥१७॥

अभेदेऽपीत्यर्थः । लौकिकः भ्रमः । आत्मनः स्वाज्ञानजभ्रमेण देहाद्यभिन्नस्य भेदभ्रान्त्या परमात्मनो ज्ञेयत्वाद्युक्तिरित्यर्थः । अन्वेष्टव्यो देहादिविविक्ततया ज्ञेयः, विवेकज्ञानेन लब्धव्यः साक्षात्कर्तव्यः, तदर्थं श्रोतव्यः, विज्ञानं निदिध्यासनं साक्षात्कारो वा, श्रुत्यन्तरस्थार्थानुवादात्पौनरुक्त्यम् । ननु भेदः सत्य एवास्तु, तत्राह—प्रतिषिध्यत इति । अत ईश्वराद्द्रष्टा जीवोऽन्यो नास्तीति चेज्जीवाभेदादीश्वरस्यापि मिथ्यात्वं स्यादत आह—परमेश्वर इति । अविद्याप्रतिबिम्बत्वेन कल्पिताज्जीवाच्चिन्मात्र ईश्वरः पृथगस्तीति न मिथ्यात्वम् । कल्पितस्याधिष्ठानाभेदेऽप्यधिष्ठानस्य ततो भेद इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । सूत्रारूढः स्वतोऽपि मिथ्या, न जीव इत्यरुच्या भेदमात्रमिथ्यात्वे दृष्टान्तान्तरमाह—यथा वेति । ननु सूत्रबलाद्भेदः सत्य इत्यत आह—ईदृशं चेति । कल्पितमेवेत्यर्थः । सूत्रे भेदः सत्य इति पदाभावात्, 'तदनन्यत्व–' (ब्र०सू० २-१-१४) इत्यादिसूत्रणाच्छ्रुत्यनुसाराच्चेति भावः ॥१७॥

यह श्रुति-स्मृति कैसे सुसंगत हो सकेगी यदि लब्धा लब्धव्य न हो तो ? आप का यह कहना ठीक है । वहाँ पर जो आत्मा अपने स्वरूप से कभी प्रच्युत नहीं होता उस तत्व का बोध न होने के कारण देहादि अनात्मवस्तु में मिथ्या ही आत्मत्वनिश्चय लौकिकपुरुषों का देखा गया है। उस दृष्टि को लेकर देहादिरूप आत्मा में जो वस्तुतः अनुप्रविष्ट नहीं है, उसके अन्वेषण के लिए कहा गया है, जो मिथ्याज्ञान के कारण अप्राप्त हो गया है, अश्रुत है, अमत है, अविज्ञात है; उसकी प्राप्ति के लिए, श्रवण, मनन और विज्ञान के लिए श्रुतियों में भेद उपदेश किया गया है, क्योंकि परमार्थतः सर्वज्ञ परमात्मा से भिन्न द्रष्टा और श्रोता का निषेध 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि वाक्यों से किया गया है । परमेश्वर तो अविद्याकल्पित शरीराभिमानी कर्ता-भोक्ता जीव से भिन्न ही है । जिस प्रकार ढाल और तलवार लिए हुए मायावी से निकलकर धागा आकाश की ओर जाता है और उसमें मायावी चढ़ा हुआ भी दीखता है किन्तु उस मायावी से परमार्थरूपमायावी भूमिस्थ भिन्न ही है । और जैसे घटादि उपाधिपरिच्छिन्न घटाकाश से निरुपाधिक अपरिच्छिन्न आकाश भिन्न ही होता है ऐसे ही जीव और परमात्मा में औपाधिक भेद मानकर पूर्वोक्त 'नेतरोऽनुपपत्तेः' और 'भेदव्यपदेशाच्च' ये दोनों सूत्र कहे गये हैं ॥१७॥

---

१. अस्मिन्नस्येत्यादि सूत्रणात् । २. नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिश्रुतिः ।

(१८) कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥

(१९) अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१९॥

आनन्दमयाधिकारे च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इति कामयितृत्वनिर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वापेक्षितव्यम्। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र.सू. १-१-५) इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात्पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय ॥१८॥

इतश्च न प्रधाने जीवे वाऽऽनन्दमयशब्दः। यस्मादस्मिन्नानन्दमये। प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य तद्योगं शास्ति। तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः। मुक्तिरित्यर्थः। तद्योगं शास्ति शास्त्रम्—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति' (तै० २-७) इति। एतदुक्तं भवति—यदैतस्मिन्नानन्दमये-

---

नन्वानन्दात्मकसत्त्वप्रचुरं प्रधानमानन्दमयमस्तु, तत्राह—कामाच्चेति। **अनुमानगम्यमानुमानिकम्। पुनरुक्तिमाशङ्क्याह**—ईक्षतेरिति ॥१८॥

अस्मिन्निति **विषयसप्तमी। आनन्दमयविषयकप्रबोधवतो जीवस्य तद्योगं यस्माच्छास्ति तस्मान्न प्रधानमिति योजना। जीवस्य** [1]**'प्रधानयोगोऽप्यस्तीत्यत आह**—तदात्मनेति। [2]**'जीवस्य जीवाभेदोऽस्तीत्यत आह**—मुक्तिरिति। **अदृश्ये स्थूलप्रपञ्चशून्ये, आत्मसम्बन्धमाऽऽत्म्यं लिङ्गशरीरं तद्रहिते, निरुक्तं शब्दशक्यं तद्भिन्ने, निःशेषलयस्थानं निलयनं माया तच्छून्ये ब्रह्मणि, अभयं यथा स्यात्तथा**

कामाच्च नानुमानापेक्षा (ललिता)

आनन्दमय के अधिकार में 'उसने कामना की, मैं बहुत हो जाऊँ और प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ' इस प्रकार कामयितृत्व का निर्देश होने के कारण अनुमानसिद्ध सांख्यपरिकल्पित अचेतन प्रधान भी आनन्दमयपदवाच्य नहीं हो सकता और न वह जगत्कारणरूप से ही अपेक्षित है। यद्यपि **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** इस सूत्र से प्रधान में जगत्कारणत्व का निषेध कर दिया गया है, अतः प्रधान-जगत्कारण निराकृत हो चुका है फिर भी गतिसामान्य के विस्तारार्थ पूर्वसूत्र में उदाहृत कामयितृत्वश्रुत का आश्रय लेकर प्रसंगवश पुनः प्रधानजगत्कारणता का निराकरण किया जाता है। अतः पुनरुक्ति की आशङ्का नहीं कर सकते ॥१८॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (ललिता)

इसलिए भी न प्रधान और न जीव ही आनन्दमयपदवाच्य हो सकता है, क्योंकि इस प्रकृत आनन्दमय आत्मा में प्रतिबुद्ध इस जीव का आनन्दमय के साथ सम्बन्ध का उपदेश है। तदात्मना योग को तद्योग कहते है जिसे तद्भावापत्ति और मुक्ति भी कहा गया है। ऐसा तद्योग का उपदेश 'जब यह मुमुक्षु इस स्थूलप्रपञ्चशून्य, लिङ्गशरीररहित, निर्वचन किये जाने से पृथक्, निःशेष

---

१. सत्त्वादिरूपत्वेन प्रधानस्येति शेषः। २. वृत्तिकारनये भेदस्य तात्त्विकत्वादाह—जीवस्येत्यादि। 'जीवस्य ब्रह्माभेदो नास्तीत्यत आह' इत्यपि पाठान्तरं क्वचिद्दृश्यते।

ऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति तदा संसारभयान्न निवर्तते। यदा त्वेतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतितिष्ठति तदा संसारभयान्निवर्तत इति। तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा। तस्मादानन्दमयः परमात्मेति स्थितम्।

इदं त्विह वक्तव्यम्—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'। 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' 'तस्मात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' 'तस्मात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तै० २-१,२,३,४) इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति। मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत्, न। अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः। अत्राह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वं, तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वात्, आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्य आन्तर आत्मोच्यते, तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति। अत्रोच्यते—यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्द-

---

यदेव प्रतिष्ठां मनसः प्रकृष्टां वृत्तिमेव विद्वाँल्लभते अथ तदेवाभयं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः। उत् अपि अरमल्पमप्यन्तरं भेदं यदेवैष नरः पश्यति, अथ तदा तस्य भयमिति योजना इति।

वृत्तिकारमतं दूषयति—इदं त्विति। इह परव्याख्यायां, विकारार्थके मयटि बुद्धिस्थे सत्यकस्मात्कारणं विना एकप्रकरणस्थस्य मयटः पूर्वं विकारार्थकत्वं, अन्ते प्राचुर्यार्थकत्वमित्यर्धजरतीयं कथमिव केन दृष्टान्तेनाश्रीयत इतीदं वक्तव्यमित्यन्वयः। प्रश्नं मत्वाशङ्कते—मान्त्रेति। स्फुटमुत्तरम्। किमान्तर इति न श्रूयते, किं वा वस्तुतोऽप्यान्तरं ब्रह्म न श्रूयत इति विकल्प्य आद्यमङ्गीकरोति—अत्रोच्यते-यद्य-

---

विलयस्थान ब्रह्म में अभय प्राप्त कर लेता है, तभी मन की उत्कृष्ट प्रतिष्ठा को अर्थात् अभयब्रह्म को विद्वान् प्राप्त कर जाता है और जब यह साधक उसमें थोड़ा भी भेद देखता है, तब उसे भय होता है' इस शास्त्र ने किया है। तात्पर्य यह है कि जब इस आनन्दमय में थोड़ा भी भेद अर्थात् अतादात्म्यरूप को देखता है, तब संसारभय से नहीं छूटता और जिस समय इस आनन्दमय में भेदरहित तादात्म्यरूप से प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, तब संसारभय से छूट जाता है। यह शास्त्रादेश आनन्दमय पद का अर्थ परमात्मा मानने पर ही घटता है, प्रधान या जीव अर्थ मानने पर नहीं। अतः आनन्दमय का अर्थ परमात्मा ही है, यह सिद्ध हुआ।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि 'वही यह पुरुष अन्नरसमय है' 'उसी इस अन्नरसमयपुरुष से भिन्न अन्तरात्मा प्राणमय है' 'उससे भिन्न आत्मा मनोमय है' 'उससे भिन्न अन्तरात्मा विज्ञानमय है' इन सभी पर्यायों में जब विकारार्थक मयट् प्रत्यय है, तो भला इस प्रवाह में पढ़ा गया आनन्दमय पद में पड़े हुए मयट् प्रत्यय का अकस्मात् अर्धजरतीय न्याय से प्राचुर्यार्थत्व और ब्रह्मविषयत्व का आश्रय कैसे ले सकोगे? यदि कहो कि मान्त्रवर्णिक में ब्रह्म का अधिकार होने से हम मयट् प्रत्यय का प्राचुर्य अर्थ करते हैं। तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि तब तो अन्नमयादि में भी ब्रह्मत्व का प्रसंग आ जायेगा। यदि कहो कि अन्नमयादि को ब्रह्म नहीं कहना युक्तियुक्त ही है क्योंकि उन सबके भीतर दूसरे दूसरे आत्मा का उपदेश किया गया है किन्तु आनन्दमय के भीतर कोई अन्य आत्मा नहीं कहा गया है। इसलिए आनन्दमय में ब्रह्मत्व है और कदाचित् ऐसा न माना जाय तो प्रकृतहान और अप्रकृतप्रक्रिया की प्रसक्ति होगी?

मयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं, यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते—'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २-५) इति। तत्र यद्‌ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तदिह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते। तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्चकोशाः कल्प्यन्ते। तत्र कुतः प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गः। नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते, अन्नमयादीनामिव 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि। तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम्? प्रकृतत्वादिति ब्रूमः। नन्वानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति। अत्रोच्यते—तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्मावयवी,

पीति। विकारप्रायपाठानुगृहीतमयट्श्रुतेः सावयवत्वलिङ्गाच्चेत्याह—तथापीति। इष्टार्थस्य दृष्ट्या जातं सुखं प्रियं, स्मृत्या मोदः, स चाभ्यासात्प्रकृष्टः प्रमोदः, आनन्दस्तु कारणं, बिम्बचैतन्यमात्मा, शिरःपुच्छयोर्मध्यकायः ब्रह्म शुद्धमिति श्रुत्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह—तत्र यदिति। यन्मन्त्रे प्रकृतं गुहानिहितत्वेन सर्वान्तरं ब्रह्म, तदिह पुच्छवाक्ये ब्रह्मशब्दात्प्रत्यभिज्ञायते। तस्यैव विज्ञापनेच्छया पञ्चकोशरूपा गुहा प्रपञ्चिता। तत्र तात्पर्यं नास्तीति वक्तुं कल्प्यन्त इत्युक्तम्। एवं पुच्छवाक्ये प्रकृत[3]स्वप्रधानब्रह्मपरे सति न प्रकृतहान्यादिदोष इत्यर्थः। ब्रह्मणः प्रधानत्वं पुच्छश्रुतिविरुद्धमिति शङ्कते—नन्विति। अत्र ब्रह्मशब्दात्प्रकृतस्वप्रधानब्रह्मप्रत्यभिज्ञाने सति पुच्छशब्दविरोधप्राप्तौ, एकस्मिन्वाक्ये प्रथमचरमश्रुतशब्दयोराद्यस्यानुपसंजातविरोधिनो बलीयस्त्वात्, पुच्छशब्देन प्राप्तगुणत्वस्य बाध इति मत्वाह—प्रकृतत्वादिति। प्रकरणस्यान्यथासिद्धिमाह—नन्विति। एकस्यैव गुणत्वं प्रधानत्वं च विरुद्धमित्याह—अत्रोच्यत इति। तत्र विरोधनिरासायान्यतरस्मिन्वाक्ये ब्रह्मस्वीकारे पुच्छवाक्ये

इस पर हम सिद्धान्ती का कहना है कि यद्यपि अन्नमयादि की भाँति आनन्दमय के भीतर उससे भिन्न आत्मा नहीं सुना जाता है फिर भी आनन्दमय में ब्रह्मत्व सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि आनन्दमय के प्रसंग में सुना जाता है कि 'प्रिय है उसका शिर है, मोद दक्षिणपक्ष है, प्रमोद उत्तरपक्ष है और शुद्धब्रह्म पुच्छ है।' इस स्थिति में जो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य द्वारा मन्त्रवर्ण में प्रकृत था वही मान्त्रवर्णिक ब्रह्म यहाँ पर 'पुच्छं प्रतिष्ठा' पद से कहा गया है। उसी का विशेषरूप से बोध कराने के लिए अन्नमय से लेकर आनन्दमयपर्यन्त पञ्चकोशों की कल्पना की गयी है। ऐसी अवस्था में प्रकृतहान और अप्रकृतप्रक्रिया की प्रसक्ति का प्रसंग ही कहा आता है।

यह कहो कि आनन्दमय के अवयवरूप से 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' कहा गया है, जैसे अन्नमयादि कोशों में पुच्छ और प्रतिष्ठा की चर्चा है, वैसे ही आनन्दमय में भी है; ऐसी स्थिति में ब्रह्म का उपदेश स्वप्रधानत्वरूप से कैसे समझा जाय? 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि प्रसंग ब्रह्म का है, इसलिए हम ब्रह्म का उपदेश स्वप्रधानत्वरूप से कहते हैं। यदि कहो कि आनन्दमय के अवयवरूप मे भी ब्रह्म को विज्ञात मानें तो भी प्रकृत की हानि तो होती नहीं क्योंकि आनन्दमय ही तो ब्रह्म हैं? इस पर हम सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसा मानने पर वही ब्रह्म आनन्दमय आत्मा अवयवी

१. आनन्दमयनिष्ठावयवितानिरूपितावयवताश्रयत्वेन ब्रह्मण इत्यर्थः। २. दर्शनेन। ३. स्व च तत्प्रधानं च स्वप्रधानं तच्च तद्‌ब्रह्मेति विग्रहः।

तदेव च ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात् । अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुं, ब्रह्मशब्दसंयोगात् । नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति । अपिच 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वेदमुच्यते—'तदप्येष श्लोको भवति । असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः' (तै० २-६) इति । अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं, ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद्गम्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति । न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता, प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् । कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म, आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति । नैष दोषः । पुच्छवत्पुच्छं, प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वं, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४-३-३२) इति श्रुत्यन्तरात् । अपिच आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम् । निर्विशेषं

ब्रह्म स्वीकार्यमित्याह—अन्यतरेति । वाक्यशेषाच्चैवमित्याह—अपिचेति । तत्तत्र ब्रह्मणि श्लोकोऽपीत्यर्थः । पुच्छशब्दस्य गतिं पृच्छति—कथं पुनरिति । त्वयापि पुच्छशब्दस्य मुख्यार्थो वक्तुमशक्यः, ब्रह्मण आनन्दमयलाङ्गूलत्वाभावात् । पुच्छदृष्टिलक्षणायां चाधारलक्षणा युक्ता, प्रतिष्ठापदयोगात्, ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थलाभाच्च । स्वत्पक्षे ब्रह्मपदस्याप्यवयवलक्षकत्वादित्याह—नैष दोष इति । पुच्छमित्याधारत्वमात्रमुक्तम् । प्रतिष्ठेत्येकनीडत्वम् । एकं मुख्यं नीडमधिष्ठानं सोपादानस्य जगत इत्यर्थः । ननु वृत्तिकारैरपि तैत्तिरीयवाक्यं ब्रह्मणि समन्वितमिष्टं, तत्र किमुदाहरणभेदेनेत्याशङ्क्याह—अपिचेति । यत्र सविशेषत्वं तत्र वाङ्मनसगोचरत्वमिति व्याप्तेरत्र व्यापकाभावोक्त्या निर्विशेषमुच्यत इत्याह—निर्विशेषमिति । निवर्तन्ते अशक्ता इत्यर्थः । सविशेषस्य मृषात्वादभयं चायुक्तम् ।

है और वही ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा रूप में अवयव भी है, यह सामञ्जस्य नहीं होगा । इन दोनों में से एक पक्ष स्वीकार करने पर तो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्य में ही ब्रह्मनिर्देश मानना उचित होगा क्योंकि आनन्दमय वाक्य में ब्रह्म शब्द का संयोग नहीं है और पुच्छ वाक्य में ब्रह्म शब्द का सम्बन्ध है । एक और भी बात है कि 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' कहने के बाद यह भी कहा है कि 'इस अर्थ में ही यह मन्त्र है जो ब्रह्म को असत् जानता है वह असत् ही हो जाता है और जो ब्रह्म को सत् जानता है उसे सन्त समझना चाहिए ।' इस श्लोक में आनन्दमय का अनुकर्षण न कर ब्रह्म की सत्ता मानने पर गुण और सत्ता न मानने पर दोष का जो कथन है इससे यही जान पड़ता है कि 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्य में ब्रह्म का ही स्वप्रधानत्व है और आनन्दमय आत्मा के भावाभाव की शङ्का भी नहीं होती है क्योंकि प्रियमोदादि विशेषयुक्त 'आनन्दमयः' लोकप्रसिद्ध है, उसे तो सभी जानते और सभी मानते हैं ।

स्वप्रधान होता हुआ ब्रह्म आनन्दमय के पुच्छ रूप में 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्य द्वारा क्यों बतलाया गया ? यह कोई दोष नहीं है क्योंकि पुच्छ की भाँति आनन्दमय की पुच्छ प्रतिष्ठा अर्थात् परायण, एकमात्र लौकिक आनन्दसमुदाय का अधिष्ठान ब्रह्मानन्द ही तो है इस वाक्य के द्वारा ऐसा कहना अभीष्ट है न को अवयवरूप में बतलाना अभीष्ट है । 'इसी आनन्द की मात्रा को लेकर अन्य सभी भूत जीवित रहते हैं' इस बृहदारण्यक श्रुति में भी ऐसा ही कहा है । इसके अतिरिक्त

तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते, वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्—'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २-९)। अपिच आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात्। तथाच सति, 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७-२४-१) इति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत। प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्यापि भिन्नत्वम्। ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१) इत्यानन्त्यश्रुतेः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६-११) इति च श्रुत्यन्तरात्। न चानन्दमयस्याभ्यासः श्रूयते। प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते—'रसो वै सः, रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति'। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २-७, ८, ९) 'आनन्दो

अतो निर्विशेषज्ञानार्थं पुच्छवाक्यमेवोदाहरणमिति भावः। प्राचुर्यार्थकमयटा सविशेषोक्तौ निर्विशेषश्रुतिबाध उक्तः। दोषान्तरमाह—अपिचेति। प्रत्ययार्थत्वेन प्रधानस्य प्राचुर्यस्य प्रकृत्यर्थो विशेषणं, विशेषणस्य यः प्रतियोगी विरोधीति तस्याल्पत्वमपेक्षते, यथा विप्रमयो ग्राम इति शूद्राल्पत्वम्। अस्तु को दोषः, तत्राह—तथाचेति। प्रकृत्यर्थप्राधान्ये त्वयं दोषो नास्ति, प्रचुरप्रकाशः सवितेत्यत्र तमसोऽल्पस्याप्यभानात्। परंत्वानन्दमयपदस्य प्रचुरानन्दलक्षणादोषः स्यादिति मन्तव्यम्। किञ्च भिन्नत्वाद्घटवन्न ब्रह्मेत्याह—प्रतिशरीरमिति। नन्वभ्यस्यमानानन्दपदं लक्षणयानन्दमयपरमित्य-

---

आनन्दमय को ब्रह्म मानने पर प्रियादि वृत्ति को अवयवरूप से कहे जाने के कारण उस ब्रह्म को सविशेष मानना होगा। किन्तु वाक्यशेष में निर्विशेष ब्रह्म सुना जाता है जिसे **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इस वाक्य द्वारा मन और वाणी का अविषय कहा है और 'ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला ज्ञानी किसी से भयभीत नहीं होता' इस वाक्य द्वारा ज्ञानी को भय से जो मुक्ति कही गयी है उससे भी निर्विशेष ब्रह्म ही इस प्रसंग का प्रतिपाद्य अर्थ सिद्ध होता है। और आनन्दमय पद का अर्थ आनन्दप्रचुर माना जाय, तो इससे दुःखाल्पत्व भी जाना जाता है क्योंकि लोक में जहाँ प्राचुर्य कहा जाता है वहाँ उसके विरोधीवस्तु के अल्पत्व की भी अपेक्षा बनी रहती है, तथा दुःखाल्पत्व मानने पर 'जहाँ दूसरे को देखता नहीं, दूसरे को सुनता नहीं और न दूसरे को जानता है वह भूमा है' इस श्रुति के द्वारा भूमा ब्रह्म में उससे भिन्न वस्तु का अभाव जो सुना गया है उस अभाव की बोधक श्रुति भी उपरुद्ध होने लग जायेगी। प्रियादि भेद से आनन्दमय का प्रतिशरीर में भेद भी है, किन्तु ब्रह्म प्रतिशरीर भिन्न नहीं है क्योंकि 'वह सत्य, ज्ञान और (देशकालवस्तु परिच्छेद से शून्य) अनन्त है' ऐसी आनन्त्यश्रुति भी है और 'सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ, सर्वव्यापक, सर्वभूतान्तरात्मा देव एक ही है' इस अन्य श्रुति में भी कहा है। आनन्दमय शब्द की पुनरावृत्ति भी नहीं देखी जाती, क्योंकि सर्वत्र आनन्दमय के प्रातिपदिक जो आनन्द है, केवल उसी का अभ्यास सुना जाता है। 'निःसन्देह वह परमात्मा रसस्वरूप है और उसी रस को प्राप्तकर जीव आनन्दित होता है, भला कौन स्वाँस-निःस्वाँस भी ले सकता था, यदि यह अपरिछिन्न आनन्द नहीं होता, यह परमात्मा ही सबको आनन्द देता है' 'उस आनन्द की मीमांसा होती है' 'ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला विद्वान्

ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३-६) इति च । यदि चानन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत । न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम । तस्माच्छ्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३-९-२८) इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात्, 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिर्ब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम् । यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः—'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' (तै० २-८) इति न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति, विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पठितत्वात् । नन्वानन्दमयस्योपसंक्रमितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव[1] विदुषो ब्रह्मप्राप्तिफलं निर्दिष्टं भवेत् । नैष दोषः । आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात् । 'तदप्येष श्लोको भवति । यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना च प्रपञ्च्यमानत्वात् । या त्वानन्दमयसन्निधाने 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति इयं श्रुतिरुदाहृता सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यनेन सन्निहिततरेण ब्रह्मणा सम्बध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति । तदपेक्षत्वाच्चोत्तरस्य ग्रन्थस्य 'रसो

भ्याससिद्धिरित्यत आह—यदिचेति । आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे निर्णीते सत्यानन्दपदस्य तत्परत्वज्ञानादभ्याससिद्धिः, तत्सिद्धौ तन्निर्णय इति परस्पराश्रय इति भावः । अयमभ्यासः पुच्छब्रह्मण इत्याह—तस्मादिति । 'उपसंक्रमणं बाधः । ननु 'स य एवंवित्' इति ब्रह्मविदं प्रक्रम्योपसंक्रमणवाक्येन फलं निर्दिश्यते तत्तस्याब्रह्मत्वे न सिध्यतीति शङ्कते—नन्विति । उपसंक्रमणं प्राप्तिरित्यङ्गीकृत्य 'विशिष्टप्राप्त्युक्त्या 'विशेषणप्राप्तिः फलमुक्तमित्याह—नैष इति । ज्ञानेन कोशानां बाधस्तदिति सिद्धान्ते बाधावधिप्रत्यगानन्दलाभोऽर्थादुक्त उत्तरश्लोकेन स्फुटीकृत इत्याह—तदपीति । तदपेक्षत्वादिति ।

किसी से डरता नहीं' 'आनन्द ही ब्रह्म है ऐसा भृगु ने जाना' इत्यादि । यदि यहाँ पर आनन्दमय शब्द का अर्थ ब्रह्म निश्चित हो जाता, तो आगे भी जहाँ जहाँ आनन्द शब्द आया है उस अभ्यास में आनन्दमय की कल्पना कर सकते थे किन्तु आनन्दमय में ब्रह्मत्व का निश्चय होता ही नहीं क्योंकि उसके शिर और पंख आदि में प्रियत्वादि की कल्पना की गयी है, ऐसा हम पहले भी कह आये हैं। अतः श्रुत्यन्तर में 'ब्रह्म विज्ञान और आनन्दरूप है' इस वाक्य द्वारा ब्रह्म में आनन्द प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग देखा जाता है । 'यदि यह निरवच्छिन्न आकाशसदृश आनन्द न होता' इत्यादि ब्रह्मविषयक प्रयोग है, न कि आनन्दमय का अभ्यास है, ऐसा समझना चाहिए । यदि कहो कि '**एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति**' यह वाक्य मयट् प्रत्ययान्त आनन्द शब्द का अभ्यास करता है ? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि वह ब्रह्म को विषय नहीं करता अपितु आनन्दमयादि अनात्मा जो विकाररूप हैं वे ही उपसंक्रमितव्य हैं और उसी प्रसंग में '**एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति**' यह वाक्य भी पढ़ा गया है । यदि कहो कि अन्नमयादि की भाँति उपसंक्रमितव्य आनन्दमय को ब्रह्म न मानने पर ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मप्राप्तिरूप फल निर्दिष्ट नहीं हो सकेगा ? तो यह कोई दोष नहीं है

---

१. नैवेति—निर्दिष्टं भवेदित्यन्वयः नैवमिति युक्तः पाठः । २. मुख्यसिद्धान्तपक्षे । ३. आनन्दमयः । ४. ब्रह्मभूतपुच्छम् । ५. प्रत्यङ्मात्रत्वेन कोशानां विलापनं बाधः । ६. तद्-उपसंक्रमणम् ।

वै सः' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता। ननु 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते। नायं दोषः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्र पुंलिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। यत्तु भार्गवी वारुणी विद्या 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति, तस्यां मयड्श्रवणात्, प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वम्। तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते। न चेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं, वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः। तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयट् विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः।

सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र किमानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्म

कामयितृपुच्छब्रह्मविषयत्वादित्यर्थः। यदुक्तं पञ्चमस्थानस्थत्वादानन्दमये ब्रह्मवल्ली समाप्ता, भृगुवल्लीवदिति, तत्राह—यत्त्विति। या त्वित्यर्थः। मयट्श्रुत्या सावयवत्वादिलिङ्गेन च स्थानं बाध्यमिति भावः। गोचरातिक्रमो गोचरत्वाभावः।

वेदसूत्रयोर्विरोधे 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना'[1] इति सूत्राण्यन्यथा नेतव्यानीत्याह—सूत्राणीति। पूर्वमीक्षतेः संशयाभावादिति युक्त्या गौणप्रायपाठो न निश्चायक इत्युक्तम्। तद्वत्र पुच्छपदस्याधारावयव-

---

क्योंकि आनन्दमय के उपसक्रमण निर्देश से ही विद्वान् में पुच्छप्रतिष्ठारूप ब्रह्मप्राप्ति फल का निर्देश भी तो सुना जाता है। इसी अर्थ में यह मन्त्र भी है कि 'जहाँ से वाणी लौट आती है' इत्यादि वाक्य से उसका विस्तार सुना जाता है। और जो कहा था कि आनन्दमय के सन्निकट में 'उसने कामना की कि मैं बहुतरूप हो जाऊँ और प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ' यह श्रुति जो उद्धृत है वह '**ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा**' इस वाक्य द्वारा अत्यन्त सन्निहित ब्रह्म के साथ सम्बद्ध हुई आनन्दमय में ब्रह्मता का बोध नहीं कराती और अग्रिम ग्रन्थ को उसकी अपेक्षा भी है जिसमें परमात्मा को रसरूप कहा गया है, इसलिए वह आनन्दमय को विषय नहीं करती।

यदि कहो '**सोऽकामयत**' इस वाक्य में ब्रह्म के लिए पुलिङ्ग का निर्देश जो किया गया है वह आप के पक्ष में युक्तियुक्त नहीं होता क्योंकि ब्रह्म शब्द नपुंसकलिङ्ग है, उसे '**सोऽकामयत**' इस वाक्य में पुलिङ्ग से कैसे निर्देश कर सकेंगे? तो ऐसा कहना कोई दोष नहीं है क्योंकि '**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**' इस वाक्य में भी पुलिङ्ग आत्मशब्द से ब्रह्म का प्रसङ्ग प्रारम्भ हुआ है। और जो आप ने कहा था कि पञ्चम स्थान में स्थित होने से आनन्दमय में भृगुवल्ली की भाँति ब्रह्मवल्ली भी समाप्त हो गयी है। इस विद्या को भार्गवी और वारुणी विद्या भी कहते हैं जिसमें मयट् प्रत्यय का श्रवण नहीं होता और प्रियशिरस्त्वादि का भी श्रवण नहीं होता, अतः '**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्**' इस वाक्य द्वारा आनन्द को ब्रह्म कहना उचित ही है। अतएव अणुमात्र भी विशेष का आश्रय लिए बिना ब्रह्म में स्वतः ही प्रियशिरस्त्वादि सिद्ध नहीं होता? सविशेष ब्रह्म यहाँ पर बतलाना अभीष्ट भी नहीं है क्योंकि इस प्रकरण से प्रतिपाद्य ब्रह्म को मन और वाणी का अविषय श्रुति ने कहा है। तात्पर्य यह है कि अन्नमयादि पद में जिस प्रकार विकारार्थक मयट् प्रत्यय है वैसे ही आनन्दमय में भी विकारार्थक ही मयट् प्रत्यय समझना चाहिए, प्राचुर्यार्थक नहीं।

सूत्रों की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए—'**ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा**' इस वाक्य में ब्रह्म को

---

१. गुण इत्यादि—अमुख्ये स्मृतिवाक्ये लक्षणाकल्पनेत्यर्थः।

विवक्ष्यत उत स्वप्रधानत्वेनेति । पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्' । आनन्दमय आत्मेत्यत्र, 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते, अभ्यासात् । 'असन्नेव स भवति' इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात् । 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' । विकारशब्देनावयवशब्दोऽभिप्रेतः । पुच्छमित्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्मण इति यदुक्तं, तस्य परिहारो वक्तव्यः । अत्रोच्यते—नायं दोषः, प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः । प्राचुर्यं प्रायापत्तिः, अवयवप्राये वचनमित्यर्थः । अन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वावयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्याह, नावयवविवक्षया । यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम् । 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' । सर्वस्य विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते—'इद ँ सर्वमसृजत ।

योलक्षणसाम्यात्संशयोऽस्तीत्यवयवप्रायपाठो निश्चायक इति पूर्वाधिकरणसिद्धान्तयुक्त्यभावेन पूर्वपक्षयति—पुच्छशब्दादिति । तथा च प्रत्युदाहरणसङ्गतिः । पूर्वपक्षे सगुणोपास्तिः, सिद्धान्ते निर्गुणप्रमितिः फलम् । वेदान्तवाक्यसमन्वयोक्तेः श्रुत्यादिसङ्गतयः स्फुटा एव । सूत्रस्थानन्दमयपदेन तद्वाक्यस्थं ब्रह्मपदं लक्ष्यते । विक्रियतेऽनेनेति विकारोऽवयवः । प्रायापत्तिरिति । अवयवत्रमस्य बुद्धौ प्राप्तिरित्यर्थः । अत्र हि प्रकृतस्य ब्रह्मणो ज्ञानार्थं कोशाः पक्षित्वेन कल्प्यन्ते, नात्र तात्पर्यमस्ति । तत्रानन्दमयस्यापि अवयवान्तरोक्त्यनन्तरं कस्मिंश्चित्पुच्छे वक्तव्ये प्रकृतं ब्रह्म पुच्छपदेनोक्तम् । तस्यानन्दमयाधारत्वेनावश्यं वक्तव्यत्वादित्यर्थः । 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' (सू० १४) । तस्य ब्रह्मणः सर्वकार्यहेतुत्वव्यपदेशात्, प्रियादिविशिष्टत्वाकारेणानन्दमयस्य जीवस्य कार्यत्वात्तं प्रति शेषत्वं ब्रह्मणो न युक्तमित्यर्थः । 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' (सू० १५) । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति यस्य

आनन्दमय के अवयवरूप से बतलाना अभीष्ट है अथवा स्वप्रधानरूप में, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष कहता कि पुच्छ शब्द से आनन्दमय के अवयवरूप में ब्रह्म को बतलाना अभीष्ट है ? इस पर सिद्धान्ती कहता है कि 'आनन्दमय आत्मा' इस वाक्य में जो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यह श्रुति है वह स्वप्रधान ही ब्रह्म को बतलाती है क्योंकि बार-बार उसका अभ्यास सुनाई पड़ता है । 'जो उसे असत् जानता है वह स्वयं ही असत् हो जाता है' इस निगमनश्लोक में केवल ब्रह्म का अभ्यास दीखता है (सूत्र १२) । 'विकारशब्दान्नेति चेन्न, प्राचुर्यात्' इस सूत्र में विकार शब्द से अवयव अर्थ अभिप्रेत है । अतः पुच्छ पद अवयव अर्थ का वाचक होने के कारण ब्रह्म का उपदेश स्वप्रधानत्वरूप में नहीं है ? तो आप के इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है अतः हम कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है । प्राचुर्य से भी अवयव शब्द की उपपत्ति हो जाती है क्योंकि प्रायापत्ति को प्राचुर्य कहते हैं जो अवयवप्राय का वाचक है । अन्नमयादि कोशों को शिर से लेकर पुच्छपर्यन्त अवयव बतला देने के बाद आनन्दमय में भी शिर आदि अवयवान्तर कहे गये हैं फिर तो अवयवप्राय में आने के कारण ब्रह्म को भी आनन्दमय की पुच्छ और प्रतिष्ठा कह दिया गया है, वह अवयव की विवक्षा से नहीं है (सू० १३) । 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्र से ब्रह्म में स्वप्रधानत्व का समर्थन अभ्यासात् पद के आधार पर किया गया है, वैसे ही 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' इस सूत्र के द्वारा यह भी कहा गया है कि आनन्दमय के सहित सम्पूर्ण कार्यजगत् के कारणरूप से ब्रह्म का उपदेश है 'यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम जगत् दीखता है,

७. अन्तरधिकरणम् (सू० २०-२१)

(२०) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

हिरण्मयो देवतात्मा किं वासी परमेश्वरः। मर्यादाधाररूपोक्तेर्देवतात्मैव नेश्वरः।
सार्वात्म्यात्सर्वदुरितराहित्याच्चेश्वरो मतः। मर्यादाद्या उपास्त्यर्थमीशेऽपि स्युरुपाधिगाः॥

यदिदं किञ्च' (तै० २-६) इति। नच कारणं सत् ब्रह्म स्वविकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्याऽवयव उपपद्यते। अपराण्यपि सूत्राणि यथासम्भवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि ॥१९॥

इदमाम्नायते—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्य-

---

ज्ञानान्मुक्तिरुक्ता, यत् 'सत्यं ज्ञानम्' इति मन्त्रोक्तं ब्रह्म, तदत्रैव पुच्छवाक्ये गीयते, ब्रह्मपदसंयोगात्। नानन्दमयवाक्य इत्यर्थः। 'नेतरोऽनुपपत्तेः' (सू० १६)। इतर आनन्दमयो जीवोऽत्र न प्रतिपाद्यः। सर्वस्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तेरित्यर्थः। 'भेदव्यपदेशाच्च' (सू० १७)। अयमानन्दमयो ब्रह्मरसं लब्ध्वानन्दी भवतीति भेदोक्तेश्च तस्याप्रतिपाद्यतेत्यर्थः। आनन्दमयो ब्रह्म, तैत्तिरीयकपञ्चमस्थानस्थत्वात्, भृगुवल्लीस्थानन्दवदित्याशङ्क्याह—'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (सू० १८)। काम्यत इति काम आनन्दः तस्य भृगुवल्ल्यां पञ्चमस्य ब्रह्मत्वदृष्टेरानन्दमयस्यापि ब्रह्मत्वानुमानापेक्षा न कार्या, विकारार्थक-मयड्विरोधादित्यर्थः। भेदव्यपदेशाद्वेत्सगुणं ब्रह्मात्र वेद्यं स्यादित्याशङ्क्याह—'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति' (सू० १९)। गुहानिहितत्वेन प्रतीचि 'स एकः' इत्युपसंहृते पुच्छवाक्योक्ते ब्रह्मण्यहमेव परं ब्रह्मेति प्रबोधवत आनन्दमयस्य 'यदा हि' इति शास्त्रं ब्रह्मभावं शास्ति, अतो निर्गुणब्रह्मैक्य-ज्ञानार्थं जीवभेदानुवाद इत्यभिप्रेत्याह—अपराण्यपीति ॥१९॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्। छान्दोग्यवाक्यमुदाहरति—अथ य इति। अथेत्युपास्तिप्रारम्भार्थः।

उसे ब्रह्म ने बनाया' इस श्रुति में जिस ब्रह्म को जगत्कारण कहा है वह अपने विकार आनन्दमय का अवयव मुख्यवृत्ति से नहीं हो सकता (सू० १४)। इस अधिकरण के शेष सूत्रों को भी यथासम्भव पुच्छवाक्यनिर्दिष्ट ब्रह्म का ही उपपादक समझना चाहिए, यथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस वाक्य में जिस ब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष कहा है और जिसका स्वरूप 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्र से बतलाया गया है, उसी ब्रह्म का गान पुच्छवाक्य में किया गया है क्योंकि ब्रह्मपद का सम्बन्ध वहाँ दीखता है (सू० १५)। आनन्दमय जीव यहाँ पर प्रतिपाद्य नहीं है क्योंकि सर्वस्रष्टृत्व उसमें युक्तियुक्त सिद्ध नहीं हो सकता (सू० १६)। यह आनन्दमय ब्रह्मरस को प्राप्तकर आनन्दित हो जाता है ऐसे लब्धा-लब्धव्य भेद का कथन होने से भी आनन्दमय इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य नहीं है (सू० १७)। जिसकी कामना की जाय उस आनन्द (सुख) को काम कहते हैं, वही ब्रह्म हो सकता है। आनन्दमय में ब्रह्मत्व का अनुमान नहीं करना चाहिए क्योंकि उसमें मयट् प्रत्यय विकारार्थक है (सू० १८)। भेद व्यपदेश होने के कारण सगुण ब्रह्म यहाँ पर वेद्य है, ऐसी शङ्का होने पर अग्रिम सूत्र है कि गुहा में निहित होने से प्रत्यगात्मा और आदित्यमण्डलस्थपुरुष एक माना गया है। पुच्छ वाक्य में कहे गये ब्रह्म को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे ज्ञानवाले को ब्रह्म क प्राप्ति शास्त्र बतलाता है। अतः निर्गुण ब्रह्म के साथ अभेद ज्ञान कराने के लिए जीव और ब्रह्म का अनुवादमात्र है, वह प्रतिपाद्य नहीं है।

---

१. 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इति वाक्ये। २. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवतीति शास्त्रम्।

केश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः' 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद' 'इत्यधिदैवतम्' (छा० १-६-६,७,८) 'अथाध्यात्मम्' 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १-७-१, ५) इत्यादि। तत्र संशयः—किं 'विद्याकर्मातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षः

हिरण्मयो ज्योतिर्विकारः, पुरुषः पूर्णोऽपि मूर्तिमानुपासकैर्दृश्यते। मूर्तिमाह—हिरण्येति। प्रणखो नखाग्रं तेन सहेत्यभिविधावाङ्। नेत्रयोर्विशेषमाह—तस्येति। कपेर्मर्कटस्य आसः पुच्छभागोऽत्यन्ततेजस्वी तत्तुल्यं पुण्डरीकं यथा दीप्तिमदेवं तस्य पुरुषस्याक्षिणी, सद्योविकसितरक्ताम्भोजनयन इत्यर्थः। उपासनार्थमादित्यमण्डलं स्थानं, रूपं चोक्त्वा नाम करोति—तस्योदिति। उन्नाम निर्वक्ति—स इति। उदित उद्गतः। सर्वपाप्मास्पृष्ट इत्यर्थः। उपासनार्थं नामज्ञानफलमाह—उदेतीति। देवतास्थानमादित्यमधिकृत्योपास्त्युक्त्यनन्तरमात्मानं देहमधिकृत्यापि तदुक्तिरित्याह—अथेति। पूर्वत्र ब्रह्मपदमानन्दमयपदमानन्दपदाभ्यासश्चेति मुख्यत्रितयादिबहुप्रमाणवशान्निर्गुणनिर्णयवत्, रूपवत्त्वादिबहुप्रमाणवशाज्जीवो हिरण्मय इति पूर्वसिद्धान्तदृष्टान्तसङ्गत्या 'पूर्वमुत्सर्गतः सिद्धनिर्गुण-

---

७. अन्तरधिकरण

१. सङ्गति—पूर्व अधिकरण में ब्रह्मपद, आनन्दमय पद एवं आनन्दाभ्यास पद को देखकर अनेक प्रमाण होने के कारण जैसे निर्विशेष ब्रह्म का निर्णय किया गया था ऐसे ही पूर्वोक्त युक्ति से रूपवत्वादि अनेकों प्रमाणों को देखते हुए हिरण्मय पुरुष कोई संसारी है, ऐसा पूर्वपक्ष का उत्थान होता है; अतः पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है।

२ **विषय**—**'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते'** (छा० १-६-६) यह छान्दोग्य श्रुतिवाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—कर्म और उपासना के अनुष्ठान से उत्कर्ष को प्राप्त सूर्यमण्डल और नेत्र में उपास्य कोई देवता है अथवा परमेश्वर है?

४. पूर्वपक्ष—मर्यादा, आधार एवं रूप का वर्णन होने से इन दोनों स्थानों में देवता ही उपास्य कहा गया है, ईश्वर नहीं।

५. सिद्धान्त—सर्वात्मा तथा सम्पूर्ण पापों से रहित पुरुष का वर्णन उक्त दोनों स्थानों में किया गया है जो ईश्वर में ही सम्भव है। मायामहिमा से लोकानुग्रहार्थ उसमें रूपवत्ता उपासना के लिए सम्भव है। मर्यादा एवं आधार परमेश्वर में औपाधिक है। अतः आदित्यमण्डल एवं नेत्र में उपास्य हिरण्मय पुरुष परमात्मा ही है।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् में पाठ आता है कि 'जो यह आदित्यमण्डल के भीतर हिरण्यमय पुरुष दीखता है, 'जिसकी दाढ़ी मूंछ भी सोने जैसी है, केश भी सुवर्णमय है नखाग्र से शिखपर्यन्त सभी अवयव सुन्दर हैं' 'उसकी आँखें कप्यास (बन्दर के पुच्छ भाग) जैसी रक्तवर्ण है उसका नाम उत् है क्योंकि वह सम्पूर्ण पापों से ऊपर उठा हुआ है, जो भी कोई इस रूप में उसकी उपासना करता है वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है' इस प्रकार फल के सहित अधिदेवत उपासना बतलायी' 'अब अध्यात्म उपासना कहते हैं' 'जो यह नेत्र के भीतर पुरुष दिखायी पड़ता है' इत्यादि। यहाँ संशय

---

१. उपासना। २. पूर्वम्—समन्वयसूत्रे।

कश्चित्संसारी सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्यत्वेन श्रूयते किं वा नित्यसिद्धः परमेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम्? संसारीति। कुतः? रूपवत्त्वश्रवणात्। आदित्यपुरुषे तावत् 'हिरण्यश्मश्रुः' इत्यादि रूपमुदाहृतम्। अक्षिपुरुषेऽपि तदेवातिदेशेन प्राप्यते—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इति। नच परमेश्वरस्य रूपवत्त्वं युक्तम्, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (का० १-३-१५) इति श्रुतेः। आधारश्रवणाच्च—'य एषोऽन्तरादित्ये' 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति। न ह्यनाधारस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याधार उपदिश्येत। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७-२४-१) इति, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च श्रुती भवतः। ऐश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च। 'स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा०१-६-८) इत्यादित्यपुरुषस्यैश्वर्यमर्यादा। 'स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च'(छा० १-७-६) इत्यक्षिपुरुषस्य। नच परमेश्वरस्य मर्यादावदैश्वर्यं युक्तम्, 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' (बृ० ४-४-२२) इत्यविशेष-

---

समन्वयस्या[1]पवादार्थं पूर्वपक्षयति—संसारीति। अत्र पूर्वोत्तरपक्षयोर्जीवब्रह्मणोरुपास्तिः फलम्। अक्षिणीत्याधारश्रवणाच्च संसारीति सम्बन्धः। श्रुतिमाह—स एष इति। आदित्यस्थः पुरुषः, अमुष्मादादित्यादूर्ध्वगा ये केचन लोकास्तेषामीश्वरो देवभोगानां चेत्यर्थः। स एषोऽक्षिस्थः पुरुष एतस्मादक्ष्णोऽधस्तना ये लोकाः, ये च मनुष्यकामा भोगास्तेषामीश्वर इति मर्यादा श्रूयते। अतः श्रुतेश्च संसारीत्यर्थः। 'एष सर्वेश्वरः' इत्यविशेषश्रुतेरिति सम्बन्धः। भूताधिपतिर्यमः, भूतपाल

होता है कि क्या अतिशय उपासना और कर्म के अनुष्ठान से उत्कर्ष को प्राप्त कोई संसारी जीव सूर्यमण्डल और नेत्र में उपास्यरूप से सुना जाता है, अथवा नित्यसिद्ध परमात्मा वहाँ पर उपास्य है? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि संसारी पुरुष ही इन दोनों स्थलों में उपास्यरूप से बतलाया गया है क्योंकि उसका रूप सुना जाता है। आदित्यमण्डलस्थ पुरुष में जैसा **'हिरण्यश्मश्रुः'** रूप कहा गया है उसी का अतिदेश नेत्रस्थ पुरुष में भी किया गया है—'इसका वही रूप है जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष का कहा गया है।' **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** इस श्रुति से शब्द, स्पर्श, रूपादि का निषेध जब परमेश्वर में मिलता है तो उसमें रूपवत्व बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। साथ ही 'जो आदित्य के भीतर' 'जो नेत्र के भीतर' इन श्रुतियों से आदित्य और नेत्र उसके आधाररूप में सुने गये हैं। परमेश्वर का कोई आधार नहीं है, वह सदा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है, सर्वव्यापक है, उसका आधार दूसरा हो ही नहीं सकता। 'हे भगवन्! वह परमात्मा किसमें प्रतिष्ठित है? उत्तर में ऋषि ने कहा कि वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है।' 'वह परमात्मा आकाश की भाँति नित्य, निरवयव और सर्वव्यापक है।' ऐसी श्रुतियाँ हैं। तथा आदित्यमण्डलस्थ पुरुष के ऐश्वर्य की सीमा भी श्रुति कहती है 'जो उससे ऊपर के लोक हैं उन लोकों में देवताओं की कामनाओं का आदित्यमण्डलस्थ पुरुष अनुशासन करता है' और 'जो उससे नीचे के लोक हैं उनमें मनुष्यों की कामनाओं का अनुशासन नेत्रस्थ पुरुष करता है।' परमेश्वर का ऐश्वर्य सीमित कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'यह सर्वेश्वर है यह भूताधिपति है यह भूतपाल है और यह इन सम्पूर्ण

---

१. अपवादार्थमिति—उपास्त्यर्थं सगुणसमन्वयस्यापि सिद्धान्तेऽभीष्टत्वादिति भावः।

श्रुतेः । तस्मान्नाक्ष्यादित्ययोरन्तः परमेश्वर इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इति 'य एषोऽन्तरादित्ये', 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति च श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव, न संसारी । कुतः ? तद्धर्मोपदेशात् । तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः । तद्यथा —'तस्योदिति नाम' इति श्रावयित्वा अस्यादित्यपुरुषस्य नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति सर्वपाप्मापगमेन निर्वक्ति । तदेव च कृतनिर्वचनं नामाक्षिपुरुषस्याप्यतिदिशति—'यन्नाम तन्नाम' (छा० १-७-५) इति । सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते— 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्यादौ । तथा चाक्षुषे पुरुषे 'सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म' इत्यृक्सामाद्यात्मकतां निर्धारयति । सा च परमेश्वरस्योपपद्यते, सर्वकारणत्वात्सर्वात्मकत्वोपपत्तेः । पृथिव्यग्न्याद्यात्मके चाधिदैवतं ऋक्सामे, वाक्प्राणाद्यात्मके

इन्द्रादिश्च एष एव । किञ्च जलानामसङ्कराय लोके विधारको यथा सेतुः, एवमेषां लोकानां वर्णाश्रमादीनां मर्यादाहेतुत्वात्सेतुरेष एव । अतः सर्वेश्वर इत्यर्थः । सूत्रं व्याचष्टे—य एष इति । यद्यप्येकस्मिन्वाक्ये प्रथमश्रुतानुसारेण चरमं नेयं, तथाप्यत्र प्रथमं श्रुतं रूपवत्त्वं 'निष्फलं, ध्यानार्थमीश्वरे नेतुं शक्यं च । सर्वपापासङ्गित्वं सर्वात्मकत्वं तु सफलं, जीवे नेतुमशक्यं चेति प्रबलम् । नच 'न ह वै देवान्पापं गच्छति' (बृ० १-५-२०) इति श्रुतेरादित्यजीवस्यापि पाप्मास्पर्शित्वमिति वाच्यम् । श्रुतेरधुना कर्मानधिकारिणां देवानां क्रियमाणपाप्मासम्बन्धे तत्फलास्पर्शे वा तात्पर्यात्, तेषां सञ्चितपापाभावे 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (भ० गी० ९-२१) इत्ययोगादित्यभिप्रेत्याह—सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एवेति । सार्वात्म्यमाह—तथेति । अत्र तच्छब्दैश्चाक्षुषः पुरुष उच्यते । ऋगाद्यपेक्षया लिङ्गव्यत्ययः । उक्थं शस्त्रविशेषः, तत्साहचर्यात्साम स्तोत्रम्, उक्थादन्यच्छस्त्रमृगुच्यते, यजुर्वेदो यजुः, ब्रह्म त्रयो वेदा इत्यर्थः । पृथिव्यग्न्याद्यात्मक इति । आधिदैवतमृक् पृथिव्यन्तरिक्षद्युनक्षत्रादित्यगतशुक्लभारूपा पञ्चविधा श्रुत्युक्ता, साम चाग्निवाय्वादित्यचन्द्रादित्यगतातिकृष्णरूपमुक्तं पञ्चविधम् । अध्यात्मं तु ऋक्, वाक्चक्षुःश्रोत्राक्षिस्थशुक्लभारूपा चतुर्विधा, साम च प्राण-

---

वर्णाश्रमादि लोकों की मर्यादा का विधारक है' ऐसी अविशेष श्रुति है । अतः नेत्र और आदित्य के भीतर स्थित पुरुष परमेश्वर नहीं है ?

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती अग्रिम सूत्र से कहते हैं कि 'जो आदित्य के भीतर यह पुरुष' और 'जो नेत्र के भीतर पुरुष है' इन श्रुतियों में सुना गया पुरुष परमेश्वर ही है, संसारी जीव नहीं क्योंकि परमेश्वर के धर्मों का उपदेश यहाँ दिखाई पड़ता है । जैसे 'उसका उत् नाम है' ऐसा कहने के बाद इस आदित्यपुरुष के नाम का निर्वचन भी श्रुति करती है 'वह सम्पूर्ण पापों से उदित है, इसीलिए उसका उत् नाम है ।' वही निर्वाचित नाम अक्षपुरुष में भी 'यन्नाम तन्नाम' इस अतिदेश द्वारा बतलाते हैं। 'जो यह आत्मा पापरहित है' इस श्रुति द्वारा सर्व पाप का अभाव परमात्मा में ही सुना जाता है । इसके अतिरिक्त चाक्षुषपुरुष में 'जो ऋक् है वह साम है, वह यजुः है और वह ब्रह्म है' इस श्रुति से ऋक्सामादिरूपता का निश्चय होता है । सम्पूर्ण जगत् का कारण होने से वह परमात्मा सर्वात्मक है, इसलिए उसी में ऐसा निश्चय सम्भव है । पृथ्वी, अग्न्यादिरूप अधिदैवत ऋक्, साम और वाक्, प्राणादिरूप अध्यात्म ऋक् साम का प्रारम्भ कर कहा

---

१. निष्फलमिति—नामवद्रूपस्य तत्र फलाश्रवणादिति भावः ।

चाध्यात्ममनुक्रम्याह—'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ' इत्यधिदैवतम् । तथाध्यात्ममपि—'यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ' इति । तच्च सर्वात्मकत्वे सत्येवोपपद्यते । 'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः'(छा० १-७-६) इति च लौकिकेष्वपि गानेष्वस्यैव गीयमानत्वं दर्शयति । तच्च परमेश्वरपरिग्रहे घटते, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्' (गी० १०-४१) इति भगवद्गीतादर्शनात् । लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं गमयति । यत्तूक्तं—हिरण्यश्मश्रुरित्यादिरूपश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत इति, अत्र ब्रूमः—स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम् । 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि' इति स्मरणात् । अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'

'छायात्ममनोऽक्षिगतातिनीलरूपं चतुर्विधमुक्तम् । एवं क्रमेण ऋक्सामे अनुक्रम्याह श्रुतिः—तस्येति । यौ सर्वात्मकर्क्सामात्मकौ गेष्णावमुष्यादित्यस्थस्य, तावेवाक्षिस्थस्य गेष्णौ 'पर्वणीत्यर्थः । तच्चेति । ऋक्सामगेष्णत्वमित्यर्थः । सर्वगानगेयत्वे लिङ्गान्तरमाह—तद्य इति । तत्तत्र लोके, धनस्य सनिर्लाभो येषां ते धनसनयः विभूतिमन्त इत्यर्थः । ननु लोके राजानो गीयन्ते नेश्वर इत्यत आह—यद्यदिति । पशुवित्तादिर्विभूतिः, श्रीः कान्तिः, ऊर्जितत्वं बलं, तद्युक्तं सत्त्वं राजादिकं मदंश एवेति तद्गानमीश्वरस्यैवेत्यर्थः । निरङ्कुशमनन्याधीनम् । एषा विचित्ररूपा मूर्तिर्मायाविकृतिस्त्वान्माया मया सृष्टेत्यर्थः । यदुक्तम्—'अशब्दम्' इत्यादिवाक्यं तज्ज्ञेयपरमित्याह—अपिचेति । तर्हि रूपं कुतः ?

है—'उस परमेश्वर के ऋक् और साम पर्व हैं' यह अधिदैवत है। ऐसे ही अध्यात्म में भी कहा है कि 'जो अधिदेव के पर्व हैं वे ही अध्यात्म के हैं।' यह सभी निर्देश सर्वात्मक परमात्मा में ही सिद्ध होता है। 'इसलिए जो यह पुरुष वीणा में गान करते हैं, वे परमेश्वर के ही गुणों का गान करते हैं, इसीलिए वे धनसम्पन्न हो जाते हैं' ऐसे लौकिक गान में भी वह परमात्मा ही गीयमान है। इस प्रकार ऋक्, साम गेष्णत्व अर्थ परमेश्वर अर्थ ग्रहण करने में ही घटता है। लोक में राजा की भी स्तुति लोग करते हैं क्योंकि उसमें परमेश्वर की विभूति का ही अवतरण हुआ है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि 'पशुवित्तादि विभूतियुक्त, कान्तियुक्त अथवा बलयुक्त जो भी कोई प्राणी दीखता हो उसे मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ समझो।' लोक की समस्त कामनाओं के निरङ्कुश शासन का श्रवण भी परमेश्वर अर्थ का ही बोध कराता है।

और जो आपने कहा कि हिरण्यश्मश्रु इत्यादि रूप का श्रवण निरूप परमेश्वर में नहीं घटता तो इस पर हम कहते हैं कि स्वेच्छा से साधकों पर अनुग्रह करने के लिए मायामय रूप परमेश्वर का भी है इसीलिए स्मृति में कहा है कि 'हे नारद! यह जो सम्पूर्ण जगत मेरे द्वारा ही रचा गया है उसे मेरा मायिक रूप समझो, इस प्रकार सम्पूर्ण भूतगुणों से युक्त मुझे तुम न समझो और न देखो क्योंकि परमार्थतः मैं सम्पूर्ण गुणों से मुक्त हूँ।' और जहाँ भी समस्त उपाधियों का निरासकर, परमेश्वर का रूप बतलाया गया है वहाँ शास्त्र कहता है कि 'वह शब्द, स्पर्श, रूप से रहित है और

---

१. अंगुष्ठपर्वणी । २. द्रष्टुमिति पाठान्तरम् । ३. चक्षुर्गोलके दृश्या छाया । ४. पर्वणी—सन्धिदेशौ ।

(२१) भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥२१॥

इत्यादि। सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३-१४-२) इत्यादिना। तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति। यदप्याधारश्रवणान्न परमेश्वर इति, अत्रोच्यते—स्वमहिमप्रतिष्ठस्याप्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद्ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरत्वोपपत्तेः। ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थमेव। तस्मात्परमेश्वर एवाक्ष्यादित्ययोरन्तरुपदिश्यते ॥२०॥

अस्ति चादित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योऽन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी, 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३-७-९) इति श्रुत्यन्तरे भेदव्यपदेशात्। तत्र हि 'आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद' इति वेदितुरादित्याद्विज्ञानात्मनोऽन्योऽन्तर्यामी स्पष्टं

तत्राह—सर्वेति। यत्र तूपास्यत्वेनोच्यते तत्रेत्यध्याहृत्य सर्वकारणत्वात्प्राप्तरूपवत्त्वं 'सर्वकर्मा' इत्यादिश्रुत्या निर्दिश्यत इति योजना। मर्यादावदैश्वर्यमीश्वरस्य नेत्युक्तं निराकरोति—ऐश्वर्येति। अध्यात्माधिदैवतध्यानयोर्विभागः पृथक्प्रयोगस्तदपेक्षमेव, नत्वैश्वर्यस्य परिच्छेदार्थमित्यर्थः ॥२०॥

ननु उपास्योद्देशेनोपास्तिविधेर्विधेयक्रियाकर्मणोर्व्रीह्यादिवदन्यतः[1] सिद्धिर्वाच्येत्याशङ्क्याह—भेदेति। आदित्यजीवादीश्वरस्य भेदोक्तेः श्रुत्यन्तरे जीवादन्य ईश्वरः सिद्ध इति सूत्रार्थमाह—अस्तीति। आदित्ये स्थितरश्मिनिरासार्थमादित्यादन्तर इति, जीवं निरस्यति—यमिति। अशरीरस्य कथं नियन्तृत्वं, तत्राह—यस्येति। अन्तर्यामिपदार्थमाह—य इति। तस्यानात्मत्वनिरासायाह—एष त इति। ते तव स्वरूपमित्यर्थः। आदित्यान्तरत्वश्रुतेः समानत्वादित्यर्थः[2]। तस्मात्पर एवादित्या-

---

उसका कभी नाश नहीं होता' किन्तु सबका कारण होने से किन्हीं-किन्हीं विकारधर्मों से विशिष्ट परमेश्वर 'सर्वकर्मा सर्वगन्धः' इत्यादि वाक्य द्वारा उपासना के लिए भी कहा गया है। ठीक वैसे ही हिरण्यश्मश्रुत्वादि निर्देश भी उपासना के लिए ही माना जायेगा। और जो आप ने कहा था कि आदित्य एवं नेत्र आधार रूप में सुने जाते हैं, इसलिए उनके भीतर उपास्य पदार्थ परमेश्वर नहीं है; इस पर हमारा कहना है कि परमात्मा स्वयं अपनी प्रतिष्ठा में है उसी अपनी महिमा में प्रतिष्ठित परमात्मा के आधार विशेष का भी उपदेश उपासना के लिए हो जायेगा। आकाश की भाँति सर्वव्यापक परमात्मा में सर्वान्तरत्व भी युक्तियुक्त है। ऐश्वर्यमर्यादा का श्रवण भी अध्यात्म एवं अधिदैव विभाग की अपेक्षा कर उपासना के लिए ही है, वस्तुतः नहीं। अतः नेत्र और आदित्य के भीतर परमेश्वर का ही उपदेश किया गया है ॥२०॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः (ललिता)

आदित्यशरीराभिमानी जीव से अन्तर्यामी ईश्वर भिन्न ही है ऐसा 'जो आदित्य में स्थित है, आदित्य जिसका शरीर है जो भीतर रहकर आदित्य का नियमन करता है यह तेरी आत्मा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप है' ऐसा श्रुत्यन्तर में भेद व्यपदेश भी देखा जाता है। वहाँ पर 'जो आदित्य के भीतर है जिसे आदित्य जानता नहीं' इस वाक्य के द्वारा वेदिता आदित्य एवं विज्ञानात्मा से अन्तर्यामी को

---

१. प्रत्यक्षादिना। २. श्रुतिसामान्यादिति।

८. आकाशाधिकरणम् (सू० २२)

(२२) आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

आकाश इति होवाचेत्यत्र च ब्रह्म वाऽत्र खम्। शब्दस्य तत्र रूढत्वाद्वाय्वादेः सर्जनादपि ॥
साकाशजगदुत्पत्तिहेतुत्वाच्छ्रौतरूढितः। एवकारादिना चात्र ब्रह्म वाकाशशब्दितम् ॥

निर्दिश्यते। स एवेहाभ्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति, श्रुतिसामान्यात्। तस्मात्परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम् ॥२१॥

इदमामनन्ति—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा

दित्स्थानक [1]उद्गीथे उपास्य इति सिद्धम् ॥२१॥

भवतु रूपवत्त्वादिदुर्बललिङ्गानां पापास्पर्शित्वाद्यव्यभिचारिब्रह्मलिङ्गैरन्यथानयनम्। इह त्वाकाशपदश्रुतिर्लिङ्गाद्बलीयसीति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते प्रत्याह—आकाशस्तल्लिङ्गादिति। **छान्दोग्यवाक्यमुदाहरति**—इदमिति। **शालावत्यो ब्राह्मणो जैवलिं राजानं पृच्छति—'अस्य पृथ्वीलोकस्या[2]न्यस्य**

भिन्नरूप में सुस्पष्ट निर्देश किया गया है। वही यहाँ पर भी आदित्यमण्डलस्थ पुरुष शब्द से कहा गया है, क्योंकि दोनों ही श्रुति हैं। अतः आदित्यमण्डल एवं नेत्र के भीतर उपास्यरूप से उपदिष्ट तत्त्व परमेश्वर ही है, यह अर्थ सिद्ध हुआ ॥२१॥

८. आकाशाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्वाधिकरण में सर्वपापराहित्यादि ब्रह्मलिङ्ग के आधार पर रूपवत्त्वादि का जिस प्रकार अन्यथा अर्थ किया गया था वैसा यहाँ पर लिङ्गप्रमाण के आधार पर आकाशश्रुति का अन्यथानयन नहीं हो सकता, क्योंकि लिङ्गप्रमाण से श्रुतिप्रमाण बलवान होता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी प्रत्युदाहरण सङ्गति है।

२. **विषय**—**'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच' (छा० १-९-१)** इत्यादि वाक्य इस अधिकरण में विचार का विषय है।

३. **संशय**—आकाश शब्द से परब्रह्म का उपदेश है अथवा भूताकाश का?

४. **पूर्वपक्ष**—लोकप्रसिद्धि को देखते हुए आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश ही होना चाहिए, ब्रह्म में तो सादृश्य को लेकर आकाश शब्द का प्रयोग कहीं कहीं पर किया गया है। वायु आदि क्रम से आकाश भी जगत का स्रष्टा हो जाता है।

५. **सिद्धान्त**—आकाश के सहित सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का हेतु होने से, लौकिकरूढ़ की अपेक्षा श्रौतरूढ़ बलवान होने से एवं एवकार आदि शब्द का प्रयोग देखते हुए भी यहाँ पर आकाश शब्द का ब्रह्म ही अर्थ सुनिश्चित है, अन्य नहीं।

आकाशस्तल्लिङ्गात् (ललिता)

आदित्य पुरुष एवं नेत्रस्थ पुरुष में रूपवत्त्वादि जो कहे गये थे वे जीव के लिङ्ग हैं एवं पाप अस्पर्शत्वादि अव्यभिचरित लिङ्ग ब्रह्म के बतलाये गये थे। उस प्रबल ब्रह्मलिङ्ग के आधार पर दुर्बल रूपवत्त्वादि लिङ्ग का नयन अन्यथा हो सकता है किन्तु इस आकाशाधिकरण में **'आकाश'** पद श्रुति है जो लिङ्ग से बलवती है। अतः प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण इस आकाशाधिकरण को कहते हैं।

---

१. उद्गीथे उद्गीथभक्त्यवयव ओङ्कारे। २. अन्तरिक्षादेः।

इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १-९-१) इति। तत्र संशयः—किमाकाशशब्देन परं ब्रह्माभिधीयत उत भूताकाशमिति। कुतः संशयः? उभयत्र प्रयोगदर्शनात्। भूतविशेषे तावत्सुप्रसिद्धो लोकवेदयोराकाशशब्दः। ब्रह्मण्यपि क्वचित्प्रयुज्यमानो दृश्यते। यत्र वाक्यशेषवशादसाधारणगुणश्रवणाद्वा निर्धारितं ब्रह्म भवति, यथा—'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० २-७) इति। 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८-१४-१)इति चैवमादौ। अतः संशयः। किं पुनरत्र युक्तम्? भूताकाशमिति। कुतः? तद्धि प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शीघ्रं बुद्धिमारोहति। न चायमाकाशशब्द उभयोः साधारणः शक्यो विज्ञातुं, अनेकार्थत्वप्रसङ्गात्। तस्माद्ब्रह्मणि गौण आकाशशब्दो भवितुमर्हति। विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति। नच मुख्यसम्भवे गौणोऽर्थो ग्रहणमर्हति। सम्भवति चेह मुख्यस्यैवाकाशस्य ग्रहणम्। ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्य-

---

च क आधारः' इति। राजा ब्रूते–'आकाश इति ह' इति। 'यदेष आकाशः' इत्यानन्दत्वस्यासाधारणस्य श्रवणादाकाशो ब्रह्मेत्यवधारितम्। 'आकाशो वै नाम' इत्यत्र 'तद्ब्रह्म' इति वाक्यशेषादिति विभागः। निर्वहिता। उत्पत्तिस्थितिहेतुः। ते नामरूपे, यदन्तरा यस्माद्भिन्ने। यत्र कल्पितत्वेन मध्ये स्त इति वार्थः। अत्र पूर्वपक्षे भूताकाशात्मनोद्गीथोपास्तिः, सिद्धान्ते ब्रह्मात्मना इति फलम्। उपास्ये स्पष्ट-

---

छान्दोग्य उपनिषद् में शालावत्य ब्राह्मण जैवलि राजा से पूछता है कि 'इस पृथ्वीलोक और अन्तरिक्षलोक का आधार क्या है ? राजा ने कहा—'आकाश उनका आधार है' और साथ ही यह भी कहा कि 'सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन होते है, आकाश इन सबसे बड़ा है एवं आकाश उत्कृष्ट आधार है' इत्यादि। वहाँ पर संशय होता है कि आकाश शब्द से परब्रह्म अर्थ को बतलाया गया है अथवा भूताकाश को ? यदि कोई कहे कि संशय ही क्यों होता है तो उसका उत्तर यह है कि दोनों ही अर्थों में आकाश शब्द का प्रयोग देखा जाता है। भूतविशेष में, लोक और वेद में आकाश शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध ही है, ब्रह्म अर्थ में भी कहीं कहीं पर आकाश शब्द का प्रयोग दिखायी पड़ता है। जहाँ वाक्यशेष के कारण अथवा असाधारण गुण सुने जाने के कारण आकाश शब्द का ब्रह्म अर्थ माना गया है, यथा 'यदि यह अपरिच्छिन्न आनन्दरूप आकाश नहीं होता', 'नामरूप का निर्वाहक आकाश ही है, वे ही नामरूप जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म हैं' इन स्थलों में आकाश शब्द का प्रयोग ब्रह्म में भी किया गया है, इसीलिए संशय होता है। तो फिर क्या मानना उचित होगा ? आकाश शब्द का भूताकाश अर्थ लेना ही उचित होगा क्योंकि प्रसिद्धतर प्रयोग के कारण भूताकाश शीघ्र बुद्धि में आरूढ़ होता है। यदि कहो कि तब तो दोनों ही अर्थ में आकाश शब्द का प्रयोग मान लेना चाहिए ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अनेकार्थत्व का प्रसंग आ जायेगा। अतः ब्रह्म अर्थ में आकाश शब्द का गौण प्रयोग होता है और विभुत्वादि अनेक धर्मों का आकाश के साथ सादृश्य होने के कारण ब्रह्म अर्थ में आकाश शब्द का गौण प्रयोग किया गया है। मुख्यार्थ सम्भव हो तो गौण अर्थ नहीं लेना चाहिए। यहां पर आकाश शब्द का

शेषो नोपपद्यते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादिः । नैष दोषः । भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः । विज्ञायते हि—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः' (तै० २-१) इत्यादि । ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपिभूतान्तरापेक्षयोपपद्येते भूताकाशस्यापि । तस्मादाकाशशब्देन भूताकाशस्य ग्रहणमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' । आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम् । कुतः ? तल्लिङ्गात् । परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति । परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा । ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम् । सत्यं, दर्शितम् । तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहादाकाशादेवेत्यवधारणं, सर्वाणीति च भूतविशेषणं नानुकूलं स्यात् । तथा 'आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इति ब्रह्मलिङ्गं 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे । ज्यायस्त्वं ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नातम्—'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३-१४-३) इति । तथा परायणत्वमपि परमकारणत्वात्परमात्मन्येवोपपन्नतरम् । श्रुतिश्च भवति—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' (बृ० ३-९-२८) इति । अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वा, अनन्तं

ब्रह्मलिङ्गवाक्यसमन्वयोक्तेरपावं श्रुत्यादिसङ्गतयः । स्पष्टमत्र भाष्यम् । तेजःप्रभृतिषु वाय्वादेरपि कारणत्वादेवकारश्रुतिबाधः, सर्वश्रुतेश्चाकाशातिरिक्तविषयत्वेन सङ्कोचः स्यादित्याह—सत्यं दर्शितमिति । ब्रह्मणस्तु सर्वात्मकत्वात् 'तस्मादेव सर्वम्' इति श्रुतिर्युक्तेति भावः । तथा सर्वलयाधारत्वं, निरतिशयमहत्त्वं, स्थितावपि परमाश्रयत्वमित्येतानि स्पष्टानि ब्रह्मलिङ्गानीत्याह—तथा आकाशमित्यादिना । रातेर्धनस्य दातुः । रातिरिति पाठे बन्धुरित्यर्थः । लिङ्गान्तरमाह—अपि चेति ।

मुख्यार्थ भूताकाश अर्थ लेना जब सम्भव है, तब गौण ब्रह्म अर्थ क्यों करना ? यदि कहो 'निःसन्देह ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं' इत्यादि वाक्यशेष भूताकाश अर्थ मानने पर युक्तियुक्त नहीं होंगे, तो यह कोई दोष नहीं है क्योंकि वायु आदि क्रम से भूताकाश भी तो जगत् का कारण सिद्ध होता ही है। ऐसा ही 'उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि' इत्यादि वाक्यों में जाना जाता है। अन्य भूतों की अपेक्षा आकाश श्रेष्ठ है और उसका उत्कृष्ट स्थान भी युक्तियुक्त है । अतः आकाश शब्द से भूताकाश अर्थ ग्रहण करना उचित होगा ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि आकाश शब्द से यहाँ पर ब्रह्म अर्थ का ग्रहण करना युक्तियुक्त है क्योंकि 'ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं' यह परब्रह्म का ही ज्ञापक लिङ्ग है। परब्रह्म से ही भूतों की उत्पत्ति होती है, यह वेदान्त का सिद्धान्त है। यदि कहो कि भूताकाश भी वायु आदि क्रम से जगत् का कारण हम बतला आये हैं ? सचमुच में आप ने बतलाया तो है किन्तु मूलकारण ब्रह्म अर्थ माने बिना 'आकाशादेव' यह अवधारणार्थक 'एव' शब्द और 'सर्वाणि' यह भूतविशेषण अनुकूल नहीं पड़ता। ऐसा ही 'ये सभी आकाश में लीन होते हैं' यह ब्रह्मलिङ्ग है। 'आकाश इन सबसे बड़ा है, आकाश इनका उत्कृष्ट स्थान है' इन वाक्यों में

किञ्चिद्वक्तुकामेन जैवलिना आकाशः परिगृहीतः, तं चाकाशमुद्गीथे सम्पाद्योपसंहरति— 'स एव परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः'(छा० १-९-२) इति । तच्चानन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम् । यत्पुनरुक्तम्—भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतरं प्रतीयत इति । अत्र ब्रूमः—प्रथमतरं प्रतीतमपि सत् वाक्यशेषगतान्ब्रह्मगुणान्दृष्ट्वा न परिगृह्यते । दर्शितश्च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्दः— 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादौ । तथाऽऽकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः' (ऋ०सं० १-१६४-३९) 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता' (तै० ३-६)

दाल्भ्यशालावत्यौ ब्राह्मणौ राजा चेति त्रय उद्गीथविद्याकुशला विचारयामासुः—किमुद्गीथस्य परायणमिति । तत्र स्वर्गादागताभिरद्भिर्जीवितेन प्राणेन क्रियमाणोद्गीथस्य स्वर्ग एव परायणमिति दाल्भ्यपक्षमप्रतिष्ठादोषेण शालावत्यो निन्दित्वा स्वर्गस्यापि कर्मद्वारा हेतुरयं लोकः प्रतिष्ठेत्युवाच । तं शालावत्यस्य पक्षं 'अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम' (छा० १-८-८) इति राजा निन्दित्वाऽनन्तमेवाकाशं वक्ति । भूताकाशोक्तावन्तवत्त्वदोषताद्वस्थ्यादित्यर्थः । नन्वाकाशोऽनन्त इति न श्रुतमित्याशङ्क्याह—तं चेति । उद्गीथ आकाश एवेति सम्पादनादुद्गीथस्यानन्तत्वादिकं न स्वत इति भावः । स उद्गीथावयव ॐकारः, एष आकाशात्मकः, परः रसतमत्वादिगुणैरुत्कृष्टः । अतोऽक्षरान्तरेभ्यो वरीयान् श्रेष्ठ इत्यर्थः । पर इत्यव्ययं सकारान्तं वा, परः कृत्स्नमिति प्रयोगात् । परश्चासौ वरेभ्योऽतिशयेन वरः । परोवरीयानित्यर्थः । 'प्राथम्यात्, 'श्रुतत्वाच्चाकाशशब्दो बलीयानित्युक्तं स्मारयति—यत्पुनरिति । एवकारसर्वशब्दानुगृहीतानन्त्यादिबहुलिङ्गानामनुग्रहाय 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' इति न्यायेनैकस्याः श्रुतेर्बाधो युक्त इत्याह—अत्र ब्रूम इति । आकाशपदाद् भूतस्यैव प्रथमप्रतीतिरिति नियमो नास्तीत्यपिशब्देन द्योतितम् । तत्र युक्तिमाह—दर्शितश्चेति । आकाशपदाद्गौणार्थस्य ब्रह्मणोऽपि प्रथमप्रतीतिरस्ति, तस्य तत्पर्यायाणां च ब्रह्मणि प्रयोगप्राचुर्यादिति

ज्यायस्त्व और परायणत्व भी सुने गये हैं । निरपेक्ष ज्यायस्त्व केवल परमात्मा में ही कहा गया है 'वह परमात्मा पृथ्वी से बड़ा है, आकाश से बड़ा है, द्युलोक से बड़ा है और इन सभी लोकों से बड़ा है ।' वैसे ही परायणत्व भी परम कारण होने से परमात्मा में ही ठीक ठीक घटता है । 'ब्रह्म चेतन और आनन्दस्वरूप है वह सबको उचित फल देता है इसीलिए वह परायण है' ऐसी श्रुति भी है । इसके अतिरिक्त अन्य लोकों में अन्तवत्व दोष के कारण शालावत्य के पक्ष की निन्दा कर कुछ अनन्त तत्त्व को बतलाने की इच्छा से राजा जैवलि ने आकाश शब्द को ग्रहण किया है । उद्गीथ में आकाश दृष्टि सम्पादनकर उपसंहार भी देखा जाता है । 'वह उद्गीथ सबसे श्रेष्ठ है, वह अन्तरहित है' इस वाक्य द्वारा अनन्तता रूप ब्रह्मलिङ्ग का प्रदर्शन किया है ।

और जो आपने कहा था कि प्रसिद्धि के बल से सर्वप्रथम भूताकाश ही प्रतीत होता है? इस पर हम कहते हैं कि सर्वप्रथम भूताकाश की प्रतीति होने पर भी वाक्यशेषगत ब्रह्मगुणों को देखकर वह अर्थ नहीं लिया जायेगा और ब्रह्म अर्थ में भी आकाश शब्द का प्रयोग "निःसन्देह, नाम-रूप का निर्वाहक आकाश ही तो है' इन वाक्यों में दिखलाया हो गया है । इसके अतिरिक्त 'व्यापक, नित्य, कूटस्थ आकाश में वेद प्रमाणरूप से रहते हैं, जिस अक्षर में सम्पूर्ण विश्व अधिष्ठित है' 'वह भृगु से

---

१. आकाशपर्यायवाचिनामिति—आकाशपर्यायाणां वाचकानामित्यर्थः । २. सारः । ३. प्राथम्यात्—प्रथमोपस्थितत्वात् । ४. आकाश इति श्रुतेः ।

९. प्राणाधिकरणम् (सू० २३)

(२३) अत एव प्राणः ॥२३॥

मुखस्थो वायुरीशो वा प्राणः प्रस्तावदेवता। वायुर्मवेत्तत्र सुप्तौ भूतसारेन्द्रियक्षयात् ॥
सङ्कोचोऽक्षपरत्वे स्यात्सर्वभूतलयश्रुतेः। आकाशशब्दवत्प्राणशब्दस्तेनेशवाचकः ॥

'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४-१०-५) 'खं पुराणम्'(बृ० ५-१) इति चैवमादौ। वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्याकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा। 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' इति हि वाक्योपक्रमगतोऽप्यग्निशब्दो माणवकविषयो दृश्यते। तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥२२॥

उद्‌गीथे—'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'कतमा सा

भावः। अक्षरे कूटस्थे, व्योमन् व्योम्नि, ऋचो वेदाः सन्ति। प्रमाणत्वेन यस्मिन्नक्षरे विश्वे देवा अधिष्ठिता इत्यर्थः। ॐकारः कं सुखं ब्रह्म खं व्यापकमित्युपासीत। श्रुत्यन्तरप्रयोगमाह—खं पुराणमिति। व्याप्यनादि ब्रह्मेत्यर्थः। 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति छान्दोग्यम्, 'ॐ खं ब्रह्म खं पुराणम्' इति बृहदारण्यकमिति भेदः। किञ्च तत्रैव प्रथमानुसारेणोत्तरं नेयं, यत्र तन्नेतुं शक्यम्। यत्र त्वशक्यं तत्रोत्तरानुसारेण प्रथमं नेयमित्याह—वाक्येति। तस्मादुपास्ये ब्रह्मणि वाक्यं समन्वितमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥२२॥

आकाशवाक्योक्तन्यायं तदुत्तरवाक्येऽतिदिशति—अत एव प्राणः। उद्‌गीथप्रकरणमिति ज्ञापनार्थमुद्‌गीथ इति भाष्यपदम्। उद्‌गीथप्रकरणे श्रूयत इत्यन्वयः। कश्चिदृषिश्चाक्रायणः प्रस्तोतारमुवाच, हे प्रस्तोतः, या देवता प्रस्तावं सामभक्तिमनुगता ध्यानार्थं, तां चेदज्ञात्वा मम विदुषो

गृहीत, वरुण से उपदिष्ट विद्या परमाकाश में प्रतिष्ठित है' 'ब्रह्म सुखस्वरूप है और वह अपरिच्छिन्न आकाशरूप है' 'वही आकाश पहले भी नूतन ही था' इन सभी श्रुतियों में आकाश के पर्याय व्योम और खं शब्द का प्रयोग भी ब्रह्म में देखा जाता है। अतः वाक्यारम्भ में भी पढ़ा गया आकाश शब्द वाक्यशेष को देखते हुए ब्रह्मविषयक निश्चय करना ही उचित होगा। 'अग्नि अनुवाक पढ़ता है' इस वाक्यारम्भ में भी अग्नि शब्द बालक अर्थ में प्रयुक्त देखा जाता है। अत एव आकाश का अर्थ ब्रह्म है, यह सिद्ध हुआ ॥२२॥

९. प्राणाधिकरण

१. **सङ्गति**—अतिदेश होने के कारण यहाँ पर भी पूर्वोक्त प्रत्युदाहरण सङ्गति ही लेनी चाहिए।

२. **विषय**—**'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच'** (छा० १-११-४) यह छान्दोग्य श्रुति ही यहाँ पर विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—क्या यहाँ पर प्राण शब्द से ब्रह्म का उपदेश किया गया है अथवा मुखस्थ वायु का ?

४. **पूर्वपक्ष**—प्रस्ताव देवता के रूप में वायु का उपदेश ही यहाँ पर मानना उचित होगा क्योंकि सुषुप्ति में भूतों का सार इन्द्रियों का प्रलय प्रत्यक्षसिद्ध है और प्राण को, व्यापारयुक्त होने के कारण, जागृति प्रसिद्ध है।

५. **सिद्धान्त**—यदि वायु का अर्थ प्राण करोगे तो सर्वभूतलयश्रुति का सङ्कोच हो जायेगा।

देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छा० १-११-४, ५) इति । तत्र संशयनिर्णयौ पूर्ववदेव द्रष्टव्यौ । 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६-८-२) 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४-४-१८) इति चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, वायुविकारे तु प्रसिद्धतरो लोकवेदयोः, अत इह प्राणशब्देन कतरस्योपादानं युक्तमिति भवति संशयः । किं पुनरत्र युक्तम् ? वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तम् । तत्र हि प्रसिद्धतरः प्राणशब्द इत्यवोचाम । ननु पूर्ववदिहापि तल्लिङ्गाद्ब्रह्मण एव ग्रहणं युक्तम् । इहापि वाक्यशेषे भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म प्रतीयते । न । मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनस्य दर्शनात् । एवं ह्याम्नायते—'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि

निकटे प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते पतिष्यतीति । ततो भीतः सन् पप्रच्छ, कतमा सा देवतेति । उत्तरम्, प्राण इति । प्राणमभिलक्ष्य सम्यग्विशन्ति लीयन्ते, तमभिलक्ष्योज्जिहते उत्पद्यन्त इत्यर्थः । अतिदेशत्वात्पूर्ववत्संशयादि द्रष्टव्यमित्युक्तं विवृणोति—प्राणेति । मनउपाधिको जीवः प्राणेन ब्रह्मणा बध्यते सुषुप्तावेकीभवति । प्राणस्य वायोः प्राणं प्रेरकं तस्य सत्तास्फूर्तिप्रदमात्मानं ये विदुस्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः । पूर्वेण गतार्थत्वात्पृथक्सूत्रं व्यर्थमिति शङ्कते—ननु पूर्ववदिति । अधिकाशङ्कानिरासार्थमतिदेशसूत्रमिति मत्वा शङ्कामाह—न । मुख्येऽपीति । तर्हि तदा चक्षुरप्येतीत्येवंप्रकारेण

अतः सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय कारण होने से जैसे पूर्व अधिकरण में आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म किया गया था, वैसे ही यहाँ पर भी सर्वभूतलयश्रुति को देखते हुए प्राण शब्द परमात्मा अर्थ का ही वाचक होगा ।

अत एव प्राणः (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् की उद्गीथ विद्या में कहा है 'हे प्रस्तोता ! जो देवता प्रस्ताव में अनुगत हैं' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर 'वह कौन सा देवता है ?' इस प्रश्न के उत्तर में उषस्ति चाक्रायण ने कहा है कि 'वह देवता प्राण है, प्राण में ही सभी भूत प्रवेश करते हैं, और प्राण से ही निकलते हैं, बस यही देवता प्रस्ताव में अनुगत है' ऐसा सुना जाता है । वहाँ पर संशय और निर्णय पूर्व अधिकरण की भाँति ही समझना चाहिए, क्योंकि 'हे सोम्य ! निःसन्देह, मन प्राणबन्धनवाला है और उसे प्राण का भी प्राण जानो' इन श्रुतियों में प्राण शब्द ब्रह्मविषयक देखा गया है । किन्तु आध्यात्मिक वायु में भी लोक तथा वेद में प्राण शब्द अत्यन्त प्रसिद्ध है । अतः यहाँ पर प्राण शब्द से किसका ग्रहण करना उचित है ? ऐसा संशय होता है । तो फिर यहाँ क्या ग्रहण करना उचित होगा ? ऐसा एक तटस्थ पक्ष के पूछने पर पूर्वपक्ष का कहना है कि शरीर के भीतर वायु का जो पञ्चधा कार्य है उसी प्राण का ग्रहण करना यहाँ उचित होगा क्योंकि प्राण शब्द उसी अर्थ में सर्वाधिक प्रसिद्ध है ऐसा हम कह आये हैं ।

यदि कहो कि पूर्वाधिकरण की भाँति यहाँ भी ब्रह्मलिङ्ग होने के कारण ब्रह्म अर्थ का ग्रहण करना ही उचित है क्योंकि यहाँ पर भी वाक्यशेष में भूतों का प्रवेश और उद्गमन पारमेश्वर कर्म प्रतीत होता ही है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि मुख्य प्राण में भी भूतों का प्रवेश और उद्गमन देखा ही जाता है । इस प्रकार पाठ मिलता है "निःसन्देह, जब पुरुष सोता है तब प्राण में ही वाणी

वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' (शत० ब्रा० १०-३-३-६) इति । प्रत्यक्षं चैतत्स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानाया-मिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते, प्रबोधकाले च प्रादुर्भवन्तीति । इन्द्रियसारत्वाच्च भूतानाम-विरुद्धो मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेशनोद्गमनवादी वाक्यशेषः । अपि चादित्योऽन्नं चोद्गीथ-प्रतिहारयोर्देवते प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्यानन्तरं निर्दिश्येते । नच तयोर्ब्रह्मत्वमस्ति, तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वमित्येवं प्राप्ते सूत्रकार आह---'अत एव प्राणः' इति । 'तल्लिङ्गात्' इति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम् । अत एव तल्लिङ्गात्प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवितुमर्हति । प्राणस्यापि हि ब्रह्मलिङ्गसम्बन्धः श्रूयते---'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' (छा० १-११-५) इति । प्राणनिमित्तौ सर्वेषां भूतानामुत्पत्तिप्रलयावुच्यमानौ प्राणस्य ब्रह्मतां गमयतः । ननूक्तं मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेशनोद्गमनदर्शनमविरुद्धं, स्वापप्रबोधयोर्दर्शनादिति । अत्रोच्यते---स्वापप्रबोधयो-

---

सर्वत्र सम्बन्धः । नन्वत्रेन्द्रियाणां प्राणे लयोदयौ श्रूयेते, तावता महाभूतलयादिप्रतिपादकवाक्यशेषोप-पत्तिः कथमित्यत आह—इन्द्रियसारत्वादिति । ''स्यस्य ह्येष रसः' (बृ० २-३-५) इति श्रुतेः । इन्द्रियाणि लिङ्गात्मरूपाणि अपञ्चीकृतभूतानां साराणि तेषां लयाद्युक्त्या भूतानामपि प्राणे लयादिसिद्धेः वाक्य-शेषोपपत्तिरित्यर्थः । अब्रह्मसहपाठाच्च प्राणो न ब्रह्मेत्याह—अपि चेति । उद्गातृप्रतिहर्तृ स्यामुद्गीथे प्रतिहारे च का देवतेति पृष्टेन चाक्रायणेनादित्योऽन्नं च निर्दिश्येते । 'आदित्य इति होवाच' 'अन्न-मिति होवाच' इति श्रुतावित्यर्थः । सामान्यं सन्निधानम् । सन्निध्यनुगृहीतप्रथमश्रुतप्राणश्रुत्या मुख्य-

---

लीन हो जाती है, प्राण में ही चक्षु, श्रोत्र और मन भी लीन होते हैं और जब पुरुष जागता है तब प्राण से ही पुनः ये उत्पन्न होते हैं।' यह प्रत्यक्ष भी है कि निद्रावस्था में प्राण का व्यापार लुप्त न होने पर इन्द्रियों के व्यापार लुप्त हो जाते हैं और जागते ही पुनः इन्द्रियव्यापार होने लगते हैं। भूतों का सार इन्द्रियाँ हैं। अतः मुख्यप्राण अर्थ में भी भूतसंवेशन और उद्गमन बतलाने वाला वाक्यशेष विरुद्ध नहीं जाता। साथ ही, उद्गीथ का देवता आदित्य और प्रतिहार का देवता अन्न को बतलाने के बाद प्रस्ताव के देवता का निर्देश मिलता है, जिसे प्राण कहा गया है। जब उद्गीथ का देवता आदित्य और प्रतिहार का देवता अन्न ब्रह्म नहीं है तो उसके समान ही प्राण में भी ब्रह्मत्व नहीं है, ऐसा मानना ही उचित होगा ?

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सूत्रकार भगवान् बादरायण ने कहा है **'अत एव प्राणः'** इति। पूर्वसूत्र में **'तल्लिङ्गात्'** यह पद निर्दिष्ट है, उसी का संकेत **'अत एव'** पद से किया गया है अर्थात् ब्रह्मलिङ्ग को देखते हुए प्राण शब्द को भी परब्रह्म अर्थ का ही बोधक मानना चाहिए, क्योंकि भूत उत्पत्ति और विलय ब्रह्मलिङ्ग है, जिसका सम्बन्ध प्राण में भी सुना जाता है। 'निःसन्देह, ये सभी भूत प्राण में ही प्रवेश करते हैं और प्राण से ही उत्पन्न होते हैं' इस प्रकार सभी भूतों की उत्पत्ति और विलय प्राण के निमित्त से कहे गये हैं, ये लिङ्ग प्राण में ब्रह्मता का बोध कराते हैं। और जो आपने कहा था कि मुख्यप्राण अर्थ लेने पर भी भूतों का संवेशन और उद्गमन दर्शन विरुद्ध नहीं है क्योंकि

---

१. अमूर्तस्य।

रिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते, न सर्वेषां भूतानाम् । इह तु सेन्द्रियाणां सशरीराणां च जीवाविष्टानां भूतानाम्, 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इति श्रुतेः । यदापि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिगृह्यते तदापि ब्रह्मलिङ्गत्वमविरुद्धम् । ननु सहापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबोधयोः प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदेनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' (कौ० ३-३) इति । तत्रापि तल्लिङ्गात्प्राणशब्दं ब्रह्मैव । यत्पुनरन्नादित्यसंनिधानात्प्राणस्याब्रह्मत्वमिति, तदयुक्तम् । वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां संनिधानस्याकिञ्चित्करत्वात् । यत्पुनः प्राणशब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्धतरत्वम्,

---

प्राणनिर्णये तद्दृष्टया प्रस्तावोपास्तिरिति पूर्वपक्षफलं, सिद्धान्ते ब्रह्मदृष्टिरूपोपास्तिः । अस्याधिकरणस्यातिदेशत्वमेव पूर्वेण सङ्गतिरिति विभागः । भवन्तीति भूतानीति व्युत्पत्त्या यत्किञ्चिद्भवनधर्मकं कार्यमात्रं, तस्य लयोदयौ वायुविकारे प्राणे न युक्तावित्युक्त्वा भूतशब्दस्य रूढार्थग्रहेऽपि लयादेर्ब्रह्मनिर्णायकत्वमित्याह—यदापीति । भौतिकप्राणस्य भूतयोनित्वायोगादित्यर्थः । तस्य तद्योनित्वं श्रुत्या शङ्कते—नन्विति । अथ यदा सुषुप्तो जीवः प्राणे ब्रह्मण्येकीभवति तदा एनं प्राणं सविषयवागादयोऽपियन्तीत्यर्थः । अत्र 'जीवाभिन्नत्वे सर्वलयाधारत्वलिङ्गान्न मुख्यः प्राण इत्याह—तत्रापीति । वाक्यान्तरसन्निध्यपेक्षया स्ववाक्यगतं लिङ्गं बलीय इत्याह—तदयुक्तमिति । एकवाक्यत्वं वाक्यशेषः, तस्य बलं तद्गतं लिङ्गं तेनेत्यर्थः । प्राणमेवेत्यवधारणेन सर्वभूतप्रकृतित्वलिङ्गेन च

निद्रा और जागरण में वैसा ही देखा गया है, तो इसका उत्तर सुन लीजिए कि निद्रा और जागरण में केवल इन्द्रियों का ही प्राण में प्रवेश और उद्गमन देखा जाता है न कि सभी भूतों का । यहां पर तो इन्द्रिय और शरीर के सहित जीव में आविष्ट भूतों का संवेशन-उद्गमन सुना जाता है । यथा '**सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि**' ऐसी श्रुति है । कदाचित् भूत शब्द का अर्थ महाभूत लिया जाय तो भी ब्रह्मलिङ्गत्व विरुद्ध नहीं पड़ता, क्योंकि आकाशादि सभी भूतों का उद्भव ब्रह्म से होता है और विलय भी ब्रह्म में होता है । पूर्वपक्ष—नहीं-नहीं, विषयों के सहित इन्द्रियों का भी निद्रावस्था में प्राण में विलय और जाग्रदवस्था में प्राण से ही उत्पत्ति हम सुनते ही हैं—'जब सोया हुआ पुरुष किसी स्वप्न को नहीं देखता, तब इस प्राण में ही अभिन्न हो जाता है, इस समय सभी वाचक नाम के साथ वाणी प्राण में लीन हो जाती है ।' सिद्धान्त—वहाँ पर भी ब्रह्मलिङ्ग ही समझना चाहिए जिससे प्राण शब्द ब्रह्म अर्थ का ही बोधक है । और जो आपने कहा था कि अन्न एवं आदित्य के सन्निधान से प्राण शब्द ब्रह्म अर्थ का बोधक नहीं है, तो ऐसा कहना असङ्गत है क्योंकि वाक्यशेष के बल से प्राण शब्द में जब ब्रह्मविषयता प्रतीत होती है तो सन्निधान उसकी अपेक्षा दुर्बल प्रमाण है, वह अकिञ्चित्कर है । और जो आप ने शरीर के भीतर प्राणापानादि पञ्चधा व्यापार में प्राण शब्द को प्रसिद्ध कहा, उसका समाधान तो आकाश शब्द की भाँति हो कर लेना चाहिए । अर्थात् जिस प्रकार आकाश शब्द भूताकाश अर्थ में प्रसिद्ध रहने पर भी भूतों की उत्पत्ति और विलयरूप लिङ्ग को देखते हुए आकाश का अर्थ ब्रह्म किया गया था वैसे ही ब्रह्मलिङ्ग को देखते हुए प्राण शब्द का

---

१. जीवाभिन्नत्व इति—जीवाभिन्नत्वे ब्रह्मलिङ्गे विद्यमाने तत्सहितात्सर्वलयाधारत्वलिङ्गाद्ब्रह्मैव न मुख्यः प्राण इत्यर्थः । जीवस्याभिन्नत्वं ब्रह्मणाऽभेदो जीवाभिन्नत्वम् ।

तदाकाशशब्दस्येव प्रतिविधेयम् । तस्मात्सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम् ।

अत्र केचिदुदाहरन्ति—'प्राणस्य प्राणम्' 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति च । तदयुक्तम् । शब्दभेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तेः । यथा पितुः पितेति प्रयोगेऽन्यः पिता षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्यः प्रथमानिर्दिष्टः 'पितुः पितेति गम्यते, तद्वत् 'प्राणस्य प्राणम्' इति शब्दभेदात्प्रसिद्धात्प्राणादन्यः प्राणस्य प्राण इति निश्चीयते । नहि स एव तस्येति भेदनिर्देशार्हो भवति । यस्य च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामान्तरेणापि स एव तत्र प्रकरणी निर्दिष्ट इति गम्यते । यथा ज्योतिष्टोमाधिकारे–'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति श्रुतः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत् । अतः संशया-विषयत्वान्नैतदुदाहरणं युक्तम् । प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संशयपूर्वपक्षनिर्णया उप-पादिताः ॥२३॥

प्राणपदेन तत्कारणं ब्रह्म लक्ष्यमित्याह—तदाकाशशब्दस्येवेति ।

वृत्तिकृतामुदाहरणं संशयाभावेनायुक्तमित्याह–अत्रेत्यादिना । **शब्दभेदमुक्त्वा प्रकरणं प्रपञ्चयति** —यस्य चेति ॥२३॥

अर्थ भी ब्रह्म ही लेना चाहिए, प्राणापानादि व्यापारवाला आध्यात्मिक वायु अर्थ नहीं लेना चाहिए । अतः यह सिद्ध हो गया कि प्रस्ताव का देवता प्राण ब्रह्म ही है ।

यहाँ पर कुछ वृत्तिकार ने उदाहरण दिया है कि इस अधिकरण का विषय **'प्राणस्य प्राणम्' 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'** यह श्रुति होनी चाहिए किन्तु संशयाभाव होने के कारण और प्रकरण को देखते हुए भी वृत्तिकार का कथन असंगत जान पड़ता है। एक प्राण शब्द षष्ठयन्त है और दूसरा द्वितीयान्त है। षष्ठयन्त प्राण शब्द आध्यात्मिक वायु अर्थ का वाचक है और द्वितीयान्त प्राण शब्द ब्रह्म अर्थ का वाचक है । जिस प्रकार **'पितुः, पिता'** इस प्रयोग में षष्ठीनिर्दिष्ट पितृ शब्द से प्रथमानिर्दिष्ट पितृ शब्द पृथक् है, वैसे ही षष्ठयन्त प्राण शब्द से द्वितीयान्त प्राण शब्द भिन्न है । प्रसिद्ध शब्दभेद को देखते हुए प्रसिद्ध प्राण से भिन्न प्राण शब्द ब्रह्म अर्थ का ही बोधक है, यह निश्चय होता है क्योंकि भेद और सम्बन्ध दो में हुआ करता है, एक में नहीं । साथ ही, जिसके प्रकरण में जो नामान्तर से भी निर्दिष्ट हो, तो वहाँ प्रकरणगत अर्थ ही निर्दिष्ट समझना चाहिए । ब्रह्म का प्रकरण था, उस प्रकरण में यदि प्राण शब्द से निर्देश किया गया हो तो ब्रह्म अर्थ ही समझना युक्तियुक्त है । जैसे ज्योतिष्टोम याग के अधिकार में 'वसन्त वसन्त में ज्योति के द्वारा इष्ट की भावना करे' इस वाक्य में ज्योति शब्द ज्योतिष्टोम याग अर्थ का बोधक होता है, वैसे ही परब्रह्म के प्रकरण में **'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'** इस श्रुति से प्राण शब्द द्वारा ब्रह्म अर्थ का बोध होगा, वायुविकारमात्र का बोध कैसे हो सकता है । अतः वृत्तिकार द्वारा उदाहृत श्रुतिवाक्य जब संशय का ही विषय नहीं है, तब इस अधिकरण का विचारणीय विषय कहना युक्तियुक्त नहीं है। तथा प्रस्तावदेवता प्राण में संशय होता है, तत्पश्चात् पूर्वपक्ष और निर्णय जो युक्तिसंगत

---

१. पितुरितिषष्ठीनिर्दिष्टः पितेतिप्रथमानिर्दिष्ट इत्यन्वयः ।

१०. ज्योतिश्चरणाधिकरणम् (सू० २४-२७)

(२४) ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

कार्यं ज्योतिरुत ब्रह्म ज्योतिर्दीप्यत इत्यदः। ब्रह्मणोऽसन्निधेः कार्यं तेजो लिङ्गबलादपि ।।
चतुष्पात्प्रकृतं ब्रह्म यच्छब्देनानुवर्त्यते। ज्योतिः स्याद्भासकं ब्रह्म लिङ्गन्तूपाधियोगतः ।।

इदमामनन्ति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' (छा० ३-१३-७) इति। तत्र संशयः—किमिह ज्योतिःशब्देनादित्यादि ज्योतिरभिधीयते किंवा परमात्मेति।

ज्योतिश्चरणाभिधानात्। **छान्दोग्यमेवोदाहरति**—इदमिति। **गायत्र्युपाधिकब्रह्मोपास्त्यानन्तर्यार्थोऽथशब्दः। अतो दिवो द्युलोकात्परः परस्ताद्यज्ज्योतिर्दीप्यते तद्यदिदमिति जाठराग्नावध्यस्यते। कुत्र दीप्यते ? तत्राह**—विश्वत इति। **विश्वस्मात्प्राणिवर्गादुपरि सर्वस्माद् भूरादिलोकादुपरि ये लोकास्तेषूत्तमेषु न विद्यन्ते उत्तमा येभ्य इत्यनुत्तमेषु सर्वसंसारमण्डलातीतं परं ज्योतिरिदमेव, यद्देहस्थ-**

थे, उन सभी का उपपादन कर दिया गया है। इसलिए वह छान्दोग्य श्रुति ही इस अधिकरण का विचारणीय विषय है, वृत्तिकार को अभिमत श्रुति विचारणीय विषय नहीं है ॥२३॥

१०. ज्योतिश्चरणाधिकरण

१. **संगति**—पूर्व अधिकरण में ब्रह्मलिङ्ग के सद्भाव से जैसे प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म किया था, वैसा यहाँ पर ब्रह्मलिङ्ग नहीं है जिससे कि ज्योति शब्द का अर्थ ब्रह्म कर सकें, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति है।

२. **विषय**—'**अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते, विश्वतः पृष्ठेषु**' (छा० ३।१३।७) इत्यादि वाक्य यहाँ पर विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—क्या ज्योति शब्द आदित्यादि का वाचक है अथवा ब्रह्मपरक है ?

४ **पूर्वपक्ष**—ब्रह्म की सन्निधि न होने के कारण कार्यरूप तेज ही ज्योति शब्द का अर्थ यहाँ पर करना चाहिए। वाक्यप्रमाण से लिङ्गप्रमाण बलवान होता है, इसलिए भी ज्योति शब्द का अर्थ कार्यज्योति करना उचित है।

५. **सिद्धान्त**—ज्योति शब्द का अर्थ परब्रह्म लेना उचित है क्योंकि इस वाक्य में उसके चार पाद कहे गये हैं। प्रकाशक को बहुधा ज्योति शब्द से सम्बोधित भी करते हैं, इसलिए चतुष्पात्-प्रकरणागत ब्रह्म के लिए ही '**यत्**' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रदेशविशेष ब्रह्म में औपाधिक हो ही सकता है, अधिकरण निर्देश भी उपासना के लिए उचित ही है। अतः '**ज्योतिर्दीप्यते**' इस वाक्य में भी ब्रह्म का सुस्पष्ट उल्लेख किया गया है।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् में ऐसा कहते हैं कि 'जो इस द्युलोक से परे ज्योति है, सम्पूर्ण विश्व के पृष्ठभाग में देदीप्यमान हो रहा है जिन लोकों से उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है ऐसे सभी लोकों में है और जो यह पुरुष के भीतर है' इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि इस श्रुति में '**ज्योतिः**' शब्द से आदित्यादि ज्योति कही जाती है अथवा परमात्मा कहा जाता है ? इस प्रकरण को पूर्व अधिकरण

अर्थान्तरविषयस्यापि शब्दस्य तल्लिङ्गाद्ब्रह्मविषयत्वमुक्तम् । इह तु तल्लिङ्गमेवास्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? आदित्यादिकमेव ज्योतिःशब्देन परिगृह्यत इति । कुतः ? प्रसिद्धेः । तमो ज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्विविषयौ प्रसिद्धौ । चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं शार्वरादिकं तम उच्यते । तस्या एवानुग्राहकमादित्यादिकं ज्योतिः । तथा 'दीप्यते' इतीयमपि श्रुतिरादित्यादिविषया प्रसिद्धा । नहि रूपादिहीनं ब्रह्म 'दीप्यते' इति मुख्यां [1]श्रुतिमर्हति । द्युमर्यादत्वश्रुतेश्च । नहि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा युक्ता । कार्यस्य तु ज्योतिषः परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा स्यात् । 'परो दिवो ज्योतिः' इति च ब्राह्मणम् । ननु कार्यस्यापि ज्योतिषः सर्वत्र गम्यमानत्वाद्द्युमर्यादावत्त्वमसमञ्जसम् । अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम् । न, अत्रिवृत्कृतस्य तेजसः

मित्यर्थः । अस्य पूर्वेणागतार्थत्वं वदन्प्रत्युदाहरणसङ्गतिमाह— अर्थान्तरेति । अत्र स्ववाक्ये स्पष्टब्रह्मलिङ्गाभावेऽपि 'पादोऽस्य' इति पूर्ववाक्ये भूतपादत्वं लिङ्गमस्तीति पादसङ्गतिः । पूर्वोत्तरपक्षयोर्जडब्रह्मज्योतिषोरुपास्तिः फलमिति भेदः । नन्वज्ञानतमोविरोधित्वाद् ब्रह्मापि ज्योतिःपदशक्यतया प्रसिद्धमस्ति, नेत्याह—चक्षुरिति । शर्वर्यां रात्रौ भवं शार्वरं नीलमिति यावत् । अनेनावरकत्वाद्रूपवत्त्वाच्च कुड्यवद्भावरूपं तम इत्यर्थादुक्तं भवति । ज्योतिःश्रुतेरनुग्राहकलिङ्गान्याह—तथेत्यादिना । भास्वररूपात्मिका दीप्तिस्तेजस एव लिङ्गमित्याह—न हीति । मास्तु मर्यादेत्याशङ्क्य श्रुतत्वान्मैवमित्याह —परो दिव इति । मर्यादां ब्रूत इति शेषः । ब्रह्मवत् कार्यस्यापि मर्यादाऽयोगान्निरर्थकं ब्राह्मणमिति कश्चिदाक्षिपति—नन्विति । [2]एकदेशी ब्रूते—अस्त्विति । सर्गादौ जातं किञ्चिदतीन्द्रियं तेजो दिवः परस्तादस्ति, श्रुतिप्रामाण्यादित्यर्थः । अध्ययनविध्युपात्तश्रुतेर्निष्फलं वस्तु नार्थ इत्याक्षिप्य ब्रूते—नेति ।

से गतार्थ नहीं कह सकते क्योंकि अर्थान्तरविषयक शब्द भी, ब्रह्मलिङ्ग को देखकर, ब्रह्मवाचक माना गया था । पर यहाँ ब्रह्मलिङ्ग है या नहीं है, इसी का विचार करना है । अतः पूर्व अधिकरण से इस अधिकरण के विषय को गतार्थ नहीं कह सकते ।

अच्छा तो फिर आप क्या मानते हैं ? इस पर पूर्वपक्षी ने कहा कि ज्योतिः शब्द से आदित्यादि ज्योति का ही ग्रहण होता है क्योंकि इसी अर्थ में ज्योतिः शब्द को प्रसिद्धि है । तम और ज्योति ऐसे दोनों शब्द परस्पर विरुद्धविषय में प्रसिद्ध हैं । नेत्रवृत्ति का निरोधक, रात्रि के समय सुस्पष्टरूप से भासनेवाला तम कहा जाता है और जो चक्षुवृत्ति के ही अनुग्राहक आदित्यादि हैं उन्हें ज्योति शब्द से कहा जाता है । इतना ही नहीं, प्रत्युत **'दीप्यते'** यह श्रुति भी आदित्यादि विषय में ही प्रसिद्ध है, रूपादि से रहित नीरूप ब्रह्म को **'दीप्यते'** यह शब्द शक्तिवृत्ति से नहीं बतला सकता । साथ ही, द्युलोक की सीमा भी कही गयी है । चराचर जगत् के मूलकारण सर्वात्मक ब्रह्म को द्युलोक से परे बतलाना युक्ति-संगत नहीं है किन्तु कार्यज्योति जो परिच्छिन्न है उसके लिए तो द्युलोक से परे की सीमा कही ही जा सकती है, इसीलिए तो **'परो दिवो ज्योतिः'** ऐसा ब्राह्मण वचन है ।

पूर्वपक्षी का एकदेशी कहता है कि कार्यज्योति भी तो सर्वत्र दिखायी पड़ती है, उसे भी द्युलोक से परे की सीमा बतलाना असङ्गत ही है । पूर्वपक्षी—तब तो अत्रिवृत्कृत् प्रथम उत्पन्न हुआ तेज

१. शक्तिम् । २. पूर्वपक्षिण एकदेशीत्यर्थः ।

प्रयोजनाभावादिति । 'इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति चेत् । न, प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरुपास्यत्वदर्शनात् । "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६-३-३) इति चाविशेषश्रुतेः । न चात्रिवृत्कृतस्यापि तेजसो द्युमर्यादत्वं प्रसिद्धम् । अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योतिःशब्दम् । ननूक्तमर्वागपि दिवोऽवगम्यतेऽग्न्यादिकं ज्योतिरिति । नैष दोषः । सर्वत्रापि गम्यमानस्य ज्योतिषः 'परो दिवः' इत्युपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते । नतु निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना भागिनी । 'सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु' इति चाधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्योतिष्युपपद्यतेतराम् । 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३-१३-७) इति च कौक्षेये ज्योतिषि परं ज्योतिरध्यस्यमानं दृश्यते । सारूप्यनिमित्ताश्चाध्यासा भवन्ति । यथा— 'तस्य भूरिति

ध्यानं फलमित्याशङ्क्य निष्फलस्य क्वापि ध्यानं नास्तीत्याह—इदमेवेत्यादिना । प्रयोजनान्तरं तमोनाशादिकम् । अत्रिवृत्कृतं तेजोऽङ्गीकृत्याफलत्वमुक्त्वा तदेव नास्तीत्याह—तासामिति । तेजोऽबन्नानां देवतानामेकैकं द्विधा विभज्य पुनश्चैकैकं भागं द्वेधा कृत्वा स्वभागादितरभागयोर्निक्षिप्य तन्त्रिगुणरज्जुवत्त्रिवृतं करवाणीत्यविशेषोक्तेर्नास्त्यत्रिवृत्कृतं किञ्चिदित्यर्थः । किञ्चात्र 'यदतः परः' इति यच्छब्देनान्यतः प्रसिद्धं द्युमर्यादत्वं ध्यानायानूद्यते । न चात्रिवृत्कृतस्य तस्य तत्त्वचित्प्रसिद्धमित्याह—न चेति । एकदेशिमते निरस्ते साक्षात्पूर्वपक्षी ब्रूते—अस्तु तर्हीति । प्रदेशविशेषः दिवः परस्ताद्दीप्यमानः सूर्यादितेजोऽवयवविशेषः, तस्य परिग्रह उपासनार्थो न विरुध्यत इत्यन्वयः । स एव कौक्षेये ज्योतिषि उपास्यते । तस्यापि तेजस्त्वादिति भावः । ब्रह्मणोऽपि ध्यानार्थं प्रदेशस्थत्वं कल्प्यतां, नेत्याह—नत्विति । निष्प्रदेशस्य निरवयवस्य विशेषेऽपि दिवः परस्ताद्दीप्यमानब्रह्मावयवकल्पना भागिनी युक्ता न त्वित्यन्वयः । अप्रामाणिकगौरवापातादिति भावः । ततः किं, तत्राह—सारूप्येति । यथा एकत्वसाम्याद् भूरितिव्याहृतौ 'प्रजापतेः शिरोदृष्टिः श्रुता, तथा जाठराग्नावब्रह्मत्वं

ही ज्योतिपदवाच्य मानना चाहिए। एकदेशी—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अत्रिवृत्कृत् तेज का कोई प्रयोजन नहीं है। दूसरा एकदेशी कहता है कि अत्रिवृत्कृत् तेज का यही प्रयोजन है कि वह उपास्य माना जाय। पूर्वपक्षी—ऐसा कहना भी ठीक नहीं। प्रयोजनान्तर के लिए प्रयोग किये गये आदित्यादि में भी उपास्यत्व देखा जाता है और सभी भूतों का त्रिवृत्करण 'तेज, जल और पृथ्वी इन तीनों में से एक एक का भी त्रिवृत्करण मैं करूँ' ऐसा अविशेषरूप से सुना जाता है। साथ ही, अत्रिवृत्कृत् तेज को भी द्युलोक की सीमा बतलाना प्रसिद्ध नहीं है।

एकदेशी मत का खण्डन हो जाने पर साक्षात् पूर्वपक्षी कहता है कि तब तो त्रिवृत्कृत् तेज को ही ज्योतिशब्दवाच्य मानना चाहिए। यह कहना ठीक नहीं क्योंकि कहा जा चुका है कि द्युलोक से नीचे भी त्रिवृत्कृत् अग्न्यादि ज्योति हैं ही। पूर्वपक्षी—यह कोई दोष नहीं है। सर्वत्र जाने गये ज्योति का भी 'द्युलोक से परे' उपासना के लिए प्रदेशविशेष का ग्रहण करना कोई विरुद्ध नहीं है, किन्तु प्रदेशरहित ब्रह्म को प्रदेश-विशेष की कल्पना मानना ठीक नहीं। सभी के पृष्ठभाग में और अति उत्तम लोक में' इस वाक्य द्वारा अनेक आधार श्रुति बतला रही है, जो कार्यज्योति में ही युक्तिसङ्गत है। 'इस पुरुष के भीतर वही ज्योति है' इस वाक्य के द्वारा कुक्षि में विद्यमान ज्योति में परज्योति का

---

१. एकदेशी आक्षेप्ता । २. आक्षेप्तैवाह । ३. श्रुत्यन्तरात् । ४. विराजः ।

शिर एकं शिर एकमेतदक्षरम्' (बृ०५-५-३) इति। कौक्षेयस्य तु ज्योतिषः प्रसिद्धमब्रह्मत्वम्। 'तस्यैषा दृष्टिः' (छा०३-१३-७) 'तस्यैषा श्रुतिः' (छा० ३-१३-८) इति चौष्ण्यघोषविशिष्टत्वस्य श्रवणात्। 'तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' (छा० ३-१३-८) इति च श्रुतेः। 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद' (छा० ३-१३-८) इति चाल्पफलश्रवणादब्रह्मत्वं, महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते। न चान्यदपि किञ्चित्स्ववाक्ये प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मलिङ्गम्। नच पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टमस्ति, 'गायत्री वा इद ँ सर्वं भूतम्' (छा०३-१२-१) इति छन्दोनिर्देशात्। अथापि कथंचित्पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टं स्यादेवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति। तत्र हि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा०३-१२-६) इति द्यौरधिकरणत्वेन श्रूयते। अत्र पुनः 'परो दिवो ज्योतिः' इति द्यौर्मर्यादात्वेन। तस्मात्प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्यमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम्। कुतः? चरणाभिधानात्, पादाभिधानादित्यर्थः। पूर्वस्मिन्हि वाक्ये चतुष्पाद्-

---

घोषादिश्रुत्या प्रसिद्धमिति जडज्योतिष्ट्वं साम्यं वाच्यमित्यर्थः। यद्देहस्पर्शनेनौष्ण्यज्ञानं प्रसिद्धं सैषा तस्य जाठराग्नेर्दृष्टिः, यत्कर्णपिधानेन घोषश्रवणं, सैषा तस्य श्रुतिरित्यर्थः। ज्योतिषो जडत्वे लिङ्गान्तरमाह—तदेतदिति। ज्योतिरित्यर्थः। चक्षुष्यश्चक्षुर्हितः सुन्दरः, श्रुतो विख्यातः। न चान्यदपीति। ब्रह्मलिङ्गमपि किञ्चिदन्यन्नास्तीत्यन्वयः। ननु 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति पूर्ववाक्योक्तं ब्रह्मात्र ज्योतिःपदेन गृह्यतामित्याशङ्क्याह—न चेति। ननु सर्वात्मकत्वामृतत्वाभ्यां ब्रह्मोक्तमित्यत आह—अथापीति। कथंचिच्छन्दोद्वारेत्यर्थः। दिवि दिवः इति विभक्तिभेदान्न प्रत्यभिज्ञेत्यर्थः। प्रकृतेर्जातं प्राकृतं, कार्यमित्यर्थः। आचारं निरस्यति—पादेति। 'गायत्री वा

ध्यानार्थ अध्यास देखा गया है क्योंकि अध्यास के लिए आधार और अध्यस्यमान में समानरूपता का होना अभीष्ट है। जैसे 'उस विराट् का भूः यह व्याहृति शिर है, शिर एक होता है और यह अक्षर भी एक है।' किन्तु कौक्षेय ज्योति में अब्रह्मत्व प्रसिद्ध है अर्थात् वह व्यापक नहीं है, 'उसकी यह दृष्टि और उसकी यह श्रुति है' इस वाक्य के द्वारा औष्ण्य एवं घोषविशिष्टत्व सुना जाता है। कान में उगली डालकर कौक्षेयज्योति का घोष सुना जाता है और हाथ से जीवित व्यक्ति के शरीर का स्पर्श करने पर उसमें औष्ण्य देखा जाता है। 'उस तेज की उपासना **दृष्टम्** और **श्रुतम्** रूप से करे' ऐसी श्रुति है, जिस उपासना का फल है 'उपासक अत्यन्त सुन्दर और विश्वविख्यात हो जाता है, जो इसकी उपासना इस रूप में करता है।' इस प्रकार परिच्छिन्न फल सुने जाने के कारण कौक्षेयज्योति में ब्रह्मत्व प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि ब्रह्म उपासना का फल तो महान होता है। इसके अतिरिक्त ज्योति वाक्य में प्राण और आकाश की भाँति ज्योति शब्द के अर्थनिर्णय के लिए अन्य कोई भी ब्रह्मलिङ्ग नहीं दिखायी पड़ता और इससे पूर्ववाक्य में भी ब्रह्म का निर्देश नहीं है, वहाँ पर तो 'यह सम्पूर्ण भूत गायत्र स्वरूप है' ऐसा गायत्री छन्द का निर्देश है, ब्रह्म का नहीं। कथंचित् छन्द द्वारा पूर्ववाक्य में ब्रह्म का निर्देश मान भी लिया जाय फिर भी उसकी यहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं होती क्योंकि '**त्रिपादस्यामृतं दिवि**' इस वाक्य द्वारा द्युलोक को अधिकरण कहा गया है और यहाँ पर '**परो दिवो ज्योतिः**' द्युलोक को मर्यादारूप में बतलाया है। अतः प्राकृत ज्योति का ही इस प्रसङ्ग में ग्रहण करना उचित होगा।

ब्रह्म निर्दिष्टम्—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३-१२-६) इत्यनेन मन्त्रेण। तत्र यच्चतुष्पदो ब्रह्मणस्त्रिपादमृतं द्युसम्बन्धिरूपं निर्दिष्टं तदेवेह द्युसम्बन्धान्निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञायते। तत्परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम्। न केवलं ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म। तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्। यत्तूक्तम्—'ज्योतिर्दीप्यते' इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योतिषि प्रसिद्धाविति। नायं दोषः। प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्यनयोः शब्दयोरविशेषकत्वात्। दीप्यमान-

इदं सर्वं भूतम्' 'वाग्वै गायत्री' (छा० ३-१२-१) 'येयं पृथिवी' (छा० ३-१२-२) 'यदिदं शरीरम्' (छा० ३-१२-३) 'यदस्मिन्पुरुषे हृदयम्' 'इमे प्राणाः' (छा० ३-१२-४) इति भूतवाक्पृथिवीशरीरहृदयप्राणात्मिका षड्विधा 'षड्भिरक्षरैश्चतुष्पदा गायत्रीति[1] यदुक्तं तावान् तत्परिमाणः सर्वः प्रपञ्चोऽस्य गायत्र्यनुगतस्य ब्रह्मणो महिमा बिभूतिः, पुरुषस्तु पूर्णब्रह्मरूपः, अतः प्रपञ्चाज्ज्यायानधिकः। आधिक्यमेवाह—पाद इति। सर्वं जगदेकः पादोंऽशः 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ० गी० १०-४२) इति स्मृतेः। अस्य पुरुषस्य दिवि स्वप्रकाशस्वरूपे त्रिपादमृतं रूपमस्ति, दिवि सूर्यमण्डले वा ध्यानार्थमस्ति, कल्पिताज्जगतो ब्रह्मस्वरूपमनन्तमस्तीत्यर्थः। यथा लोके पादात्पादत्रयमधिकं तथेदमधिकमिति बोधनार्थं त्रिपादमृतमित्युक्तं, न त्रिपादत्वं विवक्षितमिति मन्तव्यम्। 'यदतः परः' इति यच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थवाचित्वात्पूर्ववाक्यप्रसिद्धं ब्रह्म ग्राह्यमित्याह—तत्रेति। ननु 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यत्र यत्पदस्याप्रकृतार्थकत्वं दृष्टमित्यत आह—तत्परित्यज्येति। तत्र यागस्यान्यतः प्रसिद्धेरभावेनापूर्वत्वादगत्या यदोऽप्रसिद्धार्थत्वमाश्रितम्। इह तु पूर्ववाक्यप्रसिद्धस्य ब्रह्मणो द्युसम्बन्धेन प्रत्यभिज्ञातस्य यदर्थत्वनिश्चयाद्यत्पदैकार्थकज्योतिःपदस्यापि स एवार्थ इत्यर्थः। संदंशन्यायादप्येवमित्याह—न केवलमिति। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३-१४-१) इत्युत्तरत्र ब्रह्मानुवृत्तेर्मध्यस्थं ज्योतिर्वाक्यं ब्रह्मपरमित्यर्थः। प्रकरणादिति। प्रकृतापेक्षयत्पदश्रुत्या द्युसम्बन्धभूतपादत्वादिलिङ्गैश्चेत्यर्थः। अतः प्रकरणाज्ज्योतिःश्रुतिबाधो न युक्त इति निरस्तम्। अविशेषकत्वादिति। **ब्रह्मव्यावर्तकत्वाभावादित्यर्थः। येन तेजसा चैतन्येनेद्धः प्रकाशितः सूर्यस्तपति**

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं—यहाँ पर ज्योति शब्द का ब्रह्म अर्थ लेना चाहिए क्योंकि पूर्ववाक्य में 'उतनी तो इस पुरुष की महिमा है, वह पुरुष तो इससे भी बड़ा है, इसके एक पाद में सभी भूत हैं और इसके तीन पाद द्युलोक में अमृतस्वरूप हैं' इस मन्त्र द्वारा चतुष्पाद् ब्रह्म का निर्देश किया गया है। इनमें से चतुष्पाद् ब्रह्म के त्रिपाद् द्युलोक से सम्बन्धित अविनाशी बतलाये गये हैं, वही यहाँ पर भी द्युलोक के सम्बन्ध से निर्दिष्ट है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। उस अर्थ को छोड़कर प्राकृत ज्योति की कल्पना करने वाले के पक्ष में प्रकृत की हानि और अप्रकृत की प्रक्रिया का प्रसंग आने लग जायेगा। केवल पूर्ववाक्य से ज्योतिर्वाक्य में ही ब्रह्म की अनुवृत्ति नहीं होती है, अपितु आगे बतलायी गयी शाण्डिल्यविद्या में भी ब्रह्म का अनुवर्तन होगा। अतः यहां पर ज्योति शब्द से ब्रह्म अर्थ को ही समझना चाहिए।

और जो आप ने कहा था कि **'ज्योतिर्दीप्यते'** ये दोनों **'ज्योतिः'** और **'दीप्यते'** शब्द कार्यज्योति अर्थ में ही प्रसिद्ध हैं, ब्रह्म अर्थ में नहीं ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि प्रकरण

१. षड्भिरक्षरैश्चतुष्पदेति—षडक्षरपादासती चतुष्पादा भवति गायत्रीत्यर्थः।

कार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि 'प्रयोगसम्भवात् । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३-१२-६-७) इति च मन्त्रवर्णात् । यद्वा नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते, अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनात्—'वाचैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४-३-५) 'मनो ज्योतिर्जुषताम्' (तै० ब्रा० १-६-३-३) इति च । तस्माद्यद्यत्कस्यचिदवभासकं तत्तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयते । तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदवभासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (का० २-५-१५) 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४-४-१६) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । यदप्युक्तम्—द्युमर्यादत्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत इति । अत्रोच्यते—सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते । ननूक्तम्—निष्प्र-

---

प्रकाशयति तं बृहन्तमवेदविन्न 'मनुत इत्यर्थः । ज्योतिःशब्दस्य कार्यज्योतिष्येव शक्तिरित्यङ्गीकृत्य कारणब्रह्मलक्षकत्वमुक्त्वा ब्रह्मण्यपि शक्तिमाह—यद्वेति । गाढान्धकारे वाचैव ज्योतिषा लोक आसनादिव्यवहारं करोतीत्यर्थः । आज्यं जुषतां पिबतां मनो ज्योतिः प्रकाशकं भवतीत्याज्यस्तुतिः । यथा गच्छन्तमनुगच्छतः स्वस्यापि गतिरस्ति तथा सर्वस्य स्वनिष्ठं भानं स्यादित्यत आह—तस्य भासेति । तत् कालानवच्छिन्नं ब्रह्म सूर्यादिज्योतिषां साक्षिभूतमायुरमृतमिति च देवा उपासत इत्यर्थः । योषितोऽग्नित्ववद् द्युमर्यादत्वादिकं ध्यानार्थं कल्पितं ब्रह्मणो युक्तमित्याह—अत्रोच्यते

ब्रह्म का चल रहा है। प्रकरण को देखते हुए ब्रह्म अर्थ का बोध कराने में दोनों समान हैं। दीप्यमान कार्यज्योति से उपलक्षित ब्रह्म अर्थ में भी उक्त दोनों शब्दों का प्रयोग सम्भव ही है। 'जिस चैतन्य तेज से प्रकाशित हो सूर्य प्रकाश करता है, उस महान परमेश्वर को अवेदवित् पुरुष नहीं जानता' इस मन्त्रवर्ण से भी ज्योति शब्द से ब्रह्म अर्थ सिद्ध होता है। कार्यज्योति अर्थ में ही ज्योतिः शब्द की शक्ति है, ऐसा मानकर लक्षणावृत्ति से ज्योतिः शब्द का प्रयोग ब्रह्म में किया गया था, अब शक्तिवृत्ति से भी ज्योतिः शब्द ब्रह्म अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसलिए **'यद्वा'** कल्प से कहते हैं कि यह ज्योतिः शब्द नेत्रवृत्ति के अनुग्राहक तेज में ही प्रयुक्त होता है, ऐसी बात नहीं है; अन्यत्र भी इसकी शक्ति देखी जाती है। 'गहन अन्धकार में वाणीरूप ज्योति से पुरुष चलना-फिरना व्यवहार करता है' और 'मनरूप ज्योति के सेवन करने वाले' इन वाक्यों में वाणी और मन अर्थ में भी ज्योति शब्द का प्रयोग देखा जाता है। अतः जो जो वस्तु किसी का प्रकाशक हो, वह सभी वस्तु ज्योति शब्द का वाच्य (अभिधेय) मानी जाती है। ऐसे ही, चैतन्यरूप ब्रह्म को भी समस्त जगत् का प्रकाशक होने से ज्योतिशब्दवाच्य कहना युक्तिसंगत है, और ऐसी ही 'उसके प्रकाशित होने के पीछे सूर्यादि प्रकाशित होते हैं एवं उस ब्रह्म के प्रकाश से यह सब कुछ प्रकाशित है' 'देवताओं ने आदित्यादि ज्योतियों की अमरज्योति को आयु मानकर उपासना की है' इत्यादि श्रुति है।

और जो आप ने कहा था, कि सर्वव्यापक ब्रह्म को द्युलोक की मर्यादा में बाँधना ठीक नहीं है, क्योंकि वह द्युलोक से ऊपर ही नहीं, अपितु सर्वत्र है? इस पर हमारा कहना है कि सर्वव्यापक ब्रह्म का प्रदेशविशेष उपासना के लिए बतलाना कोई विरुद्ध नहीं है। पूर्वपक्षी—हमने भी तो कहा था

---

१. लक्षणयेति भावः । २. न जानाति ।

देशस्य ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यत इति । नायं दोषः । निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसम्बन्धात्प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः । तथाहि— आदित्ये, चक्षुषि, हृदय इति प्रदेशविशेषसम्बन्धीनि ब्रह्मण उपासनानि श्रूयन्ते । एतेन 'विश्वतः पृष्ठेषु' (छा० ३-१३-७) इत्याधारबहुत्वमुपपादितम् । यदप्येतदुक्तम्—औष्ण्यघोषाभ्यामनुमिते कौक्षेये कार्ये ज्योतिष्यध्यस्यमानत्वात्परमपि दिवः कार्यज्योतिरेवेति । तदप्ययुक्तम् । परस्यापि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्ववत्कौक्षेयज्योतिःप्रतीकत्वोपपत्तेः । 'दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' (छा० ३-१३-८) इति तु प्रतीकद्वारकं दृष्टत्वं श्रुतत्वं च भविष्यति । यदप्यल्पफलश्रवणान्न ब्रह्मेति, तदप्यनुपपन्नम् । न हीयते फलाय ब्रह्माश्रयणीयं, इयते नेति नियमहेतुरस्ति । यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते, तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते । यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकविशेषसम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येवोच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते—'अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद' (बृ०४-४-२४) इत्याद्यासु श्रुतिषु । यद्यपि न स्ववाक्ये किञ्चि-

इत्यादिना । **दिवः परमपीत्यन्वयः । आरोप्यस्य ध्येयस्यालम्बनस्य च सादृश्यनियमो नास्तीत्याह**—परस्यापीति । **भविष्यति ब्रह्मज्योतिष इति शेषः । 'तं यथा यथोपासते तथा तथा फलं भवति' (मुद्गलो० ३-३) इति श्रुतेरित्याह**—न हीयत इति । **ज्ञानफलवदुपास्तिफलमेकरूपं किं न स्यादत आह**—यत्र हीति । **ज्ञेयैकत्वादित्यर्थः । ध्येयं तु नानेत्याह**—यत्र त्विति । **ईश्वरो जीवरूपेणान्नमत्तीत्यन्नादः, अन्नस्याऽऽसमन्ताद्दाता वा । वसु हिरण्यं ददातीति वसुदान इति गुणविशेषसम्बन्धं यो**

कि ब्रह्म निष्प्रदेश है, उसमें प्रदेशविशेष की कल्पना उचित नहीं है ! समाधान—यह कोई दोष नहीं है । निष्प्रदेश ब्रह्म का भी उपाधिविशेष से सम्बन्ध हो जाने पर प्रदेशविशेष की कल्पना ठीक ही है, क्योंकि आदित्य, चक्षु और हृदय में ब्रह्म की उपासनायें प्रदेशविशेष से सम्बद्ध ही तो सुनी जाती हैं । इस प्रकार उपासना के लिए निष्प्रदेश ब्रह्म में प्रदेश की कल्पना जब युक्तिसिद्ध है तो इससे **'विश्वतः पृष्ठेषु'** इत्यादि वाक्यों द्वारा आधारबहुत्व का उपपादन भी उचित ही है ।

और जो आप ने कहा था कि उष्णता और घोष के आधार पर अनुमित कुक्षिगत ज्योति में अध्यस्त होने के कारण द्युलोक से पर भी कार्यज्योति ही है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि नाम आदि प्रतीकों की भाँति कौक्षेयज्योति भी परब्रह्म का प्रतीक हो सकता है । **'दृष्टं च श्रुतं च'** अर्थात् 'दृष्ट और श्रुतरूप में उसकी उपासना करे' इस प्रतीक द्वारा उपासित कौक्षेयज्योति दृष्ट और श्रुत हो जायेगा, ऐसा फल बतलाया गया है । और जो आप ने कहा था कि अल्पफल सुना गया है, इसलिए वह ब्रह्म उपासना नहीं है ! ऐसा कहना भी असंगत है क्योंकि इतने फल के लिए ब्रह्म उपासना करनी चाहिए और इतने के लिए नहीं करनी चाहिए, ऐसा नियम करने में कोई हेतु नहीं है । जहाँ पर समस्त विशेषसम्बन्ध से रहित परब्रह्म को आत्मरूप से बतलाया गया है वहाँ पर एकरूप ही फल मोक्ष दीखता है किन्तु जहाँ गुणविशेष से अथवा प्रतीकविशेष से सम्बद्ध ब्रह्म उपासना बतलायी गयी है, वहाँ पर संसारविषयक न्यूनाधिक फल भी देखे जाते हैं । जीवरूप से ब्रह्म अन्न खाता है, इसलिए उसे अन्नाद कहते हैं अथवा सभी ओर से सबको अन्न देता है इसलिए वह अन्नाद है, वह वसु (धन) देता है इसलिए वसुदान कहा जाता है । ऐसे गुणविशेषसम्बद्ध परमेश्वर की

(२५) छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥२५॥

ज्ज्योतिषो ब्रह्मलिङ्गमस्ति तथापि पूर्वस्मिन्वाक्ये दृश्यमानं ग्रहीतव्यं भवति । तदुक्तं सूत्रकारेण—'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति । कथं पुनर्वाक्यान्तरगतेन ब्रह्मसंनिधानेन ज्योतिःश्रुतिः स्वविषयाच्छक्या प्रच्यावयितुम् । नैष दोषः । 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' (छा० ३-१३-७) इति प्रथमतरपठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना द्युसम्बन्धात्प्रत्यभिज्ञायमाने पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे सत्यर्थाज्ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ॥२४॥

अथ यदुक्तम्—'पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माभिहितमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' (छा० ३-१२-१) इति गायत्र्याख्यस्य छन्दसोऽभिहितत्वादिति, तत्परिहर्तव्यम् । कथं पुनश्छन्दोऽभिधानान्न ब्रह्माभिहितमिति शक्यते वक्तुं, यावता 'तावानस्य महिमा' इत्ये-

---

वेद स धनं विन्दते, दीप्ताग्निश्च भवति । 'नाम्नो वागुत्तमा, मनो वा प्रतीकं वाचो भूयः' इति प्रतीकविशेषध्यानश्रुतिसंग्रहार्थमाद्यपदम् । सन्निधेः श्रुतिर्बलीयसीति शङ्कते—कथं पुनरिति । [1]अथ प्रथमश्रुत्यनुसारेण चरमश्रुतिर्नीयत इत्याह—नैष इति । सर्वनाम्ना स्वसामर्थ्येन स्वस्य सर्वनाम्नः सामर्थ्यं सन्निहितवाचित्वं तद्बलेन परामृष्टे सतीति योजना । अर्थाद्यत्पदसामानाधिकरण्यादित्यर्थः ॥२४॥

छन्दोऽभिधानाद्ब्रह्म प्रकृतं नास्तीति शङ्कामेकदेशी दूषयति—कथमिति । शङ्कां साधयति—

जो उपासना करता है वह धन को प्राप्त करता है और वह प्रदीप्ताग्नि हो जाता है' इन श्रुतियों में उपासना के अनुरूप फल बतलाया गया है ।

यद्यपि ज्योतिर्वाक्य में ज्योति शब्द का ब्रह्मार्थबोधक कोई लिङ्ग नहीं है, फिर भी इससे पूर्ववाक्य में देखे गये ब्रह्मलिङ्ग का ग्रहण यहाँ भी कर लेना चाहिए, ऐसा ही **'ज्योतिश्चरणाभिधानात्'** इस वाक्य का अर्थ सूत्रकार ने माना है । वाक्यान्तर्गत ब्रह्मसंनिधान के बल पर ज्योतिः श्रुति को अपने विषय से पृथक् कैसे कर सकते हो, अर्थात् सन्निधि से श्रुति बलवती होती है ? यह कोई दोष नहीं है क्योंकि प्रथमश्रुति के अनुसार चरमश्रुति का अर्थ मानना कोई अनुचित नहीं है । **'यदतः परो दिवो ज्योतिः'** इस वाक्य में जो सर्वप्रथम सर्वनाम **'यत्'** शब्द से सम्बन्धित द्युलोक को कहा गया है, पूर्ववाक्य में निर्दिष्ट प्रत्यभिज्ञायमान ब्रह्म में जब शक्तिवृत्ति से उसी **'यत्'** शब्द का परामर्श हो रहा है, तो अर्थतः ज्योतिः शब्द को भी ब्रह्मपरक मानना युक्तियुक्त है । अतः **'यत्'** और **'ज्योतिः'** का सामानाधिकरण्य होने के कारण यहाँ पर ज्योतिः शब्द का अर्थ ब्रह्म ही समझना चाहिए ॥२४॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् (ललिता)

पूर्वपक्षी ने कहा था कि **'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते'** इस वाक्य की अपेक्षा पूर्व **'गायत्री**

---

१. यदतः परो दिवो ज्योतिरित्येतदपेक्षया अस्मिन्पादोऽस्येत्यत्रेत्यर्थः । २. अथेति—उक्तशङ्कानन्तरमिति नेयम्, तत्रेति वा पाठयम् ।

तस्यामृचि चतुष्पाद्ब्रह्म दर्शितम् । नैतदस्ति । 'गायत्री वा इदँ सर्वम्' इति गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' तदेतदृचाभ्यनूक्तं 'तावानस्य महिमा' इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद्ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात् । योऽपि तत्र 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३-१२-७) इति ब्रह्मशब्दः, सोऽपि छन्दसः प्रकृतत्वाच्छन्दोविषय एव । 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा० ३-११-३) इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते, तस्माच्छन्दोऽभिधानान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्वमिति चेत् । नैष दोषः । 'तथा चेतोऽर्पणनिगदात्' तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते—'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति । न ह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं सम्भवति । तस्माद्यद्गायत्र्याख्य[1]विकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म निर्दिष्टम्, तदिह सर्वमित्युच्यते । यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३-१४-१) इति । कार्यं च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः—'तदनन्यत्व-

---

नैतदित्यादिना । **चतुष्पदत्वादिकं पूर्वमेव व्याख्यातम्** । य एतामेवमिति । **वेदरहस्यभूतां मधुविद्यामेवमुक्तरीत्या यः कश्चिद्वेद तस्योदयास्तमयरहितब्रह्मप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः । तथाच वेदत्वाद् गायत्र्यां ब्रह्मशब्दो युक्त इति भावः । गायत्रीशब्देन तदुपादानत्वेनानुगतब्रह्मलक्षणायां बीजमनुपपत्तिमाह**— न ह्यक्षरेति । **ब्रह्मणोऽपि कथं सर्वात्मकत्वं, तत्राह**—कार्यं चेति । **नच गायत्र्या ध्यानार्थं सर्वात्मकत्वारोप इति वाच्यं, स्वतः सर्वात्मनो ध्यानसम्भवेनासदारोपायोगादिति भावः । 'तथाहि दर्शनम्'**

वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' इस वाक्य में गायत्री नामक छन्द का विधान होने से ब्रह्म अभिहित नहीं है ! इस शङ्का का परिहार करना है, इसलिए कहते हैं कि छन्द का विधान होने से ब्रह्म अभिहित नहीं है' यह कैसे कह सकते हो, क्योंकि **'तावानस्य महिमा'** इस मन्त्र में चतुष्पाद् ब्रह्म बतलाया गया है । पूर्वपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं । **'गायत्री वा इदं सर्वम्'** इस मन्त्र द्वारा गायत्री का प्रसंग प्रारम्भकर उसी गायत्री को भूत, पृथ्वी, शरीर, हृदय, वाणी और प्राण के भेद से व्याख्याकार **'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री'** इस ऋचा द्वारा कहा गया है, फिर तो **'तावानस्य महिमा'** इस वाक्य से उस व्याख्यात गायत्री में ही सभी मन्त्र उदाहरण के रूप में आये हैं । ऐसी स्थिति में वे मन्त्र अकस्मात् चतुष्पाद् ब्रह्म का वर्णन कैसे करेंगे ? और जो भी वहाँ पर **'यद्वै तद्ब्रह्म'** इस वाक्य में ब्रह्म शब्द आया है वह भी छन्द के प्रसंग में छन्द को ही कहता है । 'जो इस प्रकार इस ब्रह्म की उपनिषद् को जानता है' इस वाक्य में वेदोपनिषद् की व्याख्या करते हैं । अतः पूर्ववाक्य में छन्द का विधान होने से ब्रह्म का प्रसङ्ग ही नहीं है ।

सिद्धान्ती—पूर्वपक्षी का यह कहना कोई दोष नहीं है, क्योंकि गायत्रीनामक छन्द द्वारा उसमें अनुगत ब्रह्म में चित्त को समाधान करने के लिए यह ब्राह्मणवाक्य **'गायत्री वा इदं सर्वम्'** ऐसा कहता है । अक्षरों के सन्निवेशमात्र गायत्री में सर्वात्मकत्व सम्भव भी नहीं है । अतः गायत्री छन्द नामक कार्य में जो जगत्कारण ब्रह्म अनुगतरूप से निर्दिष्ट है, उसी को यहाँ पर **'सर्वम्'** इस पद से कहा गया है । जैसा कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इस वाक्य में अनुगत ब्रह्म का प्रतिपादन है, वैसा ही

---

१. कार्ये ।

मारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २-१-१४) इत्यत्र। तथान्यत्रापि 'विकारद्वारेण[1] ब्रह्मण उपासनं दृश्यते—'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्तः, एतमग्नावध्वर्यवः, एतं महाव्रते छन्दोगाः' (ऐ० आ० ३-२-३-१२) इति। तस्मादस्ति छन्दोभिधानेऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम्। तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यत उपासनान्तरविधानाय[2]। अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते, संख्यासामान्यात्। यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैस्तथा ब्रह्म चतुष्पात्। तथान्यत्रापि छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे

इति सूत्रशेषं व्याचष्टे—तथान्यत्रेति। दृश्यत इति दर्शनं दृष्टमित्यर्थः। एतं परमात्मानं बह्वृचा ऋग्वेदिनो महत्युक्थे शस्त्रे तदनुगतमुपासते। एतमेवाग्निरहस्ये 'तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते' इति श्रुतेः, यजुर्वेदिनोऽग्नौ उपासते। एतमेव छन्दोगाः सामवेदिनो महाव्रते क्रतौ उपासत इत्यैतरेयारण्यके दृष्टमित्यर्थः। गायत्रीशब्दो ब्रह्मलक्षक इति व्याख्याय गौण इत्याह—अपर इति। साक्षादेव वाच्यार्थग्रहणं विनैवेति यावत्। पूर्वं तूपास्यतया गायत्रीपदेनाजहल्लक्षणया गायत्री-ब्रह्मणी द्वे अपि लक्षिते। नच गायत्री सर्वमित्यन्वयासम्भवः, घटो रूपीति पदार्थैकदेशे व्यक्तौ रूपान्वयवत्, गायत्रीपदार्थैकदेशे गायत्र्यनुगते ब्रह्मणि प्रधाने सर्वात्मकत्वान्वयसम्भवादिति भावः। तथाच सूत्रं सिद्धान्तभागस्यायमर्थः—तथा गायत्रीवच्चतुष्पात्त्वगुणसामान्यात्, चेतो ब्रह्मणि समर्प्यते येन स चेतोऽर्पणो गायत्रीशब्दस्तेन ब्रह्मण एव निगदादभिधानात्, छन्दोभिधानमसिद्धमिति। अधुना 'तथाहि दर्शनम्' इति शेषं व्याचष्टे—तथेति। संवर्गविद्यायामधिदैवमग्निसूर्यचन्द्राम्भांसि वायौ

गायत्रीवाक्य में भी समझना चाहिए। इसी को हम 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्र में कारण से कार्य को अभिन्न बतलायेंगे। ऐसे ही अन्यत्र भी कार्य द्वारा ब्रह्म की उपासना देखी जाती है। 'ऋग्वेदीय ऋत्विग् शस्त्र में अनुगत इस परमात्मा की उपासना करते हैं, अग्निरहस्य में इसी परमात्मा की उपासना यजुर्वेदीय ऋत्विग् करते हैं और सामवेदीय ऋत्विग् महाव्रतरूप क्रतु में इसकी उपासना करते हैं' ऐसा ऐतरेय आरण्यक में देखा जाता है। अतः पूर्ववाक्य में छन्द का अभिधान होने पर भी चतुष्पाद् ब्रह्म निर्दिष्ट है, उसी का परामर्श ज्योतिर्वाक्य में भी उपासनान्तर विधान के लिए किया गया है।

गायत्री शब्द ब्रह्मलक्षक है ऐसी व्याख्या करने पर ब्रह्म गौण प्रतीत होता है, अतः साक्षात् ही गायत्री शब्द से संख्या की समानता को देखते हुए ब्रह्म का प्रतिपादन बन जाता है, ऐसा 'अपरः' ने कहा। जिस प्रकार छः अक्षरों के पाद होते हैं और ऐसे चार पाद वाला गायत्री मन्त्र होता है, वैसे ही ब्रह्म भी चतुष्पाद् है, यही गायत्री के साथ ब्रह्म का संख्याप्रयुक्त सादृश्य है। वैसे ही अन्यत्र भी संख्या की समानता के कारण छन्दवाचक शब्द अर्थान्तर में प्रयुक्त होता देखा जाता है, जैसे संवर्गविद्या में कहा है कि 'ये पाँच पाँच दूसरे दूसरे हैं' दोनों को मिलाकर दस संख्या हो जाती है और दश संख्या वाले पाशा को कृत कहते हैं अर्थात् द्यूतक्रीड़ा के लिए जो पाशा होता है उसमें क्रमशः १, २, ३ और ४ अङ्क लिखे रहते हैं, सभी मिलाकर दश माने जाते हैं और क्रमशः इनका नाम कलि, द्वापर, त्रेता एवं कृतयुग पड़ता है। कृत की दश संख्या होती है, ४ में ३ का अन्तर्भाव, ३ में २ का और २ में १ का अन्तर्भाव हो जाने के कारण वह कृत नामक द्यूत दशात्मक कहा

१. कार्यद्वारेण। २. गायत्र्यनुगतब्रह्मोपास्त्यपेक्षया कौक्षेयज्योतिषि ब्रह्मोपासनस्य भिन्नत्वादुपासनान्तरत्व स्पष्टमेव।

(२६) भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।।२६।।

संख्यासामान्यात्प्रयुज्यमानो दृश्यते । तद्यथा—'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' इत्युपक्रम्याह 'सैषा विराडन्नादी' (छा० ४-३-८) इति । अस्मिन्पक्षे ब्रह्मैवाभिहितमिति न छन्दोभिधानम् । सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म ।।२५।।

इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति, पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति । यतो भूतादीन्पादान्व्यपदिशति । भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्याह—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री'

लीयन्ते, अध्यात्मं वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि प्राणमपियन्तीत्युक्तम् । ते वा एते पञ्चान्ये आधिदैविकाः, पञ्चान्ये आध्यात्मिकास्ते मिलित्वा दशसंख्याकाः सन्तः कृतमित्युच्यन्ते । सन्ति हि कृतत्रेताद्वापरकलिसंज्ञकानि चत्वारि द्यूतानि क्रमेण चतुरङ्कत्र्यङ्कद्व्यङ्कैकाङ्कानि । तत्र कृतं दशात्मकं भवति, 'चतुर्ष्वङ्केषु त्रयाणां त्रिषु द्वयोर्द्वयोरेकस्य चान्तर्भावात् । तथाच दशत्वगुणेन वाय्वादयः कृतशब्देनोच्यन्ते । एवं कृतत्वं वाय्वादीनामुपक्रम्याह—सैषेति । 'विधेयापेक्षया स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । विराट्पदं छन्दोवाचकं, 'दशाक्षरा विराट्' इति श्रुतेः । दशत्वसाम्येन वाय्वादयो विराडित्युच्यन्ते । एवञ्च दशत्वद्वारा वाय्वादिषु कृतत्वं विराट्त्वं च ध्येयम् । तत्र विराट्त्वध्यानात्सर्वमस्यान्नं भवति, 'अन्नं विराट्' इति श्रुतेः । कृतत्वध्यानादन्नादो भवति, कृतद्यूतस्यान्नादत्वात् । कृतं हि स्वीयचतुरङ्केषु त्र्यङ्कादिकमन्तर्भावयदन्नमत्तीव लक्ष्यते । अत एव कृतजयादितरद्यूतजयः श्रुत्युक्तः—'कृतायविजितायाधरेयाः संयन्ति' इति । अयो द्यूतं, कृतसंज्ञोऽयः कृतायः स विजितो येन तस्मै, अधरेयास्त्र्यङ्कादयः अयाः संयन्ति उपनमन्ते, तेन जिता भवन्तीत्यर्थः । एवञ्च सा वाय्वादिदशात्मिका एषा कृतशब्दिता विराडन्नं, कृतत्वादन्नादिनीत्यर्थः । सर्वथापीति । गायत्रीतिपदस्य लक्षकत्वे गौणत्वेऽपि चेत्यर्थः । अत्रापर आहेत्यपरपदेन गौणत्वे स्वमतं नेति द्योतयति । अजहल्लक्षणापक्षे हि 'वाग्वै गायत्री' इति वागात्मत्वं गायति च त्रायते चेति निरुक्तनामकत्वं च गायत्र्या उपाधित्वेनोपास्यत्वादुपपन्नतरम् । गौणपक्षे गायत्रीत्यागात्तदुभयं सर्वात्मकत्वमात्रेणोपपादनीयम् । एवं गायत्रीपदस्य स्वार्थत्यागः । अप्रसिद्धचतुष्पात्त्वगुणद्वारा विप्रकृष्टलक्षणा चेति बह्वसमञ्जसम् ।।२५।।

ननु 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति प्रथमगायत्रीश्रुतेः कथं लक्षणेत्याशङ्क्य वाक्यशेषगतसर्वात्मकत्वाद्यनेकबलवत्प्रमाणसंवादेन ब्रह्मणि तात्पर्यावगमादित्याह—भूतादिपादेति । चैवंपदार्थमाह—इतश्चेति । सूत्रस्थादिपदार्थं दर्शयति—भूतपृथिवीति । अत्र सूत्रभाष्यकारयोर्भूतादिभिश्चतुष्पदा

जाता है, ऐसे ही दशत्व गुण होने से वायु आदि भी कृत शब्द से कहे जाते हैं । इस प्रकार वायु आदि में कृतत्व का प्रसंग प्रारम्भ कर 'सैषा विराडन्नादी' ऐसा कहकर वायु आदि में कृतत्व एवं विराट्त्व को ध्येय बतलाया गया है । विराट् के ध्यान से सभी उसके अन्न हो जाते हैं, कृतत्व के ध्यान से वह अन्नाद बन जाता है क्योंकि उसमें सभी का अन्तर्भाव हो जाता है । जिसके पक्ष में कृतनामक द्यूत आ जाता है, वह विजयी होता है और सभी उसके अधीन हो जाते हैं । इस प्रकार इस पक्ष में ब्रह्म ही अभिहित है, छन्द नहीं । सभी प्रकार से पूर्ववाक्य में ब्रह्म का ही प्रसंग मानना चाहिए, दूसरे का नहीं ।।२५।।

---

१. न्यूनमधिकेऽन्तर्भवतीत्याशयेनाह—चतुर्ष्वङ्केषु त्रयाणामन्तर्भावादित्यादि । २. विधेयमत्र विराट्त्वम् ।

(२७) उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

इति । नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते । अपिच ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक् संबध्येत—'तावानस्य महिमा' इति । अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभिधीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३-१२-५) इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः । पुरुषसूक्तेऽपीयमृग्ब्रह्मपरतयैव समाम्नायते । स्मृतिश्च ब्रह्मण एवंरूपतां दर्शयति —'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ० गी० १०-४२) इति । 'यद्वै तद् ब्रह्म' (छा० ३-१२-७) इति च निर्देश एवं सति मुख्यार्थ उपपद्यते । 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३-१३-६) इति च हृदयसुषिषु ब्रह्मपुरुषश्रुतिर्ब्रह्मसम्बन्धितायां विवक्षितायां सम्भवति । तस्मादस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म प्रकृतम् । तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्ये द्युसम्बन्धात्प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यत इति स्थितम् ॥२६॥

यदप्येतदुक्तं पूर्वत्र—'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा, इह

गायत्रीति सम्मतम्, षडक्षरैश्चतुष्पात्त्वं वृत्तिकारोक्तमप्रसिद्धम् । चकारसूचितं युक्त्यन्तरमाह—अपिचेति । ब्रह्मपरसूक्तोत्पन्नत्वाच्च तस्यास्तत्परत्वमित्याह—पुरुषेति । ब्रह्मपदस्य छन्दोवाचित्वमुक्तं निरस्यति—यद्वै तद्ब्रह्मेति । 'पूर्वस्यामृचि ब्रह्मोक्ताविस्यर्थः । हृदयस्य चतुर्दिक्षूर्ध्वं च पञ्चसुषयः सन्ति । तेषु ब्रह्मस्थानहृन्नगरस्य प्रागादिद्वारेषु क्रमेण प्राणव्यानापानसमानोदानाः पञ्चद्वारपाला इति ध्यानार्थं श्रुत्या कल्पितम् । तत्र हृदयच्छिद्रस्थप्राणेषु ब्रह्मपुरुषत्वश्रुतिर्हृदि गायत्र्याख्यब्रह्मण उपासनासम्बन्धितायां ब्रह्मणो द्वारपालत्वाद्ब्रह्मपुरुषा इति सम्भवतीत्याह—पञ्च ब्रह्मेति ॥२६॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् (ललिता)

पूर्ववाक्य में ब्रह्म का प्रसङ्ग इसलिए भी मानना चाहिए, क्योंकि उसमें पाद का व्यपदेश है । अर्थात् भूत, पृथ्वी, शरीर, हृदय का निर्देश कर कहा है कि षड्विध गायत्री चार पादवाली है । यदि ब्रह्म का आश्रयण न करोगे, तो केवल छन्दरूप गायत्री में भूतादि पाद युक्तियुक्त नहीं सिद्ध हो सकेंगे । इतना ही नहीं, ब्रह्म का आश्रय न लेने पर '**तावानस्य महिमा**' इस ऋचा की संगति भी नहीं बैठेगी, क्योंकि इस ऋचा से तो स्वरसतः ब्रह्म का ही अभिधान है । '**पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**' इस वाक्य से उसे सर्वात्मा भी तो कहा है । पुरुष सूक्त में भी यह ऋक् ब्रह्मपरक ही पढ़ी गयी है । 'सम्पूर्ण विश्व को एक अंश से ग्रहणकर स्थित हूं' यह गीता स्मृतिवाक्य भी ब्रह्म की एवंरूपता को दिखलाता है । साथ ही '**यद्वै तद् ब्रह्म**' यह निर्देश मुख्यार्थ ग्रहण करने पर ही युक्तिसंगत होगा । हृदय के चारों दिशाओं में चार छिद्र और एक ऊपर की ओर गया हुआ छिद्र है, जिनमें पञ्चप्राणादि रहते हैं, 'पाँच ब्रह्मपुरुष हैं' अर्थात् ब्रह्मस्थान हृदयनगर के द्वारपाल 'हृदयछिद्रों में पञ्च ब्रह्मपुरुष रहते हैं' यह श्रुति भी ब्रह्मसम्बन्ध स्वीकार करने पर ही युक्तिसंगत होती है । अतः पूर्ववाक्य में ब्रह्म का ही प्रसंग है । वही ब्रह्म ज्योतिर्वाक्य में द्युलोक के सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञायमान होता है, यह वस्तुस्थिति है ॥२६॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् (ललिता)

और जो आप ने पहले कहा था '**त्रिपादस्यामृतं दिवि**' इस मन्त्र में सप्तमी विभक्ति द्वारा

१. एवंसतीत्यस्यार्थमाह—पूर्वस्यामित्यादिना ।

११. प्रतर्दनाधिकरणम् (सू० २८-३१)

प्राणोऽस्मीत्यत्र वाग्विन्द्रजीवब्रह्मसु संशयः। चतुर्णां लिङ्गसद्भावात्पूर्वपक्षस्त्वनिर्णयः ॥
ब्रह्मणोऽनेकलिङ्गानि तानि सिद्धान्यनन्यथा। अन्येषामन्यथासिद्धेर्व्युत्पाद्यं ब्रह्म नेतरत् ॥

पुनः 'अथ यदतः परो दिवः' इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—नायं दोषः, उभयस्मिन्नप्यविरोधात्। उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशे न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते। यथा लोके वृक्षाग्रसम्बद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, 'वृक्षाग्रे श्येनो, वृक्षाग्रात्परतः श्येनः' इति च। एवं दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते। अपर आह—यथा लोके वृक्षाग्रेणासम्बद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च। एवं दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीत्युपदिश्यते। तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम्। अतः परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दमिति सिद्धम् ॥२७॥

'दिवि' 'दिवः' **इति विभक्तिभेदात्प्रकृतप्रत्यभिज्ञा नास्तीत्युक्तं नोपेक्षणीयमित्याह**—तत्परिहर्तव्यमिति। **परिहारं प्रतिजानीते**—अत्रेति। **सूत्रे नञर्थं वदन्परिहारमाह**—नायमिति। **एवं सर्वत्र व्याख्येयम्। प्रधानप्रातिपदिकार्थद्युसम्बन्धेन प्रत्यभिज्ञाया विभक्त्यर्थभेदो न प्रतिबन्धकः, कथंचिदाधारस्यापि मर्यादात्वसम्भवात्। यथा वृक्षाग्रं स्वलग्नभागावच्छिन्नश्येनस्याधारः सन्नेव स्वालग्नभागावच्छिन्नस्य तस्यैव मर्यादा भवति, एवं दिवि सूर्ये हार्दाकाशे वा** [1]**मुख्ये आधारे सद्ब्रह्म दिवो मर्यादात्वं तदलग्नाकाशावच्छिन्नं ब्रह्म प्रति कल्पयित्वा दिवः परमित्युच्यत इत्यर्थः। यद्वाकाशेन अनवच्छिन्नं ब्रह्म गृहीत्वा पञ्चम्या दिवो मर्यादात्वमेव मुख्यं तदा गङ्गायां घोष इतिवत्सप्तम्या सामीप्यलक्षणयाऽऽधारत्वं व्याख्येयमित्याह**—अपर इति। **सम्बद्धं प्रत्याधारत्वं मुख्यं पूर्वमुक्तं दिव्येव सदिति। असम्बद्धं प्रति मर्यादात्वं मुख्यमधुनोच्यते, दिवः परमपीति भेदः। तस्माज्ज्योतिर्वाक्यमुपास्ये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥२७॥**

द्युलोक को आधार कहा गया है, पर यहाँ **'यदतः परो दिवः'** इस मन्त्र में पञ्चमी विभक्ति से मर्यादा बतलाई गयी है, अतः उपदेश के भेद से पूर्वोक्त ब्रह्म की यहाँ पर प्रत्यभिज्ञा नहीं मानी जा सकती? इसका उत्तर सुन लीजिए, कि यह कोई दोष नहीं है, अर्थात् सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त उभय उपदेश में भी ब्रह्म का प्रत्यभिज्ञान होना विरुद्ध नहीं है। जैसे लोक में 'वृक्ष के अग्र में श्येन पक्षी है' 'वृक्ष के अग्रभाग से ऊपर श्येन पक्षी है' ऐसा वृक्षाग्र से सम्बद्ध श्येन के लिए उभयथा प्रयोग देखा जाता है। दूसरों ने कहा कि जैसे लोक में वृक्षाग्र से असम्बद्ध भी श्येन पक्षी **'वृक्षाग्रे श्येनः' 'वृक्षाग्रात् परतः श्येनः'** ऐसा दोनों ही प्रकार से उपदिष्ट होता है, ऐसे ही द्युलोक से पर रहता हुआ भी ब्रह्म द्युलोक में कहा जाता है। अतः पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्म का ज्योतिर्वाक्य में प्रत्यभिज्ञान होता ही है। अत एव ज्योतिःशब्दवाच्य परब्रह्म ही है, अन्य अर्थ नहीं है ॥२७॥

११. प्रतर्दनाधिकरण

१. संगति—पूर्वाधिकरण में प्रकरणागत त्रिपाद ब्रह्म के परामर्शक **'यत्'** शब्द के साथ

१. मुख्य आधार इति—अनेनाधारत्वमेव दिवो मुख्यं मर्यादात्वं गौणमिति सूचयतीत्यवधेयम्।

(२८) प्राणस्तथानुगमात् ॥२८॥

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता । तस्यां श्रूयते—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति । तथोत्तरत्रापि 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३-१,२,३) इति । तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि । अन्ते च 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरो-

---

प्राणस्तथानुगमात् । **दिवोदासस्यापत्यं दैवोदासिः प्रतर्दनो नाम राजा युद्धेन पुरुषकारेण च कारणेनेन्द्रस्य प्रेमास्पदं गृहं जगाम। तं ह इन्द्र उवाच—प्रतर्दन वरं ते ददानीति । स होवाच प्रतर्दनः—यं त्वं मर्त्याय हिततमं मन्यसे तं वरं त्वमेवालोच्य मह्यं देहीति । तत इन्द्र इदमाह— 'प्राणोऽस्मि' इत्यादि । मुख्यं प्राणं निरसितुं प्रज्ञात्मत्वमुक्तम् । निर्विशेषचिन्मात्रं निरस्यति—तं** मामिति । **इदं प्राणस्येन्द्रदेवतात्वे लिङ्गम् । मुख्यप्राणत्वे लिङ्गमाह—अथेति । वागादीनां देहधारण-शक्त्यभावनिश्चयानन्तरमित्यर्थः । प्राणस्य देहधारकत्वमुत्थापकत्वं च प्रसिद्धमिति वक्तुं खल्वि-त्युक्तम् । प्राणस्य जीवत्वे वक्तृत्वं लिङ्गमाह**—न वाचमिति । **आनन्दत्वादिकं ब्रह्मलिङ्गमाह—** अन्ते चेति । **अनेकेषु लिङ्गेषु दृश्यमानेषु बलाबलनिर्णयार्थमिदमधिकरणमित्यगतार्थमाह—**

सामानाधिकरण्य होने के कारण **'ज्योतिः'** शब्द का अर्थ भले ही ब्रह्म कर लिया गया हो किन्तु इस अधिकरण में **'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा'** (कौ० ३-२) यहाँ पर असाधारण ब्रह्मलिङ्ग होने से प्राण शब्द ब्रह्मपरक नहीं हो सकता, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण प्रतर्दनाधिकरण कहा गया है ।

२. **विषय**—**'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व'** यह कौषीतकि श्रुति यहाँ पर विचारणीय है ।

३. **संशय**—क्या प्राण शब्द से वायु, इन्द्र देवता, जीव या परब्रह्म का उपदेश किया गया है ?

४. **पूर्वपक्ष**—जब चारों अर्थों के बोधक लिङ्ग विद्यमान हैं तो किसी एक अर्थ का निर्णय करना उचित नहीं होगा ।

५. **सिद्धान्त**—प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही लेना चाहिए क्योंकि वे अनेक लिङ्ग ब्रह्म में ही अव्यभिचरितरूप में सिद्ध हैं, ब्रह्मभिन्न अर्थ में तो वे लिङ्ग अन्यथासिद्ध हैं । अतः प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही लेना चाहिए, अन्य नहीं ।

प्राणस्तथानुगमात् (ललिता)

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में इन्द्र तथा प्रतर्दन राजा की आख्यायिका है 'दिवोदास का पुत्र राजा प्रतर्दन युद्ध एवं अपने पौरुष के कारण इन्द्र के प्रेमास्पद धाम में पहुँच गया' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर वहाँ पर कहा गया है कि 'इन्द्र ने राजा से कहा—प्रतर्दन ! तेरे साहस को देखकर मैं तुझे वरदान दूँगा, जो भी माँगना चाहो, माँग लो। उस पर प्रतर्दन ने कहा कि जिसे आप मनुष्य के लिए सर्वाधिक हितकारक समझते हैं वह वरदान मुझे दे दें ।' इसके बाद इन्द्र ने कहा कि 'मैं प्राण प्रज्ञात्मा हूँ, इस प्रकार मेरी आयु और अमृतरूप से उपासना कर ।' वैसा ही आगे भी कहा है 'निःसन्देह, प्राण ही प्रज्ञात्मा है क्योंकि इस शरीर को पकड़कर वही उठाता है ।' यह प्राणलिङ्ग है । वैसे ही 'वाणी को जानने की इच्छा न करो, वक्ता को जानो' इत्यादि कहने के बाद अन्त में

ऽमृतः' (कौ० ३-८) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिह प्राणशब्देन वायुमात्रमभिधीयत उत देवतात्मोत जीवोऽथवा परं ब्रह्मेति। ननु 'अत एव प्राणः' इत्यत्र वर्णितं प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वम्। इहापि च ब्रह्मलिङ्गमस्ति—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि। कथमिह पुनः संशयः सम्भवति। अनेकलिङ्गदर्शनादिति ब्रूमः। न केवलमिह ब्रह्मलिङ्गमेवोपलभ्यते। सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि। 'मामेव विजानीहि' (कौ०३-१) इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम्। इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्गम्। 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गम्। अत उपपन्नः संशयः। तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण इति प्राप्त उच्यते—प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम्। कुतः? तथानुगमात्। तथाहि—पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते। उपक्रमे तावत् 'वरं वृणीष्व' इतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनः परमं पुरुषार्थं वरमु[१]पचिक्षेप—'त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति। तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः

अनेकलिङ्गेति। पूर्वत्र प्रकृतब्रह्मवाचकयच्छब्दबलाज्ज्योतिःश्रुतिः ब्रह्मपरेत्युक्तं, न तथेह प्राणश्रुतिभङ्गे किञ्चिद्बलमस्ति, मिथो विरुद्धानेकलिङ्गानामनिश्चायकत्वादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—तत्रेति। पूर्वं प्रधानप्रातिपदिकार्थबलाद् विभक्त्यर्थबाधवद्वाक्यार्थज्ञानं प्रति हेतुत्वेन प्रधानानेकपदार्थबलादेकवाक्यताभङ्ग इति दृष्टान्तसङ्गतिर्वाऽस्तु। पूर्वपक्षे प्राणाद्यनेकोपास्तिः, सिद्धान्ते प्रत्यग्ब्रह्मधीरिति विवेकः। तथा ब्रह्मपरत्वेन पदानामन्वयावगमादिति हेत्वर्थमाह—तथा हीति। हिततमत्वकर्मक्षयादिपदार्थानां सम्बन्धो ब्रह्मणि तात्पर्यनिश्चायक उपलभ्यत इत्युक्तं विवृणोति—उपक्रम इत्यादिना। यं मन्यसे तं वरं त्वमेव प्रयच्छेत्यर्थः। स यः कश्चिन्मां ब्रह्म[२]रूपं वेद साक्षादनु-

कहा कि 'वह प्राण ही प्रज्ञात्मा है, वह आनन्द, अजर और अमृतस्वरूप है' ऐसा ब्रह्मलिङ्ग भी दिखायी पड़ता है। इसीलिए यहाँ पर संशय होता है कि प्राण शब्द से वायुमात्र कहा जाता है अथवा देवतात्मा या जीव अथवा परब्रह्म कहा जाता है।

प्राण का अर्थ परमात्मा होता है, यह बात प्राणाधिकरण में निश्चित हो चुकी है। यहाँ भी प्राणशब्द ब्रह्मपरक ही मानना उचित होगा क्योंकि '**आनन्दोऽजरोऽमृतः**' इत्यादि ब्रह्मलिङ्ग सुस्पष्ट है, फिर भला यहाँ संशय कैसे हो सकता है? अनेक लिङ्ग देखे जाते हैं इसलिए हम संशय का होना मानते हैं। यहाँ पर केवल ब्रह्मलिङ्ग ही नहीं है अन्य लिङ्ग भी है '**मामेव विजानीहि**' ऐसा इन्द्र का वचन देवतात्मा लिङ्ग है, '**इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति**' यह प्राणलिङ्ग है, '**न वाचं विजिज्ञासीत**' इत्यादि जीवलिङ्ग भी है, अतः संशय होना स्वाभाविक है।

वहाँ पर प्रसिद्धि के कारण वायु ही प्राण है ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सूत्र द्वारा सिद्धान्ती कहता है कि प्राणशब्दवाच्य अर्थ को ब्रह्म समझना चाहिए, क्योंकि उसी अर्थ में शेष श्रुतियों का अनुगम होता है। पूर्वापर वाक्य की पर्यालोचना करने पर वाक्यगत पदार्थों का समन्वय ब्रह्मप्रतिपादनपरक जान पड़ता है। प्रारम्भ में जब इन्द्र ने '**वरं वृणीष्व**' ऐसा प्रतर्दन से कहा तब प्रतर्दन ने परम पुरुषार्थ वरदान को माँगा। उसने कहा कि 'आप जिसे मनुष्य के लिए सर्वाधिक हितकारक समझते हैं वही

१. प्रार्थयामासेत्यर्थः। २. द्यौरूपम्।

(२६) न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२६॥

कथं परमात्मा न स्यात् । न ह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्धिततमप्राप्तिरस्ति । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३-८) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया'(कौ० ३-१) इत्यादि च ब्रह्मपरिग्रहे घटते । ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २-२-८) इत्याद्यासु श्रुतिषु । प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यते । न ह्यचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वं सम्भवति । तथोपसंहारेऽपि—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यानन्दत्वादीनि न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्यक् सम्भवन्ति । 'स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' इति 'एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः' (कौ० ३-८) इति च । सर्वमेतत्परस्मिन्ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते न मुख्ये प्राणे । तस्मात्प्राणो ब्रह्म ॥ २८॥

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते । न परं ब्रह्म प्राणशब्दम् । कस्मात् ? वक्तुरात्मोपदेशात् । वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान्देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायाचचक्षे—

भवति, तस्य विदुषो लोको मोक्षो महताऽपि पातकेन न ह मीयते नैव हिंस्यते न प्रतिबध्यते ज्ञानाग्निना कर्मतूलराशेर्दग्धत्वादित्याह—स य इति । साध्वसाधुनी पुण्यपापे, ताभ्यामस्पृष्टत्वं, तत्कारयितृत्वं, निरङ्कुशैश्वर्यं च सर्वमेतदित्यर्थः ॥२८॥

अहङ्कारवादेन स्वात्मवाचकशब्दैराचचक्षे, उक्तवानित्यर्थः । वाक्यस्य इन्द्रोपासनापरत्वे

वरदान मुझे दें ।' इस स्थिति में प्रतर्दन के लिए हिततमत्वेन उपदिश्यमान प्राण क्यों नहीं परमात्मा माना जा सकेगा, क्योंकि परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी वस्तु के ज्ञान से हिततम की प्राप्ति नहीं होती है, इसीलिए तो 'उस परमेश्वर को जानकरके ही जीव मृत्यु का अतिक्रमण करता है, मोक्ष के लिए ब्रह्मज्ञान को छोड़करके और कोई दूसरा मार्ग नहीं है' इत्यादि श्रुतियाँ भी कहती हैं। वैसे ही यहाँ पर भी कहा है 'जो मुझे जानता है उसका मोक्षरूप लोक चोरी, भ्रूणहत्या इत्यादि किसी भी नीच कर्म से नष्ट नहीं होता' ये सभी अर्थ ब्रह्मपरिग्रह करने पर ही घटते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर सभी कर्मों का क्षय होना प्रसिद्ध ही है जैसा कि 'उस ज्ञानी के सभी कर्म ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान हो जाने के कारण नष्ट हो जाते हैं' इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है। प्रज्ञात्मत्व लिङ्ग भी ब्रह्म-पक्ष में ही घटता है, वह प्रज्ञात्मत्व जड़ वायु-पक्ष में सम्भव नहीं है। वैसे ही, अन्त में भी 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि वाक्य द्वारा कहे गये आनन्दत्वादि भी ब्रह्म से भिन्न वस्तु में सम्यक् प्रकार से घटते नहीं हैं। 'वह प्राण न साधुकर्म से बढ़ता है और न असाधु कर्म से घटता है, यही परमात्मा साधुकर्म कराता है जिसे इन लोकों से ऊपर उठाना चाहता है और यही परमात्मा उस व्यक्ति से असाधुकर्म कराता है जिसे इन लोकों से नीचे ढकेलना चाहता है' तथा 'यह लोकपाल है, यह लोकाधिपति है, यह लोकेश भी है' ये सारे के सारे अर्थ परब्रह्म स्वीकार करने पर ही घटते हैं, मुख्यप्राण अर्थ लेने पर नहीं। अतः प्राणशब्द का अर्थ ब्रह्म ही है ॥२८॥

---

१. भ्रूणः कुक्षिस्थः प्राणी, गर्भो भ्रूण इतौ समावित्यमरः ।

'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहङ्कारवादेन । स एष वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं ब्रह्म स्यात् । नहि ब्रह्मणो वक्तृत्वं सम्भवति, 'अवागमनाः'[1] **(बृ० ३-८-८) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा विग्रहसम्बन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसम्भवद्भिर्धर्मैरात्मानं तुष्टाव—'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्येवमादिभिः । प्राणत्वं चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते । 'प्राणो वै बलम्' इति हि विज्ञायते । बलस्य चेन्द्रो देवता प्रसिद्धा । या च काचिद्बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तदिति हि वदन्ति । प्रज्ञात्मत्वमप्यप्रतिहतज्ञानत्वाद्देवतात्मनः सम्भवति । अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति । निश्चिते चैवं देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासम्भवं तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि । तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशान्न प्राणो ब्रह्मेत्याक्षिप्य प्रतिसमाधीयते—'अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्' इति । अध्यात्मसम्बन्धः प्रत्यगात्मसम्बन्धस्तस्य भूमा बाहुल्यमस्मिन्नध्याय**

लिङ्गान्तरमाह—तथा विग्रहेति । त्रीणि शीर्षाणि यस्येति त्रिशीर्षा त्वष्टुः पुत्रो विश्वरूपो नाम ब्राह्मणः तं हतवानस्मि । रौति यथार्थं शब्दयतीति रुद् वेदान्तवाक्यं, तन्मुखे येषां ते रुन्मुखास्तेभ्योऽन्यान्वेदान्तबहिर्मुखान् यतीनरण्यश्वभ्यो दत्तवानस्मीत्यर्थः । इन्द्रे प्राणशब्दोपपत्तिमाह—प्राणत्वं चेति । वदन्ति लौकिका अपीत्यर्थः । बलवाचिना प्राणशब्देन बलदेवता लक्ष्यत इति भावः । इन्द्रो हितप्रदातृत्वाद्धिततमः, कर्मानधिकारादपाप इत्येवं व्याख्येयानीत्याह—निश्चिते चेति । किमिन्द्रपदेन विग्रहोपलक्षितं चिन्मात्रमुच्यते उत विग्रहः । आद्ये वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वं सिद्धम् । न द्वितीय इत्याह—अध्यात्मेति । आत्मनि देहेऽधिगत इत्यध्यात्मं प्रत्यगात्मा, स सम्बध्यते यैः शरीरस्थत्वादिभि-

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् (ललिता)

सिद्धान्ती ने जो कहा कि प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म है, उस पर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि परब्रह्म प्राणशब्दवाच्य नहीं है क्योंकि वक्ता की आत्मा का उपदेश यहाँ पर जान पड़ता है । इन्द्रनामक शरीरधारी देवताविशेष वक्ता है, उसी ने अपनी आत्मा का उपदेश प्रतर्दन के लिए किया है । उसने **'मामेव विजानीहि'** यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर **'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा'** इस अहंकारवाद द्वारा वक्ता के आत्मरूप से उपदेश किया है । भला इस प्रकार उपदिश्यमान प्राण ब्रह्म कैसे हो सकेगा क्योंकि **'अवागमनाः'** इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म में वक्तृत्व सम्भव नहीं है । वैसे ही, ब्रह्म में विग्रहसम्बन्धी असम्भव धर्म द्वारा आत्मा की स्तुति की है । वहाँ पर इन्द्र ने 'त्वष्टा के तीन शिरवाले पुत्र विश्वरूप को मैंने मार डाला, वेदान्तश्रवण से विमुख संन्यासियों को मारकर भेड़ियों के पास फेंक दिया' ऐसे वाक्यों द्वारा आत्मा की एवं उसके ज्ञान की स्तुति की है । इन्द्र बलाभिमानी देवता है, **'प्राणो वै बलम्'** ऐसा जाना जाता है । अतः इन्द्र के लिए प्राणत्व कथन उचित ही है । जहाँ कहीं बल का कार्य दिखायी पड़ता हो, वह इन्द्र का ही है, ऐसा भी कहते हैं । देवतात्मा इन्द्र में अप्रतिहत ज्ञान होने के कारण प्रज्ञात्मत्व भी सम्भव है क्योंकि देवता का ज्ञान अप्रतिहत होता है, उनके ज्ञान का प्रतिघात कहीं भी नहीं होता, वे भूत, भविष्यत्, वर्तमान को भी जानते हैं । जब इस प्रकार देवतात्मा उपदेश निश्चित हो गया तब हिततमत्वादि वचनों की योजना

१. शालावृकाः कपिक्रोष्टुश्वान इत्यमरः ।

उपलभ्यते । 'यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्यायुष्प्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति, न देवताविशेषस्य [1]पराचीनस्य । तथास्तित्वे च प्राणानां [2]निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति । तथा 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३-३) इति, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इति चोपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३-८) इति विषयेन्द्रियव्यवहारानभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति । 'स म आत्मेति विद्यात्' इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुर्न

रिन्द्रतनावसम्भावितधर्मैस्ते अध्यात्मसम्बन्धास्तेषां भूमेत्यर्थः । आयुरत्र देहे प्राणवायुसञ्चारः । अस्तित्वे प्राणस्थितौ प्राणानामिन्द्रियाणां स्थितिरित्यर्थतः श्रुतिमाह—अस्तित्व इति । 'अथातो निःश्रेयसादानम्' इत्याद्या श्रुतिः । इन्द्रियस्थापकत्ववद्देहोत्थापकत्वमाह—तथेति । वक्तृत्वमुक्त्वा सर्वाधिष्ठानत्वं दर्शितमित्याह—इति चोपक्रम्येति । तत्र नानाप्रपञ्चस्यात्मनि कल्पनायां यथा दृष्टान्तः, लोके प्रसिद्धस्य रथस्यारेषु नेमिनाभ्योर्मध्यस्थशलाकासु चक्रोपान्तरूपा नेमिरर्पिता, नाभौ चक्रपिण्डिकायामरा अर्पिताः, एवं भूतानि पञ्च [3]पृथिव्यादीनि, मीयन्त इति मात्राः भोग्याः [4]शब्दादयः पञ्चेति दश भूतमात्राः [5]प्रज्ञामात्रासु दशस्वर्पिताः । इन्द्रियजाः पञ्च शब्दादिविषय[6]प्रज्ञाः मीयन्ते आभिरिति मात्राः पञ्च धीन्द्रियाणि । नेमिवद्ग्राह्यं ग्राहकेषु अरेषु कल्पितमित्युक्त्वा नाभिस्थानीये प्राणे सर्वं कल्पितमित्याह—प्राणेऽर्पिता इति । स प्राणो मम स्वरूपमित्याह—स म इति । तर्हि

यथासम्भव इन्द्र के विषय में कर लेनो चाहिए ।

अतः वक्ता इन्द्र को आत्मा का उपदेश होने से प्राणशब्द का अर्थ ब्रह्म नहीं है, ऐसा आक्षेप होने पर समाधान करते हैं, कि इस प्रसंग में अध्यात्मसम्बन्ध अधिक दिखायी पड़ता है । इस अध्याय में प्रत्यगात्मा के सम्बन्ध का बाहुल्य जान पड़ता है । 'जब तक शरीर में प्राण रहता है तब तक आयु है' इस वाक्य द्वारा अन्तरात्मस्वरूप प्रज्ञात्मा प्राण को ही आयु प्रदान करने और उपसंहार में स्वातन्त्र्य दिखलाते हैं, जो आत्मभूत देवताविशेष में सम्भव नहीं है । वैसे ही 'प्राण के रहने पर निःश्रेयस की प्राप्ति इन्द्रियों के आश्रयभूत अध्यात्म में ही देखा जाता है और प्राण ही प्रज्ञात्मा है जो इस शरीर को पकड़कर उठाता है' 'वाणी को जानने की इच्छा मत करो, वक्ता को जानो' यहां से प्रसंग प्रारम्भकर 'जैसे रथ के अरे में नेमि जुड़ी रहती है और अरे नाभि में जुड़े रहते हैं, ऐसे ही ये सभी भूत प्रज्ञामात्र में जुड़े हुए हैं और प्रज्ञामात्र प्राण में जुड़े हुए हैं । वह प्राण ही प्रज्ञात्मा है, आनन्द, अजर और अमृतस्वरूप है' इन वाक्यों से विषय, इन्द्रिय और व्यवहार के द्वारा अभिभूत न होने वाले प्रत्यगात्मा में ही प्रसंग का उपसंहार होता है । 'वह प्राण मेरी आत्मा है ऐसा समझ' यह उपसंहार प्रत्यगात्मा अर्थ मानने पर ही सुसंगत होगा, उससे भिन्न अनात्मपदार्थ ग्रहण करने पर उपसंहार की संगति नहीं बैठेगी । 'यह आत्मा ब्रह्म है जो सबका

---

१. अनात्मभूतस्य । २. निःश्रेयसमिति स्थितिरित्यर्थः । ३. ग्राह्यानि । ४. ग्राह्याः । ५. ग्राहिकासु । ६. ज्ञानानि ।

(३०) शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥३०॥

'पराचीनपरिग्रहे। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २-५-१६) इति च श्रुत्यन्तरम्। तस्मादध्यात्मसम्बन्धबाहुल्याद्ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः ॥२६॥]

[कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेशः—

इन्द्रो नाम देवतात्मा स्वमात्मानं परमात्मत्वेनाहमेव परं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्रं पश्यन्नुपदिशति स्म—'मामेव विजानीहि' इति। यथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति तद्वत्। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १-४-१०) इति श्रुतेः।] यत्पुनरुक्तं 'मामेव विजानीहि' इत्युक्त्वा विग्रहधर्मैरिन्द्र आत्मानं तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—न त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थत्वेनोपन्यासः—यस्मादेवंकर्माहं तस्मान्मां विजानीहीति। कथं तर्हि? विज्ञानस्तुत्यर्थत्वेन। [2]यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनि साहसान्युपन्यस्य परेण विज्ञानस्तुतिमनुसन्दधाति—'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—यस्मादीदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि

प्रत्यगात्मनि समन्वयो न तु ब्रह्मणि, तत्राह—अयमिति ॥२६॥

अहङ्कारवादस्य गतिं पृच्छति—कथमिति। सूत्रमुत्तरम्। तद्व्याचष्टे—इन्द्र इति। → जन्मान्तरकृतश्रवणादिना अस्मिञ्जन्मनि स्वतःसिद्धं दर्शनमार्षम्। विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थं उपन्यासो न चेत्कथं तर्हि स इति पृच्छति—कथमिति। ब्रह्मज्ञानस्तुत्यर्थः स इत्याह—विज्ञानेति। नियामकं ब्रूते—यदिति। परेण। 'तस्य मे' इत्यादिना वाक्येनेत्यन्वयः। स्तुतिमाह—एतदुक्तमिति। तस्माज्ज्ञानं

प्रकाशक है' ऐसी दूसरी श्रुति भी है। अतः अध्यात्मसम्बन्धबाहुल्य को देखते हुए ब्रह्म उपदेश ही मानना उचित होगा, देवता का उपदेश यह नहीं है ॥२६॥

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् (ललिता)

तो फिर वक्ता की आत्मा का ही उपदेश क्यों किया गया? ऐसा अहंकार की गति के सम्बन्ध में प्रश्न होता है। उसका उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया गया है कि जिस प्रकार किसी समय ऋषि वामदेव ने उपदेश किया था कि मैं ही सृष्टि के आरम्भ में मनु और सूर्य था वैसे ही शास्त्रदृष्टि से इन्द्र ने भी अपनी आत्मा का उपदेश किया। जन्मान्तरीय श्रवणादि से इस जन्म में स्वतः सिद्ध दर्शन को आर्ष दृष्टि कहते हैं। इन्द्र नामक देवता अपनी आत्मा को परमात्मस्वरूप से जानकर 'मैं ही परब्रह्म हूँ' ऐसी आर्ष दृष्टि से शास्त्रानुसार देखा और तब कहा 'मुझे ही जानो।' जिस प्रकार शास्त्रदृष्टि से वामदेव ऋषि ने 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इस रूप में अपने को जाना था, वैसे ही देवताओं में भी जिस जिस ने ऐसा जाना वह ब्रह्मभाव को प्राप्त कर गया' ऐसी श्रुति है।

और जो आप ने कहा था कि 'मुझे ही जानो' ऐसा कहकर विग्रहधर्म-त्वाष्ट्रवधादि द्वारा इन्द्र ने अपनी स्तुति की थी, इस आक्षेप का परिहार सुन लीजिए कि त्वाष्ट्रवधादि विज्ञेय इन्द्र की स्तुति

१. अनात्मा। २. यस्मात्कारणात्।

(३१) जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥३१॥

कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, स योऽन्योऽपि मां वेद न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यत इति। विज्ञेयं तु ब्रह्मैव 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति वक्ष्यमाणम्। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतत् ॥३०॥

यद्यप्यध्यात्मसम्बन्धभूमदर्शनान्न पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः, तथापि न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति। कुतः? जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च। जीवस्य तावदस्मिन्वाक्ये विस्पष्टं लिङ्गमुपलभ्यते 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि। अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते। तथा मुख्यप्राणलिङ्गमपि—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति।

श्रेष्ठमिति शेषः। स्तुतज्ञानविषय इन्द्र 'इत्यत आह—विज्ञेयं त्विति ॥३०॥

देहोत्थापनं जीवलिङ्गं किं न स्यात्, तत्राह—शरीरधारणं चेति। 'सर्वे वागादयः प्राणा अहमहं श्रेष्ठ इति विवदमानाः प्रजापतिमुपजग्मुः। स च तानुवाच, यस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरं पतिष्यति स वः श्रेष्ठ इति। तथा क्रमेण वागादिषूत्क्रान्तेष्वपि मूकादिभावेन शरीरं स्वस्थमस्थात्। मुख्यप्राणस्य तु उच्चिक्रमिषायां सर्वेषां व्याकुलत्वाप्तौ तान्वागादीन्वरिष्ठः प्राण उवाच, यूयं मोहं

के लिए नहीं कहे गये हैं कि मैं ऐसा पराक्रमी हूँ, इसलिए मुझे जानो। फिर किसके लिए कहे गये हैं? वह तो ब्रह्मज्ञान की स्तुति के लिए कहे गये हैं क्योंकि त्वाष्ट्रवधादि साहसकर्म का उपन्यासकर ब्रह्मज्ञान की स्तुति का अनुसन्धान अग्रिम वाक्य से इन्द्र करता है। ऐसा साहसपूर्ण कर्म करने पर मेरा एक लोम भी नष्ट नहीं हुआ, ऐसा मेरे स्वरूप को जो जानता है उसका भी किसी असाधु कर्म से कुछ बिगड़ता नहीं' इत्यादि वाक्य द्वारा आत्मविज्ञान की स्तुति की गयी है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार क्रूर कर्म करने वाले मुझ ब्रह्मज्ञानी का लोम भी नष्ट नहीं हुआ उस मेरे स्वरूप को जो कोई दूसरा भी जानता है, उसका भी किसी कर्म से मोक्षरूप लोक हिंसित नहीं होगा। विज्ञेय तो ब्रह्म ही है, जिसे 'मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ' इस वाक्य द्वारा भी कहा जायेगा। अतः यह ब्रह्मवाक्य ही है ॥३०॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् (ललिता)

यद्यपि अध्यात्मसम्बन्धबाहुल्य को देखते हुए अनात्मरूप देवतात्मा का उपदेश यहाँ नहीं है, फिर भी यह वाक्य ब्रह्मबोधक नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रसङ्ग में जीवलिङ्ग और मुख्यप्राणलिङ्ग देखे जाते हैं। उनमें '**न वाचं विजिज्ञासीत, वक्तारं विद्यात्**' इस वाक्य में जीवलिङ्ग विस्पष्ट दीखता है, क्योंकि वागादि इन्द्रियों से व्यापार करने वाला कार्य-करण का अध्यक्ष जीव है, उसी को यहाँ पर विज्ञेय कहा गया है। वैसे ही मुख्यप्राणलिङ्ग भी है '**अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं**

---

१. इत्यत आहेति—नेत्याहेत्यर्थः। २. छान्दोग्यबृहदारण्यकयोः पञ्चमषष्ठाध्याययोः प्रश्नादौ च पठितस्य प्राणसंवादस्य सर्वस्यैकवाक्यतामाश्रित्याह— सर्वे वागादय इत्यादि।

शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य धर्मः। प्राणसंवादे 'वागादीन्प्राणान्प्रकृत्य—'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' (प्र० २-३) इति श्रवणात्। ये तु 'इमं शरीरं परिगृह्य' इति पठन्ति तेषामिमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम्। प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम्। मुख्येऽपि प्राणे प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्नमेव। जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देशः स्वरूपेण च भेदनिर्देश इत्युभयथा निर्देश उपपद्यते—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति। ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद्भिद्येत। तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयातां न ब्रह्मेति चेत्। नैतदेवं, उपासात्रैविध्यात्। एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत, जीवोपासनं मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति। नचैतदेकस्मिन्वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम्। उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते।

माऽऽपद्यथ यतोऽहमेवैतत्करोमि। किं तत्? पञ्चधा प्राणापानादिभावेनात्मानं विभज्य एतद्वाति गच्छतीति वानं तदेव बाणमस्थिरं शरीरमवष्टभ्याश्रित्य धारयामीत्यर्थः। **द्विवचनसहवासोत्क्रान्तिश्रुतेश्च न ब्रह्म ग्राह्यमित्याह**—जीवमुख्येति। **अभेदनिर्देशमाह**—यो वा इति। **भेदमाह**—सहेति। **यदि जीवमुख्यप्राणयोर्लिङ्गादुपास्यत्वं तर्हि ब्रह्मणोऽपि लिङ्गानामुक्तत्वादुपासनं स्यात्। न चेष्टापत्तिः। उपक्रमादिना निश्चितैकवाक्यताभङ्गप्रसङ्गादित्याह**—नैतदेवमित्यादिना। **नच स्वतन्त्रपदार्थभेदाद्वाक्यभेदः किं न स्यादिति वाच्यं, जीवमुख्यप्राणयोरुक्तलिङ्गानां ब्रह्मणि नेतुं शक्यतया**

शरीरं परिगृह्योत्थापयति।' शरीर धारण करना मुख्यप्राण का धर्म है क्योंकि प्राणसंवाद में वागादि इन्द्रियों के प्रकरण से प्रसङ्ग प्रारम्भकर कहा है 'उन इन्द्रियों से वरिष्ठ प्राण ने कहा—तुम लोग मूर्खता मत करो, मैं ही अपने को पाँच भागों में विभक्तकर इस नश्वर-शरीर को पकड़कर धारण कर रहा हूँ' इत्यादि। जो लोग **'इमं शरीरं परिगृह्य'** ऐसा पाठ मानते हैं उनके मतानुसार इस जीव अथवा इन्द्रियसमुदाय को लेकर जो इस शरीर को उठाता है, वह प्राण है, ऐसी व्याख्या कर लेनी चाहिए। प्रज्ञात्मत्व भी, चेतन होने के कारण, जीव में घटता ही है। मुख्यप्राण में भी ज्ञान के साधन इन्द्रियों का आश्रय होने से प्रज्ञात्मत्व युक्तियुक्त ही है। जीव और मुख्यप्राण अर्थ लेने पर प्राण तथा प्रज्ञात्मा में सहवृत्तित्व होने से अभेद रूप में निर्देश किया गया है और स्वरूपतः उनके भेद का निर्देश भी है। **'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः'** ऐसा उभयथा निर्देश युक्तियुक्त है। प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म मानोगे तो किससे किसका भेद कहा जायेगा? अतः इस प्रसङ्ग में जीव और मुख्यप्राण में से किसी एक का अथवा दोनों का प्राण शब्द से ग्रहण करना चाहिए, ब्रह्म का नहीं?

ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तीन प्रकार की उपासनाओं का प्रसङ्ग आ जायेगा—जीवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना। पर एक वाक्य में त्रिधा उपासना मानना उचित नहीं है, क्योंकि उपक्रम-उपसंहार से एकवाक्यत्व प्रतीत होता है। यथा—'**मामेव**

---

१. इन्द्रियान्।

'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इत्युक्त्वान्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येकरूपावुपक्रमोपसंहारौ दृश्येते। तत्रार्थैकत्वं युक्तमाश्रयितुम्। नच ब्रह्मलिङ्गमन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्यम्। दशानां भूतमात्राणां प्रज्ञामात्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानुपपत्तेः। आश्रितत्वाच्चान्यत्रापि ब्रह्मलिङ्गवशात्प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तेः।[1]इहापि च हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गयोगाद्ब्रह्मोपदेश एवायमिति गम्यते। यत्तु मुख्यप्राणलिङ्गं दर्शितम्—'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति। तदसत्। प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात्परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्। 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ' (का० २-२-५) इति श्रुतेः। यदपि 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि

स्वातन्त्र्यासिद्धेः, अफलपदार्थस्य फलवद्वाक्यार्थशेषत्वेन प्रधानवाक्यार्थानुसारेण तल्लिङ्गनयनस्योचितत्वाच्च। नहि प्रधानवाक्यार्थब्रह्मलिङ्गमन्यथा नेतुं शक्यं, न वा तदुचितमित्याह—नच ब्रह्मलिङ्गमिति। सूत्रशेषं व्याचष्टे—आश्रितत्वाच्चेति। अन्यत्र 'अत एव प्राणः' (ब्र० सू० १-१-१३) इत्यादौ [2]वृत्तेराश्रितत्वादि[3]हापि तस्य ब्रह्मलिङ्गस्य योगाद्ब्रह्मपर एव प्राणशब्द इत्यर्थः। प्राणादिलिङ्गानि सर्वात्मके ब्रह्मण्यनायासेन नेतुं शक्यानीत्याह—यत्त्वित्यादिना। यस्मिन्नेतौ प्रेर्यत्वेन

विजानीहि' यहाँ से प्रारम्भ करके 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' ऐसा कहकर अन्त में 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' ऐसा कहा है, अतः उपक्रम-उपसंहार एक जैसे दीखते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थ एकत्व मानना ही युक्तिसंगत है। यदि कहो कि ब्रह्मलिङ्ग अन्य अर्थपरक मान लिया जाय? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि दश भूतमात्र एवं प्रज्ञामात्रा (पाँच विषय और उनके ज्ञान) ये ब्रह्म को छोड़कर अन्यत्र सिद्ध नहीं हो सकते।

सूत्र के शेष भाग की व्याख्या करते हैं कि ब्रह्मलिङ्ग के कारण 'अत एव प्राणः' इस सूत्र में प्राणशब्द की प्रवृत्ति लक्षणावृत्ति से ब्रह्म में मानी गयी है। यहाँ भी हिततम उपन्यास आदि ब्रह्मलिङ्ग का सम्बन्ध होने से यह भी ब्रह्म-उपदेश ही है ऐसा समझा जाता है। प्राणादि लिङ्गों को सर्वात्मक ब्रह्म में अनायास ही लगा सकते हैं जिसे भाष्यकार अग्रिमवाक्य से दिखलाते हैं कि जो आपने 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इस वाक्य से मुख्यप्राणलिङ्ग दिखलाया था, जिसके आधार पर प्राणशब्द का वायुविकार अर्थ मान रहे थे, वह सर्वथा असत् है क्योंकि प्राणव्यापार भी सर्वथा परमात्मा के अधीन है, इसलिए परमात्मा में प्राणव्यापार का औपचारिक प्रयोग होता है। अन्य श्रुति ने कहा है कि 'कोई भी प्राण और अपान से जीवित नहीं रहता, किन्तु जिसके आश्रित ये दोनों हैं, उससे जीवित रहता है।' अतः प्राण का व्यापार परमेश्वराधीन होने के कारण वस्तुतः परमेश्वर के ही हैं। और जो आप ने 'वाणी को जानने की इच्छा न करो, वक्ता को जानो' इत्यादि वाक्य से

---

१. इह तद्योगादिति व्याख्याति—इहापीत्यादिना। २. लक्षणावृत्तेः। ३. अव्यक्तं भाष्योक्तं व्यनक्ति—इहापीत्यादिना।

जीवलिङ्गं दर्शितं, तदपि न ब्रह्मपक्षं निवारयति । नहि जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्यः । बुद्ध्याद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सञ्जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते । तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुं 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादिना प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थमुपदेशो न विरुध्यते । 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (के० १·४) इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यैवात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शयति । यत्पुनरेतदुक्तम्—'सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति प्राणप्रज्ञात्मनोर्भेददर्शनं ब्रह्मवादे नोपपद्यत इति । नैष दोषः । ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रययोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्भेदनिर्देशोपपत्तेः । उपाधिद्वयोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद इत्यतः प्राण एव प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम् ।

अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इत्यस्यायमन्योऽर्थः । न ब्रह्म-

---

स्थितो तेनेतरेण ब्रह्मणा सर्वे प्राणादिव्यापारं कुर्वन्तीत्यर्थः । विशेषं परिच्छेदाभिमानमित्यर्थः । 'वक्तारं विद्यात्' इति न वक्तुर्ज्ञेयत्वमुच्यते, तस्य लोकसिद्धत्वात्, किन्तु तस्य ब्रह्मत्वं बोध्यते । तद्बोधाभिमुख्याय लिङ्गादय इत्यत्र श्रुत्यन्तरमाह—यद्वाचेति । येन चैतन्येन वागभ्युद्यते स्वकार्याभिमुख्येन प्रेर्यते तदेव वागादेरगम्यं ब्रह्मेत्यर्थः । तत्त्वम्पदवाच्ययोः स्वरूपतो भेदस्ताभ्यामुपलक्ष्यात्मस्वरूपाभेदादेकत्वं निर्दिश्यत इत्याह—नैष दोष इति ।

स्वमतेन सूत्रं व्याख्याय वृत्तिकृन्मतेन व्याचष्टे—अथवेति । उपासनात्रित्वप्रसङ्गादिति पूर्व-

---

जीवलिङ्ग दिखलाया था वह भी ब्रह्म पक्ष का व्यावर्तक नहीं है, क्योंकि **'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि'** इन श्रुतियों को देखते हुए जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता। बुद्धि आदि उपाधि के कारण परिच्छेदविशेष का आश्रय करने पर ब्रह्म ही जीव कहलाता है और वही कर्ता-भोक्ता भी कहा जाता है। जब उसके उपाधिकृत विशेष का परित्याग कर देते हैं, तब वह ब्रह्मस्वरूप ही रह जाता है। इसी बात को बतलाने के लिए **'न वाचं विजिज्ञासीत, वक्तारं विद्यात्'** इत्यादि वाक्य द्वारा आत्माभिमुख करने के लिए उपदेश किया जाना विरुद्ध नहीं है। 'जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिस परिच्छिन्न वस्तु की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है' इत्यादि श्रुत्यन्तर भी वचनादि क्रियाव्यापार न करने वाले आत्मा में ब्रह्मत्व का उपदेश करती है। और जो आप ने कहा था कि 'प्राण और प्रज्ञा इस शरीर में एक साथ रहते हैं और एक साथ उत्क्रमण करते हैं' इस वाक्य में प्राण और प्रज्ञात्मा में जो भेद कहा गया है वह ब्रह्मवादियों के यहाँ युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता? यह कोई दोष नहीं है। ज्ञानशक्ति का आश्रय बुद्धि है और क्रियाशक्ति का आश्रय प्राण है, ये दोनों ही प्रत्यगात्मा की उपाधि हैं। इन उपाधियों में व्यावहारिक दृष्टि से भेद कहना उचित ही है पर दोनों उपाधियों से उपहित आत्मा के स्वरूप में भेद नहीं है। अतः प्राण ही प्रज्ञात्मा है, ऐसा एकीकरण भी अविरुद्ध है।

स्वमतानुसार सूत्र की व्याख्याकर वृत्तिकार मतानुसार **'अथवा'** इत्यादि ग्रन्थ से व्याख्या

वाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते। कथम्? उपासात्रैविध्यात्। त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितं, प्राणधर्मेण प्रज्ञाधर्मेण स्वधर्मेण च। तत्र 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' इति, 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, 'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' इति च प्राणधर्मः। 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्य नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञया वाचं

मुक्तम्। [2]अत्र त्रिप्रकारकस्यैकब्रह्मविशेष्यकस्यैकस्योपासनस्य विवक्षितत्वादित्यर्थः। अतो न वाक्य-भेद इति भावः। देहचेष्टात्मकजीवनहेतुत्वं प्राणस्यायुष्ट्वं देहापेक्षया तस्य आमुक्तेरवस्थानाद-मृतत्वं, उत्थापयतीत्युक्थत्वमिति प्राणधर्मः। जीवधर्मानाह—अथेति। बुद्धिप्राणयोः सहस्थित्यु-त्क्रान्त्युक्त्यनन्तरमित्यर्थः। अत्र प्रज्ञापदेन साभासा जीवाख्या बुद्धिरुच्यते। तस्याः सम्बन्धीनि दृश्यानि सर्वाणि भूतानि यथैकं भवन्त्यधिष्ठानचिदात्मना, तथा व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्योक्तम्—वागेवेत्यादि। चक्षुरेवास्या एकमङ्गमदूदुहदित्यादिपर्यायाणां संक्षिप्तार्थ उच्यते। उत्पन्नाया असत्कल्पायाः साभासबुद्धेर्नामप्रपञ्चविषयित्वमर्धं शरीरम्, अर्थात्मकरूपप्रपञ्चविषयित्वमर्धं शरीरमिति मिलित्वा विषयित्वाख्यं पूर्णं शरीरमिन्द्रियसाध्यम्। तत्र कर्मेन्द्रियेषु वागेवास्याः प्रज्ञाया एकमङ्गं देहार्धमदूदुहत् पूरयामास। वागिन्द्रियद्वारा नामप्रपञ्चविषयित्वं बुद्धिर्लभत इत्यर्थः। चतुर्थी षष्ठ्यर्था। तस्याः पुनर्नाम किल चक्षुरादिना प्रतिविहिता ज्ञापिता भूतमात्रा रूपाद्यर्थरूपा परस्तादपरार्धे कारणं भवति। [3]ज्ञानकरणद्वाराऽर्थप्रपञ्चविषयित्वं बुद्धिः प्राप्नोतीत्यर्थः। एवं बुद्धेः सर्वार्थद्रष्टृत्वमुपपाद्य तन्निष्ठचित्प्रतिबिम्बद्वारा साक्षिणि द्रष्टृत्वाध्यासमाह—प्रज्ञयेति। बुद्धि-द्वारा चिदात्मा वाचमिन्द्रियं समारुह्य तस्याः प्रेरको भूत्वा वाचा करणेन सर्वाणि नामानि वक्तव्य-त्वेनाप्नोति, चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि पश्यतीत्येवं द्रष्टा भवतीत्यर्थः। तथाच सर्वद्रष्टृत्वं चिदात्मनि द्रष्टृत्वाध्यासनिमित्तत्वं च बुद्धेर्धर्म इत्युक्तं भवति। सर्वाधारत्वानन्दत्वादिर्ब्रह्मधर्म इत्याह—

करते हैं। पहले उपासनात्रित्व प्रसंग आ जाने के कारण पूर्वपक्ष को असंगत कहा था। अब तीन प्रकार से एक ब्रह्मविशेष्यक एक उपासना बतलाना अभीष्ट है, इसलिए वाक्यभेद नहीं है। यहाँ पर ऐसी ही उपासना का आश्रय लिया गया है, ऐसा वृत्तिकार का कथन है। अतः ब्रह्मवाक्य में जीवलिङ्ग और मुख्यप्राणलिङ्ग विरुद्ध नहीं पड़ता। कैसे? क्योंकि यहाँ पर प्राणधर्म, प्रज्ञाधर्म और स्वधर्म से विशिष्ट ब्रह्म उपासना बतलाना अभीष्ट है। उनमें **'आयुरमृतमिति उपास्स्व'** इस श्रुति से आयु प्राणधर्म सिद्ध होता है, 'इस शरीर को ग्रहणकर उठाता है, इसलिए उक्थरूप से इसकी उपासना करे' यह भी प्राणधर्म है। '**अथ**' इत्यादि ग्रन्थ से जीवधर्म बतलाते हैं। 'बुद्धि और प्राण शरीर में एक साथ रहते हैं, एक साथ उत्क्रमण करते है, यह पहले बतलाया जा चुका है। 'यहाँ पर प्रज्ञा पद से साभासबुद्धिरूप जीव को कहा जाता है, उस प्रज्ञा से सम्बद्ध सभी दृश्य अपने अधिष्ठान चिदात्मा में एक हो जाते हैं जिसकी व्याख्या हम करेंगे' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भकर 'इस प्रज्ञा के एक अङ्ग वाणी का ही दोहन किया, उसका पुनः नाम भूतमात्रा कहा। प्रज्ञा द्वारा यह जीव वाणी में

---

१. एकम्भवतीति पाठान्तरम्। २. अस्मिन्व्याख्याने। ३. ज्ञानेन्द्रियद्वारा।

समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादिः प्रज्ञाधर्मः । 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम् । यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः । यद्धि प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः । न ह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिद्ध्येत् । नो एतन्नाना । तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः । स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा' (कौ० ३-८, ९) इत्यादिर्ब्रह्मधर्मः । तस्माद्ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितम् । अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३-१४-२) इत्यादावुपाधिधर्मेण

ता वा इति । दशत्वं व्याख्यातम् । प्रज्ञा 'इन्द्रियजाः,[१]ता अधिकृत्य ग्राह्यभूतमात्रा वर्तन्ते, प्रज्ञामात्रा इन्द्रियाणि ग्राह्यं भूतजातमधिकृत्य वर्तन्त इति ग्राह्यग्राहकयोर्मिथः सापेक्षत्वमुक्तं साधयति—यदिति । तदेव स्फुटयति—न हीति । ग्राह्येण ग्राह्यस्वरूपं न सिध्यति किन्तु ग्राहकेण । एवं ग्राहकमपि ग्राह्यमनपेक्ष्य न सिध्यति । तस्मात्सापेक्षत्वादेतद्ग्राह्यग्राहकद्वयं वस्तुतो न भिन्नं किन्तु चिदात्मन्यारोपितमित्याह—नो इति । तद्यथेत्यादि कृतव्याख्यानम् । सूत्रार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । अन्यधर्मेणान्यस्योपासनं कथमित्याशङ्क्याश्रितत्वादित्याह—अन्यत्रापीति । उपाधिर्जीवः । तत् अन्यधर्मेणोपासनम् । इयमसङ्गता व्याख्या । तथाहि—न तावदारुण्याद्यनेकगुणविशिष्टाप्राप्तक्रयण-वदुपासात्रयविशिष्टस्य ब्रह्मणो विधिः सम्भवति, सिद्धस्य विध्यनर्हत्वात् । नापि ब्रह्मानुवादेनोपासा-त्रयविधिः, [३]वाक्यभेदात् । नच नानाधर्मविशिष्टमेकमुपासनं विधीयत इति वाच्यं, तादृशविधि-वाक्यस्यात्राश्रवणात् । नच 'तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' (कौ० ३-२) इत्यत्र मामिति जीवेन, आयुरिति प्राणेन, अमृतमिति ब्रह्मणा स्वस्वधर्मवता विशिष्टोपासनाविधिरिति वाच्यं, सर्वेषां धर्माणामश्रवणात्, ब्रह्माश्रुतेश्च । 'प्राणो वा अमृतम्' इति प्राणस्यैवामृतत्वश्रुतेः । अत उपासनाविधिलुब्धेन 'वक्तारं विद्यात्' (कौ० ३-८) 'एतदेवोक्थमुपासीत' (कौ० ३-३) 'स म आत्मेति विद्यात्' (कौ० ३-९) इति

आरूढ़ हो वाणी से सभी नाम को व्याप्त कर लेता है, अर्थात् सभी इन्द्रियों के व्यापार का प्रेरक जीव है' इत्यादि प्रज्ञाधर्म कहे गये हैं। 'ये सभी भूतमात्रा दश हैं जो इन्द्रियों के ग्राह्यरूप हैं और इन्द्रियाँ इनकी ग्राहक हैं। इस प्रकार अधिप्रज्ञ भी दश हैं और अधिभूत भी दश हैं। विषय को भूतमात्रा कहते हैं और इन्द्रियों को प्रज्ञामात्रा कहते हैं। विषयों के बिना इन्द्रियाँ निरर्थक हैं और इन्द्रियों से ही विषयों का अस्तित्व एवं विशेषज्ञान होता है, इसलिए एक दूसरे पर आधारित हैं, स्वतन्त्ररूप से इनकी सिद्धि नहीं होती। ये सभी आत्मा में आरोपित हैं, अतः नानात्व की शङ्का न करें। इसी को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि 'जैसे रथ के अरों में नेमि जुड़ी रहती है और रथ की नाभि में अरे जुड़े होते हैं, ऐसे ही ये भूतमात्रा विषय इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप प्रज्ञामात्रा में अर्पित हैं और प्रज्ञामात्रा प्राण में अर्पित है। इसलिए यह प्राण ही प्रज्ञा है' ये सब ब्रह्मधर्म हैं। अतः पूर्वोक्त उपाधिद्वय के धर्म से विशिष्ट और स्वधर्म से विशिष्टब्रह्म की एक ही उपासना त्रिविधरूप में बतलाना अभीष्ट है। ऐसे ही अन्यत्र भी 'मनोमयः प्राण-शरीरः' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में

---

१. पञ्चशब्दादिविषयज्ञानानि । २. ग्राहिकाः । ३. वाक्यभेदादिति—प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुण इत्याद्यन्यत्रोक्तेः ।

ब्रह्मण उपासनामाश्रितम्। इहापि तद्युज्यते वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात्प्राणप्रज्ञाब्रह्मलिङ्गावगमाच्च। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतदिति सिद्धम् ॥३१॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसासूत्रभाष्ये श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥



जीवप्राणब्रह्मोपासनविधयः, अन्ये गुणविषय इति स्वीकृत्यैकवाक्यत्वं त्याज्यं, तच्चायुक्तमुपक्रमादिनैकवाक्यतानिर्णयात्। तस्माज्ज्ञेयप्रत्यग्ब्रह्मपरमिदं वाक्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥३१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥



उपाधिधर्म से ब्रह्म की उपासना कही गयी है। तदनुसार यहाँ भी तीन प्रकार से एक ही ब्रह्म की उपासना बतलाना अभीष्ट है, क्योंकि उपक्रम-उपसंहार द्वारा वाक्य में एकार्थत्व जाना जाता है। साथ ही प्राण, प्रज्ञा और ब्रह्म के लिङ्ग का बोध भी होता है। अतः यह ब्रह्मवाक्य ही है, अन्यार्थबोधक नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥३१॥

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य प्रथमाध्याय प्रथम पाद की
श्रीकैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज
द्वारा रचित ललिता व्याख्या सम्पूर्ण हुई।

———



प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

१. सर्वत्र प्रसिद्धयधिकरणम् (सू० १-८)

मनोमयोऽयं शारीर ईशो वा प्राणमानसे। हृदयस्थित्यणीयस्त्वे जीवे स्युस्तेन जीवगाः।
शमवाक्यगतं ब्रह्म [1]तद्धितादिरपेक्षते। प्राणादियोगाच्चिन्तार्थश्चिन्त्य ब्रह्म प्रसिद्धितः।।

प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्युक्तम्। तस्य समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं, नित्यत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं, सर्वात्मकत्वमित्येवंजातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति। अर्थान्तरप्रसिद्धानां च

श्रीरामं सिद्धमत्तारं गुहाशायिनमन्तरम्।
अन्तर्यामिणमक्षेयं वैश्वानरमहं भजे।।

पूर्वपादेनोत्तरपादयोः सङ्गतिं वक्तुं वृत्तमनुवदति—प्रथम इति। जगत्कारणत्वोक्त्या व्यापित्वादिकमर्थात्सिद्धम्। [2]तदुपजीव्योत्तरं पादद्वयं प्रवर्तत इति हेतुहेतुमद्भावः सङ्गतिः। कथं [3]पादभेद इत्याशङ्क्य पादानां प्रमेयभेदमाह—अर्थान्तरेति। आकाशादिशब्दानां स्पष्टब्रह्मलिङ्गैर्ब्रह्मणि

प्रथम अध्याय द्वितीय पाद

१. सर्वत्र प्रसिद्धयधिकरण

१. इस पाद में उपास्य ब्रह्मविषयक अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्गयुक्त श्रुतिवाक्यों का विचार किया गया है। पिछले अधिकरण में जीवादि लिङ्गों का बाध हो जाने के कारण जिस प्रकार ब्रह्मपरत्व कहा गया था, वैसा यहाँ पर मनोमयादि वाक्य में अव्यभिचरित ब्रह्मलिङ्ग नहीं है, इसलिए पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की प्रत्युदाहरण संगति है।

२. 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' यह श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. मनोमय जीवात्मा है, अथवा परमात्मा है, ऐसा संशय होता है।

४. प्राण एवं मन जीव के होते हैं, हृदय में स्थिति और अणीयस्त्व भी जीव के धर्म हैं। अतः मनोमयत्वादि धर्म विशिष्ट जीव ही यहाँ पर उपास्यरूप से कहा गया है।

५. "सर्वं खल्विदं ब्रह्म इति शान्त उपासीत" इस शमवाक्यगत ब्रह्म की उपासना से जीव का हित होता है। अतः उसी की उपासना का विधान शाण्डिल्य विद्या में किया गया है। सर्वत्र वेदान्त में जो जगत् कारण ब्रह्म प्रसिद्ध है उसी को वाक्यारम्भ में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस वाक्य से कहा गया है, और वही तत्त्व मनोमयत्वादि धर्म विशिष्ट रूप से उपासना के लिए उपदिष्ट है। प्राण आदि का सम्बन्ध उपासना के लिए उसमें बताया गया है, ऐसा मानने पर प्रसंग का त्याग नहीं होता और न अप्रासङ्गिक बात का ग्रहण ही होता है। अतः शाण्डिल्य विद्या में मनोमयत्वादि धर्म विशिष्ट ही उपास्य है यह निश्चित हुआ।

प्रथम पाद में "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र द्वारा आकाशादि समस्त जगत् का जन्म स्थिति एवं लय का कारण ब्रह्म को कहा गया। उक्त समस्त जगत्कारण ब्रह्म के व्यापकत्व, नित्यत्व,

---

१. गौरिति युक्तम्। २. तद्धितो मयट्, आदिना समासग्रहः। ३. तदुपजीव्येति—उपपाद्यत्वेन तदाश्रित्येति यावत्। प्रथमपादोक्तं व्यापित्वादिकं तच्छब्दार्थः। ४. त्रयाणां पादानां भेदः।

(३२) सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥

केषाञ्चिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि सन्दिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि। पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि सन्दिह्यन्ते—किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किञ्चिदिति। तन्निर्णयाय द्वितीय-तृतीयौ पादावारभ्येते।

इदमाम्नायते—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत' 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा०३-१४-१,२) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिह मनोमयत्वा-

समन्वयो दर्शितः। अस्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यसमन्वयः पादद्वये वक्ष्यते। प्रायेणोपास्यज्ञेयब्रह्मैवात्पाद-योरवान्तरभेद इति भावः।

छान्दोग्यवाक्यमुदाहरति—इदमिति। तस्माज्जायत इति तज्जं, तस्मिल्लीयत इति तल्लं, तस्मिन्ननिति चेष्टत इति तदनं, तज्जं च तल्लं च तदनं चेति तज्जलान्। कर्मधारयेऽस्मिन् शाकपार्थिवन्यायेन मध्यमपदस्य तच्छब्दस्य लोपः। तज्जलानमिति वाच्ये छान्दसोऽवयवलोपः। इतिशब्दो हेतौ। सर्वमिदं जगद्ब्रह्मैव, तद्विवर्तत्वादित्यर्थः। ब्रह्मणि मित्रामित्रभेदा-भावाच्छान्तो रागादिरहितो भवेदिति गुणविधिः। 'स क्रतुमुपासनं कुर्वीतेति विहितोपासनस्य 'उपासीत' इत्यनुवादात्फलमाह—अथेति। क्रतुमयः सङ्कल्पविकार इत्यर्थः। पुरुषस्य ध्यान-विकारत्वं स्फुटयति—यथेति। इह यद्ध्यायति, मृत्वा ध्यानमहिम्ना तद्ध्येयरूपेण जायत इत्यर्थः।

सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व एवं सर्वात्मकत्व ऐसे धर्म भी कह दिये गये हैं। किसी दूसरे अर्थ में प्रसिद्ध प्राण, आकाश, ज्योति आदि शब्द ब्रह्मविषयक हैं इसके लिए कुछ हेतु बतलाते हुए कुछ वाक्य जिनमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट थे, पर उनमें सन्देह भी होता था, ऐसे वाक्यों को ब्रह्मपरक निश्चित किया गया। अब जिन वाक्यों में ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है और उनमें सन्देह होता है कि क्या ये वाक्य ब्रह्म को बतलाते हैं अथवा किसी दूसरे अर्थ को। बस इसी अर्थ के निर्णय के लिए प्रथमाध्याय के दूसरे एवं तीसरे पाद प्रारम्भ किये जा रहे हैं। इस प्रकार पूर्वपाद के साथ आगे के दो पादों की संगति भाष्यकार ने कही है। वह है हेतुहेतुमद्भावरूप।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् में ऐसा पाठ आता है कि "यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप है" क्योंकि उसी से यह उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है और उसी में चेष्टा करता है अर्थात् यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है। ब्रह्म का कोई शत्रु, मित्र नहीं है वैसे ही उपासक को भी रागादि रहित हो शान्त भाव से उपासना करनी चाहिए। 'पर उपासना किसकी करनी चाहिए' यह स्पष्ट नहीं है। 'पुरुष संकल्पमय होता है वह इस लोक में जैसा संकल्प करता है, मरने के बाद वह वैसा ही हो जाता है।

१. प्राणाकाशज्योतिरादीनाम्। २. ध्येयम्। ३. अवयवलोप इति—तदलोपश्चेत्यपि वक्तव्यम्। अकारलोप इत्यर्थः। ४. अधिकृतः पुरुषः। ५. फलमिति— गुणविधेः शेषिणं विशिष्टविधिमिति यावत्। अथवोपास्तेरेव फलम्। विधित्सितोपासनायाः फलमित्यर्थः। ६. ध्यानसामर्थ्येन।

द्भिर्धर्मैः [1]शारीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यत आहोस्वित्[2]परं ब्रह्मेति । किं तावत्प्राप्तम् ? शारीर इति । कुतः ? तस्य हि कार्यकरणाधिपतेः प्रसिद्धो मनआदिभिः सम्बन्धो न परस्य ब्रह्मणः, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २-१-२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति स्वशब्देनैव ब्रह्मोपात्तं, कथमिह शारीर आत्मोपास्य इत्याशङ्क्यते ? नैष दोषः । नेदं वाक्यं ब्रह्मोपासनाविधिपरं किं तर्हि ? शमविधिपरम् । यत्कारणं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्याह । एतदुक्तं भवति—यस्मात्सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मैव, तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्च । नच सर्वस्यैकात्मत्वे रागादयः सम्भवन्ति, [3]तस्माच्छान्त उपासीतेति । नच शमविधिपरत्वे सत्यनेन वाक्येन ब्रह्मोपासनं

क्रतुमयः सङ्कल्पप्रधान इति वाऽर्थः । क्रतोर्विषयमाह—मन इति । ब्रह्मेत्युपक्रमान्मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पमन्तर्हृदये ध्येयमित्यर्थः । पूर्वत्र ब्रह्मलिङ्गैरब्रह्मलिङ्गबाध उक्तः, न तथेहोपक्रमे ब्रह्मणो लिङ्गमस्ति, किन्तु [4]प्रकरणम् । तच्च शान्तिगुणविधानार्थम[5]न्यथासिद्धम् । अतो 'जीवलिङ्गं बलीय इति [6]प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—शारीर इत्यादिना । श्रुतिमाशङ्क्यान्यथासिद्ध्या परिहरति—नैष दोष इति । शमविधिपरत्वे हेतुमाह—यत्कारणमिति । यत एवमाह, तस्माच्छमविधिपरमित्यन्वयः । [अत्रेदंशब्दः प्रकृतब्रह्मपरामर्शार्थो नतु जगत्परामर्शार्थः, जगद्विशेषणे प्रयोजनाभावात् । अत्र प्रयोजनाभावेऽपि यत्र प्रयोजनं तत्र भवत्येव जगद्विशेषणं, यथा 'आत्मैवेदं सर्वम्' । अत्र बाधायां समानाधिकरणदार्ढ्यार्थं विशेषणमावश्यकं, तद्वाक्यस्य ज्ञेयब्रह्मविषयत्वात् । अत्र तूपासनायां बाधानावश्यकत्वाद्विषयाभेदेन ब्रह्मण उपास्यत्वात् ।] नच शमेति । शमध्यानयोर्विधौ वाक्यभेदा-

पुरुष मनोमय-प्राण शरीर और प्रकाशस्वरूप है, इस वाक्य से केवल फल कहा गया है । अतः यहाँ पर संशय होता है कि मनोमयत्वादि धर्म से युक्त जीवात्मा उपास्यरूप से कहा गया है अथवा ब्रह्म उपास्यरूप से बतलाया गया है ? मध्यस्थ पूर्वपक्षी से पूछता है कि आप क्या मानते हैं ? पूर्वपक्षी कहता है कि हमारे मतानुसार जीव ही उपास्य इस श्रुति में अभीष्ट है । क्योंकि स्थूल-सूक्ष्म शरीर का अधिपति होने से उस जीव का सम्बन्ध मन आदि के साथ प्रसिद्ध हो है । ब्रह्म का सम्बन्ध मन आदि के साथ हो ही नहीं सकता, क्योंकि 'प्राणरहित और मनरहित शुद्ध रूप वह परमात्मा है' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म में मन आदि उपकरणों का अभाव बतलाया गया है । सिद्धान्ती कहता है कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इस वाक्य में ब्रह्म शब्द से ही ब्रह्म का ग्रहण जब स्पष्ट रूप में किया गया है तो भला जीवात्मा के उपास्य होने की शङ्का यहाँ पर कैसे करते हो । पूर्वपक्षी इस दोष का परिहार करता है कि यह कोई दोष नहीं है । आप ने अभी-अभी जिस वाक्य को उद्धृत किया है वह ब्रह्म उपासना विधायक नहीं है ? फिर क्या है ? वह तो शम विधि बतलाने वाला है कि जब सब कुछ ब्रह्म ही है तो उपासक रागद्वेष से रहित हो उपासना करे । तात्पर्य यह है कि जब सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है क्योंकि यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, ब्रह्म में लीन होता है और ब्रह्म में ही चेष्टा करता है इस प्रकार सब में एकात्मत्व सिद्ध हो जाने पर जब रागादि सम्भव नहीं है तो

१. जीवः । २. परं ब्रह्मेति—जीवव्यावृत्तेश्वर इत्यर्थः । ३. रागादिविषयाभावात् । ४. प्रकरणमिति—तज्जलानित्युक्तयोत्पत्त्यादिधर्माणामस्ति धर्म्याकांक्षा, धर्मिणो ब्रह्मणश्चास्ति तद्धर्माकांक्षेति प्रकरणं निष्पन्नमिति तदाशयः । वस्तुतः एकार्थबोधकमहावाक्याख्यं लौकिकं प्रकरणमत्र ग्राह्यम् । उभयाकांक्षाऽभावेन पारिभाषिकस्यासम्भवात् । ५. अन्यथासिद्धमिति—शान्तिगुणविधानेन चरितार्थमित्यर्थः । ६. हृदयायतनत्वमणीयस्त्वं च वक्ष्यमाणम् । ७. वैपरीत्येन ।

नियन्तुं शक्यते। उपासनं तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इत्यनेन विधीयते। क्रतुः सङ्कल्पो [illegible] 'तस्य च विषयत्वेन श्रूयते—'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गम्। अतो ब्रूमो जीवविषयमेतदुपासनमिति। 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्याद्यपि श्रूयमाणं पर्यायेण जीवविषयमुपपद्यते। 'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इति च हृदयायतनत्वमणीयस्त्वं चाराग्रमात्रस्य जीवस्यावकल्पते नापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः। ननु 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्याद्यपि न परिच्छिन्नेऽवकल्पत इति। अत्र ब्रूमः—न तावदणीयस्त्वं ज्यायस्त्वं चोभयमेकस्मिन्समाश्रयितुं शक्यं, विरोधात्। अन्यतराश्रयणे च प्रथमश्रुतत्वादणीयस्त्वं युक्तमाश्रयितुं, ज्यायस्त्वं तु ब्रह्मभावापेक्षया भविष्यतीति। निश्चिते च जीवविषयत्वे यदन्ते ब्रह्मसङ्कीर्तनम्—'एतद्ब्रह्म' (छा० ३-१४-४) इति, तदपि प्रकृतपरामर्शार्थत्वाज्जीवविषयमेव। तस्मान्मनोमयत्वादिभिर्धर्मैर्जीव उपास्य इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—[२]परमेव ब्रह्म

पत्तेरित्यर्थः। जन्मपरम्परया जीवस्यापि सर्वकर्मत्वादिसम्भवमाह—सर्वकर्मेति। सर्वाणि कर्माणि यस्य। सर्वे कामा भोग्या यस्य। सर्वगन्धः सर्वरस इत्यादिरादिशब्दार्थः। आराग्रमात्रस्येति। [३]तोत्रप्रोतायः शलाकाग्रपरिमाणस्येत्यर्थः। सर्वत्र प्रसिद्धब्रह्मण एवात्रोपास्यत्वोपदेशान्न जीव उपास्यः

उपासक शान्त होकर उपासना करे। जब इस वाक्य को शमविधिपरक मान लिया तो फिर इस वाक्य से ब्रह्मोपासना का नियमन नहीं किया जा सकता। किन्तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इस वाक्य से ही उपासना का विधान है। क्रतु शब्द का अर्थ संकल्प अर्थात् ध्यान होता है। उस ध्यान के विषयरूप में "मनोमयः प्राणशरीरः" इत्यादि वाक्य द्वारा जिसे कहा गया है वह तो जीव ही हो सकता है क्योंकि मन और प्राण जीव का लिङ्ग है। इसीलिए हम पूर्वपक्षी यह मानते हैं कि यह उपासना जीव विषयक है। यद्यपि सर्वकर्मा, सवकामः जीवात्मा एक शरीर से नहीं हो सकता पर अनादि संसार में जीव के अगणित शरीर हो चुके हैं। उन शरीरों से जीवात्मा भी सर्वकर्मा, सर्वकामः इत्यादि हो ही सकता है। इसके अतिरिक्त 'यह हृदय में रहने वाली मेरी आत्मा धान्य तथा जौ से भी छोटा है' इस वाक्य द्वारा जो हृदयायतनत्व और अणीयस्त्व कहा गया है वह चाबुक की नोंक पर लगे हुए आरो के अग्रभाग से छोटे यह विशेषण जीवात्मा में ही घटता है, व्यापक ब्रह्म में नहीं घटता। इस पर सिद्धान्ती की ओर से कहा जाता है फिर भला, 'पृथ्वी से भी बड़ा है' इत्यादि वाक्य द्वारा जो "ज्यायस्त्वम्" कहा गया है वह परिच्छिन्न जीव में कैसे घटेगा। इसका समाधान हम पूर्वपक्षी इस प्रकार करते हैं कि एक ही में अणीस्त्व और ज्यायस्त्व ये परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं रह सकते। इन दोनों में से किसी एक का आश्रय मुख्यरूप से मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर अणीयस्त्व शब्द प्रथम सुना गया है, वह परिच्छिन्न जीवात्मा में निर्विरोध है, फिर पश्चात् भावी ज्यायस्त्व जीवात्मा में तब हो जायेगा जब जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त करेगा। जब यह अर्थ निश्चित हो गया कि यह उपासना जीवविषयक है तो जो अन्त में "एतद्ब्रह्म" इस वाक्य द्वारा जो ब्रह्म संकीर्तन है वह भी प्रकृत का परामार्शक होने के कारण जीव को ही बतलाता है। अतः मनोमयत्वादि धर्मों से

---

१. ध्यानस्य। २. जीवव्यावृत्त ईश्वर एव। ३. प्राजनं तोदनं तोत्रमित्यमरः। त्रीणि वृषादेस्ताडनोपयोगिनस्तोत्रस्य चाबुक इति ख्यातस्य, तोत्रवेत्रैकपाणय इति गीता, तुद्यतेऽनेनेति विग्रहे दाम्नीत्यादिसूत्रेण ष्ट्रन्।

मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यम् । कुतः? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । यत्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दस्या'लम्बनं जगत्कारणं, इह च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रुतं, तदेव मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टमुपदिश्यत इति युक्तम् । एवं च प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये न भविष्यतः । ननु वाक्योपक्रमे शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं, न स्वविवक्षयेत्युक्तम् । अत्रोच्यते—यद्यपि शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं, तथापि मनोमयत्वादिषूपदिश्यमानेषु तदेव ब्रह्म सन्निहितं भवति, जीवस्तु न सन्निहितो नच स्वशब्देनोपात्त इति वैषम्यम् ॥१॥ ✓

इति सूत्रार्थमाह—सर्वत्रेति । यत्र फलं नोच्यते तत्र पूर्वोत्तरपक्षसिद्धिः फलमिति मन्तव्यम् । 'यद्यपि 'निराकाङ्क्षं ब्रह्म तथापि 'मनःप्रचुरमुपाधिरस्य, प्राणः शरीरमस्येति समासान्तर्गतसर्वनाम्नः सन्निहितविशेष्याकाङ्क्षत्वाद्ब्रह्म सम्बध्यते। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इति 'संस्कारार्थसदनस्य निराकाङ्क्षस्यापि 'तस्मिन्सीद' इति साकाङ्क्षतच्छब्देन परामर्शदर्शनादित्याह—अत्रोच्यत इति । स्योनं पात्रं, ते पुरोडाशस्येति श्रुत्यर्थः । जीवोऽपि लिङ्गात्सन्निहित इत्यत आह—जीवस्त्विति । इदं हि लिङ्गद्वयं लोकसिद्धं जीवं न सन्निधापयति, दुःखिन उपास्त्ययोग्यत्वात्फलाभावाच्च । अतो विश्वजिन्न्यायेन सर्वाभिलषितमानन्दरूपं ब्रह्मैवोपासनाक्रियानुबन्धीति भावः । किञ्च ब्रह्मपदश्रुत्या लिङ्गबाध इत्याह—नचेति । अन्यतराकाङ्क्षानुगृहीतं' फलवत्प्रकरणं विफललिङ्गाद्बलीय इति समुदायार्थः ॥१॥

युक्त जीव ही यहाँ पर उपास्य है, ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं—"सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्" इति ।

सभी श्रुतियों में जिस जगत्कारण को ब्रह्म शब्द का वाच्य बतलाया गया है उसी को "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस वाक्य आरम्भ में हम सुनते हैं। वही ब्रह्म मनोमयत्वादि धर्म से विशिष्ट यहाँ पर उपासना के लिए उपदिष्ट है, ऐसा मानना युक्तिसंगत है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रकृत का हानि और अप्रकृत की प्रक्रिया नहीं होगी, अन्यथा प्रकृत ब्रह्म छूट जाएगा और अप्रकृत जीव का ग्रहण होने लग जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि वाक्यारम्भ में ब्रह्म का निर्देश स्वविवक्षा से नहीं किया गया है, वह तो शमविधि बतलाने की इच्छा से किया गया है। सिद्धान्ती का कहना है कि यद्यपि शमविधि बतलाने की इच्छा से वाक्यारम्भ में ब्रह्म का निर्देश है फिर भी उपदिश्यमान मनोमयत्वादि में सन्निहित होने के कारण वही ब्रह्म ध्यान का विषय माना जायेगा। जीवात्मा न तो सन्निहित है और न जीव शब्द से उसका उपादान ही है। इस प्रकार वैषम्य होने के कारण ब्रह्म की उपासना मानना ही युक्तिसङ्गत है ॥१॥

---

१. वाच्यम् । २. यद्यपीति—अनेनान्यतराकाङ्क्षारूपमेवेह प्रकरणं नतूभयाकाङ्क्षारूपमिति सूचयति । ३. निराकांक्षमिति—तथा चोपासनाया उपास्याकांक्षायां सत्यपि उभयाकांक्षाया अभावात्प्रकरणमसम्भवीति भावः । ४. मनोमयं मनःप्रचुरमित्यर्थमभिप्रेत्य मनःप्रचुरपदे समास दर्शयति—मनः प्रचुरमस्येति । प्रचुरशब्दार्थमाह—उपाधिरिति । ५. संस्कारशेषस्येत्यर्थः । निराकांक्षतासम्पादकमेतद्विशेषणम् । ६. अनुग्रहीतं सम्पादितमिति यावत् ।

(३३) विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥२॥

वक्तुमिष्टा विवक्षिताः । यद्यप्यपौरुषेये वेदे वक्तुरभावान्नेच्छार्थः सम्भवति, तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते । लोके हि यच्छब्दाभिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तदविवक्षितमिति । तद्वद्वेदेऽप्युपादेयत्वेनाभिहितं विवक्षितं भवति, इतरदविवक्षितम् । उपादानानुपादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते । तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसङ्कल्पप्रभृतयस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । सत्यसङ्कल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते । परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्मापहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्यत्र 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' इति श्रुतम् । आकाशात्मेत्यादिनाकाशवदात्माऽस्येत्यर्थः । सर्वगतत्वादिभिर्धर्मैः सम्भवत्याकाशेन साम्यं ब्रह्मणः । 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादिना चैतदेव दर्शयति । यदाप्याकाश

वस्तुनो विवक्षायाः फलमुपादानं स्वीकारः, स च प्रकृतेषु गुणेष्वस्तीति विवक्षोपचार इत्याह—तथाप्युपादानेनेति । नन्विदं ग्राह्यमिदं त्याज्यमिति धीर्विवक्षाधीना वेदे 'कुतः स्यादित्यत आह—उपादानानुपादाने त्विति । तात्पर्यं नाम 'फलवदर्थप्रतीत्यनुकूलत्वं शब्दधर्मः । उपक्रमादिना 'तस्य ज्ञानात्त'योरवगम इत्यर्थः । तदिहेति । तत् तस्मात् 'तात्पर्यवत्त्वादित्यर्थः । सर्वात्मत्वे प्रमाण-

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च (ललिता)

जो बतलाना अभीष्ट होता है उसे विवक्षित कहते हैं। विवक्षा से वस्तु का उपादान होता है, वह प्रकृत गुणों में है, इसीलिए अपौरुषेय वेद में औपचारिक दृष्टि से विवक्षा कहा है अन्यथा अपौरुषेय वेद में जब वक्ता ही नहीं तो फिर भला इच्छा अर्थ कैसे हो सकता है। लोक में जो शब्द से वतलाया गया उपादेय पदार्थ होता है उसे विवक्षित कहते हैं और जो शब्द से उपादेय नहीं बतलाया गया हो ऐसे अनुपादेय पदार्थ को अविवक्षित कहते हैं। वैसे ही वेद में भी उपादेयत्वेन कहा गया है विवक्षित और इससे विपरीत पदार्थ को अविवक्षित मानना चाहिए। उपादान और अनुपादान का बोध वेद के तात्पर्य और अतात्पर्य से होता है। अर्थात् जिसमें वेद का तात्पर्य होता है उसका उपादान किया जाता है और जिसमें वेद का तात्पर्य नहीं होता उसका उपादान नहीं किया जाता। यहाँ छान्दोग्य श्रुति में उपासना के लिए विवक्षित गुण को उपादेयरूप से बतलाया गया है, वे हैं सत्यसंकल्पादि। ये सभी गुण परब्रह्म में ही घटते हैं क्योंकि सृष्टि, स्थिति एवं संहार जैसे दुष्कर कार्य में ब्रह्म की शक्ति का प्रतिघात नहीं होता, इसीलिए ब्रह्म को सत्यसंकल्प कहा जाता है। परमात्मा के गुणरूप में **"य आत्मा अपहतपाप्मा"** इस श्रुति में **"सत्यकामः सत्यसंकल्पः"** ऐसा सुना गया है। **"आकाशात्मा"** इस वाक्य के द्वारा आकाश के सदृश व्यापक परमात्मा को कहा गया है क्योंकि सर्वव्यापकत्वादि धर्मों के कारण ब्रह्म आकाश के समान है। इसी बात को 'वह परमेश्वर पृथ्वी से बड़ा है' इत्यादि वाक्य द्वारा भी बतलाते हैं। कुछ लोग 'आकाश है आत्मा

१. वक्तुरभावादिति शेषः । २. उपासनारूपो यः फलवदर्थस्तस्यैवंविधगुणविशिष्टस्य ब्रह्मण उपासनाकार्यंत्याकारिका प्रतीतिस्तदनुकूलत्व तज्जनकत्वमुपासनावाक्येऽस्तीति लक्षणसमन्वयः । ३. तस्य तात्पर्यस्य । ४. तयोरुपादानानुपादानयोः । ५. तात्पर्यवत्त्वादिति—विवक्षितत्वे विषयतया हेतुः ।

(३४) अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥

आत्मा यस्येति व्याख्यायते, तदापि सम्भवति सर्वजगत्कारणस्य सर्वात्मनो ब्रह्मण आकाशात्मत्वम्। अत एव 'सर्वकर्मा' इत्यादि। एवमिहोपास्यतया विवक्षिता गुणा ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। यत्तूक्तं 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गं न तद्ब्रह्मण्युपपद्यत इति, तदपि ब्रह्मण्युपपद्यत इति ब्रूमः। सर्वात्मत्वाद्धि ब्रह्मणो जीवसम्बन्धीनि 'मनोमयत्वादीनि ब्रह्मसम्बन्धीनि भवन्ति। तथाच ब्रह्मविषये श्रुतिस्मृती भवतः—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (श्वे० ४-३) इति। 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति'(गी० १३-१३) इति च। 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति श्रुतिः शुद्धब्रह्मविषया। इयं तु 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति सगुणब्रह्मविषयेति विशेषः। अतो विवक्षितगुणोपपत्तेः परमेव ब्रह्मेहोपास्यत्वेनोपदिष्टमिति गम्यते ॥२॥

पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता। अनेन तु शारीरे तेषाम-

---

माह—तथाचेति। जीर्णः स्थविरो यो दण्डेन वञ्चति गच्छति सोऽपि त्वमेव। यो जातो बालः स त्वमेव। सर्वतः सर्वासु दिक्षु श्रुतयः श्रोत्राण्यस्येति सर्वतः श्रुतिमत्। सर्वजन्तूनां प्रसिद्धाः पाण्यादयस्तस्येति सर्वात्मत्वोक्तिः ॥२॥

ननु जीवधर्माश्चेद्ब्रह्मणि योज्यन्ते तर्हि ब्रह्मधर्मा एव जीवे किमिति न योज्यन्ते, तत्राह—अनुपपत्तेरिति। सूत्रं व्याचष्टे—पूर्वेणेति। सर्वात्मत्वादिरुक्तन्यायः, कल्पितस्य धर्मा अधिष्ठाने

जिसका' ऐसी व्याख्या करते हैं। ऐसा अर्थ करने पर भी जगत् कारण सर्वात्मा ब्रह्म में आकाशस्वरूप भी संभव हो जाता है। इसीलिए "सर्वकर्मा" इत्यादि गुण भी उसमें घटते हैं। ऐसे ही इस छान्दोग्य श्रुति में उपास्यरूप से बतलाये गये गुण ब्रह्म में घटते हैं। अतः वहाँ पर ब्रह्म ही उपास्य है। और जो आपने कहा था कि "मनोमयः प्राणशरीरः" ये जीवलिङ्ग हैं जो ब्रह्म में घटते नहीं हैं? ऐसा कहना ठीक नहीं है। हम मनोमयत्वादि गुणों को ब्रह्म में घटाते हैं। ब्रह्म सर्वात्मा है इसलिए जीव सम्बन्धी गुण भी ब्रह्म से सम्बन्धित माने जायेंगे। ऐसा ही ब्रह्म के विषय में श्रुति और स्मृति भी है 'तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है और तू ही कुमारी है, तू बूढ़ा हो जाने पर दण्डे के सहारे चलते हो, तू उत्पन्न हुए हो और तुम्हारे मुख सभी ओर है' ऐसी श्रुति है। 'सभी ओर हाथ और पैर हैं, सभी ओर उसके आँख, सिर और मुख हैं, सभी ओर उसका श्रोत्र है और लोक में सबको आवृत कर वह स्थित है' ऐसी स्मृति है। "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" यह श्रुति तो शुद्ध ब्रह्म को बतलाती है किन्तु "मनोमयः प्राणशरीरः" यह श्रुति सगुण ब्रह्म को विषय करती है। अतः विवक्षित गुणों को युक्तियुक्तता को देखते हुए परब्रह्म ही यहाँ पर उपास्यरूप से उपदिष्ट जाना जाता है ॥२॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः (ललिता)

जीवधर्म यदि ब्रह्म में घटाते हैं तो ब्रह्मधर्म ही जीव में क्यों नहीं घटाते? इसका समाधान

---

१. मनोमयत्वादीनि लिङ्गानीति शेषः।

(३५) कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥४॥

नुपपत्तिरुच्यते । तुशब्दोऽवधारणार्थः । ब्रह्मैवोक्तेन न्यायेन मनोमयत्वादिगुणं, नतु शारीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः । यत्कारणं 'सत्यसङ्कल्पः, आकाशात्मा, अवाकी अनादरः, ज्यायान्पृथिव्या' इति चैवंजातीयका गुणा न शारीर आञ्जस्येनोपपद्यन्ते । शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः । नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति । सत्यम् । शरीरे भवति नतु शरीर एव भवति । 'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' (छा० ३-१४-३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च व्यापित्वश्रवणात् । जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ॥३॥

इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः, यस्मात्कर्मकर्तृव्यपदेशो भवति 'एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि' (छा० ३-१४-४) इति । एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यमात्मानं कर्मत्वेन प्राप्यत्वेन व्यपदिशति । अभिसम्भवितास्मीति, शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन प्रापकत्वेन । अभिसम्भवितास्मीति, प्राप्तास्मीत्यर्थः । न च सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्य-

---

सम्बध्यन्ते, नाधिष्ठानधर्माः कल्पित इति भावः । [अधिष्ठानज्ञानकाले कल्पितधर्माभावात्] वागेव वाकः सोऽस्यास्तीति वाकी, न वाकी अवाकी, अनिन्द्रिय इत्यर्थः । कुत्राप्यादरः कामोऽस्य नास्तीत्यनादरः नित्यतृप्त इत्यर्थः । ज्यायस्त्वाद्यनुपपत्तौ शारीर इति परिच्छेदो हेतुः सूत्रोक्तः । स तु जीवस्यैव नेश्वरस्येत्याह—सत्यमित्यादिना ॥३॥

अग्रिम सूत्र से देते हैं कि पूर्व सूत्र से ब्रह्म में विवक्षित गुणों की संगति कही थी । अब इस सूत्र से जीव में उन गुणों की असंगति कहते हैं । सूत्र में आया हुआ "तु" शब्द अवधारणार्थक है अर्थात् उक्त न्याय से ब्रह्म ही मनोमयत्वादि गुण वाला है, जीवात्मा मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट नहीं है क्योंकि उसमें सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, अवाकी, अनादरः, "**ज्यायान्पृथिव्याः**" इत्यादि गुण जीवात्मा में सरलता से घटते नहीं हैं । शरीर में जो रहता हो उसे शारीर कहते हैं । पूर्वपक्ष—ईश्वर भी तो शरीर में रहता है, ऐसी स्थिति में उसे भी शारीर कहना चाहिए ? आपका कहना ठीक है क्योंकि ईश्वर शरीर में रहता है किन्तु शरीर में ही नहीं रहता । उसे तो "**ज्यायान्पृथिव्याः ज्यायानन्तरिक्षात्, आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः**" इन श्रुतियों से व्यापक कहा गया है । पर जीव तो शरीर में ही रहता है क्योंकि शरीर जीवात्मा का भोगायतन है । अतः शरीर से बाहर जीव का व्यापार नहीं होता, वाणी को ही वाकः कहते हैं वह जिसमें नहीं हो उसे अवाकी अर्थात् अतीन्द्रिय कहा जाता है । जिसका कही भी आग्रह न हो उसे अनादर कहते हैं अर्थात् जो नित्यतृप्त हो ॥॥३॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च (ललिता)

इसलिए भी मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट जोवात्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि 'यहाँ से जाकर उस परमेश्वर को प्राप्त कर लूँगा' इस श्रुति के द्वारा "**एतम्**" पद प्रकृत मनोमयत्वादि गुणवाले उपास्य आत्मा को प्राप्यत्वेन कहता है और शारीर उपासक को प्रापकत्वेन कहता है । **अभिसम्भवितास्मि** का अर्थ है **प्राप्तास्मि,** जो भेद मानने पर ही सुसंगत हो सकेगा । यह कर्मकर्तृ-

(३६) शब्दविशेषात् ॥५॥

(३७) स्मृतेश्च ॥६॥

पदेशो युक्तः। तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव। तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादिविशिष्टः ॥४॥

इतश्च शारीरादन्यो मनोमयत्वादिगुणः, यस्माच्छब्दविशेषो भवति समानप्रकरणे श्रुत्यन्तरे—'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्मयः' (शत० ब्रा० १०-६-३-२) इति। शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति। तस्माद्वि[१]शिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः। तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते ॥५॥

स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।' (गी० १८-६१) इत्याद्या। अत्राह—कः पुनरयं शारीरो नाम परमात्मनोऽन्यः, यः प्रतिषिध्यते 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादिना।

प्रापकत्वेन व्यपदिशतीति सम्बन्धः। कर्मकर्तृव्यपदेशपदस्यार्थान्तरमाह—तथोपास्येति ॥४॥

एकार्थत्वं प्रकरणस्य समानत्वम्। अन्तरात्मन्निति विभक्तिलोपश्छान्दसः। शब्दयोर्विशेषो विभक्तिभेदः। तस्मात्तदर्थयोर्भेद इति सूत्रार्थः ॥५॥

स्मृतौ हृदिस्थस्य जीवाद्भेदोक्तेरत्रापि हृदिस्थो मनोमय ईश्वर इत्याह—स्मृतेश्चेति। भूतानि जीवान्। यन्त्रं शरीरम्। अत्र सूत्रकृता सत्यभेद उक्त इति भ्रान्तिनिरासायेक्षत्यधिकरणे निरस्तमपि चोद्यमुद्भाव्य निरस्यति—अत्राहेत्यादिना। त्वदुक्तरीत्या वस्तुत एकत्वमेव, भेदस्तु कल्पितः

व्यपदेश भेदाधिष्ठान में होता है एक में नहीं होता। यदि गति सम्भव हो तो एक में कर्मकर्तृ व्यपदेश घटाने का व्यर्थ प्रयास नहीं करना चाहिए। वैसे ही उपास्य-उपासक भाव भी भेदाश्रित ही रहता है। इसलिए भी जीवात्मा मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट उपास्य यहाँ नहीं माना जा सकता ॥४॥

शब्दविशेषात् (ललिता)

जीवात्मा से भिन्न मनोमयत्वादि विशिष्ट तत्त्व परमात्मा ही यहाँ पर लिया जायेगा क्योंकि समान प्रकरणस्थ अन्य श्रुतियों में शब्द विशेष यथा 'व्रीहि, यव, श्यामाक और उसके चावल के समान अति सूक्ष्म हिरण्यमय पुरुष अन्तरात्मा में रहता है' इस वाक्य में जीवात्मा का वाचक सप्तम्यन्त "अन्तरात्मन्" शब्द है और उससे विलक्षण प्रथमान्तपद मनोमयत्वादि विशिष्ट आत्मा का वाचक पुरुष शब्द है। अतः जीव और परमेश्वर में भेद अवगत हो रहा है। जब शब्द में भेद है तो अर्थ में भी भेद होना ही चाहिए। **अन्तरात्मन्** पद में सप्तमी विभक्ति का छान्दस लोप हो गया है ॥५॥

स्मृतेश्च (ललिता)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण भूतों के हृदय में स्थित ईश्वर है जो शरीररूप यन्त्रारूढ सभी प्राणियों को अपनी माया से नचाता रहता है' यह स्मृति भी जीवात्मा-परमात्मा में भेद बतलाती है। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा कि परमात्मा से भिन्न जीवात्मा क्या वस्तु है जिसका निषेध "**अनुपपत्तेस्तु न**

---

१. विलक्षणः।

(३८) अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥

श्रुतिस्तु—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' (बृ० ३-७-२३) इत्येवंजातीयका परमात्मनोऽन्यमात्मानं वारयति । तथा स्मृतिरपि—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३-२) इत्येवंजातीयकेति । अत्रोच्यते—सत्यमेवैतत् । पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते, तद्वत् । 'तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुध्यते, प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात् । गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात् ॥६॥

अर्भकमल्पमोको नीडं, 'एष म आत्मान्तर्हृदये' इति परिच्छिन्नायतनत्वात्, स्वशब्देन च 'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यणीयस्त्वव्यपदेशात्, शारीर एवाराग्रमात्रो जीव इहोपदिश्यते,न सर्वगतः परमात्मेति यदुक्तं तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः । न तावत्प-

---

सूत्रेष्वनूद्यत इत्याह—सत्यमिति ॥६॥

अर्भकमोको यस्य सोऽर्भकौकाः तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादार्थिकमल्पत्वम् । अणीयानित्यल्पत्ववाचकशब्देनापि श्रुतमित्याह—स्वशब्देनेति । नायं दोष इत्युक्तं विवृणोति—न तावदिति । कथ-

---

शारीरः" इस सूत्र से लिया गया है । श्रुति ने तो "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" "नान्योऽतोऽस्ति श्रोता" इत्यादि वाक्य द्वारा परमात्मा से भिन्न जीवात्मा का निषेध करती है । वैसी ही 'हे अर्जुन ! सभी शरीरों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान' यह स्मृति भी बतलाती है । इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि आपकी शङ्का बहुत ठीक है । परमात्मा ही देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिरूप उपाधि से परिच्छिन्न जब हो जाता है तब अज्ञानी जीव उसे शारीर कहते हैं । यह उपचार मात्र है वास्तविक नहीं है । जैसे घट कमण्डलु आदि उपाधि के कारण अपरिच्छिन्न आकाश भी परिच्छिन्न की भाँति भासता है । वैसे ही परिच्छिन्न ब्रह्म भी उपाधि के कारण परिच्छिन्न जैसा प्रतीत होता है । उपाधि की अपेक्षा से कर्मत्व-कर्तृत्व भेद व्यवहार भी "तत्त्वमसि" इस वाक्य द्वारा आत्मैकत्व साक्षात्कार से पूर्व विरुद्ध नहीं है जब ब्रह्मात्मैक्यबोध हो जाता है तब बन्ध मोक्षादि सब व्यवहार समाप्त हो ही जाते हैं । तात्पर्य यह कि जीव एवं ब्रह्म में कल्पित औपाधिक भेद है और परमार्थतः अभेद है ॥६॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च (ललिता)

पूर्वपक्ष इस प्रसंग में उपास्य तत्त्व के लिए 'यह मेरी आत्मा हृदय के भीतर है' इस वाक्य द्वारा छोटा सा नीड कहकर परिच्छिन्न आयतन का प्रयोग किया गया है । साथ ही 'व्रीहि से छोटा, जौ से भी छोटा' इन वाक्यों द्वारा अपने ही शब्दों में श्रुति ने "अणीयस्त्व" का व्यपदेश किया है । अतः आराग्र मात्र जीव ही यहाँ पर शारीर पद से बतलाया गया है, सर्वव्यापक परमात्मा नहीं ।

---

१. उपाधिरपेक्षया ।

रिच्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमप्युपपद्यते। सर्वगतस्य तु सर्वदेशेषु विद्यमानत्वात्परिच्छिन्नदेशव्यपदेशोऽपि कयाचिदपेक्षया सम्भवति। यथा समस्तवसुधाधिपतिरपि हि सन्नयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते। कया पुनरपेक्षया सर्वगतः सन्नीश्वरोऽर्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यत इति। निचाय्यत्वादेवमिति ब्रूमः। एवमणीयस्त्वादिगुणगणोपेत ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते। तथा शालग्रामे हरिः। तत्रास्य बुद्धिविज्ञानं ग्राहकम्। सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति। व्योमवच्चैतद्द्रष्टव्यम्। यथा सर्वगतमपि सद्व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयाऽर्भकौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते, एवं ब्रह्मापि। तदेवं निचाय्यत्वापेक्षं ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च न पारमार्थिकम्। तत्र यदाशङ्क्यते—हृदयायतनत्वाद्ब्रह्मणो हृदयायतनानां च प्रतिशरीरं भिन्नत्वाद्भिन्नायतनानां च शुकादीनामनेकत्वसावयवत्वानित्यत्वादिदोषदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति, तदपि परिहृतं भवति ॥७॥

मपि ब्रह्मभावापेक्षयाऽपीत्यर्थः। परिच्छेदत्यागं विना ब्रह्मत्वासम्भवात् तत्यागे च ब्रह्मण एवोपास्यत्वमायातीति भावः। विभोः परिच्छेदोक्तौ दृष्टान्तमाह—यथा समस्तेति। सर्वेश्वरस्यायोध्यायां स्थित्यपेक्षया परिच्छेदोक्तिवदल्पहृदि ध्येयत्वेन तथोक्तिरित्यर्थः। ननु किमिति हृदयमेव प्रायेणोच्यते, तत्राह—तत्रेति। हृदये परमात्मनो बुद्धिवृत्तिर्ग्राहिका भवति। अत ईश्वराभिव्यक्तिस्थानत्वात्तदुक्तिरित्यर्थः। व्योमदृष्टान्तासिना शङ्कालताऽपि काचिच्छिन्नेत्याह—तत्र यदाशङ्क्यत इत्यादिना। भिन्नायतनत्वेऽपि व्योम्नः सत्यभेदाद्यभावादिति भावः ॥७॥

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर उसका परिहार सिद्धान्ती की ओर से किया गया है। सिद्धान्ती—यह कोई दोष नहीं है। परिच्छिन्न देश वाले को सर्वव्यापक कहना किसी भी प्रकार से युक्तिसंगत नहीं है किन्तु सर्वव्यापक जो सभी देश में विद्यमान है उसे किसी उपाधि आदि अपेक्षा करके परिच्छिन्न कहना भी सम्भव हो जाता है। जिस प्रकार समस्त वसुधाधिपति होते हुए भी अयोध्याधिपति शब्द से कहे जाते हैं क्योंकि अयोध्या उनकी राजधानी है। किसकी अपेक्षा कर व्यापक ईश्वर अर्भकौक एवं अणीय कहा जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर '**निचाय्यत्वादेवम्**' इस वाक्य से सूत्रकार ने दिया है ऐसा हम मानते हैं। वही अणीयस्त्वादि गुणों से युक्त ईश्वर हृदय कमल में देखा जाता है। जिस प्रकार शालग्राम में विष्णु की उपासना करने पर वह व्यापक विष्णु उस उपासक के बुद्धि विज्ञान से जाना जाता है वैसा ही सर्वव्यापक ईश्वर भी हृदय देश में उपासना किये जाने पर प्रसन्न होता है। जिस प्रकार व्यापक होता हुआ भी आकाश सूचीपाशादि उपाधि की अपेक्षा अर्भकौक एवं अणीय कहा जाता है। ऐसा ही ब्रह्म भी द्रष्टव्यस्थान हृदय के अल्पत्व की अपेक्षा कर अर्भकौक एवं अणीय कहा गया है। वह पारमार्थिक नहीं है और जो आपने शङ्का की थी कि हृदय आयतनत्व के कारण प्रतिहृदय में ब्रह्म का भेद मानने पर प्रतिशरीर ब्रह्म भिन्न होने लग जायेगा। ऐसी स्थिति में जैसे भिन्न आयतन वाले शुकादि में अनेकत्व सावयवत्व और अणीयत्वादि देखे गये हैं वैसे ही ब्रह्म में भी अनेकत्वादि का प्रसङ्ग आ जायेगा। उसका भी परिहार समझ लेना चाहिए कि यह सब औपाधिक है, पारमार्थिक नहीं। व्यापक आकाश में उपाधि के कारण भेद व्यवहार होता हुआ भी वह पारमार्थिक नहीं हो जाता। ऐसे ही अद्वय ब्रह्म में पारमार्थिक भेद नहीं माना जा सकता ॥७॥

(३९) सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धात्, चिद्रूपतया च [1]शारीराद[2]विशिष्टत्वात्, सुखदुःखादिसम्भोगोऽप्य[3]विशिष्टः प्रसज्येत । [4]एकत्वाच्च । नहि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३-७-२३) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मात्परस्यैव संसारसम्भोगप्राप्तिरिति चेत् । न, वैशेष्यात् । न तावत्सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धाच्छारीरवद् ब्रह्मणः सम्भोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात् । विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः । एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमांश्च । एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः । एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य । यदि च [5]सन्निधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः ।

ब्रह्मणो हार्दत्वेऽनिष्टसम्भोगापत्तेर्जीव एव हार्द उपास्य इति शङ्कां व्याचष्टे—व्योमवदिति । ब्रह्म भोक्तृ स्यात् [6]हार्दत्वे सति चेतनत्वात्, [7]जीवाभिन्नत्वाच्च जीववदित्युक्तं निरस्यति—न, वैशेष्यादिति । धर्माधर्मवत्त्वमुपाधिरित्यर्थः । [8]अयमेव [9]विशेषो वैशेष्यम्, स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । [10]विशेषस्यातिशयार्थो वा । धर्मादेः स्वाश्रये फलहेतुत्वमतिशयः, तस्मादिति सूत्रार्थः । किञ्च विभवो बहव

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् (ललिता)

आकाश की भाँति ब्रह्म को सर्वव्यापक मानने पर सभी प्राणियों के हृदय के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध हो जायेगा और चिद्रूप होने से वह जीव से विलक्षण न होने पर सुख-दुःखादि का सम्भोग (अनुभव) जीवात्मा की भाँति परमात्मा में भी समान रूप से प्रसज्य हो जायेगा क्योंकि परमात्मा से भिन्न कोई संसारी जीव नहीं है ऐसा **'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता'** इत्यादि श्रुति से जाना जाता है। ऐसा पूर्वपक्ष करना ठीक नहीं है सभी प्राणियों के हृदय से सम्बन्ध हो जाने पर जीवात्मा की भाँति परमात्मा में सुखदुःखादि का संभोग नहीं आ सकता क्योंकि जीव एवं परमेश्वर में भेद है। एक कर्ता-भोक्ता पुण्य-पाप साधनवाला सुखदुःखादि संभोग करने वाला, अन्य (दूसरा) इससे विपरीत अपहतपाप्मत्वादि गुणों से युक्त है। इन दोनों के इस भेद के कारण एक को भोग होगा, दूसरे को नहीं। यदि कहो कि सुखदुःख भोग का कर्ता जीवात्मा के निकट परमात्मा भी है इसलिए उसमें भी सुखादि का भोग मानना चाहिए। आपकी यह मान्यता वस्तुस्वभाव को न मानकर सन्निधान मात्र से कार्य का सम्बन्ध स्वीकार करना होगा। तब तो आकाशादि में भी दाहकत्व का

१. जीवात् । २. अविलक्षणत्वात । ३. समानः । ४. जीवब्रह्मणोः । ५. यदि च वस्तुनः काष्ठादेः शक्तिन्दाहादिप्रयोजकस्वभावमनाश्रित्यास्वीकृत्य संनिधिमात्रेणाग्निदेशस्थत्वमात्रेण दाहादिकार्यसम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, तदा काष्ठादिवदाकाशादेरपि दाहादि प्रसङ्गः काष्ठाकाशयोरुभयोरग्निसम्बन्धाविशेषादित्यर्थः । ६. घटाद्यवच्छिन्ने चिति व्यभिचारवारणाय हार्दत्वं तच्च तदवच्छिन्नत्वं तस्य गगने सत्त्वाद्धेतौ चेतनत्वमुपात्तम् । पाषाणाद्यवच्छिन्नचैतन्ये व्यभिचारवारणार्थं हार्दत्वे सतीति विशेषणम् । ७. अदृष्टवत्त्वस्योपाधित्वमाशङ्क्यानुमानान्तरमाह—जीवेति । ८. भाष्योक्त एव । ९. वैलक्षण्यम् । १०. विशेषस्य धर्मादेः निष्ठत्वं षष्ठ्यर्थस्तथा चविशेषनिष्ठातिशयरूपोऽर्थो यस्य ष्यञ्प्रत्ययस्य स तथा । विशेषस्य भावोऽतिशयो वैशेष्यमिति वार्थ इत्याह —विशेषस्येति ।

सर्वगतानेकात्मवादिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ। यदप्येकत्वाद्ब्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीरस्य भोगेन ब्रह्मणो भोगप्रसङ्ग इति। अत्र वदामः—इदं तावद्देवानांप्रियः प्रष्टव्यः। कथमयं त्वयात्मान्तराभावोऽध्यवसित इति। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिशास्त्रेभ्य इति चेत्। यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोऽर्थः प्रतिपत्तव्यो न 'तत्रार्धजरतीयं 'लभ्यम्। शास्त्रं च 'तत्त्वमसि' इत्यपहतपाप्मत्वादिविशेषणं ब्रह्म शारीरस्यात्मत्वेनोपदिशच्छारीरस्यैव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति। कुतस्तदुपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः। अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं, तदा

आत्मान इति वादिनामेकस्मिन्देहे सर्वात्मनां भोक्तृत्वप्रसङ्गः, स्वकर्माजित एव देहे भोग इति परिहारश्च तुल्य इति न वयं पर्यनुयोज्या इत्याह—सर्वगतेति। वस्तुतस्तेषामेव भोगसांकर्यमित्यग्रे वक्ष्यते। ब्रह्मणो जीवाभिन्नत्वं श्रुत्या निश्चित्य 'तेन भोक्तृत्वानुमाने 'उपजीव्यश्रुतिबाधमाह—यथाशास्त्रमिति। अर्धं मुखमात्रं जरत्या वृद्धायाः कामयते नाङ्गानीति सोऽयमर्धजरतीयन्यायः, स चात्र न युक्तः। न ह्यमेवमङ्गीकृत्याभोक्तृत्वं त्यक्तुं युक्तं, श्रुत्यैवाभेदसिद्ध्यर्थं भोक्तृत्ववारणादित्याह—शास्त्रं चेति। नन्वेकत्वं मया श्रुत्या न गृहीतं, येनोपजीव्यबाधः स्यात्। किन्तु त्वदुक्त्या गृहीतमित्याशङ्क्य बिम्बप्रतिबिम्बयोः कल्पितभेदेन भोक्तृत्वाभोक्तृत्वव्यवस्थोपपत्तेरप्रयोजको' हेतुरित्याह—अथागृहीतमित्यादिना। 'कल्पितासङ्गित्वमधिष्ठानस्य वैशेष्यमित्यस्मिन्नर्थेऽपि सूत्रं पातयति—

प्रसंग आ जायेगा। जहाँ आग जल रही है वहाँ इंधन भी है और आकाश भी है। काष्ठादि इंधन जल जाते हैं और आकाश जलता नहीं क्योंकि वह अदाह्य है। यदि वस्तु स्वभाव की ओर ध्यान न देकर सन्निधि मात्र से कार्य सम्बन्ध मानोगे तो काष्ठादि की भाँति आकाश भी जलने लग जायेगा। पर ऐसा होता नहीं है क्योंकि काष्ठादि इंधन से आकाश का स्वभाव विलक्षण है। ऐसे ही हृदय देश में जीव और ईश्वर दोनों ही रहते हैं, वहाँ पर जीव का सुखदुःख के साथ सम्बन्ध होता है, ईश्वर का नहीं, क्योंकि ईश्वर का स्वरूप असंग है। वस्तुतः यह दोष और उसका समाधान सर्वव्यापक, अनेकात्मवाद मानने वाले द्वैतियों के पक्ष में ही आते हैं, अद्वैतवादियों के यहाँ नहीं।

और जो आपने कहा था कि जीव-ब्रह्म का अभेद होने से ब्रह्म से भिन्न जब जीव है ही नहीं तो ऐसी स्थिति में जीवात्मा के भोग से ब्रह्म को भी सुखदुःख का भोग होने लग जायेगा। इस पर हम सिद्धान्ती का कहना है कि आप देवताओं के प्रिय मूर्ख ही हैं। हम आपसे यह पूछते हैं कि आपने ब्रह्म से भिन्न जीव के अभाव का निश्चय कैसे किया? कहोगे कि **"तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" "नान्योऽऽतोऽस्ति विज्ञाता"** इत्यादि शास्त्र से उक्त निश्चय किया है। तब तो शास्त्रानुसार अन्य शास्त्रीय अर्थ को भी समझना चाहिए। वहाँ पर अर्धजरतीय मानना ठीक नहीं। कोई वृद्धा स्त्री के मुखमात्र को पसन्द करता था उसके अन्य अङ्गों को नहीं, वैसे ही शास्त्र की आधी बात मानें और आधी बात नहीं तो अर्धजरतीय होने लग जायेगा। शास्त्र में **"तत्त्वमसि" "अपहतपाप्मत्वादि"** विशेषण से युक्त ब्रह्म को बतलाया और उसे जीव का आत्मरूप भी कहा

१. शास्त्रे। २. न्याय्यम्। ३. तृतीये। ४. तेनेति—निश्चितजीवाभिन्नत्वेन हेतुना। ५. जीवाभिन्नत्वज्ञानायापेक्षितायाः श्रुतेर्वा। ६. शास्त्रे। ७. अप्रयोजक इति—कल्पितभेदेन भोक्तृत्वाभावेऽपि ब्रह्मणो वास्तवाभिन्नत्वसम्भवादिति भावः। अनुकूलतर्कशून्य इत्यर्थः। पक्षे साध्याभावे बाधकाभावकालीन इति यावत्। ८. कल्पितेनोपभोगेनासंस्पर्शत्वमित्यर्थः।

२. अत्त्रधिकरणम् (सू० ९-१०)

(४०) ¹अत्ता चराचरग्रहणात् ॥९॥

जीवोऽग्निरीशो वाऽत्ता स्यादोदने जीव इष्यताम् । स्वाद्वत्तीति श्रुतेर्वह्निर्वाग्निरन्नाद इत्यतः ।
ब्रह्मक्षत्रादिजगतो भोज्यत्वात् स्यादिहेश्वरः । ईशप्रश्नोत्तरत्वाच्च संहारस्तस्य चात्तृता ॥

मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः । नहि बालैस्तलमलिनतादिभिर्व्योम्नि विकल्प्यमाने तलमलिनतादिविशिष्टमेव परमार्थतो व्योम भवति । तदाह—न, वैशेष्यादिति । नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात् । विशेषो हि भवति मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः । मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः, सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम् । नच मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु ³संस्पृश्यते । ⁴तस्मान्नोपभोगगन्धोऽपि शक्य ईश्वरस्य कल्पयितुम् ॥८॥

कठवल्लीषु पठ्यते—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं

तदाहेति । **ब्रह्मणो हार्दत्वे बाधकाभावाच्छाण्डिल्यविद्यावाक्यं ब्रह्मण्युपास्ये समन्वितमिति सिद्धम्** ॥८॥

अत्ता चराचरग्रहणात् । **यस्य ब्रह्मक्षत्रादिजगदोदनः, मृत्युः सर्वप्राणिमारकोऽपि यस्योपसेचन-**

है । साथ ही जब जीव में भी वस्तुतः भोक्तृत्व नहीं है तो भला जीवात्मा के उपभोग से ब्रह्म में उपभोग का प्रसङ्ग कैसे आ जायेगा । यदि कहो कि जीव का ब्रह्म के साथ एकत्व गृहीत नहीं हुआ है इसलिए जीवात्मा में सुखदुःखादि का भोग भासता है तो जीवात्मा में मिथ्याज्ञान के कारण से उपभोग हो रहा है तब तो उस उपभोग के साथ परमार्थ रूप ब्रह्म का संस्पर्श ही नहीं होता । क्या अज्ञानी जीव द्वारा आकाश में तलमलिनतादि विकल्प किये जाने पर आकाश वस्तुतः तलमलिनतादि विशिष्ट हो जाता है, अर्थात् नहीं होता क्योंकि आकाश परमार्थतः विभु, असङ्ग और स्वच्छ है । इसी बात को सूत्रकार ने "**न, वैशेष्यात्**" इस वाक्य से कहा है, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के एक होने पर भी जीवात्मा के सुखदुःखादि भोग से ब्रह्म में सुखदुःखादि भोग का प्रसङ्ग नहीं आ सकेगा क्योंकि मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञान में भेद है । भोग मिथ्याज्ञान से कल्पित है और एकत्व सम्यक्ज्ञान का विषय है । अतः मिथ्याज्ञान कल्पित उपभोग के साथ सम्यक्ज्ञान से देखी गई वस्तु का संस्पर्श नही होता । इसलिए ईश्वर में सुखदुःखादि उपभोग की गन्ध की कल्पना भी नहीं कर सकते ॥८॥

२. अत्त्रधिकरण

१. पिछले अधिकरण में परब्रह्म में भोक्तृत्व का अभाव बतलाया था वैसे ही यहाँ पर उसमें कर्तृत्व का अभाव कहा जा रहा है । अतः पूर्व के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है ।

२. "**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः**" इस कठ श्रुति में कोई अत्ता सुना जाता है, वही यहाँ पर विचारणीय विषय है ।

---

१. ईश्वरस्याभोक्तृत्वे नात्तृत्वमपीत्याशङ्क्याहात्तेति । २. तलमिन्द्रनीलकटाहकल्पं मलिनतां धूम्रतामादिना पीतादिकं गृह्यते । ३. तथा चानुमाने बाध इति भावः । ४. तस्मादिति—मनोमयत्वादिविशिष्टस्येश्वरस्य ध्यानार्थे हार्दत्वेऽपि निर्दोषत्वादित्यर्थः ।

क इत्था वेद यत्र सः' (का० १-२-२४)इति। अत्र कश्चिदोदनोपसेचनसूचितोऽत्ता प्रतीयते। तत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मेति संशयः। विशेषानवधारणात्। त्रयाणां चाग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे प्रश्नोपन्यासोपलब्धेः। किं तावत्प्राप्तम्?अग्निरत्तेति। कुतः? 'अग्निरन्नादः' (बृ० १-४-६) इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम्। जीवो वाऽत्ता स्यात्, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति दर्शनात्। न परमात्मा,'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (मु० ३-१-१) इति दर्शनादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—अत्तात्र परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः ? चराचरग्रहणात्। चराचरं हि स्थावरजङ्गमं मृत्यूपसेचनमिहाद्यत्वेन प्रतीयते।

मोदनसंस्कारकघृतप्रायः, सोऽत्ता, यत्र शुद्धे चिन्मात्रेऽभेदकल्पनया वर्तते तच्छुद्धं ब्रह्म इत्था इत्थं ईश्वरस्याप्यधिष्ठानभूतं को वेद। चित्तशुद्ध्याद्युपायं विना कोऽपि न जानातीत्यर्थः। संशयबीजमाह —विशेषेति। **'स त्वमग्निं प्रब्रूहि' (का० १-१-१३) इत्यग्नेः, 'येयं प्रेते विचिकित्सा' (का० १-१-२०) इति जीवस्य, 'अन्यत्र धर्मात्' (का० १-२-१४) इति ब्रह्मणः प्रश्नः। 'लोकादिमग्निं तमुवाच' (का० १-१-१५) इत्यग्नेः, 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि' (का० २-२-६) इतीतरयोः प्रतिवचनमुपलभ्यत इत्यर्थः। पूर्वत्र ब्रह्मणो भोक्तृत्वं नास्तीत्युक्तं, 'तदुपजीव्य पूर्वपक्षयति**—किं तावदिति। **अग्निप्रकरणमतीतमित्यरुचेराह**—जीवो वेति। **पूर्वपक्षे जीवोपास्तिः, सिद्धान्ते निर्विशेषब्रह्मज्ञानमिति फलभेदः। ओदनशब्दो भोग्यवाचीति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु ब्रह्मक्षत्रशब्दैरुपस्थापितकार्यमात्रे गौण ओदन-**

---

३. इस श्रुति में जीव, अग्नि या ईश्वर अत्ता कहा गया है, ऐसा संशय होता है।

४. जीव को ओदन खाना इष्ट है और "**स्वादत्ति**" ऐसी श्रुति भी वहाँ है। अतः जीवात्मा को अत्ता मानना चाहिए ? अथवा 'वह्निरन्नादः' इस श्रुति के आधार पर अग्नि को अत्ता मानना चाहिये?

५. ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि सम्पूर्ण जगत् जिसका भोज्य हो ऐसा भोक्ता ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वर के विषय में प्रश्न का उत्तर यहाँ पर दिया जा रहा है एवं अत्तृता का संहार अर्थ यहाँ पर लेना उचित होगा, अतः परमात्मा ही इस श्रुति में भोक्ता रूप से कहा गया है।

अत्ता चराचरग्रहणात् (ललिता)

कठोपनिषद् में कहा है कि 'ब्राह्मण एवं क्षत्रीय ये दोनों जिसके ओदन(भात) है, मृत्यु जिसके व्यञ्जन हैं उसे भला कौन जान सकता है।'' यहाँ पर ओदन एवं उपसेचन से सूचित कोई अत्ता प्रतीत होता है वह क्या अग्नि है, जीव है अथवा परमात्मा है? ऐसा संशय किसी विशेष पक्ष का निश्चय न होने के कारण होता है क्योंकि इस ग्रन्थ में अग्नि, जीव एवं परमात्मा तीनों के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर उपलब्ध होते हैं। मध्यस्थ पूछता है फिर आप क्या मानते हैं। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा अग्नि ही भोक्ता है यह हमारा मत है क्योंकि "अग्नि अन्नाद है" ऐसी श्रुति एवं प्रसिद्ध भी है अथवा जीव भोक्ता है क्योंकि "उन दोनों में एक स्वादिष्ट फल का उपभोग करता है" इस श्रुति वाक्य में देखा गया है। परमात्मा भोक्ता नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके लिए "उन दोनों में एक फल का भोग न करता हुआ केवल जानता रहता है" ऐसी श्रुति है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि इस कठश्रुति में परमात्मा ही भोक्ता हो सकता है, क्योंकि स्थावर, जङ्गम

---

१. भोक्तृत्वाभावमाश्रित्य। २. शब्दोपस्थापितेति युक्तम्।

(४१) प्रकरणाच्च ॥१०॥

तादृशस्य चाद्यस्य न परमात्मनोऽन्यः कार्त्स्न्येनात्ता सम्भवति । परमात्मा तु विकारजातं संहरन्सर्वमत्तीत्युपपद्यते । नन्विह चराचरग्रहणं नोपलभ्यते, कथं सिद्धवच्चराचरग्रहणं हेतुत्वेनोपादीयते ? नैष दोषः । मृत्यूपसेचनत्वेन सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वात्, ब्रह्मक्षत्रयोश्च प्राधान्यात्प्रदर्शनार्थत्वोपपत्तेः । यत्तु परमात्मनोऽपि नात्तृत्वं सम्भवति, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति [1]दर्शनादिति, अत्रोच्यते—कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेतद्दर्शनं, तस्य सन्निहितत्वात् । न विकारसंहारस्य प्रतिषेधकं, सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात् । तस्मात्परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति ॥९॥

इतश्च परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति, यत्कारणं प्रकरणमिदं परमात्मनः 'न जायते म्रियते वा [3]विपश्चित्' (का० १-२-१८) इत्यादि, प्रकृतग्रहणं च न्याय्यम् । 'क इत्था वेद यत्र सः' इति च दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम् ॥१०॥

शब्दः । **गुणश्चात्र मृत्यूपसेचनपदेन [4]सन्निधापितं प्रसिद्धौदनगतं विनाश्यत्वं गृह्यते, गौणशब्दस्य [5]सन्निहितगुणग्राहित्वात् । तथाच सर्वस्य विनाश्यत्वेन भानाल्लिङ्गादीश्वरोऽत्तेत्याह**—नैष दोष इति । तस्य सन्निहितत्वादिति । **'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति भोगस्य पूर्वोक्तत्वादित्यर्थः ॥९॥ ॥१०॥**

भोग्य हैं और मृत्यु उपसेचन कहा गया है । ऐसे भोग्य पदार्थ का भोक्ता परमात्मा से भिन्न नहीं हो सकता । परमात्मा सम्पूर्ण कार्य का उपसंहार करते हुए सबका भक्षण करता है, यह युक्तिसङ्गत है । पूर्वपक्ष—इस श्रुति में चराचर ग्रहण उपलब्ध नहीं होता है फिर भला आपने चराचर ग्रहण को निर्विवाद हेतु के रूप में कैसे मान लिया ? सिद्धान्ती—यह कहना दोष नहीं है । 'मृत्यु जिसका व्यञ्जन हो' इससे वहाँ पर प्राणी समुदाय को ही भोग्य मानना उचित होगा । ब्राह्मण और क्षत्रिय तो प्रधान होने के कारण वहाँ पर दिखाये गये हैं । और जो आपने कहा कि "**अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति**" इस श्रुति से परमात्मा में भोक्तृत्व का होना सम्भव नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि उस श्रुति वाक्य में कर्मफल भोग का निषेध किया गया है क्योंकि वही निकटवर्ती है । कार्य समुदाय के संहार का निषेध उस श्रुति वाक्य से नहीं किया गया है । सभी श्रुतियों में सृष्टि, स्थिति एवं संहार के कारण रूप से ब्रह्म ही प्रसिद्ध है । अतः इस कठ श्रुति में भी परमात्मा ही भोक्ता कहा गया है ॥९॥

प्रकरणाच्च (ललिता)

इसलिए (भी) परमात्मा को ही यहाँ पर भोक्ता मानना उचित है क्योंकि "**न जायते म्रियते वा विपश्चित्**" इत्यादि यह प्रकरण परमात्मा का है । प्रकरणागत तत्त्व को ग्रहण करना उचित है, साथ ही "**क इत्था वेद यत्र सः**" यह परमात्मा का ज्ञापक दुर्विज्ञानत्वलिङ्ग भी है । अर्थात् इस वाक्य से परमात्मा को दुर्विज्ञेय कहा गया है ॥१०॥

---

१. दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं शास्त्र तस्मादित्यर्थः । २. शास्त्रम् । ३. नित्यविज्ञानस्वरूपः । ४. उपस्थापितम् । ५. उपस्थित ।

३. गुहाप्रविष्टाधिकरणम् (सू० ११-१२)

(४२) गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥

गुहां प्रविष्टौ धीजीवौ जीवेशौ वा हृदि स्थितौ । छायातपाख्यदृष्टान्ताद्धीजीवौ स्तो विलक्षणौ ।
पिबन्ताविति चैतन्यद्वयं जीवेश्वरौ ततः । हृत्स्थानमुपलब्ध्यै स्याद्वैलक्षण्यमुपाधितः ॥

[कठवल्लीष्वेव पठ्यते—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' (का० १-३-१) इति । तत्र संशयः—किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टावुत जीवपरमात्मानाविति । यदि बुद्धिजीवौ,

अत्तृवाक्यानन्तरवाक्यस्यापि ज्ञेयात्मनि समन्वयमाह—गुहामिति। **ऋतमवश्यंभावि कर्मफलं पिबन्तौ भुञ्जानौ, सुकृतस्य कर्मणो लोके कार्ये देहे परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानमर्हतीति परार्धं हृदयं परमं श्रेष्ठं तस्मिन्या गुहा नभोरूपा बुद्धिरूपा वा तां प्रविश्य स्थितौ छायातपवत् मिथो विरुद्धौ तौ च ब्रह्मविदः कर्मिणश्च वदन्ति । त्रिर्नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः तेऽपि वदन्तीत्यर्थः । नाचिकेतवाक्यानामध्ययनं, तदर्थज्ञानं, तदनुष्ठानं चेति त्रित्वं बोध्यम् । बुद्ध्यवच्छिन्नजीवस्य परमात्मनश्च प्रकृतत्वात्संशयमाह**—तत्रेति। **पूर्वोत्तरपक्षयोः फलं स्वयमेवाह**—यदीत्यादिना । **तदपि**

३. गुहाधिकरण

१. जिस प्रकार पूर्वाधिकरण में ब्रह्म एवं क्षत्र पद को मृत्यु पद की सन्निधि में होने के कारण अनित्यवस्तुपरक कहा था, वैसे हो **"पिबत्"** शब्द के सन्निहित **"गुहाप्रवेशादि"** शब्द होने के कारण यहाँ पर भी बुद्धि और जीवपरक मानना चाहिए, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ है।

२. **"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे"** (क० १।३।१) यह कठश्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. क्या यहाँ पर गुहा में प्रविष्ट बुद्धि और जीव कहे गये हैं अथवा जीवात्मा और परमात्मा कहे गये हैं ?

४. छाया और धूप के समान परस्पर विलक्षण जड़ बुद्धि और चेतन जीवात्मा हो गुहा में प्रविष्ट कहे गये हैं ।

५. जीव और परमात्मा यहाँ पर गुहाप्रविष्ट पदार्थ मानना चाहिए क्योंकि **"पिबन्तौ"** ऐसा द्विवचन का प्रयोग होने से यदि एक जीव चैतन्य है तो दूसरा चैतन्य ईश्वर मानना उचित होगा। हृदय में उसकी उपलब्धि होती है। इसीलिए उसे हृदयस्थ कहा गया है। उपाधि के कारण जीव-ईश्वर में परस्पर वैलक्षण्य बताना भी सम्भव हो जाता है। अतः चेतन जीवात्मा एवं परमात्मा ही गुहाप्रविष्ट पदार्थ यहाँ मानना चाहिए ।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् (ललिता)

कठोपनिषद् में ही **"ऋतं पिबन्तौ"** यह पाठ मिलता है। इस शरीर में रहने वाले अपने कर्म के अवश्यम्भावी फल भोगने वाले दो हैं, जो परब्रह्म के निवास स्थान हृदयरूप गुफा में प्रवेश कर स्थित है, वे दोनों छाया और आतप के समान विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, ऐसा ब्रह्मज्ञानी और कर्मी दोनों ही कहते हैं। नाचिकेत वाक्य का अध्ययन तदर्थ ज्ञान और उसके अनुष्ठान करने वाले को त्रिणाचिकेत कहते हैं, यहाँ पर संशय होता है कि क्या इस श्रुति में बुद्धि और जीव निर्दिष्ट है

ततो बुद्धिप्रधानात्कार्यकरणसंघाताद्विलक्षणो जीवः प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यं, 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः' (का० १-१-२०) इति पृष्टत्वात्। अथ जीवपरमात्मानौ, ततो जीवाद्विलक्षणः परमात्मा प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यं, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' (का० १-२-१४) इति पृष्टत्वात्। अत्राहाक्षेप्ता—उभावप्येतौ पक्षौ न सम्भवतः। कस्मात्? ऋतपानं कर्मफलोपभोगः, 'सुकृतस्य लोके' इति लिङ्गात्। तच्च चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य सम्भवति, नाचेतनाया बुद्धेः। 'पिबन्तौ' इति च द्विवचनेन द्वयोः पानं दर्शयति श्रुतिः। अतो बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्षस्तावन्न सम्भवति। अत एव क्षेत्रज्ञपरमात्मपक्षोऽपि न सम्भवति, चेतनेऽपि परमात्मनि ऋतपानासम्भवात्। 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति मन्त्रवर्णादिति। अत्रोच्यते—नैष दोषः। छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि

जीवस्य बुद्धिवैलक्षण्यमपीत्यर्थः। मनुष्ये प्रेते मृते सति येयं विचिकित्सा संशयः परलोके भोक्ताऽस्तीत्येके, नास्तीत्यन्ये। अतस्त्वयोपदिष्टोऽहमेतदात्मतत्त्वं जानीयामित्यर्थः। तदपि परमात्मस्वरूपमपीत्यर्थः। उभयोर्भोक्तृत्वायोगेन संशयमाक्षिपति—अत्राहेति। **छत्रिपदेन गन्तार इव पिबत्पदेनाजहल्लक्षणया प्रविष्टावुच्येते इत्याह**—अत्रोच्यत इति। **पानकर्तृवाचि[1]पदेन पानानुकूलौ वा**

अथवा जीवात्मा और परमात्मा निर्दिष्ट हैं। दोनों ही पक्ष में समर्थक वाक्य देखे जाते हैं। यदि बुद्धि और जीव अर्थ माना जाय तो कार्यकारण संघात में बुद्धि की प्रधानता है और उससे विलक्षण जीव का प्रतिपादन इस प्रसङ्ग में सिद्ध होगा, जिसका प्रतिपादन करना यहाँ पर अभीष्ट भी है क्योंकि "जो यह मनुष्य के मरने पर संदेह होता है" कुछ लोग कहते हैं कि जीव का अस्तित्व रहता है और कुछ लोग जीव का अस्तित्व उस दशा में नहीं मानते। आपसे उपदेश प्राप्त कर मैं इस रहस्य को जान सकूँ? आपके दिए हुए वरदानों में से यही हमारा तीसरा वरदान है, ऐसा नचिकेता ने पूछा था जिसका उत्तर उक्त वाक्य से दिया गया है। और यदि जीवात्मा, परमात्मा बुद्धिरूप गुफा में प्रविष्ट माना जाय तो जीवात्मा से विलक्षण परमात्मा प्रतिपादित होगा। उसका भी इस प्रसङ्ग में प्रतिपादन करना इष्ट ही है क्योंकि "जो धर्म एवं उसके कार्य से भिन्न है, अधर्म और उसके कार्य से भिन्न है, कार्य, कारण, भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान से भी भिन्न है, उसे आप जानते हों तो हमें बतलायें" इस वाक्य से परमात्मा के सम्बन्ध में नचिकेता ने पूछा है। उसे भी पूर्वोक्त श्रुति से बतलाना अभीष्ट ही है।

इस पर आक्षेपकर्ता कहता है कि उक्त दोनों ही पक्ष सम्भव नहीं हैं क्योंकि कर्मफलोपभोग **"सुकृतस्य लोके"** इस लिङ्ग से जान पड़ता है। कर्मफल भोग चेतन जीव में तो सम्भव है किन्तु अचेतन बुद्धि में सम्भव नहीं है। श्रुति तो **"पिबन्तौ"** इस द्विवचन द्वारा दोनों में कर्मफल भोग बतलाती है। अतः बुद्धि और जीवपक्ष सम्भव नहीं है। इसी दोष के कारण क्षेत्रज्ञ और परमात्मा पक्ष भी सम्भव नहीं है। परमात्मा चेतन है फिर भी **"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"** इस मन्त्रवर्ण से चेतन परमात्मा में भी कर्मफल भोग असम्भव ही कहा गया है। इस आक्षेप का उत्तर दिया

---

१. शतृप्रत्ययेनेत्यर्थः।

छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचारदर्शनात् । एवमेकेनापि पिबता द्वौ पिबन्तावुच्येते । यद्वा जीवस्तावत्पिबति, ईश्वरस्तु पाययति । पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते । पाचयितर्यपि पक्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात् । बुद्धिक्षेत्रज्ञपरिग्रहोऽपि सम्भवति, करणे 'कर्तृत्वोपचारात् । एधांसि पचन्तीति प्रयोगदर्शनात् । न चाध्यात्माधिकारेऽन्यौ कौचिदद्वावृतं पिबन्तौ सम्भवतः । तस्माद्बुद्धिजीवौ स्यातां, जीवपरमात्मानौ वेति संशयः । किं तावत्प्राप्तं ? बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति । कुतः ? 'गुहां प्रविष्टौ' इति विशेषणात् । यदि शरीरं गुहा, यदि वा हृदयं, उभयथापि बुद्धिक्षेत्रज्ञौ गुहां प्रविष्टावुपपद्येते । नच सति सम्भवे सर्वगतस्य ब्रह्मणो विशिष्टदेशत्वं युक्तं कल्पयितुम् । 'सुकृतस्य लोके' इति च कर्मगोचरानतिक्रमं दर्शयति ।

लक्ष्याविस्याह—यद्वेति । **'नियतपूर्वभाविकृतिमत्स्वरूपमनुकूलत्वं कर्तृकारयित्रोः साधारणम् । यः कारयति स करोत्येवेति** न्यायादिति भावः । **अत्र 'प्रकृतिर्मुख्यार्था शतृप्रत्यये लक्षणा । 'मिश्रास्तु 'कृतिः प्रत्ययार्थो मुख्यः । प्रकृत्या त्वजहल्लक्षणया पायनं लक्ष्यमित्याहुः । पूर्वपक्षे 'पिबन्तौ' इति कर्तृवाचिशतृप्रत्ययेन बुद्धिजीवसाधारणं कारकत्वं लक्ष्यमित्याह**—बुद्धीति । **एधांसि काष्ठानि, पचन्तीत्याख्यातेन कारकत्वं 'लक्ष्यं, प्रकृतिस्तु मुख्यैवेति भावः । मुख्यपातारौ प्रसिद्धपक्षिणौ ग्राह्याविस्यत आह**—न चेति । **ब्रह्मक्षत्रपदस्य सन्निहितमृत्युपदादनित्यवस्तुपरत्ववदिहापि पिबत्पदस्य सन्निहितगुहापदाद्बुद्धिजीवपरतेति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति**—किं तावदिति । **गोचरं फलम् । एकस्मिन्**

जाता है कि आपका दिया हुआ दोष ठीक नहीं । जैसे मार्ग में चलने वाले अनेकों व्यक्ति में से एक के पास छत्रि हो तो **'छत्रिणो गच्छन्ति'** इस प्रयोग में एक छातेवाले से ही अनेकों में छत्रित्व का औपचारिक प्रयोग देखा जाता है, ऐसे ही एक कर्मफल भोक्ता के कारण **"द्वौ पिबन्तौ"** कह दिए गये हैं अथवा इस प्रकार (यों) समझें कि जीव कर्मफल भोक्ता है और ईश्वर उसे भुगवाता है। कर्मफल भुगवाने वाले को भी भोक्ता कह दिया जाता है क्योंकि पाक कराने वाले में भी पाचक शब्द की प्रसिद्धि देखी जाती है । अतः बुद्धि और क्षेत्रज्ञ परिग्रह भी सम्भव हो जाता है । करण कारक में भी कर्तृत्व का औपचारिक प्रयोग देखा गया है, यथा **"एधांसि पचन्ति"** इस वाक्य में पाक क्रिया के लिए काष्ठ करण है फिर भी उसे कर्ता मानकर ऐसा प्रयोग होता है । किसी भी प्रकार से अध्यात्म-अधिकार में लोकप्रसिद्ध दो पक्षी कर्मफल भोक्ता हो नहीं सकते । अतः बुद्धि और जीव अथवा जीवात्मा और परमात्मा यहाँ पर माने जा सकते हैं, इसीलिए संशय होता है फिर आप मानते क्या हैं ? ऐसा मध्यस्थ ने कहा, इस पर पूर्वपक्षी बुद्धि और जीव को गुहाप्रविष्ट मानता है क्योंकि **"गुहां प्रविष्टौ"** ऐसा विशेषण है । यदि शरीर अथवा हृदय, गुहा शब्द का अर्थ माना जाय तो दोनों ही प्रकार से बुद्धि और जीव को गुहा में प्रविष्ट मानना युक्ति संगत ही है । जब ऐसा सम्भव हो जाता है तो व्यापक ब्रह्म को विशिष्ट देश में होने की कल्पना युक्तिसंगत नहीं है । ऐसा

---

१. कर्तृत्वप्रकारकबोधजनकशतृप्रत्ययेन लक्षणया करणे कारकत्वप्रकारकबोधजननादित्यर्थः । पानानुकूलकृतिमन्ताविति प्राथमिको बोधः पानानुकूलकारकत्ववन्ताविति द्वितीयः । २. नियतेति—पानापेक्षया नियताऽवश्यंपूर्वभाविनी या कृतिस्तादृशकृतिमत्स्वरूपमित्यर्थः । ३. पाधातुः । ४. वाचस्पतिः । ५. कृतिरूपः प्रत्ययार्थः । ६. पाकनिरूपितकारकत्ववन्तिकाष्ठनीति वाक्यार्थः ।

परमात्मा तु न सुकृतस्य वा दुष्कृतस्य वा गोचरे वर्तते, 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (कौ० ३-६) इति श्रुतेः। 'छायातपौ' इति च चेतनाचेतनयोर्निर्देश उपपद्यते, छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्। तस्माद्बुद्धिक्षेत्रज्ञाविहोच्येयातामित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम्। कस्मात्? आत्मानौ हि तावुभावपि चेतनौ समानस्वभावौ। [1]संख्याश्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते। 'अस्य [2]गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्यः' इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वः पुरुषो वा। [3]तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्वितीयान्वेषणायां समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव प्रतीयते। ननूक्तम्—गुहाहितत्व[4]दर्शनान्न परमात्मा प्रत्येतव्य इति। गुहाहितत्वदर्शनादेव परमात्मा प्रत्येतव्य इति वदामः। गुहाहितत्वं तु श्रुतिस्मृतिष्वसकृत्परमात्मन एव [5]दृश्यते—'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' (का० १-२-१२) 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तै० २-१) 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्' इत्याद्यासु। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थो देशविशेषोप-

---

[6]जातिमति क्लृप्ते [7]सजातीयमेव द्वितीयं ग्राह्यं, व्यक्तिमात्रग्रहे लाघवात्। न विजातीयं, जातिव्यक्त्युभयकल्पनागौरवात्। न चास्तु [8]कारकत्वेन सजातीया बुद्धिरेव जीवस्य द्वितीयेति वाच्यं, चेतनत्वस्य जीवस्वभावस्य कारकत्वाद[9]न्तरङ्गत्वात्। तथाच लोके द्वितीयस्यान्तरङ्गजातिमत्त्वदर्शनाज्जीवस्य द्वितीयश्चेतन एवेति सूत्रार्थमाह—संख्याश्रवणे चेति। **गुहायां बुद्धौ स्थितं, गह्वरेऽनेकानर्थसङ्कुले देहे स्थितं, पुराणमनादिपुरुषं विदित्वा हर्षशोकौ जहाति। परमे श्रेष्ठे, व्योमन्**

मानने से कर्म विषय का अतिक्रमण नहीं होता है। परमात्मा सुकर्म अथवा दुष्कर्म का विषय होता ही नहीं क्योंकि 'वह परमात्मा कर्म से न बढ़ता है और न घटता ही है' ऐसा श्रुति कहती है। श्रुति ने छाया और आतप शब्द का प्रयोग चेतन एवं अचेतन के लिए किया है, अर्थात् जो धूप और छाया के समान परस्पर विलक्षण है। अतः बुद्धि और जीव इस स्थल पर गुहा में प्रविष्ट कहे गये हैं। ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि जीव और परमात्मा इस श्रुति में बतलाये गये हैं क्योंकि चेतन आत्मा समान स्वभाव वाले को ही प्रतीति लोक में देखी जाती है। किसी ने कहा कि इस गौ के दूसरे को ढूंढ़ना चाहिए ऐसा कहने पर दूसरी गौ ही ढूंढ़ी जाती है, अश्व या पुरुष नहीं ढूंढ़े जाते हैं। ठीक ऐसे ही कर्मफल भोग लिङ्ग से एक सिद्धि हो जाने पर दूसरा अन्वेषणीय समान स्वभाव वाला चेतन परमात्मा ही निश्चित होगा। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि गुहाहितत्व श्रुति के कारण परमात्मा अर्थ प्रतीत नहीं होता। इस पर हम सिद्धान्ती गुहाहितत्व श्रुति के आधार पर ही परमात्मा अर्थ मानते हैं। परमात्मा श्रुति और स्मृति में अनन्त बार गुहानिहित प्रतीत होता है। यथा—**'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्'** इत्यादि श्रुतियों में परमात्मा को गुहा स्थित माना गया है। सर्वव्यापक ब्रह्म का

---

१. तद्दर्शनादिति सूत्रभागं व्याचष्टे—संख्येति। संख्याबोधकपदश्रवणे च सजातीयविषयकैव संख्याबोधकपदजन्या लोके प्रतीतिर्भवतीत्यर्थः। २. एतद्गोसम्बन्धिद्वित्वाश्रयः। ३. तत्तत्रेत्थं लौकिकदर्शने सतीति यावत्, इहेति वाक्योक्तिः। ४. श्रुत्या गुहाहितत्वावगमात्। ५. प्रतीयते। ६. व्यक्तौ। ७. तज्जातीयमेव ८. बुद्धेः करणकारकत्वम्, जीवस्य च कर्तृकारकत्वम्। ९. इतरानपेक्षत्वं चात्रान्तरङ्गत्वं बोध्यम्।

(४३) विशेषणाच्च ॥१२॥

देशो न विरुध्यत इत्येतदप्युक्तमेव[1]। सुकृतलोकवर्तित्वं[2] तु छत्रित्ववदेकस्मिन्नपि वर्तमान-मुभयोरविरुद्धम्। छायातपावित्यप्यविरुद्धम्, छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्संसारित्वा-संसारित्वयोः। अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य, पारमार्थिकत्वाच्चासंसारित्वस्य। तस्माद्वि-ज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते ॥११॥

कुतश्च विज्ञानात्मपरमात्मानौ गृह्येते ?—

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव सम्भवति। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (का० १-३-३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (का० १-३-९) इति च परमात्मानं गन्तव्यं कल्पयति। तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति'

हार्दाकाशे या गुहा बुद्धिः तस्यां निहितं ब्रह्म यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यन्वयः। अन्विच्छ विचारयेत्यर्थः ॥११॥

विशेषणं गन्तृगन्तव्यत्वादिकं लिङ्गमाह—विशेषणाच्चेति। स जीवोऽध्वनः संसारमार्गस्य परमं पारम्। किं तत् ? विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमात्मनः पदं स्वरूपमाप्नोतीत्यर्थः। दुर्दर्शं दुर्ज्ञानं, तत्र हेतुर्गूढं मायावृतं मायानुप्रविष्टं पश्चाद्गुहाहितं गुहाद्वारा गह्वरेष्ठं, एवं 'बहिरागतमात्मानं,

साक्षात्कार हृदयाकाश रूप देश विशेष में होता है इसीलिए उसका देश विशेष स्थान बतलाना भी कोई विरुद्ध नहीं है, यह हम पहले इस (ब्र० सू० १-२-६) में कह चुके हैं। देह में रहकर कर्मफल भोक्तृत्व कहना भी छत्रिन्याय से युक्त ही है। एक के पास छत्रि रहने पर भी 'छत्रिणो यान्ति' जैसा व्यवहार होता है, वैसा ही व्यवहार जीव के शरीर में रहकर कर्मफल भोक्ता होने पर भी दोनों में सुकृतलोक-वर्तित्व मानना विरुद्ध नहीं है। छाया और धूप के समान परस्पर विलक्षण होने के कारण **छाया-तपौ** यह विशेषण भी विरुद्ध नहीं है। एक में संसारित्व है दूसरे में संसारित्व नहीं है। जीव में अविद्याकृत संसारित्व है, परमार्थवस्तु, उसमें असंसारित्व ही है। अतः जीव और परमात्मा दोनों ही इस श्रुति में बुद्धि रूप गुफा में प्रविष्ट माने जायेंगे ॥११॥

विशेषणाच्च (ललिता)

जीव और परमात्मा गुहा प्रविष्ट तत्त्व क्यों माने जायें ? इसके उत्तर अग्रिम सूत्र में दिया गया है। जीव और परमात्मा के ही विशेषण उस प्रसङ्ग में मिलते हैं। वहाँ पर कहा है 'आत्मा को रथी जानो शरीर को रथ मानो' इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ से रथी-रथादि रूप कल्पना द्वारा रथी जीव को संसार एवं मोक्ष का गन्ता माना है और परमात्मा को 'इस मार्ग के अन्तिम छोर पर जो विष्णु का परमपद है उसे जीव प्राप्त करता है' इस वाक्य द्वारा गन्तव्य कहा गया है। वैसे ही 'कठिनाई से जानने योग्य, माया द्वारा आवृत, माया में अनुप्रविष्ट, बुद्धिरूप गुफा में निहित, गहन स्थान में

१. १-२-७ सू. व्याख्यावसरे। २. सुकृतलोके देहे स्वामित्वेनावस्थितत्वं तत्रैव वर्तमानत्वमिति यावत्।
३. प्रत्यक्स्वरूपाद्बहिः पराक्तु मायादिष्वागतमवस्थितं दर्शनीयतामापन्नमिति यावत्।

(का० १-२-१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तृमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ। प्रकरणं चेदं परमात्मनः। 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते। तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम्। एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३-१-१) इत्येवमादिष्वपि। तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति। 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा। अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' (मु० ३-१-२) इति।

अध्यात्मयोगः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहलयक्रमेण प्रत्यगात्मनि चित्तसमाधानं तेनाधिगमो महावाक्यजा वृत्तिस्तया विदित्वेत्यर्थः। ऋतपानमन्त्रे जीवानुवादेन वाक्यार्थज्ञानाय तत्पदार्थो ब्रह्म प्रतिपाद्यत इत्युपसंहरति—तस्मादिहेति। उक्तन्यायमतिदिशति—एष इति। द्वा द्वौ छान्दसो द्विवचनस्याकारः। सुपर्णाविव सहैव युज्येते नियम्यनियामकभावेनेति सयुजौ। सखायौ चेतनत्वेन तुल्यस्वभावौ। समानमेकं वृक्षं छेदनयोग्यं शरीरमाश्रित्य स्थितावित्यर्थः। गुहां प्रविष्टाविति यावत्। एतावात्मानौ, 'तल्लिङ्गदर्शनादित्याह—तयोरन्य इति। विशेषणाच्चेत्याह—अनन्तरे चेति। अनीशया स्वस्येश्वरत्वाप्रतीत्या देहे निमग्नः पुरुषो जीवः शोचति। निमग्नपदार्थमाह—मुह्यमान इति। नरोऽहमिति भ्रान्त इत्यर्थः। जुष्टं ध्यानादिना सेवितं यदा ध्यानपरिपाकदशायामीशमन्यं विशिष्टरूपाद्भिन्नं शोधितचिन्मात्रं प्रत्यक्त्वेन पश्यति तदाऽस्य महिमानं स्वरूपमेति[2] प्राप्नोतीव। ततो वीतशोको भवतीत्यर्थः।

स्थित अनादि, अनन्त परमात्मदेव को अध्यात्मयोग के अधिगम से जानकर मुमुक्षु धीरपुरुष हर्ष और शोक दोनों को छोड़ बैठते हैं, इस पूर्व ग्रन्थ में भी मन्ता और मन्तव्यरूप में इन्हीं जीव और परमेश्वर को बतलाया है। यह प्रकरण भी परमात्मा का ही है क्योंकि 'ब्रह्मवित् पुरुष कहते हैं' इस वाक्य मे वक्ता विशेष का उपादान परमात्मा अर्थ मानने पर ही घट सकता है। इसलिए इस कठ श्रुति में जीव और परमात्मा ही कहे गये हैं। यही युक्ति "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**" इन वाक्यों में भी लगाना चाहिए। वहाँ भी अध्यात्म का अधिकार होने से प्राकृत पक्षी नहीं कहे जा सकते। 'उनमें से एक स्वादिष्ट फल का भोक्ता है' इस अदनलिङ्ग द्वारा विज्ञानात्मा सिद्ध होता है एवं 'न खाता हुआ केवल प्रकाशता रहता है' इन अनशन और चेतनत्व लिङ्गों द्वारा परमात्मा अर्थ सिद्ध होता है। 'एक ही शरीर वृक्ष के ऊपर रहने वाले दो में से एक मोहाग्रस्त पुरुष असमर्थ होने के कारण भोगासक्त हो चिन्ता करता रहता है और जब ध्यानादि साधनों से सेवित ध्यान-परिपाक दशा में विशिष्ट चैतन्य से भिन्न शुद्ध चैतन्य को अन्तरात्मा रूप से देखता है तब उसके स्वरूप को प्राप्त कर जाता है फिर तो संसार शोक से वह मुक्त हो जाता है' इस अग्रिम मन्त्र में जीव और परमात्मा को ही द्रष्टा तथा द्रष्टव्य रूप से बतलाया गया है।

---

१. तयोरुभयोर्लिङ्गदर्शनात्। २. छान्दसं गुणाभावं मत्वाऽऽह—एतीति। पाठं वा तादृशम्।

अपर आह—'द्वा सुपर्णा' इति नेयमृगस्याधिकरणस्य सिद्धान्तं भजते, पैङ्गिरहस्य-ब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात्। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। सत्त्वशब्दो जीवः क्षेत्रज्ञशब्दः परमात्मेति यदुच्यते। तन्न, सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोरन्तःकरणशारीरपरतया प्रसिद्धत्वात्। 'तत्रैव च व्याख्यातत्वात्—"तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति, अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षं भजते। नह्यत्र शारीरः क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिना संसारधर्मेणोपेतो विवक्ष्यते। कथं तर्हि ? सर्वसंसारधर्मातीतो ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः' इति वचनात्। 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी० १३-२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। तावता च विद्योपसंहारदर्शनमेवमेवावकल्पते, 'तावेतौ सत्त्व-

---

'द्वा सुपर्णा' इति वाक्यं जीवेश्वरपरमि'ति कृत्वा चिन्तितम्। अधुना कृत्वा चिन्तामुद्घाटयति—अपर इति। अन्यथा बुद्धिविलक्षणत्वंपदलक्ष्यपरत्वेनेत्यर्थः। सत्त्वं बुद्धिरिति शङ्कते—सत्त्वशब्द इति। बुद्धिजीवौ चेत्पूर्वपक्षार्थः स्यादित्यत आह—नापीति। पूर्वपक्षार्थस्तदा स्यात्, यद्यत्र बुद्धिभिन्नः संसारी प्रतिपाद्येत। नह्यत्र संसारी विवक्ष्यते, किन्तु शोधितस्त्वमर्थो ब्रह्मेत्यर्थः। श्रुतिस्मृतिभ्यश्चायमर्थो युक्त इति शेषः। तावता मन्त्रव्याख्या'मात्रेण। एवमेव जीवस्य ब्रह्मत्वोक्त्यावेव। नहि जीवो बुद्धिभिन्न इति विवेकमात्रेणोपसंहारो युक्तः। भेदज्ञानस्य भ्रान्तित्वाद्वंफल्याच्चेति भावः। अविद्या विदुषि किमपि स्वकार्यं नाऽऽध्वंसते न सम्पादयति, ज्ञानाग्निना स्वस्या एव दग्धत्वादित्यर्थः। अविद्या नागच्छतीति वार्थः। जीवस्य ब्रह्मत्वपरमिदं वाक्यमिति पक्षे

इस पर अन्य किसी ने कहा कि "द्वा सुपर्णा" यह ऋक् इस अधिकरण के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करती है क्योंकि पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में इसका व्याख्या अन्य प्रकार से किया है। उन्होंने कहा है कि उन दोनों में से एक स्वादिष्ट फल का भोक्ता है वह है सत्त्व और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है वह है चेतन आत्मा। इस प्रकार बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इस शरीर रूप समान वृक्ष के ऊपर बैठे हैं। ऐसी स्थिति में सत्त्व शब्द का अर्थ जीव और क्षेत्रज्ञ शब्द का अर्थ परमात्मा यदि करोगे तो वह ठीक नहीं होगा क्योंकि सत्त्व शब्द अन्तःकरण अर्थ में और क्षेत्रज्ञ शब्द शरीर अर्थ में प्रसिद्ध है। उस पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में यह भी कहा है कि 'सत्त्व तो वह है जिससे पुरुष स्वप्न को देखता है और जो शारीर आत्मा उपद्रष्टा है वह क्षेत्रज्ञ है' ऐसा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त यह ऋक् इस अधिकरण के पूर्वपक्ष को स्वीकार नहीं करती क्योंकि यहाँ पर शारीर क्षेत्रज्ञ कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि संसार धर्म से युक्त को बतलाना अभिष्ट नहीं है, प्रत्युत सर्व संसार धर्म से अतीत ब्रह्मस्वभाव चैतन्य मात्र स्वरूप को "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" इति "अनश्नन्नन्यो अभिज्ञः' इस वचन से बतलाना अभीष्ट है। इत्यादि स्मृति द्वारा बतलाया गया है। इसी अर्थ में इस विद्योपदेश का उपसंहार भी देखा जाता है। "तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ" "न ह वा

---

१. पैङ्गिरहस्यब्राह्मण एव। २. तदेवाह—तदेतदिति। ३. इति यच्चिन्तितं तत्कृत्वा चिन्तितं पराभ्युपगतमङ्गीकृत्य विचारितमित्यर्थः। ४. मात्रपदेन जीवे ब्रह्माभेदप्रतिपादकवाक्यान्तरं व्यवच्छिनत्ति।

क्षेत्रज्ञो न ह वा एवंविदि किञ्चन रज आध्वंसते' इत्यादि। कथं पुनरस्मिन्पक्षे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' इत्यचेतने सत्त्वे भोक्तृत्ववचनमिति। उच्यते—नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता। किं तर्हि? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति। तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति। इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते। परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि सम्भवति, अचेतनत्वात्सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य। [1]अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न सम्भवति। तथाच श्रुतिः—'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (बृ० ४-३-३१) इत्यादिना स्वप्नदृष्टहस्त्यादिव्यवहारवदविद्याविषय एव कर्तृत्वादिव्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४-५-१५) इत्यादिना च विवेकिनः कर्तृत्वादिव्यवहाराभावं दर्शयति ॥१२॥

शङ्कते—कथमिति। बुद्धेर्भोक्तृत्वोक्तावतात्पर्यान्नात्र युक्तिचिन्तया मनः खेदनीयमित्याह—उच्यत इति। तदर्थं ब्रह्मत्वबोधनार्थं भोक्तृत्वमुपाधिमस्तके निक्षिपतीत्यर्थः। वस्तुतो जीवस्याभोक्तृत्वे भोक्तृत्वधीः कथमित्यत आह—इदं हीति। चित्तादात्म्येन कल्पिता बुद्धिः सुखादिरूपेण परिणमते। बुद्ध्यविवेकाच्चिदात्मनः सुखादिरूपवृत्तिव्यक्तचैतन्यवत्त्वं भोक्तृत्वं भातीत्यर्थः। भोक्तृत्वमाविद्यकं, न वस्तुत इत्यत्र मानमाह—तथा चेति। यत्राविद्याकाले [2]चैतन्यं भिन्नमिव भवति तदा द्रष्टृत्वादिकं, न वस्तुनि ज्ञात इत्यर्थः। तस्मात् 'ऋतं पिबन्तौ' (का० १-३-१) इति वाक्यमेव गुहाधिकरणविषय इति स्थितम् ॥१२॥

एवंविदि किञ्चन रज आध्वंसते'' इत्याति उपसंहार वाक्य है। पूर्वपक्ष—फिर भला इस पक्ष में **''तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति इति सत्त्वम्''** इस वाक्य में कहे गये भोक्तृत्ववचन अचेतन सत्त्व में कैसे घटेगा? समाधान—यह श्रुति अचेतन सत्त्व में भोक्तृत्व कहूंगी, इसके लिए प्रवृत्त नहीं हुई है किन्तु चेतन क्षेत्रज्ञ में अभोक्तृत्व एवं ब्रह्मस्वरूपता को कहूँगी इसके लिए प्रवृत्त हुई है। एतदर्थ सुखादि विकारयुक्त बुद्धि में भोक्तृत्व का आरोप करती है और यह कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि, बुद्धि एवं क्षेत्रज्ञ आत्मा के परस्पर स्वाभाविक अविवेक के कारण माना गया है, वस्तुतः तो उन दोनों में से एक में भी सम्भव नहीं है क्योंकि बुद्धि अचेतन है और क्षेत्रज्ञ निर्विकार है। इसके अतिरिक्त बुद्धि तो अविद्या प्रत्युपस्थापित स्वभाव होने के कारण उसमें कर्तृत्वादि सर्वथा सम्भव नहीं है। इसीलिए तो 'जहाँ द्वैत सा होता है वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है' इत्यादि वाक्य द्वारा स्वप्न में देखे गये हस्त्यादि व्यवहार की भाँति अविद्यादि विषय में ही कर्तृत्वादि व्यवहार श्रुति दिखलाती है। 'जहाँ इस तत्त्वज्ञानी का सब कुछ आत्मा ही हो गया उस विद्या दशा में कौन किससे किसको देखेगा' इस वाक्य द्वारा विवेकियों के लिए कर्तृत्वादि व्यवहार का निषेध करती है। अतः कर्तृत्वभोक्तृत्व आविद्यक है वास्तविक नहीं है, इसीलिए गुहाधिकरण का विषय **'ऋतं पिबन्तौ'** यह वाक्य ही है ॥१२॥

१. अविद्यया प्रत्युपस्थापितः प्रयोजितः स्वभावो जडत्वात्मको यस्य तत्त्वादित्यर्थः। अविद्याप्रयुक्तजडत्वादिति यावत्। जडत्वं चात्रानानन्दत्वरूपमतो नाचेतनत्वहेतुना पौनरुक्त्यमिति ध्येयम्। २. चैतन्यं भिन्नमिति—चैतन्यभिन्नमिति वा पाठः।

४. अन्तराधिकरणम् (सू० १३-१७)

(४४) अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥

छायाजीवौ देवतेशौ वाऽसौ योऽक्षिणि दृश्यते। आधारदृश्यतोक्त्येशादन्येषु त्रिषु कश्चन।
कं खं ब्रह्म यदुक्तं प्राक् तदेवाक्षिण्युपास्यते। वामनीत्वादिनान्येषु नामृतत्वादिसम्भवः॥

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' (छा० ४-१५-१) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः—किमयं प्रतिबिम्बात्माक्ष्यधिकरणो निर्दिश्यतेऽथवा विज्ञानात्मा उत देवतात्मेन्द्रियस्याधिष्ठाताऽथवेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम्? छायात्मा पुरुषप्रतिरूप इति।

अन्तर उपपत्तेः। उपकोसलविद्यावाक्यमुदाहरति—य इति। तदक्षिस्थानमसङ्गत्वेन ब्रह्मणोऽनुरूपं, यतोऽस्मिन्क्षिप्तं वर्त्मनी पक्ष्मणी एव गच्छतीत्यर्थः। दर्शनस्य लौकिकत्वशास्त्रीयत्वाभ्यां संशयमाह—तत्रेति। पूर्वं 'पिबन्तौ' इति प्रथमश्रुतचेतनत्वानुसारेण चरमश्रुता गुहाप्रवेशादयो नीताः, तद्वदिहापि दृश्यत इति चाक्षुषत्वानुसारेणामृतत्वादयो ध्यानार्थं कल्पितत्वेन नेया इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—छायात्मेति। पूर्वपक्षे प्रतिबिम्बोपास्तिः, सिद्धान्ते ब्रह्मोपास्तिरिति फलम्—

४. अन्तराधिकरण

१. पूर्वाधिकरण में जिस प्रकार 'ऋतं पिबन्तौ' यह पदगत द्वित्व होने से जीव और परमेश्वर में चेतनत्वेन सादृश्य मानकर 'गुहाप्रवेशादि' चरमश्रुति को जीवपरमेश्वरपरक माना था वैसे ही यहाँ पर 'दृश्यते' इस प्रथमप्रत्यक्षत्व कथन से नेत्र में प्रतिबिम्बबोध अनुरोध से 'अमृतत्वादि' चरमश्रुति को स्तावक मानना चाहिए। इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

२. छान्दोग्य की उपकोशल विद्या में 'य एषोऽक्षिणी[1] पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति' ऐसी श्रुति है, वही यहाँ पर विचारणीय है।

३. क्या नेत्राधिकरणक निर्दिष्टतत्त्व प्रतिबिम्बादि है अथवा परमात्मा है? ऐसा संशय होता है।

४. आधार एवं दृश्यता का कथन होने से ईश्वर को छोड़कर अन्य छाया, जीवात्मा अथवा देवता इन तीनों में से कोई एक अक्षिस्थ पुरुष हो सकता है।

५. 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' ऐसा जिसे पहले कहा जा चुका है वही यहाँ पर नेत्र में वामनत्वादि धर्म से उपास्य कहा गया है। परमेश्वर को छोड़कर छायादि तीनों ही पदार्थों में अमृतत्वादि का होना सम्भव नहीं।

अन्तर उपपत्तेः (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् की उपकोशल विद्या में कहा है 'जो यह नेत्र में पुरुष दीखता है, यह आत्मा है ऐसा आचार्य सत्यकाम ने उपदेश किया उसके बाद यह भी कहा कि यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है। यद्यपि चक्षु में घी अथवा जल डालते हैं तो वह दोनों ओत्पलकों से निकल जाता है, भीतर नहीं जाता' इत्यादि। वहाँ पर संशय होता है कि अक्ष्यधिकरण पदार्थ प्रतिबिम्ब

१. अक्षिणीति—च्छान्दसः पाठः, लोके त्वक्षणीति पाठ्यम्।

कुतः? तस्य दृश्यमानत्वप्रसिद्धेः। 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति च प्रसिद्धवदुपदेशात्। विज्ञानात्मनो वाऽयं निर्देश इति युक्तम्। स हि चक्षुषा रूपं पश्यंश्चक्षुषि सन्निहितो भवति। आत्मशब्दश्चास्मिन्पक्षेऽनुकूलो भवति। आदित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहकः प्रतीयते 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' (बृ० ५-५-२) इति श्रुतेः। अमृतत्वादीनां च देवतात्मन्यपि कथञ्चित्सम्भवात्। नेश्वरः, स्थानविशेषनिर्देशादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति। कस्मात्? उपपत्तेः। उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम्। आत्मत्व तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वर उपपद्यते। 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः। अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्नसकृच्छ्रुतौ श्रूयेते। तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम्। यथाहि परमेश्वरः सर्वदोषैरलिप्तः, अपहतपाप्मत्वादिश्रवणात्। तथाक्षिस्थानं सर्वलेपरहितमुपदिष्टम्, 'तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' इति श्रुतेः। संयद्वामत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन्नवकल्पते। 'एतं संयद्वाम

प्रसिद्धवदिति। चाक्षुषत्वेनेत्यर्थः। सम्भावनामात्रेण पक्षान्तरमाह—विज्ञानात्मन इत्यादिना। 'मनो ब्रह्म' इतिवत्, 'एतद्ब्रह्मेति' (छा० ३-१४-४) इति वाक्यस्येतिपदशिरस्कत्वान्न स्वार्थपरत्वमिति पूर्वपक्षः। 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३-१८-१) इत्यत्र इतिपदस्य प्रत्ययपरत्वात्, इह च ब्रह्मेत्युवाचेत्यन्वयेन इतिपदस्योक्तिसम्बन्धिनोऽर्थपरत्वाद्वैषम्यमिति सिद्धान्तयति—परमेश्वर एवेति। बहुप्रमाणसंवादस्तात्पर्यानुग्राहक इति न्यायानुगृहीताभ्यामात्मब्रह्मश्रुतिभ्यां दृश्यत्वलिङ्गं बाध्यमित्याह—संयद्वामेति। वामानि कर्मफलान्येतमक्षिपुरुषमभिलक्ष्य संयन्ति उत्पद्यन्ते, सर्वफलोदयहेतु-

---

बतलाया गया है? जीव, इन्द्रियों का अधिष्ठाता देवता अथवा ईश्वर बतलाया गया है? इस पर पूर्वपक्ष ने कहा कि पुरुष का प्रतिबिम्ब रूप छाया आत्मा ही नेत्र में उपदिष्ट है क्योंकि उसी में दृश्यमानता की प्रसिद्धि है। श्रुति ने 'य एषोऽक्षिणी पुरुषो दृश्यते' इस वाक्य द्वारा प्रसिद्धि की भाँति उपदेश किया है जो प्रतिबिम्बात्मा में ही घटता है। अथवा जीवात्मा निर्देश यहाँ मानना उचित होगा क्योंकि नेत्र द्वारा रूप को देखने वाला जीव नेत्र में सन्निहित हो जाता है। साथ ही, इस पक्ष में आत्मा शब्द का प्रयोग भी अनुकूल पड़ता है। अथवा नेत्र का अनुग्राहक आदित्य पुरुष इस श्रुति में प्रतीत होता है 'क्योंकि यह भी चक्षु में रश्मियों द्वारा प्रतिष्ठित रहता है', ऐसी श्रुति ही अमृतत्वादि देवतात्मा में भी औपचारिक दृष्टि से सम्भव ही है किन्तु स्थान विशेष का निर्देश होने के कारण नेत्रस्थ पुरुष ईश्वर नहीं हो सकता ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि नेत्र के भीतर उपदिष्ट पुरुष यहाँ पर परमेश्वर ही है क्योंकि परमेश्वर में घटने वाले गुण समुदाय का ही उपदेश यहाँ भी किया गया है। उनमें आत्मत्व तो मुख्यवृत्ति से परमेश्वर में घटता ही है क्योंकि 'स आत्मा तत्त्वमसि' ऐसी श्रुति है। अमृतत्व और अभयत्व गुणों का श्रवण श्रुति में परमेश्वर के लिए अनेक बार होता है। वैसे ही नेत्र स्थान का उपदेश परमेश्वरानुरूप ही है जैसे परमेश्वर 'अपहतपाप्मा' होने के कारण सम्पूर्ण दोषों से अलिप्त है, वैसे ही नेत्र स्थान भी सर्वलेप, सर्वदोष से अलिप्त कहा गया है। 'तद्यद्यप्यस्मिन् वर्त्मनी एव गच्छति' ऐसी श्रुति है। संयद्

---

१. उपचारात्। २. ब्रह्मपरत्वम्। ३. ध्यानपरत्वात्। ४. निमित्तीकृत्य।

(४५) स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

इत्याचक्षत एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति'। 'एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति'। 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४-१५-२,३,४) इति च। अत उपपत्तेरन्तरः परमेश्वरः ॥१३॥

कथं पुनराकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽक्ष्यल्पस्थानमुपपद्यत इति। अत्रोच्यते—भवेदेषाऽनवक्लृप्तिः, यद्येतदेवैकं स्थानमस्य निर्दिष्टं भवेत्। सन्ति ह्यन्यान्यपि पृथिव्यादीनि स्थानान्यस्य निर्दिष्टानि—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृ० ३-७-३) इत्यादिना। तेषु हि चक्षुरपि निर्दिष्टम्—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इति। 'स्थानादिव्यपदेशात्' इत्यादिग्रहणेनैतद्दर्शयति—न केवलं स्थानमेवैकमनुचितं ब्रह्मणो निर्दिश्यमानं दृश्यते। किं तर्हि? नामरूपमित्येवंजातीयकमप्यनामरूपस्य ब्रह्मणोऽनुचितं निर्दिश्यमानं दृश्यते—'तस्योदिति नाम' 'हिरण्यश्मश्रुः' (छा० १-६-७,६) इत्यादि। निर्गुणमपि सद्ब्रह्म 'नामरूपगतैर्गुणैः

रित्यर्थः। लोकानां फलदातात्ययमेवेत्याह—वामनीरिति। नयति फलानि लोकान्प्रापयतीत्यर्थः। भामानी भानानि नयत्ययमित्याह—भामनीरिति। सर्वार्थप्रकाशक इत्यर्थः ॥१३॥

स्थाननामरूपाणां ध्यानार्थं श्रुत्यन्तरेऽप्युपदेशादक्षिस्थानत्वोक्तिरत्र न दोष इति सूत्रयोजना। अनवक्लृप्तिः अक्लृप्तकल्पना तदा भवेत्, यद्यत्रैव निर्दिष्टं भवेदित्यन्वयः। नन्वनुचितबाहुल्योक्तिरसमाधानमित्याशङ्क्य युक्तिमाह—निर्गुणमपीति ॥१४॥

वामत्वादि गुणों का उपदेश भी परमेश्वर में घटता ही है 'इस नेत्रस्थ पुरुष को 'संयद्वाम' इस शब्द से कहते हैं क्योंकि इसको सभी अच्छे गुण प्राप्त करते हैं' यही पुरुष वामनी है क्योंकि सभी जीवों को अच्छे-अच्छे फल की प्राप्ति यही कराता है और यही सभी लोकों में प्रकाशक होने से भामनी भी कहा जाता है। इन सभी उपपत्तियों को देखते हुए नेत्र के भीतर उपदिश्यमान-पुरुष परमात्मा ही है ॥१३॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च (ललिता)

अन्य श्रुति में भी स्थान, नाम और रूप का उपदेश ध्यान के लिए किया गया है। तदनुसार यहाँ पर भी ध्यानार्थ नेत्र स्थान कहना कोई दोष नहीं है। शङ्का—आकाश के समान व्यापक ब्रह्म को नेत्र जैसे अल्पस्थान में बतलाना किस प्रकार युक्ति सङ्गत हो सकता है? समाधान—यह शङ्का हो सकती थी यदि केवल नेत्र ही इसका स्थान बतलाया गया होता तो। पृथिव्यादि अनेक स्थान 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि वाक्य द्वारा जब कहे जा चुके हैं तो उनमें से 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' नेत्र भी स्थान बतलाया गया। केवल नेत्र ही स्थान नहीं कहा है। यही बात 'स्थानादि' सूत्र में आये हुए आदि पद से ग्रहण करना चाहिए। आपके कथनानुसार ब्रह्म के लिए केवल एक नेत्र स्थान का उपदेश अनुचित जान पड़ता है। इतना ही नहीं प्रत्युप, निरूप और निराकार ब्रह्म के

१. उदित्यादिनामगतगुणाः पाप्मासंस्पर्शित्वाद् यो हिरण्यश्मश्रुत्वेत्यादिविशिष्टस्य रूपस्य गुणा हिरण्यश्मश्रुत्वादयः प्रयुक्तत्वं तृतीयार्थस्तथा च नामादिगतगुणप्रयुक्तं ब्रह्मणः सगुणत्वम्। २. अत्र प्रकृतश्रुतौ न दोष ईश्वरग्रहप्रतिबन्धिका न भवतीत्यर्थः। ३. असमाधानमिति—सर्वस्यापि पक्षसमत्वादिति भावः।

(४६) सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥

सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव । सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, शालग्राम इव विष्णोरित्येतदप्युक्तमेव ॥१४॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यम्—किं ब्रह्मास्मिन्वाक्येऽभिधीयते न वेति । सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं सिद्धम् । सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रक्रान्तं 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, तदेवेहाभिहितं, प्रकृतपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात् । 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (छा० ४-१४-१) इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात् । कथं पुनर्वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विज्ञायत इति । उच्यते—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्येतदग्नीनां

प्रकरणादपि ब्रह्म ग्राह्यमित्याह—सुखविशिष्टेति । **ध्यानार्थं भेदकल्पनया सुखगुणविशिष्टस्य ब्रह्मणः प्रकृतस्य य एष इति सर्वनाम्नाभिधानादन्तरः परमात्मा स्यादिति सूत्रार्थः । ननु प्रकरणात्प्रबलेन दृश्यत्वलिङ्गेनोपस्थापितश्छायात्मा सर्वनामार्थ इत्यत आह**—आचार्यस्त्विति । **उपकोसलो नाम कश्चिद्ब्रह्मचारी जाबालस्याचार्यस्याग्नीन्द्वादशवत्सरान्परिचचार । तमनुपदिश्य देशान्तरगते जाबाले गार्हपत्याद्यग्निभिर्दयया 'प्राणो ब्रह्म' इत्यात्मविद्यामुपदिश्योक्तम्**—आचार्यस्त्विति । **तवात्मविद्याफलावाप्तये मार्गमर्चिरादिकं वक्ष्यतीत्यर्थः । पश्चादाचार्येणागत्य 'य एषोऽक्षिणि' इत्युक्तार्चिरादिका गतिरुक्ता । तथा चाग्निभिरुक्तात्मविद्यावाक्यस्य गतिवाक्येनैकवाक्यता वाच्या, सा च सर्वनाम्ना प्रकृतात्मग्रहे निर्वहतीत्येकवाक्यतानिर्वाहकं प्रकरणं वाक्यभेदकाल्लिङ्गाद्बलवदिति भावः । श्रुतिं व्याचष्टे**—उच्यत इति । **प्राणश्च सूत्रात्मा बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति**[२]

लिए नाम तथा रूप का निर्देश भी अनुचित ही जान पड़ता है, किन्तु **'तस्य उदिति नाम हिरण्यश्मश्रुः'** इत्यादि वाक्य से निर्गुण ब्रह्म भी नामरूपगत गुणों के द्वारा सगुण उपासना के लिए स्थल-स्थल पर कहा गया है। यदि ये नामरूप उपासना के लिए कहे गये हैं, इसीलिए विरुद्ध नहीं है तो सर्वव्यापक ब्रह्म की उपलब्धि के लिए स्थान विशेष का निर्देश भी विरुद्ध नहीं है। जैसे शालग्राम में उपासना के लिए व्यापक विष्णु का उपदेश किया गया है क्योंकि ऐसी उपासना से विष्णु प्रसन्न हो कर भक्त को दर्शन भी देते हैं। ठीक वैसे व्यापक ब्रह्म को उपलब्धि उपासना द्वारा हृदय देश में होती है, अतः उसे नेत्र स्थान बतलाना कोई विरुद्ध नहीं है ॥१४॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च (ललिता)

प्रकृत वाक्य में ब्रह्म का उपदेश है, इस सम्बन्ध में यहाँ पर विवाद करना ही नहीं चाहिए क्योंकि वाक्यारम्भ में **'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति'** इस वाक्य के द्वारा जिसका वर्णन किया गया था उसी सुरतकथन वर्णन विशिष्ट तत्त्व का अभिधान इस वाक्य में भी किया गया है। प्रसङ्गानुसार अर्थग्रहण करना युक्ति सङ्गत है। अग्नियों ने **'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति'** इस प्रकार उपदेश करने के बाद यह भी कहा था कि इस उपासना के फल प्राप्ति के मार्ग का उपदेश तो तुम्हारे आचार्य सत्यकाम ही करेंगे। अर्थात् गतिमात्र वर्णन की प्रतिज्ञा की गयी है जो शेष रह गया था, जिस उत्तरायण मार्ग का उपदेश आचार्य सत्यकाम ने किया। प्रश्न—वाक्यारम्भ में

---

१. चकारार्थं दर्शयति—सर्वेति । २. इति यदिति—इति यथा स्यात्तथा जानामि येन प्रकारेण प्राणशब्दार्थः सूत्रात्मा ब्रह्म भवति, तेन प्रकारेण तद्ब्रह्म जानामीति यावत् ।

वचनं श्रुत्वोपकोसल उवाच—'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामि' इति। तत्रेदं प्रतिवचनम्—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' (छा० ४-१०-५) इति। तत्र खंशब्दो भूताकाशे निरूढो लोके। यदि तस्य विशेषणत्वेन कंशब्दः सुखवाची नोपादीयेत, तथा सति केवले भूताकाशे ब्रह्मशब्दो 'नामादिष्विव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्त इति प्रतीतिः स्यात्। तथा कंशब्दस्य विषयेन्द्रियसम्पर्कजनिते सामये सुखे प्रसिद्धत्वात्, यदि तस्य खंशब्दो विशेषणत्वेन नोपादीयेत, लौकिकं सुखं ब्रह्मेति प्रतीतिः स्यात्। इतरेतरविशेषितौ तु कंखंशब्दौ सुखात्मकं ब्रह्म गमयतः। तत्र द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने क खं ब्रह्मेत्येवोच्यमाने कंशब्दस्य विशेषणत्वेनैवोपयुक्तत्वात्सुखस्य गुणस्याध्येयत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्युभयोः कंखंशब्दयोर्ब्रह्मशब्दशिरस्त्वं 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति। इष्टं हि

यत्तज्जानामि। कं विषयसुखं, खं च भूताकाशं ब्रह्मत्वेन ज्ञातुं न शक्नोमीत्यर्थः। खं कथम्भूतं, यत्कं तदेव खमिति सुखेन विशेषितस्य खस्य भूतत्वनिरासः। तथा कं कथम्भूतं, यत्खं तदेव कमिति विभुत्वेन विशेषितस्य कस्य जन्यत्वनिरास इति व्यतिरेकमुखेनाह—तत्र खमित्यादिना। 'आत्मविद्या' (छा० ४-१४-१) इति श्रुतिविरोधात्प्रतीकध्यानमत्रानिष्टमिति भावः। सामय इति। आमयो दोषः साधनपारतन्त्र्यानित्यत्वादिः, तत्सहित इत्यर्थः। प्रत्येकग्रहणे दोषमुक्त्वा द्वयोर्ग्रहणे फलितमाह—इतरेतरेति। विशेषितार्थकावित्यर्थः। नन्वेकं ब्रह्मैवात्र ध्येयं चेद्ब्रह्मपदान्तरं किमर्थमित्यत आह—तत्रेति। विशेषणत्वेन खस्य भूतत्वव्यावर्तकत्वेनेत्यर्थः। ब्रह्मशब्दः शिरो ययोस्तत्त्वमिति विग्रहः। अध्येयत्वे को दोषः, तत्राह—इष्टं हीति। मार्गोक्त्या सगुणविद्यात्वावगमादिति भावः। आत्म-

---

सुख विशिष्ट ब्रह्म का उपदेश किया गया है यह कैसे जाना जाय? उत्तर—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति' अग्नियों का यह वचन सुनकर विद्यार्थी उपकोशल ने कहा कि मैं 'प्राणो ब्रह्म' इसे तो समझता हूँ किन्तु कं और खं को मैं ब्रह्म नहीं समझ पाता हूँ। समष्टि प्राण हिरण्यगर्भ व्यापक होने से ब्रह्म हो सकता है किन्तु वैशयिक सुख और जड़ आकाश ब्रह्म कैसे हो सकता है? उपकोशल के इस प्रश्न का उत्तर आचार्य सत्यकाम ने 'जो कं है वही खं है और जो खं है वही कं है' ऐसा कहा। यहाँ पर लोक में खं शब्द भूताकाश अर्थ में रूढ़ है। यदि सुखवाचक कं शब्द विशेषण रूप में खं के लिए न कहा जाय (ग्रहण किया जाय) तो उस स्थिति में केवल जड़ भूताकाश में ब्रह्म शब्द का प्रयोग प्रतीकाभिप्राय से माना जायेगा। जैसे नाम आदि प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि के लिए उपदेश किया गया है ऐसे ही अचेतन भूताकाश में मात्र ब्रह्मदर्शन के लिए उपदेश है, तत्त्व उपदेश नहीं है। वैसे ही विषय एवं इन्द्रियों के संयोग से होने वाले साधन परतन्त्र अनित्य वैशयिक सुख में 'खम्' शब्द न कहा जाय तो लौकिक वैशयिक सुख ब्रह्म है, ऐसा होने लग जायगा जो अनुभव विरुद्ध है। अतः कं, खं शब्द एक दूसरे में विशेषण बन कर सुखात्मक ब्रह्म का बोध कराते हैं। साथ ही, इन दोनों वाक्यों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग पृथक्-पृथक् किया गया है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो सुख रूप गुण उपास्य नहीं बन सकता था। गुणी की भाँति सुखरूप गुण भी उपासना के योग्य है, इसीलिए 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इन दोनों वाक्यों में कं तथा खं शब्द के शिरोभाग में ब्रह्म शब्द भी रखा गया है क्योंकि गुणी की भाँति सुखरूप गुण भी ध्यान के लिए इष्ट ही है गार्हपत्यादि

---

१. नामब्रह्मेत्युपासीदित्यादिष्विवेत्यर्थः।

(४७) श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥

सुखस्यापि गुणस्य गुणिवद्ध्येयत्वम्। तदेवं वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्मोपदिष्टम्। प्रत्येकं च गार्हपत्यादयोऽग्नयः स्वं स्वं महिमानमुपदिश्य 'एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या च' (छा० ४-१४-१) इत्युपसंहरन्तः पूर्वत्र ब्रह्म निर्दिष्टमिति ज्ञापयन्ति। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानमर्थान्तरविवक्षां वारयति। 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४-१४-३) इति चाक्षिस्थानं पुरुषं विजानतः पापेना[1]नुपघातं ब्रुवन्नक्षिस्थानस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्वं दर्शयति। तस्मात्प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्षिस्थानतां संयद्वामत्वादिगुणतां चोक्त्वार्ऽचिरादिकां तद्विदो गतिं वक्ष्यामीत्युपक्रमते—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ४-१५-१) इति ॥१५॥

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमेश्वरः, यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्य श्रुतरहस्यविज्ञानस्य ब्रह्मविदो या गतिर्देवयानाख्या प्रसिद्धा श्रुतौ—'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया

विद्यापदेनोपसंहारादपि प्रकृतं ब्रह्मेत्याह—प्रत्येकं चेति। पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति मम चतस्रस्तनवो विभूतिरिति गार्हपत्य उपदिदेश। आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इत्य[2]न्वाहार्यपचन उवाच। प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति स्वमहिमानमाहवनीयो जगादेति विभागः। इयमस्माकमग्नीनां विद्या प्रत्येकमुक्ता। आत्मविद्या तु पूर्वमस्माभिर्मिलित्वा 'प्राणो ब्रह्म' इत्युक्तेत्यर्थः। 'उच्यतामग्निभिर्ब्रह्मच्छायात्मा गुरुणोच्यतां वक्तृभेदात्' इति तत्राह—आचार्यस्त्विति। एकवाक्यतानिश्चयाद्वक्तृभेदेऽपि नार्थभेद इत्यर्थः ॥१५॥

श्रुता अनुष्ठिता उपनिषद् रहस्यं सगुणब्रह्मोपासनं येन तस्य या गतिः श्रुतौ स्मृतौ च प्रसिद्धा तस्या अत्राभिधानाल्लिङ्गादिति सूत्रार्थमाह—इतश्चेति। यस्माद्दृश्यते तत्तस्माद्विहेत्यन्वयः। श्रुतिमाह—अथेति। देहपातानन्तरमित्यर्थः। स्वधर्मस्तपः, तपोब्रह्मचर्यश्रद्धाविद्याभिरात्मानं

प्रत्येक अग्नि ने अपनी-अपनी महिमा का उपदेश कर अन्त में यह कहा कि हे सोम्य ! यह विद्या हमने अपने एव आत्मा के सम्बन्ध में बतला दी है। ऐसा कह कर उन अग्नियों ने ब्रह्म का ही निर्देश ज्ञापित किया। आचार्य के लिए तो गतिमात्र वर्णन की प्रतिज्ञा की है जो ब्रह्म से भिन्न की व्यावृत्ति करता है। 'जैसे कमल पत्र पर जल का संश्लेष नहीं होता ऐसे ही इस ज्ञानी में पाप कर्म का संश्लेष नहीं होता है' इस वाक्य द्वारा नेत्रस्थ पुरुष को जानने वाले के लिए पाप के साथ असम्बन्ध कहकर नेत्रस्थ पुरुष में ब्रह्मत्व दिखलाया गया है। अतः प्रसङ्गागत ब्रह्म के लिए ही अक्षिस्थानता और संयद्वामत्वादि गुणता कहकर अर्चिरादि मार्ग उस उपासक के लिए बताऊँगा, इस वाक्य से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर '**य एषो अक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच**' ऐसा कहा गया है ॥१५॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च (ललिता)

इसलिए भी नेत्रस्थ पुरुष परमेश्वर ही है क्योंकि जिसने उपनिषद् सुन रखी है, ऐसे ब्रह्मज्ञानी

---

१. असम्बन्धम् । २. दाक्षिणात्यः ।

विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते, एतद्वै प्राणानामा[1]यतनमेतदमृतमभयमेतत्[2]परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' (प्र० १-१०) इति । स्मृतावपि—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' (गी०८-२४) इति । 'सैवेहाक्षिपुरुषविदोऽभिधीयमाना दृश्यते । 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति' इत्युपक्रम्य 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ [7]एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४-१५-५) इति । [5]तदि[6]ह ब्रह्मविद्विषयया प्रसिद्धया गत्याक्षिस्थानस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते ॥१६॥

ध्यात्वा तया ध्यानविद्ययोत्तरं देवयानमार्गं प्राप्य, तेनोत्तरेण पथा आदित्यद्वारा सगुणब्रह्मस्थानं गच्छन्ति । एतद्वै ब्रह्म प्राणानां व्यष्टिसमष्टिरूपाणामायतनं लिङ्गात्मकं हिरण्यगर्भरूपं, वस्तुतस्त्वेतदमृतादिरूपं निर्गुणं सर्वाधिष्ठानम् । अतः कार्यब्रह्म प्राप्य तत्स्वरूपं निर्गुणं ज्ञात्वा मुच्यन्त इत्यर्थः । अग्निरेव ज्योतिर्देवता, एवमहराद्या देवता एव स्मृतावुक्ताः । अस्मिन्नुपासके मृते सति यदि पुत्रादयः शव्यं शवसंस्कारादिकं कुर्वन्ति, यदि च न कुर्वन्ति उभयथाप्युपास्तिमहिम्ना अर्चिरादिदेवान्क्रमेण गच्छन्ति । अर्चिषमग्निं, ततोऽहः, अह्नः शुक्लपक्षं, तत उत्तरायणं, तस्मात्सम्वत्सरं, ततो देवलोकं, ततो वायुं, वायोरादित्यं, ततश्चन्द्रं, चन्द्राद्विद्युतं गत्वा तत्र विद्युल्लोके स्थितानुपासकानमानवः पुरुषो ब्रह्मलोकादागत्य कार्यब्रह्मलोकं प्रापयति । एषोऽर्चिरादिभिर्देवैर्विशिष्टो देवपथो गन्तव्येन ब्रह्मणा योगाद्ब्रह्मपथश्च । त 'एतेन कार्यं ब्रह्म प्रतिपद्यमाना उपासका इमं मानवं मनोः सर्गं आवर्तं जन्ममरणावृत्तियुक्तं नावर्तन्ते नागच्छन्तीत्यर्थः ॥१६॥

के लिए ही श्रुति में देवयानमार्ग फल प्राप्ति के लिए प्रसिद्ध है। 'उत्तरमार्ग से वे आदित्य पर विजय प्राप्त करते हैं। जो तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और सगुण ब्रह्मविद्या द्वारा आत्मा की उपासना करते हैं। यही व्यष्टि-समष्टिरूप प्राणों का आयतन है जो हिरण्यगर्भरूप है। इसमें अमृतत्व, अभयत्व आपेक्षिक है, इसे प्राप्त कर लेने के बाद यहाँ से लौटते नहीं हैं' ऐसा श्रुति कहती है। स्मृति में भी कहा है कि 'अग्निरूप ज्योति अभिमानी देव, दिनाभिमानी देव, शुक्लपक्षाभिमानी देव और छः मास उत्तरायण के अभिमानी देव जिस मार्ग के अतिवाहक है, उस मार्ग से प्रस्थान करने वाले ब्रह्मवित पुरुष सगुण ब्रह्म को प्राप्त करते है।' वही श्रुति स्मृति प्रतिपादित तत्त्वप्राप्ति का मार्ग यहाँ पर नेत्रस्थ पुरुष उपासक के लिए कहा गया है। 'इस उपासक के देह त्याग करने पर यदि कोई इसके सम्बन्धी शव्यकृत्य करते हों अथवा नहीं करते हों दोनों ही दशा में वह अर्चिरभिमानीदेव को प्राप्त करते हैं' यहां से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर आदित्य को प्राप्त कर लेने के बाद चन्द्रमा को और तत्पश्चात् विद्युतलोक को प्राप्त करते हैं। विद्युतलोक में उन्हें ब्रह्मलोक ले जाने के लिए ब्रह्मलोक से अमानव पुरुष आता है और वह अमानव पुरुष कार्य ब्रह्मलोक में उन उपासकों को पहुँचाता है। यही देवयान है यह ब्रह्मयान है। इस मार्ग से गये हुए उपासक इस मनु के गर्भ में जन्म-मरणादि के लिए पुनः आते नहीं।' ब्रह्म उपासक विषयक प्रसिद्ध मार्ग से जाने की बात जो यहाँ पर कही गयी है इससे भी नेत्रस्थ पुरुष में ब्रह्मत्व सिद्ध होता है ॥१६॥

---

१. आश्रयम् । २. उपासकानां परागतिः । ३. गतिः । ४. पथा । ५. तत् तस्मात् । ६. इह प्रकरणे । ७. पथा ।

(४८) अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥१७॥

यत्पुनरुक्तम्—छायात्मा, विज्ञानात्मा, देवतात्मा, वा स्यादक्षिस्थान इति । अत्रोच्यते —न छायात्मादिरितर इह ग्रहणमर्हति । कस्मात्?अनवस्थितेः । न तावच्छायात्मनश्चक्षुषि नित्यमवस्थानं सम्भवति । यदैव हि कश्चित्पुरुषश्चक्षुरासीदति तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यते, अपगते तस्मिन्न दृश्यते । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' इति च श्रुतिः सन्निधानात्स्वचक्षुषि दृश्यमानं पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति । नचोपासनाकाले छायाकारं कञ्चित्पुरुषं चक्षुःसमीपे सन्निधाप्योपास्त इति युक्तं कल्पयितुम् । 'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति' (छा० ८-९-१) इति श्रुतिश्छायात्मनोऽप्यनवस्थितत्वं दर्शयति । असम्भवाच्च । तस्मिन्नमृतत्वादीनां गुणानां न छायात्मनि प्रतीतिः । तथा विज्ञानात्मनोऽपि साधारणे कृत्स्नशरीरेन्द्रियसम्बन्धे सति चक्षुष्येवावस्थितत्वं वक्तुं न शक्यम् । ब्रह्मणस्तु व्यापिनोऽपि दृष्ट उपलब्ध्यर्थो हृदयादिदेशविशेषसम्बन्धः । समानश्च विज्ञानात्मन्यप्यमृतत्वादीनां

चक्षुरासीदतीति । [१]उपगच्छतीत्यर्थः । **अनवस्थितस्योपास्यत्वं सदा न सिद्ध्यतीति भावः । किञ्चा[२]व्यवधानात्स्वाक्षिस्थ उपास्यः । नच तस्य स्वचक्षुषा दर्शनं सम्भवतीत्याह**—य एष इति । **अस्तु तर्हि परेण दृश्यमानस्योपास्तिरित्यत आह**—नचेति । **कल्पनागौरवादित्यर्थः । युक्तिसिद्धानवस्थितत्वे श्रुतिमाह**—अस्येति । **छायाकरस्य बिम्बस्य नाशमदर्शनमनुसृत्यैव छायात्मा नश्यतीत्यर्थः । जीवं निरस्यति**—तथेति । **जात्यन्धस्याप्यहमित्यविशेषेण जीवस्याभिव्यक्तेश्चक्षुरेव स्थानमित्ययुक्तमित्यर्थः ।** दृष्ट इति । **श्रुताविति शेषः । ननु 'चक्षोः सूर्यो अजायत' 'सूर्योऽस्तमेति' इति**

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः (ललिता)

और यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि नेत्रस्थ पुरुष प्रतिबिम्ब जीव अथवा इन्द्रियों का अनुग्राहक देवता हो सकता है, इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यहाँ पर यह तीनों ही पक्ष घटते नहीं हैं । सर्वप्रथम छायात्मा को ले लीजिए । जब कोई व्यक्ति सामने आकर बैठता है तो नेत्र में उस पुरुष की छाया पड़ती है और जब चला जाता है तो छाया नहीं दीखती, अतः नेत्र में प्रतिबिम्ब का सदा होना सम्भव नहीं है । **'य एषोऽक्षिणि पुरुषः'** यह श्रुति तो समीपता के कारण अपनी आँख में दृश्यमान पुरुष को उपास्य रूप से बतलाती है, पर उपासना के समय उपासक अपने नेत्र के पास नेत्र में छाया डालने के लिए किसी पुरुष को बैठाकर उपासना करता है ऐसी असङ्गत ही है । श्रुति ने तो 'इस शरीर के नाश के पीछे प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है' इस वाक्य द्वारा छायात्मा को अनवस्थित बतलाया है । साथ ही, उस प्रतिबिम्ब में अमृतत्वादि गुणों की प्रतीति भी नहीं होती । वैसी ही जीवात्मा भी साधारणतया सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियों से सम्बद्ध है फिर भला नेत्र में ही उसकी स्थिति कैसे कह सकते हैं । किन्तु सर्वव्यापक ब्रह्म को हृदयादि देश विशेष का सम्बन्ध उपलब्धि के कारण कहा जा सकता है । जीवात्मा में भी प्रतिबिम्ब की भाँति ही अमृतत्वादि गुणों

१. पुरतः स्थाप्य । २. चक्षुस्समीपे आयाति । ३. सन्निधानात् ।

गुणानामसम्बन्धः। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते। [1]संयद्वामत्वादयश्चै तस्मिन्ननै [2]श्वर्यादनुपपन्ना एव। देवतात्मनस्तु 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' (बृ० ५-५-२) इति श्रुतेर्यद्यपि चक्षुष्यवस्थानं स्यात्तथाप्यात्मत्वं तावन्न सम्भवति, [3]पराग्रूपत्वात्। अमृतत्वादयोऽपि न सम्भवन्ति, उत्पत्तिप्रलयश्रवणात्। अमरत्वमपि देवानां चिरकालावस्थानापेक्षम्। ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायत्तं न स्वाभाविकम्। '[4]भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' (तै० २-८) इति मन्त्रवर्णात्। तस्मात्परमेश्वर एवायमक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः। अस्मिंश्च पक्षे दृश्यत इति [5]प्रसिद्धवदुपादानं शास्त्रा[6]द्यपेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थमिति व्याख्येयम् ॥१७॥

वाक्यममरा देवा इति प्रसिद्धिबाधितमित्याशङ्क्याह—अमरत्वमपीति। भीषा भयेनास्मादीश्वराद्वायुश्चलति। अग्निश्चेन्द्रश्च स्वस्वकार्यं कुरुतः। उक्तापेक्षया पञ्चमो मृत्युः समाप्तायुषां निकटे धावतीत्यर्थः। ईश्वरपक्षे दृश्यत इत्ययुक्तं, तत्राह—अस्मिन्निति। दर्शनमनुभवः। तस्य शास्त्रे श्रुतस्य शास्त्रमेव करणं कल्प्यं, सन्निधानात्। तथाच शास्त्रकरणको विद्वदनुभव उपासनास्तुत्यर्थ उच्यत इत्यर्थः। तस्मादुपकोसलविद्यावाक्यमुपास्ये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥१७॥

का होना सम्भव ही है। यद्यपि जीव परमात्मा से अभिन्न ही है, फिर भी अविद्या, काम एवं कर्म के कारण उसमें मर्त्यत्व एवं भय आरोपित है। उस आरोप दशा में अमृतत्व और अभयत्व जीव मे नहीं घट सकेंगे। अनीश्वर होने के कारण जीव में संयद्वामत्वादि गुण भी युक्तिसंगत नहीं ही है। आदित्यादि देवता का रश्मियों के द्वारा नेत्र में प्रतिष्ठित होना श्रुति ने कहा है, तदनुसार चक्षु में देवता का अवस्थान मान भी लिया जाय तो भो वे प्रत्यग् रूप नहीं हैं फिर उन्हें आत्मा कैसे कहा जा सकता है। देवता की उत्पत्ति और प्रलय सुने गये हैं इसलिए उनमें अमृतत्वादि भी सम्भव नहीं है। देवता में अमरत्व जो कहा गया है वह चिरकालावस्थायी होने के कारण ही कहा गया है। निरपेक्ष अमरत्व देवता में भो नहीं है। देवताओं का ऐश्वर्य भी परमेश्वराधीन है स्वाभाविक नहीं है। इसलिए मन्त्र ने कहा कि 'ईश्वर के भय से वायु बहता है, सूर्य तपता है, उसी के भय से अग्नि, इन्द्र और पांचवाँ मृत्यु भी अपने अधिकारनुरूप कर्तव्य में सदा तत्पर रहते हैं। अतः यह नेत्रस्थ पुरुष परमात्मा ही समझना चाहिए। इस पक्ष में '**दृश्यते**' जो प्रसिद्ध की भाँति कह दिया गया है वह चक्षु के विषय के कारण नहीं हैं किन्तु शास्त्र के विषय और विद्वानों के विषय के कारण साधक को उस ओर लगाने के लिए कहा गया है। अर्थात् शास्त्र दृष्टि से परमेश्वर जाना जाता है और ज्ञानी ही उसे जान सकता है। इस अभिप्राय से साधकों को उस ओर आकृष्ट करने के लिए कहा है ॥१७॥

---

१. सर्वफलोदयहेतुत्वादयः। २. ईश्वरभिन्नत्वात्। ३. प्रत्यग्रूपत्वाभावात्। ४. तस्येश्वरायतत्वे भयास्तित्वे च मानमाह—भीषेति। ५. चाक्षुषत्वेन। ६. आदिपदं विद्वदनुभवार्थम्।

५. अन्तर्याम्यधिकरणम् (सू० १८-२०)

(४९) अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१८॥

प्रधानं जीव ईशो वा कोऽन्तर्यामी जगत्प्रति । कारणत्वात्प्रधानं स्याज्जीवो वा कर्मणो मुखात् ॥
जीवैकत्वामृतत्वादेरन्तर्यामी परेश्वरः । द्रष्टृत्वादेर्न प्रधानं न जीवोऽपि नियम्यतः ॥

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३-७-१,२) इत्यादि । अत्राधिदैवतमधिलोकमधिवेदमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयितान्तर्यामीति

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । **बृहदारण्यकवाक्यमुदाहरति—**य इति । **अन्तर्यामिब्राह्मणे प्रतीयमानार्थमाह—**अत्रेति । **'यः पृथिव्याम्' (बृ० ३-७-३) इत्यादिना देवताः पृथिव्याद्या अधिकृत्य यमयिता श्रूयते । तथा 'यः सर्वेषु लोकेषु' इत्यधिलोकं, 'यः सर्वेषु वेदेषु' इत्यधिवेदं, 'यः सर्वेषु यज्ञेषु' इत्यधियज्ञं, 'यः सर्वेषु भूतेषु' इत्यधिभूतं, 'यः प्राणे तिष्ठन्' (बृ० ३-७-१६) इत्यादि 'य आत्मनि' (बृ० ३-७-३०) इत्यन्तमध्यात्मं चेति विभागः । अशरीरस्य नियन्तृत्वसम्भवासम्भवाभ्यां**

---

५. अन्तर्याम्यधिकरण

१. पूर्वाधिकरण में "**यः पृथिव्यां तिष्ठन्**" (बृ० ३।७।२) इत्यादि अन्तर्यामिब्राह्मण का अन्तर्गत "**यः चक्षुषितिष्ठन्**" इत्यादि वाक्य को उदाहरण के रूप में रखकर "**स्थानादिव्यपदेशाच्च**" इस सूत्र में अन्तर्यामी को ब्रह्म कहा था। अब उस पर आक्षेप उठाकर समाधान देने के लिए इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है। अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. बृहदारण्यक अन्तर्यामिब्राह्मण में "**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः**" (बृ० ३।७।२) इत्यादि वाक्य है, इसी का विचार इस अधिकरण में किया गया है।

३. यहाँ पर अन्तर्यामी प्रधान है अथवा अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त किया हुआ कोई योगी पुरुष है ?

४. जगत् का कारण होने से प्रधान उसका नियामक हो सकता है अथवा कर्म की प्रधानता से जीवात्मा भी जगन्नियन्ता सम्भव है।

५. जीव के साथ एकत्व एवं अमृतत्वादि अन्तर्यामी के धर्म कहे गये हैं जो ईश्वर में ही सम्भव हैं। द्रष्टृत्वादि अचेतन प्रधान के गुण नहीं हो सकते और जीव भी नियम्य है, वह अपना नियामक नहीं हो सकता। अतः यहाँ पर परमात्मा ही अन्तर्यामिरूप से उपास्य कहा गया है।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् (ललिता)

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामिब्राह्मण में कहा है कि 'जो इस लोक परलोक और सभी भूतों के भीतर रहकर नियमन करता है' ऐसा प्रसंग प्रारम्भ कर सुना जाता है 'जो पृथ्वी में स्थित पृथ्वी के भीतर है जिसे पृथ्वी जानती नहीं, पृथ्वी जिसका शरीर है और जो पृथ्वी के भीतर रहकर पृथ्वी का नियमन करता है वह तेरी आत्मा है, वह अन्तर्यामी है और वह अमृत है।' इस प्रकार

श्रूयते । स किमधिदैवाद्यभिमानी देवतात्मा कश्चित्किंवा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी किंवा परमात्मा किंवाऽर्थान्तरं किञ्चिदित्य[1]पूर्वसंज्ञादर्शनात्संशयः । किं तावन्नः प्रतिभाति, [2]संज्ञाया अप्रसिद्धत्वात्संज्ञिनाऽप्यप्रसिद्धेनार्थान्तरेण केनचिद्भवितव्यमिति । अथवा ना[3]नि-रूपितरूपमर्थान्तरं शक्यमस्तीत्यभ्युपगन्तुम् । अन्तर्यामिशब्दश्चान्तर्यमनयोगेन प्रवृत्तो नात्यन्तमप्रसिद्धः । [4]तस्मात्पृथिव्याद्यभिमानी कश्चिद्देवोऽन्तर्यामी स्यात् । [5]तथाच श्रूयते—'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः' (बृ० ३-९-१०) इत्यादि । स च कार्यं-करणवत्त्वात्पृथिव्यादीनन्तस्तिष्ठन्यमयतीति युक्तं देवतात्मनो यमयितृत्वम् । योगिनो वा कस्यचित्सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं स्यात् । न तु परमात्मा प्रतीयेत, अकार्यकरण-त्वादित्येवं प्राप्त इदमुच्यते—योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते स परमात्मैव स्यान्नान्य इति ।

संशयः । पूर्वत्रेश्वरस्याक्षिस्थानत्वसिद्धये पृथिव्यादिस्थाननिर्देशो दृष्टान्त उक्तः, तस्य दृष्टान्तवाक्य-स्येश्वरपरत्वमत्राक्षिप्य समाधीयत इत्याक्षेपसङ्गतिः । अतः पूर्वफलेनास्य फलवत्त्वम् । अवान्तरफलं तु पूर्वपक्षे अनीश्वरोपास्तिः, सिद्धान्ते प्रत्यग्ब्रह्मज्ञानमिति मन्तव्यम् । स्वयमेवारुचिं वदन्पक्षान्तर-माह—अथवेति । अनिश्चितार्थे फलाभावेनाफलस्य वेदार्थत्वायोगादिति भावः । तथाच श्रूयते [6]त्रेदे । पृथिवी यस्य देवस्यायतनं शरीरं, लोक्यतेऽनेनेति लोकश्चक्षुः, ज्योतिः सर्वार्थप्रकाशकं मन इत्यर्थः । उपक्रमादिनाऽन्तर्याम्यैक्यनिश्चयादनेकदेवपक्षो न युक्त इत्यरुचेराह—योगिनो वेति । [7]आगन्तुकसिद्ध-स्यान्तर्यामित्वेऽ[8]प्रसिद्धसाधनकल्पना[9]गौरवान्नि[10]त्यसिद्ध एवान्तर्यामीति सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति ।

यहाँ अधिदेव, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अधिभूत और अध्यात्म में कोई इनके भीतर बैठा इनका नियन्ता अन्तर्यामी सुना जाता है। वह क्या अधिदेवाद्यभिमानी कोई देवता है अथवा अणिमादि ऐश्वर्य सम्पन्न कोई योगी है ? या परमात्मा है या कुछ अन्य ही पदार्थ है ? क्योंकि **'अन्तर्यामी'** यह संज्ञा अपूर्ण होने के कारण संशय होता है। यहाँ पर अप्रसिद्ध संज्ञा होने के कारण हमें कोई अप्रसिद्ध संज्ञी जान पड़ता है क्योंकि नाम अप्रसिद्ध है तो नामी भी अप्रसिद्ध होना चाहिए अथवा अनिश्चित रूपवाली कोई अर्थान्तर वस्तु ही माननी चाहिए। तथा अन्तर्यामी शब्द भीतर बैठे नियामक के लिए प्रयोग किया गया है, अतः अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं कह सकते। अतः पृथिव्यादि अभिमानी कोई देवता अन्तर्यामी पुरुष है। इसीलिए तो अन्यत्र (भी) सुना जाता है कि 'जिसका आयतन पृथ्वी ही है, अग्नि आलोक है और मन ज्योति है' इत्यादि। वह स्थूल सूक्ष्म शरीर से युक्त होने के कारण पृथिव्यादि के भीतर रहकर उनका नियमन करता है, अतः देवता को नियामक कहना युक्तियुक्त है। अथवा कोई सिद्ध योगी सबके भीतर प्रवेशकर सबका नियामक है, ऐसा मान लिया जाय। परमेश्वर तो अन्तर्यामी नियामक नहीं हो प्रतीति होता है क्योंकि उसके स्थूल-सूक्ष्म कारण शरीर नहीं होते हैं। ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती की ओर से सूत्र की रचना की गयी है। अधिदेवादि में जो अन्तर्यामी सुना जाता है, वह परमात्मा ही है, दूसरा नहीं, क्योंकि

---

१. प्रधानादि । २. अनिर्णीत । ३. अन्तर्यामीति सञ्ज्ञायाः । ४. अनिर्धारितस्वरूपम् । ५. अर्थान्तरग्रहस्या-युक्तत्वात् । ६. तत्र शाकल्यवाक्यं प्रमाणयति—तथा चेति । ७. कालविशेषावच्छिन्नैश्वर्यवतः । ८. अप्रसिद्धा-नामन्तर्यामिताप्रयोजकसाधनानाम् । ९. गौरवादिति—धर्मधर्मिद्वयकल्पनादिति भावः । १०. सिद्धान्ते तु धर्म-मात्रकल्पनाल्लाघवमित्याह—नित्यसिद्ध इति ।

कुतः ? तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य हि परमात्मनो धर्मा इह निर्दिश्यमाना दृश्यन्ते । पृथिव्यादि तावदधिदैवादिभेदभिन्नं समस्तं विकारजातमन्तस्तिष्ठन्यमयतीति परमात्मनो यमयितृत्वं धर्म उपपद्यते । सर्वविकारकारणत्वे सति सर्वशक्त्युपपत्तेः । 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति चात्मत्वामृतत्वे मुख्ये परमात्मन उपपद्येते । 'यं पृथिवी न वेद' इति च पृथिवीदेवताया अविज्ञेयमन्तर्यामिणं ब्रुवन्देवतात्मनोऽन्यमन्तर्यामिणं दर्शयति । 'पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मानं विजानीयात् ।' तथा 'अदृष्टोऽश्रुतः' इत्यादिव्यपदेशो रूपादिविहीनत्वात्परमात्मन उपपद्यत इति । यत्त्वकार्यकरणस्य परमात्मनो यमयितृत्वं नोपपद्यत इति । नैष दोषः । यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणत्वोपपत्तेः । तस्याप्यन्यो नियन्तेत्यनवस्थादोषश्च न सम्भवति, भेदाभावात् । भेदे हि सत्यनवस्था-

---

देवतानिरासे हेत्वन्तरमाह—यं पृथिवीति । ईश्वरो न नियन्ता, अशरीरत्वात्, घटवदित्युक्तं निरस्यति —नैष दोष इति । नियम्यातिरिक्तशरीरशून्यत्वं वा हेतुः, शरीरासम्बन्धित्वं वा । आद्ये स्वदेहनियन्तरि जीवे [1]व्यभिचारः । द्वितीयस्त्व[2]सिद्धः, ईश्वरस्य स्वाविद्योपार्जितसर्वसम्बन्धित्वादित्याह—यान्नियच्छतीति । सशरीरो नियन्तेति लोकदृष्टिमनुसृत्यैतदुक्तम् । वस्तुतस्तु चेतनसान्निध्याज्जडस्य व्यापारो नियमनं, [3]तच्छक्तिमत्त्वं नियन्तृत्वम् । तच्चाचिन्त्यमायाशक्तेश्चिदात्मनः शरीरं विनैवोपपन्नम् । [[4]कार्यकरणसङ्घातात्मको वेदो ग्राह्यः, तेन लिङ्गदेहस्य [5]व्यावृत्तिः ।] ननु देहनियन्तुर्जीवस्यान्यो नियन्ता चेत्तस्याप्यन्य इत्यनवस्थेत्यत आह—तस्यापीति । [6]निरङ्कुश सर्वनियन्तृत्व-

---

परमात्मा के धर्म जो शास्त्र में निर्देश किये गये हैं उन्हीं धर्मों का उपदेश यहाँ भी सुना जाता है । पृथिव्यादि से लेकर अधिदैवादि सम्पूर्ण जगत् के भीतर रहकर सबका नियमन करना परमेश्वर में ही नियामकत्व (यमयितृत्व) धर्म घटते हैं । वह सभी कार्यों का कारण होने से सर्वशक्तियुक्त है । 'यह तेरी आत्मा है, यह अन्तर्यामी है और यह अमृत है' इस श्रुति में जो आत्मत्व और अमृतत्व कहे गये हैं वे मुख्य रूप से परमात्मा में ही घटते हैं । 'जिसे पृथ्वी नहीं जानती' इस वाक्य के द्वारा पृथ्वी देवता के लिए अन्तर्यामी को अविशेष कहा गया है । वही देवता के भीतर रहकर देवता का भी नियमन करता है । पृथ्वी देवता भी 'मैं पृथ्वी हूँ' ऐसा आत्मा को जान सकेगा अपने नियामक को नहीं जान सकता । इसीलिए तो उसे अदृष्ट और अश्रुत कहा है । अदृष्ट और अश्रुत इत्यादि व्यपदेश भी रूपादिहीन होने के कारण परमात्मा में ही घटते हैं ।

और जो आपने कहा था कि परमात्मा स्थूल-सूक्ष्म शरीर रहित है, ऐसी स्थिति में वह नियामक कैसे हो सकेगा ? तो यह कोई दोष नहीं है । ईश्वर जिनका नियमन करता है उन्हीं के शरीर और इन्द्रियों को लेकर ही वह शरीर और इन्द्रिय वाला बन जाता है । यदि शरीरधारी का नियामक किसी अन्य शरीरधारी को माना जाय तो जीव शरीरधारी का नियामक सशरीर ईश्वर होगा और उसका भी नियामक कोई दूसरा होने लग जायेगा, ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष आने लगेगा ।

---

१. साधारणानैकान्तिक इत्यर्थः । २. साध्यवदन्यवृत्तित्वादिति भावः । ३. नियमानुकूलशक्तिमत्त्वम् । ४. नियम्यातिरिक्तत्वेन लिङ्गदेहमादायोक्तव्यभिचारमुद्दिधीर्षुं विवरायिषन्नाह—कार्यकरणेत्यादि । ५. व्यावृत्तिरिति —नियम्यातिरिक्तत्वेनासत्त्वमिति यावत् । ६. नियन्त्रन्तरशून्यम् ।

(५०) न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥१९॥

दोषोपपत्तिः । तस्मात्परमात्मैवान्तर्यामी ॥१८॥

[1]स्यादेतत्—अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याप्युपपद्यन्ते, रूपादिहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात् । 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' (मनु० १-५) इति हि स्मरन्ति । तस्यापि नियन्तृत्वं सर्वविकारकारणत्वादुपपद्यते । तस्मात्प्रधानमन्तर्यामिशब्दं स्यात् । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्'(ब्र०सू० १-१-५) इत्यत्र निराकृतमपि सत्प्रधानमिहादृष्टत्वादिव्यपदेशसम्भवेन पुनराशङ्क्यते । अत उत्तरमुच्यते—नच स्मार्तं प्रधानमन्तर्यामिशब्दं भवितुमर्हति । कस्मात् ? अतद्धर्माभिलापात् । यद्यप्यदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्य सम्भवति तथापि न द्रष्टृत्वादिव्यपदेशः सम्भवति, प्रधानस्याचेतनत्वेन तैरभ्युपगमात् ।

मीश्वरस्य श्रुतं, तस्य नियन्त्रन्तरानुमाने [2]श्रुतिबाध इति नानवस्थेत्यर्थः । यद्वा [3]ईश्वराद्भेदकल्पनया जीवस्य नियन्तृत्वोक्तेः सत्यभेदाभावान्नानवस्थेत्यर्थः ॥१८॥

प्रधानं महदादिक्रमेण कथं प्रवर्तत इति तर्कस्याविषय इत्याह—अप्रतर्क्यमिति । रूपादिहीनत्वादविज्ञेयं, सर्वतो विक्षु प्रसुप्तमिव तिष्ठति, जडत्वादित्यर्थः । अतत् अप्रधानं चेतनं, तस्य धर्माणामभिधानादिति हेत्वर्थः ॥१९॥

जब हम नियम्य जीव के शरीर को लेकर ही ईश्वर को नियामक मानते हैं तो अनवस्था दोष भी सम्भव नहीं होता क्योंकि वहाँ पर शरीर का भेद नहीं है। भेद रहने पर ही अनवस्था दोष आ सकता था। अतः परमात्मा ही अन्तर्यामी तत्त्व है ॥१८॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् (ललिता)

अद्रष्टृत्वादि धर्म सांख्यशास्त्र कल्पित प्रधान में भी घटते हैं क्योंकि सांख्यों ने प्रधान को रूपादिहीन होने के कारण ऐसा ही कहा है। 'महदादि क्रम से प्रधान कैसे प्रवृत्त होता है ? इस तर्क का अविषय प्रधान है इसीलिए उसे **अप्रतर्क्य** कहते हैं। रूपादिहीन होने के कारण उसे **अविज्ञेय** कहा गया है। जड़ होने के कारण सभी दिशाओं में प्रसुप्त की भाँति स्थित है इसीलिए **'प्रसुप्तमिव सर्वतः'** कहा गया है।' वह भी सब कारणों का कारण होने से नियन्ता हो सकता है। अतः प्रधान अन्तर्यामिशब्दवाच्य मानना चाहिए। यद्यपि **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** इस सूत्र से प्रधान का निराकरण हो चुका है फिर भी यहाँ पर अद्रष्टृत्वादि धर्म सम्भव होने के कारण पुनः शङ्का उठती है, अतः उसका उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया गया है।

प्रधान अन्तर्यामिपदवाच्य नहीं हो सकता क्योंकि प्रधान से भिन्न चेतन के धर्मों का कथन उस प्रसङ्ग में देखा जाता है। यद्यपि अद्रष्टृत्वादि व्यपदेश प्रधान में भी सम्भव है फिर भी द्रष्टृत्वादि व्यपदेश अचेतन प्रधान में सम्भव नहीं है। सांख्यों ने प्रधान को अचेतन माना ही है, श्रुति ने अन्तर्यामी के लिए वाक्यशेष में यहाँ पर कहा है कि 'जो देखा नहीं जाता किन्तु सबको देखनेवाला

---

१. सूत्रव्यावर्त्यां शंकामाह—स्यादेतदित्यादिना। २. श्रुतिबाधितमनुमानं नोत्तिष्ठतीति भावः। ३. ईश्वरादित्यादि—वस्तुतो देहस्यापि नियन्तेश्वर एवेति नियन्तुरनियम्यत्वादेव नानवस्थेति भावः।

(५१) शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' (बृ० ३-७-२३) इति हि वाक्यशेष इह भवति। आत्मत्वमपि न प्रधानस्योपपद्यते ॥१९॥

यदि प्रधानमात्मत्वद्रष्टृत्वाद्यसम्भवान्नान्तर्याम्यभ्युपगम्यते, शारीरस्तर्ह्यन्तर्यामी भवतु। शारीरो हि चेतनत्वाद्द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता च भवति,आत्मा च प्रत्यक्त्वात्। अमृतश्च, धर्माधर्मफलोपभोगोपपत्तेः। अदृष्टत्वादयश्च धर्माः शारीरे प्रसिद्धाः, दर्शनादिक्रियायाः कर्तरि प्रवृत्तिविरोधात्। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' (बृ० ३-४-२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। तस्य च कार्यकरणसंघातमन्तर्यमयितुं शीलं, भोक्तृत्वात्। तस्माच्छारीरोऽन्तर्यामीत्यत उत्तरं पठति—

नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते। शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते। कस्मात्? यद्यपि द्रष्टृत्वादयो धर्मास्तस्य सम्भवन्ति तथापि घटाकाशवदुपाधिपरिच्छिन्नत्वान्न कार्त्स्न्येन पृथिव्यादिष्वन्तरवस्थातुं नियन्तुं च शक्नोति। अपि चोभयेऽपि हि शाखिनः काण्वा माध्यन्दिना-

---

'उत्तरसूत्रनिरस्याशङ्कामाह—यदि प्रधानमित्यादिना। अमृतश्चेति। विनाशिनो देहान्तरभोगानुपपत्तेरित्यर्थः। यथा देवदत्तकर्तृकगमनक्रियाया ग्रामः कर्म न देवदत्तः, तथाऽऽत्मकर्तृकदर्शनादिक्रियाया अनात्मा विषयः न त्वात्मा, क्रियायाः कर्तृविषयत्वायोगादित्याह—कर्तरीति। 'क्रियायां गुणः कर्ता, प्रधानं कर्म, तत्रैकस्यां क्रियायामेकस्य गुणत्वप्रधानत्वयोर्विरोधान्न कर्तुः कर्मत्वमित्यर्थः। 'दृष्टेर्द्रष्टारमात्मानं तया दृश्यया दृष्ट्या 'न विषयीकुर्या इत्यादिश्रुतेश्चादृष्टत्वादिधर्माः शारीरस्येत्याह—नेति।

अपिशब्दसूचितं हेतुमुक्त्वा कण्ठोक्तं हेतुमाह—अपि चोभयेऽपीति। भेदेनेति

है, जो सुना नहीं जाता किन्तु सबका सुननेवाला है जो मनन नहीं किया जाता किन्तु सबका मन्ता है और जो जाना नहीं जाता किन्तु सबका जाननेवाला है।' आत्मत्व भी प्रधान में नहीं घटता है क्योंकि वह अनात्मा है ॥१९॥

यदि आत्मत्व, द्रष्टृत्वादि धर्म सम्भव न होने के कारण प्रधान अन्तर्यामी नहीं माना जा सकता तो जीवात्मा को ही अन्तर्यामी मान लो क्योंकि चेतन होने के कारण जीव द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता हो ही सकता है। प्रत्यग्रूप होने के कारण वह आत्मा भी है, कालान्तर एवं देहान्तर में धर्माधर्म के फल (का)भोक्ता होने के कारण वह अमर भी है। अद्रष्टृत्वादि धर्म जीवात्मा में सुप्रसिद्ध ही है क्योंकि वह दर्शन आदि क्रिया का कर्ता है, उस दर्शनादि क्रिया के कर्ता में उस क्रिया की प्रवृत्ति का होना उचित नहीं है। इसीलिए तो श्रुति ने कहा है 'दृष्टि में द्रष्टा को नहीं देख सकोगे' इत्यादि। वह जीवात्मा भोक्ता होने के कारण कार्यकरण संघात के भीतर नियामक हो सकता है। अतः शरीरधारी जीव ही अन्तर्यामी है। इस शङ्का का समाधान अग्रिम सूत्र से दिया गया है।

---

१. उत्तरसूत्रेण निरस्या याऽऽशङ्का तामाहेत्यर्थः। २. क्रियायां गुणः कर्तेति—देवदत्तो ग्रामं गच्छतीत्यादौ देवदत्तनिष्ठगमननिरूपितकर्मत्वाश्रयो ग्राम इत्यादिशब्दबोधाभ्युपगमादिति भावः। ३. दृष्टेर्लौकिक्या बुद्धिपरिणतेरित्यर्थः। ४. न शक्नोषि द्रष्टुमित्यर्थः।

आन्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते—'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (बृ० ३-७-२२) इति काण्वाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति माध्यन्दिनाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यस्मिंस्तावत्पाठे भवत्यात्मशब्दः शारीरस्य वाचकः। 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यस्मिन्नपि पाठे विज्ञानशब्देन शारीर उच्यते। विज्ञानमयो हि शारीरः। तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम्। कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्येते, यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी यश्चायमितरः शारीरः। का पुनरिहानुपपत्तिः। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुध्येत। अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं, श्रोतारं, मन्तारं, विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति। नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्। न, नियन्त्रन्तराप्रसङ्गादविशेषश्रवणाच्च। अत्रोच्यते—अविद्याप्रत्युपस्था-

---

सूत्रात्तात्त्विकभेदभ्रान्ति निरसितुं शङ्कते—कथमिति। नन्वत्रैको भोक्ता जीवः, ईश्वरस्त्वभोक्तेति न विरोध इति शङ्कते—का पुनरिति। तयोर्भेदः श्रुतिविरुद्ध इति पूर्ववाद्याह—नान्य इति। स एव श्रुत्यर्थमाह—अत्रेति। श्रुतेरर्थान्तरमाशङ्क्य निषेधति—नियन्त्रन्तरेत्यादिना। न केवलमप्रसक्तप्रतिषेधः, किन्त्वविशेषेण द्रष्टृन्तरनिषेधश्रुतेरन्तर्याम्यन्तरनिषेधार्थत्वे बाधश्चेत्याह—अविशेषेति। तस्मात्सूत्रे, 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति श्रुतौ च द्रष्टृभेदोक्तिरयुक्ता, 'नान्यः' इति वाक्यशेषे भेदनिरासादिति प्राप्ते, भेद उपाधिकल्पितः श्रुतिसूत्राभ्यामनूद्यत इति समाधत्ते—अत्रोच्यत इति। भेदः

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते (ललिता)

पूर्व सूत्र से नकार की अनुवृत्ति आती है। शरीरधारी जीवात्मा अन्तर्यामी इष्ट नहीं है। यद्यपि द्रष्टृत्वादि धर्म जीव में सम्भव भी हैं फिर भी घटाकाश की भाँति देहादि उपाधि से परिच्छिन्न होने के कारण वह परिच्छिन्न जीव सम्पूर्ण पृथिव्यादि के भीतर रहकर उनका नियामक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त काण्व एवं माध्यन्दिन दोनों ही शाखावालों ने अन्तर्यामी से भिन्न इस जीव को पृथिव्यादि की भाँति आश्रय और नियम्य कहा है 'जो विज्ञान में स्थित है' ऐसा काण्व शाखा का वचन है 'जो आत्मा में स्थित है' ऐसा माध्यन्दिनो शाखा का वचन है इनमें से **'य आत्मनि तिष्ठन्'** इस पाठ में तो जीव का वाचक आत्मशब्द काण्वोक्त है। **'यो विज्ञाने तिष्ठन्'** इस पाठ में भी विज्ञान शब्द से जीव ही कहा गया है क्योंकि जीवात्मा विज्ञानमय है। अतः जीव से भिन्न ईश्वर अन्तर्यामी है, यह सिद्ध हुआ।

एक शरीर में दो द्रष्टा कैसे रह सकते हैं? एक जो यह ईश्वर और दूसरा अन्तर्यामी जीव। इस पर अनुपपत्ति की आकांक्षा होने पर वादी ने कहा है कि 'इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं' इत्यादि श्रुति वचन (एकदेशी) एक देह में दो द्रष्टा मानने पर विरुद्ध होने लग जायेगा। शङ्कावादी इस पर कहता है कि इस वाक्य द्वारा तो प्रसङ्गागत अन्तर्यामी से भिन्न द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आत्मा का निषेध किया है, अर्थात् अन्य नियामक के प्रतिषेध के लिए यह वचन है। ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अन्य नियामक का तो वहाँ पर प्रसङ्ग ही नहीं है। साथ ही, अविशेष का श्रवण भी होता है। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि अविद्या प्रत्युपस्थापित कार्य एवं करण उपाधि

---

१. पूर्ववाद्येव। २. अस्मिन् ग्रामे मैत्र एवाद्वितीय इतिवत्तत्तुल्यद्रष्टान्तरनिवारकमेव तद्वचनमित्यर्थः।

६. अदृश्यत्वाधिकरणम् (सू० २१-२३)

भूतयोनिः प्रधानं वा जीवो वा यदि वेश्वरः। आद्यौ पक्षावुपादाननिमित्तत्वाभिधानतः ॥
ईश्वरो भूतयोनिः स्यात्सर्वज्ञत्वादिकीर्तनात्। दिव्याद्युक्तेर्न जीवः स्यान्न प्रधानं भिदोक्तितः ॥

पितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ सम्भवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते। तथाच श्रुतिः—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वं व्यवहारं वारयति ॥२०॥

सत्यः किं न स्यादत आह—एको हीति। **गौरवेण द्वयोरहंधीगोचरत्वासम्भवादेक एव तद्गोचरः। तदगोचरस्य घटवदनात्मत्वान्नात्मभेदः सत्य इत्यर्थः।** ततश्चेति। **कल्पितभेदाङ्गीकाराद्भेदापेक्षं सर्वं युज्यत इत्यर्थः। तस्मादन्तर्यामिब्राह्मणं ज्ञेये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥२०॥**

निमित्त को लेकर जीवात्मा और अन्तर्यामी में भेद कहा गया है परमार्थतः भेद नहीं है। अन्तरात्मा एक ही हो सकता है, दो नहीं हो सकते। एक में भेद औपाधिक होता है, पारमार्थिक नहीं। जैसे महाकाश में घट उपाधि लेकर महाकाश से घटाकाश का भेद कह दिया जाता है। वश, इसी अविद्या उपाधि को लेकर ज्ञाता, ज्ञेय आदि भेद श्रुतियाँ, प्रत्यक्षादि प्रमाण, संसारानुभव और विधि-निषेध शास्त्र—ये सबके सब सुसङ्गत हो जाते हैं। ऐसे ही श्रुति भी कहती है 'जहाँ द्वैत जैसा है वहाँ दूसरा-दूसरे को देखता है' यह श्रुति वाक्य अविद्या विषय में ही सब व्यवहार बतलाती है। 'किन्तु जहाँ ब्रह्मज्ञानी को सब कुछ आत्मा ही हो गया वहाँ किससे किसको देखे' यह श्रुति विद्या दशा में सभी व्यवहार का निषेध करती है। अतः अन्तर्यामी ब्राह्मण ज्ञेय ब्रह्म में समन्वित होता है ॥२०॥

६ अदृश्यत्वाधिकरण

१. पूर्वाधिकरण में जिस प्रकार प्रधान विरोधी द्रष्टृत्वादि धर्म होने से प्रधान में अन्तर्यामित्व सिद्ध न हो सका वैसा यहाँ पर मुण्डक श्रुति में प्रधान विरोधी धर्म नहीं सुना जाता, अतः अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतों की योनि प्रधान ही है, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है।

२. **"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोतं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"** (मु० १-१-६) इत्यादि मुण्डक श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. भूतयोनि प्रधान है, जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होगा।

४. उपादान होने से प्रधान भूतयोनि हो सकता है और निमित्त कारण होने से जीवात्मा भी

१. प्राप्तिप्राप्तव्यादिसंग्रहार्थमादिपदम्। २. आविद्यकभेदाद्व्यवहारमात्रसिद्धावन्वयव्यतिरेकश्रुतिं प्रमाणयति —तथाचेति।

(५२) अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् । तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु० १-१-५,६) इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमयमद्रेश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यादुत शारीर आहोस्वित्परमेश्वर इति । तत्र प्रधानमचेतनं भूतयोनिरिति युक्तम्, अचेतनानामेव तत्र दृष्टान्तत्वेनोपादानात् । 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' (मु० १-१-७) इति । ननूर्णनाभिः पुरुषश्च चेतनाविह दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ । नेति ब्रूमः ।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । **मुण्डकवाक्यमुदाहरति**—अथेति । **कर्मविद्यारूपापरविद्योक्त्यनन्तरं यया निर्गुणं ज्ञायते परा सोच्यते । तामेव विषयोक्त्या निर्दिशति**—यत्तदिति । **अद्रेश्यं अदृश्यं ज्ञानेन्द्रियैः, अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः, गोत्रं वंशः, वर्णो ब्राह्मणत्वादिजातिः, चक्षुःश्रोत्रशून्यमचक्षुःश्रोत्रं, पाणिपादशून्यमपाणिपादं, ज्ञानकर्मेन्द्रियविकलमित्यर्थः । विभुं प्रभुं, सुसूक्ष्मं दुर्ज्ञेयत्वात् । नित्याव्ययपदाभ्यां नाशापक्षययोर्निरासः । भूतानां योनिं प्रकृतिं यत्पश्यन्ति धीराः पण्डितास्तदक्षरं तद्विद्या परेत्यन्वयः । अदृश्यत्वादिगुणानां ब्रह्मप्रधानसाधारणत्वात्संशयः । पूर्ववद्द्रष्टृत्वादीनां चेतनधर्माणामत्राश्रुतेरस्तु प्रधानमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति**—तत्रेति । **पूर्वपक्षे प्रधानाद्युपास्तिः,**

भूतयोनि हो सकता है, अतः इन दोनों में से कोई भी अर्थ लिया जा सकता है ।

५. सर्वज्ञत्वादि धर्म के कथन से भूतयोनि का परमात्मा अर्थ लेना ही यहाँ पर उचित होगा । **'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः'** (मु० २-१-२) ऐसा दिव्यत्वादि के कथन से जीव नहीं और **'अक्षरात्परतः परः''** इस वाक्य में प्रधान से भिन्न, भूतयोनि को कहा है । अतः प्रधान भी भूतयोनि नहीं है किन्तु परमात्मा ही इस श्रुति में भूतयोनि रूप से कहा गया है ।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः (ललिता)

मुण्डकोपनिषद् में महर्षि अङ्गिरा ने शौनक को उपदेश करते हुए कर्मविद्या रूप अपरविद्या उपदेश के बाद कहा है 'जिसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म का बोध होता है वह पराविद्या है । वह निर्गुण ब्रह्मज्ञान इन्द्रियों से जाना नहीं जाता, कर्मेन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जाता, उसका गोत्र नहीं, उसमें ब्राह्मणत्वादि जाति नहीं, उसके चक्षु, श्रोत्र नहीं, उसके हाथ पैर नहीं, फिर भी वह समर्थ है, किन्तु दुर्विज्ञेय होने के कारण अतिसूक्ष्म है, न उसका कभी नाश होता और न उसका कभी अपक्षय होता, वह सम्पूर्ण कार्यजगत् का कारण है, उसे धीर पुरुष इस रूप में देखते हैं' ऐसा सुना जाता है । वहाँ पर संशय होता है कि क्या यह अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि प्रधान है, जीव है अथवा परमेश्वर है ? इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि अचेतन प्रधान को ही भूतयोनि मानना उचित होगा क्योंकि 'जैसे मकड़ी जाले को बनाती और मिटाती है, जैसे पृथ्वी से ओषधियाँ उत्पन्न होती है और जैसे जीवित पुरुष से केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही यहाँ अक्षर से विश्व उत्पन्न होता है' इस श्रुति में दृष्टान्त रूप से अचेतन को ही ग्रहण किया है ? मध्यस्थ—आपका यह कहना ठीक नहीं क्योंकि ऊर्णनाभि और पुरुष ये दोनों ही चेतन यहाँ पर दृष्टान्त रूप से ग्रहण

न हि केवलस्य चेतनस्य तत्र सूत्रयोनित्वं केशलोमयोनित्वं चास्ति। चेतनाधिष्ठितं ह्यचेतनमूर्णनाभिशरीरं सूत्रस्य योनिः, पुरुषशरीरं च केशलोम्नामिति प्रसिद्धम्। अपिच पूर्वत्राद्रष्टृत्वाद्य[1]भिलापसम्भवेऽपि द्रष्टृत्वाद्य[2]भिलापासम्भवान्न प्रधानमभ्युपगतम्। इह त्वदृश्यत्वादयो धर्माः प्रधाने सम्भवन्ति। नचात्र विरुध्यमानो धर्मः कश्चिद[3]भिलप्यते। ननु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १-१-९) इत्ययं वाक्यशेषोऽचेतने प्रधाने न सम्भवति, कथं प्रधानं भूतयोनिः प्रतिज्ञायत इति। अत्रोच्यते—'यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तद-द्रेश्यम्' इत्यक्षरशब्देनादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोनिं श्रावयित्वा पुनरन्ते श्रावयिष्यति—'अक्षरात्परतः परः' (मु० २-१-२) इति। तत्र यः परोऽक्षराच्छ्रुतः स सर्वज्ञः सर्ववित्सम्भविष्यति। प्रधानमेव त्वक्षरशब्दनिर्दिष्टं भूतयोनिः। [4]यदा तु योनिशब्दो निमित्तवाची तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्। धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्यो[5]पार्जनादिति। एवं प्राप्तेऽभिधीयते—योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स परमेश्वर एव स्यान्नान्य इति। कथमेतदवगम्यते ? धर्मोक्तेः। परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते—'यः

सिद्धान्ते निर्गुणधीरिति फलम्। ऊर्णनाभिर्लूताकीटः तन्तूंस्स्वदेहात्सृजति, उपसंहरति चेत्यर्थः। सतो जीवतः। ननु पूर्वं निरस्तं प्रधानं कथमुत्थाप्यते, तत्राह—अपिचेति। अत्र प्रधाने, विरुध्यमानोऽसम्भावितो वाक्यशेषः श्रुत इति शङ्कते—ननु य इति। पञ्चम्यन्ताक्षरश्रुत्या भूतप्रकृतेः प्रत्यभिज्ञानात्प्रथमान्तपरशब्दोक्तस्य जगन्निमित्तेश्वरस्य सर्वज्ञत्वादिकमित्याह—अत्रोच्यत इति। 'सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्' इति न्यायेन सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति। चेतनाचेतनत्वेन सन्दिग्ध

किये गये हैं। पूर्वपक्ष—आपका यह कहना हम ठीक नहीं मानते हैं क्योंकि इन दोनों स्थलों में केवल चेतन जाले का और केश लोम का कारण नहीं है किन्तु चेतन से अधिष्ठित मकड़ी का शरीर अचेतन जाले का कारण है और चेतन से अधिष्ठित पुरुष का शरीर केश एवं लोम का कारण प्रसिद्ध है। एक बात और भी याद रखें कि पिछले अधिकरण में अद्रष्टृत्वादि कथन प्रधान में सम्भव होने पर भी द्रष्टृत्वादि का होना असम्भव था, इसीलिए प्रधान को आपने अस्वीकार कर दिया था। किन्तु यहाँ पर अदृश्यत्वादि धर्म प्रधान में घटते ही हैं और उसके विरुद्ध कोई धर्म यहाँ पर कहा भी नहीं है। मध्यस्थ—नहीं नहीं, "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" यह वाक्यशेष जब अचेतन प्रधान में घटता नहीं तो भला प्रधान को भूतयोनि होने का आग्रह कैसे करते हो ? पूर्वपक्षी—इस पर हमें यह कहना है कि 'जिससे अक्षर का अधिगम होता है वह अक्षर अदृश्य है' इस श्रुति में अक्षर शब्द से अदृश्यत्वादि गुणवाले भूतयोनि को कहने के बाद पुनः "अक्षरात्परतः परः" श्रुति कहेगी। वहाँ पर अक्षर से पर जो सुना गया वह सर्वज्ञ और सर्ववित् होगा किन्तु अक्षर शब्द से कहा गया भूतयोनि तो प्रधान ही है। यदि योनि शब्द निमित्त अर्थ का वाचक हो तो जीवात्मा भी भूतयोनि हो सकता है क्योंकि धर्माधर्म के द्वारा भूतसमुदाय का उपार्जन वह भी करता है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहता है कि जो यह अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि कहा गया है वह

---

१. अभिधानासम्भवे । २. अभिधानासम्भवात्। ३. अभिधीयते। ४. प्रधानं भूतयोनिमुक्त्वा शारीरमाह—यदा त्विति। ५. उपजननात्।

सर्वज्ञः सर्ववित्' इति। न हि प्रधानस्याचेतनस्य शारीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टेः सर्वज्ञत्वं सर्वविस्त्वं वा सम्भवति। नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद्भूतयोनेः [1]परस्यैवैतत्सर्वज्ञत्वं सर्वविस्त्वं च न भूतयोनिविषयमित्युक्तम्। अत्रोच्यते—नैवं सम्भवति। यत्कारणं 'अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' इति प्रकृतं भूतयोनिमिह जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्यानन्तरमपि [4]जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञं निर्दिशति—'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' (मु० १-१-६) इति। तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्वविस्त्वं च धर्म उच्यत इति गम्यते। 'अक्षरात्परतः परः' इत्यत्रापि न प्रकृताद्भूतयोनेरक्षरात्परः कश्चिदभिधीयते। कथमेतदवगम्यते। 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म-

---

भूतयोनौ 'यः सर्वज्ञः' इति वाक्यशेषादीश्वरत्वनिर्णय इत्ययुक्तं, वाक्यशेषे भूतयोनेः [5]प्रत्यभिज्ञापकाभावादिति शङ्कते—नन्विति। 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० १-४-३०) इति सूत्रेण प्रकृतेरपादानसंज्ञायां पञ्चमीस्मरणादक्षरात्सम्भवतीति प्रकृतित्वेनोक्ताक्षरस्य भूतयोनेर्वाक्यशेषे 'तस्मादिति प्रकृतित्वलिङ्गेन प्रत्यभिज्ञानमस्तीति समाधत्ते—अत्रोच्यत इति। एतत्कार्यं, ब्रह्म सूक्ष्मात्मकं, नामरूपं स्थूलं, ततोऽन्नं व्रीह्यादीत्यर्थः। यदुक्तं पञ्चम्यन्ताक्षरश्रुत्या भूतयोनेः प्रत्यभिज्ञानादचेतनत्वमिति, तत्राह—अक्षरात्परत इति। [7]नायमक्षरशब्दो भूतयोनिं परामृशति, परविद्याधिगम्यत्वेनो[8]क्तस्याक्षरस्य भूतयोनेः 'अक्षरं पुरुषं वेद' इत्यक्षरश्रुत्या वेद्यत्वलिङ्गवत्या पूर्वमेव ब्रह्मत्वेन परामर्शादित्याह—येनेति। येन ज्ञानेनाक्षरं[9] भूतयोनिं सर्वज्ञं पुरुषं वेद तां ब्रह्मविद्यां [10]योग्याय शिष्याय प्रब्रूयादित्युप-

---

परमेश्वर ही है, दूसरा नहीं है। सन्दिग्ध अर्थ का निर्णय वाक्यशेष से होता है। पूर्वपक्ष—यह आपको कैसे ज्ञात हुआ? सिद्धान्ती—क्योंकि "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इस वाक्य से सर्वज्ञत्वादि धर्म परमेश्वर के ही दिखायी पड़ते हैं, अचेतन प्रधान और उपाधि परिच्छिन्न जीव में सर्वज्ञत्व एवं सर्वविस्त्व का होना सम्भव नहीं है। पूर्वपक्ष—अक्षर शब्द निर्दिष्ट भूतयोनि तो प्रधान ही है और उससे परतत्त्व में सर्वज्ञत्व एवं सर्वविस्त्व कहा गया है जो भूतयोनि को विषय नहीं करता, ऐसा हम कह आये है। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि यह कारण कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'अक्षर से ही विश्व उत्पन्न हुआ है' इस श्रुति में प्रकृत भूतयोनि को ही यहाँ पर उत्पद्यमान पदार्थ के कारण रूप से ही सर्वज्ञतत्त्व को श्रुति कहती है। यथा 'जो जगत्कारण सर्वज्ञ एवं सर्ववित् है, जिसका ज्ञानमय तप है उसी से हिरण्यगर्भरूप कार्य ब्रह्म, स्थूल नामरूप एवं ब्रीहियवादि अन्न उत्पन्न होते हैं।' अतः उपदेश एक जैसा होने के कारण वाक्यशेष में उसी भूतयोनि की प्रत्यभिज्ञा होती है। अत एव प्रकृति अक्षर भूतयोनि में ही सर्वज्ञत्व एवं सर्वविस्त्व धर्म कहा गया है। "अक्षरात्परतः परः" इस वाक्य में भी प्रकृत भूतयोनि अक्षर से भिन्न किसी वस्तु का वर्णन नहीं है। पूर्वपक्षी—यह कैसे आपको ज्ञात हुआ? सिद्धान्ती—'जिस ज्ञान से अक्षर भूतयोनि सर्वज्ञ सत्य पुरुष को जानता है, उस ब्रह्मज्ञान

---

१. सकाशात्। २. प्रथमान्तपरशब्दप्रतिपाद्यस्यैव। ३. सर्वज्ञत्वादिकम्। ४. कार्योपादानत्वेनेत्यर्थः। ५. प्रत्यभिज्ञापकपदाभावात्। ६. तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते। ७. पञ्चम्यन्ताक्षरशब्दः। ८. प्रकृतस्य। ९. प्रकृतम्। १०. उपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्वितायेत्यर्थः।

विद्याम्' (मु० १-२-१३) इति प्रकृत्य तस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात्। कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति व्यपदिश्यत इति। उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः। अपि चात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते—'परा चैवापरा च' इति। तत्रापरामृग्वेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि। तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरं श्रुतम्। यदि पुनः परमेश्वरादन्यददृश्यत्वादिगुणकमक्षरं परिकल्प्येत, नेयं परा विद्या स्यात्। परापरविभागो ह्ययं विद्ययोरभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते। नच प्रधानविद्या निःश्रेयसफला केनचिदभ्युपगम्यते। तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्, त्वत्पक्षेऽक्षराद्भूतयोनेः परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात्। द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १-१-३) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्पते, नाचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि।

कस्य 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' (मु० २-१-२) इत्युच्यमानः परो भूतयोनिरिति गम्यत इत्यर्थः। तर्हि पञ्चम्यन्ताक्षरशब्दार्थः क इत्याशङ्क्याज्ञानमिति वक्ष्यत इत्याह—कथमिति। **परविद्येति समाख्ययाऽपि** [१]**तद्विषयस्य ब्रह्मत्वमित्याह—**अपिचेति। **ननु प्रधानविद्याऽपि कारणविषयत्वात्परेत्यत आह—**परापरविभागो होति। **अनित्यफलत्वेनापरविद्यां** [२]**'निन्दित्वा मुक्त्यर्थिने ब्रह्मविद्यां प्रोवाचेति वाक्यशेषोक्तेरित्यर्थः। अस्तु प्रधानविद्याऽपि मुक्तिफलत्वेन परेत्यत आह—**नचेति। **ननु 'यः सर्वज्ञः' इत्यग्रे परविद्याविषय उच्यते, अद्रेश्यवाक्येन तु प्रधानविद्योच्यत इत्यत आह—**तिस्रश्चेति। **इतश्च भूतयोनेर्ब्रह्मत्वमित्याह—**कस्मिन्निति। **अचेतनमात्रस्यैकायतनमुपादानं** [४]**'तज्ज्ञानात्कार्यज्ञानेऽपि तदकार्याणामात्मनां ज्ञानं न भवति। एवं जीवे ज्ञाते तदकार्यस्य भोग्यस्य**

का उपदेश योग्य शिष्य को करे' इस वाक्य में प्रकृत अक्षर भूतयोनि अदृश्यत्वादि गुणवाले को ही वक्तव्य रूप से प्रतिज्ञा की गयी है। पूर्वपक्षी—तो भला **"अक्षरात्परतः परः"** ऐसा उपदेश ही क्यों किया गया है? सिद्धान्ती—इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से हम देंगे। एक बात और भी याद रखें कि वेदितव्य दो विद्या कही गयी एक परा और दूसरी अपरा। इनमें से ऋग्वेदादिरूप अपराविद्या को बतलाने के बाद कहते हैं कि अब पराविद्या बतलायेंगे 'जिसके द्वारा अक्षरतत्त्व का अधिगम होता है' इत्यादि। वहाँ पर पराविद्या के विषय रूप में ही अक्षरतत्त्व सुना जाता है। ऐसी स्थिति में यदि परमेश्वर से भिन्न अदृश्यत्वादिगुण वाला अक्षर को मानोगे तो यह पराविद्या नहीं रह जायेगी। विद्या में यह परापर विभाग की कल्पना भोग और मोक्षरूप फल को लेकर की गयी है। आजतक किसी ने भी प्रधान-विद्या को मोक्षरूप फलवाला नहीं माना है। यदि अदृश्यत्वादि गुणवाला तत्त्व प्रधान है तो आपके इस पक्ष में तीन विद्या की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। अक्षर भूतयोनि प्रधान की विद्या, ऋग्वेदादिरूप अपराविद्या और अक्षर से परमात्मविद्या। किन्तु इस प्रसंग में यहाँ पर दो विद्या वेदितव्य रूप से निर्दिष्ट हैं। शौनक ने पूछा है कि 'भगवन्! किसके जानने पर यह सब कुछ विज्ञात हो जाता है' इस वाक्य में एक के ज्ञान से सर्वविज्ञान की अपेक्षा रखी

१. प्रधानात्। २. तत्परविद्या। ३. प्लवाह्येत इत्यादिना। ४. प्रधानम्।

अपिच 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' (मु० १-१-१) इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयंस्तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति। सा च ब्रह्मविद्यासमाख्या तदधिगम्यस्याक्षरस्याब्रह्मत्वे बाधिता स्यात्। अपरर्ग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ब्रह्मविद्योपक्रम उपन्यस्यते ब्रह्मविद्याप्रशंसायै। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति' (मु० १-२-७) इत्येवमादिनिन्दावचनात्। निन्दित्वा चापरां विद्यां ततो विरक्तस्य परविद्याधिकारं दर्शयति—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः

ज्ञानं न भवतीत्यर्थः। ब्रह्मविद्याशब्दाच्च भूतयोनिर्ब्रह्मेत्याह—अपिचेति। [१]स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यानां प्रतिष्ठां समाप्तिभूमिं ब्रह्मविद्यामुवाच। ब्रह्मणि सर्वविद्यानां विद्याफलानां चान्तर्भावाद्ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा। [२]नन्वपरविद्या परप्रकरणे किमर्थमुक्तेत्यत आह—अपरेति। प्लवन्ते गच्छन्तीति [३]प्लवा विनाशिनः, अदृढा नित्यफलसम्पादनाशक्ताः, षोडशर्त्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश। यज्ञेन [४]नामनिमित्तेन निरूप्यन्त इति यज्ञरूपाः। तथाहि ऋतुषु याजयन्ति यज्ञं कारयन्तीत्यृत्विजः, यजत इति यजमानः, 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा० ४-१-३३) इति सूत्रेण पतिशब्दस्य नकारान्तादेशो यज्ञसम्बन्धे विहित इति पत्नी, एवमृत्विगादिनामप्रवृत्तिनिमित्तं यज्ञ इति [५]यज्ञरूपाः। येष्ववरमनित्यफलकं कर्म [६]श्रुत्युक्तं, एतदेव कर्म श्रेयो नान्यदात्मज्ञानमिति ये मूढास्तुष्यन्ति ते पुनःपुनर्जन्ममरणमाप्नुवन्तीत्यर्थः। तद्विज्ञानार्थं ब्रह्मविज्ञानार्थं गुरुमभिगच्छेदेवेति [७]नियमः। ब्रह्मनिष्ठस्याप्यनधीतवेदस्य गुरुत्वं वारयति

गयी है जो सर्वात्मक ब्रह्म की विवक्षा मानने पर ही सम्भव हो सकेगी। न कि अचेतन मात्र के एकायतन प्रधान के ज्ञान से और न भोग्य वस्तु से भिन्न भोक्ता के ज्ञान से ही सर्वविज्ञान की अपेक्षा पूर्ण हो सकती है। इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मा ने सम्पूर्ण विद्याओं की प्रतिष्ठारूप ब्रह्मविद्या का उपदेश अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा को किया था' इस वाक्य के द्वारा मुख्यरूप में ब्रह्मविद्या का प्रसंग प्रारम्भ कर परापर के विभागपूर्वक अक्षर को प्राप्त कराने वाली पराविद्या को दिखलाते हुए उसी पराविद्या को ब्रह्मविद्या भी कहा है। यदि इस विद्या से प्राप्त होने योग्य अक्षर तत्त्व को ब्रह्म न मानोगे तो ब्रह्मविद्यारूप समाख्या बाधित होने लग जायेगी। पूर्वपक्षी—पराविद्या के सन्दर्भ में अपराविद्या क्यों बतलायी गयी ? सिद्धान्ती—ऋग्वेदादिरूप कर्मविद्या जो ब्रह्मविद्या प्रसंग में बतलायी गयी है वह तो ब्रह्मविद्या की प्रसंशा के लिए है 'नष्ट हो जानेवाली, नित्यफल संपादन में असमर्थ, षोडश ऋत्विज एक यजमान और एक यजमानी—इन अठारहों से सम्पन्न होनेवाले यज्ञरूप कर्म का मोक्ष साधन मानकर जो मूर्खलोग अभिनन्दन करते हैं वे बार-बार जरा और मृत्यु को ही प्राप्त करते रहते हैं' इस वाक्य से अपराविद्या की निन्दा कर उससे विरक्त जिज्ञासु को पराविद्या में अधिकार दिखलाया गया है 'कर्मोपार्जित लोकों की परीक्षा कर ब्रह्मजिज्ञासु ब्राह्मण संसार से विरक्त हो जाय क्योंकि कर्म से नित्यलोक प्राप्त नहीं होता। अतः नित्यलोक प्राप्ति के साधन

१. परविद्यायाः। २. ब्रह्मा। ३. नन्वपरेति—अपरविद्यासांनिध्यात्पराविद्याऽप्यनात्मविषयैवेष्टव्येति शङ्कितुरभिप्रायः। ४. तत्प्रसिद्धौ हि शब्दः। ५. नामेत्यस्यादौ ऋत्विगादीति शेषः। ६. यज्ञनिरूप्यास्तेऽष्टादश। ७. श्रुत्या विहितम्। ८. नियमो नियमविधिः।

(५३) विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥२२॥

श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु० १-२-१२) इति। यत्तूक्तमचेतनानां पृथिव्यादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानाद्दार्ष्टान्तिकेनाप्यचेतनेनैव भूतयोनिना भवितव्यमिति। तदयुक्तम्। नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। अपिच स्थूलाः पृथिव्यादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टान्तिको भूतयोनिरभ्युपगम्यते। तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एव ॥२१॥

इतश्च परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतरौ शारीरः प्रधानं वा। कस्मात्? विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्। विशिनष्टि हि प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद्विलक्षणत्वेन—'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २-१-२)इति। न ह्येतद्दिव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान्स्वात्मनि

—श्रोत्रियमिति। **कार्यमुपादानाभिन्नमित्यंशे दृष्टान्तः। सर्वसाम्ये तवाप्यनिष्टापत्तेरित्याह—** अपिच स्थूला इति ॥२१॥

विशेषणाच्च जीवः, भेदोक्तेर्न प्रधानमिति हेतुद्वयं विभज्य व्याचष्टे—विशिनष्टि हीत्यादिना। **दिव्यो द्योतनात्मकः स्वयंज्योतिः, अमूर्तः पूर्णः, पुरुषः पुरिशयः प्रत्यगात्मा, बाह्यं स्थूलमाभ्यन्तरं सकारणं सूक्ष्मं ताभ्यां सहाधिष्ठानत्वेन तिष्ठतीति सबाह्याभ्यन्तरः, हि तथा श्रुतिषु प्रसिद्ध इत्यर्थः।**

ब्रह्मतत्त्व को जानने के लिए वह जिज्ञासु समित्पाणि हो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास ही जावें' इस श्रुति में श्रोत्रिय पद से यह सूचित किया गया है कि ब्रह्मनिष्ठ होता हुआ भी यदि अनधीत वेद-वेदान्त है तो वह गुरु पद प्राप्ति के योग्य नहीं है।

और जो आपने कहा था कि अचेतन पृथिव्यादि को दृष्टान्त से ग्रहण किया गया है। अतः दार्ष्टान्तिक भी अचेतन भूतयोनि होना चाहिए। ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अत्यन्त साम्य होना आवश्यक नहीं है। और न आपको भी यह अभीष्ट है। पृथिव्यादि स्थूल पदार्थ का दृष्टान्त दिया है फिर भी दार्ष्टान्तिक में भूतयोनि स्थूल ही नहीं माना जाता अर्थात् यदि दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक में अत्यन्त साम्य मानोगे तो दृष्टान्त में स्थूल होने से दार्ष्टान्तिक भी स्थूल ही होना चाहिए जो आपको भी अभीष्ट नहीं है। दृष्टान्त के एक अंश को ही ग्रहण करना उचित होता है कि कार्य अपने उपादान कारण से अभिन्न हुआ करता है। अतः अदृश्यत्वादि गुणवाला परमेश्वर ही हो सकता है ॥२१॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ (ललिता)

विशेषण और भेदव्यपदेश के कारण भी परमेश्वर ही भूतयोनि हो सकता है, जीव या प्रधान नहीं। 'जो दिव्य है, अमूर्त है, ब्रह्माण्ड एवं शरीर में प्रत्यगात्मारूप से शयन करता है, जो बाहर भीतर सर्वत्र है, अजन्मा है, मन और प्राण रहित शुद्ध है' इस वाक्य द्वारा जीव से विलक्षण प्रकृत

---

१. इतराविति—अत्र नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति नपुंसकभिया इतरश्चेतरा चेति स्त्रीपुंसानुसरणं स्त्रीप्रकृतिः। भाष्यं तु नपुंसकगर्भमर्थमात्रापेक्षि न वृत्तिमपि कटाक्षयतीत्यनवद्यम्। २. त्वयेति शेषः। ३. जन्माद्यभावेन कौटस्थ्यमाह—अज इति। ४. प्राणमनोभ्यां संसर्गभेदाभावात्परिशुद्धिमाह—अप्राणो हीति।

कल्पयतः शारीरस्योपपद्यते । तस्मात्साक्षादौपनिषदः पुरुष इहोच्यते । तथा प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति—'अक्षरात्परतः परः' इति । [1]अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद्विकारात्परो योऽविकारस्तस्मात्परतः पर इति भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमि[2]ह विवक्षितं दर्शयति । नात्र प्रधानं नाम किञ्चित्स्वतन्त्रं तत्त्वमभ्युपगम्य तस्माद्भेदव्यपदेश उच्यते । किं

अविद्याकृतं नामरूपात्मकं शरीरं तेन परिच्छेदोऽल्पत्वम् । तस्य शरीरस्य धर्मान्जाड्यमूर्तत्वादीनित्यर्थः । नन्वक्षरशब्देन प्रधानोक्तावशब्दत्वं प्रधानस्य प्रतिज्ञातं बाध्येत, तत्राह—अक्षरमव्याकृतमिति । **अश्नोति व्याप्नोति स्वविकारजातमित्यक्षरम् । अव्याकृतमव्यक्तम्, अनादीति यावत् । नामरूपयोर्बीजमीश्वरः तस्य शक्तिरूपम् । परतन्त्रत्वादुपादानमपि शक्तिरित्युक्तम् । भूतानां सूक्ष्माः संस्कारा यत्र तद्भूतसूक्ष्मं, [3]ईश्वरश्चिन्मात्र आश्रयो यस्य तत्तथा । तस्यैव चिन्मात्रस्य जीवेश्वर[4]भेदोपाधिभूतम् । यत्तु ईश्वर आश्रयो विषयो यस्येति नानाजीववादिनां व्याख्यानं [5]तद्भाष्यबहिर्भूतम् । [6]'एतस्मिन्खल्वक्षरे गार्गि [7]आकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृ० ३-८-११) इत्योतप्रोतभावेनाव्याकृतस्य चिदाश्रयत्वश्रुतेराश्रयपद[8]लक्षणाया निर्मूलत्वात् । [9]नहि मूलप्रकृतेर्भेदे किञ्चिन्मानमस्ति । नच 'इन्द्रो मायाभिः' (बृ० २-५-१९) इति श्रुतिर्मानम्, 'अजामेकाम्' (श्वे० ४-५) इत्याद्यनेकश्रुतिबलेन लाघवतर्कसहायेन तस्याः श्रुतेर्बु[10]द्धिभेदेन [11]मायाभेदानुवादित्वात् । तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—[12]'स्वतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते' इति । सांख्ययोगाचार्याः पुराणेतिहासकर्तारश्च मूलप्रकृत्यैक्यं वदन्ति । नन्वविद्यैक्ये बन्धमुक्तिव्यवस्था कथम् । नच व्यवस्था नास्तीति वाच्यं, श्रवणे प्रवृत्त्यादिबाधापातादिति चेत्, उच्यते—ये ह्यविद्यानानात्वमिच्छन्ति तैरपि परिणामित्वेन सांशत्वमविद्याया अङ्गीकार्यं, तथा चानर्थात्मकस्वीयसंघातात्मना परिणताऽविद्यांशोपहितजीवभेदाद्व्यवस्था सिध्यति । यस्य ज्ञानमन्तःकरणे जायते तस्यान्तःकरणपरिणाम्यज्ञानांशनाशो मुक्तिरिति । एवं च श्रोतुः स्वरूपानन्दप्राप्तिः, श्रवणादौ प्रवृत्तिः, विद्वदनुभवः, जीवन्मुक्तिशास्त्रं चेति सर्वमबाधितं भवति । नचैवं नानाजीवपक्षादविशेषः, मूलप्रकृतिनानात्वाभावादित्यलम् । परत्वे हेतुः**—अविकार इति । **ननु सूत्रकृता श्रुतौ [13]प्रधानाद्भेदव्यपदेश उक्तस्तत्र कथमज्ञानाद्भेदोक्तिर्व्याख्यायते, तत्राह**—नात्रेति । **कार्यात्मना**

भूतयोनि को कहा गया है। इस मन्त्र में कहे गये दिव्यत्वादि विशेषण अविद्या प्रत्युपस्थापित नाम-रूप परिच्छेद में अभिमान करने वाले और उसके धर्मों को आत्मा में कल्पना करने वाले जीवात्मा में सम्भव ही नहीं है। यहाँ तो साक्षात् उपनिषदेक-समधिगम्य पुरुष बतलाया गया है। अतः जीव भूतयोनि नहीं हो सकता। वैसे ही प्रधान से भी प्रकृत भूतयोनि को **"अक्षरात्परतः परः"** इस वाक्य द्वारा भिन्न कहा गया है। जो अक्षर, अव्याकृत है, नाम-रूप की बीज शक्ति है, भूतसूक्ष्म है और ईश्वर जिसका आश्रय है और ईश्वर की ही उपाधि रूप है, वह परतत्त्व सभी कार्यों से पृथक्

---

१. पूर्वत्र पञ्चम्यन्ताक्षरशब्दार्थः क इति पूर्वपक्षे उत्तरसूत्रेण तस्य समाधानं वक्ष्याम इति यदुक्तं तदेव इदानीमाह—अक्षरमव्याकृतमिति । २. प्रकृतवाक्ये । ३. ईश्वरपदलक्षार्थः । ४. भेदो जगत्तथाचेश्वरो जीवो जगदिति बुद्धावुपाधित्वेन स्थितमित्यर्थः । ५. भाष्यबहिर्भूतमिति—भाष्ये विषयशब्दाभावादिति भावः । ६. ननु लक्षणया विषयविषय आश्रयशब्दो भाष्य इत्याशङ्क्याह—एतस्मिन्नित्यादि । ७. मूलप्रकृतिः । ८. विषय इति शेषः । ९. नानाजीववादिभिरविद्यानानात्वं जीवनानात्वार्थमास्थीयते तन्निरस्यति—नहीति । १०. बुद्धिभेदनेति—मायाकार्यान्तःकरणभेदेनेत्यर्थः । ११. अन्तःकरणावच्छिन्नमायेत्यर्थः । १२. स्वत इति—अन्तःकरणात्मककार्यमनपेक्ष्येत्यर्थः । १३. ब्रह्मण इति शेषः ।

(५४) रूपोपन्यासाच्च ॥२३॥

तर्हि ? यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाव्याकृतादिशब्दवाच्यं [1]भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत, [2]परिकल्प्यताम् । तस्माद्भेदव्यपदेशात्परमेश्वरो भूतयोनिरित्येतदि[3]ह प्रतिपाद्यते ॥२२॥

[4]कुतश्च परमेश्वरो भूतयोनिः—

अपिच 'अक्षरात्परतः परः' इत्यस्यानन्तरम् "[5]एतस्माज्जायते प्राणः' इति प्राणप्रभृतीनां पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः—'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मु० २-१-४) इति । तच्च परमेश्वरस्यैवोचितं सर्वविकारकारणत्वात् । न शारीरस्य तनुमहिम्नः ।

---

[6]प्रधीयत इति प्रधानमज्ञानमेव । ततोऽन्यस्याप्रामाणिकत्वादित्यर्थः । अतोऽत्राज्ञानमेव भूतयोनिरिति पूर्वपक्षं कृत्वा निरस्यते । तन्निरासेनार्थात्सांख्यकल्पितप्रधाननिरास इति मन्तव्यम् ॥२२॥

वृत्तिकृन्मतेनादौ सूत्रं व्याचष्टे—अपिचेत्यादिना । 'प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी' (मु० २-१-३) इति श्रुतिः । अग्निर्द्युलोकः 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' (छा० ५-४-१) इति श्रुतेः । विवृता वेदा वागित्यन्वयः । पद्भ्यां पादावित्यर्थः । यस्येदं रूपं स एष सर्वप्राणिनामन्तरात्मेत्यर्थः । तनुर्महिम्न इति । अल्पशक्तेरित्यर्थः । यथा कश्चिद्ब्रह्मवित्स्वस्य

निर्विकार है । इसलिए उसे "**परतः परः**" ऐसे भिन्नरूप में कहा गया है । इस भेद व्यपदेश द्वारा भी परमात्मा को ही यहाँ पर बतलाना अभीष्ट है । इस प्रसंग में प्रधान को कोई स्वतन्त्र तत्त्व मानकर भेद व्यपदेश नहीं किया गया है । फिर क्या है ? यदि प्रधान भी श्रुति के साथ विरोध किये बिना ही अव्याकृतादि शब्दवाच्यकल्प्यमान हो जो भूतों का सूक्ष्म कारण है, ऐसी कल्पना करना चाहते हो तो करो । उससे भिन्न रूप में भूतयोनि परमेश्वर का निर्देश यहाँ श्रुति एवं सूत्र में किया गया है । इसलिए भूतयोनि परमेश्वर ही है, अन्य कोई नहीं ॥२२॥

रूपोपन्यासाच्च (ललिता)

परमेश्वर भूतयोनि कैसे है ? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से भी देते हैं । वृत्तिकार के मत से पहले सूत्र की व्याख्या करते हैं । पूर्व सूत्र से "**नेतरौ**" पद की अनुवृत्ति लानी चाहिए । "**अक्षरात्परतः परः**" इस वाक्य के बाद "**एतस्माज्जायते प्राणः**" इस श्रुति प्राण से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त की सृष्टि कहकर उसी भूतयोनि के सर्वविकारात्मक रूप का वर्णन हम देखते हैं 'अग्नि जिसका शिर है, चन्द्र-सूर्य जिसकी आँख है, दिशायें श्रोत्र हैं, वेद जिसकी सुस्पष्ट वाणी है, वायु प्राण है, सम्पूर्ण विश्व हृदय है और पृथ्वी पैर है, ऐसा यह सर्वभूतान्तरात्मा है' इत्यादि । उक्त श्रुति में कहा गया रूप परमेश्वर का ही हो सकता है क्योंकि वह समस्त कार्यों का कारण है, अल्पशक्ति वाले जीव का नहीं

---

१. भूतानां कारणम । २. परिकल्प्यतामिति—तर्हीत्यादौ शेषः । ३. श्रुतिसूत्रयोः । ४. हेत्वन्तरात् । ५. वृत्तिकृन्मते एतदेव प्राणाद्यात्मना जायत इति श्रुत्यर्थः कार्यं तस्य परिणामवादित्वात्, सिद्धान्ते तु भूतयोनेरित्यर्थः । ६. प्रस्थीयते जायते परिणमत इति यावत् ।

नापि प्रधानस्यायं रूपोपन्यासः सम्भवति, सर्वभूतान्तरात्मत्वासम्भवात् । तस्मात्परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतराविति गम्यते । कथं पुनर्भूतयोनेरयं रूपोपन्यास इति गम्यते ? प्रकरणात्, 'एषः' इति च प्रकृतानुकर्षणात् । भूतयोनिं हि प्रकृत्य 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति वचनं भूतयोनिविषयमेव भवति । यथोपाध्यायं प्रकृत्यैतस्मादधीष्वैष वेदवेदाङ्गपारग इति वचनमुपाध्यायविषयं भवति तद्वत् । कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपं सम्भवति । सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते नतु विग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः । 'अहमन्नमहमन्नादः' (तै० ३-१०-६) इत्यादिवत् ।

अन्ये पुनर्मन्यन्ते—ना[1]यं भूतयोने[2] रूपोपन्यासः, जायमानत्वेनो[3]पन्यासात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' (मु० २-१-३) इति हि [3]पूर्वत्र प्राणादिपृथिव्यन्तं तत्त्वजातं जायमानत्वेन निरदिक्षत् । [4]उत्तरत्रापि च 'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः' (मु० २-१-५) इत्येवमादि 'अतश्च सर्वा

सर्वात्मत्वप्रकटनार्थमहमन्नमिति साम गायति, न त्वन्नत्वादिकमात्मनो विवक्षति, अफलत्वात्, तथेहापीत्याह—अहमन्नमिति ।

वृत्तिकृद्व्याख्यां दूषयति—अन्ये पुनरिति । एष सर्वभूतान्तरात्मा सूत्रात्मा एतस्माद्भूतयोनेर्जायत इति श्रुत्यन्वयेन हिरण्यगर्भस्यात्र जायमानत्वेनोपन्यासादित्यर्थः । निरदिक्षदवोचदित्यर्थः । अग्निर्द्युलोको [5]यस्य समिद्रूपः सूर्यः, सोऽपि द्युलोकाग्निस्तस्मादजायतेत्यर्थः । 'तस्यादित्य एव

हो सकता और न प्रधान का ही यह रूप उपन्यास सम्भव हो सकता है क्योंकि प्रधान सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा नहीं है । अतः परमेश्वर ही भूतयोनि है, जीव और प्रधान नहीं हैं ऐसा जाना जाता है । प्रकरण देखते हुए भी यह मानना ही उचित होगा । "एषः" यह पद प्रकृत का ही अनुकर्षण करता है । भूतयोनि का प्रसंग प्रारम्भ कर "एतस्माज्जायते प्राणः" और "एष सर्वभूतान्तरात्मा" इत्यादि वचन भूतयोनि को ही विषय करते हैं जैसे उपाध्याय का प्रसंग प्रारम्भ कर कोई कहे कि 'इससे पढ़ो, यह वेद-वेदाङ्ग का पारंगत है' तो यह वचन उपाध्याय को हो बतलाता है । ऐसे ही वे श्रुतियाँ भी भूतयोनि को ही विषय करती हैं । पूर्वपक्षी—अदृश्यत्वादि गुणवाले भूतयोनि का विग्रहवद्रूप कैसे सम्भव हो सकता है ? उत्तर—सर्वात्मत्व विवक्षा से यह वचन है न कि विग्रहवत्व की विवक्षा से । इसलिए अदृश्यत्वादि गुणवाले को विग्रहवद् कथन कोई दोष नहीं है । जैसे "अहमन्नमहमन्नादः" यह सामगान सर्वात्मा की दृष्टि से कहा गया है ऐसे ही सर्वात्मत्व दृष्टि से उक्त भूतयोनि को विग्रहवान् कहा है । वृत्तिकार के इस मत का खण्डन "अन्ये पुनः" इत्यादि भाष्य से किया गया है ।

दूसरे लोग ऐसा मानते हैं कि यह रूप वर्णन भूतयोनि का नहीं है, यह तो जायमान रूप से वर्णित है 'इससे प्राण उत्पन्न हुआ, मन उत्पन्न हुआ, सभी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई । इन सब प्राण से लेकर पृथ्वी पर्यन्त अग्नि मूर्धादि रूप वर्णन से पूर्व तत्त्व समुदाय जायमानत्वरूप से निर्दिष्ट है ।" रूप उपन्यास से आगे भी

१. अयमिति—अग्निर्मूर्धेत्यादिः । २. अपितु हिरण्यगर्भस्येति शेषः । ३. अग्निर्मूर्द्धेति रूपोपन्यासात्पूर्वत्रेत्यर्थः । ४. रूपोपन्यासादुत्तरत्रेत्यर्थः । ५. द्युलोकस्य ।

ओषधयो रसाश्च' (मु० २-१-९) इत्येवमन्तं जायमानत्वेनैव निर्देक्ष्यति। इहैव कथमकस्मादन्तराले भूतयोने रूपमुपन्यसेत्। सर्वात्मत्वमपि सृष्टि परिसमाप्योपदेक्ष्यति—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' (मु० २-१-१०) इत्यादिना। श्रुतिस्मृत्योश्च त्रैलोक्यशरीरस्य [1]प्रजापतेर्जन्मादि निर्दिश्यमानमुपलभामहे—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋ० सं० १०-१२१-१) इति। समवर्ततेत्यजायतेत्यर्थः। तथा 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' (मार्कण्डेय पु० ४५-६४) इति च। विकारपुरुषस्यापि सर्वभूतान्तरात्मत्वं सम्भवति, प्राणात्मना सर्वभूतानामध्यात्ममवस्थानात्। अस्मिन्पक्षे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' [2]इत्यादिसर्वरूपोपन्यासः परमेश्वर-

---

समित्' (छा० ५-४-१) इति श्रुत्यन्तरात्। अतो मध्येऽपि सृष्टिरेव वाच्या न 'रूपमिति भावः। यदुक्तम्—'अग्निर्मूर्धा' इत्यत्र भूतयोनेः सर्वात्मत्वं विवक्षितमिति, तन्नेत्याह—सर्वात्मत्वमपीति। **ननु हिरण्यगर्भस्य जन्माऽन्यत्रानुक्तं कथमत्र वक्तव्यं, तत्राह—**श्रुतीति। **अग्रे समवर्तत जातः सन् भूतग्रामस्यैकः पतिरीश्वरप्रसादादभवत्। स सूत्रात्मा द्यामिमां पृथिवीं च स्थूलं सर्वमधारयत्। [4]कशब्दस्य प्रजापतिसंज्ञात्वे सर्वनामत्वाभावेन स्मा इत्ययोगादेकारलोपेनैकस्मै देवाय प्राणात्मने हविषा विधेम परिचरेमेति व्याख्येयम्, 'कतम एको देव इति प्राणः' (बृ० ३-९-९) इति श्रुतेः। यद्वा यस्मादयं जातस्तस्मा एकस्मै देवायेत्यर्थः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० ६-११) इति श्रुत्यन्तरात्। ननु तस्य भूतान्तरात्मत्वं कथम्? तत्राह—**विकारेति। **पूर्वकल्पे प्रकृष्टोपासनाकर्मसमुच्चयानुष्ठानादस्मिन्कल्पे सर्वप्राणिव्यष्टि[5]लिङ्गानां व्यापकं सर्वप्राण्यन्तर्गतं ज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणात्मकं समष्टिलिङ्गशरीरं जायते। तद्रूपस्य सूत्रात्मनः सर्वभूतान्तरात्मत्वं युक्तमित्यर्थः। स्वपक्षे सूत्रार्थमाह—**अस्मिन्पक्षे

'उससे लोकरूप अग्नि उत्पन्न हुई जिसकी समिधा सूर्य है' यहाँ से लेकर 'उससे सभी ओषधियाँ उत्पन्न हुईं, रस उत्पन्न हुआ' यहाँ तक श्रुतिवाक्य जायमानत्व रूप से कहा जायेगा फिर भला मध्य में अकस्मात् भूतयोनि के रूप का उपन्यास कैसे माना जा सकेगा। सर्वात्मता का भी उपदेश 'यह सम्पूर्ण विश्व पुरुष ही तो है' इत्यादि वाक्य द्वारा सृष्टि प्रसंग समाप्ति के बाद किया जायेगा। श्रुति और स्मृति में त्रैलोक्य शरीर हिरण्यगर्भ का कहा गया है, उसी को जन्मादि का निर्देश भी हम देखते हैं। 'हिरण्यगर्भ भूतों से पहले उत्पन्न हुआ था जो उत्पन्न होते ही अकेला सबका शासक था उसी ने पृथ्वी को एवं द्युलोक को भी धारण किया था।' 'उसी देवता की ही हम वृत्ति से परिचर्या करते हैं' इस मन्त्र में **समवर्तत** पद का अर्थ, उत्पन्न हुआ था, करना चाहिए। 'निःसन्देह, वह प्रथम शरीरधारी था, उसीको पुरुष कहा गया है। वह भूतों का आदिकर्ता था जिसका नाम ब्रह्मा है और वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था' ऐसा स्मृति वाक्य भी है। विकार पुरुष हिरण्यगर्भ में भी सर्वभूतान्तरात्मत्व कहना सम्भव है क्योंकि सम्पूर्ण शरीरधारी प्राणियों के प्राणरूप से अध्यात्म भाव में वह हिरण्यगर्भ स्थित है। इस सिद्धान्तपक्ष में 'यह सम्पूर्ण विश्व पुरुष ही तो है'

---

१. हिरण्यगर्भस्य। २. इत्यादिना सार्वात्म्यरूपोपन्यासात्परमात्मैव भूतयोनिरिति सूत्रार्थः। ३. भूतयोनेरिति शेषः। ४. किमादेशभूतस्य। ५. लिङ्गशरीराणाम्।

७. वैश्वानराधिकरणम् (सू० २४-३२)

(५५) वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।।२४।।

वैश्वानरः कौक्षभूतदेवजीवेश्वरेषु कः । वैश्वानरात्मशब्दाभ्यामीश्वरान्येषु कश्चन ।।
द्युमूर्धत्वादितो ब्रह्मशब्दाच्चेश्वर इष्यते । वैश्वानरात्मशब्दौ तावीश्वरस्यापि वाचकौ ।।

प्रतिपत्तिहेतुरिति व्याख्येयम् ।।२३।।

'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति, 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' (छा० ५-११-१,६) इति चोपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनां सुतेजस्त्वादिगुणयोग-

---

इति । **कर्म सफलं सर्वं श्रौतस्मार्तादिकं तपश्च, पुरुष एवेति सर्वान्तरत्वरूपोपन्यासाच्च भूतयोनौ ज्ञेये वाक्यं समन्वितमित्यर्थः ।।२३।।**

वैश्वानरः । छान्दोग्यमुदाहरति—को न इति । **प्राचीनशालसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नजनबुडिला मिलित्वा मीमांसांचक्रुः—'को न आत्मा किं ब्रह्म' (छा० ५-११-१) इति । आत्मैव ब्रह्मेति ज्ञापनार्थं पदद्वयम् । ते पञ्चापि निश्चयार्थमुद्दालकमाजग्मुः । सोऽपि सम्यङ् न वेदेति तेनोद्दालकेन सह षडप्यश्वपतिं कैकेयं राजानमागत्योचुः—'आत्मानम्' इति 'अध्येषि' 'स्मरसि तमेव नो ब्रूहि' (छा० ५-११-६) इति ।**

इत्यादि श्रुतिवाक्य से सर्वरूप का उपन्यास परमेश्वर अर्थ का बोध कराने में हेतु है इस प्रकार व्याख्या कर लेनी चाहिए ।।२३।।

६. वैश्वानराधिकरण

१. पूर्वाधिकरण में प्रारम्भिक अदृश्यत्वादि साधारण धर्म को वाक्यशेषस्थ सर्वज्ञत्वादि लिङ्ग के आधार पर जैसे ब्रह्मपरक माना गया था वैसे ही यहाँ भी उपक्रमस्थ साधारण वैश्वानर शब्द को वाक्यशेषस्थ होमाधिकरणत्व लिङ्ग के आधार पर जाठराग्निपरत्व मानना चाहिए । इस प्रकार दृष्टान्त संगति के कारण वैश्वानराधिकरण की रचना हुई ।

२. वैश्वानर तत्त्व इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. छान्दोग्य की वैश्वानरविद्या में कहा गया द्युमूर्धादि भाववाला तत्त्व वैश्वानर जाठराग्नि है, भूताग्नि है, आदित्यादि देवता है, जीवात्मा है अथवा परमात्मा ?

४. वैश्वानर एवं आत्मा शब्द का प्रयोग होने से ईश्वर में भिन्न कोई भी पदार्थ ग्रहण किया जा सकता है ।

५. **"मूर्धत्वादि"** श्रुति को देखते हुए और ब्रह्म शब्द का प्रयोग होने से भी परमेश्वर ही वैश्वानर पद का अर्थ लेना यहाँ पर उचित होगा । ईश्वर के लिए भी शास्त्रों में वैश्वानर एवं आत्मशब्द का प्रयोग बहुधा देखा जाता है ।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् में प्रसंग आता है कि प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल ऐसे पाँच ऋषियों ने मिलकर विचार किया कि 'हमारी आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है ?' इन वाक्यों में आत्मा और ब्रह्म ये दोनों पद 'आत्मा ही ब्रह्म है' इस अर्थ के ज्ञापन के लिए दिया गया है । वे पाँचों ऋषि उक्त अर्थ के निश्चय के लिए उद्दालक के पास गये किन्तु वे भी सम्यक् प्रकार से

मेकैकोपासननिन्दया च वैश्वानरं प्रत्येषां मूर्धादिभावमुपदिश्या[1]म्नायते—"[2]यस्त्वे[3]तमे[4]वं [5]प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं [6]वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति। तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य [7]मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५-१८-२) इत्यादि। तत्र

राजा तु तेषां भ्रान्तिनिरासार्थं तान्प्रत्येकमपृच्छत्—'कं त्वमात्मानमुपास्से' (छा० ५-१२-१) इति। ते च प्राचीनशालादयः क्रमेण तं प्रत्येकमूचुः—दिवमेवाहं वैश्वानरं वेद्मि। आदित्यमेवाहं वेद्मि। वायुमेव। आकाशमेव। अप एव। पृथिवीमेवाहं वेद्मीति। ततो राजा द्युसूर्यादीनां षण्णां यथाक्रमेण सुतेजस्त्वविश्वरूपत्वपृथग्वर्मात्मत्वबहुलत्वरयित्वप्रतिष्ठात्वगुणान्विधाय भवन्तो यदि मामपृष्ट्वा द्युसूर्यादिषु भगवतो वैश्वानरस्याङ्गेष्वेव प्रत्येकं वैश्वानरत्वदृष्टयो भवेयुस्तदा क्रमेण मूर्धपातान्धत्वप्राणोत्क्रमणदेहविशीर्णत्वबस्तिभेदपादशोषा भवतां स्युरिति प्रत्येकोपासनं निन्दित्वा, सुतेजस्त्वगुणको द्युलोकोऽस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धा, विश्वरूपत्वगुणकः सूर्योऽस्य चक्षुरित्येवं द्युसूर्यादीनां मूर्धादिभावमु[9]पदिश्य समस्तवैश्वानरध्यानविधिराम्नायते—यस्त्वेतमिति। आभिमुख्येनापरोक्षतया विश्वं विमिमीते जानातीत्यभिविमानः। तं सर्वज्ञं स तदुपासकः सर्वत्र भोगं भुङ्क्त इत्यर्थः। लोका भूरादयः, भूतानि शरीराणि, आत्मानो जीवा इति भेदः। सुष्ठु तेजः कान्तिर्यस्य द्युलोकस्य स सुतेजाः। विश्वानि रूपाण्यस्य सूर्यस्य, 'एष शुक्ल एष नील:' (छा० ८-६-१) इति श्रुतेः। पृथङ्नानाविधं वर्त्म गमनं आत्मा स्वभावो यस्य वायोः, स नानागतित्वगुणकोऽस्य प्राणः। बहुलत्वं व्यापित्वं तद्गुण आकाशोऽस्य सन्देहो [10]देहमध्यम्। रयित्वं धनत्वं तद्गुणा आपो यस्य बस्तिर्मूत्रस्थानम्। [11]प्रतिष्ठात्वगुणा पृथिवी तस्य पादौ। तस्य होमाधारत्वं सम्पादयति—उर एवेत्यादिना। [12]पूर्वमुपक्रम-

इस विद्या को नहीं जानते थे। अतः उद्दालक के साथ मिलकर सभी ऋषियों अश्वपति कैकेय राजा के पास जाकर कहा कि हे भगवन्! "इस समय इस वैश्वानर आत्मा को आप जानते हो उसी का उपदेश हमें करो" यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर "द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, जल तथा पृथ्वी में सुतेजस्त्वादिगुण का सम्बन्ध है" पर यह सम्पूर्ण वैश्वानर नहीं है। अतः एक-एक की उपासना की निन्दा कर समस्त उपासना का पाठ वहाँ पर मिलता है और द्युलोकादि को वैश्वानर के प्रति मूर्धादि भाव का उपदेश पहले करते हैं "जो भी उपासक इस प्रकार प्रादेश मात्र इस वैश्वानर अभिविमान (सर्वज्ञ) आत्मा को उपासना करता है वह समस्त भूरादि लोकों में, सभी शरीरों में एवं सभी जीवात्मा में अन्न का भक्षण करता है। निःसन्देह उसी इस वैश्वानर आत्मा का द्युलोक ही मस्तक हैं, अनेक रूप वाला सूर्य चक्षु है, नानाविध गतिशील वायु उसका प्राण है, व्यापक आकाश उसका

१. वक्ष्यमाणम्। २. उपासकः। ३. एतं सर्वात्मकम्। ४. एवं यथोक्तद्युमूर्द्धादिविशिष्टम्। ५. प्रादेशमात्रं प्रदेशैर्द्युमूर्द्धादिभिः प्रत्यगात्मतया मीयते ज्ञायत इति प्रादेशमात्रस्तमात्मानं प्रत्यगभिन्नम्। ६. वैश्वानरं सर्वात्मकत्वाद्विश्वश्चासौ नरश्च सर्वकारणत्वेन विश्वेषामयं नरश्च सर्वेश्वरत्वाद्विश्वे नरा नियम्या यस्यासौ विश्वानरः स एव वैश्वानरस्तं प्रत्यक्त्वेनोपास्ते। ७ मूर्द्धचक्षुश्वासमुखावच्छिन्नाकाशलालाचिबुकानि। ८. दाक्षिणात्यः। ९. उपदिश्येति—स्थितोऽनन्तरमिति शेषः। १० देहमध्यम्—कण्ठनाभ्यन्तरालभाग इति यावत्। ११. प्रतिष्ठात्वगुणेति—'एष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरः' इति पृथिव्याः प्रतिष्ठात्वं राज्ञा पूर्वमुक्तं वेदितव्यम्। १२. यत्तदग्रे श्यम्।

संशयः—किं वैश्वानरशब्देन जाठरोऽग्निरुपदिश्यत उत भूताग्निरथ तदभिमानिनी देवता अथवा शारीर आहोस्वित्परमेश्वर इति । किं पुनरत्र संशयकारणम् ? 'वैश्वानर इति जाठरभूताग्निदेवतानां साधारणशब्दप्रयोगादात्मेति च शारीरपरमेश्वरयोः । तत्र कस्योपादानं न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? जाठरोऽग्निरिति । कुतः ? 'तत्र हि 'विशेषेण क्वचित्प्रयोगो दृश्यते—'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' (बृ० ५-९-१) इत्यादौ । अग्निमात्रं वा स्यात्, सामान्येनापि प्रयोगदर्शनात् 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' (ऋ० सं० १०-८८-१२) इत्यादौ । अग्निशरीरा वा देवता स्यात्, तस्यामपि प्रयोगदर्शनात् । 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः' (ऋ० सं० १-९८-१)

स्याद्दृश्यत्वादिसाधारणधर्मस्य वाक्यशेषस्थ'सर्वज्ञत्वादिलिङ्गेन ब्रह्मनिष्ठत्वमुक्तं, तद्वदत्राप्युपक्रमस्थसाधारणवैश्वानरशब्दस्य वाक्यशेषस्थहोमाधारत्वलिङ्गेन जाठरनिष्ठत्वमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति —किं तावदित्यादिना । पूर्वोत्तरपक्षयोर्जाठरब्रह्मणोर्ध्यानं फलम् । यदद्यते तदन्नं, येन पच्यते सोऽयं पुरुषशरीरेऽन्तरस्तीत्यर्थः । पक्षान्तरमाह—अग्निमात्रं वेति । विश्वस्मै भुवनाय वैश्वानरमग्निमह्नां केतुं चिह्नं सूर्यं देवा अकृण्वन् कृतवन्तः । सूर्योदये दिनव्यवहारादित्यर्थः । स्याद्वैश्वानर इत्यनुषङ्गः । हि यस्मात्कं सुखप्रदो भुवनानां राजा वैश्वानरोऽभिमुखा श्रीरस्येत्यभिश्रीरीश्वरः, तस्मात्तस्य वैश्वानरस्य सुमतौ वयं स्याम, तस्यास्मद्विषया शुभमतिर्भवत्वित्यर्थः । पक्षत्रयेऽप्यरुचि

धड़ है, अन्न का कारण जल उसका मूत्राशय है। पृथ्वी ही उसके पैर हैं, उसका हृदय ही वेदी है, कुशा-बर्हि उसके लोम है, गार्हपत्य अग्नि हृदय है, दाक्षिणात्य अग्नि उसका मन है और आहवनीय अग्नि उसका मुख है' इत्यादि । यहाँ पर संशय होता है कि क्या वैश्वानर शब्द से जाठराग्नि का उपदेश है, भूताग्नि का उपदेश है, अभिमानी देवता का उपदेश है, जीवात्मा का उपदेश है अथवा परमात्मा का ? यहाँ पर संशय का कारण क्या है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहा है कि वैश्वानर शब्द का जाठर, भूताग्नि और देवता अर्थ में साधारणतः प्रयोग देखा जाता है और "आत्मा" इस शब्द का प्रयोग जीव तथा परमेश्वर अर्थ में देखा जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ पर किसका ग्रहण और किसका त्याग करना चाहिए यह निश्चय न होने के कारण संशय होता है। अतः क्या मानना चाहिए। ऐसी विप्रतिपत्ति होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि वैश्वानर शब्द का अर्थ जाठराग्नि करना ठीक है क्योंकि जाठराग्नि में विशेष रूप से कहीं-कहीं पर वैश्वानर शब्द का प्रयोग देखा जाता है 'पुरुष के भीतर जो यह वैश्वानर रहता है जिससे यह अन्न पचता है जिसे जीव खाता है' इस वाक्य में जाठराग्नि को ही वैश्वानर शब्द से कहा गया है, अथवा वैश्वानर शब्द का अर्थ अग्नि मात्र करना चाहिए क्योंकि सामान्य रूप से भी वैश्वानर शब्द का प्रयोग अग्नि में देखा जाता है 'सम्पूर्ण भुवन को प्रकाशित करने के लिए दिन के केतु सूर्य को वैश्वानर रूप से परमेश्वर ने बनाया' इस वाक्य में सामान्यतः आदित्य को वैश्वानर पद से कहा गया है क्योंकि सूर्य उदय होने पर दिन व्यवहार होता है। अथवा अग्निशरीरवाला देवता वैश्वानर शब्द का अर्थ मानना चाहिए क्योंकि देवता अर्थ में भी वैश्वानर शब्द का प्रयोग देखा गया है 'भुवनों का राजा सुखप्रद वैश्वानर अभिमुख

---

१. आत्मानं वैश्वानरमत्रत्य वैश्वानरशब्दः । २. जाठरे । ३. अग्निविशेषरूपत्वेन । ४. यः सर्वज्ञः ।

इत्येवमाद्यायाः श्रुतेर्देवतायामैश्वर्याद्युपेतायां सम्भवात् । अथा[1]त्मशब्दसामानाधिकरण्या-दुपक्रमे च 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति केवलात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दवशेन वैश्वानर-शब्दः [2]परिणेय इत्युच्यते । तथापि शारीर आत्मा स्यात्, तस्य भोक्तृत्वेन वैश्वानर-सन्निकर्षात् । प्रादेशमात्रमिति च विशेषणस्य तस्मिन्नुपाधिपरिच्छिन्ने सम्भवात् । तस्मान्नेश्वरो वैश्वानर इत्येवं प्राप्ते तत इदमुच्यते—वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हति । कुतः ? [3]साधारणशब्दविशेषात् । साधारणशब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः । यद्यप्ये-तावुभावप्यात्मवैश्वानरशब्दौ साधारणशब्दौ, वैश्वानरशब्दस्तु [4]त्रयाणां साधारणः, आत्म-शब्दश्च [5]द्वयोः, तथापि विशेषो दृश्यते, [6]येन परमेश्वरपरत्वं [7]तयोरभ्युपगम्यते, 'तस्य ह वा

वदन्कल्पान्तरमाह—अथेत्यादिना । 'आत्मा वैश्वानरः' इति श्रुतेरित्यर्थः । केवलत्वं वैश्वानरशब्द-शून्यत्वम् । अत्र जाठरो वैश्वानर इति मुख्यः पूर्वपक्षः, 'प्राणाग्निहोत्रहोमाधारत्वलिङ्गात् । तस्य देहव्यापित्वादात्मत्वं, श्रुत्या द्युमूर्धत्वादिकल्पनया बृहत्त्वाद्ब्रह्मत्वमिति ध्येयम् । सिद्धान्तयति—तत इदमिति। साधारण[9]श्रुत्योरुपक्रमस्थयोर्विशेषात्प्रथमश्रुत[10]मुख्य[11]त्रैलोक्यशरीरलिङ्गात्सर्वात्मकेश्वर-परत्वं युक्तं, न चरमश्रुतकल्पितहोमाधारत्वलिङ्गेन जाठरत्वमित्यर्थः । ननु निर्विशेषस्य कुतो विशेषः

श्री सम्पन्न है तद्विषयिणी शुभमति वाले हम हो जावें' ऐसी श्रुति में ऐश्वर्य सम्पन्न देवता को भी वैश्वानर पद से कहा गया है । इन तीनों पक्ष में अरुचि दिखलाने के लिए "**अथात्मशब्दसामानाधि-करण्यात्**" इस वाक्य द्वारा भाष्यकार ने पूर्वपक्षी से कल्पान्तर का उत्थान करवाया है । "**आत्मा वैश्वानरः**" ऐसा सामानाधिकरण्य देखा जाता है और प्रारम्भ में "**को न आत्मा किं ब्रह्म**" इस श्रुति में केवल आत्मा शब्द का प्रयोग होने से तदनुसार ही वैश्वानर शब्द का अर्थ करना चाहिए। ऐसी यदि आशङ्का हो तो भी जीवात्मा अर्थ वैश्वानर पद का मानना उचित होगा क्योंकि भोक्तारूप से वैश्वानर के सन्निहित जीव है, "**प्रादेशमात्रम्**" यह विशेषण भी उपाधि परिछिन्न जीव में सम्भव हो जाता है । अतः वैश्वानर पद का अर्थ ईश्वर करना ठीक नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहता है कि वैश्वानर परमेश्वर ही हो सकता है क्योंकि दो साधारण शब्द का विशेष प्रयोग इस स्थल पर देखा जाता है । आत्मा और वैश्वानर ये दोनों शब्द साधारण हैं, उनमें से वैश्वानर शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में सामान्य रूप से होता है और आत्म शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है । उन दोनों समान शब्दों का विशेष प्रयोग यहाँ देखा जाता है । जिससे वैश्वानर एवं आत्म-

१. आत्मानं वैश्वानरम् । २. परिणेय इति—अर्थत इति शेषः । जाठरभूताग्निदेवताभ्यः प्रच्याव्यात्मनि प्रयोक्तव्य इत्यर्थः । परिणेयः—जाठरादितः परिवर्त्य व्यावर्त्य नेयो लक्षणयाऽऽत्मपरो व्याख्येयः । ३. अत्रापि शब्दोऽध्याहार्यः साधारणशब्दयोरपि विशेषः साधारणशब्दविशेषस्तस्मादित्यर्थः । आत्मवैश्वानरशब्दयोः शारीरादौ जाठरादौ च साधारणयोरपि सतोः परमात्मपरत्वे एव विशेषोऽवगम्यते, तस्य ह वा इत्यादावुक्तद्यु-मूर्द्धत्वादेः सर्वात्मकपरत्वपरिग्रह एवोपपन्नतरत्वादिति यावत् । ४. जाठराग्निसामान्याग्नितद्देवतासु । ५. शारीरपरयोः । ६. विशेषेण । ७. आत्मवैश्वानरशब्दयोः । ८. प्राणा एवाग्नयस्तेषु हूयते यत्तत्प्राणाग्निहोत्रं तच्च तद्धोम तस्याधारत्वमित्यर्थः । ९. आत्मवैश्वानरेत्यभिधात्रीश्रुत्योः । १०. अकल्पितम् । ११. त्रैलोक्येति —मूर्द्धैव सुतेजा इत्यादि ।

(५६) 'स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादिः । अत्र हि परमेश्वर एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टोऽवस्थान्तरगतः प्रत्यगात्मत्वेनोपन्यस्त आध्यानायेति गम्यते, कारणत्वात् । कारणस्य हि सर्वाभिः कार्यगताभिरवस्थाभिरवस्थावत्त्वाद्द्युलोकाद्यवयवत्वमुपपद्यते । 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' इति च सर्वलोकाद्याश्रयं फलं श्रूयमाणं परमकारणपरिग्रहे सम्भवति । 'एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५-२४-३) इति च तद्विदः सर्वपाप्मप्रदाहश्रवणम् । 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति चात्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम इत्येवमेतानि ब्रह्मलिङ्गानि परमेश्वरमेव गमयन्ति । तस्मात्परमेश्वर एव वैश्वानरः ॥२४॥

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैव 'अग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा' इतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते—'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः । सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः ।' (म० भा० शा० ३७-६८) इति । तत्स्मर्यमाणं

इत्यत आह—अत्र हीति । अवस्थान्तरगतः त्रैलोक्यात्मना स्थित इत्यर्थः । जाठरस्यापि ध्यानार्थं विशेषकल्पनेति चेत्, न, असत्कल्पनापत्तेः । ईश्वरस्य तु उपादानत्वाद्विशेषः सन्नेव ध्यानार्थमुच्यतामित्याह—कारणत्वादिति । लिङ्गान्तराण्याह—स सर्वेष्वित्यादिना । यथाग्नौ विक्षिप्तमिषीकातूलं दह्यते, एवं हास्य विदुष इत्यर्थः ।२४॥

शब्द परमेश्वर परक माना गया है 'उस वैश्वानर आत्मा का द्युलोक शिर है' इत्यादि । यहाँ पर परमेश्वर ही त्रैलोक्य आत्मरूप से स्थित द्युमुर्धत्वादिविशिष्ट अन्तरात्मरूप से ध्यान के लिए वर्णित है । परमेश्वर सम्पूर्ण विश्व का कारण है । कारण ही कार्यगत सभी अवस्थाओं में अवस्थित रहता है । अतः द्युलोकादि परमेश्वर के अवयव युक्ति सिद्ध है । इसके अतिरिक्त 'वह सम्पूर्ण लोकों में, सम्पूर्ण शरीरों में और सम्पूर्ण जीवों में अन्न का भक्षण करता है ।' इस वाक्य में जो सम्पूर्ण लोकों का आश्रयरूप फल सुना गया है वह परम कारण परमेश्वर अर्थ स्वीकार करने पर ही सम्भव हो सकता है । 'इस प्रकार इस उपासक के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।' इस वाक्य में वैश्वानर के उपासक का सर्वपापप्रदाह सुना गया है । 'हमारी आत्मा क्या है और वह ब्रह्म क्या है' इस वाक्य में आत्मा एवं ब्रह्म शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में देखा गया है । ये सारे के सारे ब्रह्मलिङ्ग परमेश्वर अर्थ के ही बोधक है । अतः परमेश्वर ही वैश्वानर पद वाच्य है ॥२४॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति (ललिता)

इसलिए भी परमेश्वर ही वैश्वानर माना जायेगा क्योंकि 'जिसका मुख अग्नि है, शिर द्युलोक, नाभि आकाश है, चरण पृथ्वी है, सूर्य नेत्र है, दिशायें श्रोत्र हैं उस त्रैलोक्य आत्मा को नमस्कार है' इस स्मृति में कहा गया परमेश्वर का त्रैलोक्यात्मक स्वरूप अपनी मूलभूत श्रुति का

---

१. वैश्वानरपदस्य परमात्मपरत्वे स्मर्यमाणं स्मृत्युक्तं रूपमनुमानं स्यादनुमापकं लिङ्गं स्यादिति सूत्रार्थः ।

२. अवस्थान्तरमध्यात्ममधिदैवमित्येव रूपम् । ३. परमकारणपरिग्रह इति पूर्वेण सम्बन्धः । ४. परमकारणेत्यादिपूर्वेण सम्बन्धः ।

(५७) शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥२६॥

रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः । इतिशब्दो हेत्वर्थे । यस्मादिदं गमकं तस्मादपि वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः । यद्यपि स्तुतिरियं 'तस्मै लोकात्मने नमः' इति । स्तुतित्वमपि नासति मूलभूते वेदवाक्ये सम्यगीदृशेन रूपेण सम्भवति । 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे । दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता ॥' इत्येवंजातीयका च स्मृतिरिहोदाहर्तव्या ॥२५॥

[1]अत्राह—न परमेश्वरो वैश्वानरो भवितुमर्हति । कुतः ? शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च ।[2]शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमेश्वरे सम्भवति, अर्थान्तरे रूढत्वात् ।[3]तथाऽग्निशब्दः 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इति ।[4]आदिशब्दात् 'हृदयं गार्हपत्यः' (छा० ५-१८-२) इत्याद्य-

नन्वसदारोपेणापि स्तुतिसम्भवान्न मूलश्रुत्यपेक्षेत्याशङ्क्याह—यद्यपि स्तुतिरिति । **तथापीति पदमर्थतः पठति**—स्तुतित्वमपीति । **द्युमूर्धत्वादिरूपेण स्तुतिर्नरमात्रेण कर्तुमशक्या विना श्रुतिमित्यर्थः । सता रूपेण स्तुतिसम्भवान्नासदारोप इति भावः ॥२५॥**

शब्दादीनां गतिं वक्तुमुक्तसिद्धान्तमाक्षिप्य समाधत्ते—शब्दादिभ्य इति । **स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' (श० ब्रा० १०-६-१-११) इत्यग्निरहस्ये वैश्वानरविद्यायां श्रुतोऽग्निशब्द ईश्वरे न सम्भवतीत्यन्वयः । सूत्रस्थादिशब्दार्थमाह**—आदिशब्दादिति । **भक्तमन्नं, होमीयं होमसाधनं, तेन प्राणाग्निहोत्रं कार्य-**

अनुमान कराता है। अतः वैश्वानर शब्द परमेश्वर अर्थ का बोधक है। इस सम्बन्ध में यह स्मर्यमाण रूप अनुमान का काम करता है। सूत्र में आया हुआ **"इति"** शब्द हेत्वर्थक है अर्थात् जब स्मृति में कहा गया रूप परमेश्वर अर्थ का गमक है तो इससे भी वैश्वानर परमात्मा ही माना जायेगा। यह ठीक है कि **"तस्मै लोकात्मने नमः"** इस वाक्य द्वारा यद्यपि स्तुति की गयी है किन्तु स्तुति भी बिना मूलभूत वेदवाक्य के इस रूप से सम्भव नहीं हो सकेगी। यहाँ पर 'जिसकी मूर्धा द्युलोक है, नाभि आकाश है, चन्द्र-सूर्य नेत्र है, दिशायें श्रोत्र हैं और पृथ्वी पैर हैं' 'वह अचिन्त्यात्मा सम्पूर्ण भूतों का सर्वोपरि नेता है' ऐसी स्मृति भी उदाहरण रूप में यहाँ पर प्रस्तुत करना चाहिए ॥२५॥

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते (ललिता)

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि इस छान्दोग्य श्रुति में वैश्वानर पद का अर्थ परमेश्वर नहीं हो सकता क्योंकि शब्दादि हेतु और अन्तःप्रतिष्ठानरूप हेतु परमेश्वर अर्थ के बाधक हैं। इनमें वैश्वानर शब्द परमेश्वर अर्थ में नहीं घटता है, वह तो अर्थान्तर में रूढ़ है। वैसे ही अग्नि शब्द वैश्वानर शब्द के साथ प्रयुक्त हुआ है **"स एषोऽग्निर्वैश्वानरः"** इत्यादि अग्नि त्रेता का प्रकल्पक

१. स्तुतिरूपापि च। २. स्थिते उक्तसिद्धान्ते बाधाह। ३. ईश्वरविरोधीति शेष। ४. शब्दान्तरमाह—तथेति। ५. आदिशब्दोपात्तं लिङ्गमाहादीति। न च गार्हपत्यादिहृदयादिना ब्रह्मणः सम्बन्धिनी।

ग्निनत्रेताप्रकल्पनम् । "तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५-१६-१) इत्यादिना च प्राणाहुत्यधिकरणतासङ्कीर्तनम् । एतेभ्यो हेतुभ्यो जाठरो वैश्वानरः प्रत्येतव्यः । तथाऽन्तः-प्रतिष्ठानमपि श्रूयते–'पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' इति । तच्च जाठरे सम्भवति । यदप्युक्तं —'मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादेर्विशेषात्कारणात्परमात्मा वैश्वानर इति, अत्र ब्रूमः–कुतो ह्येष निर्णयः, यदुभयथापि विशेषप्रतिभाने सति परमेश्वरविषय एव विशेष आश्रयणीयो न जाठरविषय इति । अथवा भूताग्नेरन्तर्बहिश्चावतिष्ठमानस्यैष निर्देशो भविष्यति । तस्यापि हि द्युलोकादिसम्बन्धो मन्त्रवर्णादवगम्यते—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामा-ततान रोदसी अन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १०-८८-३) इत्यादौ । अथवा तच्छरीराया

मित्यर्थः । वाजसनेयिनामग्निरहस्ये सप्रपञ्चां वैश्वानरविद्यामुक्त्वा 'स यो हैतमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद स सर्वत्रान्नमत्ति' (श० ब्रा० १०-६-१-११) इत्युक्तं देहान्तःस्थत्वं जाठरे सम्भवति, प्रसिद्धेरित्याह—तथेति । अत्र सूत्रे आदिपदेनैवान्तःप्रतिष्ठानस्य ग्रहे सम्भवति पृथगुक्तिः "साधारणलिङ्गत्वद्योतनार्था । शब्दादिबलादि"दमपि जाठरं गमयतीत्यभ्युच्चयः । यद्यपि द्युमूर्धत्वादिविशेषईश्वरपक्षपाती होमाधारत्वादिर्जाठरपक्षपातीति प्रतिभानं समं,तथापि "पारमेश्वरो विशेषो जाठरे न सम्भवतीति बलवानित्यत आह—अथवेति । एष द्युमूर्धत्वादिनिर्देश इत्यर्थः । इमां पृथिवीं द्यामपि, ते एव द्यावापृथिव्यौ रोदसी, तयोर्मध्यमन्तरिक्षं च यो भूताग्निर्भानुरूपेणाततान व्याप्तवान्, स ध्यातव्य इत्यर्थः । जडमात्रस्य न ध्येयत्वमित्यत आह—अथवेति ।

है । वैसे ही 'प्राण उपासक को जब सर्वप्रथम भोजन के लिए भात परोसा जाय तो उस भात से प्राणाग्निहोत्र करना चाहिए' इत्यादि वाक्य द्वारा प्राणाहुति का अधिकरण भी वैश्वानर को कहा गया है । इन सभी हेतुओं से वैश्वानर शब्द का अर्थ जाठराग्नि ही मानना चाहिए । वैसे ही **"पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद"** इस वाक्य द्वारा अन्तःप्रतिष्ठान भी सुना जाता है जो जाठराग्नि में ही सम्भव है परमात्मा अर्थ में नहीं । और जो आपने कहा था कि 'द्युलोक शिर है' इत्यादि विशेष कारण से वैश्वानर का अर्थ परमात्मा करना चाहिए, इस पर हम कहते हैं कि जब वैश्वानर शब्द का प्रयोग विशेषतः दोनों ही अर्थ में होता है तो परमेश्वर विषयक ही वैश्वानर पद का अर्थ मानना चाहिए जाठर नहीं, यह कैसे माना जा सकेगा । इसमें एक और भी तर्क है, बाहर-भीतर सर्वत्र भूताग्नि विद्यमान है, उसी को निर्देश माना जायेगा कि भूलोकादि के साथ सम्बन्ध रखने के कारण उस भूताग्नि का भी मन्त्रवर्ण से बोध हो ही सकता है 'जो सूर्यरूप से पृथ्वी और द्युलोक में व्याप्त है और वही दोनों के मध्यवर्ती अन्तरिक्ष को भी व्याप्त कर रहा है ।' इत्यादि वाक्य में भूताग्नि को वैश्वानर कहा गया है । अथवा ऐसे शरीर वाले देवता के भी ऐश्वर्य-योग के कारण

१. लिङ्गान्तरमाह—तदिति । २. न च प्राणाहुत्यधिकरणता ब्रह्मणो युज्यते । ३. तथेति—यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो वैश्वानरो नेश्वरस्तथा वक्ष्यमाणहेतोरपीत्यर्थः । ४. वैश्वानरस्येति शेषः । ५. अन्तःप्रतिष्ठानत्वं च । ६. जाठर इति—न च सर्वव्यापिनो ब्रह्मणः सम्भवतीति भावः । ७. अनेकलिङ्गानुगृहीतानन्यथासिद्धवैश्वानराग्नि-श्रुतिभ्यामेकं लिङ्गं नेयमित्याहात्रेति । ८. ईश्वरजाठरयोरुभयोरपि । ९. भूलोकादीति पाठान्तरम् । १०. साधारणेति—अन्तःप्रतिष्ठानस्येश्वराग्निसाधारणत्वादिति भावः । ११. अन्तःप्रतिष्ठानत्वरूपं साधारणलिङ्गम-पीत्यर्थः । १२. परमेश्वरसम्बन्धीद्युमूर्द्धत्वादिविशेषः ।

देवताया ऐश्वर्ययोगाद्द्युलोकाद्यवयवत्वं भविष्यति। तस्मान्न परमेश्वरो वैश्वानर इति।

अत्रोच्यते—न, तथा दृष्टयुपदेशादिति। न शब्दादिभ्यः कारणेभ्यः परमेश्वरस्य प्रत्याख्यानं युक्तम्। कुतः? तथा जाठरापरित्यागेन दृष्टयुपदेशात्। परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यते, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३-१८-१) इत्यादिवत्। अथवा जाठरवैश्वानरोपाधिः परमेश्वर इह द्रष्टव्यत्वेनोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३-१४-२) इत्यादिवत्। यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत, केवल एव जाठरोऽग्निर्विवक्ष्येत, ततो 'मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादेर्विशेषस्यासम्भव एव स्यात्। यथा तु देवताभूताग्निव्यपाश्रयेणाप्ययं विशेष उपपादयितुं न शक्यते, तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः। यदि च केवल एव जाठरो विवक्ष्येत, पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं तस्य स्यान्न तु पुरुषत्वम्। पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' (श० ब्रा० १०-६-१-११) इति।

सिद्धान्तयति—न तथा दृष्टयुपदेशादितीति। **परमेश्वरदृष्टयोपास्यजाठराग्निप्रतीकवाचकाभ्यामग्निवैश्वानरशब्दाभ्यां द्युमूर्धत्वादिमानीश्वरो लक्ष्य इत्युक्त्वा** '**कल्पान्तरमाह**—अथवा जाठरेति। **अस्मिन्पक्षे प्राधान्येनेश्वरोपास्यता, पूर्वत्र गुणतयेति भेदः। उपाधिवाचिभ्यां पदाभ्यामुपहितो लक्ष्य इत्यर्थः।** लक्षणाबीजमसम्भवं **व्याचष्टे**—यदि चेति। **पुरुषमपीत्यादिसूत्रशेषं व्याचष्टे**—यदि च केवल इति। **ईश्वरप्रतीकत्वोपाधित्वशून्य इत्यर्थो विवक्ष्येत, तदेति शेषः। यत् यः, पुरुषः पूर्णः,**

द्युलोकादि अवयव सम्भव हो जाते हैं। अतः वैश्वानर पदवाच्य परमेश्वर नहीं है?

इस पर सिद्धान्ती कहता है कि आपका कहना ठीक नहीं है अर्थात् शब्दादि कारणों से परमेश्वर अर्थ का निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि वैश्वानर पद का अर्थ जाठराग्नि मान लें उसका परित्याग न करें तो भी उस दृष्टि से उपासना का निर्देश किया गया है अर्थात् जाठराग्नि में परमेश्वर दृष्टि करने का विधान इस स्थल पर किया गया है। जैसे '**मनो ब्रह्म**' इस वाक्य में मनरूप प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि करने का विधान है, वैसे ही जाठराग्नि में ब्रह्मदृष्टि करने का विधान उक्त श्रुतिवाक्य में किया गया है। अथवा जाठर रूप वैश्वानर उपाधि वाला परमेश्वर इस श्रुति में द्रष्टव्य रूप से उपदिष्ट है, जैसे 'मनोमय, प्राण, शरीर और प्रकाशस्वरूप परमात्मा चिन्तन के योग्य है' यदि यहाँ पर परमेश्वर अर्थ बतलाना अभीष्ट न हो और केवल जाठराग्नि अर्थ लेना ही इष्ट हो तो 'उस वैश्वानर का शिर द्युलोक है' इत्यादि विशेष का होना असम्भव हो जायेगा। वैसे ही वैश्वानर पद का अर्थ देवता या भूताग्नि भी नहीं लिया जा सकता, ऐसा हम अग्रिम सूत्र में बतलायेंगे।

यदि केवल जाठराग्नि ही वैश्वानर पद से बतलाना अभीष्ट हो तो उसे पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित कहना मात्र उचित होगा पुरुष कहना उचित नहीं होगा किन्तु वाजसनेय शाखावालों ने तो 'वह अग्नि वैश्वानर है जो पुरुष है और वैश्वानर पुरुषाकार अग्नि पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित है इसे

---

१. संपदुपासनामित्यर्थः।

(५८) अत एव न देवता भूतं च ॥२७॥

परमेश्वरस्य तु सर्वात्मत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं चोभयमुपपद्यते। ये तु 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रावयवं पठन्ति, तेषामेषोऽर्थः—केवलजाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं स्यान्न तु पुरुषविधत्वम् । पुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति । पुरुषविधत्वं च प्रकरणाद्यदधिदैवतं द्युमूर्धत्वादि पृथिवीप्रतिष्ठितत्वान्तं, यच्चाध्यात्मं प्रसिद्धं मूर्धत्वादिचुबुकप्रतिष्ठितत्वान्तं तत्परिगृह्यते ॥२६॥

यत्पुनरुक्तम्—भूताग्नेरपि 'मन्त्रवर्णे द्युलोकादिसम्बन्धदर्शनात् 'मूर्धैव सुतेजाः' इत्याद्यवयवकल्पनं तस्यैव भविष्यतीति,तच्छरीराया देवताया वैश्वर्ययोगादिति, तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—अत एवोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न देवता वैश्वानरः । तथाभूताग्निरपि न वैश्वानरः । न हि भूताग्नेरौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनोपपद्यते, विकारस्य विकारान्त-

---

स एवोऽग्निर्वैश्वानरशब्दितजाठरोपाधिक इति श्रुत्यर्थः । यो वेद स सर्वत्र भुङ्क्त इत्यर्थः । पुरुषत्वं पूर्णत्वमचेतनस्य जाठरस्य नेत्युक्त्वा पाठान्तरे पुरुषविधत्वं देहाकारत्वं तस्य नेत्याह—ये त्विति । ननु जाठरस्यापि देहव्यापित्वात्तद्विधत्वं स्यादित्यत आह—पुरुषविधत्वं च प्रकरणादिति । न देहव्यापित्वं पुरुषविधत्वं किन्तु विराड्देहाकारत्वं, अधिदैवं पुरुषविधत्वमध्यात्मं चोपासकमूर्धादिचुबुकान्तेष्वङ्गेषु सम्पन्नत्वमीश्वरस्य पुरुषविधत्वमित्यर्थः ॥२६॥

ईश्वरस्याङ्गेषु सम्पत्तिर्वक्ष्यते । एवं जाठरं निरस्य पक्षद्वयं निरस्यति—अत एवेति । सूत्रं व्याचष्टे—यत्पुनरित्यादिना । द्युमूर्धत्वादिः, सर्वलोकफलभाक्त्वं, सर्वपाप्मप्रदाहः, आत्मब्रह्मशब्दोपक्रम उक्तहेतवः । तानेव स्मारयति—न हि भूताग्नेरित्यादिना । 'यो भानुना' (ऋ० सं० १०-८८-३)

जो जानता है' इस वाक्य द्वारा उस वैश्वानर को पुरुष भी बतलाया है । सर्वात्मा होने के कारण परमेश्वर में तो पुरुषत्व और पुरुष के भीतर प्रतिष्ठितत्त्व यह दोनों ही विशेषण युक्तिसंगत हो जाते हैं । कुछ लोग इस सूत्र में आये हुए वाक्यांश को **"पुरुषविधमपि चैनमधीयते"** ऐसा पढ़ते हैं । उनके कथनानुसार यह अर्थ होगा कि केवल जाठराग्नि वैश्वानर शब्द का अर्थ मानो तो **'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वम्'** मात्र कहना उचित होगा पुरुषविधत्व कहना उचित नहीं होगा किन्तु वाजसनेय शाखावालों ने तो इस वैश्वानर को पुरुषविध(पुरुषाकार) भी कहा है **"पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद ।"** इसमें पुरुषविधत्व प्रकरणानुसार मानना पड़ेगा । जो अधिदैवत द्युमूर्धत्वादि पृथ्वी प्रतिष्ठितत्त्व पर्यन्त धर्म प्रसिद्ध है और जो मूर्धत्वादिचुबुक प्रतिष्ठितत्त्व पर्यन्त अध्यात्म प्रसिद्ध है, ये सबके सब वैश्वानर पद का अर्थ परमेश्वर मानने पर ही परिगृहित हो सकेंगे ॥२६॥

अत एव न देवता भूतं च (ललिता)

और जो आपने कहा था कि मन्त्रवर्ण में द्युलोकादि का सम्बन्ध भूताग्नि में भी देखा जाता है इसलिए **"मूर्धैव सुतेजाः"** इत्यादि की कल्पना भूताग्नि में भी हो जायेगी अथवा तच्छरीरधारी देवता में भी ऐश्वर्ययोग के बल से द्युलोकादि मूर्धा की कल्पना बन जायेगी। इस शङ्का का समाधान अब करना है जिसे अग्रिम सूत्र से करते हैं । जिन हेतुओं से जाठर में वैश्वानरत्व का प्रतिषेध किया गया

---

१. यो भानुनेति २३८ पृष्टोक्त इत्यर्थः । २. घटादेः पटाद्यात्मकत्वासम्भववदित्यर्थः ।

रात्मत्वासम्भवात् । तथा देवतायाः सत्यप्यैश्वर्ययोगे न द्युमूर्धत्वादिकल्पना सम्भवति । अकारणत्वात्परमेश्वराधीनैश्वर्यत्वाच्च । आत्मशब्दासम्भवश्च सर्वेष्वेषु पक्षेषु स्थित एव ॥२७॥

(५६) साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥२८॥

पूर्वं जाठराग्निप्रतीको जाठराग्न्युपाधिको वा परमेश्वर उपास्य इत्युक्तमन्तःप्रतिष्ठितत्वाद्यनुरोधेन । इदानीं तु विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरोपासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । ननु जाठराग्न्यपरिग्रहेऽन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं शब्दादीनि च कारणानि विरुध्येरन्निति । अत्रोच्यते—अन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं तावन्न विरुध्यते । न हीह 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति जाठराग्न्यभि-

---

इति मन्त्रेणेश्वरदृष्ट्या महिमोक्त इति भावः ॥२७॥

पूर्वमग्निवैश्वानरशब्दावीश्वरलक्षकावित्युक्तम् । अधुना प्रतीकोपाधिपरित्यागेन विराट्पुरुषाकारस्य भगवतो वैश्वानरस्याध्यात्मं मूर्धादिचुबुकान्तेषु सम्पाद्योपास्यत्वाङ्गीकारेऽपि न शब्दादिविरोधः, शब्दयोरीश्वरे योगवृत्या मुख्यत्वात्, अन्तःस्थत्वादीनां च तत्र सम्भवादित्याह—साक्षादपीति । साक्षात्पदस्यार्थमाह—विनैवेति । जाठराग्निसम्बन्धं विनेश्वरस्योपास्यत्वेऽपि शब्दाद्यविरोधं जैमिनिर्मन्यत इत्यर्थः । इदमन्तःस्थत्वमुदरस्थत्वरूपं नोच्यते, किन्तु नखादिशिखान्तावयवसमुदायात्मकपुरुषशरीरे मूर्धादिचुबुकान्ताङ्गानि वृक्षे शाखावत्प्रतिष्ठितानि, तेषु सम्पन्नो वैश्वानरः पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठित इत्युच्यते । अतो यथा शाखास्थस्य पक्षिणो वृक्षान्तःस्थत्वं, तथा वैश्वानरस्य पुरुषान्तःस्थत्वमित्याह—न हीह पुरुषविधमित्यादिना । अग्न्यादिशब्दस्येश्वर'वाचित्वाज्जाठराग्नेर-

---

उन्हीं हेतुओं से वैश्वानर न देवता है और न भूताग्नि ही है क्योंकि औष्ण्यप्रकाशमात्र रूप भूताग्नि में द्युमूर्धत्वादि की कल्पना युक्ति संगत नहीं है। जिस प्रकार द्युलोक ब्रह्म का विकार है वैसे ही भूताग्नि भी ब्रह्म का विकार है, विकार में अन्य विकाररूपत्व सम्भव नहीं है वैसे ही देवता में ऐश्वर्य का योग रहने पर भी उसका शिर द्युलोक नहीं कहा जा सकता क्योंकि द्युलोक का कारण देवता नहीं है। साथ ही साथ देवता का ऐश्वर्य परमेश्वराधीन भी है, अतः देवता निःसीम ऐश्वयवाला नहीं है। जाठर, भूताग्नि और देवता इन सभी पक्षों में आत्मशब्द का प्रयोग सम्भव नहीं होता ॥२७॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः (ललिता)

पहले जाठराग्नि प्रतीकवाला और जाठराग्नि उपाधिवाला परमेश्वर अन्तःप्रतिष्ठत्वादि गुणों के अनुरोध से उपास्य कहा गया था, किन्तु अब प्रतीक एवं उपाधि कल्पना के बिना ही साक्षात् भी परमेश्वर उपासना मानने में कोई विरोध नहीं है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। शङ्का—जाठराग्नि पक्ष स्वीकार न करने पर अन्तःप्रतिष्ठितत्व कथन और शब्दादि कारण साक्षात् परमेश्वर उपासना पक्ष में विरुद्ध होने लग जायेंगे। समाधान—अन्तःप्रतिष्ठितत्व वचन विरुद्ध नहीं है क्योंकि यहाँ पर 'पुरुषाकार पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित की उपासना करे' यह वचन जाठराग्नि अभिप्राय से नहीं कहा गया है क्योंकि जाठराग्नि का प्रसङ्ग नहीं है और न उस अर्थ का वाचक कोई शब्द ही है।

---

१. वादित्वादित्यपि पाठः।

प्रायेणेदमुच्यते। तस्याप्रकृतत्वादसंशब्दितत्वाच्च। कथं तर्हि ? यत्प्रकृतं मूर्धादिचुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं कल्पितं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। यथा वृक्षे शाखां प्रतिष्ठितां पश्यतीति तद्वत्। अथवा यः प्रकृतः 'परमात्मा-ध्यात्ममधिदैवतं च पुरुषविधत्वोपाधिस्तस्य यत्केवलं साक्षिरूपं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। निश्चिते च पूर्वापरालोचनवशेन परमात्मपरिग्रहे तद्विषय एव वैश्वानरशब्दः केनचिद्योगेन वर्तिष्यते। विश्वश्चायं नरश्चेति, 'विश्वेषां वायं नरः, 'विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा, 'सर्वात्मत्वात्। विश्वानर एव वैश्वानरः, तद्धितोऽनन्यार्थः, राक्षसवायसादिवत्। अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयणेन परमात्म-

संशब्दितत्वम्। अत्रेश्वरस्य पुरुषावयवेषु सम्पादनात्पुरुषविधत्वमन्तःस्थत्वं चेत्यर्थः। 'पक्षान्तरमाह—अथवेति। पुरुषविधत्वं 'पूर्ववत्। अन्तःस्थत्वं माध्यस्थ्यं साक्षित्वमित्यर्थः। एवमन्तःस्थत्वमीश्वरे व्याख्याय शब्दादीनि व्याचष्टे—निश्चिते चेति। विश्वश्चायं नरो जीवश्च सर्वात्मत्वात्। विश्वेषां विकाराणां वा नरः कर्ता। विश्वे सर्वे नरा जीवा अस्यात्मत्वेन नियम्यत्वेन वा सन्तीति विश्वानरः। रक्ष एव राक्षस इतिवत्स्वार्थे तद्धितप्रत्ययः। 'नरे संज्ञायाम्' (पा० ६-३-१२९) इति पूर्वपदस्य दीर्घता। अगिधातोर्गत्यर्थस्य निप्रत्ययान्तस्य रूपमग्निरिति। अङ्गयति गमयत्यग्रं कर्मणः फलं प्रापयतीति अग्निरग्रणीरुक्तः। 'अभितो गत इति वा अग्निः। वैश्वानरोपासकस्यातिथि-

शङ्का—तब मूर्धा से लेकर चुबुकपर्यन्त पुरुषावयवयों में पुरुषविधत्व की कल्पना कैसे की गयी है ? 'पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित पुरुषाकार को जो जानता है' यह पुरुषविधत्व कल्पना तो अप्रासंगिक नहीं मानी जायेगी। समाधान—जैसे वृक्ष में प्रतिष्ठित शाखा को देखता है जो शाखा और वृक्ष में आधार-आधेयभाव नहीं है, फिर भी ऐसा व्यवहार होता है वैसे ही पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित पुरुषाकार पदार्थ भिन्न न होने पर भी औपचारिक भेद की कल्पना कर ऐसा कहा गया है अथवा जो प्रसंगागत परमात्मा है उसी की उपाधि पुरुषविधत्व आध्यात्मिक और अधिदैवत रूप है। उसका अपना रूप केवल साक्षीमात्र है, वश इसी अभिप्राय से **"पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद"** यह वचन कहा गया है। पूर्वापर की आलोचना से जब परमात्मा अर्थ का परिग्रह निश्चित हो चुका तब तद्विषयक ही वैश्वानर शब्द किसी सम्बन्ध के कारण प्रयुक्त हो जायेगा। **'विश्वश्चायं नरश्च'** ऐसा कर्मधारय समास मानिये अथवा **'विश्वेषां नरः'** ऐसा षष्ठी समास मानिये या **'विश्वे नरा अस्य'** ऐसा बहुव्रीहि समास मानिये। विश्वानर तो सर्वात्मा होने से परमात्मा ही है। विश्वानर शब्द से जब राक्षस और वायस की भाँति स्वार्थ में तद्धित अण् प्रत्यय होता है तब वैश्वानर शब्द बन जाता है। नर शब्द परे रहते विश्व शब्द को **'नरे संज्ञायाम्'** सूत्र से दीर्घ हो गया है। इस प्रकार विश्वानर ही वैश्वानर है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर वैश्वानर शब्द का अर्थ परमात्मा ही होता है।

१. परमात्मेति—अस्य तस्य यदित्युत्तरेण सम्बन्धः, साक्षिरूपस्य पुरुषविधत्वं किं निमित्तकमित्यपेक्षायामाहा-ध्यात्ममित्यादि। अध्यात्मं मूर्द्धादिचिबुकान्तम्, अधिदैवं मूर्द्धैव, सुतेजा इत्यादिरूपं पुरुषविधत्वमुपाधिर्यस्य स तथा। २. सर्वात्मत्वात्। ३. सर्वकारणत्वात्। ४. सर्वेश्वरत्वात्। ५. सर्वात्मत्व सर्वकारणत्वसर्वेश्वरत्वोपलक्षणम्। ६. अन्तःप्रतिष्ठितत्वेन माध्यस्थ्येन साक्षीव लक्ष्यत इति पक्षान्तरमित्यर्थः। ७. पूर्ववदिति—पुरुषावयवे संपादनादित्यर्थः। ८ आदिशब्दार्थमाह—अभित इति।

(६०) अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

(६१) अनुस्मृतेर्बादरिः ॥३०॥

विषय एव भविष्यति। गार्हपत्यादिकल्पनं प्राणाहुत्यधिकरणत्वं च परमात्मनोऽपि सर्वात्मत्वादुपपद्यते ॥ २८॥

कथं पुनः परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रश्रुतिरुपपद्यत इति तां व्याख्यातुमारभते—

अतिमात्रस्यापि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात्। अभिव्यज्यते [1]किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते। [2]प्रदेशेषु वा हृदयादिषूपलब्धि-स्थानेषु विशेषेणाभिव्यज्यते। [3]अतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभिव्यक्तेरुपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥२९॥

प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठेन [4]वायं मनसाऽनुस्मर्यते तेन प्रादेशमात्र इत्युच्यते। [5]यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था इत्युच्यन्ते तद्वत्। [6]यद्यपि च यवेषु स्वगतमेव परिमाणं प्रस्थसम्बन्धाद्व्यज्यते। नचेह परमेश्वरगतं किञ्चित्परिमाणमस्ति यद्धृदयसम्बन्धाद्व्यज्यते। तथापि प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेः सम्भवति यथाकथञ्चिदनुस्मरणमालम्बनमित्युच्यते। प्रादेश-

---

भोजनात्पूर्वं प्राणाग्निहोत्रं विद्याङ्गत्वेन विहितं, तदर्थमग्नित्रेतादिकल्पनं [7]प्रधानाविरोधेन नेतव्य-मित्याह—गार्हपत्येति ॥२८॥

मात्रां परिमाणमतिक्रान्तोऽतिमात्रः तस्य विभोरित्यर्थः। उपासकानां कृतेऽनुग्रहाय प्रादेशमात्रोऽभिव्यज्यते, प्रदेशेषु वा मीयतेऽभिव्यज्यत इति प्रादेशमात्रः ॥२९॥

मतान्तरमाह—अनुस्मृतेरिति। प्रादेशेन मनसा मितः प्रादेशमात्र इत्यर्थः। यथाकथञ्चिदिति।

"अग्रे नयति इति अग्निः" इस रीति से अग्रिणत्वादि सम्बन्ध का आश्रय करने पर अग्नि शब्द भी परमात्मविषयक ही हो जायेगा। सर्वात्मा होने के कारण उस परमेश्वर में गार्हपत्यादि की कल्पना और प्राणाहुति की अधिकरणता की कल्पना भी युक्तियुक्त घट जाती है ॥२८॥

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः (ललिता)

वैश्वानर शब्द का परमेश्वर अर्थ स्वीकार कर लेने पर प्रादेशमात्र श्रुति कैसे युक्ति संगत हो सकेगी? इसको व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। परमात्मा ने परिमाण को अतिक्रमण कर रखा है क्योंकि वह निरवयव है इसीलिए उसे अतिमात्र कहते हैं। उस परिमाणातीत परमेश्वर में भी प्रादेशमात्रत्व कथन अभिव्यक्तिनिमित्त को लेकर होता है। उपासकों के ऊपर अनुग्रह के लिए परमेश्वर प्रादेसमात्र रूप में अभिव्यक्त होता है। परमेश्वर के उपलब्धि स्थान हृदयादि परिच्छिन्न प्रदेश है, उन्हीं प्रदेशों में विशेष रूप से परमात्मा अभिव्यक्त होता है। अतः प्रादेशमात्र श्रुति परमेश्वर में भी अभिव्यक्ति को लेकर घट जाती है ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥२९॥

---

१. स्वाभाविकाणिमाद्यैश्वर्यख्यापनार्थं महतोऽपीश्वरस्योपासकान्प्रति सूक्ष्मत्वेन व्यक्तिरिति द्योतयति—किलेति। २. नियमेन प्रादेशमात्रतया व्यक्तौ हेत्वभावान्नेयं व्याख्येत्याशङ्क्याह—प्रदेशेष्विति। ३. अभिव्यक्तिफलमाह—अत इति। ४. पूर्वेण विकल्पार्थो वा शब्दः (अ. १ पा. २ सू. ३०)। ५. अभिव्यञ्जकस्थं परिमाणमभि-व्यज्य भातीत्येतद्दृष्टान्तेनाह—यथेति। ६. वैषम्यमाशङ्क्य निरस्यति—यद्यपीति। ७. उपासना।

(६२) सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥३१॥

मात्रत्वेन वायमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्रश्रुत्यर्थवत्तायै। एवमनुस्मृतिनिमित्ता परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिरिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥३०॥

सम्पत्तिनिमित्ता वा स्यात्प्रादेशमात्रश्रुतिः। [1]कुतः? [2]तथाहि—समानप्रकरणं वाजसनेयिब्राह्मणं द्युप्रभृतीन्पृथिवीपर्यन्तांस्त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवानध्यात्ममूर्धप्रभृतिषु चुबुकपर्यन्तेषु देहावयवेषु सम्पादयत्प्रादेशमात्रसम्पत्तिं परमेश्वरस्य दर्शयति—'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा नु व एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवा-

---

मनःस्थं प्रादेशमात्रत्वं स्मृतिद्वारा स्मर्यमाणे कल्पितं श्रुतेरालम्बनमित्यर्थः। सूत्रस्यार्थान्तरमाह—प्रादेशेति ॥३०॥

[3]**सम्प्रति श्रुत्युक्तां प्रादेशमात्रश्रुतेर्गतिमाह—**सम्पत्तेरिति। **ब्राह्मणं पठति—**प्रादेशमात्रमिवेति। **अपरिच्छिन्नमपीश्वरं प्रादेशमात्रत्वेन [4]सम्पत्त्या कल्पितं सम्यग्विदितवन्तो देवास्तमेवेश्वरमभि प्रत्यक्त्वेन सम्पन्नाः प्राप्तवन्तः, ह वै पूर्वकाले, ततो वो युष्मभ्यं, तथा द्युप्रभृतीनवयवान्वक्ष्यामि, यथा प्रादेशमात्रं प्रादेशपरिमाणमनतिक्रम्य मूर्धाद्यध्यात्माङ्गेषु वैश्वानरं सम्पादयिष्यामीति प्राचीनशालादीन्प्रति राजा प्रतिज्ञाय स्वकीयमूर्धानमुपदिशन् करेण दर्शयन्नुवाच—एष वै मे मूर्धा भूरादी-**

अनुस्मृतेर्बादरिः (ललिता)

अथवा हृदय परिछिन्न प्रदेशवाला है उसमें मन प्रतिष्ठित है, उस मन से परमेश्वर का स्मरण होता है इसीलिए परमेश्वर प्रादेशमात्र कहा गया है। जिस प्रकार प्रस्थ परिमाण से मापे हुए यवादि अन्न को प्रस्थ कहते हैं ठीक उसी प्रकार प्रादेशमात्र हृदय में प्रतिष्ठित मन से परमेश्वर का स्मरण होता है इसीलिए उसे प्रादेशमात्र कहा है। यद्यपि यवादि अन्न में भी अपना परिमाण होता है वही परिमाण प्रस्थरूप माप के सम्बन्ध से अभिव्यक्त होता है। किन्तु दार्ष्टान्त में परमेश्वर का कोई परिमाण नहीं है जो हृदय सम्बन्ध के कारण अभिव्यक्त हो सके? फिर भी प्रादेशमात्र श्रुति जो प्रयुक्त हुई है उससे यथाकथंचित् अनुस्मरण रूप आलम्बन को लेकर उक्त श्रुति की संगति बन जायेगी। अथवा प्रादेशमात्र श्रुति की सार्थकता के लिये परिमाण शून्य परमेश्वर का अनुस्मरण प्रादेशमात्र में करना चाहिए। इस प्रकार अनुस्मृति निमित्त को लेकर परमेश्वर में प्रादेशमात्र श्रुति सुसंगत हो जाती है। ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं ॥३०॥

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति (ललिता)

अथवा सम्पत्ति निमित्त को लेकर प्रादेशमात्र श्रुति कही गयी है। समान प्रकरण को सम्पत्ति कहते हैं क्योंकि ऐसा ही प्रकरण वाजसनेय ब्राह्मण में भी मिलता है। वह समान प्रकरण वाजसनेय ब्राह्मण द्युलोक से लेकर पृथ्वी पर्यन्त त्रैलोकात्मक वैश्वानर के अवयवों को अध्यात्म मूर्धादि चुबुकपर्यन्त देहावयव में सम्पादन बतलाता हुआ परमेश्वर में प्रादेशमात्र सम्पत्ति कहता है। 'निःसन्देह, प्रादेशमात्र के जैसे परमात्मतत्त्व को देवताओं ने देखा और वे उसके साथ अभिसम्पन्न

---

१. संपत्तिरत्र न श्रुतेति पृच्छति—कुत इति। २. उत्तरमाह—तथाहीति। ३. प्रादेशमात्रश्रुतेर्विषयं कथञ्चिदुक्त्वा साक्षादेव श्रुत्युक्तं विषयमाहेत्यभिप्रेत्य सूत्रान्तरमवतारयति—संप्रतीति। ४. सम्पादनेन।

भिसम्पादयिष्यामीति स होवाच, मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति। नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति। मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति। मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति। चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति'। चुबुकमित्यधरं मुखफलकमुच्यते। यद्यपि वाजसनेयके द्यौरतिष्ठात्वगुणा समाम्नायत आदित्यश्च सुतेजस्त्वगुणः। छान्दोग्ये पुनर्द्यौः सुतेजस्त्वगुणा समाम्नायत आदित्यश्च विश्वरूपत्वगुणः। तथापि नैतावता विशेषेण किञ्चिद्धीयते, प्रादेशमात्रश्रुतेरविशेषात्, [1]सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च। सम्पत्तिनिमित्तां प्रादेशमात्रश्रुतिं युक्ततरां जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥३१॥

ल्लोकानतीत्य उपरि तिष्ठतीत्यतिष्ठाऽसौ द्युलोको वैश्वानरः। तस्य मूर्धेति यावत्। अध्यात्ममूर्धाभेदेनाधिदैवमूर्धा सम्पाद्य ध्येय इत्यर्थः। एवं चक्षुरादिषूहनीयम्। स्वकीयचक्षुषी दर्शयन् 'एष वै सुतेजाः सूर्यो वैश्वानरस्य चक्षुरित्युवाच'। नासिकापदेन तन्निष्ठः प्राणो लक्ष्यते, तस्मिन्नाध्यात्मिकप्राणेऽधिदैवप्राणस्य वायोर्दृष्टिमाह—नासिक इति। अत्र सर्वत्र वैश्वानरशब्दस्तदङ्गपरः। मुखस्थं मुख्यं तस्मिन्नधिदैवं बहुलाकाशदृष्टिः, मुखस्थलालारूपास्वप्सु रयिशब्दिततदीयबस्तिस्थोदकदृष्टिः, चुबुके प्रतिष्ठा पादरूपा पृथिवी द्रष्टव्या। ननु गुणवैषम्येण विद्ययोर्भेदादग्निरहस्ये श्रुत्यनुसारेण छान्दोग्यस्यप्रादेशमात्रश्रुतिः कथं व्याख्येयेत्याशङ्क्याह—यद्यपीत्यादिना। एतावताल्पवैषम्येण बहुतरप्रत्यभिज्ञासिद्धं विद्यैक्यं न हीयते। शाखाभेदेऽपि सर्वशाखासु प्रतीयमानं वैश्वानराद्युपासनमेकमिति न्यायस्य [2]वक्ष्यमाणत्वाच्च। अतिष्ठात्वगुणश्छान्दोग्य [3]उपसंहर्तव्यः। विश्वरूपत्वगुणश्च

हो गये, उन्हीं को मैं बतलाऊँगा। जैसे प्रादेशमात्र परमेश्वर का अभिसम्पादन मैं करूँगा' ऐसा उस ऋषि ने कहा प्राचीनशालादि ब्रह्मर्षियों के प्रति अश्वपति कैकेय ने प्रतिज्ञा कर अपने ही शिर को उपदेश करते हुए हाथ से संकेत करके कहा कि 'निःसन्देह यह अतिष्ठा वैश्वानर है और नेत्रों का उपदेश करते हुए कहा कि यह सुतेजा वैश्वानर है। हाथ से नासिका का स्पर्श करते हुए कहा कि यह पृथक्-पृथक् मार्ग से चलने वाला पवनरूप वैश्वानर है' मुख के भीतर आकाश का उपदेश करते हुए कहा कि यह आकाशरूप वैश्वानर है। मुख के भीतर लालरूप जल का उपदेश करते हुए कहा कि यह अन्न के कारण रयिरूप वैश्वानर है, चुबुक का उपदेश करते हुए कहा कि यह प्रतिष्ठारूप वैश्वानर है। मुख के नीचे वाले फलक को चुबुक कहते हैं। यद्यपि बृहदारण्यक में द्युलोक को अतिष्ठात्व गुणवाला कहा गया है और आदित्य को सुतेजस्त्वरूप गुणवाला कहा गया है। छान्दोग्य में द्युलोक को सुतेजस्त्व गुणवाला और आदित्य को विश्वरूपत्व गुणवाला कहा गया है। फिर भी इतना भेद से उपासना की एकता में कोई क्षति नहीं आती है क्योंकि प्रादेशमात्र श्रुति तो दोनों में एक जैसी है और सभी शाखाओं में कही गयी उपासना सर्वशाखाप्रत्यत्वन्याय से एक मानी जाती है। अतः प्रादेशमात्र श्रुति सम्पत्ति निमित्त को लेकर युक्तियुक्त सिद्ध हो जाती है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं ॥३१॥

१. तथापि प्रकरणभेदाद्विद्याभेद इत्याशङ्क्याह—सर्वेति। २. वक्ष्यमाणत्वादिति—गुणोपसंहाराधिकारे सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषादित्यादिनेत्यर्थः (ब्र. सू. ३-३-१)। ३. गुणोपसंहारन्यायेनेति भावः।

(६३) आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन्मूर्धचुबुकान्तराले जाबालाः—'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति । सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति' । तत्र चेमामेव नासिकां वरणा नासीति निरुच्य या सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयतीति सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति सा नासीति । पुनरामनन्ति—'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्युलोकस्य परस्य च सन्धिर्भवति' (जाबा० १) इति । तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः । 'अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया । प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिरभिविमीयत इत्यभिविमानः । अभिगतो वायं प्रत्यगात्म-

---

वाजिभिर्ग्राह्यः । तथाच द्युसूर्ययोः सुतेजस्त्वं 'सममतिष्ठात्वविश्वरूपत्वयो'र्व्यवस्था । यद्वा शाखाभेदेन गुणव्यवस्थाऽस्तु न विद्याभेद इति भावः ॥३१॥

प्रादेशत्वस्य सम्पत्तिप्रयुक्तत्वे श्रुत्यन्तरं संवादयति—आमनन्तीति । य एषोऽनन्तोऽपरिच्छिन्नः अतोऽव्यक्तो दुर्विज्ञेयस्तं कथं जानीयामित्यत्रेः प्रश्ने याज्ञवल्क्यस्योत्तरम्—स ईश्वरोऽविमुक्ते कामादिभिर्बद्धे जीवे भेदकल्पनया प्रतिष्ठित उपास्यः । पुनरत्रिप्रश्नः—स इति, उत्तरम्—वरणायामिति । एवं प्रश्नोत्तरे अग्रेऽपि ज्ञेये । तत्र च श्रुतौ इमामेव भ्रूसहितां नासिकां 'निरुच्येति भाष्ययोजना । सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति वरणा भ्रूः, सर्वान्दोषान्नाशयतीति नासी नासिकेति निर्वचनं श्रुतम् । नासाभ्रुवोर्जीवद्वारेश्वरस्थानत्वध्यानात्पापवारकत्वमिति मन्तव्यम् । 'तयोर्मध्येऽपि विशिष्य जीवस्य स्थानं पृच्छति कतमदिति, भ्रुवोरित्युत्तरम् । प्राणस्येति पाठेऽपि घ्राणस्येत्यर्थः । स एष सन्धिर्द्युलोकस्य स्वर्गस्य परस्य च ब्रह्मलोकस्य सन्धित्वेन ध्येय इत्याह—स एष इति । आभिमुख्येनाहं ब्रह्मेति विमीयते ज्ञायते इत्यभिविमानः प्रत्यगात्मा । अभिगतश्चासौ विमानश्च, सर्वस्वरूपत्वे

आमनन्ति चैनमस्मिन् (ललिता)

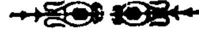
मूर्धा और चुबुक के मध्य में जाबाल शाखावाले इस परमेश्वर को कहते भी हैं । 'जो यह अनन्त अव्यक्त आत्मा है वह अविमुक्त स्थान में प्रतिष्ठित है । वह अविमुक्त स्थान किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि वरणा और नासि के मध्य में प्रतिष्ठित है । वरणा क्या है और नासि क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि श्रुति में भौंहों के सहित नासिका का निर्वचन वरणा नासिका पद से किया गया है । सभी इन्द्रियों द्वारा किये गये पाप को वह परमेश्वर वारण करता है इसलिए उसे वरणा कहते हैं तथा सभी इन्द्रियों द्वारा किये गये पाप का नाश करता है इसीलिए उसे नासि कहते हैं । इसका स्थान कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि भ्रू और घ्राण की सन्धि ही इसका स्थान है, वही द्युलोक और परमेश्वर की सन्धि भी है । अतः परमेश्वर में प्रादेशमात्र श्रुति उपपन्न हो जाती है । वैसे ही अभिविमान श्रुति आभिमुख्येन "अहं-

---

१. निरुच्येत्यस्य पुनरामनन्तीति वक्ष्यमाणेनान्वयः । २. निर्वचनं स्वयमेवाह श्रुतिः—सर्वाणीत्यादिना । ३. नासिका । ४. यस्त्वेतमेवमित्याद्योपक्रमे विषयवाक्यतयोपन्यस्ता सेत्यर्थः । ५. सममिति—शाखाभेदेन द्युसूर्योभयवृत्तीत्यर्थः । ६. व्यवस्थेति—शाखाद्वयेऽपि अतिष्ठात्वं द्युमात्रवृत्तिविश्वरूपत्वं सूर्यमात्रवृत्तीति व्यवस्थेत्यर्थः । ७. निश्चयेनोक्ता । ८. नासाभ्रुवोः ।

त्वाद्विमानश्च मानवियोगादित्यभिविमानः । अभिविमिमीते वा सर्वं जगत्कारणत्वादित्यभिविमानः । तस्मात्परमेश्वरो वैश्वानर इति सिद्धम् ।।३२।।

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।२।।



सत्यानन्त्यात् । मानमत्र परिमाणम् । अभिविमिमीते निर्मिमीते । तस्माद्वैश्वानरवाक्यमुपास्ये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ।।३२।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।२।।



ब्रह्मास्मि" इस रूप में जाना जाता है इसीलिए परमात्मा अभिविमान कहा जाता है । वह प्रत्यगात्मा होने के कारण सभी प्राणियों के द्वारा अच्छी प्रकार मापा हुआ है । विमान का अर्थ मानवियोग भी होता है अर्थात् जिसमें प्रमाण की गति नहीं है उसे विमान कहते हैं । वह सम्पूर्ण जगत् का कारण होने से सभी ओर से सबको माप रखा है पर उसे कोई दूसरा माप नहीं सकता । अतः परमेश्वर ही वैश्वानर शब्द का अर्थ है यह सिद्ध हुआ । इस प्रकार उपास्य ब्रह्म में वैश्वानर वाक्य समन्वित हो गया ।।३२।।

प्रथमाध्याय द्वितीय पाद समाप्तः

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य प्रथमाध्याय द्वितीय पाद की
श्री कैलास पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज
द्वारा रचित ललिता व्याख्या
सम्पूर्ण हुई ।



प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

१. द्युभ्वाद्यधिकरणम् (सू० १-७)

(६४) द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१॥

सूत्रं प्रधानं भोक्तेशो द्युभ्वाद्यायतनं भवेत् । श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभ्यां भोक्तृत्वाच्चेश्वरेतरः ।
नाद्यौ पक्षावात्मशब्दाच्च भोक्ता मुक्तगम्यतः । ब्रह्मप्रकरणादीशः सर्वज्ञत्वादितस्तथा ॥

इदं श्रूयते—'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं

द्युभ्वोतभूमपदमक्षरमीक्षणीयं श्रीराममल्पहृदि भान्तमधीशितारम् ।
इन्द्रादिवेद्यमखिलस्य च शासितारं ज्योतिर्नभःपदमनिद्रमजं भजेऽहम् ॥

एवं रूढिपदबहुलानां प्रायेण सविशेषवाक्यानां समन्वयो द्वितीयपादे दर्शितः । अधुना यौगिकपदबहुलानां निर्विशेषप्रधानानां वाक्यानां समन्वयं वक्तुं तृतीयः पाद आरभ्यते । 'अतोऽत्राधिकरणानां

प्रथम अध्याय तृतीय पाद

इस तृतीय पाद में ज्ञेयब्रह्मविषयक अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग वाली श्रुतियों का विचार किया गया है।

१. द्युभ्वाद्यधिकरण

१. संगति—पिछले अधिकरण में त्रैलोक्य आत्मा वैश्वानर परमात्मा कहा गया था, तब तो तीनों लोकों का आयतनतत्त्व परमात्मा से कोई भिन्न ही होगा, ऐसा आक्षेप होने पर उसका समाधान देने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ होता है। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इसकी आक्षेप संगति है।

२. विषय—**"यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः"** (मु० २।२।५)। यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. संशय—द्युलोकादि का आयतन प्रधान है, जीव है अथवा परमात्मा है? ऐसा संशय होता है।

४. पूर्वपक्ष—स्मृति प्रसिद्ध प्रधान जगत् का कारण होने से सबका आयतन कहा गया है, अथवा भोक्ता होने से भोग्यप्रपञ्च का आयतन जीव को मानना चाहिए।

५. सिद्धान्त—द्युलोक, भूलोक आदि का आयतन परमात्मा ही हो सकता है, प्रधान या जीव नहीं हो सकते क्योंकि उसके लिए आत्मशब्द का प्रयोग है। मुक्तपुरुषों का गन्तव्य प्रधान या जीव नहीं हो सकता। साथ ही ब्रह्म का प्रकरण चल रहा है जिसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान माना है। अतः द्युलोकादि का आयतन परमात्मा ही है, अन्य नहीं।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् (ललिता)

इस प्रकार रूढ़िपदबहुल प्रायशः सविशेष ब्रह्मबोधक श्रुतिवाक्यों का समन्वय द्वितीय पाद में दिखलाया गया। अब यौगिकपदबहुल प्रधान रूप से निर्विशेष ब्रह्मबोधक श्रुतिवाक्यों का समन्वय

---

१. अत्र पादे निर्विशेषप्रधानवाक्यसमन्वयाद्धेतोः ।

जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' (मु० २-२-५) इति । अत्र यदेतद्द्यु्प्रभृतीनामोतत्ववचनादायतनं किञ्चिदवगम्यते, तत्किं परं ब्रह्म स्यादाहोस्विद'र्थान्तरमिति संदिह्यते । तत्रार्थान्तरं किमप्यायतनं स्यादिति प्राप्तम् । कस्मात् ? 'अमृतस्यैष सेतुः' इति श्रवणात् । 'पारवान्हि लोके सेतुः प्रख्यातः । नच परस्य ब्रह्मणः पारवत्त्वं शक्यमभ्युपगन्तुं, 'अनन्तमपारम्' (बृ० २-४-१२) इति श्रवणात् । अर्थान्तरे चायतने परिगृह्यमाणे 'स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानं परिग्रहीतव्यं, तस्य कारणत्वादायतनत्वोपपत्तेः ।

श्रुत्यध्यायपादसङ्गतयः । तत्र पूर्वमुपक्रमस्थ'साधारणशब्दस्य वाक्यशेषस्थद्युमूर्धत्वादिना ब्रह्मपरत्वमुक्तं, तद्वदत्राप्युपक्रमस्थसाधारणा'यतनत्वस्य वाक्यशेषस्थसेतुश्रुत्या वस्तुतः परिच्छिन्ने प्रधानादौ व्यवस्थेति दृष्टान्तलक्षणाधिकरणसङ्गतिः । पूर्वपक्षे प्रधानाद्युपास्तिः, सिद्धान्ते निर्विशेषब्रह्मधीरिति फलम् । मुण्डकवाक्यमुदाहरति—इदमिति । यस्मिन् लोकत्रयात्मा विराट्, प्राणैः सर्वैः सह मनः सूत्रात्मकं, चकारादव्याकृतं कारणमोतं कल्पितं 'तदपवादेन तमेवाधिष्ठानात्मानं प्रत्यगभिन्नं जानथ श्रवणादिना । अन्या अनात्मवाचो विमुञ्चथ विशेषेण निःशेषं त्यजथ । एष वाग्विमोकपूर्वकात्मसाक्षात्कारोऽमृतस्य मोक्षस्यासारापारदुर्वारसंसारवारिधेः परपारस्य सेतुरिव सेतुः प्रापक इति मातृवच्छ्रुतिर्मुमुक्षूनुपदिशति । तत्रायतनत्वस्य साधारणधर्मस्य दर्शनात्संशयमाह—तत्किमिति । अमृतस्य ब्रह्मणः सेतुरिति षष्ठया ब्रह्मणो भिन्नत्वेन सेतोः श्रुतत्वादेषशब्दपरामृष्टं द्युभ्वाद्यायतनमब्रह्मैव सेतुरिव सेतुरित्याह—अमृतस्येति । भेदश्रवणात् सेतुरिति श्रवणाच्चेत्यर्थः । तत्र भेदश्रवणं व्याख्यातम् । सेतुश्रवणं स्वयं विवृणोति—पारवानिति । अनन्तं कालतः । अपारं देशतः ।

बतलाने के लिए यह तृतीय पाद आरम्भ होता है । पिछले अधिकरण में उपक्रमस्थ साधारण शब्द का अर्थ वाक्यशेषस्थ द्युमूर्धत्वादि लिङ्ग को देखते हुए ब्रह्मपरक माना गया था, वैसे ही यहाँ भी उपक्रमस्थ साधारण आयतनत्व शब्द का अर्थ वाक्यशेषस्थ सेतु श्रुति के बल से वस्तुतः परिच्छिन्न प्रधान आदि में व्यवस्था होनी चाहिए । ऐसी दृष्टान्त रूप संगति पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की है । पूर्वपक्ष में प्रधानादि की उपासना और सिद्धान्तपक्ष में निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञानरूप फल कहा गया है ।

मुण्डकोपनिषद् में यह वाक्य सुना जाता है कि 'जिसमें सभी इन्द्रियों के सहित सूत्रात्मक मन द्युलोक, पृथ्वीलोक तथा अन्तरिक्षलोक और चकारात् अव्याकृत भी कल्पित हैं उनका अपवाद कर उस अधिष्ठानभूत प्रत्यगात्मा को श्रवणादि से जानो, अन्य अनात्मवाचक शब्दों का निःशेष त्याग दो । यह जो अनात्मा विमोकपूर्वक आत्मसाक्षात्कार है वह अपार संसार वारिधि के पर-पार अमरत्व प्राप्ति के लिए सेतु का काम करता है ।' ऐसा मुमुक्षुओं को मातृतुल्य श्रुति उपदेश करती है । यहाँ पर द्युप्रभृति वस्तु का ओतत्ववचन से जो कुछ आयतन जाना जाता है । वह क्या परब्रह्म है अथवा कोई अन्य पदार्थ है, ऐसा संदेह होने पर "अमृतस्यैष सेतुः" इस षष्ठी विभक्ति को देखते हुए अमृतस्वरूप ब्रह्म से भिन्न सेतु सुना जाता है जिसे एष शब्द से द्युभ्वादि लोक का आयतन कहा गया है वह ब्रह्मभिन्न ही पदार्थ है । लोक में सेतु पारवान् पदार्थ को कहते हैं किन्तु परब्रह्म का पारवत्व नहीं मान सकते हैं क्योंकि उसे अनन्त, अपार कहा गया है । आयतन कोई भिन्न पदार्थ मानने पर

१. वायुशारीरप्रधानानि । २. पारवत्त्वं परिच्छिन्नत्वम् । ३. सांख्येति शेषः । ४. वैश्वानरशब्दस्य । ५. यस्मिन्नित्येतत्प्रतिपाद्यस्य । ६. कल्पितं सर्वं कार्यकारणात्मकं प्रविलाप्येत्यर्थः ।

श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात् । 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' (बृ० ३-७-२) इति वायोरपि विधारणत्वश्रवणात् । शारीरो वा स्यात् । तस्यापि भोक्तृत्वाद्भोग्यं प्रपञ्चं प्रत्यायतनत्वोपपत्तेरित्येवं प्राप्त इदमाह—द्युभ्वाद्यायतनमिति । द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ, द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभ्वादि । यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगदो[१]तत्वेन निर्दिष्टं [२]तस्यायतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति । कुतः ? [३]स्वशब्दादा[४]त्मशब्दादित्यर्थः । आत्मशब्दो हीह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति । आत्मशब्दश्च परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते नार्थान्तरपरिग्रहे । क्वचिच्च [५]स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते—

जलविधारकमुख्यसेतोर्ग्रहणासम्भवाद्गौणसेतुग्रहे कर्तव्ये 'मुख्यसेत्व[६]विनाभूतपारवत्त्वगुणवानेव कश्चिद्ग्राह्यः । ननु [७]मुख्यस्यानियतविधारणगुणवानीश्वर इति भावः । यथा लोके मणयः सूत्रेण ग्रथिता एवं हे गौतम, समष्टिलिङ्गात्मकवायुना स्थूलानि सर्वाणि संदृब्धानि ग्रथितानि भवन्तीति श्रुत्यर्थः । आत्मशब्दात्पक्षद्वयमप्ययुक्तमित्यत आह—शारीरो वेति । सद्वितीयत्वेन सेतुशब्दोपपत्तेश्चेत्यर्थः । नन्वात्मशब्दो जीवे सम्भवतीत्यत आह—आत्मशब्दश्चेति । उपाधिपरिच्छिन्नस्य जीवस्य सर्ववस्तुप्रत्यक्त्वं मुख्यं नास्तीत्यर्थः । उपक्रमस्थ[९]साधारणायतनस्य गौणसेतुत्व[१०]लिङ्गात्प्रथमश्रुतात्मश्रुत्या ब्रह्मनिश्चय इति भावः । स्वशब्दादित्यस्यार्थान्तरमाह—क्वचिच्चेति । प्रजानामुत्पत्तौ सदेव मूलं, स्थितावायतनं, लये प्रतिष्ठेति ब्रह्मवाचिसत्पदेन छान्दोग्ये ब्रह्मण आयतनत्वश्रुतेरत्रापि तथेत्यर्थः । अर्थान्तरमाह—स्वशब्देनैवेति । 'यस्मिन् द्यौः' इति वाक्यात्पूर्वोत्तरवाक्ययोः पुरुष-

सांख्य-स्मृति प्रसिद्ध प्रधान ही ग्रहण के योग्य है क्योंकि सम्पूर्ण महदादि जगत् का कारण होने से उसमें आयतनत्व युक्तियुक्त सिद्ध है। अथवा श्रुति प्रसिद्ध वायु को आयतन पद से लेना चाहिए क्योंकि 'हे गौतम ! वह सूत्र वायु ही है वायुरूप सूत्र से ही यह लोक, परलोक और सभी भूत गुँथे हुए हैं।' इस श्रुति वाक्य में वायु में भी विधारणत्व सुना जाता है। अथवा द्युप्रभृति का आयतन जीवात्मा को भी मान सकते हो क्योंकि भोक्ता होने के कारण भोग्य प्रपञ्च के प्रति उसमें आयतनत्व युक्तिसिद्ध है। इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती की ओर से यह सूत्र कहा गया है।

"द्युभ्वाद्यायतनम्" इस पद में द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि समास है। द्युलोक, भूलोक जिसमें प्रमुख हो ऐसे द्युभ्वादि का आयतन ब्रह्म है, उसमें द्युलोक, पृथ्वीलोक, मन एवं प्राण इत्यादि जगत् कल्पितत्वेन निर्दिष्ट है। ऐसे कल्पित पदार्थ का आयतन परब्रह्म ही हो सकता है क्योंकि उस आयतन में आत्मशब्द का प्रयोग भी किया गया है। "तमेव एकं जानथ आत्मानम्" इस वाक्य में उसे आत्मा भी कहा है। यह आत्मशब्द परमात्मा अर्थ मानने पर ही सम्यक् प्रकार से घटता है, अर्थान्तरग्रहण करने पर नहीं घटता और कहीं-कहीं ब्रह्म शब्द से ही उसमें आयतनत्व भी सुना जाता है

१. कल्पितत्वेन । २. जगतः । ३. अत्र च स्वशब्दादिति तन्त्रोच्चारितमात्मशब्दादिति सदायतना इति सच्छब्दादिति ब्रह्मशब्दादिति च सूचयति । ४. तत्र प्राथमिकं स्वशब्दं दर्शयति—आत्मशब्दादिति । ५. ब्रह्मवाचिसच्छब्देन । ६. मुख्यसेत्वविनाभूतेति—मुख्यसेतुत्वव्यापकेत्यर्थः । ७. अविनाभूतत्वं नियतत्वम् । ८. मुख्यस्यानियतेति—मुख्यसेतुत्वाव्यापकेत्यर्थः । जलाधिक्ये सेतुसत्त्वेऽपि विधारणासम्भवात्तस्यानियतत्वमिति भावः । ९. साधारणेत्यायतनैकदेशायतनत्वान्वयीत्यवधेयम् । १०. लिङ्गापेक्षया ।

'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६-८-४) इति । 'स्व-शब्देनैव चेह 'पुरस्तादुपरिष्टाच्च ब्रह्म संकीर्त्यते—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतं' इति । 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण'(मु० २-२-११) इति च । 'तत्र त्वायतनायतनवद्भावश्रवणात् । सर्वं ब्रह्मेति च सामानाधिकरण्यात् । यथाऽनेकात्मको वृक्षः शाखा स्कन्धो मूलं चेत्येवं नानारसो विचित्र आत्मेत्याशङ्का सम्भवति, तां निवर्तयितुं सावधारणमाह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति । एतदुक्तं भवति —न कार्यप्रपञ्चविशिष्टो विचित्र आत्मा विज्ञेयः । किंतर्ह्यविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चं विद्यया प्रविलापयन्तस्तमेवैकमायतनभूतमात्मानं जानथैकरसमिति । यथा यस्मिन्नास्ते देवदत्तस्तदानयेत्युक्त आसनमेवानयति न देवदत्तम् । तद्वदायतनभूतस्यैवैकरसस्यात्मनो विज्ञेयत्वमुपदिश्यते । विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव

ब्रह्मादिशब्देन ब्रह्मसङ्कीर्तनान्मध्येऽपि ब्रह्म ग्राह्यमित्यर्थः । पुरुष इति पूर्ववाक्यं, ब्रह्मैवेत्युत्तरवाक्यं, सर्वासु दिक्षु स्थितं सर्वं ब्रह्मैवेत्यर्थः । उत्तरेणोत्तरस्यां दिशि । उदाहृतवाक्यस्य सविशेषब्रह्मपरत्वमाशङ्क्य वाक्यं व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना । सामानाधिकरण्याद्विचित्र आत्मेति सम्बन्धः । यस्मिन् सर्वमोतं तमेवैकमित्येवकारैकशब्दाभ्यां निर्विशेषं ज्ञेयमित्युक्त्वा हेत्वन्तरमाह—विकारानृतेति ।

'हे सोम्य ! ये सम्पूर्ण प्रजा ब्रह्ममूलक ही हैं यह सभी प्रजा सदायतन है और सत्प्रतिष्ठ भी है अर्थात् इनकी उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण सत्पदार्थ ब्रह्म ही है । इस प्रकार ब्रह्म शब्द से ही यहाँ पर मुण्डकोपनिषद् में पहले और बाद में भी ब्रह्म का संकीर्तन सुना जाता है । 'यह सम्पूर्ण विश्व, कर्म, तप, वेद और परामृत निरपेक्ष अमरत्व पुरुष ही तो है ।' यह पूर्व वाक्य है । 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है । ब्रह्म पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण की ओर सभी दिशाओं में है' ऐसा उत्तर वाक्य है । उस आयतन वाक्य में आश्रयाश्रयी भाव सुना जाता है और **"सर्वं ब्रह्म"** इस श्रुति में सामानाधिकरण्य भी दीखता है । जैसे अनेकात्मक वृक्ष शाखा, स्कन्ध और मूलवाला होने के कारण नाना रस और विचित्र रसवाला है वैसे ही आत्मा भी हो सकता है ? ऐसी शङ्का को निवृत्त करने के लिए **"तमेव एकं जानथ आत्मानम्"** इस श्रुति में एवकार लगाया गया है । तात्पर्य यह है कि कार्य प्रपञ्च से विशिष्ट विचित्र आत्मा विज्ञेय नहीं है किन्तु अविद्याकृत कार्य प्रपञ्च को विद्या के द्वारा विलीन करते हुए उस एक आयतनभूत एक रस आत्मा को ही जानो । जैसे जिस आसन पर देवदत्त बैठा है उसे लाओ ऐसा कहने पर आयतन को लाते हैं न कि देवदत्त को, ठीक उसी प्रकार

---

१. स्वेति—तदसाधारणपुरुषशब्देन ब्रह्मशब्देन परशब्देनामृतशब्देन चेत्यर्थः । २. मुण्डके । ३. इह प्रकरणे यस्मिन् द्यौरित्यादिवाक्यात्पूर्वोत्तरवाक्ययोर्ब्रह्मोक्तेर्मध्येऽपि तदेव युक्तमादिमध्यावसानानामैकार्थ्ये वाक्यैक्यादित्यर्थः । ४. इदं विश्वं सर्वं पुरुष एव किमिदं सर्वं कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम् । ५. तपोज्ञानं तत्कार्यं च तदेतत्सर्वं ब्रह्मकार्यत्वाद्ब्रह्मैव परममृतं ब्रह्म सर्वप्राणिनां हृदि स्थितमहमेवेति यो वेद स एवं ज्ञानाद्ग्रन्थिमिव दृढीभूतामविद्यावासनां विनाशयति जीवन्नेवेत्यर्थः । ६. पूर्वस्यां दिशि । ७. पश्चिमायां दिशि । ८. दक्षिणस्यां दिशि । ९. आयतनवाक्ये । १०. आश्रयाश्रितभावेत्यर्थः । ११. वैचित्र्यं दृष्टान्तेनाह—यथेति । १२. अनेकरसः । १३. जगदायतनं ब्रह्मज्ञेयमित्युक्ते कुतस्तदेकरसमित्यत आह—एतदिति । १४. तथापि कथं प्रपञ्चायतनस्य निष्कृष्य ज्ञानं तत्राह—यथेति । १५. निर्विशेषमिति—आयतनपदलक्ष्यमेकरसं ब्रह्मात्मत्वेन ज्ञेयमित्यर्थः ।

पश्यति' (का० २-४-११) इति । सर्वं ब्रह्मेति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चप्रविलापनार्थं नानेकरसताप्रतिपादनार्थम् । 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४-५-१३) इत्येकरसताश्रवणात् । तस्माद्द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म । यत्तूक्तम्—सेतुश्रुतेः सेतोश्च पारवत्त्वोपपत्तेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवितव्यमिति । अत्रोच्यते—विधारणत्वमात्रमत्र सेतुश्रुत्या विवक्ष्यते न पारवत्त्वादि । नहि मृद्दारुमयो लोके सेतुर्दृष्ट इत्यत्रापि मृद्दारुमय एव सेतुरभ्युपगम्यते । सेतुशब्दार्थोऽपि विधारणत्वमात्रमेव न पारवत्त्वादि, षिञो बन्धन-

---

विकारेऽनृते कल्पिते अभिसन्धोऽभिमानो यस्य तस्यानर्थभाक्त्वेन निन्दाश्रुतेश्च कूटस्थसत्यं ज्ञयमित्यर्थः । कथं तर्हि सामानाधिकरण्यं, तत्राह—सर्वं ब्रह्मेति । यश्चोरः स स्थाणुरितिवत् यत्सर्वं तद्ब्रह्मेति सर्वोद्देशेन ब्रह्मत्वविधानाद्बाधनार्थं, न तु यद्ब्रह्म तत्सर्वमिति नानारसत्वार्थमित्यर्थः । तत्र नियामकमाह—स यथेति । लवणपिण्डोऽन्तर्बहिश्च रसान्तरशून्यः सर्वो लवणैकरसो यथा, एवमरे मैत्रेयि, चिदेकरस आत्मेत्यर्थः । यद्यपि पारवत्त्वसावयवत्वादिकं मुख्यसेत्वव्यभिचारि तथापि सेतोर्जलादिबन्धनरूपं यद्विधारणं तदेव व्यभिचारित्वेऽपि सेतुपदार्थैकदेशत्वाद्गुणत्वेन ग्राह्यं, नतु पदार्थबहिर्भूतं पारवत्त्वादिकमित्याह—अत्रोच्यत इति । दृष्टत्वात्तद्ग्रहेऽतिप्रसङ्गमाह—नहीति । अत्र श्रुतौ 'परेणेति शेषः । विधारणस्य शब्दार्थत्वं स्फुटयति—षिञ् इति । सिनोति बध्नातीति सेतुपदार्थैकदेशो विधारणमित्यर्थः । तथा चामृतपदस्य भावप्रधानत्वादमृतत्वस्य सेतुर्विधारकं ब्रह्म ।

आयतनरूप एकरस आत्मा में ही विज्ञेयत्व बतलाया गया है । मिथ्या कार्य सम्बन्ध का तो अपवाद ही सुना जाता है 'वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है जो इस अद्वय आत्मा में भेद देखता है' **"सर्वं ब्रह्म"** इस वाक्य में सामानाधिकरण्य प्रपञ्च प्रविलय के लिए है, न कि ब्रह्म में अनेक रसता प्रतिपादन के लिए 'जैसे नमक की डली बाहर-भीतर सभी ओर से लवणरस ही है ऐसे ही अरे मैत्रेयी ! यह आत्मा बाहर-भीतर सभी ओर से प्रज्ञानघन ही है' इस वाक्य द्वारा एकरसता का प्रतिपादन किया गया है, अतः द्युभ्वादि लोक का आयतन परब्रह्म ही हो सकता है ।

और जो आपने कहा था कि सेतु श्रुति के आधार पर द्युभ्वादि लोक का आयतन ब्रह्म से भिन्न पदार्थ होना चाहिए क्योंकि सेतु में पारवत्व होता है जो परब्रह्म में सम्भव नहीं है, इसका उत्तर यह है कि इस श्रुतिवाक्य में सेतु शब्द से विधारणत्व मात्र बतलाना अभीष्ट है न कि पारवत्वादि । लोक में मिट्टी, लकड़ी का सेतु देखा गया तो प्रकृत में भी मृद्दारुमय सेतु मान लेना चाहिए क्या ? अर्थात् नहीं । सेतु शब्दार्थ भी विधारणत्वमात्र अर्थ को बतलाता है न कि पारवत्वादि को । **"षिञ् बन्धने"** इस स्मृति के आधार बन्धनकर्मक षिञ्धातु से सेतु शब्द की व्युत्पत्ति सुनी जाती है ।

---

१. अन्तर्बहिर्विभागहीनः । २. सर्वात्मना लवणैकरसः । ३. तस्यैकरस्यात्प्रधानादेस्तद्विरहादित्यर्थः । ४. सावयवत्वाचेतनत्वादिवक्तुमादिपदम् । ५. प्रकृतवाक्येऽपि । ६. विधारणस्यागन्तुकत्वात्पारवत्त्वादेः स्वाभाव्यात्तदेव सेतुश्रुत्या ग्राह्यमित्याशङ्क्याह—सेत्विति । ७. सामानाधिकरण्यम् । ८. पूर्वपक्षिणा । ९. एकदेश इति—प्रत्ययार्थपरित्यागेन धात्वर्थमात्रम् ।

(६५) मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥२॥

कर्मणः सेतुशब्दव्युत्पत्तेः। अपर आह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति यदेतत्संकीर्तितमात्मज्ञानं, यच्चैतत् 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति वाग्विमोचन, 'तदत्रामृतत्वसाधनत्वात् 'अमृतस्यैष सेतुः' इति सेतुश्रुत्या संकीर्त्यते न तु द्युभ्वाद्यायतनम्। तत्र यदुक्तम्—सेतुश्रुतेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भाव्यमित्येतदयुक्तम् ॥१॥

इतश्च परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। यस्मान्मुक्तोपसृप्यतास्य व्यपदिश्यमाना दृश्यते। मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम्। देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूजनादौ रागस्तत्परिभवादौ च द्वेषस्तदुच्छेददर्शनाद्भय मोहश्चेत्येवमयमनन्तभेदोऽनर्थव्रातः सन्ततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः। तद्विपर्ययेणाविद्यारागद्वेषादिदोषमुक्तैरुपसृप्यं गम्यमेतदिति द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य व्यपदेशो भवति। कथम्? 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २-२-८) इत्युक्त्वा ब्रवीति—'तथा विद्वान्नाम-

---

अस्यैवामृतत्वं नान्यस्येत्यर्थः। यद्वा द्युभ्वाद्याधारो ब्रह्म न सेतुशब्दार्थः किन्त्वव्यवहितं ज्ञानमित्याह—अपर इति। फलितमाह—तत्र यदुक्तमिति। ज्ञाने सेतौ गृहीते सतीत्यर्थः ॥१॥

मुक्तैरूपसृप्यं प्रत्यक्त्वेन प्राप्यं यद्ब्रह्म तस्यात्रोक्तेरिति सूत्रार्थः। मुक्तिप्रतियोगिनं बन्धं दर्शयति—देहादिष्विति। तद्विपर्ययेणेति। उक्तपञ्चक्लेशात्मकबन्धनिवृत्त्यात्मना स्थितमित्यर्थः। यथा नद्यो गङ्गाद्या नामरूपे विहाय समुद्रात्मना तिष्ठन्ति तथा ब्रह्मात्मविदपि संसारं विहाय परात्कारणादव्यक्तात्परं पूर्णं स्वयंज्योतिरानन्दं प्रत्यक्त्वेन प्राप्य तिष्ठतीत्याह—तथा विद्वानिति।

कुछ लोग कहते हैं कि "तमेव एकं जानथ आत्मानम्" इस वाक्य से जिस आत्मज्ञान का संकीर्तन किया गया है और जिसे 'अन्यावाचो विमुञ्चथ' इस वाक्य से वाक्यविमोचन को अमृतत्व का साधन बतलाने के बाद "अमृतस्यैष सेतुः" इस सेतुश्रुति से संकीर्तन किया गया है वह आत्मज्ञान ही इस प्रकरण का प्रतिपाद्य अर्थ है, द्युभ्वादि आयतन नहीं। अतः सेतुश्रुति के आधार पर ब्रह्म से भिन्न पदार्थ को द्युलोकादि का आयतन मानना असंगत है ॥१॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् (ललिता)

इसलिए भी द्युलोक, भूलोक का आयतन परब्रह्म ही हो सकता है क्योंकि द्युभ्वादि में मुक्तपुरुषों की उपसृप्यता का उपदेश देखा जाता है। वह तत्त्व मुक्तपुरुषों से उपसृप्य माना जाता है। देहादि अनात्मवस्तु में 'यही मैं हूँ' ऐसी आत्मबुद्धि को अविद्या कहते हैं। इसी अविद्या के कारण देह के पूजनादि में राग और तिरस्कार आदि में द्वेष देखा जाता है। और देह के मृत्युदर्शन से भय एवं मोह होता है ऐसे अनन्त भेदवाला अनर्थ समुदाय सदा हम सबको प्रत्यक्ष दीखता है। इसके विपरीत अविद्या-राग-द्वेषादि से मुक्त पुरुषों के द्वारा प्राप्त करने योग्य इस तत्त्व को कहा गया है। इसलिए द्युभ्वादि के आयतन के प्रसंग में उपदेश मिलता है कि 'उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर आत्मानात्मा की चिज्जड़ग्रन्थि टूट जाती है, सभी संशय छिन्नभिन्न हो जाते हैं

---

१. वाग्विमोकपूर्वकमात्मज्ञानमित्यर्थः। २. ब्रह्मेति शेषः। ३. देह। ४. देहमृत्युः। ५. अव्यवहितमिति—आत्मशब्दाव्यवहितमित्यर्थः। ६ ज्ञानमिति—जानथेत्यत्रत्य ज्ञाधात्वर्थभूतमित्यर्थः।

(६६) नानुमानमतच्छब्दात् ॥३॥

रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३-२-८) इति । ब्रह्मणश्च मुक्तोपसृप्यत्वं प्रसिद्धं शास्त्रे—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' (बृ० ४-४-७) इत्येवमादौ । प्रधानादीनां तु न क्वचिन्मुक्तोपसृप्यत्वमस्ति प्रसिद्धम् । अपि च 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' इति वाग्विमोकपूर्वकं विज्ञेयत्वमिह द्युभ्वाद्यायतनस्योच्यते । तच्च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणो दृष्टम्—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूंश्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृ० ४-४-२१) इति । तस्मादपि द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म ॥२॥

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह । नानुमानिकं सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रति-

---

इवं प्रधानादेः किं न स्यादत आह—ब्रह्मणश्चेति । अस्य मुमुक्षोः, हृदीति पदेनात्मधर्मत्वं कामानां निरस्तम् । यदा कामनिवृत्तिरथ तदाऽमृतो भवति; मरणहेत्वभावात् । न केवलमनर्थनिवृत्तिः किन्त्वत्र देहे तिष्ठन्नेव ब्रह्मानन्दमश्नुत इत्यर्थः । लिङ्गान्तरमाह—अपिचेति । धीरो विवेकी तमेवात्मानं विज्ञाय विशुद्धं लक्ष्यपदार्थं ज्ञात्वा वाक्यार्थज्ञानं कुर्यात् । ज्ञानार्थिनो ज्ञानप्रतिबन्धककर्मकाण्डादेर्वैमुख्यमाह—नेति । बहूनित्युक्त्या 'अल्पान्वेदान्तशब्दानङ्गीकरोति । 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।' (पा-शिक्षा० १३) इत्येतानि वागिन्द्रियस्थानत्वाद्वाक्शब्देनोच्यन्ते । तेषां शोषणमात्रमनात्मशब्दोच्चारणफलं, तद्ध्यानान्मनसो ग्लानिमात्रमित्यर्थः ॥२॥

वैशेषिक इति । असाधारण आत्मशब्दादिरित्यर्थः । अतच्छब्दादित्यस्यार्थान्तरमाह—

और प्रारब्ध के अतिरिक्त सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं' ऐसा कहने के बाद श्रुति कहती है कि ब्रह्मज्ञानी नामरूप से मुक्त हो अव्यक्तादि से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है । शास्त्र में मुक्तपुरुषों से उपसृप्यतत्त्व ब्रह्म ही प्रसिद्ध है । 'जब इस ज्ञानी के हृदय में स्थित सभी इच्छायें छूट जाती है तब मरणधर्मा जीव अमर हो जाता है और इस देह में रहते-रहते ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है' इत्यादि ग्रन्थ में प्रसिद्ध है किन्तु प्रधानादि कहीं भी मुक्तपुरुषों से उपसृप्यरूप में प्रसिद्ध नहीं है । इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि 'उसी एक आत्मा को जान, अन्य बातों को छोड़ दें' इस वाक्य से अनात्मा अर्थ के वाचक शब्द को छोड़कर द्युभ्वादि के आयतन में विज्ञेयत्व भी कहा है । वह ब्रह्म का विज्ञेयत्व अन्य श्रुतियों में भी देखा गया है 'विवेकी पुरुष उस विशुद्ध आत्मतत्त्व को जानकर वाक्यार्थ बोधरूप प्रज्ञा का अभ्यास करें बहुत शब्दों का चिन्तन न करें क्योंकि वे सबके सब वाणी की कसरत मात्र है ।' इससे भी द्युलोक-भूलोक का आयतन परब्रह्म ही सिद्ध होता है ॥२॥

नानुमानमतच्छब्दात् (ललिता)

ब्रह्म के प्रतिपादक असाधारण शब्दादि हेतु जिस प्रकार कहे गये हैं उस प्रकार ब्रह्म से भिन्न अर्थ के प्रतिपादक असाधारण शब्दादि हेतु नहीं हैं इसे अग्रिमसूत्र से कहते हैं । इस मुण्डकोपनिषद्

---

१. विज्ञेयत्वम् । २. मुंडके । ३. अल्पानिति—कर्मकाण्डीयशब्दापेक्षयेति भावः ।

(६७) प्राणभृच्च ॥४॥

पत्तव्यम् । कस्मात् ? अतच्छब्दात् । तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः । न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वाऽवगम्येत । तद्विपरीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽत्रास्ति—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १-१-९) इत्यादिः । अत एव न वायुरपीह द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रीयते ॥३॥

यद्यपि प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च सम्भवति तथाप्युपाधिपरिच्छिन्नज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाद्यसम्भवे सत्यस्मादेवातच्छब्दात्प्राणभृदपि न द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः । [1]न चोपाधिपरिच्छिन्नस्याविभोः प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि सम्यक्सम्भवति । पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥४॥

तद्विपरीतस्येति । अत एवातच्छब्दादेव ॥३॥

प्राणभृच्चेति । सूत्रे चकारः पूर्वसूत्रस्थनञोऽनुषङ्गार्थः । सर्वज्ञपदसमानाधिकरण आत्मशब्दो न जीववाचीत्यतच्छब्दस्तस्मादित्यर्थः । ननु 'नानुमानप्राणभृतावतच्छब्दात्' इत्येकमेव सूत्रं किमर्थं न कृतं, उभयनिरासहेतोरेकत्वादित्यत आह—पृथगिति । योगः सूत्रम् । उत्तरसूत्रस्थहेतूनां जीवमात्रनिरासेनान्वयेऽपि [2]सुबोधार्थं प्राणभृच्चेति पृथक्सूत्रकरणमित्यर्थः ॥४॥

में सांख्यस्मृतिपरिकल्पित प्रधान द्युलोक-भूलोक के आयतन रूप से ज्ञातव्य नहीं है क्योंकि उस अचेतन प्रधान का प्रतिपादक शब्द श्रुति में नहीं मिलता जब श्रुति में अचेतन प्रधान प्रतिपादक कोई शब्द ही नहीं है जिससे अचेतन प्रधान को द्यु-भूलोक के कारण रूप में अथवा आयतनरूप में जान सकें; तब भला द्यु-भूलोक का आयतन प्रधान को कैसे माना जाय । उसके विपरीत चेतन अर्थ के प्रतिपादक शब्द मुण्डकोपनिषद् में मिलते हैं 'जो सर्वज्ञ है और सर्ववित् है' इत्यादि । "अतच्छब्दात्" हेतु से ही मुण्डकोपनिषद् में द्युलोक-भूलोक के आयतनरूप से वायु का भी आश्रय नहीं किया जा सकता ॥३॥

प्राणभृच्च (ललिता)

"प्राणभृच्च" इस सूत्र में चकार पूर्वसूत्रस्थ 'नञ्' और "अतच्छब्दात्" की अनुवृत्ति के लिए है । जीवात्मा भी द्यु-भूलोक का आयतन नहीं हो सकता क्योंकि उसका वाचक आत्मशब्द भी यहाँ नहीं मिलता । यद्यपि जीवात्मा में आत्मत्व और चेतनत्व तो सम्भव है फिर भी उपाधिपरिच्छिन्न ज्ञानवाले जीवात्मा में सर्वज्ञत्वादि का होना असम्भव है, यहीं अतच्छब्द है, इसीलिए जीवात्मा भी द्युलोक-भूलोक के आयतनरूप में नहीं माना जा सकता, उपाधिपरिच्छिन्न विभु से भिन्न जीव में द्युलोक-भूलोक का आयतनत्व सम्यक् प्रकार से सम्भव भी नहीं है । पृथक् सूत्र की रचना उत्तरसूत्रार्थ है क्योंकि अग्रिम सूत्रों से जीवमात्र का निराकरण किया गया है, प्रधान का नहीं । इस अर्थ का सरलता से बोध हो जाय इसलिए "प्राणभृच्च" यह सूत्र पृथक् बनाया गया है ॥४॥

---

१. भोग्यस्य भोक्तृशेषत्वात्तस्यायतनत्वमुक्तमाशङ्क्याह—न चेति । जीवस्यादृष्टद्वाराद्युभ्वादिनिमित्तत्वेऽपि न साक्षात्तदायतनत्वमौपाधिकत्वेनाविभुत्वादित्यर्थः । २. उत्तरसूत्रैः प्राणभृदेव निरस्य तेन प्रधानं तच्चैकसूत्रकरणे दुर्ज्ञानं तेनोत्तरसूत्रेषु जीवमात्रनिरासज्ञापनार्थं सूत्रयोः पृथक्करणमिति भावः ।

(६८) भेदव्यपदेशात् ॥५॥

(६९) प्रकरणात् ॥६॥

[1]कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

भेदव्यपदेशश्चेह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन । [2]तत्र [3]प्राणभृत्तावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनमिति गम्यते, न प्राणभृत् ॥५॥

[4]कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

प्रकरणं चेदं परमात्मनः । '[5]कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १-१-३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणात् । [6]परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यान्न केवले प्राणभृति ॥६॥

तानेव हेतूनाकाङ्क्षाद्वारा व्याचष्टे—कुतश्चेत्यादिना । यद्यपि विशुद्धः प्रत्यगात्मैवात्र ज्ञेयः तथापि जीवत्वाकारेण ज्ञातुर्ज्ञेयाद्भेदान्न ज्ञेयरूपत्वमित्यर्थः । एवं च जीवत्व[7]लिङ्गविशिष्टत्वेन जीवस्य द्युभ्वादिवाक्यार्थत्वं निरस्यते न शुद्धरूपेणेति मन्तव्यम् ॥५॥६॥

भेदव्यपदेशात् (ललिता)

जीवात्मा द्युलोक-भूलोक के आयतनरूप से क्यों नहीं माना जाता ? ऐसी आकांक्षा होने पर आगे का सूत्र है । यहाँ मुण्डकोपनिषद् में 'उसी एक आत्मा को जानो' इस वाक्य द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में भेद बतलाया गया है, उनमें मुमुक्षु होने से जीवात्मा ज्ञाता है और शेष आत्मशब्दवाच्य ब्रह्म ज्ञेय है, वही द्यु-भ्वादि लोकों का आयतन है ऐसा जाना जाता है, जीवात्मा नहीं ॥५॥

प्रकरणात् (ललिता)

जीवात्मा द्युलोक-भूलोक का आयतन क्यों नहीं माना जा सकता ? इस प्रश्न के उत्तर में पुनः हेतु देते हैं 'भगवन् ! किसके जान लेने पर यह सब कुछ विज्ञात हो जाता है' इस वाक्य द्वारा एक के विज्ञान से सर्वविज्ञान की अपेक्षा जो की गयी है सो परमात्मा के ज्ञान से ही सम्भव है क्योंकि वह सर्वात्मक है उसके जानने पर ही यह सब विज्ञात होता है, केवल जीव के जानने से नहीं । इस प्रकार परमात्मा का प्रकरण होने के कारण जीवात्मा द्युलोक-भूलोक का आयतन नहीं माना जा सकता ॥६॥

---

१. परिच्छेदस्याऽऽभासत्वादब्रह्मैक्याभिप्रायेण सर्वज्ञत्वमायतनत्वं च जीवेऽपि स्यादिति मत्वा पृच्छति—कुतश्चेति । २. उदाहरणे । ३. द्वयोर्मध्ये । ४. भिन्नस्य ब्रह्मणो ज्ञेयत्वनिरासेन स्वात्मानमेव जानथेति वचनपर्यवसानाज्जीवस्यायतनत्वज्ञेयत्वनिरासे हेत्वन्तरं वाच्यमित्याह—कुतश्चेति । ५. तस्य परमात्मविषयत्वे हेतुमाह—कस्मिन्निति । ६. प्राणभृति विज्ञातेऽपि तच्छेषत्वेन सर्वविज्ञानात्तद्विषयत्वं प्रकरणस्येत्याशङ्क्याह—परमात्मनीति । ७. लिङ्गमुपाधिः ।

(७०) स्थित्यदनाभ्यां च ॥७॥

[1]कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३-१-१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम्, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते[2]। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनम[3]वकल्पते। [3]अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकम[4]सम्बद्धं स्यात्। [5]ननु तवापि क्षेत्रज्ञस्येश्वरात्पृथग्वचनमाकस्मिकमेव प्रसज्येत। [6]न, तस्याविवक्षितत्वात्। [7]क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रति-

ननु स्थित्येश्वरस्यादनाज्जीवस्य 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्रोक्तावपि ईश्वर आयतनवाक्येन किमर्थं ग्राह्य इत्यत आह—यदि चेश्वर इति। [8]अत्र चेश्वरः शुद्धचिन्मात्रो ग्राह्यः, न सर्वज्ञत्वादिविशिष्टः, [9]तस्यात्रा[10]प्रतिपाद्यत्वात्। तथा चा[11]प्रतिपाद्यार्थस्याकस्मान्मध्ये[12] [13]वचनासम्भवादा[14]द्यवाक्येन ग्रहणं कार्यमित्यभिसन्धिः। तमज्ञात्वा शङ्कते—ननु तवापीति। ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनार्थमकस्मादप्रकृतस्यापि लोकप्रसिद्धस्य जीवस्यानुवादसम्भव इति परिहरति—नेति। [15]ननु 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्र बुद्धि-

स्थित्यदनाभ्यां च (ललिता)

प्राणधारी जीव द्युलोक-भूलोक का आयतन क्यों नहीं माना जा सकता? इस प्रश्न के उत्तररूप में ही अग्रिम सूत्र भी है कि द्युलोक-भूलोक के आयतन का प्रसंग प्रारम्भ कर **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"** इस वाक्य में स्थिति और भोग का निर्देश किया गया है 'उनमें एक स्वादिष्ट फल को खाता है' इस वाक्य द्वारा कर्म फल का भोग कहा गया है और 'दूसरा न खाता हुआ केवल प्रकाशता रहता है' इस वाक्य से दूसरे को उदासीन रूप से स्थित माना है। इस स्थिति और अदन शब्द द्वारा वहाँ पर ईश्वर और जीव ग्रहण किये जाते हैं। यदि ईश्वर को द्युलोक-भूलोक के आयतन रूप से बताना अभीष्ट है तो जीव से पृथक् उस प्रसङ्गागत ईश्वर का वचन युक्तियुक्त माना जायेगा अन्यथा अप्रासङ्गिक वचन आकस्मिक, असम्बन्ध कहा जायेगा।

यदि कहो कि आपके पक्ष में भी ईश्वर से पृथक् जीव का कथन आकस्मिक ही माना जायेगा? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जीवात्मा को बतलाना यहाँ पर अभीष्ट नहीं। बुद्ध्यादि

१. जीवस्योपाध्यैक्येनाविवक्षितत्वात्तज्ज्ञानेऽपि सर्वज्ञानासिद्धेस्तस्यायतनत्वाद्यभावे हेत्वन्तरवाक्यमित्याशङ्क्य सूत्रेण परिहरति—कुतश्चेति। २. द्वासुपर्णेत्यत्रेति शेषः। ३. ईश्वरस्याऽऽयतनत्वेनाप्रकृतत्वे जीवात्पृथक्कथनानुपपत्तिरित्युक्तमेव व्यतिरेकद्वाराऽऽह—अन्यथेति। ४. अनन्वितमसङ्गतमिति यावत्। ५. जीवस्याप्यायतनत्वेनाप्रकृतत्वे तुल्यानुपपत्तिरिति शङ्कते—नन्विति। ६. तस्यैक्यार्थं लोकसिद्धस्यानुवादत्वान्नैवमित्याह—नेति। ७. जीवस्यापूर्वत्वाभावे का प्रतिपाद्यत्वमेव प्रकटयति—क्षेत्रज्ञो हीति। ८. द्वासुपर्णेत्यत्र। ९. तस्येत्यादि—अभिचाकशीतीति साक्षित्वमात्रवचनादिति भावः। १०. अप्रकृतत्वात्। ११. अप्रकृतार्थस्य। १२. मध्य इति द्वासुपर्णेत्यत्रेत्यर्थः। १३. कथनासम्भवात्। १४. आयतनवाक्येन सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्येति शेषः। तृतीयान्तच्छेदे तु शुद्धचिन्मात्रस्येति शेषः। १५. सिद्धान्तरीत्या शङ्कते— नन्विति।

शरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसम्बन्धो लोकत एव प्रसिद्धो नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते। [1]ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम्। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' इत्यत्राप्येतद्दर्शितम्—'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति। [2]यदाऽपि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामृचि [3]सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते तदापि न विरोधः कश्चित्। कथम्? प्राणभृद्धीह घटादिच्छिद्रवत्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानित्वेन प्रतिशरीरं गृह्यमाणो द्युभ्वाद्यायतनं न भवतीति निषिध्यते। यस्तु सर्वशरीरेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते परमात्मैव स भवति। [4]यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरुपाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति। तद्वत्[5]प्राणभृतः परस्मादन्यत्वानुपपत्तेः प्रतिषेधो नोपपद्यते। [6]तस्मात्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानिन एव द्युभ्वाद्यायतनत्वप्रतिषेधः। [7]तस्मात्परमेव

जीवयोरुक्तेः कथमिदं सूत्रमित्यत आह—[8]गुहामिति। [9]स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञयोरनुवादेनैक्यं दर्शितमित्यर्थः। नन्वत्र जीवेशौ नानुवाद्यौ, पैङ्गिव्याख्याविरोधादतः सूत्रासङ्गतिरित्यत आह—यदापीति। तदापि सूत्रस्यासङ्गतिर्नास्तीत्यर्थः। अदनवाक्येन बुद्धिमनूद्य स्थितिवाक्येन बुद्ध्यादिविलक्षणशुद्धप्रत्यग्ब्रह्मणो ज्ञेयस्योक्तेर्द्युभ्वादिवाक्ये तदेव ग्राह्यं, न बुद्ध्युपहितो जीव इति सूत्रसङ्गतिमाह—कथमित्यादिना। नन्वत्रानुपहितो जीव उक्तो न परं ब्रह्मेत्यत आह—यस्त्विति। पौनरुक्त्यं

उपाधि से सम्बन्ध जीव कर्ता तथा भोक्तारूप से लोकतः प्रसिद्ध है ही फिर भला उसे श्रुति तात्पर्यरूप में क्यों बतलाने लग जाय, किन्तु ईश्वर लोकतः अप्रसिद्ध होने के कारण श्रुति द्वारा तात्पर्यतः बतलाना अभीष्ट है, उसका कथन आकस्मिक नहीं माना जा सकेगा। यही बात '**गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनात्**' इस अधिकरण द्वारा भी कही गयी है। '**द्वा सुपर्णा**' इस ऋचा में इन्हीं जीव और ईश्वर का वर्णन है। यदि पैङ्गि उपनिषद् में किये गये व्याख्या के अनुसार इस मन्त्र में बुद्धि तथा जीव माने जायें? तो भी यहाँ पर कोई विरोध नहीं है क्योंकि घटाकाश की भाँति बुद्धयादि उपाधि में अभिमान कर लेने के कारण जीवात्मा जो प्रतिशरीर गृहीत हो रहा है वह द्युलोक-भूलोक का आयतन नहीं है ऐसा निषेध किया गया है, किन्तु जो सभी शरीरों में उपाधि के बिना ही परमात्मा उपलक्षित हो रहा है वही द्युलोक-भूलोक का आयतन है। जैसे घटादि के भीतर जो आकाश है वह घटादि उपाधि के बिना उपलक्ष्यमाण महाकाशस्वरूप ही है, भिन्न नहीं है, वैसे ही परमात्मा से जीवात्मा में अन्यत्व सिद्ध न होने के कारण प्रतिषेध नहीं बनता है। अतः बुद्धयादि उपाधि में अभिमान करनेवाले जीवात्मा में पिछले सूत्रों से द्यु-भूलोकादि का प्रतिषेध किया है। अतः परमात्मा ही द्युलोक-भूलोक का आयतन है, यह बात '**अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः**'

---

१. ईश्वरस्यापि लोकवादिसिद्धत्वाद् प्रतिपाद्यतेत्याशङ्क्याह—ईश्वरस्त्विति। २. सिद्धान्तरीत्याह—यदाऽपीति। ३. बुद्धिः। ४. कथमेकस्यैवोपाधिविशिष्टाविशिष्टत्वेन भेदाभेदौ, तत्राह—यथेति। ५. प्राणभृत इति—अनुपहितस्यात्रेष्टस्येति शेषः। ६. तस्य चेदायतनत्वं न निषिध्यते किं विषयस्तर्हि निषेधस्तत्राह—तस्मादिति। ७. पक्षान्तरायोगे सिद्धान्तमुपसंहरति—तस्मादिति। ८. वृत्तिकाराद्यनुसारेण समाधत्ते—गुहामिति। ९. श्रुतिस्थाभ्याम्।

२. भूमाधिकरणम् (सू० ८-९)

(७१) भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥८॥

भूमा प्राणः परेशो वा प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात्। अनुवर्त्यातिवादित्वं भूमोक्तेर्वायुरेव सः।
विच्छिद्यैष तिवति प्राणं सत्यस्योपक्रमात्तथा। महोपक्रम आत्मोक्तेरीशोऽयं द्वैतवारणात्॥

ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। तदेतत् 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' इत्यनेनैव सिद्धम्। 'तस्यैव हि भूतयोनिवाक्यस्य मध्य इदं पठितम्—'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्' इति। प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम् ॥७॥

इदं समामनन्ति—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास' (छा०

शङ्कते—तदेतदिति। **द्युभ्वादिवाक्यस्य ब्रह्मपरत्वमित्यर्थः। समाधत्ते**—प्रपञ्चार्थमिति। **सेतुशब्दव्याख्यानेन भूतयोनेः प्रत्यगात्मत्वस्फुटीकरणार्थमित्यर्थः। तस्मान्मुण्डकोपनिषद् ब्रह्मणि समन्वितेति सिद्धम् ॥७॥**

छान्दोग्यमुदाहरति—इदमिति। **नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्, तस्मान्निरतिशयसुखार्थिना भूमैव विचार्य इति नारदं प्रति सनत्कुमारेणोक्ते सति नारदो ब्रूते**—भूमानमिति। **भूम्नो**

इस सूत्र से ही सिद्ध हो चुकी है। उसी भूतयोनि वाक्य के मध्य में यह पढ़ा गया है कि 'जिसमें द्युलोक, पृथ्वीलोक और अन्तरिक्षलोक ओत-प्रोत है' इत्यादि उसी के विस्तार के लिए यहाँ पर पुनः वर्णन किया गया है, अतः पुनरुक्ति की आशङ्का नहीं कर सकते ॥७॥

२. भूमाधिकरण

१. पिछले अधिकरण में आत्मशब्द का प्रयोग होने से द्युलोकादि का आयतन परमात्मा जाना गया था, वह ठीक नहीं है; क्योंकि '**तरति शोकमात्मवित्**' (छा० ७-१-३) इस प्रकरण में प्रश्नोत्तर की परम्परा प्राण से आगे न दिखाई पड़ने के कारण प्राण में भी आत्म-शब्द का प्रयोग सम्भव हो सकता है। ऐसा आक्षेप होने पर इस अधिकरण का प्रारम्भ हुआ है, इसलिए पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. '**भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति**'। '**यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा**' (छा० ७-२३, २४) यह श्रुतिवाक्य यहाँ का विचारणीय विषय है।

३. भूमा शब्द का अर्थ प्राण है या परमात्मा? ऐसा संशय होता है।

४. नाम से लेकर आशापर्यन्त प्रश्नोत्तर देखा गया है, उसके आगे प्रश्नोत्तर नहीं दीखते। अतः अनुगत अतिवादित्व भूमा में कहे जाने के कारण भूमा शब्दार्थ वायु ही है।

५. "**एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति**" (छा० ७।१६) इस वाक्य द्वारा प्राण का प्रकरण पृथक् कर सत्य का प्रसंग प्रारम्भ होने से परमात्मा ही भूमा पद का अर्थ है। वैसे ही महोपक्रम परमात्मा का है। समस्त द्वैत का अभाव भी परमात्मा में ही होता है। अतः भूमा पद का अर्थ परमात्मा ही निश्चित है।

---

१. तेनैव सिद्धत्वे हेतुमाह—तस्यैवेति। यत्तदद्रेश्यमिति वाक्यस्येत्यर्थः। २. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमित्यादेः।

७-२३-१) इति । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स [1]भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' (छा० ७-२४-१) इत्यादि । तत्र संशयः—किं प्राणो भूमा स्यादाहोस्वित्परमात्मेति । कुतः संशयः ? भूमेति तावद्बहुत्वमभिधीयते, 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा० ६-४-१५८) इति भूमशब्दस्य भावप्रत्ययान्ततास्मरणात् । [2]किमात्मकं पुनस्तद्बहुत्वमिति विशेषाकाङ्क्षायां 'प्राणो वा आशाया भूयान्' (छा०७-१५-१) इति सन्निधानात्प्राणो भूमेति प्रतिभाति । [3]तथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित् इति, 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७-१-३)

लक्षणमद्वितीयत्वमाह—यत्रेति । भूमलक्षणं परिच्छिन्नलक्षणोक्त्या स्फुटयति—अथेति । अत्र संशयबीजं प्रश्नपूर्वकमाह—कुत इत्यादिना । बहोर्भाव इति विग्रहे 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (पा० ५-१-१२२) इतीमनिच्प्रत्यये कृते 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा० ६-४-१५८) इति सूत्रेण बहोः परस्येमनिच्प्रत्ययस्यादेरिकारस्य लोपः स्यात्, बहोः स्थाने भूरित्यादेशश्च स्यादित्युक्तेर्भूमन्निति शब्दो निष्पन्नः । तस्य भावार्थकेमनिच्प्रत्ययान्तत्वाद्बहुत्वं वाच्यम् । तत्किंधर्मिकमित्याकाङ्क्षायां सन्निहितप्रकरणस्थः प्राणो धर्मी भाति । वाक्योपक्रमस्थ आत्माऽपि [5]स्वप्रतिपादना[4]पेक्षो धर्मित्वेन भातीति [6]सन्निहितव्यवहितप्रकरणाभ्यां संशय इत्यर्थः । पूर्वमात्मशब्दात् द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मेत्युक्तं, तदयुक्तं, 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७-१-३) इत्यब्रह्मण्यप्यात्मशब्दप्रयोगादित्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—प्राणो भूमेति । धर्मधर्मिणोरभेदात्सामानाधिकरण्यं द्रष्टव्यम् । पूर्वोत्तरपक्षयोः प्राणोपास्तिः ब्रह्मज्ञानं च फलं क्रमेण मन्तव्यम् । [7]अत्राध्याये [8]भूयःप्रश्नोत्तरभेदादर्थभेदो दृश्यते । भूमा तु प्राणात्परं भूयःप्रश्नं

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् में ऐसा कहा गया है कि 'हे नारद ! भूमा ही विशेषरूप से जिज्ञासा के योग्य है ।' 'नारद ने कहा—भगवन् ! मैं भूमा को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ' इसके बाद भूमा तत्त्व का लक्षण करते हुए कहा है कि 'जहाँ पर दूसरे को देखता नहीं, दूसरे को सुनता नहीं, दूसरे को जानता नहीं वह भूमा है और जहाँ दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है और दूसरे को जानता है वह परिच्छिन्न है' इत्यादि । वहाँ पर संशय होता है कि प्राण ही भूमा है अथवा परमात्मा भूमा है । संशय का कारण यह है कि "भूमा" यह शब्द बहुत्व अर्थ को बतलाता है । बहु शब्द से भाव अर्थ में "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" (पा० ५।१।१२२) इस सूत्र द्वारा इमनिच् प्रत्यय होता है तत्पश्चात् बहु शब्द के स्थान में भू आदेश होता है और प्रत्यय के आदिवर्ण का लोप हो जाता है, तब भावप्रत्ययान्त भूमा शब्द बनता है । वह बहुत्व किम् रूप है ? ऐसी विशेष आकांक्षा होने पर 'निःसन्देह आशा से श्रेष्ठ प्राण है' इस वाक्य के सन्निधान में प्राण ही भूमातत्त्व प्रतिभासित होता है । इसके अतिरिक्त नारद जी का वचन है कि आप जैसे महापुरुषों से मैंने सुना है कि 'आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है । पर हे भगवन् ! मैं तो शोक करता हूँ, अतः मुझे शोक से आप पार कर दें' इस प्रकरण के बल से परमात्मा भी भूमा शब्द का अर्थ प्रतिभासित होता है । इनमें

१. सर्वव्यवहारातीतं पूर्णं वस्तु भूमेत्यर्थः । २. किन्धर्मिकम् । ३. सन्निधानात्प्राणभानवत् । ४. आत्मा । ५. स्वप्रतिपत्त्यनुकूलस्वासाधारणधर्मकथनमपेक्ष्यत इति । ६. अवान्तरमहाप्रकरणाभ्यामि.ति यावत् । ७. छान्दोग्यसप्तमाध्याये । ८. 'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इत्यादि भूयःप्रश्नप्रतिवचनेभ्यो नामवाग्मनस्तं भेदः ।

इति प्रकरणोत्थाना[1]त्परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति । तत्र कस्योपादानं न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति संशयः । किं तावत्प्राप्तम्? प्राणो भूमेति । कस्मात्? [2]भूयःप्रश्नप्रतिवचनपरम्परादर्शनात् । यथा हि 'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इति, 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति । तथा 'अस्ति भगवो वाचो भूयः' इति, 'मनो वाव वाचो भूयः' इति च नामादिभ्यो ह्या प्राणाद्भूयः[3]प्रश्नप्रतिवचनप्रवाहः प्रवृत्तः । नैवं [4]प्राणात्परं भूयःप्रश्नप्रतिवचनं दृश्यते [5]'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति 'अदो वाव प्राणाद्भूयः' इति । प्राणमेव तु नामादिभ्य आशान्तेभ्यो भूयांसं 'प्राणो वा आशाया भूयान्' इत्यादिना सप्रपञ्चमुक्त्वा प्राणदर्शिनश्चा[6]तिवादित्वम्—'अतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत' इत्यभ्यनुज्ञाय, 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति प्राणव्रतमतिवादित्वमनुकृष्यापरित्यज्यैव प्राणं

विनैवोक्त[7]लिङ्गेन प्राणादभिन्न इत्याह—कस्मादित्यादिना । प्राणाद्भूय इति, न दृश्यत इति पूर्वेण सम्बन्धः । ननु 'एष तु वा अतिवदति' इति तुशब्देन प्राणप्रकरणविच्छेदान्न प्राणो भूमेत्यत आह—प्राणमेवेति । नामाद्याशान्तानुपास्यानतीत्य प्राणं श्रेष्ठं वदतीत्यतिवादी प्राणवित्, तं प्रति अतिवाद्यसीति केनचित्प्रश्ने कृते अस्मीति ब्रूयात्, नाहमतिवादीत्यपह्नवं न कुर्यादित्युक्तम् । प्राणविदमेष इति परामृश्य सत्यवचनध्यानमननश्रद्धा[8]दिधर्मपरम्परां [9]विधाय भूमोपदेशान्न प्रकरणविच्छेदः ।

से किसका ग्रहण उचित है और किसका त्याग उचित है ? ऐसा संशय होता है ।

अस्तु, आप पूर्वपक्षी क्या मानते हैं ? इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि प्राण ही भूमा है क्योंकि प्राण उपदेश के बाद पुनः प्रश्न और उत्तर की परम्परा नहीं देखी जाती, जैसा 'हे भगवन् ! नाम से बड़ा कौन है ?' नारद जी के इस प्रश्न का उत्तर सनत्कुमार जी ने दिया 'नाम से श्रेष्ठ वाणी है ।' 'फिर भगवन् ! वाणी से श्रेष्ठ कौन है ?' इस प्रश्न के उत्तर में सनत्कुमार ने कहा कि 'वाणी से श्रेष्ठ मन है ।' इस प्रकार नाम से लेकर प्राण-पर्यन्त तत्त्व के सम्बन्ध में बार-बार प्रश्न और प्रतिवचन का प्रवाह जैसा दीखता है वैसा प्राण के बाद प्रश्न-प्रतिवचन प्रवाह नहीं दीखता कि 'भगवन् ! प्राण से श्रेष्ठ कौन है ?' और 'वह प्राण से श्रेष्ठ है ।' ऐसा न प्रश्न है न उत्तर है । अतः नाम से लेकर आशा पर्यन्त श्रेष्ठ तत्त्व प्राण ही है इत्यादि वाक्य द्वारा विस्तारपूर्वक कहने के बाद प्राणदर्शी में अतिवादित्व भी कहा है अर्थात् प्राणतत्त्व जानने वाले को यदि कोई कहता हो कि तू अतिवादी है तो उसे कहना चाहिए कि हाँ, मैं अतिवादी हूँ, छिपाना नहीं चाहिए, ऐसी अनुज्ञा देकर श्रुति ने कहा है कि 'यह उपासक अतिवादी है जो सत्य से अतिवदन करता है' इस वाक्य से प्राण उपासक में अतिवादित्व बतलाकर उस प्रसङ्ग को छोड़े बिना ही सत्यादि की परम्परा से प्राणरूप

१. भावभाविनोस्तादात्म्यविवक्षया प्राणो भूमा परमात्मा भूमेति सामानाधिकरण्यं बोध्यम् । २. महत्तरविषयत्वेन । ३. महत्तरविषयत्वेन । ४. प्राणभूयस्त्वाभिधानानन्तरं महत्तरविषयत्वेन प्रश्नादिकं न दृश्यते इत्यन्वयः । ५. दृष्टिविषयत्वेन निषेध्य प्रश्नादिकमभिनयति—अस्तीति । ६. एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यस्तीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत । ७. लिङ्गेनेति—प्राणादूर्ध्वं महत्तरार्थविषयत्वेन प्रश्नस्य प्रतिवचनस्य वाऽदर्शनात्मकेनेत्यर्थः । प्राणभूयस्त्वाभिधानानन्तरं महत्तरार्थ प्रत्यपृष्टे नोच्यमानो भूमा तु प्राण एव भवितुमर्हतीति फक्किकार्थः । ८. निष्ठाकृत्योर्ग्रहणायादिपदम् । ९. विधायेति—अतिवादित्वे सत्यादिशब्देभ्यः सत्यवचनादिगुणान् विधायेत्यर्थः ।

सत्यादिपरम्परया भूमानम[१]वतारयन् 'प्राणमेव भूमानं मन्यते' इति गम्यते। कथं पुनः प्राणे भूमनि व्याख्यायमाने 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतद्भूम्नो लक्षणपरं वचनं व्याख्यायेतेति। [२]उच्यते—सुषुप्त्यवस्थायां प्राणग्रस्तेषु करणेषु दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिदर्शनात्सम्भवति प्राणस्यापि 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतल्लक्षणम्। [३]तथाच श्रुतिः, 'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिना सर्वकरणव्यापारप्रत्यस्तमयरूपां सुषुप्त्यवस्थामुक्त्वा 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' (प्र० ४-२-३) इति तस्यामेवावस्थायां पञ्चवृत्तेः प्राणस्य जागरणं ब्रुवती प्राणप्रधानां सुषुप्त्यवस्थां दर्शयति। [४]यच्चैतद्भूम्नः सुखत्वं श्रुतम्—'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७-२३-१)इति, तदप्यविरुद्धम्। 'अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीरे एतत्सुखं भवति' (प्र० ४-६) इति सुषुप्त्यवस्थायामेव सुखश्रवणात्। [५]यच्च 'यो वै भूमा तदमृतम्' (छा० ७-२४-१) इति, तदपि प्राणस्याविरुद्धं, 'प्राणो वा अमृतम्' (कौ० ३-२) इति श्रुतेः। [६]कथं पुनः प्राणं भूमानं मन्यमानस्य 'तरति शोकमात्मवित्'।

तुशब्दो नामाद्युपासकस्यातिवादित्वनिरासार्थ इत्यर्थः। भूम्नो लक्षणवचनं सुखत्वममृतत्वं च प्राणे प्रश्नपूर्वकं योजयति—कथं पुनरित्यादिना। प्राणग्रस्तेषु प्राणे लीनेषु, न शृणोति सुषुप्तः पुरुष इति शेषः। 'गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचन आहवनीयः प्राणः' (प्र० ४-३) इति [७]श्रुतेः, प्राणा अग्नय इह पुरे शरीरे जाग्रति [८]सव्यापारा एव तिष्ठन्तीत्यर्थः। देवो जीवः। अथ तदा स्वप्ना-

---

भूमा का उपदेश किया है, इसीलिए प्राण को ही भूमा मानते हैं ऐसा अर्थ जान पड़ता है। प्रश्न—प्राणरूप भूमा का उपदेश कर देने पर 'जहाँ दूसरे को देखता नहीं' इत्यादि भूमा का लक्षण वचन प्राण में कैसे घट सकता है? समाधान—निद्रावस्था में सभी करण जब प्राण में लीन हो जाते हैं तब दर्शनादि व्यवहार निवृत्त देखा जाता है इसलिए प्राण में भी 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादिक लक्षण घट सकता है। ऐसी ही 'न सुनता है, न देखता है' इत्यादि श्रुति सभी इन्द्रियों के व्यापार की अभावरूपा निद्रावस्था को कहकर 'उस निद्राग्रस्त शरीर में केवल प्राणाग्नि जागते रहते हैं' इस वाक्य से उस सुषुप्तावस्था में पाँच व्यापार वाले प्राण का जागरण बतलाती हुई सुषुप्ति को प्राण प्रधान कहती है। और जो भूमा में 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इस वाक्य से सुखरूपत्व सुना गया है वह भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि 'जहाँ यह सोया हुआ पुरुष स्वप्न को नहीं देखता है तब इस शरीर में सुखपूर्वक रहता है' इस वाक्य द्वारा निद्रावस्था में ही सुख सुना गया है।' और जो भूमा है वह अमृत है' यह वचन भी प्राण के लिए अविरुद्ध ही है क्योंकि कौषीतकि उपनिषद् में प्राण को अमृत कहा है। प्रश्न—भूमा का अर्थ प्राण मानने वाले के पक्ष में यहाँ 'आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता

---

१. समुपदिशन्। २. अवस्थाविशेषमाश्रित्याऽऽह—उच्यत इति। ३. लोकप्रसिद्धया सम्भावितं श्रुत्या स्पष्टयति—तथा चेति। यद्वा तत्राप्यात्मन्येव लक्षणं तस्यास्तत्प्रधानत्वादित्याशङ्क्याह—तथा चेति। ४. सुखत्वं प्राणे योजयति—यच्चेति। यस्यामवस्थायामेष देवो बुद्ध्याद्युपाधिको जीवः स्वप्नानुच्चावचान्नोपलभते तदा यत् सुखं तदस्मिन् शरीरे भवति नोपायान्तरसाध्यमित्यर्थः। सुषुप्तेश्च प्राणप्राधान्यात्तस्यैव तत्सुखमिति शेषः। ५. अमृतत्वमपि प्राणे योजयति—यच्चेति। ६. प्राणे भूम्निप्रकरणविरोधं शङ्कते—कथमिति। ७. श्रुत्याऽग्नित्वेन निरूपितत्वात्। ८. स्वापेऽपि व्यापारवन्तो भवन्तीत्यर्थः।

इत्यात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपद्यते । प्राण एवेहात्मा विवक्षित इति ब्रूमः । तथाहि—'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः' (छा० ७-१५-१) इति प्राणमेव सर्वात्मानं करोति । 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्' इति च सर्वात्मत्वारनाभिनिदर्शनाभ्यां च सम्भवति वैपुल्यात्मिका भूमरूपता प्राणस्य । तस्मात्प्राणो भूमेत्येवं प्राप्तम् ।

तत इदमुच्यते—परमात्मैवेह [1]भूमा भवितुमर्हति, न प्राणः । कस्मात् ? सम्प्रसादादध्युपदेशात् । सम्प्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते, सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति निर्वचनात् । बृहदारण्यके च स्वप्नजागरितस्थानाभ्यां सह पाठात् तस्यां च सम्प्रसादावस्थायां प्राणो जागर्तीति प्राणोऽत्र सम्प्रसादोऽभिप्रेयते । प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदिश्यमानत्वादित्यर्थः । प्राण एव चेद्भूमा स्यात्स एव तस्मादूर्ध्वमुपदिश्येतेत्यश्लिष्टमेतत् स्यात् । न हि नामैव नाम्नो भूयः

दर्शनकाले सुखश्रवणात्प्राणस्य सुखत्वमविरुद्धमित्यन्वयः । आत्मपदेनोपक्रमविरोधं [2]परिहरति—प्राण एवेति । **प्राणस्यात्मत्वं कथमित्याशङ्क्य श्रुतत्वादित्याह—**तथा हीति । **सर्वं समर्पितमिति च सर्वाधिष्ठानं प्राणं स्वीकरोति श्रुतिरित्यन्वयः । अत आत्मत्वं प्राणेऽपि मुख्यमिति भावः । भूमरूपत्वं योजयति—**सर्वात्मत्वेति ।

सम्प्रसादशब्देन प्राणं लक्षयितुं मुख्यार्थं वर्शयति—सम्प्रसाद इति । **'स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे स्थित्वा पुनराद्रवति' (बृ० ४-३-१५) इति प्रयोगाच्च । तत्पदं सुषुप्तिवाचकमित्याह—**बृहदिति । **वाच्यार्थसम्बन्धात्प्राणो लक्ष्य इत्याह—**तस्यां चेति । **अत्र सूत्र इत्यर्थः । भूमा प्राणाद्भिन्नोऽत्राध्याये, तस्मादूर्ध्वमुपदिष्टत्वान्नामादेरूर्ध्वमुपदिष्टवागादिवदित्यर्थः । विपक्षे हेतूच्छेदं बाधकमाह—**प्राण एव चेदिति । **स्वस्यैव स्वस्मादूर्ध्वमुपदिष्टत्वमयुक्तं, नामादिष्वदृष्टं चेत्यर्थः । हेत्वसिद्धिं शङ्कते—**

है' इस वाक्य द्वारा आत्मा को जानने की इच्छा से प्रकरण का उत्थान कैसे युक्तिसङ्गत हो सकेगा ? उत्तर—इस पक्ष में प्राण को ही आत्मा कहना अभीष्ट है, ऐसा हम मानते हैं । 'क्योंकि प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण ही भ्राता, प्राण ही बहन है प्राण आचार्य है और प्राण ब्राह्मण है' इस वाक्य द्वारा श्रुति प्राण को सर्वातमा रूप में स्वीकार करती है । जैसे रथ की नाभि में अरे जुड़े होते हैं ऐसे ही इस प्राण में सभी जूड़े (समर्पित) है' इस वाक्य से सर्वातमत्व एवं अर-नाभि निदर्शन के द्वारा प्राण में वैपुल्यात्मिका भूमरूपता सम्भव हो जाती है । अतः प्राण भूमा है ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त की ओर से यह सूत्र कहा गया है ।

इस श्रुति में भूमा पद का अर्थ परमात्मा ही है प्राण नहीं क्योंकि सम्प्रसाद के पश्चात् भूमा का उपदेश देखा जाता है । जिस अवस्था में जीवात्मा सम्यक् प्रकार से प्रसन्न हो जाता है उसे सम्प्रसाद कहते हैं, इस निर्वचन के आधार पर सुषुप्त स्थान हो सम्प्रसाद माना जाता है । बृहदारण्यक उपनिषद् में भी स्वप्न स्थान और जाग्रत् स्थान के साथ सम्प्रसाद शब्द का पाठ मिलता है इसलिए सम्प्रसाद अवस्था में प्राण जागता रहता है, अतः सम्प्रसाद शब्द का लक्ष्यार्थ प्राण अभिप्रेत हैं और प्राण के बाद भूमा का उपदेश देखा जाता है । इस स्थिति में

---

१. भूम्नो धाम्नधकाङ्क्षायां ब्रह्मणः सत्यस्याधिकारात्तदेव सम्बध्यत इति भावः । २. प्राणस्यैवात्रात्मत्वाच्च तद्विरोधोऽस्तीत्यर्थः ।

इति नाम्न ऊर्ध्वमुपविष्टम् । किं तर्हि ? नाम्नोऽन्यदर्थान्तरमुपदिष्टं वागाख्यम्—'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति । तथा वागादिभ्योऽप्या प्राणादर्थान्तरमेव 'तत्र तत्रोर्ध्वमुपविष्टम्, तद्वत्प्राणादूर्ध्वमुपदिश्यमानो भूमा प्राणादर्थान्तरभूतो भवितुमर्हति । नन्विह नास्ति प्रश्नः 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति, नापि प्रतिवचनमस्ति 'प्राणाद्वाव भूयोऽस्ति' इति, कथं प्राणादधि भूमोपदिश्यत इत्युच्यते ।'प्राणविषयमेव चातिवादित्वमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं पश्यामः—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति । तस्मान्नास्ति प्राणादध्युपदेश इति । अत्रोच्यते—न तावत्प्राणविषयस्यैवातिवादित्वस्यैतदनुकर्षणमिति शक्यं वक्तुं, विशेषवादात् 'यः सत्येनातिवदति' इति । ननु विशेषवादोऽप्ययं प्राणविषय एव भविष्यति । 'कथम् ? 'यथैषोऽग्निहोत्री यः सत्यं वदतीत्युक्ते न सत्यवदनेनाग्निहोत्रित्वं, केन तर्हि? अग्निहोत्रेणैव । सत्यवदनं त्वग्निहोत्रिणो विशेष उच्यते । तथा

नन्विहेति । प्रकृतप्राणवित्परामर्शक एषशब्दो न भवति, 'तस्य यच्छब्दपरतन्त्रत्वेन सत्यातिवादिवाचित्वात् । अतः प्राणप्रकरणं विच्छिन्नमिति हेतुसिद्धिरित्याह—अत्रोच्यत इति । सत्येनातिवादित्वं विशेषः, तद्वतो य एष इत्युक्तेर्न 'पूर्वानुकर्ष इत्यर्थः । 'य एष प्राणविदतिवदतीत्यनूद्य स सत्यं वदेदिति विधानान्न प्राणप्रकरणविच्छेद इति दृष्टान्तेन शङ्कते—नन्विति । सत्यशब्दो ह्यबाधिते रूढो ब्रह्म-

---

यदि भूमा का अर्थ प्राण ही माना जाय तो वही प्राण, प्राण के पश्चात् उपदिष्ट माना जायेगा। जो युक्ति-संगत नहीं है क्योंकि नाम से श्रेष्ठ जहाँ कहा गया है वहाँ नाम ही श्रेष्ठ नहीं है अपितु नाम से भिन्न अर्थान्तर उपदिष्ट है जिसे वाक् कहते हैं। निःसन्देह नाम से वाणी श्रेष्ठ मानी जाती है वैसे ही वाणी आदि से भी प्राणपर्यन्त उत्तरोत्तर श्रेष्ठ तत्तद् पर्याय में अर्थान्तर ही माना जायेगा। ठीक इसी प्रकार प्राण के बाद उपदिश्यमान भूमा पदार्थ प्राण से भिन्न होना चाहिए। प्रश्न—यहाँ पर **'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः'** ऐसा प्रश्न नारद जी ने नहीं किया और न **'प्राणाद्वाव भूयोऽस्ति'** ऐसा उत्तर ही सनत्कुमार जी का है फिर भला प्राण के बाद अर्थान्तर का उपदेश भूमा पद से कैसे माना जाय ? इसके अतिरिक्त आगे प्रतीत होनेवाला अतिवादित्व भी प्राणविषयक ही हम देखते हैं 'यह अतिवादी है जो सत्य द्वारा अतिवदन करता है' इस वाक्य में प्राण उपासक को ही अतिवादी कहा है, अतः प्राण के पश्चात् अर्थान्तर का उपदेश नहीं है ? उत्तर—इस पर हम (सिद्धान्ती) कहते हैं कि प्राणविषयक अतिवादित्व का यह अनुकर्षण नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो सत्य से अतिवदन करता है वह अतिवादि है। प्रश्न—यह सत्यपदवाच्य विशेष वाद भी प्राणविषयक ही माना जायेगा क्योंकि जैसे यह अग्निहोत्री जो सत्य बोलता है ऐसा कहने पर सत्यवदन के कारण उसमें अग्निहोत्रित्व नहीं है किन्तु अग्निहोत्र के कारण अग्निहोत्रित्व उसमें है। अग्निहोत्री में सत्यवदन विशेष कहा गया है। वैसे ही, यह अतिवादी है जो सत्य से

---

१. पर्याये । २. उपदिष्टमिति—अस्मिन् प्रकरणे यस्मादूर्ध्वं यो निर्दिश्यते स ततोऽतिरिच्यते । प्राणाच्चोपरिष्टादुपदिष्टो भूमेति सोऽपि ततोऽन्यः स्यादिति भावः । ३. स्वपक्षे पूर्ववादी हेतोः सत्वमाह—प्राणेति । ४. सत्यस्य प्रधानत्वाद्विशेषवादस्य तद्विषयत्वमेव न प्राणविषयतेत्याह—कथमिति । ५. सत्यशब्दो यथार्थोक्तिवाचीत्यङ्गीकृत्य दृष्टान्तेन प्रत्याह—यथेति । ६. एष शब्दस्य । ७. पूर्वस्य प्राणस्य नानुकर्षः । ८. एष शब्दस्य यच्छब्दपारतन्त्र्यान्न प्रकृतप्राणवित्परामर्शित्वमतोऽवान्तरप्रकरणं विच्छिन्नमित्युक्ते सतीति शेषः ।

'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इत्युक्ते न सत्यवदनेनातिवादित्वम् । केन तर्हि? प्रकृतेन प्राणविज्ञानेनैव । सत्यवदन तु प्राणविदो [1]विशेषो [2]विवक्ष्यत इति । नेति ब्रूमः । श्रुत्यर्थपरित्यागप्रसङ्गात् । श्रुत्या ह्यत्र सत्यवदनेनातिवादित्वं प्रतीयते—'यः सत्येनातिवदति सोऽतिवदति' इति । नात्र प्राणविज्ञानस्य सङ्कीर्तनमस्ति । प्रकरणात्तु प्राणविज्ञानं [3]सम्बध्येत । [4]तत्र प्रकरणानुरोधेन श्रुतिः परित्यक्ता स्यात् । प्रकृतव्यावृत्त्यर्थश्च तुशब्दो न संगच्छेत 'एष तु वा अतिवदति' इति । 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ७-१६-१) इति च प्रयत्नान्तरकरणमर्थान्तरविवक्षां सूचयति । [5]तस्माद्यथैकवेदप्रशंसायां प्रकृतायामेष तु महाब्राह्मणो यश्चतुरो वेदानधीत इत्येकवेदेभ्योऽर्थान्तरभूतश्चतुर्वेदः प्रशस्यते [6]तादृगेतद्द्रष्टव्यम् । नच प्रश्नप्रतिवचनरूपयैवार्थान्तरविवक्षया भवितव्यमिति निय-

बाचकः, तदन्यस्य मिथ्यात्वात् । सत्यवचने त्वबाधितार्थसम्बन्धाल्लाक्षणिक इति नात्र लक्ष्यवचनविधिरित्याह–नेति ब्रूम इति । [7]किञ्च सत्येन [8]ब्रह्मणातिवदतीति तृतीयाश्रुत्या [9]ब्रह्मकरणकमतिवादित्वं श्रुतं, तस्य प्रकरणाद्बाधो न युक्त इत्याह—श्रुत्या हीत्यादिना । नात्रेति । सत्यवाक्य इत्यर्थः । एवं सत्येनेति श्रुत्या प्रकरणं बाध्यमित्युक्त्वा तुशब्देनापि तद्बाध्यमाह–प्रकृतेति । [10]विजिज्ञास्यत्वलिङ्गाच्च [11]पूर्वोक्ताद्भिन्नमित्याह—सत्यं त्वेवेति । प्रकरणविच्छेदे दृष्टान्तमाह—तस्मादिति । श्रुतिलिङ्गबलादेतत्सत्यं प्रकृतात्प्राणात्[12]प्राधान्येन भिन्नं द्रष्टव्यमित्यर्थः । एवमतिवादित्वस्य ब्रह्मसम्बन्धोक्त्या प्राणलिङ्गत्वं निरस्तम् । यत्तु प्रश्नं विनोक्तत्वलिङ्गाद्भूमा प्राण इति । तन्न, तस्याप्रयोजकत्वादित्याह—न चेति । प्रश्नभेदादर्थभेद इति न नियमः, एकस्यात्मनो मैत्रेय्या [13]बहुशः पृष्टत्वात् । प्रश्नं

अतिवदन करता है ऐसा कहने पर सत्यवदन के कारण अतिवादित्व नहीं है किन्तु प्राणविज्ञान के कारण ही अतिवादित्व है । सत्य बोलना तो प्राण उपासक का एक विशेष बतलाया गया है ? उत्तर—हम इसे ठीक नहीं मानते हैं क्योंकि इसमें श्रुत्यर्थ का परित्याग हो जाता है और यहाँ पर सत्यवदन के कारण ही अतिवादित्व श्रुतिमुख से प्रतीत होता है जो सत्य के कारण अतिवादी है वह वस्तुतः अतिवादी है । प्राण-विज्ञान का तो यहाँ कथन ही नहीं है, प्रकरण से प्राण-विज्ञान का यदि सम्बन्ध माना जायेगा तो प्रकरण प्रमाण के अनुरोध से श्रुति परित्यक्त हो जायेगी । प्रकृत व्यावृत्ति के लिए इस मन्त्र में आया हुआ "तु" शब्द सङ्गत नहीं होगा 'यह अतिवादी है जो सत्य से अतिवदन करता है ।' सत्य को ही जानना चाहिए इसमें प्रयत्नान्तर का होना अर्थान्तर विवक्षा को सूचित करता है । जैसे एक वेद जानने वाले की प्रशंसा का प्रसङ्ग चल रहा हो तो यह महाब्राह्मण है क्योंकि यह चार वेदों को पढ़ता है, इस

१. गुणः । २. विधीयते । ३. सम्बद्ध्येत अतिवादित्वे हेतुत्वेनेति शेषः । ४. प्रकरणस्य प्रमाणत्वात्तत्कृतोऽपि सम्बन्धोऽनुरोद्धव्य इत्याशङ्क्याह—तत्रेति । अतिवादित्व इति । ५. अवान्तराधिकारविच्छेदात् । ६. प्राणादेरर्थान्तरं सत्यं प्रशंसितुं सत्यज्ञानेनातिवादित्वमुक्तमित्याह—तादृगिति । ७. साधकतमार्थया तृतीयाश्रुत्या सत्यविज्ञानेनातिवादित्वान्तरविधानात्प्रकरणेन श्रुत्यर्थपरित्यागासिद्धिरित्याह—किंचेति । ८. ब्रह्म विज्ञानेन । ९. ब्रह्मविज्ञानकरणकम् । १०. यत्तु सत्यशब्दस्य गुणविधिपरत्वं तन्न, वाक्यान्तरविरोधादित्याशयेन वाक्यान्तरमवतारयति—विजिज्ञास्यत्वेति । ११. पूर्वोक्तात् प्राणात्सत्यं भिन्नमित्यर्थः । १२. प्राधान्येनेति—नतूपसर्जनतयेति भावः । १३. बहुशः पृष्टत्वादिति—तथाच प्रश्नभेदेऽप्यर्थ एक एवात्मेति भावः ।

मोऽस्ति । [1]प्रकृतसम्बन्धासम्भवकारितत्वादर्थान्तरविवक्षायाः । [2]तत्र प्राणान्तमनुशासनं श्रुत्वा तूष्णींभूतं नारदं स्वयमेव सनत्कुमारो व्युत्पादयति । यत्प्राणविज्ञानेन विकारानृतविषयेणातिवादित्वमनतिवादित्वमेव तत्—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति । [3]तत्र सत्यमिति परं ब्रह्मोच्यते, परमार्थरूपत्वात् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१) इति च श्रुत्यन्तरात् । [4]तथा व्युत्पादिताय नारदाय 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि' इत्येवं [5]प्रवृत्ताय विज्ञानादिसाधनपरम्परया भूमानमुपदिशति । [6]तत्र यत्प्राणादधि सत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातं तदेवे[7]ह भूमेत्युच्यत इति गम्यते । [8]तस्मादस्ति प्राणादधि भूम्न उपदेश इत्यतः प्राणादन्यः परमात्मा भूमा भवितुमर्हति ।

बिनोक्तचतुर्वेदस्य प्रकृतैकवेदाद्भिन्नत्वदर्शनाच्चेत्यर्थः । तत्र यथा 'चतुर्वेदत्वस्य प्रकृतासम्बन्धादर्थभेदः, एवमिहापीति स्फुटयति—तत्रेत्यादिना । सत्यपदेन प्राणोक्तिरित्यत आह—तत्र सत्यमिति । विज्ञानं निदिध्यासनम् । आदिपदान्मननश्रद्धाश्रवणमनःशुद्धिनिष्ठातद्धेतुकर्माणि गृह्यन्ते । इमान्यपि श्रवणादीनि ज्ञेयस्य सत्यस्य ब्रह्मत्वे लिङ्गानि । एवं श्रुतिलिङ्गैः प्राणस्यावान्तरप्रकरणं बाधित्वा प्रस्तुतं सत्यं ब्रह्म भूमपदोक्तबहुत्वधर्मेत्याह—तत्र यदिति । किञ्च 'सन्निहितादपि व्यवहितं साकाङ्क्षं बलीयः' इति न्यायेन सन्निहितं निराकाङ्क्षं प्राणं दृष्ट्वा वाक्योपक्रमस्थ आत्मा "स्वप्रति-

---

प्रकार एक वेद से अर्थान्तर चतुर्वेद शब्द प्रसिद्ध माना जाता है। यदि कहो कि प्रश्नोत्तर रूप अर्थान्तर की विवक्षा हो जायेगी तो ऐसा नियम नहीं है। प्रकृत सम्बन्ध असम्भव होने के कारण अर्थान्तर विवक्षा से कहा गया है। वहाँ पर प्राणपर्यन्त उपदेश सुनकर जब नारद जी चुप हो गये तो स्वयं ही सनत्कुमार जी नारद जी को बतलाते हैं कि कार्य अनृत है, विषयक प्राणविज्ञान के कारण किसी में अतिवादित्व कहना वस्तुतः अतिवादित्व नहीं है किन्तु 'यह अदिवादी है क्योंकि यह सत्य से अतिवदन करता है।' इस वाक्य में सत्य शब्द का अर्थ परब्रह्म है क्योंकि वह परमार्थ स्वरूप होने के कारण अबाधित है और इस अर्थ में **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** ऐसी दूसरी श्रुति भी है। इस पर नारद जी ने कहा कि मैं सत्य के द्वारा ही अतिवदन करूँगा और इस रीति से व्युत्पन्न सत्यतत्त्व को जानने के लिए प्रवृत्त नारद को विज्ञानादि साधनों की परम्परा से भूमा का उपदेश सनत्कुमार जी ने किया है वहाँ पर प्राण से श्रेष्ठ जिस सत्य को बतलाने की प्रतिज्ञा की गयी थी उसी को इस वाक्य में भूमा शब्द से कहा गया है ऐसा जान पड़ता है। अतः मानना पड़ेगा कि प्राण से परे श्रेष्ठ तत्त्व भूमा का उपदेश है इसीलिए प्राण से भिन्न परमात्मा ही भूमा हो सकता

---

१. किं तर्हि कारणमर्थान्तरविवक्षायामित्याशङ्क्याह—प्रकृतेति । असति प्रकृतसम्बन्धायोगे सतोरपि प्रश्नप्रतिवचनयोरर्थैक्यस्य मैत्रेय्यादौ दृष्टत्वात्तदभावेऽपि प्रकृतसम्बन्धायोगे तद्भेदस्य चतुर्वेदे दर्शनात्प्रश्नादिसत्त्वमर्थान्तरत्वानिमित्तमिति भावः, एतेन नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयादिति स्मृतेरप्रश्ने प्रत्युक्तिरयुक्तेत्यपास्तम् । २. सत्यामर्थान्तरविवक्षायाम् । ३. सत्यवाक्ये । ४. न प्राण एव सत्यपदार्थो भूमाऽपितु ततोऽन्यः स इति व्युत्पत्तियुक्तायेत्यर्थः । ५. प्रवृत्तायेति—तथा मां विनियुनक्तु भगवान्यथाऽहं सत्येनातिवदानि । यथाऽहं सत्यवादी स्यामिति यावदित्येवं सत्यजिज्ञासायां प्रवृत्तायेत्यर्थः । ६. हेतूक्तिद्वारा भूमोपदेशे प्रस्तुते सति । ७. सत्यत्व वेति सत्यवाक्ये । ८. हेत्वसिद्धिमुद्धृत्य फलितमाह—तस्मादिति । ९. प्रश्न विनैवेति शेषः । १०. आत्मा ।

[1]एवं चेहात्मविविविषया प्रकरणस्योत्थानमुपपन्नं भविष्यति। [2]प्राण एवे[3]हात्मा विवक्षित इत्येतदपि नोपपद्यते। नहि प्राणस्य मुख्यया वृत्याऽऽत्मत्वमस्ति। नचान्यत्र परमात्मज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६-१५) इति श्रुत्यन्तरात्। 'तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७-१-३) इति चोपक्रम्योपसंहरति—'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' (छा० ७-२६-२) इति। तम इति शोकादिकारणमविद्योच्यते। [4]प्राणान्ते चा[5]नुशासने न प्राणस्यान्यायत्ततोच्येत। 'आत्मतः [6]प्राणः' (छा० ७-२६-१) इति च ब्राह्मणम्। [7]प्रकरणान्ते परमात्मविवक्षा भविष्यति, भूमा तु प्राण एवेति चेत्। न, 'स[8] भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७-२४-१) इत्यादिना भूम्न एव आ प्रकरणसमाप्तेरनुकर्षणात्। [9]वैपुल्यात्मिका च भूमरूपता सर्वकारणत्वात्परमात्मनः [10]सुतरामुपपद्यते ॥८॥

पादनाय भूमवाक्या[11]पेक्ष इह भूमा ग्राह्य इत्याह—एवं चेति। किञ्च 'शोकस्य पारम्' इत्युपक्रम्य 'तमसः पारम्' इत्युपसंहारात्, शोकस्य मूलोच्छेदं विना तरणायोगाच्च शोकपदेन मूलतमो गृह्यते। तन्निवर्तकज्ञानगम्यस्वलिङ्गादात्मा ब्रह्मेत्याह—न चान्यत्रेति। ब्राह्मणमात्मायत्तत्वं प्राणस्य वदतीति सम्बन्धः। नन्विदं चरमं ब्राह्मणं ब्रह्मपरमस्तु, ततः प्रागुक्तो भूमा प्राण इति शङ्कते—प्रकरणान्त इति। तच्छब्देन भूमानुकर्षान्मैवमित्याह—नेति ॥८॥

है। ऐसा मानने पर यहाँ आत्मतत्त्व जानने की इच्छा से प्रकरण का उत्थान भी सिद्ध हो जायेगा। शोक निवृत्ति वाक्य में प्राण ही आत्मा शब्द से कहा गया ऐसा समझना ठीक नहीं है। प्राण अर्थ में मुख्यवृत्ति से आत्मशब्द का प्रयोग नहीं कर सकते क्योंकि परमात्मज्ञान के बिना केवल प्राणविज्ञान से शोक की निवृत्ति हो ही नहीं सकती है। 'मोक्ष के लिए ब्रह्मज्ञान से भिन्न कोई मार्ग है ही नहीं' ऐसा दूसरी श्रुति भी कहती है। प्रसङ्ग प्रारम्भ में नारद जी ने यह कहा था कि भगवन्! मुझे शोक से पार कर दें और उपसंहार में कहा गया है कि विशुद्धान्तःकरण को भगवान् सनत्कुमार ने अज्ञानान्धकार से पार कर डाला। शोकादि के कारण अविद्या को ही तमःशब्द से कहा गया है। इस उपदेश के अन्त में प्राण को अन्याधीन कहना भी नहीं बनता है। 'आत्मतः प्राणः' इस ब्राह्मण वाक्य में आत्मा से ही प्राण का अस्तित्व कहा है। प्रश्न—यदि कहा जाय कि प्रकरण की समाप्ति में परमात्मा की विवक्षा भले ही मानी जाय फिर भी भूमातत्त्व तो प्राण ही है? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं। जब नारद जी ने पूछा 'भगवन्! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है? उत्तर में सनत्कुमार जी ने कहा कि वह अपनी महिमा मे प्रतिष्ठित है।' इन वाक्यों से प्रकरण समाप्ति तक भूमा का ही अनुकर्षण दीखता है अतः वैपुल्यात्मिका भूमरूपता सम्पूर्ण जगत् का कारण होने से परमात्मा में सुतरां सिद्ध हो जाता है ॥८॥

१. भूमपदार्थस्य परमात्मत्वे च। २. यत्तु प्राणविषयत्वमात्मशब्दस्योक्त तदनूद्य दूषयति—प्राण इति। ३. शोकनिवृत्तिवाक्ये। ४. प्राणपर्यन्ते। किञ्च प्राणो यदायत्तस्तस्येदं प्रकरणमित्यात्मैव प्रकरणी भूमेत्याह—प्राणान्ते चेति। ५. उपदेशे विवक्षिते। ६. आत्मन एव प्राणो जायत इत्यर्थः। ७. प्राणप्रकरणसमाप्तौ। ८. भूमा। ९. किञ्च भूमरूपतापि प्राणे न मुख्येत्याह—वैपुल्येति। १०. प्राणस्य स्वविकारापेक्षया भूमत्वेऽपि न मुख्यमिति वक्तुं सुतरामित्युक्तम्। ११. धर्मित्वेनेति शेषः।

(७२) धर्मोपपत्तेश्च ॥६॥

अपि च ये भूम्नि श्रूयन्ते धर्मास्ते परमात्मन्युपपद्यन्ते । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति [१]दर्शनादिव्यवहाराभावं भूमन्यवगमयति । [२]परमात्मनि चायं दर्शनादिव्यवहाराभावोऽवगतः । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४-५-१५) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । योऽप्यसौ [३]सुषुप्तावस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव [४]उक्तः सोऽप्यात्मन एवासङ्गत्वविवक्षयोक्तो न प्राणस्वभावविवक्षया, [५]परमात्मप्रकरणात् । यदपि तस्यामवस्थायां सुखमुक्तं, तदप्यात्मन एव सुखरूपत्वविवक्षयोक्तम् । यत आह—'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४-३-३२) इति । [६]इहापि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्' इति [७]सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति । 'यो [८]वै भूमा तदमृतम्' इत्यमृतत्व-

---

भूम्नो ब्रह्मत्वे लिङ्गान्तरमाह—धर्मेति । सूत्रम् । यदुक्तं भूम्नो [९]लक्षणं, सुखत्वममृतत्वं च प्राणेषु योज्यमिति तदनूद्य विघटयति—योऽप्यसावित्यादिना । सति बुद्ध्याद्युपाधावात्मनो द्रष्टृत्वादिः, [१०]तदभावे सुषुप्तौ [११]तदभाव इत्यसङ्गत्वज्ञानार्थं प्रश्नोपनिषदि 'न शृणोति न पश्यति' (प्र० ४-२) इति परमात्मानं प्रकृत्योक्तम् । तथा [१२]तत्रैवात्मनः सुखत्वमुक्तं न प्राणस्य । यतः श्रुत्यन्तरमात्मन एव

धर्मोपपत्तेश्च (ललिता)

भूमतत्त्व में जो धर्म सुने जाते हैं वे परमात्मा में ही घटते हैं। 'जहाँ दूसरे को देखता नहीं, दूसरे को सुनता नहीं, दूसरे को जानता नहीं, वह भूमा है।' यह श्रुति दर्शनादि व्यवहाराभाव भूमा में बतलाती है जो दर्शनादि व्यवहाराभाव परमात्मा में ही अवगत है किन्तु 'जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो गया वहाँ पर किससे किसको देखें' ऐसी दूसरी श्रुति से भी दर्शनादि व्यवहाराभाव परमात्मा में ही जाना गया है और जो सुषुप्ति अवस्था में दर्शनादि व्यवहार कहा गया है वह भी आत्मा की ही असङ्गता बतलाने की इच्छा से कहा गया, प्राण स्वभाव बतलाने की इच्छा से नहीं कहा है। क्योंकि वह प्रकरण परमात्मा का है। और जो उस सुषुप्तावस्था में सुख बतलाया गया वह भी आत्मा के ही सुखरूपत्व विवक्षा से कहा गया है। 'इस जीव का यह सबसे बड़ा आनन्द है, इसी आनन्द के अंश को लेकर सभी भूत जीवित रहते हैं' इस श्रुति में भी आत्मा को सुखरूप कहा गया है। यहाँ पर 'जो भूमा है वह सुखरूप है, परिच्छिन्न में सुख नहीं है, भूमा ही सुखरूप है' इस वाक्य से नाशादि दोष दूषित सुख का निराकरण कर ब्रह्मस्वरूप सुखरूप भूमा को बतलाते हैं। साथ ही 'निःसन्देह जो भूमा है वह अमृत है' इस वाक्य द्वारा यहाँ पर सुना गया अमृतत्व भी परमकारण

---

१. उपपत्तिं दर्शयितुं भूम्नि दर्शनाद्यभावं दर्शयति—यत्रेति । २. कथमेतावता परमात्मधीस्तत्राह—परमात्मनीति । ३. सुषुप्त्यवस्थायामिति युक्तः पाठः । ४. न शृणोतीत्यादिना । ५. परमात्मप्रकरणे न शृणोतीत्यादेरुक्तेरित्यर्थः । ६. इतश्चात्मन एव सुखत्वमित्याह—इहापीति । ७. उक्तश्रुतेरर्थमाह—सामयेति । ८. धर्मद्वयमुक्त्वा धर्मान्तरमाह—यो वा इति । ९. लक्षणमिति—यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिश्रुत्युक्तं दर्शनादिव्यवहाराभावात्मकमित्यर्थः । १०. बुद्ध्याद्युपाध्यभावे । ११. आत्मनो द्रष्टृत्वाभावः । १२. सुषुप्तावेव ।

३. अक्षराधिकरणम् (सू० १०-१२)

(७३) अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

अक्षरं प्रणवः किं वा ब्रह्म लोकेऽक्षराभिधा। वर्णे प्रसिद्धा तेनात्र प्रणवः स्यादुपास्तये ॥
अव्याकृताधारतोक्तेः सर्वधर्मनिषेधतः। शासनाद्द्रष्टृतादेश्च ब्रह्मैवाक्षरमुच्यते ॥

मपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति। [1]विकाराणाममृतत्वस्यापेक्षिकत्वात्, [2]'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३-४-२) इति च श्रुत्यन्तरात्। [3]तथा च सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते नान्यत्र। [4]तस्माद्भूमा परमात्मेति सिद्धम् ॥६॥

'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभि-

---

सुखत्वमाह तस्मादित्यर्थः। आमयो नाशादिदोषः तत्सहितं सामयम्। आर्तं नश्वरम्। 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्' (छा० ७-२५-१) इति सर्वगतत्वं, 'स एवेदं सर्वम्' (छा० ७-२५-१) इति सर्वात्मत्वं च श्रुतम्। तस्माद्भूमाध्यायो निर्गुणे समन्वित इति सिद्धम् ॥६॥

अक्षरमम्बरान्तधृतेः। **बृहदारण्यकं पठति**—कस्मिन्न्विति। **यद्भूतं भवच्च भविष्यच्च तत्सर्वं कस्मिन्नोतमिति गार्ग्या पृष्टेन मुनिना याज्ञवल्क्येनाव्याकृताकाशः कार्यमात्राश्रय उक्तः। आकाशः**

का ही बोध कराता है। विकार में आपेक्षिक अमृतत्व है, निरपेक्ष नहीं 'इससे भिन्न सब तुच्छ है, नश्वर है' ऐसी दूसरी श्रुति भी है। इसके अतिरिक्त सत्यत्व, स्वमहिमप्रतिष्ठितत्त्व सर्वगतत्व और सर्वात्मत्व इत्यादि सुने गये धर्म भी परमात्मा में ही घटते हैं, अन्यत्र नहीं। अतः भूमा शब्द का अर्थ परमात्मा ही है यह सिद्ध हुआ ॥६॥

३. अक्षराधिकरण

१. जिस प्रकार पिछले अधिकरण में ब्रह्म में सत्य शब्द रूढ़ होने के कारण भूमा का अर्थ ब्रह्म माना था वैसे ही यहाँ भी अक्षर शब्द वर्ण अर्थ में रूढ़ होने के कारण वर्ण ही अक्षर हो सकता है, इस प्रकार दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. **"स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ? ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलम्" (बृ० ३।८।८)** यह वाक्य यहाँ पर विचारणीय है।

३. अक्षर शब्द से वर्ण अर्थ को कहा गया है अथवा परमात्मा ? ऐसा संशय होता है।

४. अक्षर नाम वर्ण में प्रसिद्ध है, अतः यहाँ पर उपासना के लिए अक्षर का अर्थ प्रणवाक्षर करना चाहिए।

५. पृथ्वी से लेकर अव्याकृतपर्यन्त समस्त जगत् का आधार होने से, सम्पूर्ण धर्मों का निषेध होने से, शासनकर्ता और द्रष्टृत्वादि चैतन्यधर्म को देखने से भी ब्रह्म ही अक्षर शब्द का अर्थ मानना ठीक है।

---

१. प्राणे प्रदर्शितममृतत्वं वारयति—विकाराणामिति। २. इतश्च न प्राणस्य मुख्यममृतत्वमित्याह—अत इति। ३. प्रकृतोपयुक्तानि धर्मान्तराण्याह—तथा चेति। ४. श्रुतिलिङ्गप्रकरणेभ्यः।

वदन्त्यस्थूलमनणु' (बृ० ३-८-७,८) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः—किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते किंवा परमेश्वर इति। तत्राक्षरसमाम्नाय इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात् प्रसिद्धयतिक्रमस्य चायुक्तत्वात्, 'ॐकार एवेदं सर्वम्'(छा० २-२३-३)इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वावधारणात्, वर्ण एवाक्षरशब्द इति, एवं प्राप्त उच्यते—पर एवात्माक्षरशब्दवाच्यः। कस्मात् ? अम्बरान्तधृतेः पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात्। [1]तत्र हि पृथिव्यादेः समस्तविकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यनेन प्रश्नेनेदमक्षरमवतारितम्। तथाचोपसंहृतम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति। नचेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति। [2]यदपि 'ॐकार एवेदं सर्वम्' इति, तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात्स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम्।

कस्मिन्नोत इति द्वितीयप्रश्ने स मुनिरुवाच। तदव्याकृतस्याधिकरणमेतदक्षरमस्थूलादिरूपमित्यर्थः। [1]उभयत्राक्षरशब्दप्रयोगात्संशयः। यथा सत्यशब्दो ब्रह्मणि रूढ इति ब्रह्म भूमेत्युक्तं, तथाक्षरशब्दो वर्णे रूढ इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः। [2]तत्र ॐकारोपास्तिः फलं, सिद्धान्ते निर्गुणब्रह्मधीरिति विवेकः। ननु न क्षरतीत्यचलत्वानाशित्वयोगाद् ब्रह्मण्यप्यक्षरशब्दो मुख्य इत्यत आह—प्रसिद्धयतिक्रमस्येति। 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायादित्यर्थः। वर्णस्य ॐकारस्य सर्वाश्रयत्वं कथमित्याशङ्क्य ध्यानार्थमिदं यथा श्रुत्यन्तरे सर्वात्मत्वमित्याह—ॐकार इति। प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामकाशान्तजगदाधारत्वे तात्पर्यनिश्चयान्न ध्यानार्थता, अतस्तल्लिङ्गबलाद्रूढिं बाधित्वा योगवृत्तिर्ग्राह्येति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना ॥१०॥

अक्षरमम्बरान्तधृतेः (ललिता)

बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी ने याज्ञवल्क्य जी से पूछा कि 'आकाश किसमें ओत-प्रोत है' महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गि ! अक्षर में ओत-प्रोत है।' इस अक्षर को वेदवित् ब्राह्मणों ने '**अस्थूलम्, अनणु**' ऐसा कहा है। वहाँ पर संशय होता है कि क्या अक्षर शब्द से वर्ण कहा गया है अथवा परमात्मा। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा कि "**अक्षर समाम्नायः**" इस व्यवहार को देखते हुए वर्ण अर्थ में ही अक्षर शब्द प्रसिद्ध है और प्रसिद्ध का त्याग उचित नहीं है। 'यह सब कुछ ॐकार ही है' इत्यादि श्रुत्यन्तर में भी सर्वात्मारूप से निश्चय होने के कारण उपास्यरूप से वर्ण ही अक्षर शब्द वाच्य है, अर्थात् उपासना के लिए ॐकार वर्ण को भी अक्षर कहा गया है ? ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि अक्षर-शब्द-वाच्य परमात्मा ही है। क्योंकि पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त तीनों कालों में विभक्त सम्पूर्ण कार्य-जगत् का धारण करना उसी का कार्य है। वैसा ही कालत्रय में विभक्त पृथिव्यादि समस्त कार्य को ओत-प्रोत रूप से आकाश में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद यह भी कहा है कि 'वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है ?' इस प्रश्न द्वारा अक्षर का प्रसङ्ग प्रारम्भ हुआ है और 'हे गार्गि ! इसी अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है।' इस वाक्य द्वारा उपसंहार किया गया है। अम्बरान्त जगत् का धारण करना ब्रह्म से भिन्न में सम्भव नहीं है। और जो आपने

१. आकाशस्यैव प्रश्ने श्रवणात्तदधिकरणं पृष्टं न पृथिव्यादेरित्याशङ्क्याह–तत्र हीति। २. ओंकारस्य सर्वात्मत्वश्रुतेस्तत्र सम्भवति लिङ्गमित्याशङ्क्याह—यदपीति। ३. वर्णे परमात्मनि चेत्यर्थः। ४. पूर्वपक्षे।

(७४) सा च प्रशासनात् ॥११॥

(७५) [1]अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

[2]तस्मान्न क्षरत्यश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म ॥१०॥

स्यादेतत् । कार्यस्य चेत्कारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधानकारणवादिनोऽपीयमुपपद्यते । कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरिति । अतः उत्तरं पठति—

सा चाम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म । कस्मात् ? प्रशासनात् । प्रशासनं हीह श्रूयते—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३-८-९) इत्यादि । [3]प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म । नाचेतनस्य प्रधानस्य प्रशासनं भवति । [4]न ह्यचेतनानां घटादिकारणानां मृदादीनां घटादिविषयं प्रशासनमस्ति ॥११॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद्ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम् । तस्यैवाम्बरान्तधृतिः कर्म नान्यस्य कस्यचित् । किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरि[5]ति । अन्यस्य भावोऽन्यभावस्तस्माद्व्यावृत्ति-

---

[a]आकाशं भूतं कृत्वा शङ्कते—स्यादेतदिति । चेतनकर्तृकशिक्षाया अत्र श्रुतेर्मैवमित्याह—सा चेति । सूत्रं व्याचष्टे—सा चेति । चकार आकाशस्य भूतत्वनिरासार्थः । भूताकाशस्य कार्यान्तःपातिनः श्रुतसर्वकार्याश्रयत्वायोगादव्याकृतमज्ञानमेवाकाशः प्रधानशब्दित इति तदाश्रयत्वाच्चाक्षरं न प्रधानमित्यर्थः । विधृतौ विषयत्वेन धृतौ ॥११॥

प्रश्नपूर्वकं सूत्रं व्याकरोति—किमिदमिति । घटत्वाद्व्यावृत्तिरिति भ्रान्तिं निरस्यति—

कहा कि यह सब ॐकार ही है । इस वाक्य द्वारा ॐकार को सर्वात्मा कहा गया है इसलिए ॐकार भी अक्षर हो सकता है ? यह भी ब्रह्म प्राप्ति का साधन होने से ॐकार की स्तुति के लिए कहा है । अतः न क्षरति इस व्युत्पत्ति के अनुसार क्षर धातु से बना हुआ अक्षर शब्द नित्यत्व अर्थ का बोधक होने से एवं "अश्नुते इति अक्षरम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अश् धातु से बना हुआ शब्द व्यापकत्ववाचक होने से अक्षर तत्त्व परमात्मा ही है ॥१०॥

सा च प्रशासनात् (ललिता)

प्रश्न—यदि कार्य को कारणाधीन होने के कारण अम्बरान्तधृति प्रधानवादियों के यहाँ प्रधान में भी घट सकती है फिर भला अम्बरान्तधृति हेतु से अक्षर शब्द का अर्थ ब्रह्म कैसे मान सकोगे ? इसका उत्तर कहते हैं—वह अम्बरान्तधृति जैसा दुष्करकर्म परमात्मा का ही हो सकता है क्योंकि यहाँ पर प्रशासन सुना जाता है 'हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य, चन्द्र सब विषय रूप से धारण किये हुए' इत्यादि प्रशासन सर्वज्ञ चेतन परमात्मा में ही सम्भव है, अचेतन प्रधान में नहीं क्योंकि घटादि के कारण अचेतन मृदादि में घटादि विषयक प्रशासन नहीं देखा जाता ॥११॥

---

१. ओंकारादि निरासेन ब्रह्मादाने हेत्वन्तरमाह—अन्यभावेति । २. उपक्रमोपसंहारयोरैक्यरूप्यतात्पर्याम्बरान्तधृतिलिङ्गाभ्यामनुगृहीताया योगवृत्तेर्बलीयस्त्वे फलितमाह–तस्मादिति । ३. अक्षरस्य सूर्यादौ प्रशासने श्रुतेऽपि कथमीश्वरत्वं तत्राह—प्रशासनं चेति । ४. प्रधानस्यापि स्वकार्ये प्रशासनं सिद्ध्यति, नेत्याह—न हीति । तथा चाऽऽज्ञाख्यप्रशासनलिङ्गान्न प्रधानमक्षरमित्यर्थः । ५. इति हेतोः किमभिधेयमित्यर्थः । ६. आकाशान्तजगदाधारत्वलिङ्गबलात् । ७. प्रकृते रूढे ।

रन्यभावव्यावृत्तिरिति । एतदुक्तं भवति—यदन्यद्ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाशङ्क्यते तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः 'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३-८-११) इति । तत्राद्दष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्यापि सम्भवति । द्रष्टृत्वादिव्यपदेशस्तु न तस्य संभवत्यचेतनत्वात् । तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात्, न शारीरस्याप्युपाधिमतोऽक्षरशब्दवाच्यत्वम् । 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३-८-८) इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात् । नहि निरूपाधिकः शारीरो नाम भवति । तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षरमिति निश्चयः ॥१२॥

एतदिति । अम्बरान्तस्याधारमक्षरं श्रुतिरचेतनत्वाद्व्यावर्तयतीत्यर्थः । जीवनिरासपरत्वेनापि सूत्रं योजयति—तथेति । अन्यभावो भेदस्तन्निषेधादिति सूत्रार्थः । तर्हि शोधितो जीव एवाक्षरं न पर इत्यत आह—नहीति । शोधिते जीवत्वं नास्तीत्यर्थः । तस्माद् गार्गिब्राह्मणं निर्गुणाक्षरे समन्वितमिति सिद्धम् ॥१२॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च (ललिता)

अन्य भाव व्यावृत्ति रूप हेतु से भी अक्षर शब्द वाच्य परमात्मा ही सिद्ध होता है क्योंकि अम्बरान्तधृति उसी का कर्म है किसी अन्य का नहीं। यह अन्य भाव व्यावृत्ति क्या वस्तु है, इसका अर्थ बतलाते हैं कि यदि ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु को अक्षरशब्दवाच्य मानते हो तो इस शङ्का को इस (आकाश पर्यन्त) धारणरूप कर्म को अक्षर में श्रुति व्यावृत्त करती है। 'हे गार्गि ! यह देखा नहीं जाता किन्तु सबका द्रष्टा है, सुना नहीं जाता किन्तु सबका श्रोता है, मनन नहीं किया जाता किन्तु सबका मन्ता है और जाना नहीं जाता किन्तु सबका विज्ञाता है।' यह श्रुति अम्बरान्त जगत् धारण ब्रह्म से भिन्न वस्तु में व्यावृत्त करती है। उनमें अदृष्टत्वादि व्यवहार प्रधान में भी सम्भव है किन्तु द्रष्टृत्वादि व्यवहार अचेतन होने के कारण प्रधान में सम्भव नहीं है। वैसे ही 'इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न श्रोता नहीं, इससे भिन्न मन्ता नहीं और इससे भिन्न विज्ञाता नहीं' इस वाक्य द्वारा आत्मभेद का निषेध हो जाने से 'सोपाधिक जीव भी अक्षरशब्दवाच्य नहीं हो सकता क्योंकि जीवात्मा के वास्तविकस्वरूप में उसमें चक्षु नहीं श्रोत्र नहीं और मन नहीं है' इस वाक्य द्वारा उपाधि का निषेध कर दिया गया है। निरुपाधिक जीव नहीं होता, अतः परब्रह्म ही अक्षरशब्दवाच्य है, यह निश्चित हुआ ॥१२॥

---

१. वर्णा वा प्रधानं वाऽव्याकृतं वा। २. प्रकृतोदाहरणे। ३. प्रधानस्यापि रूपादिराहित्याददृष्टत्वादियोगादुक्तश्रुतौ कुतोऽक्षरस्य ततो व्यावृत्तिस्तत्राह—तत्रेति। ४. अक्षरात्। ५. इतश्च न जीवस्याक्षरशब्दतेत्याह—अचक्षुष्कमिति। ६. तस्मादिति—अनन्यथासिद्धलिङ्गसङ्गियोगवृत्तेरित्यर्थः। ७. गार्गिब्राह्मणमिति—'ङ्यापोः संज्ञा छन्दसोर्बहुलम्' (पा० ६-३-६३) इति ह्रस्वः।

४. ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरणम् (सू० १३)

(७६) ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥१३॥

त्रिमात्रप्रणवे ध्येयमपरं ब्रह्म वा परम्। ब्रह्मलोकफलोक्त्यादेरपरं ब्रह्म गम्यते।
ईक्षितव्यो जीवघनात्परस्तत्प्रत्यभिज्ञया। भवेद्ध्येय परं ब्रह्म क्रममुक्तिः फलिष्यति॥

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते—[1]'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत'

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः। **प्रश्नोपनिषदमुदाहरति**—एतदिति। **पिप्पलादो गुरुः सत्यकामेन पृष्टो ब्रूते—हे सत्यकाम, परं निर्गुणमपरं सगुणं च ब्रह्मैतदेव योऽयं ॐकारः। स हि प्रतिमेव विष्णोस्तस्य प्रतीकः। तस्मात्प्रणवं ब्रह्मात्मना विद्वानेतेनैव ॐकारध्यानेनायतनेन प्राप्तिसाधनेन यथाध्यानं परमपरं चान्वेति प्राप्नोतीति प्रकृत्य मध्ये एकमात्रद्विमात्रोङ्कारयोर्ध्यानमुक्त्वा ब्रवीति**—यः पुनरिति। **इत्थंभावे 'तृतीया, ब्रह्मोङ्कारयोर[2]भेदोपक्रमात्। यो ह्यकारादिमात्रात्रये एकस्या मात्राया**

४. ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण

१. पिछले अधिकरण में वर्ण अर्थ में रूढ़ अक्षर शब्द का भी अर्थ ब्रह्म इसलिए किया गया क्योंकि अम्बरान्त जगत् का धारण करना रूप लिङ्ग और **'न क्षरति अश्नुते वा'** ऐसी व्युत्पत्ति भी मिलती है, ठीक वैसे ही यहाँ पर भी देशपरिच्छिन्नफलश्रुतिलिङ्ग को देखते हुए पर शब्द आपेक्षिकपरत्वविशिष्ट हिरण्यगर्भपरक लेना चाहिए; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ होता है।

२. **"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत"** (प्र० ५।५) यह वाक्य यहाँ पर विचारणीय है।

३. इस श्रुति में परब्रह्म ध्येय है अथवा अपरब्रह्म ? ऐसा संशय होता है।

४. **"स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्"** (प्र० ५।५) ऐसे देशपरिच्छिन्नफल का कथन होने से अपरब्रह्म ही ध्येय मानना चाहिए।

५. ध्यातव्यरूप से परब्रह्म का ही यहाँ पर उपदेश है जो जीवघन से पर है, साथ ही ध्यान का कर्म अतथा-भूत-पदार्थ भी हो सकता है; किन्तु सम्यग्दर्शन का विषयभूत कर्म ब्रह्म ही है। 'पुरुष' और 'पर' शब्द से उसी ध्येय की प्रत्यभिज्ञा भी होती है; परिच्छिन्न फल तो क्रममुक्ति के अभिप्राय से कहा गया है जो विरुद्ध नहीं है।

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः (ललिता)

प्रश्नोपनिषद् में सत्यकाम के पूछने पर आचार्य पिप्पलाद जी ने कहा है कि 'हे सत्यकाम ! निःसन्देह यह पर और अपरब्रह्म जो कहा गया है वह ओंकार ही है; इसलिए जो भी विद्वान् इस ॐकार रूप आयतन के ध्यान से सगुण और निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करता है वह उनमें से एक को प्राप्त कर लेता है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर 'जो तीन मात्रा वाले इस ॐकार अक्षर के माध्यम से

१. त्रिमात्रेणेति तृतीया।

२. प्रश्नोपनिषदि पञ्चमप्रश्ने 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार.' इत्येवमभेदोपक्रम इति ध्येयम्।

(प्र० ५-२, ५) इति । किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यत आहोस्विदपरमिति । एतेनैवायतनेन परमपरं चैकतरमन्वेतीति प्रकृतत्वात्संशयः । तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम् । कस्मात् ? 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वात् । नहि परब्रह्मविद्देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम्, सर्वगतत्वात्परस्य ब्रह्मणः । नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे परं पुरुषमिति विशेषणं नोपपद्यते । नैष दोषः । पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः । इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—

अकारस्य 'ऋग्व्यादिकं जाग्रदादिविभूतिं च जानाति, 'तेन सम्यग्ज्ञाता एका मात्रा यस्योङ्कारस्य स एकमात्रः । एवं मात्राद्वयस्य सम्यग्विभूतिज्ञाने द्विमात्रस्तथा त्रिमात्रः । तमोङ्कारं पुरुषं योऽभिध्यायीत, स ॐकारविभूतित्वेन ध्यातः सामभिः सूर्यद्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा परमात्मानं पुरुषमीक्षत इत्यर्थः । संशयं तद्बीजं चाह—किमित्यादिना । अस्मिन् त्रिमात्रवाक्य इत्यर्थः । पूर्वत्र पूर्वपक्षत्वेनोक्ते ॐकारे बुद्धिस्थं ध्यातव्यं निश्चीयत इति प्रसङ्गसङ्गतिः । यद्वा पूर्वत्र वर्णे रूढस्याक्षरशब्दस्य 'लिङ्गाद्ब्रह्मणि वृत्तिरुक्ता, तद्वदत्रापि ब्रह्मलोकप्राप्तिलिङ्गात्परशब्दस्य हिरण्यगर्भे वृत्तिरिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—तत्रापरमिति । 'कार्यपरब्रह्मणोरुपास्तिरुभयत्र फलम् । स उपासकः । सूर्ये सम्पन्नः प्रविष्टः । ननु वसुदान ईश्वर इति ध्यानात् 'विन्दते वसु' (बृ० ४ ४-२४) इत्यल्पमपि फलं ब्रह्मोपासकस्य श्रुतमित्यत आह—नहीति । अन्यत्र तथात्वेऽपि अत्र परवित्परमपरविदपरमन्वेतीत्युपक्रमात्परविदोऽपरप्राप्तिरयुक्ता, उपक्रमविरोधात् । न चात्र परप्राप्तिरेवोक्तेति वाच्यं, परस्य सर्वगतत्वादत्रैव प्राप्तिसम्भवेन सूर्यद्वारा गतिवैयर्थ्यात् । तस्मादुपक्रमानुगृहीतादपरप्राप्तिरूपाल्लिङ्गात्परं पुरुषमिति परश्रुतिर्बाध्येत्यर्थः । परश्रुतेर्गतिं 'पृच्छति—नन्विति । पिण्डः स्थूलो

पर-पुरुष का ध्यान करता है' इत्यादि कहा गया है । इस श्रुति में **'त्रिमात्रेण'** इस पद में इत्थंभाव अर्थ में तृतीया विभक्ति है अर्थात् ब्रह्म और ॐकार को अभिन्न मानकर प्रसङ्ग प्रारम्भ हुआ है । इस वाक्य में अभिध्यातव्यरूप से परब्रह्म का उपदेश है अथवा अपर-ब्रह्म का ? **'एतेनैव आयतनेन परमपरं चैकतरमन्वेति'** अर्थात् 'इस आयतन के द्वारा ही पर और अपर ब्रह्म में से एक को प्राप्त कर लेता है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ होने के कारण संशय होता है । इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि अपर ब्रह्म का ध्यान उक्त मन्त्र से बतलाया गया है क्योंकि 'वह उपासक सूर्यरूप तेज में प्रविष्ट हो साममन्त्रों के द्वारा ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है' इस वाक्य के द्वारा उस उपासक के लिए देशपरिच्छिन्न फल बतलाया गया है । परब्रह्म के उपासक को देशपरिच्छिन्न फल की प्राप्ति कहना युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि परब्रह्म सर्वव्यापक है । इस पर सिद्धान्ती का एकदेशी पूछता है कि अपरब्रह्म को ध्येय मानने पर **'परं पुरुषम्'** यह विशेषण युक्तिसङ्गत नहीं है । पूर्वपक्षी इसका उत्तर देता है कि ऐसा कहना कोई दोष नहीं है क्योंकि स्थूल शरीर की अपेक्षा प्राण और विराट की अपेक्षा सूत्रात्मा को पर माना गया

१. उत् ऊर्ध्वं ब्रह्मलोकं नीयते प्राप्यत इत्यर्थः । २. ऋग्व्यादिकमिति—तथाहि अकार उकारो मकार इति तिस्रोमात्रास्तासामग्निवायुसूर्या ऋषयः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा देवताः अधिदैवतम् । भूर्भुवःस्वःस्थानानि । अध्यात्मं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यानि । ऋग्यजुः सामानि वेदा इति । ३. ज्ञात्रा । ४. अम्बरान्तधृतिरूपात् । ५. कार्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्योपास्तिः पूर्वपक्षे फलं, परब्रह्मण उपास्तिः सिद्धान्ते फलमिति विवेकः । ६. सिद्धान्त्यनुयायी ।

परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते । कस्मात् ? ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् । ईक्षतिर्दर्शनम् । [1]दर्शनव्याप्यमीक्षतिकर्म । ईक्षतिकर्मत्वेनास्याभिध्यातव्यस्य पुरुषस्य वाक्यशेषे व्यपदेशो भवति—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति । [2]तत्राभिध्यायतेर[3]तथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति । मनोरथकल्पितस्याप्यभिध्यायतिकर्मत्वात् । ईक्षतेस्तु [4]तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टमित्यतः परमात्मैवायं [5]सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति गम्यते । स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते । नन्वभिध्याने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः, कथमितर इतरत्र प्रत्यभिज्ञायत इति । अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ । नचात्र [6]जीवघनशब्देन प्रकृतोऽ-

विराट्, तदपेक्षया सूत्रस्य परत्वमिति समाध्यर्थः । सूत्रे सशब्द ईश्वरपर इति [7]प्रतिज्ञातत्वेन तं व्याचष्टे—परमेवेति । स उपासक एतस्माद्धिरण्यगर्भात्परं पुरुषं ब्रह्माहमितीक्षत इत्यर्थः । नन्वीक्षणविषयोऽप्यपरोऽस्तु, तत्राह—तत्राभिध्यायतेरिति । नन्वीक्षणं प्रमात्वाद्विषयसत्यतामपेक्षत इति भवतु सत्यः पर ईक्षणीयः । ध्यातव्यस्त्वसत्योऽपरः किं न स्यादित्यत आह—स एवेति । श्रुतिभ्यां प्रत्यभिज्ञानात्स एवायमिति सौत्रः सशब्दो [8]व्याख्यातः । अत्रैवं सूत्रयोजना—ॐकारे यो ध्येयः स: पर एवात्मा, वाक्यशेषे ईक्षणीयत्वोक्तेः । अत्र च श्रुतिप्रत्यभिज्ञानात्स एवायमिति । ननु शब्दभेदान्न प्रत्यभिज्ञेति शङ्कते—नन्विति । परात्पर इति शब्दभेदमङ्गीकृत्य श्रुतिभ्यामुक्तप्रत्यभिज्ञाया अविरोधमाह—अत्रेति । ननु 'एतस्माज्जीवघनात्परात्' इत्येतत्पदेनोपक्रान्तध्यातव्यपरामर्शादीक्षणीयः परात्मा ध्येयादन्य इत्यत आह—न चात्रेति । ध्यानस्य तत्फलेक्षणस्य च लोके समानविषयत्वाद्ध्येय एवेक्षणीयः । [9]एवं चोपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यता भवतीति भावः । 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं

है ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहता है कि इस श्रुति में परब्रह्म ही अभिध्यातव्यरूप से उपदिष्ट है क्योंकि ईक्षति कर्म का व्यपदेश किया गया है। ईक्षति शब्द का अर्थ होता है दर्शन जो ईक्षति का कर्म हो वही पुरुष वाक्यशेष में अभिध्यातव्य बतलाया गया है 'वह उपासक इस जीवघनरूप हिरण्यगर्भ से श्रेष्ठ ब्रह्माण्डपुरी में पूजन करने वाले पुरुष को देखता है' वहाँ पर ध्यान का विषय तो अतथा भूतवस्तु भी कर्म हो सकता है, क्योंकि वह उपासक के मनःकल्पित रूप भी ध्यान का कर्म बन सकता है। किन्तु दर्शन का कर्म तो लोक में सत्यरूप ही देखा गया है, अतथा भूतरूप नहीं। अतः यह परमात्मा है सम्यक्दर्शन का विषयभूत, ईक्षतिकर्म से व्यपदिष्ट है ऐसा जाना जाता है। इसलिए वही यहाँ पर "परः" और 'पुरुषः' शब्द के बल से अभिध्यातव्य प्रत्यभिज्ञात होता है, अर्थात् पर और पुरुष शब्द के बल से उसी की प्रत्यभिज्ञा होती है।

पूर्वपक्ष—अभिध्यान में पर पुरुष अभिध्यातव्य कहा गया है इसे मान भी लिया जाय किन्तु ईक्षण मन्त्र में "परात्परः" ऐसा श्रवण होने से भला अन्य को अन्य प्रसङ्ग में प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकती है ? सिद्धान्ती—इस पर सिद्धान्ती कहता है कि पर और पुरुष शब्द का प्रयोग निर्गुण और

१. सम्यक्ज्ञानम् । उक्तज्ञानेन ज्ञेयमित्यर्थः । २. ईक्षतिध्यायत्योर्मध्ये । ३. अनृतरूपम् । ४. सत्यरूपमेव । ५. रजतादिदृष्टेराभासत्वात्तथाभूतमेवेत्यवध्रियतेऽत एव दर्शनविशेषणम्—सम्यगिति । ६. तत्समानाधिकरणैतच्छब्देन । ७. प्रत्यभिज्ञातत्वेनापि तं व्याख्यास्यतीत्याशयेनाह—प्रतिज्ञातत्वेनेति । ८. व्याख्यातः प्रत्यभिज्ञातत्वेनेति भावः । ९. एवं चेति – उपक्रमे यो ध्यातव्यस्स एवोपसंहारेऽपीक्षणगोचर इत्येवमभ्युपगमे च ।

भिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते, येन तस्मात्परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात् । कस्तर्हि जीवघन इति, उच्यते—घनो मूर्तिः । जीवलक्षणो घनो जीवघनः । 'सैन्धवखिल्यवद्यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभाव 'उपाधिकृतः 'परश्च विषयेन्द्रियेभ्यः, सोऽत्र जीवघन इति । अपर आह—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इत्यतीतानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो यो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते । जीवानां हि सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघनः । तस्मात्परो यः परमात्मेक्षणकर्मभूतः 'स एवाभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्यते । परं पुरुषमिति च विशेषणं परमात्मपरिग्रह एवावकल्पते ।

स एतस्माज्जीवघनात्' (प्र० ५-५) इत्येतत्पदेन 'सन्निहिततरो ब्रह्मलोकस्वामी परामृश्यत इति प्रश्नपूर्वकं व्याचष्टे—कस्तर्हीत्यादिना । 'मूर्तौ घनः' (पा० ३-३-७७) इति सूत्रादिति भावः । सैन्धवखिल्यो लवणपिण्डः । खिल्यवदल्पो भावः परिच्छेदो यस्य सः खिल्यभावः । एतत्पदेन ब्रह्मलोको वा परामृश्यत इत्याह—अपर इति । जीवघनशब्दस्य ब्रह्मलोके लक्षणां दर्शयति—जीवानां हीति । व्यष्टिकरणाभिमानिनां जीवानां घनः संघातो यस्मिन्सर्वकरणाभिमानिनि स जीवघनः तत्स्वामिकत्वात्परम्परासम्बन्धेन लोको लक्ष्य इत्यर्थः । तस्मात्परः सर्वलोकातीतः शुद्ध इत्यर्थः । परपुरुषशब्दस्य परमात्मनि मुख्यत्वाच्च स एव ध्येय इत्याह—परमिति । 'यस्मात्परं' नापरमस्ति किञ्चित् स एव मुख्यः परः, न तु पिण्डात्परः सूत्रात्मेत्यर्थः । किञ्च परशब्देनोपक्रमे निश्चितं परं ब्रह्मैवात्र वाक्य-

---

सगुण दोनों के लिए साधारणतः किया गया है । इस प्रसङ्ग में जीवघन शब्द से जो प्रकृत है वह अभिध्यातव्य नहीं है । "परः पुरुषः" ऐसा स्मरण तो होता है किन्तु उस पर-से-पर अन्यपुरुष ईक्षण का विषय होगा । प्रश्न—तो फिर जीवघन शब्द का अर्थ क्या है ? उत्तर—घन शब्द का अर्थ मूर्ति है वह जीव रूप है इसलिए नमक की डली के समान परमात्मा का अंश जीवघन है, अर्थात् परमात्मा ही उपाधि के कारण खिल्यभाव को प्राप्त हो गया है । वह जीव भी विषयों की अपेक्षा पर है इसलिए उसको परजीवघन कहा गया है ।

दूसरे ने कहा कि 'वह साममन्त्रों के द्वारा उपर के ब्रह्मलोक में जाता है' इस अत्यन्त सन्निहित वाक्य द्वारा निर्दिष्ट जो ब्रह्मलोक है वह अन्य लोकों की अपेक्षा पर है और उसी को यहाँ पर जीवघनरूप से कहा गया है । व्यष्टिकरणाभिमानी जीवात्मा का जिस सर्वकर्माभिमानी समष्टि में संघात होता है वह जीवघन है अर्थात् हिरण्यगर्भ । वह हिरण्यगर्भ जिस लोक का स्वामी है उस ब्रह्मलोक को भी जीवघन शब्द से लक्षणा द्वारा कहा गया है । उससे पर सर्वलोकातीत शुद्धचैतन्य परमात्मा ईक्षण का कर्म है । वही अभिध्यान में भी कर्म माना गया है ऐसा जान पड़ता है क्योंकि पर पुरुष शब्द परमात्मा में ही मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है, वही ध्येय है । यह सब अर्थ

---

१. उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—सैन्धवेति । २. कथमनवच्छिन्नस्य परस्याल्पत्वं तत्राह—उपाधीति । ३. तत्र पञ्चम्यन्तपरशब्दोपपत्तिमाह—परश्चेति । ४. ईक्षणध्यानयोः कार्यकारणभावादेकविषयतेत्याह—स एवेति । ५. ध्यातव्यपुरुष एतच्छब्दसन्निहितस्ततोऽपि सन्निहिततरो हिरण्यगर्भः । ६. पुरुषात् । ७. उत्कृष्टम् । ८ निकृष्टम् ।

५. दहराधिकरणम् (सू० १४-२१)

(७७) दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

दहरः को वियज्जीवो ब्रह्म वाऽऽकाशशब्दतः । वियत्स्यादथवाल्पत्वश्रुतेर्जीवो भविष्यति ।
बाह्याकाशोपमानेन द्युभूम्यादिसमाहितेः । आत्मापहतपाप्मत्वात्सेतुत्वाच्च परेश्वरः ॥

[1]परो हि पुरुषः परमात्मैव भवति यस्मात्परं किञ्चिदन्यन्नास्ति, '[2]पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति च श्रुत्यन्तरात् । '[3]परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' इति च विभज्यानन्तरमोङ्कारेण परं पुरुषमभिध्यातव्यं ब्रुवन्परमेव ब्रह्म परं पुरुषं गमयति । 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पाप्मविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानमिहाभिध्यातव्यं सूचयति। [4]अथ यदुक्तम्—परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्नं फलं युज्यत इति । अत्रोच्यते—त्रिमात्रेणोङ्कारेणालम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं [5]ब्रह्मलोकप्राप्तिः [6]क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतद्भविष्यतीत्य[7]दोषः ॥१३॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्त-

शेषे ध्यातव्यमित्याह—परं चापरं चेति । पापनिवृत्तिलिङ्गाच्चेत्याह—यथेति । पादोदरः सर्पः । ॐकारे परब्रह्मोपासनया सूर्यद्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा परब्रह्मेक्षित्वा तदेव शान्तमभयं परं प्राप्नोतीत्यविरोधमाह—अत्रोच्यत इति । एवमेकवाक्यतासमर्थनप्रकरणानुगृहीतपरपुरुषश्रुतिभ्यां परब्रह्मप्रत्यभिज्ञया ब्रह्मलोकप्राप्तिलिङ्गं बाधित्वा वाक्यं प्रणवध्येये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥१३॥

दहर उत्तरेभ्यः । छान्दोग्यमुदाहरति—अथेति । भूमविद्यानन्तरं दहरविद्याप्रारम्भार्थोऽथशब्दः ।

परमात्मा मानने पर ही घटता है, अतः परपुरुष परमात्मा ही है जिससे पर कुछ भी नहीं है ऐसी 'पुरुष से पर कुछ नहीं; वही अन्तिम परागति है' अन्य श्रुति भी है । और पर शब्द से प्रसंग प्रारम्भ किया गया है; अतः इस वाक्यशेष में निःसन्देह ब्रह्म ही ध्यातव्य है । यह बात पर और अपर ब्रह्म ॐकार रूप ही है ऐसा विभाग कर देने के बाद ॐकार रूप से पर पुरुष का ध्यान बतलाते हुए उस परब्रह्म का ही बोध श्रुति कराती है । 'जैसे साँप केंचुली से छूट जाता है वैसे ही वह उपासक पाप से सर्वथा मुक्त हो जाता है।' यह वाक्य पापविनिर्मोकरूप फल बतलाकर यहाँ पर परमात्मा को ही ध्येय कह रहा है । और जो आपने कहा था कि परमात्मा को ध्येय मानने पर देश परिच्छिन्न फल बतलाना युक्तिसंगत नहीं है, इसका उत्तर सुन लीजिए कि तीन मात्रा वाले ॐकार का आलम्बन लेकर परमात्मा का ध्यान करने वाले को ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप जो फल मिलता है वह क्रमशः सम्यक् दर्शन उत्पत्ति का कारण है अर्थात् देशपरिच्छिन्न फल क्रममुक्ति अभिप्राय से बतलाया गया है ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है ॥१३॥

१. विराडपेक्षया परत्वं सूत्रेऽप्युक्तमित्याशङ्क्य मुख्यं परत्वमुत्सर्गतो ब्रह्मण्येवेत्याह—परो हीति । २. ईश्वरस्य परमपुरुषार्थत्वे मानमाह—पुरुषादिति । ३. परापरे ब्रह्मणी प्रकृत्य परशब्देनापरस्य व्यावर्तनादपि परमेव ब्रह्म ध्यातव्यमित्याह—परं चेति । ४ पूर्वपक्षबीजमनूद्य दूषति—अथेति । ५ ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति— परिशुद्धब्रह्मैक्यविज्ञाने देशपरिच्छिन्नं फलमयुक्तं ओंकारोपाधिब्रह्मोपास्तो तदविरुद्धमिति भावः । ६. कथं तर्हि पुरुषमीक्षत इति तत्राह—क्रमेणेति । ७. अदोष इत्यन्तरमिति शब्दो द्रष्टव्य उच्यत इत्यन्वयार्थम् ।

दन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ८-१-१) इत्यादिवाक्यं समाम्नायते । 'तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः 'स किं भूताकाशोऽथवा विज्ञानात्माऽथवा परमात्मेति संशय्यते । कुतः संशयः? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम् । आकाशशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिंश्च ब्रह्मणि प्रयुज्यमानो दृश्यते । तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्किंवा पर इति संशयः । तथा ब्रह्मपुरमिति किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा, तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरमथवा

ब्रह्मणोऽभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ब्रह्मपुरं शरीरम् । अस्मिन् यत्प्रसिद्धं दहरमल्पं हृत्पद्मं 'तस्मिन्हृदये यदन्तराकाशशब्दितं ब्रह्म तदन्वेष्टव्यं विचार्य ज्ञेयमित्यर्थः । अत्राकाशो जिज्ञास्यः, तद'न्तःस्थं वेति प्रथमं संशयः कल्प्यः । तत्र यद्याकाशस्तदा संशयद्वयम् । तत्राकाशशब्दादेकं संशयमुक्त्वा ब्रह्मपुरशब्दात्संशयान्तरमाह—तथा ब्रह्मपुरमितीति । 'अत्र शब्दे जीवस्य ब्रह्मणो वा पुरमिति संशयः ।

५. दहराधिकरण

१. पिछले अधिकरण में परपुरुष शब्द ब्रह्म अर्थ में रूढ़ होने के कारण ब्रह्म ही उपास्य कहा गया था; वैसे ही यहाँ पर आकाश शब्द भूताकाश में रूढ़ होने के कारण उसी को उपास्य क्यों न माना जाय ? ऐसी आक्षेप संगति होने पर यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. "अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" (छा० ८-१-१) यह वाक्य यहाँ पर विचारणीय विषय है ।

३. दहरपुण्डरीक में कहा गया दहराकाश क्या भूताकाश है; जीव है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है ।

४. भूताकाश में रूढ़ होने के कारण भूताकाश ही दहरपदवाच्य मानना चाहिए, अथवा उपाधिपरिच्छिन्न होने के कारण जीव भी दहरपदवाच्य माना जा सकता है ।

५. बाह्याकाश की उपमा दहराकाश के लिए दी गयी है और जो द्युलोक, भूलोक का आधार भी है। अपहतपाप्मत्व एवं सेतुत्व विशेषण को भी देखते हुए दहराकाश का सुनिश्चित अथ परमात्मा ही है।

दहर उत्तरेभ्यः (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् में भूमविद्या के बाद दहरविद्या का प्रसङ्ग आता है, इसलिए इस विचारणीय श्रुति में 'अथ' शब्द का प्रयोग किया गया है 'इस ब्रह्मपुर में जो छोटा सा हृदय कमल है उसमें छोटा आकाश है; उस आकाश के भीतर जो तत्त्व है उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसी को विशेष रूप से जानना चाहिए' इत्यादि वाक्य पढ़ा गया है। इस श्रुति में मानव शरीर को ब्रह्मपुर इसलिए कहा गया है क्योंकि यह ब्रह्म की अभिव्यक्ति का स्थान है। इस वाक्य में दहर हृदय पुण्डरीक के भीतर जो दहर आकाश सुना गया है क्या वह भूताकाश है, जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है। संशय का कारण यह है कि आकाश और ब्रह्मपुर शब्द यहाँ पर सुने जाते हैं। इनमें से आकाश शब्द का प्रयोग भूताकाश और परमात्मा में देखा जाता है; अतः भूता-

१. तस्मिन्निति सप्तम्या हृदयोक्तेस्तदन्तस्थं दहराकाशमन्वेष्यं जिज्ञास्यं च किं वा सप्तम्याः सन्निहिततरदहराकाशार्थत्वात्तदन्तस्थं किञ्चिदन्विष्य ज्ञेयमिति संशयं सूचयति—तत्रेति । २. यदाकाशोऽन्विष्य ज्ञेयस्तदा प्राप्तं संशयमाह—स इति । ३. व्यवहितमपि हृदयं योग्यत्वात्तच्छब्देनोक्ता तदन्तराकाशस्य विचार्यतां ज्ञेयतां च श्रुतिर्दर्शयतीति भावः । ४. किञ्चित् । ५. ब्रह्मशब्देन ब्रह्म ग्राह्यो जीवो वेति ब्रह्मशब्दार्थे संशयः ।

परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति । [1]तत्र जीवस्य परस्य वान्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः । तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद् भूताकाश एव दहरशब्द इति प्राप्तम् । तस्य च दहरायतनापेक्षया [2]दहरत्वम् । 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति च बाह्याभ्यन्तरभावकृतभेदस्योपमानोपमेयभावः द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तः समाहितं,अवकाशात्मनाकाशस्यैकत्वात् । अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्,ब्रह्मपुरशब्दात् । [3]'जीवस्य हीदं पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते । [4]तस्य स्वकर्मणोपार्जितत्वात् [5]'भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम् । नहि परस्य ब्रह्मणः शरीरेण स्वस्वामिभावः सम्बन्धोऽस्ति ।

तत्र तस्मिन्संशये सतीति योजना । परपुरुषशब्दस्य ब्रह्मणि मुख्यत्वाद्ब्रह्म ध्येयमित्यु[6]क्तम् । तथेहाप्याकाशपदस्य भूताकाशे रूढत्वाद् भूताकाशो ध्येय इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—तत्राकाशेत्यादिना । [7]दहरवाक्यस्यानन्तरं प्रजापतिवाक्यस्य च सगुणे निर्गुणे च समन्वयोक्तेः श्रुत्यादिसङ्गतयः । पूर्वपक्षे भूताकाशाद्युपास्तिः, सिद्धान्ते सगुणब्रह्मोपास्त्या निर्गुणधीरिति फलभेदः । नच 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १-१-२२) इत्यनेनास्य पुनरुक्तता शङ्कनीया । अत्र 'तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' (छा० ८-१-१) इत्या[8]काशान्तःस्थस्यान्वेष्टव्यत्वादिलिङ्गान्वयेन दहराकाशस्य ब्रह्मत्वे स्पष्टलिङ्गाभावात् । ननु [9]भूताकाशस्याल्पत्वं कथम् ? एकस्यो[10]पमानत्वमुपमेयत्वं च कथम् ? 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते । उभावग्निश्च वायुश्च' (छा० ८-१-३) इत्यादिना श्रुतसर्वाश्रयत्वं च [11]कथम् ? इत्याशङ्क्य क्रमेण परिहरति—तस्येत्यादिना । हृदयापेक्षया अल्पत्वं, ध्यानार्थं कल्पितभेदात्सादृश्यं,स्वत एकत्वात्सर्वाश्रयत्वमि[12]त्यर्थः। ननु 'एष आत्मा' इत्यात्मशब्दो भूते न युक्त इत्यरुचेराह—अथवेति । भक्त्येति । चैतन्यगुणयोगेनेत्यर्थः । [13]मुख्यं ब्रह्म गृह्यतामित्यत आह—न हीति । अस्तु

काश ही दहरपदवाच्य है अथवा परमात्मा ? ऐसा संशय होता है। वैसे ही ब्रह्मपुर शब्द को देखकर भी संशय होता है कि इस श्रुति में ब्रह्मनामा जीव जो कहा गया है अथवा परब्रह्म की उपलब्धि का स्थान होने के कारण इसे ब्रह्मपुर कहते हैं। उनमें जीव या परमात्मा किसी एक को पुर का स्वामी कहने पर दहराकाश के सम्बन्ध में संशय होना स्वाभाविक है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि आकाश शब्द भूताकाश में रूढ़ होने के कारण भूताकाश ही दहरपदवाच्य है। उस भूताकाश को हृदय कमल रूप छोटे आयतन की अपेक्षा से दहर कह दिया गया है 'जितना बड़ा यह बाह्यकाश है उतना बड़ा ही इस हृदय के भीतर भी आकाश है' इस श्रुतिवाक्य में बाह्याभ्यन्तरभाव की अपेक्षा से भेद मानकर उपमान-उपमेयभाव बन जाता है। द्युलोक, पृथ्वीलोक आदि

---

१. नन्वयमन्यः संशयो न प्रकृतस्तस्यान्यादृशत्वादिति तत्राह—तत्रेति । २. तद्ध्यानेनापि वाक्यशेषस्थं फलं संपद्यते वाक्यादिति भावः । ३. ब्रह्मशब्दस्य जीवेऽमुख्यत्वात्तच्छब्दात्परस्मिन् झटिति बुद्धिस्थे कुतो जीवोक्तिरित्याशङ्क्य पुरसम्बन्धस्य तत्रैव सम्भवादित्याह—जीवस्येति । ४. तस्यापि पुरेण कः सम्बन्धस्तत्राह—तस्येति । शरीरस्य जीवेन स्वकर्मणेत्यादि । ५. तथापि तस्मिन्नोपाधिके कथं ब्रह्मपद तत्राह—भक्त्येति । ६. पूर्वाधिकरणे । ७. दहरवाक्यस्य सोपाधिकब्रह्मणि समन्वयोक्तौ तत्र प्रवृत्तस्य निरुपाधिकं बुभुत्समानस्य तस्मिन्प्राजापत्यवाक्यस्य समन्वयोक्तेरित्यर्थः । ८. तत्र वाक्यशेषस्थलिङ्गानामाकाशविषयत्वात् प्रकृते तेषां तदन्तस्थविषयत्वेन तदविषयत्वादिति भाव । ९. उपास्त्यर्थं ब्रह्मोऽल्पत्वेऽपीति शेषः । १०. सति भेदे सादृश्ये चोपमानोपमेयभावादेकत्र तदसिद्धिः । ११. ब्रह्मणि तेषामन्तःसमाधानं कारणत्वात्तदभावान्नाकाशे । १२. अपहतपाप्मत्वादि सत्यकामत्वादि तत्र ध्यानार्थमध्यस्तमिति बोध्यम् । १३. गौणमुख्यन्यायेन ।

तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टं यथा राज्ञः। मनउपाधिकश्च जीवः, [1]मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैवेदं हृदयेऽन्तरवस्थानं स्यात्। [2]दहरत्वमपि तस्यैव [3]आराग्रोपमितत्वादवकल्पते। आकाशोपमितत्वादि च ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यति। नचात्र दहरस्याकाशस्या[4]न्वेष्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रूयते, 'तस्मिन्यदन्तः' इति परविशेषणत्वेनोपादानादिति।

अत उत्तरं ब्रूमः—परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति न भूताकाशो जीवो वा।

पुरस्वामी जीवः, हृदयस्थाकाशस्तु [5]ब्रह्मेत्यत आह—तत्रेति। पुरस्वामिन एव तदन्तःस्थत्वसम्भवान्ना[6]न्यापेक्षेत्यर्थः। व्यापिनोऽन्तःस्थत्वं कथमित्यत आह—मन इति। [7]आकाशपदेन '[8]दहरमनुकृष्योक्तोपमादिकं ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यतीत्याह—आकाशेति। ननु जीवस्याकाशपदार्थत्वम[9]युक्तमित्याशङ्क्य तर्हि [10]भूताकाश एव दहरोऽस्तु तस्मिन्नन्तःस्थं किञ्चिद्ध्येयमिति पक्षान्तरमाह—न चात्रेति। परमन्तःस्थं वस्तु, तद्विशेषणत्वेनाधारत्वेन दहराकाशस्य [11]तच्छब्देनोपादानादित्यर्थः। यद्वा अन्वेष्यत्वादिलिङ्गाद्दहरस्य ब्रह्मत्वनिश्चयात् 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यनेन गतार्थत्वमिति शङ्कात्र निरसनीया। अन्वेष्यत्वादेः परविशेषणत्वेन ग्रहणाद्दहरस्य ब्रह्मत्वे लिङ्गं नास्तीत्यर्थः।

अपहतपाप्मत्वादिलिङ्गोपेतात्मकश्रुत्या केवलाकाशश्रुतिर्बाध्येति सिद्धान्तयति—परमेश्वर

उसके भीतर समाहित है क्योंकि अवकाशरूप से आकाश एक ही तो है। अथवा दहरपदवाच्य जीवात्मा है, उसका निवास स्थान होने के कारण इस शरीर को ब्रह्मपुर कहा है। जीवात्मा का ही यह पुर है इसीलिए इसे ब्रह्मपुर कहा गया है। जीव ने अपने शुभाशुभ—कर्म द्वारा इस शरीर का उपार्जन किया है। उस जीव को गौणदृष्टि से ब्रह्मशब्दवाच्य कहा है क्योंकि परब्रह्म का शरीर के साथ स्व-स्वामी भाव सम्बन्ध नहीं बनता; उसे इस शरीर का स्वामी इसलिए कहा गया है क्योंकि शरीररूप पुर के एकदेश हृदय में वह वैसा ही अवस्थित देखा गया है जैसे राष्ट्र का स्वामी होता हुआ राष्ट्रपति अपने राष्ट्र के किसी एकदेश में रहता है। मनरूप उपाधिवाला जीव है और मन प्रायशः हृदय में ही रहता है इसलिए जीव का ही इस हृदय के भीतर अवस्थान है। उसमें दहरत्व भी सम्भव है क्योंकि आराग्र की उपमा उसी में घटती है और जो जीवात्मा को आकाश की उपमा दी गयी है वह तो ब्रह्म के साथ अभेद बतलाने के लिए मानी जाती है किन्तु यहाँ पर दहर का अर्थ भूताकाश माना जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि इस श्रुति में अन्वेषणीय पदार्थ और जिज्ञासितव्य पदार्थ आकाश नहीं सुना जाता किन्तु जो उसके भीतर है वह अन्वेषणीय है जिसमें **'पर'** विशेषण भी लगाया गया है।

इस पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि दहराकाश पदार्थ परमेश्वर ही है; भूताकाश अथवा जीव

---

१. तथापि तस्य चञ्चलत्वान्न हृदयेनासाधारण्यं तत्राह—मनश्चेति। २. तथापि सर्वगतस्य तस्य कुतो दहरत्वं तत्राह—दहरत्वमिति। ३. आरा चर्मप्रभेदिकेत्यमरादावपि चर्मखण्डनार्थे शस्त्रविशेषे वर्तते। ४. अन्वेष्टव्यत्वमिति पाठान्तरम्। ५. राजपुरे मंत्रसद्मवत्। ६. विश्रमः खल्वाधारस्याधेयापेक्षायां पुरस्वामिनाऽऽधेयेन सम्बन्धान्नान्यापेक्षेति भावः। ७. दहरत्वादेव तर्हि नाकाशोपमितत्वादीत्याशङ्क्याह—आकाशपदेनेति। ८. अथ यदिदमस्मिन्नित्यादिश्रुतावग्निमाकाशपदेन पूर्वत्र पठितदहरपदमनुकृष्य यावान्वाऽयमाकाश इत्यादिना यदुपमादिकमुक्तमित्यर्थः। ९. आकाशपदस्य भूताकाशमात्रे रूढत्वादिति शेषः। १०. दहरत्वं तु तस्मिन्नुपपादितं पूर्वमेव। ११. तस्मिन्निति।

कस्मात् ? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः। तथाहि—अन्वेष्टव्यतयाऽभिहितस्य दहरस्याकाशस्य 'तं चेद्ब्रूयुः' इत्युपक्रम्य 'किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति। 'स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८-१-३) इत्यादि। तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याकाशस्य प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन्भूताकाशत्वं दहरस्याकाशस्य निवर्तयतीति गम्यते। यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढस्तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यत इति भूताकाशशङ्का निवर्तिता भवति। नन्वेकस्याप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन भेदेनोपमानोपमेयभावः सम्भवतीत्युक्तम्। नैवं

इत्यादिना। आकाशस्याक्षेपपूर्वकमिति सम्बन्धः। तमाचार्यं प्रति यदि ब्रूयुः, हृदयमेव तावदल्पं तत्रस्याकाशोऽल्पतरः किं तदत्राल्पे विद्यते, यद्विचार्य ज्ञेयमिति, तदा स आचार्यो ब्रूयादाकाशस्याल्पतानिवृत्तिमित्यर्थः। वाक्यस्य तात्पर्यमाह—तत्रेति। निवर्तयति आचार्य इति शेषः। नन्वाकाशशब्देन रूढ्या भूताकाशस्य भानात्कथं तन्निवृत्तिरित्याशङ्क्याह—यद्यपीति। ननु 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यभेदेऽप्युपमा दृष्टेति चेत्। न, अभेदे सादृश्यस्यानन्वयेन युद्धस्य निरुपमत्वे तात्पर्यादयमनन्वयालङ्कार इति काव्यविदः। पूर्वोक्तमनूद्य निरस्यति—नन्वित्यादिना। 'सीताऽऽश्लिष्ट इवाऽऽभाति कोदण्डप्रभया युतः' इत्यादौ प्रभायोगसीताऽऽश्लेषरूपविशेषणभेदाद्भेदाश्रयणमेकस्यैव श्रीरामस्योपमानोपमेयभावसिद्धयर्थमगत्या कृतमित्यनुदाहरणं द्रष्टव्यम्। नैवमत्राश्रयणं युक्तम्। वाक्यस्याल्पत्वनिवृत्तिपरत्वेन गतिसद्भावात्। किञ्च हार्दाकाशस्याऽऽन्तरत्वात्यागे अल्पत्वेन व्यापक-

---

दहरपदवाच्य नहीं है। क्यों ? आगामी वाक्यशेषगत हेतुओं से ऐसा ही सिद्ध होता है। जो अन्वेषणीय रूप से अभिहितदहराकाश है 'उसके सम्बन्ध में यदि कोई पूछे' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर कहा है कि 'यहाँ पर कौन सी वस्तु है जिसका अन्वेषण एवं जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिए' इस श्रुतिवाक्य द्वारा आक्षेपपूर्वक प्रत्युत्तर मिलता है। पूर्वोक्तरीति से शिष्य के पूछने पर आचार्य बोले कि 'जितना बड़ा यह बाह्याकाश है उतना ही बड़ा हृदय के भीतर भी आकाश है, इसी हृदयाकाश में द्युलोक और पृथ्वी समाहित है' इत्यादि। वहाँ पर हृदयकमल के दहरत्व से हृदयाकाश में जो दहरत्व प्राप्त है उस दहरत्व की निवृत्ति प्रसिद्ध आकाश की उपमा देकर उस दहरपदवाच्य पदार्थ में भूताकाशत्व की भी निवृत्ति हो जाती है ऐसा जान पड़ता है। यद्यपि आकाश शब्द भूताकाश अर्थ में रूढ़ है फिर भी भूताकाश को उपमा भूताकाश से देना युक्तिसङ्गत नहीं है, अतः दहरशब्द का अर्थ भूताकाश होने की शङ्का रहती ही नहीं। प्रश्न—एक आकाश में भी बाह्याभ्यन्तर भाव की कल्पना कर भेद मानेंगे और उस भेद के कारण उस एक आकाश में भी उपमान-उपमेयभाव बन जायेगा, ऐसा कहा जा चुका है, अर्थात् आकाश एक ही है और उसमें बाह्य तथा आभ्यन्तर का भेद है, इनमें से बाह्य आकाश उपमान है और आभ्यन्तर आकाश उपमेय है ?

---

१. तदन्वेष्टव्यमित्यादिना। २. इत्याक्षेपमवतार्येति योजना। ३. आक्षेपप्रकारमाह—किं तदिति। ४. हार्दाकाशे। ५. उभावग्निश्च सूर्यश्चेत्यादिसंग्रहार्थमादिपदम्। ६. धनुः। ७. सादृश्ये सत्येवोपमानोपमेयत्वं दृष्टमिति शेषः।

सम्भवति । [1]अगतिका हीयं गतिः, यत्काल्पनिकभेदाश्रयणम् । अपि च कल्पयित्वापि भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादाभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत । [2]ननु परमेश्वरस्यापि 'ज्यायानाकाशात्' (शत० ब्रा० १०-६-३-२) इति श्रुत्यन्तरान्नैवाकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते । [3]नैष: दोषः । पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहरत्वनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य न [4]तावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम् । उभयप्रतिपादने हि वाक्यं [5]भिद्येत । नच कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टित [6]आकाशैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाधानमुपपद्यते । 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' इति [7]चा[8]त्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न [9]भूताकाशे सम्भवति । [10]यद्यप्यात्मशब्दो जीवे सम्भवति तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निर्वातिता भवति । (४ ।

बाह्याकाशसादृश्यं न युक्तमित्याह—अपिचेति । **आन्तरत्वत्यागे तु अत्यन्ताभेदान्न सादृश्यमिति भावः । ननु हार्दाकाशस्याल्पत्वनिवृत्तौ [11]तावत्त्वे च तात्पर्यं किं न स्यादित्यत आह**—उभयेति । **अतोऽल्पात्वनिवृत्तावेव तात्पर्यमिति भावः । एवमाकाशोपमितत्वाद्दहराकाशो न भूतमित्युक्तम् । सर्वाश्रयत्वादिलिङ्गेभ्यश्च तथेत्याह**—नचेत्यादिना । **विगता जिघत्सा [12]जग्धुमिच्छा यस्य सोऽयं**

ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि काल्पनिक भेद का आश्रय लेकर एक में उपमान-उपमेय की कल्पना तो अगतिकगति है। और भेद की कल्पना कर एक ही में उपमान-उपमेयभाव बतलाने वाले के यहाँ आभ्यन्तर आकाश परिच्छिन्न होने के कारण बाह्याकाश के बराबर सिद्ध नहीं हो सकेगा। पूर्वपक्ष—'परमेश्वर आकाश से भी बड़ा है' ऐसा श्रुत्यन्तर में कहा गया है, ऐसी स्थिति में परमेश्वर में भी आकाश परिमाणत्व सिद्ध नहीं होता? यह दोष देना ठीक नहीं है क्योंकि यह वाक्य हृदयकमलरूप वेष्टन के कारण जो व्यापक परमात्मा में दहरत्व आगया था उसकी निवृत्ति मात्र का बतला रहा है। वस्तुतः यह वाक्य आकाश परिमाणत्व का प्रतिपादन ब्रह्म में नहीं करता। यदि दहरपदवाच्य ब्रह्म में दहरत्व की निवृत्ति और आकाश परिमाणत्व की प्राप्ति दोनों ही इस वाक्य द्वारा माने तो वाक्यभेद होने लग जायेगा। हृदयकमल से परिवेष्टित आकाश के एकदेश में कल्पितभेद मानकर उसमें द्युलोकादि का अन्तःसमाधान भी मानना युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि 'यह आत्मा पापरहित, जरामृत्युरहित, शोकशून्य, क्षुधापिपासा से मुक्त, सत्यकाम एवं सत्यसङ्कल्प है' इस वाक्य द्वारा कहे गये आत्मत्व, अपहतपाप्मत्वादि गुण भूताकाश में सम्भव नहीं है।

१. अगतिकानामिति युक्तः पाठः। २. तर्हि परमेश्वरस्यापि भूताकाशो नोपमानमतुल्यपरिमाणत्वादिति शङ्कते—नन्विति। ३. नेदं वाक्यं भूताकाशतुल्यत्वविषयं किन्तु शङ्कितात्पत्वव्यावृत्तिपरमित्याह—नैषेति। ४. आकाशपरिमाणत्वम्। ५. भिद्येतेति—न च सम्भवत्येकवाक्यत्वे तद्भेदो युक्तः। न च तावत्त्वमेव प्रतिपाद्यमफलत्वात्। न च शङ्कितदहरत्वनिवृत्तिरेव फल तत्रैववाक्यतात्पर्यप्रसङ्गात्। न च साक्षादेव तत्सिद्धावार्थकत्वकल्पना युक्तेति भावः। ६. भूताकाशैकदेशे। ७. इति च सर्वमाकाशैकदेशेनोपपद्यते इति सम्बन्धः। ८. तदेव स्पष्टयति—आत्मत्वेति। ९ अचेतनत्वादात्मत्वमसम्भवि। न चापहतपाप्मत्वादेर्नित्यानुवादत्व नापि सत्यकामत्वादेर्ध्यानार्थमारोपितत्वमगतिकगतित्वात्। उपक्रमस्थाकाशश्रुतेश्चोपसंहारस्थात्मश्रुतिरुक्तलिङ्गसङ्गता बलीयसी प्रत्ययसंवादादित्याकाशशब्द ब्रह्मैवेति भावः। १०. उक्तहेतुभ्यो भूताकाशं निरस्य तद्बलादेव जीवमपि निरस्यति—यद्यपीति। ११. आकाशप्रमाणत्वे च। १२. जग्धुमिति—अत्तुमिति युक्तं वक्तुम्।

[1]न ह्युपाधिपरिच्छिन्नस्याराग्रोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृतं दहरत्वं शक्यं निवर्तयितुम्। [2]ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वा[3]दि विवक्ष्येतेति चेत्। [4]यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येत तस्यैव ब्रह्मणः साक्षात्सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम्। यदप्युक्तम्—ब्रह्मपुरमिति जीवेन पुरस्यो[5]पलक्षितत्वाद्राज्ञ इव जीवस्यैवेदं पुरस्वामिनः पुरैकदेशवर्तित्वमस्त्विति। अत्र ब्रूमः—परस्यैवेदं ब्रह्मणः पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, ब्रह्मशब्दस्य [6]तस्मिन्मुख्यत्वात्। तस्याप्यस्ति पुरेणानेन सम्बन्धः, उपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र० ५-५) 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २-५-१८) इत्या[7]दिश्रुतिभ्यः। अथवा जीवपुर

विजिघत्सः, बुभुक्षाशून्य इत्यर्थः। 'प्रथमश्रुत[8]ब्रह्मशब्देन तत्सापेक्षचरमश्रुतषष्ठीविभक्त्यर्थः सम्बन्धो नेयः, न तु ब्रह्मणः पुरमिति षष्ठ्यर्थः स्वस्वामिभावो ग्राह्यः, 'निरपेक्षेण तत्सापेक्षं बाध्यम्' इति न्यायादित्याह—अत्र ब्रूम इति। शरीरस्य ब्रह्मणा तदुपलब्धिस्थानत्वरूपे सम्बन्धे मानमाह—स इति। पूर्षु शरीरेषु, पुरि हृदये शय इति पुरुष इत्यन्वयः। ननु ब्रह्मशब्दस्य [9]जीवेऽप्यन्नादिना शरीरवृद्धिहेतौ [10]मुख्यत्वान्न षष्ठ्यर्थः कथञ्चिन्नेय इत्यत आह—अथवेति। [11]बृंहयति देहमिति ब्रह्म जीवः

यद्यपि जीव में आत्मशब्द का प्रयोग सम्भव है फिर भी अपहतपाप्मत्वादि अन्य गुणों के सम्भव न होने पर जीव-शङ्का भी निवृत्त हो जाती है। उपाधि से परिच्छिन्न आराग्र उपमा वाले जीव में पुण्डरीकवेष्टन के कारण जो दहरत्व आया है उसकी निवृत्ति के लिए ब्रह्म के साथ अभेद विवक्षा से जीव में सर्वव्यापकत्वादि वैसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म के साथ अभिन्न होने के कारण जीव में सर्वव्यापकत्व मानने की अपेक्षा साक्षात् उस ब्रह्म में ही सर्वव्यापकत्व की विवक्षा मानी जाय तो अधिक युक्तिसङ्गत होगा। अतः दहरपदवाच्य ब्रह्म में आत्मत्व, अपहतपाप्मत्व, सर्वव्यापकत्वादि गुण स्वभावतः सिद्ध है, वही ब्रह्म इस श्रुति में दहरपद से बतलाना अभीष्ट है। और जो आपने कहा था कि जैसे पुर का स्वामी राजपुर के एकदेश राजभवन में रहता है वैसे ही जीव शब्द से पुर उपलक्षित है उस देहस्वामी जीव का ही यह शरीररूप पुर है जिसके एकदेश हृदय में जीव रहता है, इसलिए इस शरीर को ब्रह्मपुर कहते हैं। इसपर हम कहते हैं कि परब्रह्म परमात्मा का ही यह शरीर पुर है इसीलिए इसे ब्रह्मपुर कहा गया है क्योंकि परब्रह्म परमात्मा में ही ब्रह्म शब्द मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है। उसकी उपलब्धि का स्थान यह शरीर है इसीलिए उस ब्रह्म का भी इस शरीररूप पुर के साथ सम्बन्ध है। ऐसे सम्बन्ध के विषय में अग्रिम श्रुतियाँ प्रमाण हैं जहाँ पर कहा है कि 'इस जीवघनरूप हिरण्यगर्भ से पर ब्रह्माण्डरूपपुर में शयन करने

१. ननु कथमाकाशोपमितत्व जीवशङ्कानिवर्तकं जीवस्यापि तदुपमितत्वेन शङ्कितदहरत्वनिवृत्त्योपमानपर्यवसानात्तत्राह—न हीति। २. तादात्म्येन शङ्कते—ब्रह्मेति। ३. सर्वाधारत्वादिसंग्रहार्थमादिपदम्। ४. लाघवेन प्रत्याह—यदिति। ५ उपलक्षितत्वादिति—उपार्जितत्वादित्यर्थः, स्वकर्मणेति शेषः। ६. परात्मनि। ७. यो वेद निहितं गुहायामित्यादिसंग्रहायादि पदम्। ८. प्रथमश्रुतब्रह्मशब्देन साकं ब्रह्मसापेक्षचरमश्रुतस्य पुरस्य यत्किञ्चित्षष्ठ्यर्थसम्बन्धो वाच्यो न तु स्वस्वामिभाव एवेत्याग्रह इति पङ्क्त्यर्थः। स च सम्बन्धस्तु उपलम्भनोपलब्ध्यात्मक इव वक्ष्यते भाष्यकार उपलब्ध्यधिष्ठानत्वादित्यनेनेति। ९. ब्रह्मशब्देनेति—तन्मुख्यार्थानुरोधेनेति यावत्। १०. मुख्यत्वादिति—जीवस्य च स्वकर्मार्जितत्वाद साधारणं शरीरं तथा च प्रत्ययार्थोऽपि जीवे मुख्य एवेत्यपि बोध्यम्। ११. अन्नपानाभ्यवहरणेन।

एवास्मिन्ब्रह्म सन्निहितमुपलक्ष्यते । [1]यथा शालग्रामे विष्णुः सन्निहित इति तद्वत् । 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८-१-६) इति च कर्मणामन्तवत्फलत्वमुक्त्वा 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति [2]प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्यानन्तफलत्वं [3]वदन्परमात्मत्वमस्य सूचयति । यदप्येतदुक्तम्—न दहरस्याकाशस्यान्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रुतं, [4]परविशेषणत्वेनोपादानादिति । [5]अत्र ब्रूमः—यद्याकाशो नान्वेष्टव्यत्वेनोक्तः स्यात् 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याद्याकाशस्वरूपप्रदर्शनं नोपयुज्येत ।

तत्स्वामिके पुरे, हृदयं [6]ब्रह्मवेश्म भवतु, राजपुरे मंत्रसद्मवदित्यर्थः । अनन्तफललिङ्गादपि दहरः परमात्मेत्याह—तद्यथेति । **अथ कर्मफलाद्वैराग्यानन्तरमिह जीवद्दशायामात्मानं दहरं तदाश्रितांश्च सत्यकामादिगुणानाचार्योपदेशमनुविद्य ध्यानेनानुभूय ये परलोकं गच्छन्ति तेषां सर्वलोकेष्वनन्तमैश्वर्यं स्वेच्छया सञ्चलनादिकं भवतीत्यर्थः । दहरे उक्तलिङ्गान्यन्यथासिद्धानि तेषां तदन्तःस्थगुणत्वादित्युक्तं स्मारयित्वा दूषयति**—यदपीत्यादिना । **उत्तरत्राकाशस्वरूपप्रतिपादनान्यथानुप-**

के कारण इसे पुरुष कहते हैं जो इस पुरुष को देखता है वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है' 'निःसन्देह यह पुरुष सभी शरीरों में शयन करता है' इत्यादि ।

अन्नादि के द्वारा शरीर वृद्धि का कारण जीव ही है, इसीलिए उसमें भी मुख्यरूप से ब्रह्मशब्द का प्रयोग हो सकता है । अतः षष्ठ्यर्थ किसी भी प्रकार से नहीं लगाया जा सकता है । इसे **'अथवा'** ग्रन्थ से पूर्वपक्षी कहता है कि इस जीवपुर शरीर में ही ब्रह्मसन्निहित उपलक्षित होता है; जिसप्रकार व्यापक होता हुआ भी विष्णु शालग्राम में सन्निहित माना जाता है ठीक इसी प्रकार इस जीवपुर में ब्रह्म भी सन्निहित है । इस उपासना का फल अनन्त बतलाया गया है । ऐसे अनन्तर फलरूप लिङ्ग से भी दहरपद का अर्थ परमात्मा ही हो सकता है । 'जैसे यहाँ पर कर्म से उपार्जित शस्यादिलोक कालपाकर नष्ट हो जाते हैं ऐसे ही वहाँ पर पुण्यों से उपार्जित स्वर्गादि लोक कालपाकर नष्ट हो जाते हैं ।' कर्मफल से वैराग्य हो जाने के वाद जीवित दशा में ही दहररूप आत्मा और उसके आश्रित सम्पूर्ण भोगों को आचार्य उपदेशानुसार ध्यान द्वारा अनुभव कर जो परलोक जाते हैं उन्हें सभी लोकों में अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त होता है; वे स्वेच्छा से सर्वत्र संचरण करते हैं । 'जो यहाँ पर आत्मा को जानकर गमन करते हैं और सत्यकाम को भी जानते हैं उनका सभी लोकों में यथेच्छ विचरण होता है' इस श्रुति के द्वारा भी प्रकृत दहराकाश के विज्ञान का फल अनन्त बतलाते हुए इसे परमात्मस्वरूप ही सूचित करते हैं । और जो आपने कहा था कि इस छान्दोग्य श्रुति में दहराकाश अन्वेषणीय और विजिज्ञासितव्य नहीं सुना गया है क्योंकि उसमें "पर" विशेषण भी लगाया है; इसपर हम कहते हैं कि यदि आकाश अन्वेषणीयरूप से नहीं कहा गया होता तो 'जितना बड़ा यह आकाश है उतना ही बड़ा हृदय के भीतर भी आकाश है' इस वाक्य से आकाश

---

१. अभिव्यक्तिस्थानत्वेन सांनिध्यमादाय दृष्टान्तमाह—यथेति । २. श्रुतितात्पर्यमाह—प्रकृतेति । ३. आचार्यो वेदो वा । ४. परमन्तरस्थं वस्तु तद्विशेषणत्वेनाधारत्वेन दहराकाशस्य तस्मिन्निति तच्छब्देनोपादानादित्यर्थः । ५. उत्तरत्राकाशस्वरूपप्रतिपादनानुपपत्त्या तस्यान्तःसमाहितैः सह ज्ञेयत्वमिष्टमित्याह—अत्र ब्रूम इति । ६. परमात्मा ।

नन्वेतदप्यन्तर्वर्तिवस्तुसद्भावप्रदर्शनायैव प्रदर्श्यते । "तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्याक्षिप्य परिहारावसर आकाशौपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाहितत्वदर्शनात् । नैतदेवम् । एवं हि सति यदन्तःसमाहितं द्यावापृथिव्यादि तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चोक्तं स्यात् । तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत । 'अस्मिन्कामाः समाहिताः' 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इति हि प्रकृतं द्यावापृथिव्यादिसमाधानाधारमाकाशमाकृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' इति समुच्चयार्थेन चशब्देनात्मानं कामाधारमाश्रितांश्च कामान्विज्ञेयान्वाक्यशेषो दर्शयति । तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठानः सहान्तःस्थैः समाहितैः पृथिव्यादिभिः सत्यैश्च कामैर्विज्ञेय उक्त इति गम्यते । स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति ॥१४॥

पत्या पूर्वं तस्यान्वेष्यत्वादिकमित्यत्रान्यथोपपत्तिं शङ्कते—नन्विति । एतत् आकाशस्वरूपम् । 'आक्षेपबीजमाकाशस्याल्पत्वमुपमया निरस्याऽन्तःस्थवस्तूक्तेस्तदन्तःस्थमेव ध्येयमित्यर्थः । तर्हि जगदेव ध्येयं स्यादित्याह—नैतदेवमिति । अस्तु को दोषः, तत्राह—तत्रेति । 'सर्वनामभ्यां दहराकाशमाकृष्यात्मत्वादिगुणानुक्त्वा गुणैः सह तस्यैव ध्येयत्वं वाक्यशेषो ब्रूते, तद्विरोध इत्यर्थः । "तस्मिन् यदन्तः' (छा० ८-१-१) इति तत्पदेन व्यवहितमपि हृदयं योग्यतया 'ग्राह्यमित्याह—तस्मादिति । यद्वा आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदुभयमन्वेष्टव्यमिति योजनां सूचयति—सहान्तःस्थैरिति ॥१४॥

के स्वरूप का प्रदर्शन उपयुक्त नहीं होता ।

शङ्का—दहराकाश के अन्वेष्यत्व आदि की अन्यथानुपपत्ति की शङ्का करते हैं कि यदि अन्तर्वर्ती वस्तु का सद्भाव बतलाने के लिए ही यह प्रसङ्ग है कि उसके सम्बन्ध में कोई पूछे जो इस ब्रह्मपुर में छोटा सा कमल है उसके भीतर आकाश है उस आकाश में कौन सी वस्तु है जिसका अन्वेषण करना चाहिए और जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिए ऐसा आक्षेपकर परिहार करते समय आकाश की उपमा देकर द्युलोक, पृथ्वीलोक आदि का अन्तःसमाहितत्व दिखलाया गया है। समाधान—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि तब तो जगत ही ध्येय हो जायेगा ऐसा 'नैतदेवम्' ग्रन्थ से कहते हैं। इस प्रकार जो इसके भीतर द्यावापृथिव्यादि समाहित है उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए, यह सङ्गत नहीं होगा। 'इसमें सभी इच्छायें समाहित हैं; यह आत्मा अपहतपाप्मा है' ऐसा प्रसङ्ग चल रहा है जो द्युलोक, पृथ्वीलोकादि के समाधान का आधार आकाश है; उस प्रसङ्ग को लेकर ही 'जो इस लोक में आत्मा को जानकर जाता है और इन सत्य भोगों को जानता है' इस वाक्य से समुच्चयार्थक शब्द द्वारा आत्मा को, कामनाओं के आधार को और विज्ञेय भोगों को वाक्यशेष बतलाता है। जब वाक्यशेष में ऐसा कहा गया है तो वाक्यारम्भ

---

१. कथमेतदवगम्यते तत्राह—तमिति । २. ननु सत्यकामवेदनस्यैवैतत्फलं तदानन्तर्यान्न दहराकाशबुद्धेरित्याशङ्क्याह—समुच्चयार्थेनेति । ३. किं तदत्रेत्याक्षेपः । ४. यावान्वेत्युपमया । ५. उभेऽस्मिन्नित्यादिना । ६. सर्वनामभ्यामिति—प्रकृतदहराकाशस्य द्यावापृथिवीभ्यां व्यवधानेऽपि अस्मिन्नेष इति चैकवचनान्ताभ्यां सर्वनामभ्यां तस्यैव परामर्शयोग्यत्वात्तद्वेदनस्य फलवत्त्वश्रुतेश्चेति भावः । ७. उपक्रमे । ८. अपिनाऽनन्तरमप्याकाशमुल्लंघ्य । ९. ग्राह्यमिति—संदिग्धस्य वाक्यशेषान्निर्णय इति न्यायादिति भावः ।

(७८) गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥१५॥

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यो हेतुभ्य इत्युक्तम् । त एवोत्तरे हेतव इदानीं प्रपञ्चयन्ते । इतश्च परमेश्वर एव दहरः, ¹यस्माद्दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः— ²इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छा० ८-३-२) इति । ³तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवाना-मभिधीयमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति । तथा ह्यहरहर्जीवानां सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं ⁴श्रुत्यन्तरे—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६-८-१) इत्येवमादौ । लोकेऽपि किल गाढ सुषुप्तमाचक्षते 'ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गतः' इति । ⁶तथा ब्रह्मलोकशब्दो-ऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमानो जीवभूताकाशशङ्कां निवर्तयन्ब्रह्मतामस्य गमयति ।

दहराकाशस्य ब्रह्मत्वे हेत्वन्तरमाह—गतीति । प्रजा जीवा एतं हृदयस्थं दहरं ब्रह्मस्वरूप लोकमहरहः प्रत्यहं स्वापे गच्छन्त्यस्तदात्मना स्थिता अप्यनृताज्ञानेनावृतास्तं न जानन्ति । अतः पुन-रुत्तिष्ठन्तीत्यर्थः । नन्वेतस्यपरामृष्टदहरस्य स्वापे जीवगम्यत्वेऽपि ब्रह्मत्वे किमायातमित्याशङ्क्य 'तथा हि दृष्टम्' इति व्याचष्टे—तथा हीति । लोकेऽपि दृष्टमित्यर्थान्तरमाह—लोकेऽपीति । 'गति-लिङ्गं व्याख्याय शब्दं व्याचष्टे—तथेति । जीवभूताकाशयोर्ब्रह्मलोकशब्दस्याप्रसिद्धेरिति भावः ।

में भी दहरशब्द का अर्थ आकाश है जिसका स्थान हृदय पुण्डरीक है, जिसके भीतर पृथिव्यादि एवं सत्यकामनाओं के सहित दहराकाश को विज्ञेय कहा है ऐसा सुस्पष्ट भासता है। अतः इन हेतुओं से दहरपदवाच्य परमेश्वर ही सिद्ध होता है ॥१४॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च (ललिता)

दहराकाश के ब्रह्म होने में हेत्वन्तर भी अग्रिम सूत्र से बतलाते हैं कि उक्त हेतुओं से दहर का अर्थ परमेश्वर जो बतलाया गया वे हेतु कौन-कौन से हैं। अब उन हेतुओं का ही विस्तार बतलाते हैं। इसलिए भी दहरपदवाच्य परमेश्वर ही माना जायेगा क्योंकि दहरवाक्यशेष में परमेश्वर के ही प्रतिपादक गति और शब्द विद्यमान है 'ये सभी प्रजा प्रतिदिन इस ब्रह्मलोक में जाते हुए भी इसे प्राप्त नहीं कर पाती है' इस वाक्य द्वारा प्रकृत दहर पदार्थ को ब्रह्मलोक शब्द से कहकर तद्विषयक गति प्रजाशब्दवाच्य जीवों की बतलायी गयी है। यह गति दहर पदार्थ को ब्रह्मस्वरूप बतला रही हैं। वैसे ही प्रतिदिन निद्रावस्था में सभी जीवों का ब्रह्म के प्रति गमन श्रुत्यन्तर में देखा गया है 'हे सोम्य ! उस निद्रावस्था में जीव ब्रह्म के साथ सम्पन्न हो जाता है।' इन वाक्यों में ब्रह्म-विषयक गमन देखा जाता है। लोक में भी ऐसा ही देखते हैं। किसी गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुष को लोक में कहते हैं कि यह ब्रह्मीभूत हो ब्रह्मता को प्राप्त कर गया था। गति की भाँति ब्रह्मलोक शब्द भी प्रकृत दहरपदार्थ में प्रयोग किया गया है जो जीव और भूताकाश की शङ्का को मिटाते हुए दहरपदार्थ में ब्रह्मता का बोध कराता है।

---

१. इतःशब्दार्थमाह—यस्मादिति । २. तावेवोदाहरति—इमा इति । ३. उक्तगतिशब्दयोर्विवक्षितमर्थमाह—तत्रेति । श्रुतो इति । ४. अध्यायभेदधिया श्रुत्यन्तरशब्दः । ५. स्वमपीति भवतीत्यादिश्रुत्यन्तरमादिपदार्थः । ६. गतिवत् । ७. चिदाभासाख्याः । ८. तथाहीत्यादिस्तत्रावयवस्येति शेषः । ९. दहरस्य ब्रह्मत्वे ।

(७९) धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥१६॥

ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकशब्दो गमयेत् । गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोक इति षष्ठीसमासवृत्त्या व्युत्पाद्येत । सामानाधिकरण्यवृत्त्या तु व्युत्पाद्यमानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्यति । एतदेव चाहरहर्ब्रह्मलोकगमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम् । [1]न ह्यहरहरिमाः प्रजाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति शक्यं कल्पयितुम् ॥१५॥

धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः । कथम् ? 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति हि प्रकृत्याकाशौपम्यपूर्वकं तस्मिन्सर्वसमाधानमुक्त्वा तस्मिन्नेव चात्मशब्दं प्रयुज्यापहत-

---

ब्रह्मण्यपि 'तस्याऽप्रसिद्धिं शङ्कते—नन्विति । निषादस्थपतिन्यायेन समाधत्ते—गमयेदिति । षष्ठे चिन्तितम्—'स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात्' (जै० सू० ६-१-५१) । [4]रौद्रीमिष्टिं विधाय 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' इत्याम्नायते । तत्र निषादानां स्थपतिः स्वामीति षष्ठीसमासेन त्रैवर्णिको ग्राह्यः, [5]अग्निविद्यादिसामर्थ्यात्, न तु निषादश्चासौ स्थपतिरिति कर्मधारयेण निषादो ग्राह्यः, [6]असामर्थ्यादिति प्राप्ते सिद्धान्तः—[7]निषाद एव स्थपतिः स्यात्, निषादशब्दस्य निषादे शक्तत्वात्, [8]तस्याश्रुतषष्ठ्यर्थसम्बन्धलक्षकत्वकल्पनाऽयोगात् श्रुतद्वितीयाविभक्तेः [9]पूर्वपदसम्बन्धकल्पनायां लाघवात्, अतो निषादस्येष्टिसामर्थ्यमात्रं [10]कल्प्यमिति । तद्वद्ब्रह्मलोकशब्दे कर्मधारय इत्यर्थः । कर्मधारये लिङ्गं चास्तीति व्याचष्टे—एतदेवेति । सूत्रे चकार उक्तन्यायसमुच्चयार्थः ॥१५॥

सर्वजगद्धारणलिङ्गाच्च दहरः पर इत्याह—धृतेरिति । नन्वथशब्दाद्दहरप्रकरणं विच्छिद्य श्रुता धृतिर्न दहरलिङ्गमिति शङ्कते—कथमिति । 'य आत्मा' इति [11]प्रकृताकर्षादथशब्दो दहरस्य धृतिगुणविधिप्रारम्भार्थ इत्याह—दहरोऽस्मिन्नित्यादिना । श्रुतौ विधृतिशब्दः कर्तृवाचित्वात् क्तिजन्तः ।

शङ्का—कमलासन लोक को भी ब्रह्मलोक शब्द बोध करा देगा ? समाधान—ठीक है हिरण्यगर्भ लोक को भी ब्रह्मलोक शब्द बोध करा सकता है यदि **'ब्रह्मणो लोकः'** ऐसा षष्ठी समास किया जाय तो किन्तु कर्मधारय समास से व्युत्पत्ति करने पर **'ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः'** इस प्रकार परब्रह्म का ही ब्रह्मलोक शब्द बोध करायेगा। प्रतिदिन ब्रह्मलोकगमन यहाँ पर ही देखा गया है। यह ब्रह्मलोक शब्द के अर्थावबोध में कर्मधारय समास स्वीकार करने पर लिङ्ग माना जायेगा क्योंकि प्रतिदिन यह प्रजा सत्यलोक नामक कार्यब्रह्म को प्राप्त करती हैं ऐसी कल्पना कर भी नहीं सकते हैं। अतः कर्मधारय समास मानने में यह ज्ञापक लिङ्ग सुस्पष्ट भासता है ॥१५॥

---

१. तस्य लिङ्गत्वं स्पष्टयति—न हीति । २. एष आत्माऽपहतपाप्मा । ३. ब्रह्मलोकशब्दस्य । ४. रौद्रीमिष्टिं विधायेति—उक्तं हि शाबरभाष्ये 'वास्तुमध्ये रौद्रं चरुं निर्वपेत् । यत्र रुद्रः प्रजाः शमयेदित्येतामिष्टिं प्रकृत्येत्यादि । ५. तस्य चाधीतवेदत्वेनेति शेषः । ६. तस्यानधीतवेदत्वेन निरुक्तसामर्थ्याभावात् । ७. कर्मधारयसमासस्य मुख्यत्वात् । ८. निषादशब्दस्य । ९. पूर्वपदेति—निषादं च तं स्थपतिं चेति कर्मधारयविग्रहे हि निषादपदस्यापि श्रुतया द्वितीययैव सम्बन्धः स्यात् । निषादानां स्थपतिरिति विग्रहे त्वश्रुतया षष्ठ्या, श्रुताश्रुतयोश्च श्रुतोपदान एव लाघवमिति भावः । १०. कल्प्यमिति—तात्कालिकाचार्योपदेशादिना विद्यां संपाद्य धनिको निषादो रौद्रयागं कुर्यादित्यर्थः । ११. प्रकृतापकर्षादिति पाठान्तरम् ।

पाप्मत्वादिगुणयोगं चोपदिश्य तमेवानतिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय' (छा० ८-४-१) इति । तत्र विधृतिरित्यात्मशब्द-सामानाधिकरण्याद्विधारयितोच्यते, ¹क्तिचः कर्तरि स्मरणात् । यथोदकसन्तानस्य विधारयिता लोके सेतुः ³क्षेत्रसम्पदामसम्भेदाय, एवमयमात्मैषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसम्भेदायासङ्कारायेति । एवमिह प्रकृते दहरे विधारणलक्षणं महिमानं दर्शयति । ⁴अयं च महिमा परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरावुपलभ्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्या⁵देः। तथान्यत्रापि 'निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते—'एष सर्वेश्वर एष ⁷भूताधिपतिरेष ⁸भूतपाल एष ⁹सेतुर्विधारण ¹⁰एषां

सूत्रे तु महिमशब्दसामानाधिकरण्याद्धृतिशब्दः क्तिन्नन्तो विधारणं ब्रूते । 'स्त्रियां क्तिन्' (पा०३-३-९४) इति भावे क्तिनो विधानादिति विभागः । सेतुरसङ्करहेतुः, विधृतिस्तु स्थितिहेतुरित्यपौनरुक्त्यमाह —यथोदकेति । सूत्रं योजयति—एवमिहेति । धृतेश्च दहरः परः अस्य धृतिरूपस्य नियमनस्य च महिम्नोऽस्मिन्परमात्मन्येव श्रुत्यन्तर उपलब्धेरिति सूत्रार्थः । धृतेश्चेति चकारात्सेतुपदोक्तनियामकत्वलिङ्गं ग्राह्यम् । ¹¹तत्र नियमने श्रुत्यन्तरोपलब्धिमाह—एतस्येति । धृतौ ¹²तामाह—तथेति ॥१६॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः (ललिता)

सम्पूर्ण जगत् के धारणरूप लिङ्ग से भी यह दहरपदवाच्य परमात्मा ही सिद्ध होता है। क्यों? 'हृदयकमल के भीतर दहर आकाश है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर उस दहरपदवाच्य को बाह्याकाश की उपमा देते हुए उसमें सबका समाधान बतलाकर उसी में आत्मशब्द का प्रयोग किया है और अपहतपाप्मत्वादि गुणों का सम्बन्ध बतलाकर उस प्रसङ्ग को लेकर ही 'जो आत्मा है वह सेतु विधृति है अर्थात् इन सम्पूर्ण लोकों के असम्भेद के लिए सेतु के समान विधारक है' ऐसा कहा गया है। उस श्रुति में विधृति और आत्मशब्द का सामानाधिकरण्य होने के कारण विधारयिता परमात्मा को ही कहा गया है। धृति शब्द 'धृ' धातु से कर्ता में क्तिच् प्रत्यय करके बनाया गया है, किन्तु सूत्र में धृति शब्द क्तिन् प्रत्ययान्त है जो **'स्त्रियां क्तिन्'** सूत्र से भाव अर्थ में किया गया है। सेतु असङ्कर का कारण है और विधृति स्थिति का कारण है, अतः दोनों में पौनुरुक्ति दोष नहीं है। जिस प्रकार लोक में जल की धारा रोकने वाले को सेतु कहते हैं और क्षेत्र सीमा के असांकर्य बताने बाले को भी सेतु कहते हैं ऐसे ही अध्यात्मादि भेद विशेषवाले लोकों एवं वर्णाश्रमादि के विधायक को भी सेतु कहते हैं जो असङ्कर का कारण है। ठीक उसी प्रकार इस प्रकृत दहरतत्त्व में विधारण रूप महिमा श्रुति दिखलाती है। यह महिमा दूसरी श्रुतियों के द्वारा भी परमेश्वर में ही उपलब्ध होती है। 'हे गार्गि! चन्द्र और सूर्य इस अक्षर परमात्मा के प्रशासन में स्थित हैं' इत्यादि वाक्यों में (तिधारकत्व) दिखलाया गया है। वैसे ही, अन्यत्र भी जहाँ परमात्मा अर्थ

१. श्रुतौ। २. 'क्तिच् क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० ३-३-१७४)। ३. क्षेत्रसीम्नामसाङ्कर्याय। ४. तथापि कथं दहरस्येश्वरत्व तत्राह—अयं चेति। ५. द्यावापृथिव्यादिस्थितिरक्षराधीनेति विद्वद्वाक्यमादिशब्दार्थः। ६. असंदिग्धे। ७. राजकुमारव्यावृत्यर्थं भूताधिपतिरित्युक्तम्। ८. लोकपालात्मनापि परस्यैवावस्थानं वक्तुं भूतपालपदम्। ९. विधारकतया सेतुरिवेति सर्वव्यवस्थापकत्वमाह—सेतुरिति। १०. तदेव स्पष्टयति—एषामिति। ११. तयोर्मध्ये। १२. श्रुत्यन्तरोपलब्धिम्।

(८०) [1]प्रसिद्धेश्च ॥१७॥

(८१) इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ॥१८॥

लोकानामसम्भेदाय' इति । एवं धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः ॥१६॥

[2]इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्युच्यते । 'यत्कारणमाकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः । '[4]आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८-१४-१) 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छा० १-९-१) इत्या[5]दिप्रयोगदर्शनात् । [6]जीवे तु न [7]क्वचिदाकाशशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते । '[8]भूताकाशस्तु सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धा-वुपमानोपमेयभावाद्यसम्भवान्न ग्रहीतव्य इत्युक्तम् ॥१७॥

[3]यदि वाक्यशेषबलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृह्येतास्तीतरस्यापि जीवस्य वाक्यशेषे परामर्शः—'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य

आ समन्तात्काशते दीप्यत इति स्वयंज्योतिषि ब्रह्मण्याकाशशब्दस्य विभुत्वगुणतो वा प्रसिद्धिः प्रयोगप्राचुर्यम् ॥१७॥

यदि 'एष आत्मापहतपाप्मा' (छा० ८-१-५) इत्यादिवाक्यशेषबलेन दहरः परस्तर्हि जीवोऽपीत्याशङ्क्य निषेधति—इतरेति । जीवस्यापि वाक्यशेषमाह—अथेति । [9]दहरोक्त्यनन्तरं मुक्तोपसृप्यं शुद्धं ब्रह्मोच्यते । "य [10]"एष सम्प्रसादो जीवोऽस्मात्कार्यकरणसङ्घातात्सम्यगुत्थाय आत्मानं तस्माद्विविच्य विविक्तमात्मानं स्वेन ब्रह्मरूपेणाभिनिष्पद्य साक्षात्कृत्य तदेव प्रत्यक्परं ज्योतिरुप-

---

निश्चित है वहाँ पर 'यह सर्वेश्वर है, यह भूताधिपति है, यह भूतपालक है और इन लोकों को सांकर्य से बचानेवाला यह सेतुविधारण ही तो है । अतः सेतुविधृतिरूप हेतु से परमेश्वर ही दहरपदवाच्य सिद्ध होता है ॥१६॥

प्रसिद्धेश्च (ललिता)

'हृदयकमल में छोटा सा आकाश है' इस वाक्य से भी परमेश्वर ही दहरपदवाच्य सिद्ध होता है क्योंकि आकाश शब्द परमेश्वर अर्थ में ही प्रसिद्ध है 'निःसन्देह ! नामरूप का निर्वाहक आकाश ही तो है' 'ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होती है' इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं । जो सभी ओर से प्रकाशित हो ऐसे स्वयंज्योति ब्रह्म को आकाश कहते हैं । आकाश और ब्रह्म में विभुत्वगुण की प्रसिद्धि भी है । इसके विपरीत जीव अर्थ में कहीं भी आकाश शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता है । हाँ, भूताकाश अर्थ में आकाशशब्द की प्रसिद्धि है किन्तु यदि दहराकाश का अर्थ भूताकाश करोगे तो आकाश की उपमा आकाश से दी गयी है ऐसा एक ही में उपमान-उपमेय-भाव का होना असम्भव होगा, अतः दहराकाश भूताकाश नहीं है किन्तु परमात्मा ही है ॥१७॥

---

१. दहरस्य परत्वे हेत्वन्तरमाह–प्रसिद्धेश्चेति । २. चकारार्थमाहेतश्चेति । ३. इतः शङ्कार्थं स्फुटयति—यदिति । ४. नास्ति लौकिकी प्रसिद्धिरिति श्रौतीं प्रसिद्धिमाह—आकाश इति । ५. यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति ग्रहीतुमादिपदम् । ६. ब्रह्मण्याकाशशब्दप्रसिद्धयुक्त्या जीवपक्षोऽपि निरस्त इत्याह—जीवे त्विति । ७. क्वचित् लोके वेदे चेत्यर्थः । ८. तर्हि वेदलोकप्रसिद्धेर्भूताकाशो गृह्यतां नेत्याह—भूतेति । ९. सोपाधिकः । १०. विद्वान् । ११. सुषुप्तौ सर्वकालुष्यविनिर्मुक्तः ।

स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ८।३।४) इति । ¹अत्र हि सम्प्रसादशब्दः श्रुत्यन्तरे सुषुप्तावस्थायां दृष्टत्वात्तदवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुं नार्थान्तरम्। तथा शरीरव्यपाश्रयस्यैव जीवस्य शरीरात्समुत्थानं सम्भवति । यथाकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीनामाकाशात्समुत्थानं तद्वत् । यथा चादृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्दः परमेश्वरधर्मसमभिव्याहारात् 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादौ परमेश्वरविषयोऽभ्युपगतः । एवं जीवविषयोऽपि भविष्यति । तस्मादितरपरामर्शात् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्यत्र स एव जीव उच्यत इति चेत् । नैतदेवं स्यात् । कस्मात् ? असम्भवात् । ²न हि जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी सन्नाकाशेनोपमीयेत । ³न चो⁴पाधिधर्माभिमन्यमानस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्माः सम्भवन्ति । ⁵प्रपञ्चितं चैतत्प्रथम-

---

सम्पद्यते प्राप्नोतीति व्याख्येयम् । यथा मुखं व्यादाय स्वपितीति वाक्यं सुप्त्वा मुखं व्यादत्ते इति व्याख्यायते तद्वत् । ⁷ज्योतिषोऽनात्मत्वं निरस्यति—एष इति । 'सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा' (बृ० ४-३-१५) इति श्रुत्यन्तरम् । 'अवस्थावदुत्थानमपि जीवस्य लिङ्गमित्याह—तथेति । तदाश्रितस्य तस्मात्समुत्थाने दृष्टान्तः—यथेति । ननु ⁹क्वाप्याकाशशब्दो जीवे न दृष्ट इत्याशङ्क्योक्तावस्थोत्थानलिङ्गबलात्कल्प्य इत्याह—यथा चेति । नियामकाभावाज्जीवो दहरः किं न स्यादिति प्राप्ते नियामकमाह—नैतदित्यादिना । दहरे श्रुतधर्माणामसम्भवान्न जीवो दहर इत्यर्थः । तर्हि पुनरुक्तिः,

---

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् (ललिता)

पूर्वपक्ष—यदि वाक्यशेष के बल से दहरशब्द का अर्थ परमात्मा मानोगे तो वाक्यशेष में 'जो यह सम्प्रसादपद लक्ष्य जीव है वह इस शरीर से ऊपर उठकर परंज्योति को प्राप्त करता है तत्पश्चात् परमात्मरूप से अभिनिष्पन्न हो जाता है, यह आत्मा है। ऐसा ऋषि ने कहा।' इस मन्त्र द्वारा जीवात्मा का भी परामर्श सुना जाता है। श्रुत्यन्तर में सम्प्रसाद शब्द सुषुप्तावस्था में देखा गया है किन्तु लक्षणा से यह सम्प्रसाद शब्द तदवस्थानवान् जीव को उपस्थित करेगा, अन्य अर्थ को नहीं। वैसे सुषुप्त ही शरीर में अभिमान के कारण जीव शरीर के आश्रित है, उसी शरीर से समुत्थान भी सम्भव है। जैसे आकाश आश्रित वायु आदि का आकाश से समुत्थान होता है वैसे ही देहाश्रित जीव का देहाभिमान त्यागरूप समुत्थान हो सकता है। जिस प्रकार लोक में परमेश्वर अर्थ में आकाश शब्द नहीं देखा गया फिर भी जगन्नियामकत्वादि परमेश्वर धर्म के समभिव्याहार से 'इस समस्त नाम-रूप का निर्वाहक आकाश ही है' इस वाक्य द्वारा परमेश्वर ही आकाश शब्द का अर्थ माना गया है। ऐसे ही जीवविषयक भी आकाश शब्द हो जायेगा, अतः जीव का परामर्श होने से हृदय के भीतर रहने वाला आकाश दहरपदवाच्य जीव ही कहा जायेगा ? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि बुद्ध्यादि उपाधिवाले परिच्छिन्न अभिमानी जीव को आकाश की उपमा नहीं दी जा सकती और न उपाधि धर्म को अपने में माननेवाले जीव में अपहतपाप्मत्वादि धर्म ही

---

१. कुतो वाक्यशेषस्य जीवविषयत्वं तत्राह—अत्रेति । २. यदा आकाशोपमितत्वं दहरस्य श्रुतं तन्न जीवे सम्भवतीति विभजते—न हीति । ३. अपहतपाप्मत्वादीनामपि दहरोक्तानां जीवे न सम्भावनेत्याह—न चेति । ४. उपाधिधर्माः पाप्मादयः । ५. ब्रह्माभेदाज्जीवेऽपि सर्वमेतद्युक्तमित्याशङ्क्याह—प्रपञ्चितमिति । ६. 'दहर उत्तरेभ्यः' इत्यत्र । ७. सूर्यादि । ८. अवस्थावत्त्ववद्देहादुत्थानमपीत्यर्थः । सम्प्रसादशाब्दितसुषुप्त्यवस्थावादिति । ९. लोके वेदे च ।

(८२) उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१९॥

सूत्रे । 'अतिरेकाशङ्कापरिहारायात्र तु पुनरुपन्यस्तम् । पठिष्यति चोपरिष्टात्–'अन्यार्थश्च परामर्शः' (ब्र० १।३।२०) इति ॥१८॥

'इतरपरामर्शाद्या जीवाशङ्का जाता साऽसम्भवान्निराकृता । अथेदानीं मृतस्येवामृतसेकात्पुनः समुत्थानं जीवाशङ्कायाः क्रियते 'उत्तरस्मात्प्राजापत्याद्वाक्यात् । तत्र हि 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' (छा० ८।७।४) इति ब्रुवन्नक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमात्मानं निर्दिशति । 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति च तमेव पुनः पुनः परामृश्य 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा' (छा० ८।१०।१)

तत्राह—अतिरेकेति । **उत्तराच्चेदित्यधिकाशङ्कानिरासार्थमित्यर्थः । का तर्हि जीवपरामर्शस्य गतिः, तत्राह**—पठिष्यतीति । **जीवस्य 'स्वापस्थानभूतब्रह्मज्ञानार्थोऽयं परामर्श इति वक्ष्यते ॥१८॥**

असम्भवादिति हेतोरसिद्धिमाशङ्क्य परिहरति—उत्तराच्चेदिति । **सूत्रनिराकृताया जीवाशङ्कायाः प्रजापतिवाक्यबलात्पुनः समुत्थानं क्रियते । 'तत्र जीवस्यैवापहतपाप्मत्वादिग्रहणेनासम्भवासिद्धेरित्यर्थः । कथं तत्र जीवोक्तिः, तत्राह**—तत्रेत्यादिना । **यद्यप्युपक्रमे जीवशब्दो नास्ति, तथाप्यपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानमुपक्रम्य तस्य जाग्रदाद्यवस्थात्रयोपन्यासादवस्थालिङ्गेन जीवनिश्चयात्तस्यैव ते गुणाः सम्भवन्तीति समुदायार्थः । इन्द्रं प्रजापतिर्ब्रूते**—य एष इति । **प्राधान्यादक्षिग्रहणं सर्वैरिन्द्रियैर्विषयदर्शनरूपजाग्रदवस्थापन्नमित्याह**—द्रष्टारमिति । **महीयमानः वासनामयैर्विषयैः**

सम्भव है। यह सब बात दहराधिकरण के प्रथम सूत्र में हम विस्तार से कह आये हैं किन्तु कुछ तदतिरिक्त शङ्का परिहार के लिए यहाँ पर उसका पुनः उपन्यास किया गया है। जीव परामर्श की गति **'अन्यार्थश्च परामर्शः'** इस सूत्र में आगे बतलायी जायेगी ॥१८॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु (ललिता)

जीव के परामर्श से जो दहर पद की आशङ्का ज व अर्थ में उत्पन्न हुई थी वह पिछले सूत्र में 'असंभवात्' हेतु से निराकृत हो गई। अब उस हेतु में पुनः असिद्धि की आशङ्का कर परिहार के लिए अग्रिम सूत्र है। प्रजापति वाक्य से निराकृत जीवाशङ्का का पुनः उत्थान वहाँ पर होता है अर्थात् अब मृत के ऊपर अमृत की भाँति निराकृत जीवाशङ्का का प्रजापति वाक्य से पुनः उत्थान किया जाता है उस वाक्य में जीव के लिए ही अपहतपाप्मत्वादिगुण ग्रहण कर लेने से असम्भव हेतु की असिद्धि हो जाती है क्योंकि उस वाक्य में 'आत्मा जो है वह अपहतपाप्मा है।' अपहतपाप्मत्वादिगुणयुक्त आत्मा का अन्वेषण और जिज्ञासा करनी चाहिए ऐसी प्रतिज्ञा कर 'जो यह

---

१. अतिरेकेत्यादि—निरसनीयाधिकाशङ्कावकाशार्थमिति यावत् । २. जीवस्योपाधिकल्पितस्य ब्रह्मभाव उपदेष्टव्यं न चासौ जीवमपरामृश्योपदेष्टुं शक्य इति तिसृष्ववस्थासु जीवः परामृष्टस्तद्भावप्रविलयनं तस्य पारमार्थिकं ब्रह्मभाव दर्शयितुमित्यर्थः । ३. चोद्यस्य वृत्तमनूद्य तात्पर्यमाह–इतरपरामर्शादिति । ४. निराकृतशङ्कोत्थाने निराकरणपर्यवसानमाशङ्क्याह—अथेति । ५. पूर्वपक्षिदृष्ट्या हेतोः प्राबल्यमभिप्रेत्याह—मृतस्येवामृतसेकादिति । वस्तुतो मृतस्य तु नामृतसेकादपि पुनरुत्थानमिति वाऽत्राभिप्रेतम् । ६. पुनरुत्थाने हेतुमाह—उत्तरस्मादिति । ७. जाग्रत्पर्याये । ८. स्वापाधिष्ठानभूतं यद्ब्रह्म तत्स्वरूप एव जीव इति ज्ञानार्थः । ९. वाक्ये ।

इति, 'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा' इति च जीवमेवावस्थान्तरगतं व्याचष्टे। 'तस्यैव चापहतपाप्मत्वादि दर्शयति—'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति। 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' (छा० ८।११।१,२) इति च सुषुप्तावस्थायां दोषमुपलभ्य "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इति चोपक्रम्य शरीरसम्बन्धनिन्दापूर्वकं 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इति जीवमेव शरीरात्समुत्थितमुत्तमपुरुषं दर्शयति। तस्मादस्ति सम्भवो जीवे पारमेश्वराणां

पूज्यमान इति स्वप्नपर्याये, तद्यत्रेति सुषुप्तिपर्याये च जीवमेव प्रजापतिर्व्याचष्ट इत्यन्वयः। यत्र काले तदेतत्स्वपनं यथा स्यात्तथा 'सुप्तः, सम्यक् अस्तो निरस्तः करणग्रामो यस्य स समस्तः, अत एवोपहृतकरणत्वात्तत्कृतकालुष्यहीनः सम्प्रसन्नः, स्वप्नं प्रपञ्चमज्ञानमात्रत्वेन विलापयति, अतोऽज्ञानसत्त्वात् मुक्ताद्विलक्षणः प्राज्ञ एष स्वचैतन्येन कारणशरीरसाक्षी तस्य साक्ष्यस्य सत्तास्फूर्तिप्रदत्वादात्मेत्यर्थः। चतुर्थपर्याये ब्रह्मोक्तेस्तस्यैवापहतपाप्मत्वादिगुणा इत्याशङ्क्य तस्यापि पर्यायस्य जीवत्वमाह—नाहेति। अहेति निपातः खेदार्थे। खिद्यमानो हीन्द्र उवाच, न खलु सुप्तः पुमानयं सम्प्रति सुषुप्त्यवस्थायामयं देवदत्तोऽहमित्येवमात्मानं जानाति। नो एव नैवेमानि भूतानि जानाति किन्तु विनाशमेव प्राप्तो भवति, नाहमत्र 'भोग्यं पश्यामी'ति दोषमुपलभ्य पुनः प्रजापतिमुपससाद। तं दोषं श्रुत्वा प्रजापतिराह—एतमिति। एतस्मात्प्रकृतादात्मनोऽन्यत्रान्यं न व्याख्यास्यामीत्युपक्रम्य 'मघवन्मर्त्यं वा इदं

नेत्र में पुरुष दीखता है यह आत्मा है' इस वाक्य से बतलाते हुए अक्षिस्थ द्रष्टा जीवात्मा का ही निर्देश किया गया है। प्रजापति ने इन्द्र से कहा है कि 'तुझे इसी आत्मा का उपदेश पुनः करूँगा' इस वाक्य से बार-बार उसी का परामर्श कर 'यह जो स्वप्न में वासनामय विषयों से पूजित होता हुआ आत्मा विचरण करता है' ऐसा कहा है, फिर 'जिस काल में यह सोया हुआ पुरुष इन्द्रियव्यापार को छोड़ कर समस्त और सम्प्रसन्न हो जाता है तब यह स्वप्न को नहीं देखता, यही आत्मा है' इस वाक्य से अवस्थान्तर में गये हुए जीव को ही बतलाते हैं। अतः उसी के लिए अपहतपाप्मत्वादि गुण को भी कहते हैं 'यह अमृत है यह भय से मुक्त है और यही ब्रह्म है।' इस सुषुप्त अवस्था में गये हुए जीव के लिए पुनः खेद प्रकट करता हुआ इन्द्र कहता है कि दुःख की बात है जो इस अवस्था में जीवात्मा अपने को 'मैं यह हूँ ऐसा नहीं जानता और न इन भूतों को ही जानता है' इस वाक्य से सुषुप्तावस्था में दोष दिखलाकर पुनः उसकी व्याख्या के लिए प्रजापति कहते हैं कि 'मैं फिर इस आत्मा को तुझे बतलाऊँगा क्योंकि इससे भिन्न तत्त्व है ही नहीं' यहाँ से प्रसंग प्रारम्भ कर शरीर-सम्बन्ध की निन्दापूर्वक 'यह जीव जब इस देहाभिमान से ऊपर उठता है तब प्रथम कूटस्थभाव को प्राप्त करता है और फिर परंज्योतिरूप परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाता है। वह उत्तम पुरुष है' इन वाक्यों से शरीर से समुत्थान जीव का ही कहा गया है। अतः प्रजापति से परमेश्वर के

---

१. स्वप्नावस्थातोऽन्या स्वापावस्थाऽवस्थान्तरम्। २. तथापि तस्मिन्नपहतपाप्मत्वादि कथमित्याशङ्क्य विनापि ब्रह्मरूपतामुपास्त्या तद्धीरित्याह—तस्यैवेति। ३. 'प्रकृतमेवात्मानं ते तुभ्यं पुनरपि व्याख्यास्यामि' इति। ४. स्वापावस्था प्राप्तो भवति। ५. अत्र सौषुप्तात्मदर्शने। ६. भोग्यं सर्वलोककामावाप्तिलक्षणमिष्टं फलम्। ७. इत्येवं स्वापे दोषं दृष्ट्वा।

धर्माणाम् । अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति जीव एवोक्त इति चेत्कश्चिद्ब्रूयात् । तं प्रति ब्रूयात्—'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याशङ्का सम्भवतीत्यर्थः । कस्मात् ? यतस्तत्राप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते । आविर्भूतं स्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूपः । भूतपूर्वगत्या जीववचनम् । एतदुक्तं भवति—'य एषोऽक्षिणि' इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्योदशरावब्राह्मणेनैनं शरीरात्मताया व्युत्थाप्य 'एतं त्वेव ते' इति पुनः पुनस्तमेव व्याख्येयत्वेनाकृष्य 'स्वप्नसुषुप्तोपन्यासक्रमेण 'परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपं परं ब्रह्म तद्रूपतयैनं जीवं व्याचष्टे न जैवेन रूपेण । "यत्परं ज्योतिरुपसम्पत्तव्यं श्रुतं तत्परं

शरीरम्' (छा० ८-१२-१) इति निन्दापूर्वकं जीवमेव दर्शयतीत्यर्थः । तस्मात् प्रजापतिवाक्यात् । अतोऽसम्भवासिद्धेः । सिद्धान्तयति—तं प्रतीति । अवस्थात्रयशोधनेनाविर्भूतत्वं शोधितत्वमर्थस्य वाक्योत्थवृत्त्यभिव्यक्तत्वमित्यर्थः । तर्हि सूत्रे पुंलिङ्गेन जीवोक्तिः कथम् ? ज्ञानेन जीवत्वस्य निवृत्तत्वादित्यत आह—भूतपूर्वेति । ज्ञानात्पूर्वमविद्यातत्कार्यप्रतिबिम्बितस्वरूपं "जीवत्वमभूदिति कृत्वा ज्ञानानन्तरं ब्रह्मरूपोऽपि जीवनाम्नोच्यत इत्यर्थः । "विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयपर्यायचतुष्टयात्मकप्रजापतिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—एतदिति । जन्मनाशवत्त्वात् प्रतिबिम्बवद्बिम्बदेहो नात्मेति ज्ञापनार्थं प्रजापतिरिन्द्रविरोचनौ प्रत्युवाच, 'उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतम्' (छा० ८-८-१) इत्यादिब्राह्मणेनेत्याह—उदशरावेति । उदकपूर्णे शरावे प्रतिबिम्बात्मानं देहं दृष्ट्वा स्वस्याज्ञातं यत्तन्मह्यं वाच्यमित्युक्तश्रुत्यर्थः । व्युत्थाप्य विचार्य । अभिनिष्पद्यत इत्यत्रैतदुक्तं भवतीति सम्बन्धः । किमुक्तमित्यत आह—यदस्येति । जीवस्वरूपेण जीवं न व्याचष्टे, लोकसिद्धत्वात्, किन्तु

धर्म जब जीव में सम्भव है तो इस हृदयपुण्डरीक में दहराकाश-पदवाच्य जीव ही कहा गया है ? ऐसी शङ्का होने पर सिद्धान्ती 'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इस वाक्य से प्रतिउत्तर देता है । "तु" शब्द पूर्वपक्ष व्यावृत्ति के लिए है । अर्थात् प्रजापति के उत्तरवाक्य से इस दहर वाक्य में जीवाशङ्का सम्भव नहीं है क्योंकि इस चतुर्थपर्याय में भी आविर्भूत जीव स्वरूप को बतलाना ही अभीष्ट है । जिस जीव का संशोधितस्वरूप महावाक्यार्थ चिन्तन से उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्ति में ब्रह्मरूप अभिव्यक्त होता है, जीव का स्वरूप तभी आविर्भूत माना जाता है । उस समय पुंल्लिङ्ग निर्देश द्वारा जो जीवत्व का संकेत मिलता है वह तो केवल भूतपूर्व गति से कहा गया है । इन सभी पर्यायों का तात्पर्य भाष्यकार बतलाते हैं कि 'जो नेत्र में पुरुष है' इस वाक्य द्वारा नेत्र से लक्षित द्रष्टा का निर्देश कर उदसराव ब्राह्मण से जीवात्मा का देहात्मभाव से उत्थान बतलाते हैं । पुनः उसी को व्याख्येयरूप से आकृष्ट कर स्वप्न एवं सुषुप्ति उपन्यास कर्म से परंज्योति की उपसम्पत्ति और अपने रूप से अभिनिष्पत्ति भी ठीक ही है जो इस जीव का पारमार्थिक स्वरूप है, वह परब्रह्म है ।

१. दहरवाक्ये । २. पर्यायचतुष्टयस्य जीवार्थत्वात्कुतस्तदाशङ्का, नेति शङ्कते—कस्मादिति । ३. सौत्रं हेतुमाह—यत इति । ४. पर्यायचतुष्टयेऽपि । ५. अवस्थाविशेषविशिष्टस्य परैक्या योगमाशङ्क्याह—अक्षिलक्षितमिति । ६. द्रष्टारम् । ७. प्रकरणविच्छेदं व्यावर्तयति—एतं त्वेवेति । ८. अवस्थानां व्यभिचारित्वेन कल्पितत्वात्तदस्पृष्टं वस्तूपदेष्टुमवस्थोक्तिरिति तदुक्तिफलमाह—स्वप्नेति । ९. परंज्योतिरेवोपसम्पत्तव्यं श्रूयते न ब्रह्मेत्याशङ्क्याह—यदिति । १०. सिद्धान्तो । ११. विश्वेति—स्वरूपाविर्भावेऽपि जीवस्य जीवत्वानपायात्कुतो ब्रह्मतेत्याशङ्क्य त्यादौ शेषः ।

ब्रह्म । 'तच्चापहतपाप्मत्वादिधर्मकं, तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपं 'तत्त्वमसि' इत्यादिशास्त्रेभ्यः, 'नेतरदुपाधिकल्पितम् । यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम् । यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघाताद्व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते, 'नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः, नासि संसारी, 'किं तर्हि ? तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्तत्त्वमसि' इति । 'तदा कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्यास्माच्छरीराद्यभिमानात्समुत्तिष्ठन्स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति । 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३-२-९) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तदेव चास्य पारमार्थिकं स्वरूपं येन शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत

तमनूद्य परस्परव्यभिचारिणीभ्योऽवस्थाभ्यो विविच्य ब्रह्मस्वरूपं बोधयति । अतो यद्ब्रह्म तदेवापहतपाप्मत्वादिधर्मकं न जीव इत्युक्तं भवति, शोधितस्य ब्रह्माभेदेन तद्धर्मोक्तेरित्यर्थः । एवमवस्थोपन्यासस्य विवेकार्थत्वान्न जीवलिङ्गत्वं, 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति लिङ्गोपेतश्रुतिविरोधादिति मन्तव्यम् । ननु जीवत्वब्रह्मत्वविरुद्धधर्मवतोः कथमभेदः, तत्राह—तदेवेति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जीवत्वस्याविद्याकल्पितत्वादविरोध इति मत्वा दृष्टान्तेनान्वयमाह—यावदिति । व्यतिरेकमाह—यदेति । अविद्यायां सत्यां जीवत्वं, वाक्योत्थप्रबोधात्तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तिरित्याविद्यकं तदित्यर्थः । संसारित्वस्य कल्पितत्वे सिद्धं निगमयति—तदेव चास्येति । 'समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते' (छा० ८-१२-२) इति श्रुतिं व्याख्यातुमाक्षिपति—कथं पुनरित्यादिना । कूटस्थ-

उसी रूप में इस जीव की व्याख्या श्रुति करती है जीवरूप में नहीं । इसमें जो परंज्योति की प्राप्ति सुनी जाती है वह परब्रह्म है और वह अपहतपाप्मत्वादि धर्म से युक्त है, जीवात्मा का वही पारमार्थिक स्वरूप है, उसी का उपदेश **"तत्त्वमसि"** आदि महावाक्य से किया गया है । उपाधिकल्पित जीवस्वरूप का वर्णन नहीं है । जैसे स्थाणु में पुरुषबुद्धि स्थाणुत्व ज्ञान से निवृत्त हो जाती है, ऐसे ही द्वैतरूपा अविद्या को मिटाते हुए कूटस्थ नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा को जब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप से नहीं जानता तब तक जीव में जीवत्व बना रहता है । और जब देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं इनके संघात से ऊपर उठकर श्रुति द्वारा बोध प्राप्तकर लेता है कि 'तू देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि एवं इनके संघात नहीं हो और न संसारी हो ।' फिर क्या है ? तो श्रुति कहती है कि 'जो यह सत्य है वह आत्मा चैतन्य मात्र स्वरूप है, वही तू है' तब कूटस्थ-नित्य-चैतन्यरूप आत्मा को जानकर इस शरीरादि अभिमान से ऊपर उठ जाता है । वही कूटस्थ नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा है । अत एव मुण्डक श्रुति में कहा है कि 'निःसन्देह जो उस परब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है ।' जीव का वही पारमार्थिक स्वरूप है ।

समाधान—इस पर कोई शङ्का करता है कि जीव अपने रूप से ही अपने रूप को प्राप्त करता

१. यत्तु जीवस्य नापहतपाप्मत्वादीत्युक्तं तत्राह—तच्चेति । २. विरुद्धत्वबुद्धौ कथं शास्त्रमपि तद्बोधयेदित्याशङ्क्याह—नेतरदिति । प्रातीतिकविरुद्धाकारस्यौपाधिकत्वादागमावगतं स्वाभाविकमैक्यमविरुद्धमित्यर्थः । ३. विविच्य । ४. व्युत्थापनद्वारा प्रतिबोधनमभिनयति—नासीति । ५. व्युत्थापनफलमसंसारित्वमुक्त्वा तत्फलमाकाङ्क्षापूर्वकमाह—किमिति । ६. शास्त्रीयमात्मज्ञानमनूद्य तत्फलमाह—तदेति । ७. विदुषो ब्रह्मत्वे मानमाह—स इति ।

इति सम्भवति कूटस्थनित्यस्य । सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसम्पर्कादभिभूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपा[1]दिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणा[2]भिनिष्पत्तिः स्यात् । [3]तथा नक्षत्रादीनामहन्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । [4]न तु तथात्मचैतन्यज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः सम्भवत्यसंसर्गित्वाद्व्योम्न[5] इव, [6]दृष्टविरोधाच्च । [7]दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम् । तच्च शरीरादसमुत्थितस्यापि जीवस्य सदा निष्पन्नमेव दृश्यते । [8]सर्वो हि जीवः पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्व्यवहरत्य[9]न्यथा व्यवहारानुपपत्तेः । [10]तच्चेच्छरीरात्समुत्थितस्य निष्पद्येत प्राक्समुत्थानाद्दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत । अतः [11]किमात्मकमिदं

नित्यस्य स्वरूपमित्यन्वयः । मलसङ्गिनो हि क्रियया मलनाशादभिव्यक्तिर्न तु कूटस्थस्यासङ्गिन इत्याह—सुवर्णेति । द्रव्यान्तरं पार्थिवो मलः । अभिभूतेत्यस्य व्याख्यानमनभिव्यक्तेति । असाधारणो भास्वरत्वा[12]दिः । अभिभावकः सौरालोकः । जीवस्वरूपस्याभिभवे बाधकमाह—दृष्टेति । 'विज्ञानघन एव' (बृ० २·४·१२) इति श्रुत्या चिन्मात्रस्तावदात्मा । तच्चैतन्यं चक्षुरादिजन्यवृत्तिव्यक्तं दृष्ट्यादिपदवाच्यं सद्व्यवहाराङ्गं जीवस्य स्वरूपं भवतीति तस्याभिभूतत्वे दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत । हेत्वभावाद्व्यवहारो न स्यादित्यर्थः । अज्ञस्यापि स्वरूपं वृत्तिषु व्यक्तमित्यङ्गीकार्यं, व्यवहारदर्शनादित्याह—तच्चेति । अन्यथेत्युक्तं स्फुटयति—तच्चेदिति । स्वरूपं चेज्ज्ञानिन एव व्यज्येत ज्ञानात्पूर्वं व्यवहारोच्छित्तिरित्यर्थः । अतः सदैव व्यक्तस्वरूपत्वादित्यर्थः । सदा वृत्तिषु

है, ऐसा कूटस्थ नित्यस्वरूप में कैसे सम्भव हो सकेगा ? मलिन द्रव्यान्तर के सम्बन्ध से जब स्वर्णादि का स्वरूप अभिव्यक्त नहीं होता तब क्षारप्रक्षेप आदि के द्वारा शोधन किये हुए उस स्वर्ण को अपने रूप से अभिनिष्पत्ति होती है, वैसे ही दिन में जब सूर्य के प्रकाश से नक्षत्र का रूप अभिभूत हो जाता है और रात्रि के समय अभिभावक सूर्य के न रहने पर अपने स्वरूप में से अभिनिष्पत्ति होती है। ऐसा उक्त दृष्टान्तों में तो सम्भव है, किन्तु नित्य, स्वयं आत्मज्योति का किसी से अभिभव होना सम्भव ही नहीं है क्योंकि वह आकाश के समान असंसर्गी है। आत्मा के स्वरूप का अभिभव मानने पर श्रुति के साथ विरोध भी आता है क्योंकि श्रुति ने आत्मा का स्वरूप दृष्टि, श्रुति, मति और विज्ञातिरूप माना है, वह रूप तो शरीर से उत्थान किये बिना भी जीव का सदा निष्पन्न ही दीखता है। सभी जीव देखता, सुनता, मनन करता और जानता हुआ व्यवहार करता है, अन्यथा व्यवहारलोप का प्रसङ्ग आ जायेगा। वह दृष्टि आदि रूप शरीर-समुत्थान के बाद यदि होता हो तो समुत्थान से पूर्व जो व्यवहार दीखता है वह विरुद्ध होने लग जायेगा। अतः हम जानना चाहते

---

१. दाहच्छेदादिसंग्रहार्थमादिपदम् । २. अभिव्यक्तिः । ३. सुवर्णादीनामिव । ४. दार्ष्टान्तिके वैषम्यमाह—न त्विति । ५. वस्तुतोऽसंसर्गित्वे दृष्टान्तमाह—व्योम्न इवेति । ६. जीवस्याभिभूतस्वरूपतया ज्ञानात्तदभिव्यक्तिः स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरित्याशङ्क्याह—दृष्टेति । ७. जीवस्वरूपस्यानभिव्यक्तौ दृष्टः सर्वो व्यवहारो विरुध्येत तस्याहमिति तद्धीपूर्वकत्वात् । तथा च तदनभिव्यक्तिरयुक्तेत्यर्थः । संग्रहवाक्यं विवृणोति—दृष्टीति । ८. दृष्टिमेव व्याचष्टे—सर्वो हीति । ९. सदादृष्ट्यादिरूपजीवस्य व्यक्तमित्यत्रार्थापत्तिमाह—अन्यथेति । १०. दृष्ट्यादिरूपम् । ११. कालपरिपाकनिमित्तं प्रयत्नविशेषनिमित्तं वेति सन्देहादाह—किमिति । १२. स्वर्णत्वमादिपदार्थः ।

शरीरात्समुत्थानं, [1]किमात्मिका वा स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरिति । अत्रोच्यते—प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिःस्वरूपं भवति । यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति । [2]प्रमाणजनितविवेकग्रहणात्तु पराचीनः स्फटिकः स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते, [3]प्रागपि तथैव सन् । [4]तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं [5]विवेकविज्ञानं शरीरात्समुत्थानं, विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः । तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च, मन्त्रवर्णात् 'अशरीरं शरीरेषु' (का० १-२-२२) इति । 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी० १३-३१) इति च सशरीरत्वाशरीरत्व-

व्यक्तस्य वस्तुतोऽसङ्गस्यात्मन आविद्यकदेहाद्यविवेकरूपस्य मलसङ्गस्य सत्त्वात्तद्विवेकापेक्षया समुत्थानादिश्रुतिरित्युत्तरमाह—अत्रेति । वेदना हर्षशोकादिः । अविविक्तमिवेति तादात्म्यस्य सङ्गस्य कल्पितत्वमुक्तम् । तत्र कल्पितसङ्गे दृष्टान्तः—यथेति । श्रुतिकृतमिति । [5]त्वंपदार्थश्रुत्या 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४-४-२२) इत्याद्यया सिद्धमित्यर्थः । प्राणादिभिन्नशुद्धत्वंपदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थसाक्षात्कारः फलमित्याह—केवलेति । सशरीरत्वस्य सत्यत्वात्समुत्थानमुत्क्रान्तिरिति व्याख्येयं न विवेक इत्याशङ्क्याह—तथा विवेकेति । [6]उक्तश्रुत्यनुसारेणेत्यर्थः । [7]'शरीरेष्वशरीरमवस्थितम्' इति श्रुतेरविवेकमात्रकल्पितं सशरीरत्वम् । अतो विवेक एव समुत्थानमि[8]त्यर्थः । ननु स्वकर्मार्जिते शरीरे[9]भोगस्यापरिहार्यत्वात्कथं जीवत एव स्वरूपाविर्भाव इत्यत आह—शरीरस्थोऽपीति ।

हैं कि शरीर से समुत्थान के बाद यह जीव किस रूप में निष्पन्न होता है और स्वरूपतः अभिनिष्पत्ति इसकी कैसी होती है ? ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती 'अत्रोच्यते' ग्रन्थ से कहते हैं ।

अविवेकविज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, विषय और हर्षशोकादि वेदनारूप उपाधि के कारण जीव की ज्योतिस्वरूप दृष्ट्यादि अविविक्त जैसी रहती है । जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक की स्वच्छता और शुक्लतास्वरूप विवेकज्ञान से पूर्व लाल एवं नीलादि उपाधियों के कारण अविविक्त भासता है और प्रमाणजनित विवेकज्ञान होने के पश्चात् वह स्फटिक अपने स्वच्छ एवं शुक्लरूप से निष्पन्न हो जाता है, जैसा कि वह पहले था । वैसे ही देहादि उपाधियों से अविविक्त होता हुआ भी जीव का जब वेदान्त विचार से विवेक-विज्ञान उत्पन्न होता है तब वह विवेक-विज्ञान ही शरीर से समुत्थान कहा गया है जो विवेक-विज्ञान का फल है जिसे स्वरूपेण अभिनिष्पत्ति कहते हैं, वह केवल आत्मस्वरूप बोध ही तो है । आत्मा में विवेक के कारण अशरीरत्व है और अविवेक के कारण सशरीरत्व है ऐसा 'अशरीरं शरीरेषु' इस मन्त्रवर्ण से जाना जाता है ।

१. कालकृतप्रतिबन्धध्वंसोपाधिका पुरुषव्यापारोपाधिका वेति संशयादाह—किमात्मिकेति । २. विवेकादूर्ध्वं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरपि दृष्टेत्याह—प्रमाणेति । ३. उच्यत इत्युक्तितात्पर्यमाह—प्रागपीति । ४. शरीरात्समुत्थायेत्यादिश्रुत्यर्थं न्दर्शन्दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । ५. त्वंपदार्थशोधनम् । ६. यावदेव हीत्यादिना पूर्वोक्तान्वयव्यतिरेकसहितया । ७. अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायेत्यादि उक्तश्रुतिः । ८. देहासम्बन्धिनो देहे स्थितिरिति । ९. श्रुत्योक्ते सति विरोधं निरसितुं विवेकतोऽदेहत्वमविवेकतः सदेहत्वं मान्त्रवर्णिकमिति भावः । १०. दुःखादिभोगः ।

विशेषाभावस्मरणात् । तस्माद्विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन्विवेकविज्ञानादाविर्भूतस्वरूप इत्युच्यते। [1]नत्वन्यादृशावाविर्भावानाविर्भावौ स्वरूपस्य सम्भवतः स्वरूपत्वादेव। एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः,व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात् । कुतश्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम् । [2]यतो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपदिश्य 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्यु[3]पदिशति । [4]योऽक्षिणि प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते सोऽमृताभयलक्षणाद्ब्रह्मणोऽन्यश्चेत्स्यात्ततोऽमृताभयब्रह्मसामानाधिकरण्यं न स्यात्। नापि प्रतिच्छायात्मायमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते, प्रजापतेर्मृ[5]षावादित्वप्रसङ्गात् । [5]तथा द्वितीयेऽपि पर्याये 'य एष स्वप्ने [6]महीयमानश्चरति' इति न प्रथमपर्यायनिर्दिष्टादक्षिपुरुषाद्द्रष्टुरन्यो निर्दिष्टः, 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इत्युपक्रमात् । किञ्चाहमद्य स्वप्ने हस्तिनम-

[7]अशरीरत्ववच्छरीरस्थस्यापि बन्धाभावस्मृतेर्जीवतो मुक्तिर्युक्तेत्यर्थः । अविरुद्धे श्रुत्यर्थे 'सूत्रशेषो युक्त इत्याह—तस्मादिति । अन्यादृशौ सत्याविर्थः । ज्ञानाज्ञानकृतावाविर्भावतिरोभावाविति स्थिते भेदोऽप्यं[9]शांशित्वकृतो निरस्त इत्याह—एवमिति । अंशादिशून्यत्वमसङ्गत्वम् । आत्मा द्रव्यत्वव्याप्य[10]जातिशून्यः विभुत्वात्, व्योमवदित्यात्मैक्यसिद्धेर्भेदो मिथ्येत्यर्थः । प्रजापतिवाक्याच्च भेदो मिथ्येत्याकाङ्क्षापूर्वकमाह—कुतश्चेत्यादिना । एतद्भेदस्य सत्यत्वमेव नास्तोति कुत इत्यन्वयः । छायायां ब्रह्मदृष्टिपरमि[11]दं वाक्यं, नाभेदपरमित्यत आह–नापोति । यस्य ज्ञानात्कृतकृत्यता सर्वकामप्राप्तिस्तमात्मानमन्विच्छाव इति प्रवृत्तयोरिन्द्रविरोचनयोर्यद्यनात्मच्छायां प्रजापतिर्ब्रूयात्तदा [12]मृषावादी स्यादित्यर्थः । प्रथमवद्द्वितीयादिपर्याये [13]व्यावृत्तास्ववस्थासु अनुस्यूतात्मा ब्रह्मत्वेनोक्त इत्याह—तथेति । अवस्थाभेदेऽप्यनुस्यूतौ युक्तिमाह—किञ्चेति । सुषुप्तौ ज्ञातुर्व्यावृत्तिमा[14]शङ्क्याह—

'हे अर्जुन ! शरीर में स्थित होता हुआ भी न शुभाशुभ कर्म करता है, न उनके फल से ही लिप्त होता है' इस वाक्य द्वारा आत्मा में अशरीरत्व और सशरीरत्व का भेदाभाव बतलाया है । अतः विवेक-विज्ञानाभाव के कारण आत्मा का स्वरूप अनाविर्भूत रहता है और विवेक-विज्ञान के बाद आविर्भूतस्वरूप कहा गया है । इसके अतिरिक्त अपने स्वरूप का आविर्भाव और अनाविर्भाव सम्भव नहीं है क्योंकि वह तो अपनी ही है । ऐसा ही जीव ब्रह्म का भेद अनिर्वचनीय अज्ञान के कारण ही है, वह वास्तविक नहीं है क्योंकि असङ्ग आत्मा में आकाश की भाँति अंश-अंशीभाव नहीं है । प्रजापति के वाक्य से भी भेद मिथ्या सिद्ध होता है, इसे आकांक्षापूर्वक कहते हैं कि 'जो आँख में यह पुरुष दीखता है' ऐसा उपदेश कर प्रजापति ने उसे अमृत, अभय और ब्रह्मरूप में भी उपदेश किया है । नेत्र में जो प्रसिद्ध द्रष्टा के रूप में जाना गया है, वह अमृत, अभय और ब्रह्म से भिन्न माना जाय तो अमृत, अभय और ब्रह्म के साथ उसका सामानाधिकरण्य नहीं कहा जा सकता । वैसे ही, नेत्र से लक्षित नेत्र में

१. मुख्यावेव तौ किन्न स्यातां तत्राह—नत्विति । २. कुतः शब्दोक्त हेत्वन्तरन्दर्शयति—यत इति । ३. उपदिशतीति—अतो ब्रह्मप्रत्यग्भूतमत्र प्रतिपाद्यमिति शेषः । ४. उक्तमेव व्यतिरेकेण विवृणोति—योऽक्षिणीति । ५. तथेति—प्रथमपर्याये जीवब्रह्मसामानाधिकरण्यात्तदैक्यवदित्यर्थः । ६. वासनामयैः विषयैः पूज्यमानः । ७. स्मृतिस्थमपि शब्दार्थमाह—अशरीरत्ववदिति । ८. सूत्रस्थ आविर्भावशब्दः । ९. अंशो नात्रेत्यादि स्मरन्नाह —अंशांशित्वेति । १०. आत्मत्वजातिः । ११. प्रतीकोपासनापरम । १२. विप्रलम्भकः । १३. व्यभिचारिणीषु । १४. आत्मनो ज्ञानरूपत्वात्तस्य च स्वापेऽभावात्कथं तदव्यभिचारितेति शङ्कितुराशयः ।

द्राक्षं नेदानीं तं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे। द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति 'य एवाहं स्वप्नमद्राक्षं स एवाहं जागरितं पश्यामि' इति। 'तथा तृतीयेऽपि पर्याये 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति न विज्ञातारं प्रतिषेधति। 'यत्तु तत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति, तदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्। 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ० ४-३-३०) इति श्रुत्यन्तरात्। 'तथा चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इत्युपक्रम्य "मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरम्' इत्यादिना प्रपञ्चेन शरीराद्युपाधिसम्बन्धप्रत्याख्यानेन 'सम्प्रसादशब्दोदितं जीवं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति ब्रह्मस्वरूपापन्नं दर्शयन्न परस्माद्ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं दर्शयति।

तथा तृतीय इति। सुषुप्तौ निर्विकल्पज्ञानरूप आत्मास्तीत्यत्र बृहदारण्यकश्रुतिमाह—नहीति। 'बुद्धेः साक्षिणो नाशो नास्ति, नाशकाभावादित्यर्थः। एवमवस्थाभिरसङ्गत्वेनोक्त आत्मैव 'तुरीयेऽपि ब्रह्मत्वेनोक्त इत्याह—तथेति।

पड़ी हुई प्रतिच्छाया का भी उपदेश नहीं माना जा सकता क्योंकि उस स्थिति में प्रजापति में मिथ्यावादित्व का प्रसङ्ग आ जायेगा। और दूसरे पर्याय में 'जो यह स्वप्न में अपनी महिमा का अनुभव करता हुआ विचरण करता है' इस वाक्य द्वारा प्रथम पर्याय में निर्दिष्ट अक्षिपुरुष द्रष्टा से भिन्न नहीं माना गया है क्योंकि 'मैं तुझे इसी आत्मा का उपदेश पुनः करूँगा' ऐसा उपक्रम वहाँ पर दीखता है। जाग्रत्, स्वप्न अवस्था के भेद रहने पर भी अनुगत आत्मा एक ही रहता है, इस विषय में युक्ति देते हैं कि जो मैंने स्वप्न में आज हाथी देखा था उसे अब जाग्रत् में नहीं देखता हूँ, इससे दोनों अवस्थाओं में देखने वाला द्रष्टा एक सिद्ध होता है, चाहे अवस्था और अवस्था के दृश्यवर्ग में भेद क्यों न हो। सोकर उठा हुआ व्यक्ति उक्त वाक्य से दृश्य का ही निषेध करता है। द्रष्टा की तो प्रत्यभिज्ञा ही होती है कि जो मैंने स्वप्न देखा था वही मैं अब जाग्रत् को देख रहा हूँ। दो पर्यायों की भाँति तीसरे पर्याय में भी आत्मा अनुगत ही भासता है। खेद है कि इस निद्रावस्था में यही मैं हूँ इस प्रकार अपने को नहीं जानता और न अन्यभूतों को ही जानता है अर्थात् यह सौषुप्तिक अनुभव निद्रावस्था में विशेष विज्ञान का अभाव ही बतलाता है किन्तु विज्ञाता का प्रतिषेध नहीं करता। और जो कहा था कि उस निद्रावस्था में जीव विनाश को प्राप्त हो जाता है? वह भी विशेष विज्ञान के विनाश अभिप्राय से ही कहा है अर्थात् वृत्तिज्ञान नहीं होता। विज्ञाता के विनाश अभिप्राय से नहीं कहा है क्योंकि 'विज्ञाता के विज्ञाति का विलोप नहीं होता वह तो अविनाशी है'—ऐसी श्रुत्यन्तर से भी जाना जा सकता है। वैसे ही चतुर्थ पर्याय (अनुक्रम) में भी 'मैं तुझे फिर इसी आत्मा का उपदेश करूँगा क्योंकि इससे भिन्न कोई दूसरा है ही नहीं' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर 'हे मघवन्! निःसन्देह यह शरीर मरणशील है' इत्यादि विस्तृत वाक्य द्वारा शरीरादि उपाधि सम्बन्ध को ही निराकरण द्वारा सम्प्रसादशब्दवाच्य जीव को अपने स्वरूप से अभिनिष्पत्ति कही

---

१. पर्यायद्वयवत्। २. ज्ञातुरभावोक्तिरपि तत्राऽस्तीति शङ्कते—यत्विति। ३. पर्यायत्रयवदित्यर्थः। ४ कथमुपहितस्यानुपहितपरैक्यमित्याशङ्क्याह—मघवन्निति। ५. सम्प्रसादस्यैव परेणैक्यमुच्यते न जीवस्येत्याशङ्क्याह—सम्प्रसादेति। ६. विज्ञातिशब्दो बुद्धिविषयो विज्ञातृशब्दश्च द्रष्टृपर इत्याशयेन व्याचष्टे—बुद्धेरित्यादि। ७. पर्याये।

केचित्तु परमात्मविवक्षायां 'एतं त्वेव ते' इति जीवाकर्षणमन्याय्यं मन्यमाना एतमेव वाक्योपक्रमसूचितमपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति कल्पयन्ति। तेषामेतमिति सन्निहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृष्येत। 'भूयः-श्रुतिश्चोपरुध्येत, पर्यायान्तराभिहितस्य पर्यायान्तरेऽनभिधीयमानत्वात्। 'एतं त्वेव ते' इति च प्रतिज्ञाय प्राक्चतुर्थात्पर्यायादन्यमन्यं व्याचक्षाणस्य प्रजापतेः प्रतारकत्वं प्रसज्येत। तस्माद्यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृभोक्तृरागद्वेषादिदोषकलुषितमनेकानर्थयोगि तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपाद्यते, सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादीन्।

अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्। तेषां

श्रुतेरेकदेशिव्याख्यां दूषयति—केचित्त्विति। जीवपरयोर्भेदादिति भावः। श्रुतिबाधान्मैवमित्याह—तेषामिति। सन्निहितो जीव एव सर्वनामार्थ इत्यर्थः। उक्तस्य पुनरुक्तौ भूय इति युज्यते। तव तु उपक्रान्तपरमात्मनश्चतुर्थ एवोक्तेस्तद्बाध इत्याह—भूय इति। लोकसिद्धजीवानुवादेन ब्रह्मत्वं बोध्यत इति स्वमतमुपसंहरति—तस्मादिति। व्याख्यानान्तरासम्भवादित्यर्थः। विलयनं शोधनम्। विद्यया महावाक्येनेति यावत्।

ये तु संसारं सत्यमिच्छन्ति तेषामिदं शारीरकमेवोत्तरमित्याह–अपरे त्वित्यादिना। शारीरकस्यार्थं

गयी है। इससे भी ब्रह्मस्वरूपापन्न जीव को अमृत, अभय स्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं कहते हैं, अपितु अभिन्न ही बतलाते हैं।

'केचित्तु' ग्रन्थ से एकदेशी की व्याख्या का खण्डन भाष्यकार करते हैं। दहरवाक्य में परमात्मा अर्थ की विवक्षा करने पर प्रजापति ने जो इन्द्र से कहा कि 'मैं तुझे इसी आत्मा का पुनः उपदेश करूँगा' इस वाक्य द्वारा जीवाकर्षण असंगत हो जायेगा। ऐसा मानने वाले केचित् वाक्यारम्भ से सूचित अपहतपाप्मत्वादि गुणवाले इस आत्मा को ही फिर से तुझे बतलाऊँगा, ऐसी कल्पना करते हैं। इनके मत में सन्निहित अर्थ को विषय करने वाला 'एतम्' यह सर्वनाम श्रुति बाधित हो जायेगी, और भूयः श्रुति भी बाधित हो जायेगी क्योंकि एक पर्याय में जिसका वर्णन किया गया है उसका वर्णन दूसरे पर्याय में नहीं मानते हैं और 'उसी का उपदेश तुझे करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर चतुर्थ पर्याय से यदि किसी अन्य का उपदेश प्रजापति करें तो उनमें वञ्चकत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा, अतः जो अविद्या प्रत्युपस्थापित अपारमार्थिक जीव का रूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व, राग-द्वेषादि दोष कलुषित है वह अनेक अनर्थों से जुड़ा हुआ है महावाक्य द्वारा उसका शोधन बतलाकर तद्विपरीत अपहतपाप्मत्वादि गुणविशिष्ट परमेश्वर स्वरूप का महावाक्य

---

१. अन्याय्यमिति—जीवस्यापहतपाप्मत्वाद्ययोगात्तदाकर्षणस्यान्याय्यत्वमिति भावः। २. कथं तर्हि प्रकृतानुगुणतया वाक्यं व्याख्यायत एतच्छब्देन पूर्वपर्यायेषु प्रकृतजीवानाकर्षणे तदालम्बनाभावाद्वाक्यार्थधियोऽनुदयादित्याशङ्क्याह—एतमेवेति। ३. परमात्मानम्। ४. बाध्येत। ५. किञ्चोपक्रमसूचितोऽर्थश्चतुर्थ एव पर्याये सर्वनामार्थस्सर्वत्र वा तत्राद्य प्रत्याह—भूय इति। ६. बाध्येत। ७. उपक्रान्तोऽर्थः सर्वत्र सर्वनामार्थोऽपि न प्रतिपाद्यकोटिनिवेशीति द्वितीयमाशङ्क्याह—एतं त्विति। ८. अभावबोधनेन। ९. रज्ज्वादीनेषा रज्जुरित्यादिविद्यया पुरोवर्त्यधिष्ठानमिति शेष इति न्यायनिर्णये। सर्पादिकं विलयनद्वारा रज्ज्वाद्यात्मकाधिष्ठानमात्रं प्रतिपाद्यत एषा रज्जुरित्यादिवाक्येन यथा तद्वदित्यर्थः। १०. 'पारमार्थिकमिति असम्भवात्' इत्यादिसूत्रसामर्थ्यात्प्रत्यक्षादिप्रामाण्याच्चेति तद्भावः। ११. एतमिति सर्वनामश्रुतिः। १२. स्वयूथ्यमता योगे सती।

सर्वेषामा[1]त्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिषेधायेदं शारीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरः [2]कूटस्थनित्यो [3]विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति। यत्त्विदं परमेश्वरवाक्ये जीवमाशङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः—'नासम्भवात्'(ब्र० १-३-१८)इत्या[4]दिना। [5]तत्रायमभिप्रायः—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम्। तदात्मैकत्वप्रतिपादनपरै[6]र्वाक्यै[7]र्न्यायोपेतैर्द्वैतवादप्रतिषेधं श्चापनेऽयामीति परमात्मनो जीवादन्यत्वं द्रढयति। [8]जीवस्य तु न परस्मादन्यत्वं प्रतिपिपादयिषति [9]किन्त्वनुवदत्येवा-

संक्षेपेणोपदिशति—एक एवेति। **अविद्यामाययोर्भेदं निरसितुं सामानाधिकरण्यं, आवरणविक्षेपशक्तिरूपशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभेदात् सहप्रयोगः। ब्रह्मैवाविद्यया संसरति, न ततोऽन्यो जीव इति शारीरकार्थ इत्यर्थः। तर्हि सूत्रकारः किमिति भेदं ब्रूते,** तत्राह—यत्त्विति। **परमात्मनोऽसंसारित्वसिद्ध्यर्थं जीवाद्भेदं द्रढयति। तस्याऽसंसारित्वनिश्चयाभावे तदभेदोक्तावपि जीवस्य संसारित्वानपायादित्यर्थः। अधिष्ठानस्य कल्पिताद्भेदेऽपि कल्पितस्याधिष्ठानान्न पृथक्सत्त्वमित्याह**—जीवस्य त्विति। [10]**कल्पितभेदानुवादस्य**

द्वारा प्रतिपादन किया गया है, जैसे रज्जु में कल्पित सर्पादि का विलयपूर्वक रज्जु का उपदेश किया जाता है वैसे ही जीव धर्म का विलय कर परमेश्वर धर्म का उपदेश किया गया है।

जो लोग संसार को सत्य मानते हैं उनके मतानुसार शारीरक ही उत्तर है, इसे **'अपरे तु'** इत्यादि ग्रन्थ से भाष्यकार कहते हैं। दूसरे वादी जैव रूप पारमार्थिक ही मानते हैं किन्तु हमारे पक्ष के कुछ विद्वान् आत्मैकत्व दर्शन को विरोधी उन सभी के प्रतिषेध के लिए शारीरक का प्रारम्भ मानते हैं जहाँ पर परमेश्वर एक, कूटस्थ, नित्य, विज्ञानस्वरूप अविद्या रूप माया के कारण अनेक जैसा प्रतीत होता है वह विज्ञानधातु अन्य नहीं है। आवरण प्रधान को अविद्या और विक्षेपक प्रधान को माया कहते हैं। इसी के कारण मायावी की भाँति वह परमेश्वर अनेक रूप में भासता है। और जो परमेश्वर वाक्य में जीव की आशङ्का कर सूत्रकार ने **'नासम्भवात्'** इस वाक्य से प्रतिषेध किया है वहाँ यह अभिप्राय है कि आकाश में तलमलादि कल्पना की भाँति एक नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव कूटस्थ नित्य असङ्ग परमात्मा में उसके विपरीत जीव की कल्पना की गयी है। उसका निषेध ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादक, द्वैतवाद-प्रतिषेधक युक्तिसङ्गत वाक्यों द्वारा मैं निषेध करूँगा ऐसा कहकर जीव से परमात्मा को भिन्न बतलाया है किन्तु परमात्मा से जीव को भिन्न नहीं कहा

१. न तत्प्रतिषेधार्थमिदमारब्धं सम्यग्ज्ञानार्थत्वादित्याशङ्क्याह—आत्मैकत्वेति। २. तस्य परिणामित्वं वारयति—कूटस्थेति। ३. ज्ञानादिगुणवत्त्वं प्रत्याह—विज्ञानेति। ४. नेतरोऽनुपपत्तेः (ब्र० सू० १-१-१६) इत्यादिसूत्रमादिशब्देन ग्राह्यम्। ५. संसारिणो जीवादभेदोक्त्या यावदीश्वरस्यासंसारित्वं नोच्यते तावदभेदव्यपदेशेऽपि जीवस्यासंसारित्वं न सिध्यति, इत्यापातिकं भेदमनुवदति सूत्रकार इत्याह—तत्रेति। ६. कथं तर्हि तस्य निरसनमित्याशङ्क्याह—तदिति निरुक्तं रूपमित्यर्थः। ७. वाक्यानि तत्त्वमस्यादीनि जीवब्रह्मणोश्चैतन्याविशेषात्तदाकारेण भेदायोगः। प्रतिषेधवादास्तु नेह नानेत्यादयः। ८. परस्य जीवादन्यत्वे तस्याऽपि ततोऽन्यत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—जीवस्येति। ९ कथं तर्हि तस्य परस्मादन्यत्वं तत्राह—किंत्विति। १०. जीवभेदस्याप्रामाणिकत्वं कुतो निरधिकाराणां विधीनां प्रामाण्यमित्याशङ्कां निरसितुमिति शेषः।

(८३) 'अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

विद्याकल्पितं [2]लोकप्रसिद्धं जीवभेदम् । एवं हि स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ताः कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते । प्रतिपाद्यं तु शास्त्रार्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति—"शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० १-१-३०) इत्यादिना । वर्णितश्चास्माभिर्विद्वदविद्वद्भेदेन कर्मविधिविरोधपरिहारः ॥१९॥

अथ यो दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शितः—'अथ य एष सम्प्रसादः' (छा० ८-३-४) इत्यादिः, स दहरे परमेश्वरे व्याख्यायमाने [3]न जीवोपासनोपदेशो [4]न प्रकृतविशेषोपदेश इत्यनर्थकत्वं प्राप्नोतीति । अत आह—अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो [5]न जीवस्वरूपपर्यवसायी,

फलमाह—एवं हीति । सूत्रेष्वभेदो नोक्त इति भ्रान्तिं निरस्यति—प्रतिपाद्यमिति । 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (ब्र० सू० ४-१-३) इत्यादिसूत्राण्यादिपदार्थः । नन्वद्वैतस्य शास्त्रार्थत्वे द्वैतापेक्षविधिविरोधः तत्राह—वर्णितश्चेति । अद्वैतमजानतः कल्पितद्वैताश्रया विधयो न विदुष इति सर्वमुपपन्नमित्यर्थः ॥१९॥

एवं प्रजापतिवाक्ये जीवानुवादेन ब्रह्मण एवापहतपाप्मत्वाद्युक्तेर्जीवे तदसम्भवान्न जीवो दहर इत्युक्तम् । तर्हि जीवपरामर्शस्य का गतिरित्यत आह—अन्यार्थश्चेति । सूत्रं व्याचष्टे—अथेत्यादिना । प्रकृते 'दहरे विशेषो गुणस्तदुपदेशोऽपि नेत्यर्थः । तत्र दहरवाक्यशेषरूपं सम्प्रसादवाक्यमाशङ्कापूर्वकं

है। लोकसिद्ध अविद्याकल्पित जीवभेद का श्रुति केवल अनुवाद ही करती है। इसी प्रकार स्वाभाविक कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अनुवाद कर प्रवृत्त हुई कर्मविधि अद्वैत की विरोधी नहीं है ऐसा हमारे पक्ष वाले मानते हैं। वे आत्मैकत्व ही शास्त्र प्रतिपाद्य अर्थ बतलाते हैं 'जैसे वामदेव ने शास्त्र दृष्टि से उपदेश किया था ऐसे ही अन्य ऋषि-महर्षि आचार्य ने उपदेश किया है।' हमने भी बतलाया कि अद्वैत विद्वानों का विषय है और कर्मविधि अज्ञानियों का विषय है। अतः ज्ञान का कर्मविधि के साथ कोई विरोध नहीं है ॥१९॥

अन्यार्थश्च परामर्शः (ललिता)

यदि प्रजापति वाक्य में जीवात्मा का अनुवाद कर ब्रह्म में ही अपहतपाप्मत्वादि का उपदेश है जो जीव में सम्भव नहीं, इसलिए दहरपदवाच्य जीव नहीं है, ऐसी स्थिति में जीव का परामर्श ही क्यों किया गया ? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया गया है कि 'यह जो जीव है' इत्यादि दहरपदवाक्य में जो जीव का परामर्श हुआ है वह व्याख्यान के विषय दहरपदवाच्य परमेश्वर में जीवोपासना के लिए नहीं है और न कुछ विशेष गुण का उपदेश है। ऐसी स्थिति में जीव का परामर्श अनर्थक हो जायेगा ? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि यह जीव का परामर्श जीवस्वरूप बतलाने के

१. ननु ब्रह्म चेदत्र वक्तव्यं कृतं जीवपरामर्शेनेत्यत आह—अन्यार्थश्चेति । २ अपूर्वत्वाभावादेव तस्याप्रतिपाद्यतेत्यभिप्रेत्याह—लोकप्रसिद्धमिति । ३. वाक्यभेदप्रसङ्गात् । ४. जीवस्योपाधिकल्पितस्य ब्रह्मभावः उपदेष्टव्यो न चासौ जीवमपरामृश्य शक्य उपदेष्टुमिति तिसृष्ववस्थासु जीवः परामृष्टः । तद्भावप्रविलयनं तस्य पारमार्थिकं ब्रह्मभावं दर्शयितुमिति भामती । प्रकृतो विशेषो दहराकाशस्तस्यापि नायमुपदेशस्तस्याजीवत्वादित्याह—नेति । ५. अवधारणार्थकचकारव्यावर्त्यं दर्शयति—न जीवेति । ६ परमेश्वरे ।

(८४) [1]अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥२१॥

किं तर्हि ? परमेश्वरस्वरूपपर्यवसायी, [2]कथम् ? [3]सम्प्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मितांश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्तः शरणं प्रेप्सुर[4]भयरूपादपि शरीराभिमानात्समुत्थाय सुषुप्तावस्थायां परं ज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसम्पद्य विशेषविज्ञानवत्त्वं च परित्यज्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । [5]यदस्योपसम्पत्तव्यं परं ज्योतिर्येन स्वेन रूपेणायमभिनिष्पद्यते, स एष आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुण उपास्य इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवादिनोऽप्युपपद्यते ॥२०॥

[6]यदप्युक्तम्—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्याकाशस्याल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे [7]नोपपद्यते, [8]जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याल्पत्वमवकल्पत इति, तस्य परिहारो वक्तव्यः । [9]उक्तो ह्यस्य परिहारः,[10]'परमेश्वरस्यापेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत इति' [11]'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' (ब्र० १-२-७) इत्यत्र । स एवेह परिहारोऽनुसन्धातव्य

[12]दहरब्रह्मपरत्वेन व्याचष्टे—कथमित्यादिना ॥२०॥

लिए नहीं है किन्तु परमेश्वरस्वरूप बोध के लिए है । कैसे ? सम्प्रसादशब्दवाच्य जीव जाग्रत् व्यवहार में देह इन्द्रियपञ्जर का अध्यक्ष बना रहता है तत्पश्चात् वासना से रचित स्वप्न को नाड़ियों में विचरण करते हुए जीव अनुभव करता है ततः शान्त हो शरण प्राप्ति की इच्छा वाला उभयप्रकार के शरीराभिमान को भी छोड़कर शरीर से ऊपर उठ जाता है । उस समय निद्रावस्था में आकाशपदवाच्य परब्रह्मरूप ज्योति को प्राप्तकर विशेष विज्ञान का परित्याग कर स्वरूपज्ञान से अभिनिष्पन्न हो जाता है । इस अवस्था में उसका प्राप्तव्य परमज्योति है जिसे प्राप्त करने के बाद अपने जिस रूप से अभिनिष्पन्न होता है वह है आत्मा अपहतपाप्मत्वादि गुण विशिष्ट उपास्य ब्रह्म । बस परमेश्वरवादियों ने भी इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए जीव का परामर्श माना है ॥२०॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् (ललिता)

और जो आपने कहा था कि "**दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः**" इस वाक्य के द्वारा दहराकाश में जो अल्पत्व सुना गया है वह परमेश्वर में नहीं घटता है । हाँ आराग्र उपमा से उपमित जीवात्मा में अल्पत्व की कल्पना हो सकती है, उसका परिहार बतलाना चाहिए ? आपके इस आक्षेप का समाधान दिया जा चुका है कि परमेश्वर में आपेक्षिक अल्पत्व की कल्पना उपासना के लिए की गयी है । यह समाधान "**अर्भकौकस्त्वादि**" सूत्र में दिया जा चुका है, उसी का अनुसन्धान यहाँ भी कर

१. जीवपरामर्शस्य गतिमुक्त्वा दहरश्रुतेः शङ्काद्वारा गतिमाह—अल्पेति । २. सम्प्रसादपदे जीववादिनि श्रुते नेश्वरपरत्वं वाक्यस्येत्याक्षिपति—कथमिति । ३. व्याख्यानाद्वाक्यस्य परस्मिन्नेव तात्पर्यमाह—सम्प्रसादेति । ४. तादात्म्यविषयत्वं सम्बन्धविषयत्वं चोभयरूपत्वं देहद्वयविषयत्वं वा । ५. यत्तु जीवस्य नापहतपाप्मत्वादीति तत्राह—यदिति । ६. शङ्काभागं विभजते—यदपीति । ७. तस्य परममहत्त्वात् । ८. जीवेऽपि कथमल्पा श्रुतिर्महत्त्वाविशेषात्तत्राह—जीवस्येति । ९. यदुक्तमिति व्याचष्टे—उक्तो हीति । १०. तमेव स्मारयति—परमेति । ११. कुत्रेदमुक्तं समाधानं तत्राह—अर्भकेति । १२. दहरब्रह्मपरत्वेनेति व्याख्यानान्तरत्वं सूचयति ।

६. अनुकृत्यधिकरणम् (सू० २२-२३)

(८५) ¹अनुकृतेस्तस्य च ॥२२॥

न तत्र सूर्यो भातीति तेजोऽन्तरमुतापि चित् । तजोऽभिभावकत्वेन तेजोऽन्तरमिदं महत् ।
चित्स्यात्सूर्याद्यभास्यत्वात्तादृक्तेजोऽप्रसिद्धितः । सर्वस्मात्पुरतो भानात्तद्भासा चान्यभासनात् ॥

इति सूचयति । श्रुत्यैव चेदमल्पत्वं प्रत्युक्तं प्रसिद्धेनाकाशेनोपमिमानया 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति ॥२१॥

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

उपास्यत्वादल्पत्वमुक्तमिति व्याख्याय श्रुत्या ²निरस्तमित्यर्थान्तरमाह—श्रुत्यैव चेदमिति । **एवं दहरवाक्यं प्रजापतिवाक्यं च सगुणे निर्गुणे च समन्वितमिति सिद्धम् ॥२१॥**

अनुकृतेस्तस्य च । **मुण्डकवाक्यमुदाहरति**—न तत्रेति । **तस्मिन् ब्रह्मणि विषये न भाति, तं न भासयतीति यावत् । यदा चन्द्रभास्करादिर्न भासयति तदा अल्पदीप्तेरग्नेः का कथेत्याह**—कुत इति ।

लेना चाहिए। श्रुति द्वारा इस अल्पत्व का निराकरण 'जितना बड़ा यह आकाश है उतना बड़ा हृदय के भीतर भी आकाश है' इस प्रसिद्ध आकाश की उपमा देने के कारण ही हो गया। इस प्रकार दहरवाक्य और प्रजापति वाक्य सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म में समन्वित है, यह सिद्ध हुआ ॥२१॥

६. अनुकृत्यधिकरण

१. पिछले अधिकरण में "**परंज्योतिरुपसम्पद्य**" (परम ज्योति को प्राप्त कर) इस वाक्यशेष से दहराकाश का अर्थ ब्रह्म किया गया था। ज्योति का प्रसङ्ग होने से अब "**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः**" (मु० २।२।१०) यह वाक्य विचारणीय हो जाता है। इस प्रसङ्ग सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. "**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः**" यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. सूर्यादि सम्पूर्ण जगत् के प्रकाशक रूप से प्रतीत होनेवाला तेज कोई धातुविशेष अथवा परमात्मा ? ऐसा संशय होता है।

४. प्रबल तेज से दुर्बल तेज का अभिभव देखा गया है, अतः कोई धातुविशेष ही तेज शब्द से कहा गया है।

५. सूर्यादि जगत् के अवभासक रूप से जाना गया तेज ब्रह्म ही है क्योंकि उसीका अनुकरण अन्य सभी तेज़ कर रहे हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त सूर्य के समान अन्य कोई तेज प्रसिद्ध नहीं है जो सूर्यादि का भी प्रकाशक माना जा सके। अतः चेतन आत्मा ही सूर्यादि का अवभासक है जो सूर्यादि से प्रकाशित नहीं होता है, किन्तु उसी ब्रह्मतेज़ से सूर्यादि तेज का प्रकाश होता है ऐसा, "**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**" (मु० २।२।१०) इस श्रुति और "**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्**" (**गीता १५।१२**) इस स्मृतिवाक्य से सभी सूर्यादि तेज का अवभासक ब्रह्मचैतन्य ही सिद्ध होता है।

---

१. परंज्योतिरुपसम्पद्येत्यादिवाक्यार्थविचारप्रसङ्गात्तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिरिति वाक्योक्तपरंज्योतिष्ट्वसाधक न तत्रेत्यादिवाक्यं परामृशति—अनुकृतेरिति । २. अल्पत्वमिति शेषः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २-२-१०) इति समामनन्ति। यत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति स किं तेजोधातुः कश्चिदुत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सायां [1]तेजोधातुरिति तावत्प्राप्तम्। कुतः? तेजोधातूनामेव सूर्यादीनां भानप्रतिषेधात्। तेजःस्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजःस्वभावक एव सूर्ये भासमानेऽहनि न भासत इति प्रसिद्धम्। तथा सह सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन्न भासते सोऽपि तेजःस्वभाव एव कश्चिदित्यवगम्यते। अनुभानमपि तेजःस्वभावक एवोपपद्यते, समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात्। गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत्। [2]तस्मात्तेजोधातुः कश्चिदित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—प्राज्ञ एवायमात्मा भवितुमर्हति। कस्मात्? अनुकृतेः। अनुकर-

किञ्च सर्वस्य सूर्यादेस्तद्भास्यत्वान्न तद्भासकत्वमित्याह—तमेवेति। अनुगमनवदनुभानं स्वगतमिति शङ्कां निरस्यति—तस्येति। तत्रेति सप्तम्याः सति विषये च साधारण्यात्संशयमाह—तत्रेति। पूर्वत्र[3]स्मिञ्श्रुत्यादिबलादाकाशशब्दस्य रूढित्यागादीश्वरे वृत्तिराश्रिता। तथेहापि सतिसप्तमीबलाद्वर्तमानार्थत्यागेन यस्मिन्सति सूर्यादयो न भास्यन्ति स तेजोविशेष उपास्य इति भविष्यदर्थे वृत्तिराश्रयणीया। अधुना भासमाने सूर्यादौ न भातीति विरोधादिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—तेजोधातुरिति। तेजोध्यानं निर्गुणस्वयंज्योतिरात्मज्ञानमित्युभयत्र फलम्। तेजोधातुत्वे लिङ्गमाह—तेजोधातूनामेवेति। यत्तेजसोऽभिभावकं तत्तेज इति व्याप्तिमाह—तेजःस्वभावकमिति। यस्मिन्सति यन्न भाति तदनु तद्भातीति विरुद्धमित्यत आह—अनुभानमिति। ततो निकृष्टभानं [4]विवक्षितमिति भावः। मुख्यसम्भवे विवक्षानुपपत्तेः मुख्यानुभानलिङ्गात्सर्वभासकः परमात्मा स्वप्रकाशकोऽत्र ग्राह्य इति सिद्धान्तमाह—प्राज्ञ इति। प्राज्ञत्वं स्वप्रकाशकत्वं भासकत्वार्थमुक्तम्। [5]तत्र श्रुतिमाह—

अनुकृतेस्तस्य च (ललिता)

मुण्डकोपनिषद् में "**न तत्र सूर्यो भाति**" यह मन्त्र आया है जिसका अर्थ है उसे सूर्य प्रकाशित नहीं करता न उसे चन्द्र-तारे और न विद्युत करते हैं फिर भला अग्नि की बात ही क्या है, उसके प्रकाशित होने पर ये सभी प्रकाशित होते हैं और उसी के प्रकाश से ये सब कुछ विस्पष्ट भासते हैं। वहाँ पर यह संशय होता है कि जिसके प्रकाश के पीछे सब प्रकाशित होते हैं और जिसके प्रकाश से ये सबकुछ विस्पष्ट भासते हैं वह क्या कोई तेजोधातु विशेष है अथवा परमात्मा है? इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि हमारे विचार से तेजोधातु विशेष ही है क्योंकि तेजोधातु सूर्यादि के ही भान का प्रतिषेध किया गया है। यह प्रसिद्ध है कि तेजस्वभाववाले चन्द्रतारादि तेजस्वभाववाले सूर्य के प्रकाशित होने पर दिन में प्रकाशित नहीं होते हैं वैसे ही सूर्य के सहित सभी लोकप्रसिद्ध प्रकाशक चन्द्रतारादि जिसमें नहीं प्रकाशते वह तेजस्वभाव वाला ही कोई है ऐसा जान पड़ता है। अनुमान (पीछे-पीछे प्रकाशित होना) भी तेजस्वभाववाले मानने पर ही युक्तिसङ्गत है क्योंकि समान स्वभाव वाले में ही अनुकरण करते देखा गया है, जैसे किसी गमनशील व्यक्ति का अनुगमन कोई करता हो। अतः तेजोधातु-विशेष ही कोई पदार्थ है जिसे सूर्यादि प्रकाशते नहीं बल्कि उसके प्रकाशित होने पर ये सब प्रकाशित होते हैं? ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि वह पदार्थ

१. तेजोविशेषः। २. अनुभानस्याविरोधात्तेजोधातूनामेवेत्यादि लिङ्गाच्च। ३. एष आत्माऽपहतपाप्मा। ४. तमनुभातीति तदपेक्षया निकृष्टप्रकाशत्वमिष्टमित्यर्थः। ५. तेजसामनुभानस्य प्राज्ञज्ञापकत्वे।

णमनुकृतिः । 'यदेतत् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यनुभानं, तत्प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते। 'भारूपः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ३-१४-२) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति । न तु तेजोधातुं कञ्चित्सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम् । समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षास्ति यं भान्तमनुभायुः । नहि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति । यदप्युक्तम्—समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यत इति । नायमेकान्तो नियमः । भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनुकारो दृश्यते । यथा सुतप्तोऽयःपिण्डोऽग्न्यनुकृतिरग्निं दहन्तमनुदहति, भौमं वा रजो वायं वहन्तमनुवहतीति । अनुकृतेरित्यनुभानमसूसुचत् । तस्य चेति चतुर्थं पादमस्य श्लोकस्य सूचयति । 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति तद्धेतुकं भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गमयति । 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४-४-१६) इति हि प्राज्ञमा-

---

भारूप इति । 'मानाभावाच्च तेजोधातुर्न ग्राह्य इत्याह—न त्विति । किञ्च सूर्यादयस्तेजोऽन्तरभानमनु न भान्ति, तेजस्त्वात्, प्रदीपवदित्याह—समत्वाच्चेति । योऽयमनुकरोति स तज्जातीय इति नियमो नास्तीत्याह—नायमेकान्त इति । पौनरुक्त्यमाशङ्क्योक्तानुवादपूर्वकं सूत्रोक्तं हेत्वन्तरं व्याचष्टे—अनुकृतेरितीति । 'तमेव भान्तम्' इत्येवकारोक्तं तद्भानं विना सर्वस्य पृथग्भानाभावरूपमनुभानमनुकृतेरित्यनेनोक्तम्—तस्य चेति । सर्वभासकत्वमुक्तमित्यपौनरुक्त्यमित्यर्थः । आत्मनः सूर्यादिभासकत्वं श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमविरुद्धं चेत्याह—तद्देवा इति । सर्वशब्दः प्रकृतसूर्यादिवाचकत्वेन

परमात्मा ही है क्योंकि अनुकरण का संकेत श्रुति में मिलता है । जिस प्रकाश के पीछे ये सब प्रकाशित होते हैं यह अनुकृति परमात्मा अर्थ स्वीकार करने पर ही घट सकेगी, क्योंकि 'वह प्रकाश स्वरूप है और सत्यसंकल्प है' इस श्रुति से परमात्मा को प्रकाशक कहा है । किसी तेजोधातु विशेष के पीछे सूर्यादि प्रकाशित होते हैं ऐसी प्रसिद्धि भी नहीं है और समान होने के कारण सूर्यादि जो तेजोधातु विशेष हैं वे किसी अन्य तेजोधातु की अपेक्षा भी नहीं रखते हैं जिसके प्रकाशित होने पर वे प्रकाशमान हों । दीपक किसी दीपकान्तर के जलने पर जलता हो, ऐसा नहीं देखा जाता । अतः वह तत्त्व परमात्मा ही है, जिसके पीछे सूर्यादि प्रकाशित होते हैं ।

आपने जो कहा था कि समान स्वभाव वाले का अनुकरण लोक में देखा जाता है ? पर यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है, क्योंकि भिन्न स्वभाव वाले में भी अनुकरण लोक में देखा जाता ही है, जैसे अत्यन्त तपे हुए लोहपिण्ड अग्नि का अनुकरण करने लग जाता है अर्थात् अग्नि जलाती है तो उसके साथ तादात्म्यापन्न लोहपिण्ड भी जलाने लग जाता है । जब हवा वहती है तो उसके पीछे पार्थिव धूलिकण भी बहने लग जाते हैं । अनुकृति शब्द का अनुमान अर्थ भी सूचित होता है । सूत्र में "तस्य च" इस वाक्य के द्वारा मन्त्र का चतुर्थपाद सूचित होता । 'उस परमेश्वर के प्रकाश से ये सूर्यादि सभी प्रकाशित होते हैं' इस वाक्य से परमेश्वर के कारण ही सूर्यादि का भान होना बतलाया गया है जो परमात्मा अर्थ का बोध कराता है । 'देवताओं ने ज्योतियों की ज्योति परमेश्वर

---

१. अनुकरणस्वरूपमेवाह—यदेतदिति । २. गच्छन्तमनुगच्छतीति—समानस्वभावकेष्वनुकारादनुभानात्तेजसां सूर्यादीनां सति यस्मिन् भानं निषिध्यते सोऽपि कश्चित्तेजोधातुरित्यनुवादार्थः । ३. चतुर्थपादोपात्तं हेत्वन्तरं स्पष्टयति—तस्येति । ४. तेजोऽन्तरे ।

त्मानमामनन्ति। [1]तेजोऽन्तरेण सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धं [2]विरुद्धं च, तेजोन्तरेण तेजोन्तरस्य प्रतिघातात्। अथवा न सूर्यादीनामेव श्लोकपरिपठितानामिदं तद्धेतुकं विभानमुच्यते। किं तर्हि? 'सर्वमिदम्' इत्यविशेषश्रुतेः सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याभिव्यक्तिः सा ब्रह्मज्योतिः सत्तानिमित्ता। यथा सूर्यादिज्योतिःसत्तानिमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्तिस्तद्वत्। 'न तत्र सूर्यो भाति' इति च तत्रशब्दमा[3]हरन्प्रकृतग्रहणं दर्शयति। प्रकृतं च ब्रह्म 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्'(मु० २-२-५) इत्यादिना। [4]अनन्तरं च 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः' इति। कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्यत इदमुत्थितम् 'न तत्र सूर्यो भाति' इति। यदप्युक्तम् —सूर्यादीनां तेजसां भानप्रतिषेधस्तेजोधातावेवान्यस्मिन्नवकल्पते सूर्य इवेतरेषामिति। [5]तत्र

व्याख्यातः। सम्प्रति तस्यासङ्कुचद्वृत्तितां मत्वाऽर्थान्तरमाह—अथवेति। [6]तत्रेति सर्वनामश्रुत्या प्रकृतं ब्रह्म ग्राह्यमित्याह—न तत्र सूर्य इति। किञ्च स्पष्टब्रह्मपर[7]पूर्वमन्त्राका[8]ङ्क्षापूरकत्वादयं मन्त्रो ब्रह्मपर इत्याह—अनन्तरं चेति। हिरण्मये ज्योतिर्मये अन्नमयाद्यपेक्षया परे कोशे आनन्दमयाख्ये पुच्छशब्दितं ब्रह्म विरजं आगन्तुकमलशून्यं, निष्कलं निरवयवं, शुभ्रं नैसर्गिकमलशून्यं, सूर्यादिसाक्षिभूतं ब्रह्मवित्प्रसिद्धमित्यर्थः। सतिसप्तमीपक्षमनुवदति—यदपीति। सूर्याद्यभिभावकतेजोधातौ प्रामाणिके तस्येह ग्रहणशङ्का स्यात्, न तत्र प्रमाणमस्तीत्याह—तत्रेति। सिद्धान्ते तत्रेति वाक्यार्थः

की उपासना आयु और अमृतरूप से की' इस वाक्य से भी चेतन परमात्मा को ही प्रकाशक मानते हैं। किसी दूसरे धातुविशेष तेज से सूर्यादि तेज भासित होता है यह प्रसिद्ध नहीं है प्रत्युत विरुद्ध है। एक तेज के सामने दूसरा तेज प्रतिबद्ध हो जाता है न कि उद्दीप्त होता है।

अथवा श्लोक में पढ़े गये सूर्यादि के ही प्रकाश का कारण वह तत्त्व नहीं है किन्तु "**सर्वमिदम्**" इस अविशेष श्रुति के बल से समस्त नाम-रूप-क्रिया-कारक-फल समुदाय की अभिव्यक्ति जो होती है वह ब्रह्मज्योति की सत्ता के कारण से होती है, जैसे सूर्यादि ज्योति सत्ता के कारण सभी रूप की अभिव्यक्ति होती है, ठीक वैसे ही चेतन्य ब्रह्म की सत्ता से सम्पूर्ण विश्व उद्भासित होता है। 'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं करता' इस मन्त्र में "**तत्र**" शब्द का पाठ प्रकृत अर्थ को ही बतलाता है। प्रकरण ब्रह्म का है क्योंकि 'जिसमें द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक ओतप्रोत है' इत्यादि वाक्य से ब्रह्म का ही प्रकरण सुस्पष्ट भासता है। उसके बाद 'हिरण्मय श्रेष्ठ कोश में रजोगुण रहित निष्फल ब्रह्म विद्यमान है, वह शुभ्र है, ज्योतियों की ज्योति है, उसे आत्मज्ञानियों ने जाना।' ऐसा कहा गया है। इस पर, वह ज्योतियों की ज्योति कैसे है? ऐसा प्रश्न होने पर यह कहा गया कि 'जिसे सूर्यादि प्रकाशित नहीं करते हैं' इत्यादि। और जो आपने कहा था कि उस तत्त्व में सूर्यादि तेज के भान का प्रतिषेध किया है जिससे दूसरा भी सूर्यादि की भाँति तेजोधातु ही माना जा सकता है

१. स्वपक्षे मानमुक्त्वा परपक्षे तदभावमाह—तेजोन्तरेणेति। २. न केवलं मानाभावस्तद्विरोधश्चेत्याह—विरुद्धं चेति। ३. परिपठन्। ४. प्रागव्यवहितं च। ५. पूर्वपक्षे तु। ६. प्रकरणादपि ब्रह्मैव ग्राह्यमित्याह—तत्रेतीति। ७. हिरण्मये परे कोश इत्येशो मन्त्रो न तत्र सूर्यो भातीत्यस्मात्पूर्वः। ८. आकांक्षेति—कथं तद् ज्योतिषां ज्योतिरित्याकाङ्क्षायामाह न तत्र सूर्य इति।

(८६) अपिच स्मर्यते ॥२३॥

तु स एव तेजोधातुरन्यो न सम्भवतीत्युपपादितम्। ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽव-कल्पते। यतो यदुपलभ्यते तत्सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते, ब्रह्म तु नान्येन ज्योतिषोपलभ्यते स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वात, येन सूर्यादयस्तस्मिन्भायुः। ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति न तु ब्रह्मान्येन व्यज्यते। 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४-३-६) 'अगृह्यो न हि गृह्यते' (बृ० ४-२-४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥२२॥

अपिचेदृग्रूपत्वं प्राज्ञस्यैवात्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ (गी० १५-६) इति, 'यदादित्यगतं

कथमित्याशङ्क्याह—ब्रह्मण्यपीति। सतिसप्तमीपक्षे न भातीति श्रुतं वर्तमानत्वं त्यक्त्वा तस्मिन्सति न भास्यन्तीत्यश्रुतभविष्यत्वं कल्पनीयं प्रत्यक्षविरोधनिरासाय। विषयसप्तमीपक्षे तु न भासयतीत्यश्रुतणिजध्याहारमात्रं कल्प्यं, न श्रुतत्याग इति लाघवम्, अतो ब्रह्मणि विषये सूर्यादेर्भासकत्वनिषेधेन ब्रह्मभास्यत्वमुच्यत इत्यर्थः। येनान्याभास्यत्वेन हेतुना सूर्यादयस्तस्मिन्ब्रह्मणि विषये भासकाः स्युस्तथा तु ब्रह्मान्येन नोपलभ्यते स्वप्रकाशत्वादिति योजना। उक्तमेव श्रुत्यन्तरेण द्रढयति—ब्रह्मेति। स्वप्रकाशत्वेऽन्याभास्यत्वे च श्रुतिद्वयम्। 'ग्रहणायोग्यत्वादग्राह्य इत्यर्थः ॥२२॥

णिजध्याहारपक्षे स्मृतिबलमप्यस्तीत्याह—अपिचेति। सूत्रं व्याचष्टे—अपिचेति। अभास्यत्वे सर्वभासकत्वे च श्लोकद्वयं द्रष्टव्यम्। तस्मादनुभानमन्त्रो ब्रह्मणि समन्वित इति सिद्धम् ॥२३॥

इस पक्ष का उत्तर भी दिया जा चुका है कि वह तेजोधातु कोई अन्य पदार्थ नहीं है अपितु परमात्मा ही है, क्योंकि ब्रह्म को ये सब जड़ प्रकाश प्रकाशित नहीं कर सकते, प्रत्युत लोक में जो कुछ भी उपलब्ध होते हैं वे सबके सब ब्रह्मज्योति से ही उपलब्ध होते हैं। ब्रह्म किसी अन्य ज्योति से उपलब्ध नहीं होता क्योंकि वह स्वयंज्योति स्वरूप हैं। जिससे सूर्यादि सभी जाने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सभी को अभिव्यक्त करता है किन्तु वह किसी अन्य से अभिव्यक्त नहीं होता है, इसीलिए कहा है कि 'यह पुरुष आत्मज्योति से ही बैठता है' 'वह ग्रहण योग्य नहीं। इसीलिए किसी से ग्रहण नहीं किया जाता' इत्यादि श्रुतियों से भी यही बात सिद्ध होती है ॥२२॥

अपिच स्मर्यते (ललिता)

प्राज्ञ परमात्मा के ही रूप का संस्मरण भगवद्गीता में भी मिलता है 'उसे सूर्य प्रकाशित नहीं करता, चन्द्रमा प्रकाशित नहीं करता और अग्नि भी प्रकाशित नहीं करती, जहाँ जाकर जीव लौटते नहीं वह मेरा परमधाम है' 'जो आदित्यगत तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है और

१. सूर्यादिरेव। २. नवकल्पत इति—तत्रेति न सतिसप्तमी अपितु विषयसप्तमी। ततो ब्रह्मणि विषये सूर्यादयो न भान्ति ब्रह्मैव तु तेषु प्रकाशकत्वेन भातीत्यर्थः। ३. यस्माद्घटादिरुपलभ्यते तदपि ब्रह्मणोपलभ्यते चेद्ब्रह्मापि केनचिदन्येनोपलभ्येताविशेषादित्याशङ्क्याह—ब्रह्म त्विति। ४ नत्विति—स्वप्रकाशस्य प्रकाश्यत्वादर्शनादशेषप्रकाशकं ब्रह्म नान्यप्रकाश्यमित्यर्थः। ५. तथा तु सूर्यादिभास्यत्वेन हेतुना ब्रह्म। ६. अन्येनाधिकारिणा। ७. नोपलभ्यते न ज्ञायते इत्यर्थः। ८. पौनरुक्त्यभ्रमं वारयितुं व्याचष्टे - ग्रहणायोग्यत्वादग्राह्य इति। ९. न तत्र सूर्य इति मन्त्रः। १०. ज्योतिषां ज्योतिषि ज्ञेये।

७. प्रमिताधिकरणम् (सू० २४-२५)

(८७) [1]शब्दादेव प्रमितः ॥२४॥

अङ्गुष्ठमात्रो जीवः स्यादीशो वाऽल्पप्रमाणतः। देहमध्ये स्थितेश्चैव जीवो भवितुमर्हति ।
भूतभव्येशताजीवे नास्त्यतोऽसाविहेश्वरः। स्थितिप्रमाणे ईशेऽपि स्तो हृदयस्योपलब्धितः ॥

तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥' (गी० १५-१२) इति च ॥२३॥

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते। तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो [2]भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्'

शब्दादेव प्रमितः। **काठकवाक्यं पठति**—अङ्गुष्ठेति। **पुरुषः पूर्णोऽप्यात्मनि देहमध्ये अङ्गुष्ठमात्रे हृदये तिष्ठतीत्यङ्गुष्ठमात्र इत्युच्यते, तस्यैव परमात्मत्ववादिवाक्यान्तरमाह**—तथेति। **अधूमकमिति पठनीयम्। योऽङ्गुष्ठमात्रो जीवः स वस्तुतो निर्धूमज्योतिर्वन्निर्मलप्रकाशरूप इति [3]तमर्थं संशोध्य तस्य ब्रह्मत्वमाह**—ईशान इति। **तस्याद्वितीयत्वमाह**—स एवेति। **कालत्रयेऽपि स**

जो तेज चन्द्र एवं अग्नि में है उस तेज को मेरा ही स्वरूप समझ' इत्यादि वाक्यों से भी चैतन्य परमात्मा ही सबका प्रकाशक सिद्ध होता है जो स्वयंप्रकाश होने से किसी दूसरे से प्रकाशित नहीं होता ॥२३॥

७. प्रमिताधिकरण

१. पूर्व अधिकरण के निर्णीत विषय को दृष्टान्त मानकर इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है, इसलिए पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त सङ्गति है।

२. **"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति" "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः।"** (क० २।४।१२, १३) इत्यादि वाक्य इसका विचारणीय विषय है।

३. क्या अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीव है अथवा ईश्वर है ? ऐसा संशय होता है।

४. अल्प परिमाण एवं शरीर के मध्य स्थिति को देखते हुए अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीव ही मानना चाहिए।

५. भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान का शासक जीव नहीं हो सकता, किन्तु ईश्वर ही हो सकता है। शरीरमध्यवर्ती हृदय में ईश्वर की भी उपलब्धि होती है, अतः उपलब्धि की दृष्टि से ईश्वर को भी अल्पपरिमाण और शरीर के मध्य में स्थित माना जा सकता है।

शब्दादेव प्रमितः (ललिता)

'अङ्गुष्ठपरिमाणमात्र पुरुष शरीर के मध्य हृदय में रहता है' यह वाक्य कठोपनिषद् में सुना गया है। वैसे ही 'अङ्गुष्ठपरिमाणपुरुष निर्धूम वह्नि के समान है जो भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान का शासक है, वही आज है, वही कल भी रहेगा, बस नचिकेता का पूछा हुआ तत्त्व यही है' वहाँ

---

१. परस्य ज्योतिष्ट्वोक्ते ज्योतिरिवेत्युपमीयमानपुरुषस्य ततोऽर्थान्तरत्वमाशङ्क्य समाधत्ते—शब्दादेव प्रमित इति। २. भूतभव्यग्रहणं भवतोऽपि प्रदर्शनार्थं कालत्रयपरिच्छेद्यस्य नियन्तेति यावत्। ३. जीवमित्यर्थः।

(का० २-४-१३) इति च । तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते स किं विज्ञानात्मा किंवा परमात्मेति संशयः। तत्र परिमाणोपदेशात्तावद्विज्ञानात्मेति प्राप्तम् । न ह्यनन्तायामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणमुपपद्यते । विज्ञानात्मनस्तूपाधिमत्त्वात्सम्भवति कयाचित्कल्पनयाङ्गुष्ठमात्रत्वम् । स्मृतेश्च——'अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ।।' (म० भा० ३-२९७-१७) इति । नहि परमेश्वरो बलाद्यमेन निष्क्रष्टुं शक्यस्तेन तत्र संसार्यङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः [२]स एवेहापीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः——परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति । कस्मात् ? शब्दात्, 'ईशानो भूतभव्यस्य' इति । [३]नह्यन्यः परमेश्वराद्भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता । 'एतद्वै

एवास्ति नान्यत्किञ्चित् । यन्नचिकेतसा 'पृष्टं ब्रह्म तदेतदेवेत्यर्थः । [५]परिमाणेशानशब्दाभ्यां संशयमाह—तत्रेति । 'यथानुभानादिलिङ्गात् [६]णिजध्याहारेण सूर्याद्यगोचरो ब्रह्मेत्युक्तं, 'तथा प्रथमश्रुतपरिमाणलिङ्गाज्जीवप्रतीतावीशानोऽस्मीति ध्यायेदिति विध्यध्याहारेण ध्यानपरं वाक्यमिति पूर्वपक्षयति —तत्र परिमाणेति। पूर्वपक्षे ब्रह्मदृष्ट्या जीवोपास्तिः, सिद्धान्ते तु प्रत्यग्ब्रह्मैक्यज्ञानं फलमिति मन्तव्यम् । आयामो दैर्घ्यं, विस्तारो महत्त्वमिति भेदः । कयाचिदिति । अङ्गुष्ठमात्रहृदयस्थविज्ञानशब्दितबुद्ध्यभेदाध्यासकल्पनयेत्यर्थः । स्मृतिसंवादादप्यङ्गुष्ठमात्रो जीव इत्याह—स्मृतेश्चेति । अथ मरणानन्तरं यमपाशैर्बद्धं कर्मवशं प्राप्तमित्यर्थः । तत्रापीश्वरः किं न स्यादित्यत आह—नहीति । 'प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः' इति यमस्येश्वरनियम्यत्वस्मरणादिति भावः । भूतभव्यस्येत्युपपदाद्बाधकाभावाच्च ईशान इतीशत्वशब्दान्निरङ्कुशमीशिता भातीति [१०]श्रुत्या [११]लिङ्गं बाध्यमिति सिद्धान्तयति—परमात्मैवेति । प्रकरणाच्च ब्रह्मपरमिदं वाक्यमित्याह—एतदिति । शब्दो वाक्यं

पर यह अङ्गुष्ठमात्रपुरुष जो सुना गया है, क्या वह जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है । इस पर परिमाणमात्र उपदेश के कारण पूर्वपक्ष ने अङ्गुष्ठमात्रपरिमाणपुरुष जीवात्मा को ही माना है क्योंकि अनन्त आयामविस्तृत परमात्मा को अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण का उपदेश नहीं कर सकते । आयाम का अर्थ दीर्घता और विस्तार शब्द का अर्थ महत्त्व है, इसलिए भाष्य में परमेश्वर को अनन्त आयाम एवं अनन्त विस्तार वाला कहा गया है । उपाधियुक्त होने के कारण जीवात्मा में बुद्ध्यादि के साथ अभेद अध्यास की कल्पना कर अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण कहना सम्भव है । स्मृति में भी कहा है कि 'सत्यवान के शरीर से जीवात्मा को निकाल कर यमदूतों ने पाश से बाँध डाला जो पुरुष अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण वाला था । मरने के बाद यम पाश से बँधे हुए उस अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण पुरुष को यमराज ने जोर से खींचा ।' परमेश्वर को यम बलपूर्वक नहीं खींच सकता इसलिए स्मृति ग्रन्थ में भी अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण संसारी जीव ही निश्चित होता है । तदनुसार इस श्रुति में भी जीवात्मा ही अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण वाला है ? ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि परमात्मा ही यह अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण पुरुष है । क्यों ? "ईशानो भूतभव्यस्य"

---

१ स्मृतिवाक्येन । स्मृतेः संसारिविषयत्वं निगमयति—तेनेति । २. निश्चितार्थस्मृत्या सन्दिग्धार्थश्रुतेरपि जीवार्थतैवेत्याह—स एवेति । ३. ननु जीवेऽपि कतिपयेशित्वादविरुद्धा श्रुतिरिति चेन्न, भूतभव्यस्येत्यविशेषश्रुतेरित्याह—न हीति । ४. अन्यत्र धर्मादित्यादिना । ५. अङ्गुष्ठमात्र इति परिमाणशब्दः । ६. पूर्वत्र । ७. विषयसप्तम्या । ८. इहापि । ९. सङ्कोचकाभावाच्च । १०. ईशानश्रुत्या । ११. परिमाणलिङ्गम् ।

(८८) हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥२५॥

तत्' इति च प्रकृतं पृष्टमिहानुसन्दधाति। एतद्वै तद्यत्पृष्टं ब्रह्मेत्यर्थः। पृष्टं चेह ब्रह्म 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' (का० १-२-१४) इति। शब्दादेवेत्यभिधानश्रुतेरेवेशान इति परमेश्वरोऽयं गम्यत इत्यर्थः ॥२४॥

कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र ब्रूमः—

सर्वगतस्यापि परमात्मनो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्याङ्गुष्ठमात्रत्वमिदमुच्यते। आकाशस्येव वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्वम्। न ह्यञ्जसातिमात्रस्यैव परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते। न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हतीशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम्। ननु प्रतिप्राणिभेदं हृदया-

लिङ्गाद्दुर्बलमित्याशङ्क्याह—शब्दादिति ॥२४॥

करः सकनिष्ठिकोऽरत्निः। मुख्याङ्गुष्ठमात्रो जीवो गृह्यतां किं गौणग्रहणेनेत्यत आह—न चान्य इति। सति सम्भवे मुख्यग्रहो न्याय्यः। अत्र तु श्रुतिविरोधादसम्भव इति गौणग्रह इत्यर्थः।

(भूत, भविष्य, वर्तमान का शासक ईश्वर है) ऐसा शब्द सुना जाता है। परमेश्वर से भिन्न कोई भी भूत, भविष्य एवं वर्तमान का निरङ्कुश शासक नहीं हो सकता, साथ ही "एतद्वै तत्" इस वाक्य द्वारा पूछे हुए प्रकृत तत्त्व का ही अनुसन्धान होता है अर्थात् जिस ब्रह्म के विषय में तूने पूछा था वह तुम्हारा पूछा हुआ ब्रह्म यही है। 'जो धर्म से भिन्न, अधर्म से भिन्न, कार्यकारण से भिन्न भूत-भविष्यत् एवं वर्तमान से भिन्न उसे यदि आप जानते हैं तो मुझे बतलायें।' पूर्वपक्षी ने लिङ्गप्रमाण के आधार पर अङ्गुष्ठमात्रपरिमाणपुरुष जीवात्मा कहा था पर "शब्दादेव" इस वाक्य द्वारा सूत्रकार श्रुतिप्रमाण की अपेक्षा लिङ्गप्रमाण को प्रबल मानकर परमेश्वर अर्थ का ही बोध कराते हैं क्योंकि "ईशानः" शब्द से उस तत्त्व का संकेत मिलता है ॥२४॥

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् (ललिता)

फिर भला सर्वव्यापक परमात्मा को परिच्छिन्न परिमाण का उपदेश कैसे किया? ऐसा प्रश्न होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि मनुष्य का हृदय अङ्गुष्ठपरिमाण है उसकी अपेक्षा से परमेश्वर को अङ्गुष्ठपरिमाण कहा गया है। शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है, पश्वादि का नहीं।

सर्वव्यापक परमात्मा का भी हृदय में अवस्थान है, उसको अपेक्षा कर अङ्गुष्ठमात्रत्व परमेश्वर में कहा गया है, जैसे वंशपर्व की अपेक्षाकर उसमें रहने वाले आकाश को अरत्निमात्र कहा है। मुट्ठी बँधी रहने पर जो हाथ का परिमाण होता है उसको अरत्नी कहते हैं। व्यापक आकाश को जिस प्रकार अरत्नी परिमाण कहा है उसमें बाँस का पर्व निमित्त पड़ता है। ऐसे ही हृदय परिमाण की अपेक्षा व्यापक परमात्मा को अङ्गुष्ठपरिमाण कहा है अन्यथा साक्षात् मात्रातिक्रमण करने वाले परमेश्वर के लिए अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण कहना युक्तिसंगत नहीं। यहाँ पर परमात्मा से

१. श्रुतिलिङ्गविरोधे श्रुतिरेव बाधिका न लिङ्गमिति मर्यादां वक्तुं सूत्रभाष्ययोरेवकारः। २. किमिति हृद्यवस्थानादङ्गुष्ठमात्रत्वं परस्य गौणमिष्टं तत्राह—न हीति। ३. साक्षात्। ४. मात्रां परिमाणमतिक्रान्तोऽतिमात्रस्तस्य विभोरित्यर्थः। ५. बद्धमुष्टिकरोऽरत्निः, सो रत्निः प्रसृतांगुलिरित्यभिधानात्, अरत्निस्तु कनिष्ठेन मुष्टिनेत्यमरश्च।

नामनवस्थितत्वात्तदपेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इत्यत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकारत्वादिति। [1]शास्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाधिकरोति, शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्चेति [2]वर्णितमेतदधिकारलक्षणे (जै० ६-१)। मनुष्याणां च नियतपरिमाणः कायः। [3]औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम्। अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः। यदप्युक्तम्—परिमाणोपदेशात्स्मृतेश्च संसार्येवायमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतव्य इति, तत्प्र-

---

मनुष्यानेवेति। **त्रैवर्णिकानेवेत्यर्थः। शक्तत्वादित्यनेन पश्वादीनां देवानामृषीणां चाधिकारो [4]वारितः। तत्र पश्वादीनां शास्त्रार्थज्ञानाविसामर्थ्यभावात्कर्मण्यशक्तिः। इन्द्रादेः स्वदेवताके कर्मणि स्वोद्देशेन द्रव्यत्यागायोगादशक्तिः। ऋषीणामा[5]र्षेयवरणे ऋष्यन्तराभावादशक्तिः। अर्थित्वादित्यनेन निष्कामानां मुमुक्षूणां स्थावराणां चाधिकारो वारितः। तत्र मुमुक्षूणां शुद्ध्यर्थित्वे नित्यादिष्वधिकारो न काम्येषु। शुद्धचित्तानां मोक्षार्थित्वे श्रवणादिषु व्यञ्जकेष्वधिकारो न कर्मस्विति मन्तव्यम्। शूद्रस्याधिकारं निरस्यति**—अपर्युदस्तत्वादिति। **'शूद्रो यज्ञेऽवनक्लृप्तः' (तै० सं० ७-१-१-६) इति पर्युदासात्, [6]'उपनयीत' 'तमध्यापयीत' इति शास्त्राच्च न शूद्रस्य वैदिके कर्मण्यधिकारः। तस्यैकजातित्वस्मृतेरुपनयनप्रयुक्तद्विजातित्वाभावेन वेदाध्ययनाभावात्। अत्रापेक्षितो न्यायः षष्ठाध्याये वर्णित इत्याह**—वर्णितमिति। **'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रस्याविशेषेण सर्वान्फलार्थिनः प्रति प्रवृत्तत्वात्, प्राणिमात्रस्य सुखार्थित्वाच्च फलार्थे कर्मणि पश्वादीनामप्यधिकार इत्याशङ्क्योक्तरीत्या तेषां शक्तत्वाद्यभावात्स्वर्गकामपदं मनुष्यपरतया सङ्कोच्य मनुष्याधिकारत्वे स्थापिते चातुर्वर्ण्याधिकारित्वमाशङ्क्य 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः' इति त्रयाणामेवाग्निसम्बन्धश्रवणात्तेषामेवाधिकार इति वर्णितमित्यर्थः।** अस्तु, प्रस्तुते किमायातं, **तत्राह**—मनुष्याणां चेति। **प्रायेण [7]सप्तवितस्तिपरिमितो मनुष्यदेह इत्यर्थः। एवमङ्गुष्ठशब्दो हृत्परिमाणवाचकस्तत्रस्थं ब्रह्म लक्षयतीत्युक्तम्। सम्प्रति '[8]तच्छब्देनाङ्गुष्ठमात्रं जीवमनूद्यायमीशान इति ब्रह्माभेदो बोध्य इति वक्तुमनुवदति**–यदपीति। [9]**प्रतिपाद्याभेदविरोधाद**[10]**नुवाद्याङ्गुष्ठमात्रत्वं बाध्यं, तात्पर्यार्थस्य बलवत्त्वा-**

भिन्न अर्थ का ग्रहण इसलिए नहीं होता, क्योंकि "**ईशानः**" शब्द का प्रयोग किया गया है जो परमेश्वर में ही घटता है।

शङ्का—प्रतिप्राणी का हृदय भी एक जैसा नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षा करके भी परमेश्वर में अङ्गुष्ठमात्रत्व कहना नहीं बनता है? इसका उत्तर दिया जा चुका है कि प्रत्येक मनुष्य का हृदय अपने-अपने अँगूठे के बराबर होता है उसकी अपेक्षा से सबका हृदय अङ्गुष्ठमात्र कहना उचित ही है। शास्त्र सामान्यतः सबके लिए प्रवृत्त होता है फिर भी मनुष्य को ही अधिकारी मानता है क्योंकि उसी में सामर्थ्य, अर्थित्व, निषेधाभाव और उपनयनादि का विधान है। यह अधिकार लक्षण में पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत जैमिनि महर्षि ने बतलाया है जब मनुष्य का शरीर नियतपरिमाण वाला

---

१. ननु स्वर्गकामादिवाक्ये स्वर्गादिकामिन एवाविशेषेणाधिकारित्व न मनुष्यस्येत्याशङ्क्याह—शास्त्रं हीति। २. जैमिनिनेति शेषः। ३. योग्यतया। ४. बाधित इति पाठान्तरम्। ५. ऋषिसम्बन्धिवरणक्रियायाम्। ६. तत्रैव हेत्वन्तरमाह—उपनयीतेति। ७. अङ्गुष्ठे सकनिष्ठे स्याद् वितस्तिर्द्वादशांगुल इत्यमरः। ८. अंगुष्ठमात्रशब्देन। ९. तात्पर्येणाभेदप्रतिपादके वाक्ये इत्यादौ शेषः। १०. अनूद्यमानजीवस्थमङ्गुष्ठमात्रत्वम्।

त्युच्यते—'स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादिवत्संसारिण एव सतोऽङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमिदमुपदिश्यत इति। द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः, क्वचित्परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा क्वचिद्विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा। [1]तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते नाङ्गुष्ठमात्रत्वं कस्यचित्। एतमेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—'[2]अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। [3]तं [4]स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्॥' (का० २-६-१७) इति॥२५॥

दित्याह—तदिति। क्वचित् 'अस्थूलम्' इत्यादौ। क्वचित् 'तत्त्वमसि' इत्यादौ। [ननु परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणत्वं न सम्भवतीति सूत्रकारेण हृदयापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुक्तं, द्विविधेत्यादिभाष्यात्तु जीवमुद्दिश्य ब्रह्मत्वबोधनमिति प्रतीयत इति सूत्रार्थास्पर्शित्वाद्भाष्यमनुपपन्नमिति चेत्। न, भाष्यतात्पर्यानभिज्ञानात्। कठवल्लीवाक्यस्यावान्तरतात्पर्यमेकं महातात्पर्यं चैकम्। तत्रावान्तरतात्पर्यमुपास्ये ब्रह्मणि, महातात्पर्यं च ज्ञेये ब्रह्मणि। अत एव भाष्यकारैर्वाक्यद्वयोपन्यासः कृतः। अत एवोपासनाफलं कठवल्ल्यामेव—'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः' इत्यादिना बोधितम्। अत एव चतुर्थाध्याये द्वितीयचरणे 'तदोकः' इति सूत्रे हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति इति भाष्यकारैः प्रथमवाक्यस्य उपास्ये ब्रह्मणि तात्पर्यमिति प्रकटीकृतम्। इत्थं चात्रत्यभाष्यं महातात्पर्याभिप्रायकमिति द्रष्टव्यम्। रामानुजभाष्यकृता तु पूर्वपक्षोऽस्मद्भाष्यतात्पर्याज्ञानेनैव कृत इत्यवधेयम्।] एकत्वार्थे वाक्यशेषमनुकूलयति—एतमिति। श्रुतिर्यमो वा कर्ता द्रष्टव्यः। तं जीवं, प्रवृहेत्पृथक्कुर्यात्, धैर्येण बलवदिन्द्रियनिग्रहादिना, तं विविक्तमात्मानं शुक्लं स्वप्रकाशममृतं कूटस्थं ब्रह्म जानियादित्यर्थः। तस्मात्कठवाक्यं प्रत्यग्ब्रह्मणि ज्ञेये समन्वितमिति सिद्धम्॥२५॥

है तब तदनुसार उसका हृदय भी नियतपरिमाण वाला अङ्गुष्ठपरिमाण कहना असंगत नहीं है। अतः शास्त्र में मनुष्य का अधिकार होने से मनुष्य हृदय का अपेक्षाकर परमात्मा को अङ्गुष्ठपरिमाण बतलाना युक्तियुक्त है।

और जो आपने कहा था कि परिमाण के उपदेश एवं स्मृति के आधार पर अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण जीवात्मा ही जान पड़ता है? इसका उत्तर दिया जा चुका है कि 'वह आत्मा है, वह तू है' इत्यादि की भाँति अङ्गुष्ठमात्र जीवात्मा में भी ब्रह्मत्व का उपदेश शास्त्र में सुना जाता है। वेदान्तवाक्यों की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है। कहीं पर जीव जगत् एवं परमात्मा निरूपण करने वाली श्रुति है जिसे अवान्तर वाक्य कहते हैं और कहीं जीव-ब्रह्म के एकत्व को बतलाने वाली श्रुति है जिसे महावाक्य कहते हैं। यहाँ पर कठ श्रुति में जीवात्मा-परमात्मा के एकत्व का उपदेश है, किसी के अङ्गुष्ठमात्रत्व का उपदेश नहीं है। इस अर्थ को आगे स्पष्ट करेंगे 'जो अन्तरात्मा अङ्गुष्ठपरिमाणमात्र है और जो सदा सबके हृदय में सन्निविष्ट है उसे अपने स्थूल-सूक्ष्म शरीर से वैसे ही धैर्यपूर्वक पृथक् करें जैसे मूँज से सींक को पृथक् करते हैं। तत्पश्चात् उसी को शुद्ध अमृतस्वरूप समझें। अतः कठश्रुति ब्रह्मात्मैक्य उपदेश में ही समन्वित होती है॥२५॥

१. कथं प्रकृते वाक्यप्रवृत्तिस्तत्राह—तदत्रेति। न हि परैक्यं जीवस्योक्तिं विना शक्यं वक्तुमिति तदुक्तिरित्यर्थः। २. यतोऽन्तरात्मा पूर्णात्पुरुषोऽपि जनानां हृदये सदा सन्निविष्टस्ततोऽङ्गुष्ठमात्र इति त्वमर्थानुवादः। ३. तस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां तदनुसारिश्रुत्या च शोधनत्वमाह—तमिति। ४. स्थूलात्सूक्ष्माच्च।

८. देवताधिकरणम् (सू० २६-३३)

(८९) [1]तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥२६॥

नाधिक्रियन्ते विद्यायां देवाः किंवाऽधिकारिणः। विदेहत्वेन सामर्थ्यहानेर्नैषामधिक्रिया।
अविरुद्धार्थवादादिमन्त्रादेर्देहसत्त्वतः। अर्थित्वादेश्च सौलभ्याद्देवाद्या अधिकारिणः॥

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षया मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तं, [2]तत्प्रसङ्गेनेद-मुच्यते। बाढं मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्, न तु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽस्ति।

शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वे देवादीनां ब्रह्मविद्यायामप्यनधिकारः स्यादित्याशङ्कयाह—तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवादिति। ननु समन्वयाध्यायेऽधिकारचिन्ता न सङ्गतेत्यत आह—अङ्गुष्ठेति। स्मृत-स्योपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्गः। [3]अत्र मनुष्याधिकारत्वोक्त्या स्मृतानां देवादीनां वेदान्तश्रवणादावधिकारो-ऽस्ति न वेति [4]सन्देहे भोगासक्तानां वैराग्याद्यसम्भवान्नेति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—बाढमिति। एवम-

८. देवताधिकरण

१. पूर्व अधिकरण में ब्रह्मविद्या में मनुष्य का अधिकार बतलाया गया; तब तो मनुष्य से भिन्न देवादि का उसमें अधिकार नहीं माना जा सकता, ऐसा आक्षेप उठाकर समाधान देने के लिए अथवा अधिकार प्रसङ्ग से देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार बतलाने के लिए इस अधिकरण का प्रारम्भ होता है। इसलिए इस अधिकरण की आक्षेप सङ्गति अथवा प्रसङ्गसङ्गति कही जाती है।

२. "इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज" (छा० ८।७।२) "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्" (बृ० १।४।१०) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण के विचारणीय विषय हैं।

३. क्या देवादि का ब्रह्मविद्या में अधिकार है, अथवा नहीं? ऐसा संशय होता है।

४. शरीरधारी न होने के कारण देवता शक्तिहीन हैं। अतः उनका ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

५. अविरुद्ध अर्थवाद आदि मन्त्रों से देवता भी शरीरधारी सिद्ध होते हैं। कारणसहित दुःखों से छुटकर परमानन्द प्राप्ति की इच्छा देवादियों में भी सुलभ है। अतः शरीर एवं सामर्थ्य की सिद्धि हो जाने पर देवादि भी ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं।

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् (ललिता)

शास्त्र में मनुष्य का अधिकार मानने पर देवादियों का ब्रह्मविद्या में अनधिकार हो जायेगा? इस आशङ्का का समाधान देने के लिए देवताधिकरण प्रारम्भ किया गया है। समन्वयाध्याय में अधिकार चिन्ता असङ्गत जान पड़ती है अतः भाष्यकार कहते हैं, कि मनुष्य के हृदय की अपेक्षा कर श्रुति आत्मा को अङ्गुष्ठमात्र परिमाण बतलाती है इससे शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार सिद्ध होता है, देवादियों का नहीं, ऐसा कहा गया। इस प्रसङ्गवशात् अब ब्रह्मविद्या में देवादियों का भी अधिकार बतलाने जा रहे हैं। इस प्रकार पूर्व अधिकरण के साथ अधिकार विचारात्मक देवताधि-करण और अपशूद्राधिकरण की प्रासङ्गिक सङ्गति है। पूर्वपक्षी का यह कहना सही है कि शास्त्र में

१. तदुपरीत्यत्र तेषामुपरीति षष्ठीसमासः, न लोकेऽति निषेधस्तु न, पूर्वोत्तरसाहचर्येण कृदव्ययस्यैव तत्र ग्रहणा-दिति। २. तथा च प्रासङ्गिकीयं सङ्गतिः। ३. पूर्वाधिकरणे। ४. सन्देह इति—समर्थ्याद्यसम्भवसम्भवाभ्या-मित्यादौ शेषः।

तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद्ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। कस्मात्? सम्भवात्। सम्भवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणम्। तत्रार्थित्वं तावन्मोक्षविषयं देवादीनामपि सम्भवति, विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम्। तथा सामर्थ्यमपि तेषां सम्भवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात्। नच तेषां कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति। नचोपनयनादिशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत,

धिकारविचारात्मकाधिकरणद्वयस्य प्रासङ्गिकी सङ्गतिः। अत्र पूर्वपक्षे देवादीनां ज्ञानानधिकाराद्देवत्वप्राप्तिद्वारा क्रममुक्तिफलासु दहराद्युपासनासु क्रममुक्त्यर्थिनां मनुष्याणामप्रवृत्तिः फलं सिद्धान्ते तु प्रवृत्तिः। उपासनाभिर्देवत्वं प्राप्तानां श्रवणादिना ज्ञानान्मुक्तिसम्भवादिति सफलोऽयं विचारः। ननु भोगासक्तानां तेषां मोक्षार्थित्वाभावान्नाधिकार इत्यत आह—अर्थित्वं तावदिति। विकारत्वेनानृतविषयसुखस्य क्षयासूयादिदोषदृष्टया निरतिशयसुखमोक्षार्थित्वं सत्त्वप्रवृत्तानां देवानां सम्भवतीत्यर्थः। नन्विन्द्राय स्वाहेत्यादौ चतुर्थ्यन्तशब्दातिरिक्ता विग्रहवती देवता नास्ति, शब्दस्य चासामर्थ्यान्नाधिकार इत्यत आह—तथेति। अर्थित्ववदित्यर्थः। अपर्युदस्तत्वमाह—नच तेषामिति। 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इतिवद्देवादीनां विद्याधिकारनिषेधो नास्तीत्यर्थः। ननु विग्रहवत्त्वेन दृष्टसामर्थ्ये सत्यप्युपनयनाभावाच्छास्त्रीयं सामर्थ्यं नास्तीत्यत आह—न चेति। जन्मान्तराध्ययनबलात्स्वयमेव प्रतिभाताः स्मृता वेदा येषां ते तथा तद्भावादित्यर्थः। बालादिषु प्रविष्टपिशाचादीनां

मनुष्य का अधिकार है किन्तु इस ब्रह्मज्ञान में मनुष्य का ही अधिकार है ऐसा नियम नहीं है। अतः मनुष्यों की अपेक्षा ऊर्ध्वलोक में रहने वाले जो देवादि हैं उनका भी अधिकार ब्रह्मज्ञान में शास्त्र बतलाता है; ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं। क्यों? क्योंकि देवादियों में भी अधिकार के प्रयोजक आर्थित्व, सामर्थ्यादि सम्भव हैं। उनमें कार्य विषयक अपनी विभूति की अनित्यता को देखने के कारण देवादियों में भी मोक्षविषयक आर्थित्व सम्भव है। वैसे ही मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोकप्रसिद्धि के कारण देवताओं का भी जब विग्रहवत्त्व सम्भव है, तो उनमें भी सामर्थ्य सम्भव ही है। देवताओं के अधिकार का प्रतिषेधक कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः अधिकार के प्रयोजक अपर्युदस्तत्व भी विद्यमान है। जैसे "**शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः**" यह वचन मिलता है, वैसा देवादियों को ब्रह्मविद्या में अधिकार निषेधक वाक्य नहीं है। यदि कहो कि देवताओं के उपनयन विधान करने वाला शास्त्र नहीं मिलता है। अतः देवादियों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं रह जायेगा? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि उपनयन वेदाध्ययन का अङ्ग है। देवताओं एवं ऋषियों को वेद स्वयं जन्मान्तरीय संस्कार से प्रतिभात होता है। अतः उन्हें वेदाध्ययन की आवश्यकता नहीं, इसीलिए वेदाध्ययन के अङ्गरूप उपनयन का भी विधान उसके लिये शास्त्र में नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त श्रुति में गुरुकुलवासादि लिङ्ग ब्रह्मविद्या ग्रहणार्थ देवताओं के लिए भी मिलता है। इन्द्रादि देवता भी विद्याग्रहण के लिए प्रजापति के पास जाकर ब्रह्मचर्यादि साधनपूर्वक गुरुकुलवास

१. आदिना शास्त्रीयलौकिकसामर्थ्यापर्युदस्तत्वादयो गृह्यन्ते। २. कार्यविषयकस्वनिष्ठसामर्थ्यधार्मिकानित्यत्वालोचनम्। ३. मोक्षे नित्यत्वालोचनमादिपदेन गृह्यते। ४. मन्त्रेति—मन्त्रः सहस्राक्षो गोत्रभिद्वज्रबाहुरित्यादिः। अर्थवादः—इन्द्रप्रजापतिसंवादादिरूपः। इतिहासः—भारतादिः। पुराणम्—विष्णुपुराणादिः। लोकः—शिल्पादिशास्त्रम्। ५. विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यञ्च प्रसन्नता फलप्रदानमित्येतत्पंचकं विग्रहादिकम्। ६. ज्ञानसाधनानुष्टानाशक्तेरित्यर्थः।

उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्। तेषां च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्। अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति—'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' (छा० ८-११-३) 'भृगुर्वै वारुणिः। वरुण पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० ३-१) इत्यादि। यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्—'न देवानां देवतान्तराभावात्' इति, 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' (जै० ६-१-६,७) इति। न तद्विद्यास्वस्ति। न हीन्द्रादीनां विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देशेन किञ्चित्कृत्यमस्ति। नच भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया। तस्माद्देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते। देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते ॥२६॥

वेदोद्घोषदर्शनाद्देवयोनीनां जन्मान्तरस्मरणमस्तीति स्मृतवेदान्तानामर्थविचारो युक्त इत्यर्थः। देवानां च ऋषीणां च विद्याधिकारे कारणमर्थित्वादिकमुक्त्वा श्रौतं गुरुकुलवासादिलिङ्गमाह—अपिचेति। ननु ब्रह्मविद्या देवादीन्नाधिकरोति, वेदार्थत्वात्, अग्निहोत्रवदित्यत आह—यदपीति। देवानां कर्मसु नाधिकारः, देवतान्तराणामुद्देश्यानामभावादिति प्रथमसूत्रार्थः। ऋषीणामनधिकारः, ऋष्यन्तराभावाद् ऋषियुक्ते कर्मण्यशक्तेरिति द्वितीयसूत्रार्थः। असामर्थ्यमुपाधिरिति परिहरति—न तदिति। असामर्थ्यरूपं कारणमित्यर्थः। न ह्यस्ति, येनासामर्थ्यं स्यादिति शेषः। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणाम्' इति वाक्यशेषोऽप्यनुमानस्य द्रष्टव्यः। ननु देवादीन्प्रत्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः कथम्? तेषां महादेहत्वेन हृदयस्याङ्गुष्ठमात्रत्वाभावात्। अतः श्रुतिषु तेषां नाधिकार इत्यत आह—देवाद्यधिकारेऽपीति ॥२६॥

करते हैं। छान्दोग्य में कहा है कि 'इन्द्र ने प्रजापति के पास जाकर १०१ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपालन करते हुए वास किया' 'वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और कहा कि हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें' इत्यादि। यद्यपि देवता का आराध्य कोई देवता न होने के कारण देवता के निमित्त किये गये कर्मों में उनका अधिकार नहीं कहा गया है, वैसे ही ऋषियों का ऋषि भी नहीं होता, जो ऋषि के निमित्त किये गये कर्म में अधिकारी बना सके। किन्तु विद्या के विषय में यह बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मविद्या में इन्द्रादि देवताओं के उद्देश्य से कोई कर्तव्य नहीं बतलाया गया है और न भृगु आदि ऋषियों के सगोत्र भृगु आदि के निमित्त कोई कृत्य शास्त्र में निर्दिष्ट है। ऐसी स्थिति में देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार का वारण किस प्रकार हो सकेगा। देवादियों का ब्रह्मविद्या में अधिकार मान लेने पर भी अङ्गुष्ठमात्रपरिमाण बतलाने वाली श्रुति विरुद्ध नहीं पड़ती है क्योंकि सभी का हृदय अपने अँगूठे की अपेक्षा अङ्गुष्ठपरिमाण होता ही है। अतः ब्रह्मविद्या में देवादियों का अधिकार है ॥२६॥

---

१. तर्हि तदभावादङ्गिनोऽध्ययनस्याभावे कुतो वेदार्थेऽधिकारस्तत्राह—तेषां चेति। २. आदिपदेनापगमनशुश्रूषादिकं गृह्यते। ३. सनत्कुमारनारदसंवादादिसंग्रहार्थमादिपदम्। ४. तदेव स्पष्टयति—न हीति। ५. साधकबाधकसत्त्वासत्त्वफलमाह—तस्मादिति। ६. न विरुध्यत इति—साधारणी खल्वङ्गुष्ठमात्रश्रुतिस्तत्र तत्र तत्तदङ्गुष्ठपरिमितहृदयापेक्षया निर्वक्ष्यतीति भावः। ७. अभावादिति—तदनुष्ठानाशक्तेरिति शेषः।

(९०) विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत, विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसन्निधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत। तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्। [1]न हीन्द्रादीनां स्वरूपसन्निधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते। न च सम्भवति। [2]बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसन्निधानतानुपपत्तेरिति चेत्। नायमस्ति विरोधः। कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः। एकस्यापि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः सम्भवति। [3]कथमेतदवगम्यते? [4]दर्शनात्। [5]तथाहि—'कति देवाः' इत्युपक्रम्य

ननु मन्त्रा[6]दीनां प्रतीयमानविग्रहवत्त्वे तात्पर्यं कल्पयित्वा देवादीनामधिकार उक्तः, स चायुक्तः, [7]अन्यपराणां तेषां प्रत्यक्षादिविरोधेन स्वार्थे तात्पर्यकल्पनानुपपत्तेरित्याक्षिप्य सूत्रचतुष्टयेन परिहरति—विरोधः कर्मणीत्यादिना। वर्ण्येत, तर्हीति शेषः। स्वरूपं विग्रहः। अभ्युपगमे प्रत्यक्षेण देवता दृश्येत, न च दृश्यते, अतो '[8]योग्यानुपलब्ध्या देवताया विग्रहवत्त्या अभावात्सम्प्रदानकारकाभावेन कर्मनिष्पत्तिर्न' स्यादित्याह—तदा चेति। विग्रहस्याङ्गत्वमनुपलब्धिबाधितं युक्त्या च न सम्भवतीत्याह—न चेति। तस्माद[9][10]र्थोपहितशब्द एव देवता, तस्या अचेतनत्वान्न विद्याधिकार इति शङ्कार्थः। परिहरति—नायमिति। एकस्यापि देवस्य योगबलादनेकदेहप्राप्तिः श्रुतिस्मृतिदर्शनात्सम्भवति, अतो न कर्मणि विरोध इति व्याचष्टे—कस्मादित्यादिना। वैश्वदेवशस्त्रे शस्यमानदेवाः कतीति शाकल्येन

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् (ललिता)

मन्त्रादि के आधार पर देवादियों को शरीरधारी मान लेने पर उसके तात्पर्य की कल्पना करते हुए आपने उनका जो अधिकार कहा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि वे वाक्य स्तुतिपरक हैं, प्रत्यक्षादिप्रमाण के साथ विरोध आने के कारण स्वार्थ में उनका तात्पर्य नहीं है, ऐसा आक्षेप होने पर अग्रिम चार सूत्रों से उसका परिहार करते हैं, कि यदि विग्रहवत्त्वादि मानकर देवादियों का ब्रह्मविद्या में अधिकार कहोगे तो जैसे शरीरधारी ऋत्विग् आदि कर्म के अङ्ग होते हैं ऐसे ही इन्द्रादि देवताओं को भी स्वरूपतः याग में उपस्थित हो कर्माङ्ग मानना पड़ेगा और ऐसा मानने पर कर्म में विरोध आयेगा, क्योंकि इन्द्रादिदेव स्वरूप धारण कर याग में अङ्गभाव होते नहीं देखे जाते हैं और वह सम्भव भी नहीं है। अनेक स्थलों में इन्द्रयाग हो रहे हों तो एक साथ इन्द्र देवता शरीर धारण कर वहाँ पहुँच नहीं सकते—ऐसा यदि कहो तो पूर्वपक्षी के द्वारा उठाया गया यह विरोध समुचित नहीं है क्योंकि एक देवता एक साथ अनेक रूप धारण कर सकते हैं, ऐसा उनमें योगबल है, यह श्रुति-स्मृति में प्रसिद्ध है। आपको यह कैसे जान पड़ा? ऐसा ही वैश्वदेव शस्त्र में शस्यमान देवताओं के सम्बन्ध में देखा जाता है। विदग्ध शाकल्य ने याज्ञवल्क्य जी से कहा 'देवता कितने हैं' यहाँ से

१. विरोधमेव स्फुटयति—न हीति। २. इन्द्रादीनां स्वरूपसन्निधिद्वारा यागाङ्गत्वायोगे हेतुमाह—बहुष्विति। ३. एकस्य युगपदनेकत्वापत्तिविरुद्धेत्याह—कथमिति। ४. प्रामाणिकत्वेन विरोधं समाधत्ते—दर्शनादिति। ५. तत्र तावच्छ्रौतं दर्शनमाह—तथा हीति। ६. आदिनाऽर्थवादेतिहासपुराणलोकानाम्। ७. स्तुत्यादिपराणाम्। ८. विग्रहस्य दर्शनयोग्यत्वं स्पष्टमेव तस्यानुपलब्ध्या तदभावः कल्प्यत इति भावः। ९. न स्यादिति—तव मत इति शेषः, मम तु मन्त्रमयीत्वाद्देवानां मन्त्राणां च विद्यमानत्वाद् नोक्तदोष इत्याह। १०. अर्थोपहितेति—चतुर्थ्यन्तशब्दप्रतीतमात्रं तादृगर्थनियमितः शब्दो वा देवतेति।

'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति निरुच्य, 'कतमे ते' इत्यस्यां पृच्छायाम्। 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशस्त्वेव देवाः' (बृ० ३-९-१,२) इति निर्ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य देवतात्मनो युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडाद्यन्तर्भावक्रमेण 'कतम एको देव' इति 'प्राणः' इति प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यैवैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा स्मृतिरपि—'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ। योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्। प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥' (वायु पु० ५-१४८,१४९) इत्येवञ्जातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति। 'किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां

पृष्टो याज्ञवल्क्यो निविदा 'त्रयश्च' इत्यादिरूपयोत्तरं ददौ। निविन्नाम शस्यमानदेवसंख्यावाचकः शब्दः। षडधिकानि त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राणीति संख्योक्तौ संख्येयस्वरूपप्रश्ने, महिमानो विभूतयः सर्वे देवाः, एषां त्रयस्त्रिंशद्देवानामतोऽष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इन्द्रः प्रजापतिश्चेति त्रयस्त्रिंशद्देवास्तेऽपि षण्णामग्निपृथिवीवाय्वन्तरिक्षादित्यदिवां महिमानस्तेऽपि षट्सु देवेष्वन्तर्भवन्ति। षट् देवास्त्रिषु लोकेषु त्रयश्च द्वयोरन्नप्राणयोर्द्वौ च एकस्मिन्प्राणे हिरण्यगर्भेऽन्तर्भवत इति दर्शितमित्यर्थः। त्रयस्त्रिंशतोऽपि देवानामिति सम्बन्धः। दर्शनं श्रौतं व्याख्याय स्मार्तं व्याचष्टे—तथा स्मृतिरिति। बलं योगसिद्धिम्। 'अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरीशता। प्राकाम्यं च

प्रारम्भ कर उत्तर में याज्ञवल्क्य जी ने निविदा से ही कहा। शस्यमान देव संख्यावाचक शब्द को निविदा कहते हैं। उस निविदा के द्वारा ही विदग्ध शाकल्य के प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य महर्षि ने दिया, कि तीन हजार तीन सौ छः (३३०६) देवता हैं। जब शाकल्य ने पूछा कि वे कौन-कौन हैं ? तो महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने कहा वास्तव में देवता तो तेंतीस ही हैं, ये तो उनकी महिमा है—ऐसा कहते हुए श्रुति एक-एक देवताओं का एक साथ अनेकों रूप धारण करना बतलाती है। पुनः उन तेंतीस देवताओं का भी अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और दिव इन छः में अन्तर्भाव करते हुए शेष को उनकी विभूति बतलायी। पुनः भूर्भुवःस्वः इन तीन लोकों में उन छः का अन्तर्भाव किया और तीन का अन्न एवं प्राण में अन्तर्भाव किया, उन दोनों का हिरण्यगर्भाख्य प्राण में अन्तर्भाव करके देवताओं में प्राणैकरूपता श्रुति ने बतलायी। उसी एक प्राण के एक साथ अनेकरूपता को श्रुति दिखलाती है। वैसा ही स्मृति में भी कहा है 'हे भरत श्रेष्ठ ! आत्मा के अनेकों शरीर हैं जिन्हें योगी बनाकर अपना योगबल प्राप्त कर वह योगी उन सभी शरीरों से पृथ्वी में भ्रमण करता है। वह सिद्ध योगी कुछ शरीरों से विषयों को भोगता और कुछ शरीरों से उग्र तप भी करता है। पुनः उन शरीरों को वैसे ही उपसंहार कर लेता है। जैसे दिन के अन्त में अपनी रश्मियों को सूर्य समेट लेता है' इस प्रकार की श्रुति अणिमादि ऐश्वर्यसम्पन्न योगियों का भी जब

---

१. अन्तर्भावश्च तेस्तात्पर्यमाह—एकैकस्येति। २. त्रयस्त्रिंशतोऽपीति—अस्य देवानामिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। ३. तेषामर्थक्रियामाह—तैश्चेति। ४. तेषां भोगायतनत्वमाह—प्राप्नुयादिति। ५. परलोकहितत्वमाह—कैश्चिदिति। ६. तत्पारवश्यं पुंसो निरस्यति—सङ्क्षिपेच्चेति। ७. योगिनामनेकरूपप्रतिपत्तावपि देवानां किमायातं तत्राह—प्राप्तेति। ८. अपिशब्दसूचितमर्थमाह—किम्विति। ९. त्रिषु—पृथिव्यन्तरिक्षद्युषु लोकात्मकेष्वित्यर्थः। भूर्भुवःस्वरितिलोकत्रयम्। १०. योगमाहात्म्यम्।

देवानाम् । अनेकरूपप्रतिपत्तिसम्भवाच्चैकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छति । [1]परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धाना[2]दिक्रियायोगादित्युपपद्यते । 'अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्यापरा व्याख्या—विग्रहवतामपि [4]कर्माङ्गभावचोदनास्व[5]नेका प्रतिपत्तिर्[6]दृश्यते । क्वचिदेकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद्भोज्यते । क्वचिच्चैकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्ग-भावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते । [7]तद्वदिहोद्देश्य-परित्यागात्मकत्वाद्यागस्य [8]विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युग-पत्परित्यक्ष्यन्तीति विग्रहवत्त्वेऽपि देवानां न किञ्चित्कर्मणि विरुध्यते ॥२७॥

वशित्वं च यत्रकामावसायिता ॥' (मार्कण्डेय पु०) इत्यष्टैश्वर्याणि । क्षणेन अणुर्महान् लघुर्गुरुश्च भवति योगी । अङ्गुल्या चन्द्रस्पर्शः प्राप्तिः । ईशता सृष्टिशक्तिः । प्राकाम्यं इच्छानभिघातः । वशित्वं नियमनशक्तिः । सङ्कल्पमात्रादिष्टलाभो यत्र कामावसायितेति भेदः । [9]आजानसिद्धानां जन्मना सिद्धानामित्यर्थः । फलितमाह—अनेकेति । [10]अनेकेषु कर्मस्वेकस्य प्रतिपत्तिरङ्गभावः । तस्य लोके दर्शनादिति वक्तुं [11]व्यतिरेकमाह—क्वचिदेक इति । [12]प्रकृतोपयुक्तमन्वयदृष्टान्तमाह—क्वचिच्चेति ॥२७॥

अनेक शरीर का सम्बन्ध एक साथ बतलाता है तो भला जन्मना सिद्ध देवताओं के अनेक शरीरधारण करने के सम्बन्ध में कहना ही क्या । अनेक प्रतिपत्ति जब सम्भव है, तो एक-एक देवता अनेकों रूपों में अपने को विभक्तकर एकसाथ अनेकों यज्ञ में अङ्गभाव प्राप्त कर सकते हैं । दूसरे लोग देवविग्रह को नहीं देखते तो उसका कारण है देवताओं में अन्तर्धान आदि होने की शक्ति रहती है । इसीलिए दूसरेलोग याग में आये हुए देव को नहीं देखते । "अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्" इस सूत्रांश की दूसरी व्याख्या भी होती है । शरीरधारी की भी कर्माङ्गविधिवाक्य में अनेक रूपता दिखायी पड़ती है कहीं-कहीं एक ही विग्रहवान अनेक स्थान पर एक साथ अङ्गभाव नहीं प्राप्त करता जैसे भोजन कराने वाले अनेकों व्यक्ति एक ब्राह्मण को एक साथ अपने घरों में भोजन नहीं करा सकते किन्तु कहीं-कहीं पर शरीरधारी होता हुआ एक भी व्यक्ति अनेक क्रियाओं को एक साथ अङ्गभाव प्राप्त कर लेता है । जैसे नमस्कार करने वाले अनेकों भक्तजन एक साथ एक ब्राह्मण को नमस्कार कर सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है । वैसे ही यहाँ पर देवता उद्देश्य से द्रव्यपरित्यागरूप जो याग है उसमें शरीरधारी एक देवता के उद्देश्य से अनेक स्थलों पर अनेक यजमान अपने-अपने द्रव्य

१. श्रुतिस्मृतिभ्यां युक्तिविरोधे समाहितेऽपि प्रतीतिविरोधस्य कः समाधिरित्यत आह—परैश्चेति । २. आदिना परदृष्टिप्रतिबन्धो गृह्यते । उक्तन्यायाद्युज्यते देवादीनां विग्रहवत्त्वोपगमे न विद्यास्वधिकार इति शेषः । ३. सन्निहितस्यैवाङ्गतेति न नियमोऽस्ति, असन्निहितस्यापि युगपदनेकत्र कर्मण्यङ्गभावप्रतिपत्तिरङ्गभावगमनं तस्य दर्शनादित्यर्थान्तरमाह—अनेक प्रतिपत्तेरिति । ४. क्रियानिरूपित कर्मताबोधकेषु त्वामभिवन्दे इत्यादि वाक्येषु । ५. अनेककर्तृनमस्कारादिनिरूपिताऽनेका प्रतिपत्तिरनेका कर्मता । ६. दृश्यते प्रतीयते । ७. अन्वय-व्यतिरेकसिद्धमर्थं प्रकृते योजयति—तद्वदिति । असंनिधानेऽपि देवताया विप्रकृष्टानेकार्थदृष्टिशक्तेर्युगपदनेक-त्राङ्गता सिद्धत्यर्थः । ८. कर्मण्यविरोधमुपसंहरति इति—विग्रहवत्त्वेऽपीति । ९. जन्मनैव प्राप्तातिशयानाम् । १०. व्याख्यान्तरमवतारयति—अनेकेष्वित्यादिना । ११. सोदाहरणम् । १२. अभीष्टाङ्गत्वार्थमन्वयं सदृष्टान्तं व्याचष्टे इत्यर्थः ।

(९१) शब्द इति चेन्नातः प्रभावात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधः प्रसञ्जि । शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत । कथम् ? औत्पत्तिकं हि शब्दस्यार्थेन सम्बन्धमाश्रित्य 'अनपेक्षत्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम् । इदानीं तु विग्रहवती देवताभ्युपगम्यमाना यद्यप्यैश्वर्ययोगाद्युगपदनेककर्मसम्बन्धीनि हवींषि भुञ्जीत, तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवज्जननमरणवती सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये सम्बन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति चेत् । नायमप्यस्ति विरोधः । कस्मात् ? अतः प्रभवात् । अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकं जगत्प्रभवति ।

कर्मण्यविरोधमङ्गीकृत्य शब्दप्रामाण्यविरोधमाशङ्क्य परिहरति—शब्द इति चेदिति । मा प्रसञ्जि प्रसक्तो मा भून्नामेत्यर्थः । औत्पत्तिकसूत्रे शब्दार्थयोरनाद्योः सम्बन्धस्यानादित्वाद्वेदस्य स्वार्थे मानान्तरानपेक्षत्वेन प्रामाण्यमुक्तम् । इदानीमनित्यविग्रहव्यक्त्यभ्युपगमे तत्सम्बन्धस्याप्यनित्यत्वान्मानान्तरेण व्यक्तिं ज्ञात्वा शब्दस्य सङ्केतः पुंसा कर्तव्य इति मानान्तरापेक्षत्वात्प्रामाण्यस्य विरोधः स्यादित्याह—कथमित्यादिना । किं शब्दानामनित्यतया सम्बन्धस्य कार्यत्वमापाद्यते, उतार्थानामनित्यतया । नाद्य इत्याह—नायमपीति । कर्मण्यविरोधवदित्यपेरर्थः । देवादिव्यक्तिहेतुत्वेन प्रागेव शब्दानां सत्त्वान्नानित्यत्वमिति भावः ।

का प्रक्षेप एक साथ कर ही सकते हैं। इस प्रकार देवताओं को शरीरधारी मानने पर भी कर्म में कोई विरोध नहीं आता ॥२७॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभावात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (ललिता)

कर्म में अविरोध स्वीकार कर शब्द में प्रामाण्यविरोध की आशङ्का अग्रिम सूत्र से उठाते हैं और उसका निराकरण भी करते हैं। मान लिया देवादि के शरीरधारी होने पर भी कर्म में कोई विरोध नहीं आयेगा किन्तु शब्द में तो विरोध आयेगा ही। क्यों ? क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ अनादिकालिक सम्बन्ध स्वीकार कर अनपेक्षत्वरूप प्रामाण्य वेद में सिद्ध किया है। पर अब देवता को विग्रहवान (शरीरधारी) जब आपने मान लिया, तो यद्यपि अपने ऐश्वर्य के बल से एकसाथ अनेक कर्म सम्बन्धी हवि का भोग करेंगे फिर भी शरीरधारी होने के कारण हम सबके समान ही जनन-मरण वाले देवता माने जायेंगे। ऐसी स्थिति में नित्य वैदिक शब्द का अनित्य देवविग्रह अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध रहा नहीं, जो वैदिक शब्द में प्रामाण्य बतलाया गया था उसका विरोध अब हो ही जायेगा ? पूर्वपक्षी का विरोध दिखलाना ठीक नहीं क्योंकि वैदिक शब्द से ही देवादि सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है।

१. प्रभवति अस्मादिति प्रभवः कारणं, अस्माद्वैदिकशब्दाख्यकारणादित्यर्थः । २. अनादिकालिकम् । ३. कृत्स्नम् । ४. औत्पत्तिकसूत्र इति—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (जै० १-१-५) इति । औत्पत्तिकः स्वाभाविकोऽपौरुषेय इत्यर्थः । अतस्तस्य धर्मस्य ज्ञानं ज्ञानकारणं वैदिकशब्दः । प्रत्यक्षाद्यनुपलब्धे चार्थे उपदेशः शब्दोऽव्यतिरेकोऽव्यभिचारिमानमित्यर्थः । तद्वेदवाक्यं प्रमाणं धर्मे बादरायणस्याप्यभिमतं तस्य स्वार्थे मानान्तरानपेक्षत्वादित्यर्थः । ५. प्रत्यक्षादि ।

ननु 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १-१-२) इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितं, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते । अपिच यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः, यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वे देवा मरुत इत्येतेऽर्था अनित्या एवोत्पत्तिमत्त्वात् । तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते । प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति । तस्माद्विरोध एव शब्द इति चेत् । न, गवादिशब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वदर्शनात् । नहि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात् । द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते नाकृतयः । आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः । [1]व्यक्तिना-

---

अत्र पूर्वापरविरोधं शङ्कते—नन्विति । शब्दस्य निमित्तत्वेन ब्रह्मसहकारित्वादविरोध इत्याशङ्क्य द्वितीयं कल्पमुत्थापयति—अपिचेति । अनित्यत्वं सादित्वम् । व्यक्तिरूपार्थानामनित्यतया शब्दानां सम्बन्धस्यानित्यत्वं दुर्वारं, तस्मात्पौरुषेयसम्बन्धसापेक्षत्वात्प्रामाण्यविरोध इत्यर्थः । नच व्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि घटत्वादिजातिसमवायवच्छब्दसम्बन्धोऽपि नित्यः स्यादिति वाच्यं, उभयाश्रितसम्बन्धस्यान्यतराभावे स्थित्ययोगेन दृष्टान्तासिद्धेरिति भावः । यथा गोत्वादयो गवादिशब्दवाच्यास्तथा वसुत्वाद्याकृतयो वस्वादिशब्दार्था न व्यक्तय इति परिहरति—नेत्यादिना । शब्दानां तदर्थानां जातीनां च नित्यत्वात्तत्सम्बन्धोऽपि नित्य इति प्रतिपादयति—नहीत्यादिना । [2]व्यक्तीनामानन्त्यादिति । [3]नच गोत्वावच्छेदेन व्यक्तिषु शक्तिः सुग्रहेति वाच्यं, सामान्यस्याप्रत्यासत्तित्वेन सर्वव्यक्त्युपस्थित्यभावात्, गोत्वं शक्यतावच्छेदकमिति ग्रहापेक्षया गोत्वं शक्यमिति लाघवात्, [4]निरूढाजहल्लक्षणया व्यक्तेर्लाभेना[5]नन्यलभ्यत्वाभावाच्चेति भावः । यद्वा केवलव्यक्तिषु शक्तिरत्र

शङ्का—"**जन्माद्यस्य यतः**" इस सूत्र में तो आपने ब्रह्म से जगत् का उत्पन्न होना सिद्ध किया था । अब यहां पर शब्द से जगत् की उत्पत्ति कैसे कह रहे हो । साथ ही, यदि वैदिक शब्द से जगत् का प्रभव मान लिया फिर भी इतने मात्र से शब्द में विरोध परिहार कैसे हो गया जब अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, विश्वेदेवा, उनचास मरुद्गण—ये सभी पदार्थ उत्पन्न होने के कारण अनित्य है । इनके अनित्य सिद्ध हो जाने पर इन अर्थों के वाचक वैदिक वस्वादि शब्द भी अनित्य माने ही जायेंगे, इनके अनित्यत्व का वारण कैसे हो सकेगा । देवदत्त के पुत्र उत्पन्न होने पर उसका नाम यज्ञदत्त रखा जाता है यह लोक में प्रसिद्ध है, अतः पौरुषेय सम्बन्ध सापेक्ष होने के कारण वैदिक शब्द में प्रामाण्य का विरोध आयेगा ही ? यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि गवादि शब्द, उनका अर्थ और उन दोनों का सम्बन्ध नित्य देखा गया है । गवादि व्यक्ति के उत्पत्ति-विनाशशील होने पर भी उनकी आकृति को भी उत्पत्ति एवं विनाश नहीं माना जा सकता, क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म इनकी व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, आकृति नहीं । शब्दों का सम्बन्ध आकृति के साथ हम मानते हैं

---

१. शब्दानामित्यनन्तरं सम्बन्धस्येति शेषः । २. व्यक्तिपदार्थवादे दोषमुद्भावयति—व्यक्तीनामिति । ३. शक्यार्थस्यानेकत्वेऽपि शक्यतावच्छेदकैक्यात्सुग्रहेति भावः । ४. निरूढेति—अनादितात्पर्यविषयीभूतार्थनिष्ठा लक्षणा निरूढोच्यते । तात्पर्यं वक्तुरिच्छा तस्यानादित्वं च स्वज्ञानजन्यशाब्दबोधध्वंसकालीनस्वज्ञानजन्यशाब्दबोधसामान्यकत्वम् । ५. अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ इति न्यायमाश्रित्याह—अनन्यलभ्यत्वाभावाच्चेति । लक्षणाद्यलभ्यत्वमनन्यलभ्यत्वं शब्दशक्तिमात्रगम्यत्वमिति यावत् ।

मानन्त्यात्सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः । व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते । तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम् । [1]आकृतिविशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः । [2]स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत् । ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधिरोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति । न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणाभि-

निरस्यते, अनुपपत्तिज्ञानं विनैव व्यक्तेः शब्दशक्त्यायत्तजातिज्ञानविषयत्वेनोभयशक्तेरावश्यकत्वात् । तथाच नित्यजातितादात्म्येन व्यक्तेरनादित्वात्तत्सम्बन्धोऽप्यनादिः, सत्कार्यवादात् । अत एव वाच्यवृत्तौ तत्त्वमस्यादिवाक्ये भागलक्षणोक्ता युज्यते, केवल[4]सामान्यस्य वाच्यत्वेऽखण्डार्थस्य वाच्यैकदेशत्वाभावात् । 'अतः प्रभवात्' इति सूत्रस्वारस्याच्च केवलव्यक्तिशक्ति[5]निरास इति गम्यते । केवलव्यक्तिवचनाः खलु डित्थादिशब्दा अर्थानन्तरभाविनः [6]साङ्केतिका गवादिशब्दास्तु व्यक्तिप्रभवहेतुत्वेन [7]प्रागेव सन्तीति न व्यक्तिमात्रवचनाः [8]साङ्केतिकाः, किन्तु [9]स्थूलसूक्ष्मभावेनानुस्यूतव्यक्त्यविनाभूतसामान्यवचना इति मन्तव्यम् । न चेन्द्रादिव्यक्तेरेकत्वेन जात्यभावादाकाशशब्दवदिन्द्रचन्द्रादिशब्दाः केवलव्यक्तिवचना इति साम्प्रतम् । अतीतानागतव्यक्तिभेदेन जात्युपपत्तेरित्यलं प्रपञ्चेन । दृष्टान्तमुपसंहृत्य दार्ष्टान्तिकमाह—व्यक्तिष्वित्यादिना । आकृतिर्जातिः । ननु [10]का सा व्यक्तिः, यदनुगतेन्द्रत्वादिजातिः शब्दार्थः स्यादित्यत आह—आकृतिविशेषस्त्विति । 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादि[11]रथ इत्यर्थः । इन्द्रादिशब्दानां जातिरिन्द्रादिषु प्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्त्वा उपाधिनिमित्तमाह—स्थानेति । व्यक्तिप्रलयेऽपि स्थानस्य स्थायित्वाच्छब्दार्थसम्बन्धनित्यतेत्यत आह—ततश्चेति । उक्तं पूर्वापर-

व्यक्ति के साथ नहीं, क्योंकि व्यक्ति अनन्त है, अनन्त व्यक्ति के साथ शक्तिग्रह हो भी नहीं सकता । अतः उत्पत्तिशील व्यक्तियों में भी आकृति तो नित्य ही है । इसलिए गवादि शब्द में पूर्वोक्त विरोध सिद्ध नहीं होता । ऐसा ही देवादि व्यक्ति को उत्पत्तिशील मान लेने पर भी आकृति के नित्य होने से वैदिक वस्वादि शब्दों में कोई विरोध नहीं दिखा सकते । देवादियों की आकृति विशेष मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास आदि के आधार पर मानना चाहिए । स्थान विशेष सम्बन्ध निमित्त को लेकर उन स्थानापन्न व्यक्ति के लिए इन्द्रादि शब्द का प्रयोग वैसे ही होता है जैसे सेनाध्यक्ष पद पर आसीन व्यक्ति को सेनापति शब्द से कहते हैं, उस व्यक्ति के मर जाने पर भी दूसरा व्यक्ति जब उस सेनाध्यक्ष पद पर आता है तो उसे भी सेनापति शब्द से व्यवहार करते हैं । इसलिए जो जो इन्द्रादि स्थान पर आरूढ़ होता है वह सब इन्द्रादि शब्द से कहा जाता है । इसमें विरोध है ही नहीं । पहले जगत् को ब्रह्म से उत्पन्न होना कहा था वह उपादानकारण के अभिप्राय से पर शब्द को जगत् का उपादानकारण हम नहीं मानते हैं जिससे कि पूर्वापर में विरोध दिखला सकें । फिर

१. आकृतिविशेषस्त्विति—सहस्राक्षत्वाद्यभिव्यंग्यो जातिविशेष इन्द्रत्वादिरित्यर्थः । २. आदिनेतिहासपुराणलोका ग्राह्याः सहस्राक्षो गोत्राभिद्वज्रबाहुरित्यादिमन्त्रः । ३. दिक्कालाधिपतित्वादिरूपाधिविशेष इत्यर्थः । ४ तत्र सामान्यशब्देन मायाऽविद्येति गृह्यते । ५. व्यक्तिषु शक्तिनिरास इत्यर्थः । ६. आधुनिका इति शेषः । ७. व्यक्तिप्रभवादिति शेषः । ८. आधुनिकेति शेषा आपित्यनादिसंकेत—वत इति भावः । ९. सर्गकाले स्थूलभावेन प्रलयकाले सूक्ष्मभावेन स्वकारणे शब्देऽनुस्यूताया व्यक्तिस्तदविनाभूतं यत्सामान्यं तद्वचना इति पंक्त्यर्थः : १०. का सेति—अत्र किंशब्द आक्षेपे तथा च जातिसाधकव्यक्तेरभावाद्देवादिष्वाकृत्यभावः इति पूर्वपक्षः । ११. अयमर्थवादः आदिनेन्द्रप्रजापतिसंवादादिरूपः ।

प्रायेणोच्यते । कथं तर्हि ? स्थिते वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थसम्बन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्य[1]ार्थव्यक्तिनिष्पत्तिरतः प्रभव इत्युच्यते । कथं पुनरवगम्यते शब्दात्प्रभवति जगदिति ? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । प्रत्यक्षं हि श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्, अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात् । ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः । 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्या: प्रजाः' इति श्रुतिः । तथान्यत्रापि 'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० १-२-४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते । स्मृतिरपि—'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा । [4]आदौ वेदमयी [5]दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥' इति । [6]उत्सर्गोऽप्ययं वाचः

विरोधं परिहरति—नचेति । शब्दो निमित्तमित्यविरोधं मत्वा सूत्रशेषमवतारयति—कथं पुनरिति । स्मृत्या स्वप्रामाण्यार्थं मूलश्रुतिरनुमीयत इत्यनुमानं स्मृतिः । 'एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः । विश्वान्यभिसौभगा ।' (छा० ब्रा०) इत्येतन्मन्त्रस्थैः पदैः स्मृत्वा ब्रह्मा देवादीनसृजत् । तत्रैत इति पदं सर्वनामत्वाद्देवानां स्मारकम् । असृग्रुधिरं तत्प्रधाने देहे रमन्त इति [7]असृग्रा मनुष्याः । चन्द्रस्थानां पितॄणां इन्दुशब्दः स्मारकः । पवित्रं सोमं स्वान्तस्तिरस्कुर्वतां [8]ग्रहाणां तिरःपवि[9]त्रशब्दः । ऋचोऽश्नुवतां [10]स्तोत्राणां गीतिरूपाणामाशु[11]शब्दः । 'ऋच्यध्यूढं साम' इति श्रुतेः । स्तोत्रानन्तरं [12]प्रयोगं [13]विशतां शस्त्राणां विश्व[14]शब्दः । सर्वत्र सौभाग्ययुक्तानामभिसौभगशब्दः स्मारक इति छन्दोगब्राह्मणवाक्यार्थः । सः प्रजापतिर्मनसा वाचं त्रयीं मिथुनं समभवत् मनो वाग्रूप मियुनं सम्भावितवान् । मनसा त्रयीप्रकाशितां सृष्टिमालोचितवानित्यर्थः । 'रश्मिरित्येवादित्यमसृजत' इत्यादिश्रुतिरादि-

क्या मानते हो ? वाचकरूप से शब्द नित्य बना रहता है जो नित्यार्थ सम्बन्धी है उस स्थिति में शब्द व्यवहार के योग्य अर्थाभिव्यक्ति की निष्पत्ति हम मानते हैं। इसीलिए शब्द से जगत् का प्रभव कहा गया है। शब्द से जगत् की उत्पत्ति कैसे जानी जाती है ? श्रुति एवं स्मृति प्रमाण के आधार पर हम ऐसा मानते हैं। श्रुति अपने में प्रामाण्य सिद्धि के लिए किसी की अपेक्षा नहीं करती, इसीलिए उसे प्रत्यक्ष शब्द से कहते हैं और स्मृति अपने में प्रामाण्य के लिए अन्य की अपेक्षा रखती है, इसीलिए स्मृति को अनुमान शब्द से कहते हैं। श्रुति और स्मृति दोनों ही शब्दपूर्वक सृष्टि बतलाती हैं। **'एते इति'** इस सर्वनाम शब्द को स्मरण कर प्रजापति ने देवताओं को बनाया, रुधिर प्रधान देह में रमण करने वाले मनुष्य हैं उनकी रचना प्रजापति ने 'असृग्रम्' शब्द को स्मरण कर किया। चन्द्रलोक में स्थित पितरों का स्मारक इन्दु शब्द है, उसका स्मरण कर पितरों को बनाया। यज्ञपात्ररूप ग्रहों का स्मारक तिरः पवित्र शब्द है उसे स्मरण कर प्रजापति ने ग्रहों को बनाया। ऋचाओं में व्याप्त गीतिरूप स्तोत्रों का स्मारक आशु शब्द है, उसे स्मरण कर प्रजापति ने स्तोत्रों

१. शब्देन व्यवहारयोग्यापाऽर्थरूपा व्यक्तिस्तस्या निष्पत्ति रित्यथः। २. आम्नायप्रदेशे । ३. रूपसर्गात्प्रथमे । ४. संप्रदायातिरकेणाप्राप्तिर्दिव्यत्वम् । ५. अस्त्वेवं शब्द सृष्टिस्तथाऽपिकथ तत्पूर्वार्थसृष्टिस्तत्राह—यत इति । ६. उत्सृष्टत्वोक्त्या पौरुषेयत्वमाशङ्क्याह—उत्सर्गोऽपीति । ७. असृग्रपदं मनुष्यस्मारकम् । ८. यज्ञपात्राणाम् । ९. स्मारक इति शेषः । १०. व्याप्तानाम् । ११. स्मारक इति शेष । १२. प्रयोगंविधिम । १३. प्रविशताम् । १४. स्मारकः इति शेषः ।

सम्प्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः, 'अनादिनिधनाया अन्यादृशस्योत्सर्गस्यासम्भवात् । तथा 'नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥' (मनु० १-२१) इति । 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥" इति च । अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान्ससर्जेति गम्यते । तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरन्स भूमिमसृजत' (तै० ब्रा० २-२-४-२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान्सृष्टान्दर्शयति ॥

किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते ? स्फोटमित्याह । वर्णपक्षे हि

शब्दार्थः । सम्प्रदायो गुरुशिष्यपरम्पराध्ययनम् । संस्था अवस्थाः । या प्रजापतिसृष्टिः सा शब्दपूर्विका, सृष्टित्वात्, प्रत्यक्षघटादिवदिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यामित्यस्यार्थान्तरमाह—अपिचेति ।

अतः प्रभवत्वप्रसङ्गाच्छब्दस्वरूपं वक्तुमुक्तमाक्षिपति—किमात्मकमिति । वर्णरूपं तदतिरिक्तस्फोटरूपं चेति किंशब्दार्थः । तत्र वर्णानामनित्यत्वात्स्फोटस्य चासत्त्वान्न जगद्धेतुत्वमित्याक्षेपे द्वितीयपक्षं वैयाकरणो गृह्णाति—स्फोटमिति । स्फुटयते वर्णैर्व्यज्यत इति स्फोटो वर्णव्यङ्ग्योऽर्थस्य व्यञ्जको गवादिशब्दो नित्यस्तमभिप्रेत्येदमुच्यते इति पूर्वेणान्वयः । स एवाद्यपक्षं दूषयति—वर्णेति ।

की रचना की और तत्पश्चात् प्रयोग में उपयुक्त होने वाले शास्त्रों का स्मारक विश्व शब्द है, उसे स्मरण कर प्रजापति ने शास्त्र की रचना की । सौभाग्ययुक्त पदार्थ का स्मारक अभिसौभग शब्द है उसे स्मरणकर अन्य प्रजाओं को प्रजापति ने रचा, ऐसा छान्दोग्य ब्राह्मण श्रुति का अर्थ है । वैसे ही अन्यत्र भी कहा है 'कि उस प्रजापति ने मन से वेदत्रयी का विचार किया और तत्पश्चात् वेद की रचनाकर डाली' । तात्पर्य यह है कि श्रुति में जगह-जगह शब्दपूर्वक सृष्टि सुनी जाती है । उसी प्रकार स्मृति भी है 'आदि-अन्त से रहित, नित्यवाणी की रचना स्वयंभू ब्रह्मा ने की, वह वाणी वेदरूपा दिव्यवाणी सर्गारम्भ में प्रकट हुई, जिससे सारी प्रवृत्तियाँ हुई ।' यहाँ पर वाणी का उत्पन्न होना भी केवल सम्प्रदाय प्रवर्तना रूप ही समझना चाहिए । क्योंकि आदि-अन्त से शून्य नित्य वेदवाणी का उत्सर्ग अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है । गुरु-शिष्य परम्परा अध्ययन को सम्प्रदाय कहते हैं, इस क्रम से वेद का प्राकाट्य होना ही नित्य वेद का उत्सर्ग माना जाता है । 'प्राणियों तथा कर्मों के नामरूप वेद शब्द से ही प्रकट हुए, इसी को महेश्वर ने निर्माण किया' ऐसा कहा जाता है । सभी वस्तुओं के नाम और कर्म पृथक्-पृथक् वेद शब्द से ही सर्गारम्भ में बनाये गये । संस्था शब्द का अर्थ अवस्था है जिसकी रचना भी वेद शब्द से ही हुई है । आजकल भी जब किसी अभीष्ट अर्थ को कोई बनाना चाहता है तब उसके वाचक शब्द को पहले स्मरण करता है तत्पश्चात् अर्थ का अनुष्ठान करता है, यह हम सबको भी प्रत्यक्ष है । ऐसे ही जगत् स्रष्टा प्रजापति की सृष्टि से पूर्व उसके मन में वैदिक शब्द ही प्रकट हुए थे, तत्पश्चात् उन शब्दों में अनुगत अर्थ को उसने बनाया, ऐसा जान पड़ता है । भूः इस शब्द का उच्चारण कर उस प्रजापति

---

१. उत्सृष्टिरेव किन्न स्यात्तत्राह-अनादीति । २. स भूरिति व्याहरन् भूमिमसृजतेत्यादिवाक्यमादिशब्दार्थः ।

तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यनुपपन्नं स्यात् । उत्पन्नप्रध्वंसिनश्च वर्णाः, प्रत्युच्चारणमन्यथा चान्यथा च प्रतीयमानत्वात् । तथाहि—अदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते, देवदत्तोऽयमधीते यज्ञदत्तोऽयमधीते इति । न चायं वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो मिथ्याज्ञानं, बाधकप्रत्ययाभावात् । नच वर्णेभ्योऽर्थावगतिर्युक्ता । न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत्, व्यभिचारात् । नच वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवत्त्वाद्वर्णानाम् । पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहि-

सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञया वर्णनित्यत्वसिद्धेर्नानुपपत्तिरित्यत आह—उत्पन्नेति । तारत्वमन्द्रत्वादिविरुद्धधर्मवत्त्वेन तारो गकारो मन्द्रो गकार इति प्रतीयमानगकारस्य भेदानुमानात् प्रत्यभिज्ञा गत्वजातिविषयेत्यर्थः । ननु विरुद्धधर्मज्ञानं ध्वन्युपाधिकं भ्रम इत्यत आह—नचेति । तथा च वर्णानामनित्यत्वान्न जगद्धेतुत्वमिति भावः । किञ्च तेषामर्थबोधकत्वायोगात्स्फोटोऽङ्गीकार्य इत्याह—न च वर्णेभ्य इत्यादिना । व्यभिचारादेकस्माद्वर्णादर्थप्रतीत्यदर्शनात्, वर्णान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः । तर्हि वर्णानां समुदायो बोधक इत्याशङ्क्य क्षणिकानां [1]स नास्तीत्याह—नचेति ।

ने भूमि को बनाया इत्यादि श्रुति प्रजापति के मन में प्रादुर्भूत भूरादि शब्दों से ही भूरादि लोकों की सृष्टि बतलाती है ।

आपने शब्द से जगत् का उत्पन्न होना जो कहा है तो इस स्थिति में शब्द स्वरूप जानने की आकांक्षा उत्पन्न होती है कि उस शब्द का क्या स्वरूप है वह शब्द वर्णरूप है अथवा उससे भिन्न स्फोटरूप है । वर्ण अनित्य है और स्फोट का तो अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है फिर भला वह जगत् का कारण कैसे बन सकेगा ? वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार वह शब्द स्फोट ही है क्योंकि वर्णपक्ष में वर्ण उत्पत्ति और विनाशशील होने से नित्य नहीं है फिर भला नित्य शब्द से देवादि व्यक्ति का प्रभव कैसे सिद्ध होगा अर्थात् नहीं हो सकता । वर्णों की उत्पत्ति और नाश इस प्रकार जाना जाता है कि प्रति उच्चारण में वर्ण भिन्न-भिन्न प्रकार से सुनाई पड़ते हैं, कभी तारत्व कभी मन्दत्व आदि विरुद्ध धर्म उसमें प्रतीत होते हैं । ऐसे विरुद्ध धर्म के आश्रय रूप में वर्ण को भी भिन्न-भिन्न ही मानना पड़ेगा और जो "सोऽयं गकारः" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है वह तो गत्व जाति को लेकर होती है । वर्णों में भेद इसलिए भी जान पड़ता है कि अध्ययन ध्वनि सुनने से ही इसके उच्चारण करने वाले पुरुष विशेष का निश्चय हो जाता है कि यह देवदत्त बोलता है और वह यज्ञदत्त बोलता है । ऐसी स्थिति में वर्णों को नित्य नहीं माना जा सकता और न एक माना जा सकता है । यदि कहो कि उक्त रीति से वर्ण विषयक अन्यथात्व प्रतीति भ्रम है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसका कोई बाधक प्रत्यय नहीं है । यदि इस प्रतीति का बाधक कोई ज्ञान होता तो इसे भ्रम माना जा सकता था । साथ ही वर्णों से अर्थ का ज्ञान भी नहीं हो सकता क्योंकि व्यभिचार होने के कारण एक-एक वर्ण अर्थ का बोध नहीं करा सकते और न वर्ण समुदाय से ही अर्थज्ञान हो सकता है क्योंकि वर्णों के उच्चारण एवं श्रवण में क्रम रहता है, इसीलिए उनका समुदाय बन ही नहीं सकता । पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कार होता है, उस संस्कार से सहकृत अन्तिम वर्ण अर्थ का बोध करायेगा ऐसा यदि कहो तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि शब्द शक्तिग्रह की अपेक्षा रखता है और वह श्रोत्र के द्वारा ज्ञात होने पर अथवा लिपि द्वारा स्वयं प्रतीत होने पर अर्थ का बोध करायेगा, जैसे धूमन्दर्शन वह्नि का निश्चायक तब होता है जब उसमें व्याप्ति का स्मरण

१. समुदायः ।

तोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति यद्युच्येत । तन्न । सम्बन्धग्रहणापेक्षो हि शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेद्धूमादिवत् । नच पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित-संस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति, अप्रत्यक्षत्वात्संस्काराणाम् । [1]कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत् । न, संस्कारकार्यस्यापि स्मरणस्य क्रमवर्तित्वात् । तस्मात्स्फोट एव शब्दः । स चैकैकवर्णप्रत्ययाहित-

---

वर्णानां स्वतः साहित्याभावेऽपि संस्कारलक्षणाऽपूर्वद्वारा साहित्यम[2]ाग्नेयादियागानामिवेति शङ्कते—पूर्वेति । किमयं संस्कारो वर्णजनितोऽपूर्वाख्यः कश्चित्, उत वर्णानुभवजनितो भावनाख्यः । नाद्यः, मानाभावात् । किञ्चायमज्ञातो ज्ञातो वाऽर्थधीहेतुः । नाद्य इत्याह—तन्नेति । संस्कारसहितः शब्दो ज्ञात एवार्थधीहेतुः, सम्बन्धग्रहणमपेक्ष्य बोधकत्वात्, धूमादिवदित्यर्थः । द्वितीये किं प्रत्यक्षेण ज्ञात उत कार्यलिङ्गेन । नाद्य इत्याह—नचेति । द्वितीयं शङ्कते—कार्येति । कार्यमर्थधीस्तस्यां जातायां संस्कारप्रत्ययः, तस्मिञ्जाते सा-इति परस्पराश्रयेण दूषयति—नेति । पदार्थस्मरणस्यापि पदज्ञानानन्तरभावित्वात्तेन संस्कारसहितान्त्यवर्णात्मकपदस्य ज्ञानं न युक्तमित्यक्षरार्थः । अपिशब्दः परस्पराश्रयद्योतनार्थः । एतेन भावनासंस्कारपक्षोऽपि निरस्तः । तस्य वर्णस्मृतिमात्रहेतुत्वेनार्थ-धीहेतुत्वायोगात् । न चान्त्यवर्णसाहित्यादर्थधीहेतुत्वं, केवलसंस्कारस्य तु वर्णस्मृतिमात्रहेतुत्वमिति वाच्यम् । अर्थधीपूर्वकाले भावनाया ज्ञानाभावेनार्थधीहेतुत्वायोगात् । न च वर्णस्मरणेनानुमिता सा[3] अन्त्यवर्णसहितार्थधीहेतुरिति वाच्यम् । तत्कार्यस्य क्रमिकस्य वर्णस्मरणस्याप्यन्त्यवर्णानुभवानन्तर-भावित्वेन तेनानुमितभावनानामन्त्यवर्णसाहित्याभावादिति भावः । वर्णानामर्थबोधकत्वासम्भवे फलमाह—तस्मादिति । स्फोटेऽपि किं मानमित्याशङ्क्यैकं पदमिति प्रत्यक्षं प्रमाणमित्याह—स चेति ।

और पक्षधर्मता ज्ञान होता है। इस रूप में जाना गया धूम जैसे वह्नि का निश्चायक होता है, वैसे ही शक्तिग्रह की अपेक्षा रखने वाला शब्द जब स्वयं अवगत होता है, तब वह अर्थ का बोध कराता है। पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहित अन्त्यवर्ण का ज्ञान भी नहीं होता, क्योंकि इसमें अन्त्यवर्ण विशेष्य है और संस्कार विशेषण है। जब विशेषणरूप संस्कार का प्रत्यक्ष नहीं होता तब संस्कार विशिष्ट अन्त्यवर्ण का प्रत्यक्ष कैसे माना जा सकता है।

शङ्का—संस्कार का कार्य स्मरण है, स्मरणरूप कार्य को देखकर संस्कार का ज्ञान होगा और इस प्रकार अवगत संस्कार के सहित अन्तिमवर्ण अर्थ का बोध करा देगा ? समाधान—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि संस्कार का कार्यस्मरण भी क्रमशः होगा, अतः स्फोट ही शब्द है जो अर्थ का बोध कराता है। वह स्फोट एक-एक वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्काररूप बीज में रहता है। जो बीज अन्तिम वर्ण के ज्ञान से उत्पन्न परिपाकयुक्त है और वह सदा चित्त में रहता है। उस चित्त में रहने वाला स्फोट एक प्रत्यय को विषय करता है, तत्पश्चात् वह झटिति अपने अर्थ का ज्ञान करा देता है। यदि कहो कि यह प्रतीति भी वर्ण को विषय करने वाली स्मृति है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वर्ण अनेक

---

१. वर्णास्मृतिरूपा अर्थधीः ज्ञापितैः । २. आग्नेयादियागानामिवेति—यदाग्नेयष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवतीति आग्नेययागो विहितः । तावभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छदिति अग्निषोमीययागो विहितः । उपांशुयागः तावदभूतांमग्नीषोमावाज्यस्यैनावुपांशुपौर्णमास्यां यजेतेति वाक्यात्पौर्णमास्यां विहितः एतानि पौर्णमास्यायां प्रधानानि । तथा ऐन्द्रं दध्यमावास्यां ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायामिति वाक्यविहितो सान्नाय्य यागौ । ३. भावना ।

संस्कारबीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते। न [1]चायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः। वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः। [2]तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम्। भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात्। [3]तस्मान्नित्याच्छब्दात्स्फोटरूपादभिधायकात्क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति।

'[4]वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवानु[5]पवर्षः। नन्[6]त्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तम्। [7]तन्न, त एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विवेति चेत्। न, [8]प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमा-

---

यथा रत्नतत्त्वं बहुभिश्चाक्षुषप्रत्ययैः स्फुटं भासते तथा गवादिपदस्फोटो गकाराद्येकैकवर्ण[10]कृतप्रत्ययैः [11]स्फोटविषयैराहिताः [12]संस्कारा बीजं यस्मिन् चित्ते तस्मिन् अन्त्यवर्णकृतप्रत्ययेन जनितः [13]परिपाकोऽन्त्यः संस्कारो यस्मिंस्तस्मिन्प्रत्ययिनि चित्ते एकं गौरितिपदमिति प्रत्ययः प्रत्यक्ष[14]स्तद्विषयतया स्पष्टमवभासत इत्यर्थः। [15]अनेन वर्णान्वयव्यतिरेकयोः स्फोटज्ञानेऽन्यथासिद्धिः। न चैक[16]स्माद्वर्णात्सम्यक् स्फोटाभिव्यक्तिः येन वर्णान्तरवैयर्थ्यम्, किन्तु रत्नवद्बहुप्रत्ययसंस्कृते चित्ते सम्यक्स्फोटाभिव्यक्तिरित्युक्तंभवति। नन्वेकं पदमेकं वाक्यमिति प्रत्ययः पदवाक्यस्फोटयोर्न प्रमाणं, तस्य वर्णसमूहालम्बनस्मृतित्वादित्याशङ्क्य निषेधति—न चेति। स्फोटस्य जगद्धेतुत्वार्थं नित्यत्वमाह—तस्य चेति। ननु तदेवेदं पदमिति प्रत्यभिज्ञा भ्रमः, उदात्तादिभेदप्रत्ययादित्यत आह—भेदेति।

आचार्यसम्प्रदायोक्तिपूर्वकं सिद्धान्तयति–वर्णा एवेति। वर्णातिरिक्तस्फोटात्मकशब्दस्यानुभवानारोहादित्यर्थः। सादृश्यदोषादियं भ्रान्तिरिति शङ्कते—सादृश्यादिति। वपनानन्तरं त एवेमे केशा इति

हैं वे अनेक वर्ण एक प्रतीति के विषय हो ही नहीं सकते। **"सोऽयं गकारो मयाद्वि उच्चारितः"** इस प्रतीति में स्फोट की ही प्रत्यभिज्ञा होती है जो नित्य है। यहाँ पर आपने जो भेद प्रतीति कही थी वह वर्ण को विषय करती है, स्फोट को नहीं। अतः अर्थवाचक स्फोटरूप शब्द नित्य है, उसीसे क्रिया, कारक एवं फलरूप वाच्य जगत् प्रकट होता है।

यहाँ तक स्फोटवादी के पूर्वपक्ष होने पर अब सिद्धान्तपक्षी वर्णवादी कहता है, जैमिनी सूत्र पर वृत्ति लिखने वाले आचार्य उपवर्ष ने कहा है कि वर्ण ही शब्द है। यद्यपि वर्ण को उत्पत्ति एवं प्रध्वंसशील पूर्वपक्षी ने कहा था किन्तु उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'वे ही वर्ण हैं' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। स्फोटवादी कहता है कि जैसे केशादि में सादृश्य को लेकर प्रत्यभिज्ञा होती है ऐसे ही सादृश्य के कारण वर्णों में भी प्रत्यभिज्ञा होती है। पर स्फोटवादी का यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि **"सोऽयं गकारः"** इस प्रत्यभिज्ञा का

---

१. अनेकेष्वेकत्वबुद्धे भ्रांतित्वात्पदादिधीगोचरस्फोट एवेत्यर्थः। २. तदेवेदं पदं तदेवेदं वाक्यमिति प्रत्यभिज्ञाविषयत्वादित्यर्थः। ३. स्फोटवादमुपसंहरति—तस्मादिति। ४. गौरित्युक्ते गकारौकारविसर्जनीयातिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्य परतन्त्रस्य वा श्रोत्रेणाग्रहणादुपवर्षाचार्यो वर्णानामेव तु शब्दत्वं पश्यतीत्यर्थः। ५. जै० सू० वृत्तिकारः। ६. तेषां क्षणिकत्वान्न जगद्धेतुतेत्युक्तं स्मारयति—नन्विति। ७. प्रत्यभिज्ञया स्थायित्वसिद्धेर्न क्षणिकतेत्याह—तन्नेति। ८. यद्यपि लूनप्ररूढकेशेषु तएवेति प्रत्यभिज्ञानं भेदग्राहकेण प्रमाणेन बाध्यते, तथापि वर्णप्रत्यभिज्ञानेन तादृशं बाधकम्भेदग्राहिप्रामाणं नास्तीति। ९. स्पष्टावभास इत्युत्तरेणास्यान्वयः। १०. कार्यैः। ११. स्फोटो विषयो येषां तैः। १२ स्थापितं संस्कारात्मकं बीजं यस्मिन। १३. परिपाको नाम यदनंतरमेव स्फुटं स्फोटाभिव्यक्तिर्भवति तादृशं प्रत्ययिनश्चेतसोऽवस्थाविशेष इति ब्रह्मविद्या। १४. एकः प्रत्ययः। १५. एकैकवर्णस्यारम्भबीजान्तेति विशेषणेन। १६. अन्त्यवर्णस्यादिद्वितीयविशेषणस्य फलमाह—न चैकेति।

णान्तरेण बाधानुपपत्तेः । प्रत्यभिज्ञानमाकृतिनिमित्तमिति चेत् । न, व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात् । [1]यदि हि प्रत्युच्चारणं गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तयः प्रतीयेरंस्तत आकृतिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात् । नत्वेतदस्ति । [2]वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते । [3]द्विर्गोशब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर्न तु द्वौ गोशब्दाविति । ननु वर्णा अप्युच्चारण-भेदेन भिन्नाः प्रतियन्ते देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययनध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम् । अत्र[4]ाभिधीयते—सति वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने संयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वाद्वर्णा-नामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः । [5]अपिच वर्णव्यक्तिभेदवादिनापि प्रत्यभिज्ञानसिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः । [6]तासु च

धीर्भ्रान्तिरिति युक्तम्, भेदधीविरोधात् । स एवायं वर्ण इति धीस्तु प्रमैव, बाधकाभावादित्याह—नेति । गोत्वादिप्रत्यभिज्ञावद्वर्णेषु प्रत्यभिज्ञा गत्वादिविषयेति शङ्कते—प्रत्यभिज्ञानमिति । व्यक्तिभेदे सिद्धे प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वं स्यात्, यत्वया पीतं जलं तदेव मया पीतमित्यादौ, न तथेह व्यक्तिभेदः सिद्ध इति परिहरति—न, व्यक्तीति । न त्वेतदिति । व्यक्त्यन्यत्वज्ञानमित्यर्थः । उदा-त्तत्वादिविरुद्धधर्मत्वाद्व्यक्तिभेदोऽनुमानसिद्ध इत्यनुवदति—नन्विति । भेदप्रत्ययस्य कुम्भकूपाकाश-भेदप्रत्ययवदौपाधिकभेदविषयत्वादन्यथासिद्धरनन्यथासिद्धव्यक्त्यैक्यप्रत्यभिज्ञया निरपेक्षस्वरूपा-लम्बनया बाध इत्युत्तरमाह—अत्रेति । ताल्वादिदेशैः कोष्ठस्थवायुसंयोगविभागाभ्यां विचित्राभ्यां व्यङ्ग्यत्वाद्वर्णेषु वैचित्र्यधीरित्यर्थः । कल्पनागौरवाच्च वर्णेषु स्वतो भेदो नास्तीत्याह—अपि चेति ।

किसी प्रमाण से बाध नहीं होता । स्फोटवादी—प्रत्यभिज्ञा आकृति निमित्त को लेकर होती है । वर्णवादी—यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है । यदि प्रति-उच्चारण गवादि व्यक्ति के समान उससे भिन्न वर्ण व्यक्ति की प्रतीति होती तो आकृति निमित्तक प्रत्यभिज्ञा मानी जाती किन्तु ऐसा कुछ नहीं होता । वर्ण व्यक्ति की ही तो प्रतिउच्चारण में प्रत्यभिज्ञा दीखती है । हमने दो बार गो शब्द का उच्चारण किया ऐसा बोध तो होता है किन्तु दो गो शब्द का उच्चारण किया ऐसा बोध नहीं होता । स्फोटवादी—वर्ण भी उच्चारण भेद से भिन्न प्रतीत होते हैं । देवदत्त एवं यज्ञदत्त के अध्ययन ध्वनि सुनने से दोनों में भेद प्रतीत होता है, ऐसा हम पहले कह आये हैं ।

वर्णवादी—यहाँ पर हम ऐसा कहेंगे कि वर्णविषयक प्रत्यभिज्ञान निश्चित् हो जाने पर संयोग एवं विभाग द्वारा वर्णों में अभिव्यंजत्व आ जाने के कारण उनके अभिव्यंजक की विचित्रता निमित्तक वर्णविषयकविचित्रता प्रतीत होती है, वर्णस्वरूप के वैचित्र्य को लेकर नहीं ।

इसके अतिरिक्त वर्णव्यक्ति भेदवादी ने भी प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि के लिए वर्ण की आकृति की

१ संग्रह वाक्यं विवृणोति—यदीति । २. युक्तितो व्यक्तिविषया प्रत्यभिज्ञा इत्युक्ता प्रतीतितोऽपि तथेत्याह—वर्णव्यक्तय इति । ३. हिशब्दसूचितमनुभवमभिनयति—द्विर्गोशब्द इति । ४. भेदप्रत्ययेऽपि प्रत्यभिज्ञाया निरपेक्षस्वरूपविषयत्वेन प्राबल्याद्भेदप्रत्ययस्य च सापेक्षभेदविषयत्वेन दौर्बल्यादेकस्यामाकाशव्यक्तौ कुम्भाकाशः कूपाकाश इतिवत्व्यञ्जकवायुसंयोगविभागवैचित्र्याद्वर्णेषु वैचित्र्यधीर्न स्वत इत्याह—अत्रेति । ५. ननु वर्णेषु भेद प्रत्ययोऽपि प्रतीयते प्रत्यभिज्ञात्वमपि च विद्यते तत्र प्रत्यभिज्ञा स्वाभाविकी भेदप्रत्यय एवौपाधिक इत्यत्र किन्नियामकमित्यत आह अपि चेति । ६. वायुसंयोगादि ।

परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम् । [1]तद्वरं वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः स्वरूपनिमित्तं च प्रत्यभिज्ञानमिति कल्पनालाघवम् । एष एव च वर्णविषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधकः प्रत्ययो यत्प्रत्यभिज्ञानम् । कथं तह्येकस्मिन्काले बहूनामुच्चारयतामेक एव सन्गकारो युगपदनेकरूपः स्यात् । उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च सानुनासिकश्च निरनुनासिकश्चेति । [2]अथवा ध्वनिकृतोऽयं प्रत्ययभेदो न वर्णकृत इत्यदोषः । कः पुनरयं ध्वनिर्नाम ? यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति । प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति । [3]तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः, वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । एवं च सति सालम्बना

अनन्ताः गकारादिव्यक्तयस्तासु प्रत्यभिज्ञानार्थं गत्वादिजातयस्तासु चोदात्तत्वादिभेदस्यौपाधिकत्वमिति कल्पनाद्वरं वर्णव्यक्तिभेदमात्रस्यौपाधिकत्वकल्पनमिति व्यक्त्यानन्त्यस्य जातीनां च कल्पनमयुक्तमित्यर्थः । ननु भेदस्य बाधकाभावान्नौपाधिकत्वमित्यत आह—एष इति । अस्तु तर्हि प्रत्ययद्वयप्रामाण्याय भेदाभेदयोः सत्यत्वं, तत्राह—कथं तर्हीति । उभयोरेकत्रविरोधाद्भेद औपाधिक एवेत्यर्थः । ननु वायुसंयोगादेरतीन्द्रियत्वान्न तद्गतवैचित्र्यस्योदात्तत्वादेर्वर्णेषु प्रत्यक्षारोपः सम्भवतीत्यरुचिं वदिष्यन्स्वमतमाह—अथवेति । ध्वनिधर्मा उदात्तत्वादयो ध्वन्यभेदाध्यासाद्वर्णेषु भान्तीत्यर्थः । प्रश्नपूर्वकं ध्वनिस्वरूपमाह—क इति । अवतरति, स ध्वनिरिति शेषः । वर्णातिरिक्तः शब्दः ध्वनिरित्यर्थः । समीपं गतस्य पुंसस्तारत्वमन्दत्वादिधर्मान्स्वगतान्वर्णेषु स एवारोपयतीत्याह—प्रत्यासीदतश्चेति । आदिपदं विवृणोति—तदिति । नन्वव्यक्तवर्ण एव ध्वनिर्नातिरिक्त इत्यत आह—वर्णानामिति । प्रत्युच्चारणं वर्णा अनुवर्तन्ते ध्वनिर्व्यावर्तत इति भेद इत्यर्थः । अन्यथाऽवाचिके जपे वर्णेष्वव्यक्तेषु ध्वनिबुद्धिः स्यात्, दुन्दुभ्यादिध्वनौ शब्दत्वमात्रेण गृह्यमाणे अव्यक्तो वर्ण इति धीः स्यादिति मन्तव्यम् । एवं ध्वन्युपाधिकत्वे स्वमते गुणं वदन्वायूपाधिकत्वे पूर्वोक्तामरुचिं दर्शयति—एवं चेत्यादिना ।

कल्पना की है उनमें वायुसंयोगादि उपाधि के कारण भेद प्रतीत होता है ऐसा वे मानेंगे तो उसकी अपेक्षा वर्णव्यक्ति में ही वायुसंयोगादि उपाधि के कारण भेद भासता है और स्वरूपनिमित्त के कारण प्रत्यभिज्ञा होती है ऐसी कल्पना करने में लाघव है। वर्णविषयक भेद प्रतीति का बाधक बस प्रत्यभिज्ञान ही तो है ।

स्फोटवादी—एक काल में अनेक उच्चारण करने वाले एक ही गकार वर्ण का एक साथ अनेक रूप में कैसे बोल सकते हैं जिसमें उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक भेद हैं। अतः इस अरुचि के कारण '**अथवा**' ग्रन्थ से ध्वनिगत प्रत्ययभेद माना गया है वर्ण के कारण से नहीं। ऐसा मानने पर कोई दोष नहीं रह जाता। ध्वनि के स्वरूप में प्रश्न होता है कि यह ध्वनि क्या वस्तु है ।

ध्वनिभेदवादी—दूर से सुनने वाले को जब वर्ण का विवेक नहीं हो पाता, उस समय कर्णपथ में जो अवतरित होता है उसी को ध्वनि कहते हैं। निकट बैठे हुए को मन्दत्व, पटुत्वादि ध्वनिगत भेद वर्ण में अध्यस्त होता रहता है। और उसी ध्वनि के कारण से उदात्तादि भेद भासते हैं, वर्णों

१. संयोगेत्यतः प्राक् व्यञ्जकवायु इति शेषः । २. अथवेति इत्थमिति वक्तव्ये अथवेत्युक्तिरस्यामेव शंकायां संयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वादिति परिहारः प्राक् दर्शित एवेद तु परिहारान्तरमिति द्योतनाय । ३. उदात्तत्वादि प्रयुक्तो वर्णविषयः । ४. उक्तविशेषणकस्य पुंसः कर्णपथमारूढः स एव ध्वनिः प्रत्यासीदतस्तस्यैव पुंसो मन्दत्वादि स्वधर्मान् वर्णेषु आरोपयतीत्यर्थः । ५. ध्वनिः ।

उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति । [1]इतरथा हि वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात्संयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषाः कल्प्येरन् । संयोगविभागानां [2]चाप्रत्यक्षत्वात् न तदाश्रया विशेषाः वर्णेष्व[3]ध्यसितुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः । अपिच नैवैतदभिनिवेष्टव्यम्, उदात्तादिभेदेन वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेदिति । न ह्यन्यस्य भेदेनान्यस्याभिद्यमानस्य भेदो भवितुमर्हति । नहि व्यक्तिभेदेन जातिं भिन्नां मन्यन्ते । वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः सम्भवात्स्फोटकल्पनाऽनर्थिका । न कल्पयाम्यहं स्फोटं प्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि, [4]एकैकवर्णग्रहणाहितसंस्कारायां बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासनादितिचेत् । न, अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात् । एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्त-

अस्तु को दोषः, तत्राह—संयोगेति । वायुसयोगादेरश्रावणत्वादित्यर्थः । तस्मात् श्रावणध्वनिरेवोदात्तत्वाद्यारोपोपाधिरिति भावः । एवं विरुद्धधर्मकध्वनीनां भेदेऽपि न तेष्वनुगता वर्णा भिद्यन्त इत्युक्तम् । तदेव दृष्टान्तेन द्रढयति—अपि चेति । यथा खण्डमुण्डादिविरुद्धानेकव्यक्तिष्वभिन्नं गोत्वं, तथा ध्वनिषु वर्णा अभिन्ना एवेत्यर्थः । [5]उदात्तादिध्वनिस्तद्भेदेन हेतुना वर्णानामपीति योजना । प्रत्यभिज्ञाविरोधादित्यक्षरार्थः । यद्वा उदात्तत्वादिभेदविशिष्टतया प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्वर्णानां भेद इत्याशङ्कां दृष्टान्तेन निरस्यति—अपि चेति । वर्णानां स्थायित्वं प्रसाध्य तेषामेव वाचकत्वं वक्तुं स्फोटं विघटयति—वर्णेभ्यश्चेति । कल्पनामसहमान आशङ्कते—नेति । [6]चक्षुषा दर्पणयुक्तायां बुद्धौ मुखवच्छोत्रेण वर्णयुक्तायां बुद्धौ विनैव [7]हेत्वन्तरं स्फोटः प्रत्यक्ष इत्याह—झटितीति । यस्यां संविदि योऽर्थो भासते सा तत्र प्रमाणम् । एकं पदमिति बुद्धौ वर्णा एव स्फुरन्ति नातिरिक्तस्फोटः इति न सा स्फोटे प्रमाणमित्याह—न अस्या अपीत्यादिना । ननु गोपदबुद्धेः स्फोटो विषयो

के स्वरूप के कारण नहीं क्योंकि प्रतिउच्चारण में वर्ण की प्रतिभिज्ञा तो होती ही है। ऐसा मानने पर उदात्तादि प्रतीति सालम्बन हो जायेगी अन्यथा प्रत्यभिज्ञा से जाने गये वर्णों में भेद जब है नहीं तो संयोग विभाग के कारण उदात्तादि भेद की कल्पना वर्ण में माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में जब संयोग विभाग का प्रत्यक्ष ही नहीं होता तो उसके आश्रित विशेष का आरोप भी वर्णों में नहीं कर सकते फिर तो ये उदात्तादि प्रतीति निरालम्बन ही हो जायेगी। विरुद्धधर्मक ध्वनिगत भेद मान लेने पर भी उनमें अनुगत वर्ण भिन्न नहीं होते ऐसा जो कहा था उसी को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं कि प्रत्यभिज्ञा के विषय वर्णों में उदात्तादि भेद के कारण भेद हो जायेगा ऐसी धारणा कभी नहीं बनानी चाहिए क्योंकि दूसरे के भेद से अभिन्न दूसरी वस्तु में भेद नहीं बनता है। व्यक्तिभेद से जाति भिन्न नहीं मानते हैं। जब वर्णों से ही अर्थबोध सम्भव है तो स्फोट की कल्पना अनर्थक ही है।

स्फोटवादी—मैं स्फोट की कल्पना नहीं करता हूँ, किन्तु इसे प्रत्यक्ष प्रमाण से जानता हूँ। एक-एक वर्ण के ग्रहण से उत्पन्न संस्कार बुद्धि में टिक जाता है जो शीघ्र ही अर्थावबोध करा देता है।

वर्णवादी—ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यह अभेद बुद्धि वर्ण को विषय करती है। एक-एक वर्ण ग्रहण करने के बाद "इयं एका गौः" ऐसी बुद्धि गौ के विषय में होती है जो समस्त

१. ध्वन्युपाधिकभेदप्रत्ययास्वीकारे । २. अश्रावणत्वात् । ३. आरोपयितुम् । ४. गकारादि प्रत्येक वर्णा ज्ञानेन स्थापितः संस्कारोपस्याम् । ५. उदात्तादे ध्वनिरिति षष्ठीसमासः । ६. तद्द्वारा । ७. सन्निकर्षादिकम् ।

वर्णविषया । नार्थान्तरविषया । कथमेतदवगम्यते ? यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, न तु दकारादयः । यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन् । न तु तथास्ति । तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः । नन्वनेकत्वाद्वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तं, तत्प्रतिब्रूमः—सम्भवत्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वं, पङ्क्तिर्वनं सेना दश शतं सहस्रमित्यादिदर्शनात् । या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः, सा बहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थावच्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनसेनादिबुद्धिवदेव । अत्राह—यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात् ।

गकारादीनां तु व्यञ्जकत्वादनुवृत्तिरित्यत आह—यदि हीति । व्यङ्ग्यवह्निबुद्धौ व्यञ्जकधूमानुवृत्तेरदर्शनादित्यर्थः । वर्णसमूहालम्बनत्वोपपत्तेर्न स्फोटः कल्पनीयः, पदार्थान्तरकल्पनागौरवादित्याह—तस्मादिति । अनेकस्याप्यौपाधिकमेकत्वं युक्तमित्याह—सम्भवतीति । ननु तत्रैकदेशाद्युपाधिरस्ति, प्रकृते क उपाधिरित्यत आह—या त्विति । एकार्थे शक्तमेकं पदं, प्रधानार्थे एकस्मिन् तात्पर्यवदेकं वाक्यमित्येकार्थसम्बन्धादेकत्वोपचार इत्यर्थः । न चैकपदत्वे ज्ञाते एकार्थज्ञानम्, अस्मिञ्ज्ञाते तदित्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम्, उत्तमवृद्धोक्तानां वर्णानां क्रमेणान्त्यवर्णश्रवणानन्तरं बालस्यैकस्मृत्यारूढानां मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्त्यादिलिङ्गानुमितं कार्यधीहेतुत्वनिश्चये सत्येकपदवाक्यत्वनिश्चयात् । वर्णसाम्येऽपि पदभेददृष्टेर्वर्णातिरिक्तं पदं स्फोटात्ममङ्गीकार्यमिति शङ्कते—अत्राहेति ।

वर्ण विषयक है इसमें अर्थान्तर नहीं है । प्रश्न—यह आपको कैसे जान पड़ता है ? उत्तर—क्योंकि 'गौः' इस बुद्धि में भी गकारादि वर्ण ही अनुवृत होते हैं, दकारादि नहीं । यदि इस बुद्धि का विषय गकारादि वर्णों से अतिरिक्त स्फोट होता तो जिस प्रकार इस बुद्धि में दकारादि वर्ण व्यावृत हो जाते हैं ऐसे ही गकारादि वर्ण को व्यावृत हो जाना चाहिए था, किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः "**इयं गौः**" यह बुद्धि वर्ण को विषय करती है, स्फोट को नहीं । शङ्का—वर्ण अनेक हैं, वे अनेक वर्ण एक बुद्धि के विषय कैसे हो सकते हैं ? ऐसा हम पहले कह आये हैं । समाधान—उसका उत्तर हम देते हैं कि कभी-कभी अनेक में भी एक बुद्धि विषयत्व सम्भव हो जाता है जैसे अनेक व्यक्तियों के क्रमवद्ध बैठने पर उसे पंक्ति कहते हैं, जैसे एक देश में रहने वाले अनेक वृक्षों को बन कहते हैं जैसे एक अनुशासन में चलने वाले जवानों को सेना कहते हैं और १० सौ को सहस्र कहते हैं ऐसा देखा जाता है । किन्तु "**गौः**" यह एक शब्द है, इससे उत्पन्न जो बुद्धि है वह अनेकों वर्णों में ही एकावच्छेद निबन्धन को औपचारिकता से वन, सेनादि बुद्धि के समान ही एक पद कहा जाता है ।

स्फोटवादी—यदि वर्ण ही समस्तरूप से एक बुद्धि के विषय होने पर पद कहे जाते हैं तो जारा और राजा एवं कपि और पिक इत्यादि प्रयोग में भी पदविशेष का बोध नहीं होना चाहिए

१. अनुगम्यन्ते इति पाठान्तरम् । २. अनेकेष्वेकत्वबुद्धेर्भ्रमत्वात् । ३. एकार्थरूपोयोऽवच्छेदकस्तन्निमित्तिका । ४. लक्ष्य बुद्धौ लक्षणास्यानुवृत्तेरदर्शनादित्यपि द्रष्टव्यम् । ५. ज्ञानम् । ६. एवं चार्थज्ञानमेव पदज्ञाने कारण, न तु पदज्ञानमर्थज्ञाने । ७. दर्शनात् । ८. अतिरिक्तं पदमिति एकस्मृत्यारोहिणां वर्णानामेवैकपदत्वे पदविशेषसिद्धौ क्रमापेक्षा न स्यादिति भावः ।

[1]त एव हि वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति। अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे[2] यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति। [3]तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते। [4]वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्य[5]नुगृहीता गृहीतार्थविशेषसम्बन्धाः सन्तः [6]स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ [7]तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं [8]तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्ती[9]ति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना। स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। [10]वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्।

[11]अथापि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिज्ञालम्बनभावेन वर्णसा[12]मान्यानामवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद्या वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता सा सामान्येषु

ननु नित्यविभूनां वर्णानां कथं क्रमः? कथं वा पदत्वज्ञानेनार्थधीहेतुत्वं, तत्राह—वृद्धेति। व्युत्पत्तिदशायामुच्चारणक्रमेणोपलब्धिक्रममुपलभ्यमानवर्णेष्वारोप्यैते वर्णा [13]एतत्क्रमैतत्सङ्ख्यावन्त एतदर्थशक्ता इति गृहीताः सन्तः श्रोतुः प्रवृत्तिकाले तथैव स्मृत्यारूढाः स्वस्वार्थं बोधयन्तीत्यर्थः। स्थायिवर्णवादमुपसंहरति—वर्णेति। दृष्टं वर्णानामर्थबोधकत्वम्, अदृष्टः स्फोटः।

सम्प्रति वर्णानामस्थिरत्वमङ्गीकृत्य प्रौढिवादेन स्फोटं विघटयति—अथापीति। स्थिराणि गत्वादिसामान्यानि क्रमविशेषवन्ति गृहीतसङ्गतिकान्यर्थबोधकानीति क्लृप्तेषु सामान्येषु प्रक्रिया,

क्योंकि वर्ण तो उन सभी में समान ही प्रतीत होते हैं।

वर्णवादी—यहाँ पर हम कहते हैं कि जैसे क्रमानुवर्ती पीपिलिका ही पंक्ति बुद्धि में आरूढ़ होती है ऐसे ही क्रमानुरोधी वर्ण ही पदबुद्धि में आरूढ़ हो जायेंगे। आपके कहे हुए प्रयोगों में वर्णों का अविशेष रहने पर भी क्रमविशेष के कारण ही पदविशेष का बोध होना विरुद्ध नहीं है। वृद्ध व्यवहार में ये ही वर्ण क्रमानुगृहीत होने पर जब अर्थविशेष के साथ सम्बद्ध होते हैं तब स्वव्यवहार में भी एक-एक वर्ण ग्रहण करने के बाद समस्त वर्णों को ग्रहण करने वाली बुद्धि में वैसे ही भास होने लग जाते हैं और वे वर्ण उस अर्थ को अव्यभिचार रूप से बोध करा देंगे, यह वर्णवादियों के यहाँ कल्पनालाघव है किन्तु स्फोटवादियों के यहाँ दृष्ट की हानि एवं अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ती है जो गौरव है।

क्रमशः गृहीत ये वर्ण ही स्फोट को अभिव्यक्त करते हैं और वह स्फोट अर्थ को व्यक्त कराता है। इस प्रकार स्फोट में कल्पना गौरव आता है। यद्यपि प्रतिउच्चारण में वर्ण भिन्न-भिन्न होते हैं फिर भी प्रत्यभिज्ञालम्बनरूप से वर्णगत जाति को मानना पड़ता है। यह जो वर्णों में अर्थबोध की प्रक्रिया रची गयी है वह सामान्य (जाति) में सञ्चारित हो जायेगी, इसीलिए नित्य शब्द से ही देवादिव्यक्तियों का प्रभव होता है यह कहना विरुद्ध नहीं है। गत्वादि जाति उ.

१. क्रमापेक्षाभावे हेतुमाह—त एवेति। २. प्रत्यवमर्शः स्मृतिः। ३. क्रमानुरोधिनां वर्णानां पदधीविषयत्वे फलितमाह तत्रेत्यादिना। ४. वृद्धव्यवहारो व्युत्पत्तिदशा। ५. आदिनासंख्यागृह्यते। ६. मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्त्यवस्थायाम्। ७. व्युत्पत्तिदशायां दृष्टक्रमाद्यनुगृहीताः। ८ गृहीतसम्बन्धप्रतियोगिनम्। ९ यावतो यादृशा ये चेतिन्यायः परामर्शक इतिशब्दः। १०. किं च येन हेतुना वर्णानामर्थव्यञ्जकत्वं निरस्तं न स्फोटव्यञ्जकत्वमपि यदि कथंचिदमा स्फोटं भासयेयुस्तर्हि तथैवार्थमपीति युक्तं लाघवादित्याह वर्णाश्चेति। ११. यद्यपीत्यर्थः। १२. जातीनाम्। १३. तदुक्तम् यावतो यादृशो ये च यदर्थप्रतिपादकाः वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्तत्तथैवावबोधका इति।

(९२) अत एव च नित्यत्वम् ॥२९॥

संचारयितव्या । ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् ॥२८॥

[1]स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेन [2]तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अतः प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति—अत एव च नित्यत्वमिति । अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद् वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम् । तथाच मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायंस्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् (ऋ० सं० १०-७१-३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति । वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—'युगान्तेऽन्तर्हिताःवेदान्सेतिहासान्महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा' (म० भा० शान्ति. २१०-१०) इति ॥२९॥

सञ्चारयितव्या न त्ववक्लृप्तः स्फोटः कल्पनीय इत्यर्थः । वर्णानां स्थायित्ववाचकत्वयोः सिद्धौ फलितमाह—ततश्चेति ॥२८॥

पूर्वतन्त्रवृत्तानुवादपूर्वकं सूत्रं व्याचष्टे—कर्तुरित्यादिना । पूर्वतन्त्रसिद्धमेव वेदस्य नित्यत्वं, देवादिव्यक्तिसृष्टौ तद्वाचकशब्दस्यापि सृष्टेर[3]सिद्धमित्याशङ्क्य नित्याकृतिवाचकाच्छब्दाद्व्यक्तिजन्मोक्त्या [4]साङ्केतिकत्वं निरस्त वेदोऽवान्तरप्रलयावस्थायी जगद्धेतुत्वादीश्वरवदित्यनुमानेन द्रढयतीत्यर्थः । यज्ञेन पूर्वसुकृतेन वाचः वेदस्य, लाभयोग्यतां प्राप्ताः सन्तो याज्ञिकास्ताम् ऋषिषु स्थितां लब्धवन्त इति मन्त्रार्थः । अनुविन्नामुपलब्धाम् । पूर्वमवान्तरकल्पादौ ॥२९॥

नित्य है वे कर्मयुक्त हो अर्थ का बोध कराते हैं । अतः सामान्य में अर्थबोध शक्ति नित्य है और स्फोट में कल्पनीय है । इसलिए वर्ण नित्य है और वही अर्थवाचक है ऐसा सिद्ध होने पर नित्य शब्द से ही देवादि जगत् का प्रभव होता है, यह सिद्ध हुआ ॥२८॥

अत एव च नित्यत्वम् (ललिता)

वेद के रचयिता का स्मरण आदि नहीं होता, इसीलिए वेद में नित्यत्व सिद्ध होता है । उसी से देवादि व्यक्ति का प्रभव मानने पर जो वेद में नित्यत्व का विरोध की आशङ्का खड़ी हुई थी, उसका परिहार पिछले सूत्र के "अतः प्रभवात्" इस अंश से किया गया था । अब वेद में सिद्ध उस नित्यत्व को अग्रिम सूत्र से दृढ़ करते हैं कि नियत आकृति वाले देवादि जगत् का वेद शब्द से ही प्रभव होता है इसीलिए वैदिक शब्द में नित्यत्व भी समझना चाहिए । ऐसा ही मन्त्र वर्ण भी कहता है कि पूर्व सुकृत के परिणामस्वरूपयज्ञ द्वारा वेदवाक्य में योग्यता प्राप्त हुई, याज्ञिकों ने ऋषियों में स्थित इस योग्यता को प्राप्त किया "अनुविन्नाम्" पद का अर्थ "उपलब्धाम्" करना चाहिए यह सब अवान्तरकल्प के आरम्भ में होते रहते हैं । वेदव्यास जी ने भी ऐसा ही कहा है कि महाप्रलय में इतिहास के सहित जो वेद अन्तर्हित हो गये थे उन वेदों को परमेश्वर की प्रेरणा से तपस्या द्वारा महर्षियों ने प्राप्त किया । इससे भी वेद में नित्यत्व सिद्ध होता है ॥२९॥

---

१. कर्तुरित्यस्य विवरणमिदं भाष्येकैश्चित्प्रक्षिप्तम् । २. नित्यत्वस्य । ३. नित्यत्वम् । ४. वेदस्याधुनिक पुरुषकृत सङ्केतविषयत्वन्निरस्येत्यर्थः ।

(९३) समाननामरूपत्वाच्च वृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥३०॥

अथापि स्यात्—यदि पश्वादिव्यक्तिवद्देवादिव्यक्तयोऽपि सन्तत्यैवोत्पद्येरन्निरुध्येरंश्च ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात्सम्बन्धनित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत। यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं 'निर्लेपं प्रलीयते प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति तदा कथमविरोध इति।

तत्रेदमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति। तदापि संसारस्यानादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम्। प्रतिपादयिष्यति चाचार्यः संसारस्यानादित्वम्—'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र० २-१-३६) इति। अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः, एवं कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपीति

ननु महाप्रलये जातेरप्यसत्त्वाच्छब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वमित्याशङ्क्याह—समानेति। सूत्रनिरस्यां शङ्कामाह—अथापीति। व्यक्तिसन्तत्या जातीनामवान्तरप्रलये सत्त्वात्सम्बन्धस्तिष्ठति, व्यवहाराविच्छेदाज्ज्ञायते चेति वेदस्यानपेक्षत्वेन प्रामाण्ये न कश्चिद्विरोधः स्यात्। निर्लेपलये तु सम्बन्धनाशात् पुनः सृष्टौ केनचित्पुंसा सङ्केतः कर्तव्य इति पुरुषबुद्धिसापेक्षत्वेन वेदस्याप्रामाण्यम्, अध्यापकस्याश्रयस्य नाशादाश्रितस्यानित्यत्वं च प्राप्तमित्यर्थः। महाप्रलयेऽपि निर्लेपलयोऽसिद्धः, सत्कार्यवादात्। तथा च संस्कारात्मना शब्दार्थतत्सम्बन्धानां सतामेव पुनः सृष्टावभिव्यक्तेर्नानित्यत्वम्। अभिव्यक्तानां पूर्वकल्पीयनामरूपसमानत्वान्न सङ्केतः केनचित्कार्यः। विषमसृष्टौ हि सङ्केतापेक्षा न तुल्यसृष्टाविति परिहरति—तत्रेदमित्यादिना। नन्वाद्यसृष्टौ सङ्केतः केनचित्कार्य इत्यत आह—तदापीति। महासर्गमहाप्रलयप्रवृत्तावपीत्यर्थः। नन्वस्त्वनादिसंसारे सम्बन्धस्यानादित्वं, तथापि महाप्रलयव्यवधानादस्मरणे कथं वेदार्थव्यवहारः, तत्राह—अनादौ चेति। न कश्चिद्विरोधः, शब्दार्थ-

---

समाननामरूपत्वाच्च वृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च (ललिता)

जैसे पश्वादि व्यक्ति इस सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न होते हैं वैसे ही देवादिव्यक्ति भी निरन्तर सर्गारम्भ में उत्पन्न होंगे और प्रलय में नष्ट होंगे। इससे अभिधान, अभिधय और अभिधातृ व्यवहार का विच्छेद न होने के कारण जो शब्द में नित्यत्व मानने के कारण शब्द में विरोध आया था उसका परिहार कर लेना चाहिए। किन्तु जब तीनों लोक अपना नाम रूप छोड़कर अत्यन्त लीन हो जाते हैं और पुनः सर्गारम्भ में नये उत्पन्न होते हैं, इसे श्रुति और स्मृति अर्थवादादि कहते हैं।

ऐसी स्थिति में अविरोध कैसे माना जायेगा ? इसी प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से दिया जाता है कि तब भी संसार को अनादि ही मानना चाहिए। संसार का अनादित्व भगवान् वेदव्यास जी भी "उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इस सूत्र से कहेंगे। अनादि संसार में प्रलय और प्रभव वैसे ही होते रहते हैं जैसे सुषुप्ति-जाग्रतवस्था होती है। सो कर उठा हुआ व्यक्ति पूर्व जागरण की बात को याद कर व्यवहार करता है। ऐसे ही प्रलय के बाद नूतन सर्गारम्भ में पूर्व सृष्टि की बात को स्मरण कर महर्षि लोग व्यवहार करते हैं। अतः वैदिक शब्द में अनित्यत्व शङ्का का परिहार हो जाता है एवं उसमें नित्यत्व मानने पर कोई विरोध नहीं रह जाता। कल्प के मध्य में प्रलय और सर्ग का जो क्रम बतलाया गया वही क्रम कल्पनान्तरीय प्रलय और प्रभव

---

१. अविच्छेदेनैव। २. उपसंह्रियेरन्। ३. अत्यन्तम्। ४. महासर्गमहाप्रलयांगीकारेपीति यावत्।

द्रष्टव्यम् । स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते—'यदा [1]सुप्तः [2]स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति [3]तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति, स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे [4]प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ३-३) इति ।

स्यादेतत् । [5]स्वापे पुरुषान्त[6]रव्यवहाराविच्छेदात्स्वयं च सुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुसन्धानसम्भवादविरुद्धम् । महाप्रलये तु सर्वव्यवहारोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्यानुसन्धातुमशक्यत्वाद्वैषम्यमिति । नैष दोषः । सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां

सम्बन्धस्मरणादेरिति शेषः । स्वापप्रबोधयोर्लयसर्गासिद्धिमाशङ्क्य श्रुतिमाह—स्वापेति । अथ तदा सुषुप्तौ प्राणे परमात्मनि जीव एकीभवति । एन प्राणं स जीवः तदैतीति शेषः । एतस्मात्प्राणात्मनः, आयतनं गोलकम् । आनन्तर्ये पञ्चमी प्राणेभ्य इत्यादौ द्रष्टव्या । स्वप्नवत्कल्पितस्याज्ञातसत्त्वाभावात् । दर्शनं सृष्टिः । अदर्शनं लयः इति दृष्टिसृष्टिपक्षः श्रुत्यभिप्रेत इति भावः । दृष्टान्तवैषम्यमाशङ्क्य परिहरति—स्यादित्यादिना । अविरुद्धमनुसन्धानादिकमिति शेषः । हिरण्यगर्भादयः

मे भी समझना चाहिए। निद्रा और जाग्रदवस्था में भी प्रलय तथा प्रभव सुने जाते हैं। 'जब सोया हुआ पुरुष किसी स्वप्न को नहीं देखता, उस समय परमेश्वर में ही एकीभाव को प्राप्त हो जाता है, उस सुषुप्त पुरुष में नामों के सहित वाणी लीन हो जाती है, सभी रूपों के सहित चक्षुलीन हो जाता है, सभी शब्दों के सहित श्रोत्र लीन हो जाता है, सभी ध्यान क्रिया के सहित मन लीन हो जाता है और जब यह पुरुष जगता है तब प्रदीप्त अग्नि से जैसे छोटी चिंगारियाँ निकलती हैं वैसे ही इस आत्मा से सभी इन्द्रियाँ अपने गोलक के सहित निकल आती हैं उन इन्द्रियों के सहायक देव और देवताओं से लोक भी प्रकट होते हैं' ऐसा कौषीतकी उपनिषद् में कहा है।

शङ्का—फिर भी दृष्टान्त-दार्ष्टान्ति में विरोध रह ही जाता है। क्योंकि निद्रावस्था में चाहे सुषुप्त पुरुष का व्यवहार बन्द हो गया है किन्तु पुरुषान्तर का व्यवहार तो चलता रहता है। इसीलिए सोकर उठा हुआ पुरुष पूर्व जाग्रत के व्यवहार का स्मरण कर सकता है ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है, किन्तु महाप्रलय में तो सभी के व्यवहार का उच्छेद हो जाता है। उसके बाद होने वाले सर्ग में कल्पान्तरीय व्यवहार का अनुसन्धान वैसे हो न हो सकेगा जैसे जन्मान्तर व्यवहार का स्मरण नहीं होता है। अतः दृष्टान्तदार्ष्टान्ति में वैषम्य अब भी बना हुआ है ? समाधान—यह दोष नहीं है। महाप्रलय में सर्वव्यवहार का उच्छेदक मान लेने पर भी परमेश्वर के अनुग्रह से हिरण्यगर्भादि

१. सुषुप्तो जीवः । २. जाग्रतोप्युपलक्षणमिदम् । ३. सुषुप्तजीवस्य परस्मिन्नेकीभावावस्थायाम् । ४. सर्वेन्द्रियाणि । ५. मन्वादिस्वापे पुरुषान्तरोहिरण्यगर्भो ग्राह्यः । ६. यज्ञदत्तस्वापे तु पुरुषान्तरो देवदत्तादिः ।

कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तेः। यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो न जन्मान्तरव्यवहारमनुसन्दधाना दृश्यन्त इति, तथापि न प्राकृतवदीश्वराणां भवितव्यम्। यथाहि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः [1]परेण परेण भूयान्भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि [2]परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम्। ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत्कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तिः। तथाच श्रुतिः—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वे० ६-१८) इति। स्मरन्ति च 'शौनकादयो मधुच्छन्दः [3]प्रभृतिभिऋर्षिभि-

पूर्वकल्पानुसन्धानशून्याः संसारित्वात्, अस्मदादिवदित्याशङ्क्याह—यद्यपीति। इति यद्यपि तथापि न प्राकृतवदिति योजना। ज्ञानादेर्निकर्षवदुत्कर्षोऽप्यङ्गीकार्यः, बाधाभावादिति न्यायानुगृहीतश्रुत्यादिभिः सामान्यतो दृष्टानुमानं बाध्यमित्याह—यथा हीत्यादिना। ननु तथापि पूर्वकल्पेश्वराणां मुक्तत्वादस्मिन्कल्पे कोऽनुसन्धातेत्यत आह—ततश्चेति। ज्ञानाद्युत्कर्षादित्यर्थः। मुक्तेभ्योऽन्येऽनुसन्धातार इति भावः। परमेश्वरानुगृहीतानां ज्ञानातिशये पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिवादानाह—तथा चेति। पूर्वं कल्पादौ सृजति, तस्मै च ब्रह्मणे प्रहिणोति गमयति तस्य बुद्धौ वेदानाविर्भावयति यस्तं देवं स्वात्माकारं महावाक्योत्थबुद्धौ प्रकाशमानं शरणं परममभयस्थानं निःश्रेयसरूपमहं प्रपद्य इत्यर्थः। न केवलमेकस्यैव ज्ञानातिशयः किन्तु बहूनां शाखाद्रष्टृणामिति विश्वासार्थमाह—स्मरन्तीति। ऋग्वेदो दशमण्डलावयववान् तत्र भवा ऋचो दाशतय्यः। वेदान्तरेऽपि काण्डसूक्तमन्त्राणां द्रष्टारो बौधायना-

ईश्वर कोटि के विभूतियों को कल्पान्तरीय व्यवहार का अनुसन्धान हो सकता है। यह ठीक है कि सामान्य प्राणी जन्मान्तरीय व्यवहार का अनुसन्धान करते नहीं देखे जाते हैं फिर भी प्राकृत जीव की भाँति ही हिरण्यगर्भादि ईश्वर को समझना ठीक नहीं है। मनुष्यादि से लेकर स्तम्बपर्यन्त जीवों में प्राणित्व तो अविशेष रूप से रहता है, फिर भी ज्ञान, ऐश्वर्यादि का प्रतिबन्ध निम्न-उन्नतभाव से देखा जाता है। वैसे ही मनुष्यादि से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त उत्कृष्ट जीवों में ज्ञान, ऐश्वर्यादि की अभिव्यक्ति भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक देखी जाती हैं जो श्रुति-स्मृतिवाद में अनेक—बार सुने गये हैं, उनका अपलाप कोई भी नहीं कर सकता। अतः अतीत कल्प में अनुष्ठित उत्कृष्ट उपासना एवं कर्म वाले हिरण्यगर्भादि ईश्वर वर्तमान कल्पारम्भ में प्रकट होते हैं जिनके ऊपर ईश्वर का अनुग्रह भी बरसता है ऐसे परमेश्वरानुगृहीत ईश्वर कोटि के हिरण्यगर्भादि को कल्पान्तरीय व्यवहार का स्मरण वैसे ही होता है जैसे सोकर उठे हुए व्यक्ति को पूर्वप्रबोध का स्मरण होता है। श्रुति भी वैसा ही कहती है 'जिस परमेश्वर ने सर्गारम्भ में ब्रह्मा को बनाया और उसे वेद का ज्ञान दिया, उस आत्म-बुद्धि के प्रकाशक परमात्मदेव की हम मुमुक्षु शरणापन्न हैं। तथा शौनकादि

१. निकर्षेण। २. उत्कर्षेण। ३. मधुच्छन्दःप्रभृतिवदेव।

दाशतय्यो दृष्टाः' इति । प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते । श्रुतिरप्यृषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' इत्युपक्रम्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति । प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते । दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते । दृष्टानुश्रविकसुखदुःखविषयौ च रागद्वेषौ भवतो न विलक्षणविषयावित्यतो धर्माधर्मफलभूतोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिः सदृश्येव निष्पद्यते । स्मृतिश्च भवति—'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे । तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ।। (वि० पु० १-५-६०) हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।

दिभिः स्मृता इत्याह—प्रतीति । किञ्च मन्त्राणामृष्यादिज्ञानावश्यकत्वज्ञापिका श्रुतिर्मन्त्रदृगृषीणां ज्ञानातिशयं दर्शयतीत्याह—श्रुतिरपीति । आर्षेयः ऋषियोगः, छन्दो गायत्र्यादि, दैवतमग्न्यादि, ब्राह्मणं विनियोगः, एतान्यविदितानि यस्मिन्मन्त्रे तेनेत्यर्थः । स्थाणुं स्थावरम्, गर्तं नरकम् । तथा च ज्ञानाधिकैः कल्पान्तरितं वेदं स्मृत्वा व्यवहारस्य प्रवर्तितत्वाद्वेदस्यानादित्वमनपेक्षत्वं चाविरुद्धमिति भावः । अधुना समाननामरूपत्वं प्रपञ्चयति—प्राणिनां चेति । ततः किं, तत्राह—दृष्टेति । ऐहिकामुष्मिकविषयसुखरागकृतधर्मस्य फलं पश्वादिकं दृष्टपश्वादिसदृशमिति युक्तम्, विसदृशे कामाभावेन हेत्वभावात् । तथा दृष्टदुःखद्वेषकृताधर्मफलं दृष्टसदृशदुःखमेव न सुखं, कृतहान्यादिदोषापत्तेरित्यर्थः । तर्कितेऽर्थे मानमाह—स्मृतिश्चेति । उत्तरसृष्टिः पूर्वसृष्टिसजातीया, कर्मफलत्वात्, पूर्वसृष्टिवदित्यनुमानं चशब्दार्थः । तेषां प्राणिनां मध्ये तान्येव तज्जातीयान्येव । तानि दर्शयन् तत्प्राप्तौ हेतुमाह—हिंस्रेति । कर्माणि विहितनिषिद्धत्वाकारेणाऽपूर्वं, क्रियात्वेन संस्कारं च जनयन्ति ।

ऋषिगण 'मधुच्छन्दादि ऋषियों द्वारा दश मण्डल अवयव वाले ऋग्वेद को देखा गया है' प्रतिवेद में ऐसे ही काण्ड एवं ऋषि आदि के स्मरण भी कहे गये हैं । श्रुति भी ऋषिज्ञानपूर्वक ही मन्त्र द्वारा अनुष्ठान बतलाती है 'जिस व्यक्ति को ऋषि, छन्द, देवता इत्यादि अविदित हैं ऐसा व्यक्ति यदि उन मन्त्रों से याग करवाता है या अध्ययन करवाता है तो वह ठूंठ या गर्त में डालने के समान ही व्यर्थ समझना चाहिए' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'इसीलिए वेद मन्त्रों में इन सबको जानना अत्यन्त आवश्यक है' ऐसा कहा गया है । प्राणियों को सुख प्राप्ति के लिए धर्म का विधान किया गया है और दुःख से छूटने के लिए अधर्म का निषेध किया गया है । ऐहिक तथा पारलौकिक सुख दुःख के विषयों में ही राग और द्वेष होते हैं, विजातीय विषय में नहीं । अतः धर्माधर्म के फल मिल जाने पर उत्तरोत्तर निष्पन्न होने वाला सृष्टि पूर्व सृष्टि के समान ही होती है । तर्कित अर्थ में स्मृति प्रमाण है । उत्तर सृष्टि, पूर्व-सृष्टि के समान ही होती है, कर्मफल होने से, पूर्व-सृष्टि की भाँति, इस अनुमान के लिए 'स्मृतेश्च' इस पद में 'च' कार दिया गया है । 'उन प्राणियों में से जो प्राणि पूर्व-सृष्टि में जो-जो कर्म करते थे पुनः सृष्टि होने पर सृज्यमान प्राणी उन्हीं-उन्हीं कर्मों को करते हैं ।' 'हिंसक जन्तु हिंसा, अहिंसक अहिंसा, मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, सत्य और अनृत ऐसा अपने पूर्वस्वभाव

१. आदिना छन्दो, देवता, ब्राह्मणा गृह्यन्ते । २. हिंस्रादयो धर्मप्रधानाः शब्दास्तेर्हिंस्रत्वादिभिर्भाविताः संस्कृताः पुरुषा सत्त्वादिकं जन्मान्तरे प्रपद्यन्ते इति योजना ।

तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥' (वि० पु० १-५-६१) इति । प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते । शक्तिमूलमेव च प्रभवति । इतरथाकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । न चानेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम् । ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याप्युद्भवतां भूरादिलोकप्रवाहाणां, च देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां प्राणिनिकायप्रवाहाणां, वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चानादौ संसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसम्बन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम् । न हीन्द्रियविषयसम्बन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं

तत्रापूर्वात्फलं भुङ्क्ते, संस्कारभावितत्वात्पुनस्तज्जातीयानि करोतीत्यर्थः । संस्कारे लिङ्गमाह—तस्मादिति । संस्कारवशादेव पुण्यं पापं वा रोचते । अतोऽभिरुचिलिङ्गात्पुण्यापुण्यसंस्कारोऽनुमेयः, स एव स्वभावः प्रकृतिर्वासनेति च गीयते । एवं कर्मणा सृष्टिसादृश्यमुक्त्वा स्वोपादाने लीनकार्यसंस्काररूपशक्तिबलादपि सादृश्यमाह—प्रलीयमानमिति । इतरथा निःसंस्कारप्रलये जगद्वैचित्र्यस्याकस्मिकत्वं स्यादित्यर्थः । ननु जगद्वैचित्र्यकारिण्योऽन्याः शक्तयः कल्प्यन्तां, तत्राह—न चेति । अविद्यायां लीनकार्यात्मकसंस्कारादन्याः शक्तयो न कल्प्याः, मानाभावाद्गौरवाच्च, स्वोपादाने लीनकार्यरूपा शक्तिस्तु 'महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति । श्रद्धत्स्व साम्य' (छा० ६-१२-२,३) इति श्रुतिसिद्धा, अतोऽविद्यातत्कार्यादन्याः शक्तयो न सन्ति आत्माविद्यैव तच्छक्तिरिति सिद्धान्त इत्यर्थः । निमित्तेष्वप्युपादानस्थं कार्यमेवाविद्याघटनया शक्तिरन्या वेत्यनाग्रहः । उपादाने कार्यसंस्कारसिद्धेः फलमाह—ततश्चेति । यथा सुप्तोत्थितस्य पूर्वचक्षुर्जातीयमेव चक्षुर्जायते, तच्च रूपजातीयमेव गृह्णाति न रसादिकम्, एवं भोग्यालोकाः भोगाश्रयाः प्राणिनिकाया भोगहेतुकर्माणि संस्कारबलात्पूर्वलोकादितुल्यान्येवेति नियम इत्यर्थः । निकायाः समूहाः । दृष्टान्तासिद्धिमाशङ्क्याह—न हीति । यथा

के अनुसार ही सभी प्राणी नई सृष्टि में कर्म प्रारम्भ करते हैं क्योंकि वे अपने पूर्वसंस्कारों से संस्कारित होते हैं इसलिए अपने संस्कार के अनुरूप ही उन्हें अच्छा लगता है।' प्रलयकाल में यह जगत् जब लीन होता है तब वह शक्तिरूप से अवशेष ही लीन होता है और शक्तिमूलक ही यह जगत् पुनः उत्पन्न होता है, यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो जगत् की विचित्रता आकस्मिक होने लग जायेगी, जो किसी भी बुद्धिमान को मान्य नहीं होगा। यदि कहो कि जगत् में विचित्रता लाने वाली शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं ? तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है और बिना प्रमाण के मानने पर गौरव दोष भी आता है। 'महान् वटवृक्ष के मूल में उसका सूक्ष्म बीज ही कारण है' इसे छान्दोग्य श्रुति ने भी कहा है। अतः अविद्या और उसके कार्य से भिन्न शक्ति कोई वस्तु नहीं है, वह अविद्या शक्ति के ही आश्रित है ऐसा हमारा सिद्धान्त है।

जैसे सोकर उठे हुए व्यक्ति का पूर्वचक्षु के समान ही चक्षु उत्पन्न होता है, जो अपने विषय रूप को पूर्व की भाँति ही ग्रहण करता है, रसादि को ग्रहण नहीं करता, ऐसे ही भोग्यलोक, भोगाश्रय प्राणियों के समुदाय, भोगहेतु कर्म पूर्वसंस्कारानुसार पूर्वलोकादि के समान ही होते हैं। अतः प्रलयकाल में रुक-रुक कर पुनः उत्पन्न होने वाले भूरादि लोकप्रवाह, देवतिर्यङ्मनुष्यरूप प्राणियों के समुदाय, वर्णाश्रम धर्म और उनके फल में व्यवस्था भी अनादि संसार में पूर्वोक्त इन्द्रिय दृष्टान्त की भाँति नियत समझना चाहिए। इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध आदि व्यवहार

---

१. शक्त्यवशेषमिति शक्तिः सूक्ष्माऽवस्था तथा च प्रलयेपि सूक्ष्मावस्थवस्तुसद्भावाच्छब्दार्थसम्बन्धानित्यता नेतिभावः । २. महाप्रलये व्यवधानेनापीत्यर्थः ।

शक्यमुत्प्रेक्षितुम् । अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात्कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः । समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' ।। (ऋ० सं० १०-१९०-३) इति । यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत्क्लृप्तं तथास्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः । तथा 'अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानाँ स्यामिति । स एवमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३-१-४-१) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निरवपद्यस्मै वाग्नये निरवपत्तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवञ्जातीयका श्रुतिरिहोदाहर्तव्या । स्मृतिरपि—'ऋषीणां नामधेयानि याश्च

षष्ठेन्द्रियस्य मनसोऽसाधारणविषयो नास्ति, सुखादेः साक्षिवेद्यत्वात्, तथा व्यवहारान्यथात्वमसदित्यर्थः । षष्ठमिन्द्रियं तद्विषयश्चासन्निति वार्थः । उक्तार्थं संक्षिपति—अतश्चेति । व्यवहारसाम्यात्सम्भवाच्च व्यवह्रियमाणा व्यक्तयः समाना एवेत्यर्थः । सूत्रं योजयति—समानेत्यादिना । भाविदृष्ट्या यजमानोऽग्निः, अन्नादोऽग्निरहं स्यामिति कामयित्वा कृत्तिकानक्षत्राभिमानिदेवायाग्नये अष्टसु कपालेषु पचनीयं हविर्निरुप्तवानित्यर्थः । नक्षत्रव्यक्तिबहुत्वाद्बहुवचनम् । [ननु यजमानोऽग्निर्भावी उद्देश्याग्निना समाननामरूपः कल्पान्तरे भवति । एवं 'रुद्रो वा अकामयत' 'विष्णुर्वा अकामयत' इत्यत्रापि तथा वक्तव्यं, तदयुक्तम् । न ह्यग्नेरिव विष्णुरुद्रयोरधिकारिपुरुषत्वं, तयोर्जगत्कारणत्वश्रवणात् । 'एक एव रुद्रो न' इति । 'एको विष्णुः' इत्यादि श्रुतिस्मृतिविरोधादिति ।] स्मृतौ

प्रतिसर्ग में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है ऐसी कल्पना वैसे ही निराधार मानी जायेगी जैसे षष्ठ इन्द्रिय के विषय की कल्पना निर्मूल एवं असत् मानी जाती है। अतः सभी कल्पों में एक जैसा व्यवहार होता है और जो कल्पान्तरीय व्यवहार के अनुसन्धान में सक्षम भी होता है। ऐसे हिरण्यगर्भादि समर्थों का प्रतिसर्ग प्रादुर्भाव भी समान ही होता है और नामरूप भी पहले की भाँति ही होते हैं। जैसे शयन और जाग्रत् के खण्डप्रलय और पुनः सृष्टि में समानता देखी गयी है, वैसे ही महासर्ग और महाप्रलय में भी जगत् को समान मानने पर किसी शब्द में प्रामाण्य आदि का विरोध नहीं आता है। प्रतिसर्ग में नामरूप की समानता श्रुति और स्मृति भी बतलाती है 'विधाता ने पूर्वकल्प की भाँति इस कल्प में भी सूर्य और चन्द्र को बनाया, द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक को भी बनाया' अर्थात् जैसे पूर्वकल्प में चन्द्र-सूर्य आदि जगत् था वैसे ही इस कल्प में भी परमेश्वर ने जगत् को बनाया। तथा 'यजमानरूप अग्नि ने कामना की, कि मैं अन्न का भोक्ता बनूं और देवताओं का अन्नभक्षणकर्ता बनूँ, क्योंकि मेरे भक्षण करने से देवता तृप्त होंगे, तत्पश्चात् परमेश्वर ने अग्नि के लिए कृत्तिकादि नक्षत्रों के अभिमानी देवता के लिए अष्टकपाल में पकने योग्य हवि का पाक तैयार किया' इस प्रकार नक्षत्रेष्टि विधि में जो अग्निनिर्वाप बतलाया गया है और जिस अग्नि के लिए निर्वाप कहा गया है, उन दोनों के नामरूप समान ही होते हैं। ऐसी श्रुतियां का उदाहरण समझ लेना चाहिए। 'वेदों में ऋषियों के जो नाम और जैसी दृष्टि प्रलय के समय

(९४) मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

वेदेषु दृष्टयः । शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ (म० भा० शान्ति १३२-१५) यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ (म० भा० शान्ति २९०-१७) यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह । देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥' इत्येवञ्जातीयका द्रष्टव्या ॥३०॥

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते । देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात् ? मध्वादिष्वसम्भवात् । ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत । न चैवं सम्भवति । कथम् ? 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३-१-१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं

वेदेष्विति विषयसप्तमी । शर्वर्यन्ते प्रलयान्ते । ऋतूनां वसन्तादीनां, लिङ्गानि नवपल्लवादीनि । पर्यये घटीयन्त्रवदावृत्तौ । भावाः पदार्थाः । तुल्या इति शेषः । तस्माज्जन्मनाशवद्विग्रहाङ्गीकारेऽपि कर्मणि शब्दे च विरोधाभावाद्देवानामस्ति विद्याधिकार इति स्थितम् ॥३०॥

आक्षिपति—मध्वादिष्विति । ब्रह्मविद्या देवादीन्नाधिकरोति, विद्यात्वात्, मध्वादिविद्यावदित्यर्थः । दृष्टान्तं विवृणोति—कथमित्यादिना । द्युलोकाख्यवंशदण्डे अन्तरिक्षरूपे मध्वपूपे स्थितः आदित्यो देवानां मोदनान्मध्विव मध्वित्यारोप्य ध्यानं कार्यम् । तत्रादित्यस्याधिकारो न युक्तः,

---

होती है पुनः उत्पत्ति होने पर उनके वे ही नाम होते हैं और उनकी दृष्टि पहले की भाँति ही परमेश्वर देता है। जैसे विभिन्न ऋतुओं में जो उनके लिङ्ग और नाम होते हैं पुनः उन ऋतुओं के आने पर वैसे ही चिह्न और वैसे ही नाम होते रहते हैं, ठीक ऐसा ही घटीयन्त्र की भाँति युगादि में पदार्थ भी समान ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि घटीयन्त्र के घूमने के समान ही पुनः पुनः सृष्टि में पूर्व की भाँति ही सृष्टि होती रहती है। इन्द्रियों के अभिमानी देवता अतीत कल्प में जैसे अभिमानवाले थे उनके समान ही इस कल्प में भी नाम और रूपादि से युक्त होते हैं' ऐसी स्मृति भी प्रमाणरूप से समझना चाहिए। इसलिए जन्म और नाशवाले विग्रह को स्वीकार करने पर भी कर्म और शब्द में विरोध न होने के कारण देवताओं का विद्या में अधिकार है, यह सिद्ध हुआ ॥३०॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः (ललिता)

देवताओं का जन्म एवं नाशवान विग्रह मानने पर कर्म में तथा शब्द में जो विरोध पूर्वपक्षी ने दर्शाया था उसका परिहारकर देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है यह जो प्रतिज्ञा की गयी थी उस पर आक्षेप करते हैं कि देवताओं का ब्रह्मविद्या में जैमिनि आचार्य अधिकार नहीं मानते, क्योंकि मधुविद्या में उनका अधिकार मानना सम्भव नहीं है। ब्रह्मविद्या में अधिकार मानने पर विद्यात्व अविशेष होने के कारण मधु आदि विद्या में भी उनका अधिकार मानना पड़ेगा। किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि 'वह आदित्य देवताओं का मधु है' इस श्रुतिवाक्य में आदित्य में मधुदृष्टि का आरोप कर मनुष्य उपासना करे, यदि इस विद्या में देवताओं को

मध्वध्यासेनोपासीरन् । देवादिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत । पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य 'वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्ती'त्युपदिश्य 'स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजानतां वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति । वस्वादयस्तु कानन्यान्वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानीयुः कं वान्यं वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः । तथा 'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' (छा० ३-१८-२), 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४-३-१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३-११-१) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेवदेवतात्मनामधिकारः सम्भवात । तथा 'इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः'

ध्यातृध्येयभेदाभावादित्याह—देवादिष्विति । अस्तु वस्वादीनां तत्राधिकार इत्याशङ्क्य तेषामपि च ध्येयत्वात्प्राप्यत्वाच्च न ध्यातृत्वमित्याह—पुनश्वेति । चतुर्वेदोक्तकर्माणि प्रणवश्चेति पञ्च कुसुमानि, तेभ्यः सोमाज्यादिद्रव्याणि हुतानि लोहितशुक्लकृष्णपरः कृष्णगोप्याख्यानि पञ्चामृतानि तत्तन्मन्त्रभागमधुकरैः प्रागाद्यूर्ध्वान्तपञ्चदिगवस्थिताभिरादित्यरश्मिनाडीभिर्मध्वपूपस्थितच्छिद्ररूपाभिरादित्यमण्डलमानीतानि यशस्तेजइन्द्रियवीर्यान्नात्मना परिणतानि पञ्चदिक्षु स्थितैर्वस्वादिभिरुपजीव्यानीति ध्यायतां वस्वादिप्राप्तिरुक्तेत्यर्थः । सूत्रस्थादिपदार्थमाह—तथाग्निरिति । आकाशब्रह्मणः चत्वारः पादाः, द्वौ कर्णौ, द्वे नेत्रे, द्वे नासिके, एका वागिति सप्तस्विन्द्रियेषु शिरश्चमसतीरस्थेषु सप्तर्षिध्यानं कार्यमित्याह—तथेमावेवेति । अयं दक्षिणः कर्णः गौतमः, वामो भरद्वाजः, एवं दक्षिणनेत्रनासिके विश्वामित्रवसिष्ठौ, वामे जमदग्निकश्यपौ, वागत्रिरित्यर्थः । अत्र ऋषीणां

उपासक मानोगे, तो आदित्य अपने से भिन्न किसी दूसरे आदित्य की उपासना करेगा। पुनः आदित्य के आश्रित रहने वाली रोहितादि पाँच किरणें अमृत हैं ऐसा उपक्रम करके 'क्रमशः अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, उनचास मरुत् एवं साध्य ये पाँच देवगण तत्तद् अमृत के आश्रित जीवित रहते हैं' ऐसा उपदेश करने के बाद 'जो इस अमृत को इस प्रकार जानता है वह वसुओं में ही प्रमुख बनकर अग्नि को माध्यमबनाकर इस अमृत को देखकर तृप्त रहता है' इस वाक्य से वस्वादि के उपजीव्य अमृत की उपासना करने वाले उपासकों को वस्वादि की महिमा की प्राप्ति श्रुति दिखलाती है। जब वस्वादि उपास्य हैं तब उन्हें उपासक कैसे माना जायेगा और वे भला किस अमृतोपजीवी अन्य वसु की उपासना करेंगे एवं अपने से भिन्न किस अन्य वसु आदि की महिमा को वे प्राप्त करना चाहेंगे ? वैसे ही 'अग्नि पाद हैं, वायु पाद है, आदित्य पाद है और दिशायें पाद हैं' 'यह बाह्यवायु ही संवर्ग है' 'आदित्य को ब्रह्म मानकर उपासना करे' इत्यादि देवतात्मक उपासनाओं में उन्हीं देवताओं का अधिकार कहना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार शिशु ब्राह्मण में कहा है 'यह दक्षिण श्रोत्र ही गौतम है और यह वाम श्रोत्र ही भरद्वाज है, दक्षिण नेत्र तथा नासिका विश्वामित्र एवं वशिष्ठ है, वाम नेत्र और नासिका जमदग्नि एवं कश्यप है और वाणी ही अत्रि है' इन ऋषियों से सम्बन्धित उपासनाओं में उन्हीं ऋषियों का अधिकार कहना सम्भव नहीं है, जब वे उपास्य हैं तब उस उपासना में उपासक

(९५) ज्योतिषि भावाच्च ॥३२॥

(बृ० २-२-४) इत्यादिष्वप्यृषिसम्बन्धेषूपासनेषु न तेषामृषीणामधिकारः सम्भवति ॥३१॥

कुतश्च देवादीनामनधिकारः—

यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते । लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च । न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयाऽर्थित्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते, मृदादिवदचेतनत्वावगमात् । एतेनाग्न्यादयो व्याख्याताः ।

स्यादेतत्, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमादयमदोषः

ध्येयत्वान्नाधिकारः ॥३१॥

किञ्च विग्रहाभावाद्देवादीनां न क्वाप्यधिकार इत्याह—ज्योतिषि भावाच्चेति । आदित्यः सूर्यश्चन्द्रः शुक्रोऽङ्गारक इत्यादिशब्दानां ज्योतिःपिण्डेषु प्रयोगस्य भावात्तत्त्वान्न विग्रहवान्देवः कश्चिदस्तीत्यर्थः । 'आदित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता' (छा० ३-४-६) इति मधुविद्यावाक्यशेषे ज्योतिष्येवादित्यशब्दः प्रसिद्धः । तर्हि ज्योतिःपिण्डानामेवाधिकारोऽस्तु, तत्राह—न चेति । अग्न्यादीनामधिकारमाशङ्क्याह—एतेनेति । अग्निर्वायुर्भूमिरित्यादिशब्दानामचेतनवाचित्वेनेत्यर्थः ।

सिद्धान्ती शङ्कते—स्यादेतदित्यादिना । 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादयो मन्त्राः । 'सोऽरोदीत्' इत्यादयोऽर्थवादाः । 'इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः (गी० ३-१२) । 'ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ।' इत्यादीनि इतिहासपुराणानि । 'लोकेऽपि यमं दण्डहस्तं लिखन्ति, इन्द्रं वज्रहस्तमिति विग्रहादिपञ्चकसद्भावादनधिकारदोषो नास्तीत्यर्थः । 'विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यञ्च

कैसे माने जा सकते हैं । अतः ध्येय होने से ऋषियों का भी अधिकार नहीं है ॥३१॥

ज्योतिषि भावाच्च (ललिता)

इसके अतिरिक्त जब देवादियों का विग्रह ही सिद्ध नहीं होता, तो फिर किसी विद्या में उनके अधिकार की चिन्ता कैसे करेंगे । अतः देवादियों का कहीं भी विद्या में अधिकार नहीं है । दिन रात द्युलोक में सदा भ्रमण करता हुआ जो यह ज्योतिर्मण्डल जगत् को प्रकाशित करता है उसी अर्थ में देवतावाचक आदित्यादि शब्द प्रयुक्त होते हैं, लोकप्रसिद्धि और वाक्यशेषप्रसिद्धि से भी यही अर्थ निकलता है । ज्योतिर्मण्डल में हृदयादि अवयव नहीं होते, न चेतना होती है, न उनमें फल की कामना ही होती है क्योंकि वे मृदादि की भाँति जड़ जाने जाते हैं । अतः उनका विद्या में अधिकार नहीं है । इसी से अग्न्यादि का ब्रह्मविद्या में अधिकार कहना भी निरस्त हो गया ।

'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादि मन्त्र, 'सोऽरोदीत्' इत्यादि अर्थवाद, '**इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ।**' इत्यादि इतिहास-पुराण वाक्य है । और लोक में चित्र बनाते समय यमराज को दण्डहस्त और इन्द्र को वज्रहस्त दिखलाते हैं इन

---

१. आदिशब्देन सहस्राक्षो गोत्रभिद्वज्रबाहुरित्यादिग्रहः । २. अत्रत्यादिपदेनेन्द्रप्रजापतिसंवादादिरूपः ।
३. इतिहासो भारतादिः । पुराणो विष्णुपुराणादिः । ४. लोकः शिल्पशास्त्रम् ।

(९६) भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥३३॥

इति । नेत्युच्यते । नहि तावदितिहासो नाम किञ्चित् स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति । प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यविचारितविशेषेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिध्यन्नर्थो लोकात्प्रसिध्यतीत्युच्यते । न चात्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति । इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात्प्रमाणान्तरमूलतामाकाङ्क्षति । अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थगर्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते । मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते । तस्मादभावो देवादीनामधिकारस्य ॥३२॥

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते । यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वसम्भवोऽधिकारस्य, तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां सम्भवः । अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य । न च

प्रसन्नता । फलप्रदानमित्येतत्पञ्चकं विग्रहादिकम् ।' मानाभावादेतन्नास्तीति दूषयति—नेत्यादिना । न चात्रेति । विग्रहादावित्यर्थः । अर्थवादाः मन्त्रा वा मूलमित्याशङ्क्याह—अर्थवादा इत्यादिना । व्रीह्यादिवत्प्रयोगविधिगृहीता मन्त्राः प्रयोगसम्बद्धार्थाभिधानार्था नाज्ञातविग्रहादिपरा इति मीमांसका आचक्षत इत्यर्थः । तस्मात् विग्रहाभावादित्यर्थः ॥३२॥

सूत्राभ्यां प्राप्तं पूर्वपक्षं निरस्यति—तुशब्द इत्यादिना । ब्रह्मविद्या देवादीन्नाधिकरोति, विद्यात्वात्, मध्वादिविद्यावदिति उक्तहेतुरप्रयोजक इत्याह—यद्यपीति । दर्शादिकम्, न ब्राह्मणमधिकरोति, कर्मत्वात्, राजसूयादिवदिति 'आभाससाम्यं विद्यात्वहेतोराह—नचेति । यत्र यस्याधिकारः

प्रमाणों से जब देवादि का विग्रह सिद्ध होता है तो फिर आप के द्वारा दिखलाया गया दोष मान्य नहीं हो सकता। सिद्धान्तपक्ष से ऐसी शङ्का होने पर पूर्वपक्षी समाधान देते हैं कि देवविग्रहवादी का कथन ठीक नहीं है क्योंकि लोक कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। जहाँ पर विशेष विचार नहीं कर पाते, ऐसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध अर्थ को लोक से प्रसिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु देवादियों के विग्रहों की सिद्धि में प्रत्यक्षादियों में से कोई भी प्रमाण मिलता नहीं है। पौरुषेय होने के कारण इतिहास-पुराण भी अपनी मौलिकता सिद्ध करने के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखते हैं। विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता रखने वाले अर्थवादवाक्य स्तुति के लिए माने गये हैं, वे देवादियों के विग्रहादि की सिद्धि में पृथक् रूप से कारण नहीं माने जा सकते। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या के द्वारा विनियुक्त मन्त्र भी प्रयोगसमवायी अभिधानार्थक कहे गये हैं, वे किसी अर्थ की सिद्धि में प्रमाण नहीं माने जाते हैं, ऐसा मीमांसक कहते हैं। अतः विग्रह न सिद्ध होने के कारण देवादियों का विद्या में अधिकार नहीं है। यह निश्चित हुआ ॥३२॥

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि (ललिता)

पिछले दो सूत्रों से प्राप्त पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए इस सूत्र में 'तु' शब्द दिया गया है। पूर्वपक्षी ने कहा था कि ब्रह्मविद्या में देवादियों का अधिकार नहीं है क्योंकि मधुविद्या की भाँति ब्रह्मविद्या में भी विद्यात्व विद्यमान है। इस विद्यात्व हेतु में अप्रयोजकता दोष भगवान् वेदव्यास देने जा रहे हैं क्योंकि वे देवादियों का भी विद्या में अधिकार मानते हैं। जैसे राजसूयादि यज्ञ में ब्राह्मण अधि-

१. आदिना लिङ्गादीनां ग्रहः । २ अर्थस्येति शेषः । ३. यथेदमनुमानं बाधितं तथोक्तमपीत्यर्थः ।

क्वचिदसम्भव इत्येतावता यत्र सम्भवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत, मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः सम्भवति। तत्र यो न्यायः सोऽत्रापि भविष्यति। ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति दर्शनं श्रौतं देवाद्यधिकारस्य सूचकम्—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १-४-१०) इति। 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्' इति, 'इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्'(छा० ८-७-२)इत्यादि च। स्मार्तमपि

सम्भवति, स तत्राधिकारीति न्यायस्तुल्य इत्यर्थः। यतः सर्वेषां सर्वत्राधिकारो न सम्भवति ततो न चापोद्येतेत्यन्वयः। तद्ब्रह्म यो यो देवादीनां मध्ये प्रत्यक्त्वेनाबुध्यत स तद्ब्रह्माभवदित्यर्थः। ते ह देवाः ऊचुरन्योन्यं, तत इन्द्रविरोचनौ सुरासुरराजौ प्रजापतिं ब्रह्मविद्याप्रदं जग्मतुरिति च लिङ्गमस्तीत्यर्थः। 'किमत्र ब्रह्मामृतमिति गन्धर्वप्रश्ने याज्ञवल्क्य उवाच तमिति मोक्षधर्मेषु श्रुतं देवादीनामधिकारलिङ्गमित्याह—स्मार्तमिति। तथा बालानां गोलकेषु चक्षुरादिपदप्रयोगेऽपि शास्त्रज्ञैर्गोलका-

---

कारी नहीं भी है फिर भी दर्शादि याग में तो ब्राह्मण का अधिकार है ही, अतः कर्मत्व को हेतु बनाकर राजसूयादि को दृष्टान्त बनाकर यदि कोई दर्शादि में ब्राह्मण का अनधिकार सिद्ध करना चाहे तो वह अनुमान बाधित हो जाता है क्योंकि वह सदनुमान नहीं है अपितु अनुमानाभास है ऐसे ही विद्यात्व हेतु में अनुमानाभासत्व समझना चाहिए। यद्यपि देवतादि से व्यामिश्र मधु आदि विद्या में उनका अधिकार सम्भव नहीं है फिर भी शुद्ध ब्रह्मविद्या में देवादियों का अधिकार है ही क्योंकि ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष उन्हें भी अभीष्ट है। शरीरधारी होने के कारण उनमें भी ब्रह्मविद्या का ग्रहणसामर्थ्य है और उनके अधिकार का निषेध भी नहीं किया गया है। इस स्थान पर अधिकार असम्भव है इतने मात्र से जहाँ अधिकार सम्भव है वहाँ भी यदि निषेध किया जायेगा तो मनुष्यों का भी अधिकार सर्वत्र सिद्ध नहीं हो सकेगा जैसे राजसूयादि याग में ब्राह्मणादि का अधिकार नहीं है अतः बृहस्पति सवन में भी उनका अधिकार छिन जायेगा। वहाँ जो अधिकार का प्रयोजकन्याय आप देंगे वही तर्क यहाँ भी लागू हो जायेगा। और ब्रह्मविद्या के प्रसङ्ग में श्रौतदर्शन भी देवादियों के अधिकार का सूचक है—"देवताओं में से जिस-जिस ने ब्रह्म का आत्मरूप से साक्षात्कार किया वह ब्रह्म हो गया, वैसे ही ऋषियों और मनुष्यों में भी जिस किसी ने ब्रह्म का साक्षात्कार आत्मभावेन किया वह ब्रह्म को प्राप्त हो गया।" और "प्रजापति की घोषणा सुनकर देवताओं और असुरों दोनों ने ही कहा कि हम उस आत्मा को जानना चाहते हैं जिसे जान लेने पर जीव सम्पूर्ण लोकों और सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है, ऐसा निश्चयकर देवताओं के प्रतिनिधिरूप से इन्द्र और असुरों के प्रतिनिधिरूप से विरोचन ब्रह्मविद्या के आचार्य प्रजापति के पास गये" यह लिङ्ग भी ब्रह्मविद्या में देवताओं के अधिकार का ज्ञापक है। देवताओं में गन्धर्व एक जाति होती, उसका और महर्षि याज्ञवल्क्य का सम्वाद भी सुना जाता है। गन्धर्व ने महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि इस शरीर में नित्यब्रह्म क्या पदार्थ है? गन्धर्व के इस प्रश्न का उत्तर जो मोक्षधर्म में याज्ञवल्क्य ने दिया है यह स्मार्तलिङ्ग भी देवताओं के ब्रह्मविद्या में अधिकार का परिचायक है। जैसे बालक नेत्रगोलक को आँख

---

१. शरीरे। किमत्र ब्रह्म अमृतं किञ्चिद्वेद्यमनुत्तम चिन्तयेत्तत्र वै गत्वा गन्धर्वो माम पृच्छत विश्वावसुस्ततो राजा वेदोत ज्ञान कोविद इति मोक्षधर्मे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादादुक्तानुमानासिद्धिरित्यर्थः।

गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि । यदप्युक्तं ज्योतिषि भावाच्चेति । अत्र ब्रूमः—ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात् । अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चावस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम् । तथा हि श्रूयते 'सुब्रह्मण्यार्थवादे—मेधातिथेर्मेषेति । मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंश० ब्रा० १-१) इति । स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति । मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते, मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्नित्यादिदर्शनात् । ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वप्यचेतनत्वमभ्युपगम्यते । चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवता-

---

तिरिक्तेन्द्रियाणि स्वीक्रियन्ते, तथा ज्योतिरादौ सूर्यादिशब्दप्रयोगेऽपि विग्रहवद्देवताः स्वीकार्या इत्याह—ज्योतिरादीति । तथा चेतनत्वेन व्यवहारादित्यर्थः । एकस्य जडचेतनोभयरूपत्वं कथं, तत्राह—अस्ति हीति । तथाहि विग्रहवत्तया देवव्यवहारः श्रूयते । सुब्रह्मण्यः उद्गातृगणस्थ ऋत्विक् तत्सम्बन्धी योऽर्थवादः 'इन्द्र, आगच्छ' इत्यादिः । तत्र मेधातिथेर्मेष, इतीन्द्रसम्बोधनं श्रुतम्, तद्व्याचष्टे—मेधेति । मुनिं मेषो भूत्वा जहारेति ज्ञापनार्थं मेष, इतीन्द्रसम्बोधनमित्यर्थः । यदुक्तमादित्यादयो मृदादिवदचेतना एवेति, तन्न, सर्वत्र जडाजडांशद्वयसत्त्वादित्याह—मृदिति । आदित्यादौ को जडभागः कश्चेतनांश इति, तत्राह—ज्योतिरादेरित्वति । मन्त्रादिकं पदशक्त्या भासमानविग्रहादौ

कहता है फिर भी शास्त्रपण्डित नेत्रगोलक से भिन्न अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत तेज से निर्मित रूपदर्शन के साधन को नेत्र मानते हैं वैसे ही अज्ञानी जीव चाहे सूर्यादि शब्द का प्रयोग सूर्यमण्डलमात्र में करता हो, फिर भी विज्ञपुरुष देवताओं को शरीरधारी स्वीकार करते ही हैं। इसलिए पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि **'ज्योतिषि भावाच्च'** इस सूत्र द्वारा तेजोमण्डलविशेष में आदित्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है जिससे देवताओं का विद्या में अधिकार सिद्ध नहीं होता है, इस पर हमारा कहना है कि ज्योतिरादि विषयक देवता वाचक आदित्यादि शब्द भी चेतन, ऐश्वर्यादिसम्पन्न देवस्वरूप के बोधक हैं क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद आदि में चेतनत्वेन व्यवहार होता है। एक ही को जड़ और चेतन उभयरूप कैसे माना जाय? क्योंकि ऐश्वर्यबल से देवता ज्योतिः आदि रूप में भी स्थित रहते हैं और यथेष्ट विग्रह को धारण करने में भी समर्थ हैं। उद्गातृगण में स्थित एक सुब्रह्मण्यनामक ऋत्विक् था, उससे सम्बन्धित **'इन्द्र आगच्छ'** इत्यादि जो अर्थवाद हैं वही सुब्रह्मण्यार्थवाद है, उसमें 'कण्व के पुत्र मेधातिथि को इन्द्र मेष बनकर चुरा ले गया' इसलिए इन्द्र ने मेष शब्द से उसे सम्बोधित किया था। पुराणों में भी कहा है कि एक बार 'आदित्य पुरुष बनकर कुन्ती के पास गये' इससे आदित्य में चेतनत्व सिद्ध होता है। मृदादि में भी चेतन अधिष्ठाता माने जाते हैं क्योंकि 'मिट्टी ने कहा, जल ने कहा' ऐसा शब्द देखा जाता है। तैजसतत्त्व ज्योतिरादि में आदित्य शब्द का प्रयोग अचेतनत्व का बोधक है फिर भी मन्त्र, अर्थवाद आदि में उसके अधिष्ठाता देवता चेतन ही देखे जाते हैं अर्थात् ज्योतिरादि जड़भाग है और अधिष्ठाता देव चेतन कहा गया है।

---

१. सामविद उद्गातृ प्रस्तोतृ प्रतिहर्तृ सुब्रह्मण्याख्याश्चत्वार ऋत्विजः सन्ति । एवं यजुर्विदोऽध्वर्यु प्रति प्रस्थातृ नेष्टुनेतारः ऋग्विदो होतृ मैत्रावरण विच्छा वाक ग्रावस्तुतः । त्रयी विदोब्रह्म ब्राह्मणच्छंसी आग्नीध्र पोतारः ।

रमनो मन्त्रार्थवादादिषु व्यवहारादित्युक्तम्। यदप्युक्तं मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यमिति। [1]अत्र ब्रूमः—[2]प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावासद्भावयोः कारणं, नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा। तथाह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येव प्रतिपद्यते। अत्राह—विषम उपन्यासः, तत्र हि तृणपर्णादिविषयं [3]प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते। [4]अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽर्थवादे न पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। नहि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति। यथा 'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसम्बन्धात्सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते। न पुनः सुरां पिबेदिति पदद्वयसम्बन्धात्सुरापानविधिरपीति। अत्रोच्यते—विषम उपन्यासः, युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वादवान्तरवाक्यार्थं-

---

स्वार्थे न प्रमाणम्, अन्यपरत्वात्, विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यवदित्याह—यदपीति। अन्यपरादपि वाक्याद्बाधाभावे स्वार्थो ग्राह्य इत्याह—अत्र ब्रूम इति। तात्पर्यशून्येऽप्यर्थे [5]प्रत्ययमात्रेणास्तित्वमुदाहरति—तथा हीति। तृणादौ [6]प्रत्ययोऽस्ति विग्रहादौ स नास्तीति वैषम्यं शङ्कते—अत्राहेति। विध्युद्देशो [7]विधिवाक्यं, तदेकवाक्यतया प्रशस्तो विधिरित्येवार्थवादेषु प्रत्ययः। वृत्तान्तो [8]भूतार्थः विग्रहादिः तद्विषयः प्रत्ययो नास्तीत्यर्थः। नन्ववान्तरवाक्येन विग्रहादिप्रत्ययोऽस्त्वित्यत आह—न हीति। [9]सुरापानप्रत्ययोऽपि स्यादिति भावः। पदैकवाक्यत्ववाक्यैकवाक्यत्ववैषम्यान्मैवमित्याह—अत्रोच्यत इति।

और जो आप ने कहा था कि मन्त्र एवं अर्थवाद भी भिन्न अर्थ के प्रतिपादक हैं, देवताविग्रह आदि के बोधक नहीं है, अतः वह अर्थवादरूप है। इस पर हमारा कहना है कि प्रमाण वस्तु के सद्भाव का और प्रमाणाभाव वस्तु के असद्भाव का कारण है, प्रमाण और प्रमाणाभाव अन्यार्थत्व का कारण नहीं है। कोई किसी अन्य प्रयोजन के लिए जा रहा हो फिर भी रास्ते में पड़े हुए तृण-पत्ते आदि के अस्तित्व को भी जानता ही है, ऐसे ही अर्थवादवाक्य प्रशंसार्थक है। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा कि यह विषम दृष्टान्त है। दृष्टान्त में तृण-पर्णादि का प्रत्यक्ष होता है, इससे उनकी सत्ता का बोध होता है। किन्तु विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता के लिए स्तुति अर्थ में अर्थवाद का तात्पर्य है, वह पृथक् रूप से वृत्तान्तविषयक प्रवृत्ति का निश्चय नहीं करा सकता है। अर्थबोधक महावाक्य में अवान्तर वाक्य को पृथक् अर्थ का बोधक नहीं मानते हैं जैसे 'सुरापान न करे' इस नञ्युक्त-वाक्य में तीनों पदों के सम्बन्ध से सुरापान का प्रतिषेध रूप एक ही अर्थ का बोध होता है न कि 'सुरां पिबेत्' इन दोनों पदों के सम्बन्ध से सुरापान की विधि भी सिद्ध होती है। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि पदैकवाक्यत्व और वाक्यैकवाक्यत्व के भेद से वाक्य भिन्न-भिन्न प्रकार का है, इसलिए आप का यह कथन ठीक नहीं है। सुरापान प्रतिषेधक निषेध वाक्य में पदों का सम्बन्ध होने से एकता है, वहाँ

---

१. यस्मान्मानाद्यस्मिन्न बाधिता धीस्तस्मात्तद्भावः सिध्यति यत्र तु यतो मानान्न तथा धीर्न ततस्तत्सिद्धिरित्युत्सर्गस्तथा च मन्त्रादिभ्योऽपि स्वार्थे चेदबाधिता धीस्ततस्तेषां तत्र प्रामाण्यमित्याह—अत्र—ब्रूम इति। न हि विषभक्षणवाक्यमन्यपरत्वान्न स्वार्थे मानं, किंतु मानांतरविरोधादिति तत्त्वम्। २. मानामानौ। ३ प्रमाणम्। ४. प्रतिसंयोगि वस्तु तात्पर्यनिरपेक्षमेव मानं चक्षुः, वाक्यं तु यत्र तात्पर्यं तत्र मानं न प्रत्यक्षमिति वैषम्यमाह अत्रेति। ५. मानमात्रेण। ६. प्रत्यक्षप्रमाणमस्ति। ७. विध्युद्देशो विधिवाक्यमिति विधिरुद्दिश्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः। ८. सिद्धार्थः। ९. अन्यथेत्यादौ शेषः।

स्याग्रहणम् । विध्युद्देशार्थवाक्ययोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्यानन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते । यथा हि—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वायव्यादिपदानां विधिना सम्बन्धः, नैवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येषामर्थवादगतानां पदानाम् । नहि भवति वायुर्वा आलभेतेति क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेतेत्यादि । वायुस्वभावसङ्कीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवं विशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति । तद्यत्र सोऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते । यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन । यत्र तु तदुभयं

नन्वयमेकं यदा सुरां पिबेदिति पदाभ्यामन्वेति तदा पदैकवाक्यमेकमेवार्थानुभवं करोति, न तु पदद्वयं पृथक्सुरापानं बोधयति, तस्य विधौ निषेधानुपपत्तेः । वाक्यार्थानुभवं प्रत्यद्वारत्वात् । अर्थवादस्तु भूतार्थसंसर्गं स्तुतिद्वारं बोधयन्विधिना वाक्यैकवाक्यतां भजत इत्यस्ति विग्रहाद्यनुभव इत्यर्थः । नन्वर्थवादस्थपदानामवान्तरसंसर्गबोधकत्वं विना साक्षादेव विध्यन्वयोऽस्तु, तत्राह—यथा हीति । साक्षादन्वयायोगं दर्शयति—न हीति । अर्थवादात्सर्वत्र स्वार्थग्रहणमाशङ्क्यार्थवादान्विभजते—तद्यत्रेति । तत्तत्रार्थवादेषु यत्र 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादावित्यर्थः । 'आदित्यो यूपः' इत्यभेदो

पर अवान्तर वाक्य के अर्थों का बोध नहीं होता है । किन्तु विधिवाक्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले अर्थवादवाक्य का अर्थबोध कुछ भिन्न प्रकार का है, वहाँ अर्थवादस्थ पद हैं जो पृथक् वृत्तान्त का बोध कराते हैं; उसके बाद जब यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि यह अर्थवादवाक्य किसलिए है तो इसी आकांक्षा के पूरकरूप से विधिवाक्य के साथ सम्बन्ध का बोध कराता है । जैसे कि 'ऐश्वर्य चाहने वाला यजमान वायु देवता से सम्बन्धित श्वेत पशु का आलभन करे' इस वाक्य में विधि उद्देश्यवर्ती वायव्यादि पदों का विधि पद के साथ सम्बन्ध है, उस विधि के साथ 'वायु अतिशीघ्रगामी देवता है इसलिए उस वायु को ही अपना भाग देकर सन्तुष्ट करता है तब वह वायु देवता ही उस यजमान को स्वसम्बन्धी ऐश्वर्य प्राप्त कराता है' इन अर्थवादवाक्यगत पदों का अन्वय कभी नहीं होता । अर्थवाद पदों का विधि पदों के साथ ऐसा अन्वय कभी नहीं होता कि 'वायु आलभन करे' और 'शीघ्रगामी देवता आलभन' करे इत्यादि । किन्तु इसमें तो वायु का स्वभाव बतलाकर अर्थवादवाक्यगत पद पहले अवान्तर अन्वय का बोध कराता है और ऐसे विशिष्ट देवता वाला यह कर्म है इस प्रकार विधि की स्तुति करते हैं । इनमें से जहाँ पर जो अवान्तर वाक्यार्थ प्रमाणान्तर का विषय होता है वहाँ तो उसका अनुवाद करते हुए अर्थवाद प्रवृत्त होता है और जहाँ प्रमाणान्तर से विरोध आता है वहाँ पर गुण बतलाते हुए अर्थवादवाक्य प्रवृत्त होता है किन्तु जहाँ पर अवान्तर वाक्यार्थ न तो प्रमाणान्तर का विषय है, और न प्रमाणान्तर के विरुद्ध है वहाँ पर जब प्रश्न होता है कि क्या प्रमाणान्तर का अभाव होने के कारण यह गुणवाद है अथवा प्रमाणान्तर से अवरोध होने के कारण

१. तयोर्मध्ये । २. अवांतरवाक्यार्थ इत्यनुकृष्यते । ३. अर्थवादः प्रवर्तते इत्यनुकृष्यते । ४. संवादविसंवादेत्येतदुभयम् । ५. सुरापानस्य । ६. महावाक्यार्थानुभवं प्रति अवांतरार्थस्य द्वारत्वमिष्टं सुरापानाख्यावांतरार्थस्यनिषेधवाक्यार्थे द्वारत्वाभावात्तन्न स्यादिति । ७. भूतार्थसंसर्गो विग्रहादिस्तस्य विधेययागस्तुति द्वारत्वं बोधयन्नित्यर्थः । ८. प्रयाजादिवत् । ९. अग्निर्हिमस्येत्यादीनां न स्वार्थे प्रामाण्यमिष्टम् ।

नास्ति तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद्गुणवादः स्यादाहोस्वित्प्रमाणान्तराविरोधाद्विद्यमानार्थवाद इति प्रतीतिशरणैर्विद्यमानार्थवाद आश्रयणीयो न गुणवादः। एतेन मन्त्रो व्याख्यातः। अपि च विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्। नहि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते। न च चेतस्यानारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। श्रावयति च—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३-८-१) इति। न च शब्द-

बाधित इति तेजस्वित्वादिगुणवादः। यत्र 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादौ मानान्तरसम्वादविसम्वादौ न स्तस्तत्र भूतार्थवाद इत्यर्थः, इति विमृश्येत्यध्याहारः। विग्रहार्थवादः, स्वार्थेऽपि तात्पर्यवान् अन्यपरत्वे सत्यज्ञाताबाधितार्थकशब्दत्वात्, प्रयाजादिवाक्यवदिति न्यायं मन्त्रेष्वतिदिशति—एतेनेति। वेदान्तानुवादगुणवादानां निरासाय हेतौ पदानि। न चोभयपरत्वे वाक्यभेदः, अवान्तरार्थस्य महावाक्यार्थद्वारत्वादिति भावः। विध्यनुपपत्त्यापि स्वर्गवद्देवताविग्रहोऽङ्गीकार्य इत्याह—अपि चेति। ननु क्लेशात्मके कर्मणि विधिः फलं विनाऽनुपपन्न इति भवतु 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्' इत्यर्थवादसिद्धः स्वर्गो विधिप्रमाणकः। विग्रहं विना विधेः कानुपपत्तिः, तामाह—न हीति। उद्दिश्य त्यागानुपपत्त्या चेतस्यारोहोऽङ्गीकार्य इत्यत्र श्रुतिमप्याह—यस्या इति। अतश्चेतस्यारोहार्थो विग्रह एष्टव्यः। किञ्च कर्मप्रकरणपाठाद्विग्रहप्रमितिरपि प्रयाजवत्कर्माङ्गत्वेनाङ्गीकार्या, तां विना कर्मापूर्वासिद्धेः। किञ्च सुप्रसन्नविग्रहवद्देवतां त्यक्त्वा शब्दमात्रं देवतेति भक्तिरयुक्तेत्याह—न च शब्देति। न चाऽऽकृतिमात्रं शब्दशक्यमस्तु किं विग्रहेणेति वाच्यं, निरर्थकत्वयाकृत्ययोगात्। अतः शब्दस्यार्थाकाङ्क्षायां मन्त्रादि-

विद्यमान अर्थ को बतलाता है तो ऐसा विचार कर प्रतीति के आधार पर विद्यमान अर्थ का ही बोधक मानना चाहिए, उसे गुणवाद नहीं मानना चाहिए। अर्थवाद वाक्य के सम्बन्ध में अभी जो तर्क दिया गया इससे मन्त्र वाक्य का तात्पर्य भी व्याख्यात हो गया कि 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इस वाक्य में जब मानान्तर का सम्वाद और विसम्वाद है नहीं तो उसे भूतार्थवाद ही कहना चाहिए। अतः देवविग्रह बतलाने वाला अर्थवादवाक्य स्वार्थ में भी तात्पर्य रखता है, अन्यपरक मानने पर अज्ञात एवं अबाधित अर्थ का बोधक होने से, प्रमाण आदि वाक्य के समान, स्वार्थ में तात्पर्य रखता है, ऐसा तर्क मन्त्र में भी लगा लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त इन्द्रादि देवता सम्बन्धी हवि का विधान करने वाले विधि वाक्यों को इन्द्रादि देवताओं के स्वरूप की अपेक्षा होती है क्योंकि रूपरहित इन्द्रादि किसी के चित में आरूढ़ नहीं हो सकते हैं और जब तक चित्त में उस देवता का स्वरूप न आ जाय तब तक उस देवता के लिए हवि प्रदान नहीं कर सकते हैं। श्रुति ने भी ऐसा ही कहा है—'हविर्धानि (यज्ञपात्रविशेष) में जिस देवता के लिए हवि का ग्रहण किया हो, उस देवता का मन से ध्यान करते हुए हवि छोड़।' इसके अतिरिक्त सुन्दर विग्रह वाले देवताओं को छोड़कर शब्दमात्र को देवता मानना भी सम्भव नहीं है क्योंकि शब्द और अर्थ में भेद देखा गया है। अग्नि शब्द का उच्चारण मुख से करते हैं किन्तु उसका अङ्गारा मुख से बाहर ही होता है, दोनों एक नहीं होते। यदि दोनों को एक मानोगे तो अङ्गार के स्पर्श से जिसप्रकार दाह होता है ऐसे ही अग्नि शब्द के उच्चारण में भी दाह मानना पड़ेगा, जो अनुभवविरुद्ध होने के कारण सर्वथा अमान्य है।

१. संवादाभावादित्यर्थः। २. देवताम्। प्रधानकर्म।

मात्रमर्थस्वरूपं सम्भवति, शब्दार्थयोर्भेदात्, तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूपमवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात्प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि सम्भवति। भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। [1]इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्। [2]ततश्च राजसूयादिचोदना उपरुन्ध्यात्। [3]इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान्वर्णाश्रमधर्मान्प्रतिजानीत। [4]ततश्च [5]व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। [6]तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना

प्रमितविग्रहोऽङ्गीकार्य इत्याह—तत्रेति। एवं मन्त्रार्थवादमूलकमितिहासादिकमपि विग्रहे मानमित्याह—इतिहासेति। प्रमाणत्वेन सम्भवादित्यर्थः। व्यासादीनां योगिनां देवताविप्रत्यक्षमपीतिहासादेर्मूलमित्याह—प्रत्यक्षेति। व्यासादयो देवादिप्रत्यक्षशून्याः, प्राणित्वात्, अस्मद्वदित्यनुमानमतिप्रसङ्गेन दूषयति—यस्त्वित्यादिना। सर्वं घटाभिन्नं, वस्तुत्वात्, घटवदिति जगद्वैचित्र्यं नास्तीत्यपि न ब्रूयात्। तथा क्षत्रियाभावं वर्णाश्रमाभावं वर्णाश्रमाद्यव्यवस्थां च ब्रूयात्, निरङ्कुशबुद्धित्वात्।

मन्त्र एवं अर्थवादवाक्य में इन्द्रादि का जैसा स्वरूप जाना गया है उस स्वरूप का निराकरण शब्दप्रमाण माननेवाले कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति नहीं कर सकते। इतिहास पुराण भी उसी मार्ग से मन्त्र एवं अर्थवादमूलक होने कारण देवताविग्रह आदि को सिद्ध करने में समर्थ हैं। देवता के विग्रह आदि मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाण भी सम्भव हो सकता है। हम लोगों को ऐसी किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं भी हुआ हो फिर भी चिरजीवी पुरुषों को ऐसे तत्त्व का भी प्रत्यक्ष होता है। व्यासादि देवताओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते सुने जाते हैं, इसमें पुराण-इतिहासादि प्रमाण है। और जो कोई ऐसा कहता हो कि जैसे वर्तमान समय में आधुनिक व्यक्तियों में देवादि के साथ व्यक्तिगत व्यवहार करने का सामर्थ्य नहीं है ऐसे ही पूर्वकाल में होनेवाले ऋषियों को भी देवादियों का प्रत्यक्षकरण सामर्थ्य नहीं था? तो ऐसा कहने वाला व्यक्ति जगत् की विचित्रता का निषेध कर डालेगा। फिर तो वह ऐसा भी कह सकता है कि जैसे आजकल कोई सार्वभौम क्षत्रिय नहीं है ऐसे ही अन्य समय में भी कोई सार्वभौम क्षत्रिय नहीं था, ऐसा दुराग्रह करने पर राजसूयादि यज्ञ का विधान ही बाधित हो जायेगा क्योंकि जब आज की भाँति कभी भी किसी भी युग में कोई सार्वभौम क्षत्रिय हुआ ही नहीं, तो फिर वेद में राजसूयादि यज्ञ का विधान व्यर्थ ही हो जायेगा। इस समय वर्णाश्रमधर्म व्यवस्थित नहीं है ऐसे ही कालान्तर में भी वर्णाश्रमधर्म व्यस्थित नहीं था, ऐसा कहने की प्रतिज्ञा भी वह व्यक्ति करने लग जायेगा, वैसी स्थिति में वर्णाश्रमधर्म व्यवस्था का विधान करनेवाला शास्त्र अनर्थक हो जायेगा। इसलिए धर्म की उत्कर्षता के कारण चिरन्तन

१. अतीतऽनागतकालो सार्वभौमशून्यो कालात्वद्वर्तमानकालवदित्यतिप्रसङ्गान्तरमाह—इदानीमिवेति। २. तत्रापि सिद्धसाध्यत्वं प्रत्याह—ततश्चेति। ३. विमतः कालोऽव्यवस्थितप्रायवर्णाश्रमशाली कालत्वात्संमतवदिति प्रसङ्गान्तरमाह-इदानीमिति। ४. तत्रापि सिद्धसाध्यत्वमाशङ्क्याह—ततश्चेति। ५. व्यवस्थाविधायीति तत्तद्युगेषु तत्तद्वर्णाश्रमयोगितया तत्तदसङ्कीर्णधर्मबोधकमित्यर्थः। ६. सामान्यतोदृष्टानुमानस्यातिप्रसक्तिप्रतिहतत्वे फलितमाह—तस्मादिति।

देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपिच स्मरन्ति—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' (यो० सू० २-४४) इत्यादि। योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—"पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्'॥ (श्वे० २-१२) इति'। ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम्। तस्मात्समूलमितिहासपुराणम्। लोकप्रसिद्धिरपि न सति सम्भवे निरालम्बनाध्यवसातुं युक्ता। तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः। ततश्चार्थित्वादिसम्भवादुपपन्नो देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः। क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते ॥३३॥

तथा च राजसूयादिशास्त्रस्य कृतादियुगधर्मव्यवस्थाशास्त्रस्य बाध इत्यर्थः। योगसूत्रार्थादपि देवादिप्रत्यक्षसिद्धिरित्याह—अपि चेति। मन्त्रजपादेवतासान्निध्यं तत्सम्भाषणं चेति सूत्रार्थः। योगमाहात्म्यस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वाद्योगिनामस्ति देवादिप्रत्यक्षमित्याह—योग इति। पादतलादाजानोर्जानोरानाभेर्नाभेराग्रीवाया ग्रीवायाश्चाऽऽकेशप्ररोहं ततश्चाब्रह्मरन्ध्रं पृथिव्यादिपञ्चके समुत्थिते धारणया जिते योगगुणे चाणिमादिके प्रवृत्ते योगाभिव्यक्तं तेजोमयं शरीरं प्राप्तस्य योगिनो न रोगादिस्पर्श इत्यर्थः। चित्रकारादिप्रसिद्धिरपि विग्रहे मानमित्याह—लोकेति। अधिकरणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। चिन्तायाः फलमाह—क्रमेति। एवमेव देवादानां ब्रह्मविद्याधिकारे सत्येव देवत्वप्राप्तिद्वारा क्रममुक्तिफलान्युपासनानि युज्यन्ते। देवानामनधिकारे ज्ञानाभावात्क्रममुक्त्यर्थिनामुपासनेषु प्रवृत्तिर्न स्यात्, अतोऽधिकारनिर्णयात्प्रवृत्तिसिद्धिरिति भावः ॥३३॥

पुरुष देवतादि के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे, ऐसा मानना ही उचित होगा।

योगसूत्र से भी देवादियों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध होता है। महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा कि 'स्वाध्याय (मन्त्रजपादि) से इष्टदेवता का सानिध्य और सम्भाषण प्राप्त होता है।' अणिमादि ऐश्वर्यप्राप्ति ही जिसका फल है ऐसा फल वतलाने वाले योग का खण्डन बिना समझे नहीं कर सकते, क्योंकि श्रुति ने भी योग का माहात्म्य बतलाया है—'जब किसी योगी के शरीर में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के गुण धारणादि द्वारा प्रवृत्त होते हैं, तव योगाभिव्यक्त तेजोमय शरीर उस योगी को प्राप्त हो जाता है, फिर तो उसे रोग, वृद्धावस्था और असमय मृत्यु का स्पर्श भी नहीं होता है।' मन्त्र एवं ब्राह्मण के द्रष्टा ऋषियों का सामर्थ्य भी हम लोगों के सामर्थ्य से तुल्य नहीं माने जा सकते अर्थात् जैसा सामर्थ्य आज हम सब में है वैसे ही सामर्थ्य मन्त्र द्रष्टा ऋषियों में भी था, ऐसा कहना उचित नहीं होगा। इसलिए इतिहास पुराण भी निर्मूल नहीं है, किन्तु उनके मूल में मन्त्र एवं अर्थवादवाक्य विद्यमान है। लोक में चित्रकार देवताओं के चित्र बनाते हैं यह प्रसिद्धि भी, उक्त रीति से देवादियों का विग्रह सिद्ध हो जाने पर, निरालम्ब नहीं मानी जा सकती। अतः मन्त्रादि से देवादि का विग्रहवाला होना सिद्ध हो गया, फिर तो उनमें ब्रह्मविद्या के फल मोक्ष की आकांक्षा भी हो ही सकती है। देवादि के अधिकार का निषेधक कोई वाक्य भी नहीं है, ऐसी स्थिति में देवादियों का भी ब्रह्मविद्या मे अधिकार सिद्ध हो गया। क्रममुक्ति वतलाने वाली उपासनायें भी पूर्वोक्त प्रकार से ही युक्तियुक्त सिद्ध हो पाती हैं अन्यथा क्रममुक्ति चाहने वाले तदुचित उपासना में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते हैं और अधिकार का निश्चय हो जाने पर उपासनाओं में प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है। इसलिए देवताओं को शरीरधारी मानना चाहिए ॥३३॥

९. अपशूद्राधिकरणम् (सू० ३४-३८)

(९७) शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥३४॥

शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा न हि । अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान् ।
देवाः स्वयंभातवेदाः शूद्रोऽध्ययनवर्जनात् । नाधिकारी श्रुतौ स्मार्ते त्वधिकारो न वार्यते ॥

यथा मनुष्याधिकारनियममपोह्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तस्तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यते । तत्र शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादिति तावत्प्राप्तम् । अर्थित्वसामर्थ्ययोःसम्भवात् ।

शुगस्य—सूच्यते हि । पूर्वेणास्य दृष्टान्तसङ्गतिमाह—यथेति । पूर्वत्र देवादीनामधिकारसिध्यर्थं मन्त्रादीनां 'भूतार्थे विग्रहादौ समन्वयोक्त्या वेदान्तानामपि भूतार्थे ब्रह्मणि समन्वयो दृढीकृतः । अत्रापि शूद्रशब्दस्य श्रौतस्य क्षत्रिये समन्वयोक्त्या स दृढीक्रियत इत्यधिकरणद्वयस्य प्रासङ्गिकस्यास्मिन्समन्वयाध्यायेऽन्तर्भाव इति मन्तव्यम् । पूर्वपक्षे शूद्रस्याऽपि द्विजवद्वेदान्तश्रवणे प्रवृत्तिः, सिद्धान्ते तदभाव इति फलम् । अत्र वेदान्तविचारो विषयः, स किं शूद्रमधिकरोति न वेति सम्भवासभवाभ्यां सन्देहे पूर्वपक्षमाह—तत्र शूद्रस्यापीत्यादिना । तस्मादनग्नित्वादनवक्लृप्तोऽसमर्थः । विद्यार्थिनि शूद्र-

९. अपशूद्राधिकरण

१—श्रुति में देवादि सुने जाने से जैसे ब्रह्मविद्या में उनका अधिकार कहा गया वैसे ही श्रुति में शूद्र शब्द का श्रवण होने से शूद्र का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, ऐसे पूर्व अधिकरण के निर्णीत-विषय को दृष्टान्त बनाकर इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है, इसलिए पूर्व के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है ।

२—"**अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु**" (छा० ४।२।३) यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३—वेदविद्या में शूद्र का अधिकार है अथवा नहीं ? ऐसा संशय होता है ।

४—त्रैवर्णिक से भिन्न होने पर भी जैसे देवादि ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं वैसे ही शूद्र भी अधिकारी माना जायेगा ।

५—देवादियों को वेद का ज्ञान जन्मसिद्ध होता है और विद्या का फल भी उन्हें अभीष्ट है, अतः वे वेदविद्या में अधिकारी माने जाते हैं; किन्तु वेदाध्ययन शूद्रों के लिए निषिद्ध होने के कारण विद्याफलाकांक्षा उनमें रहने पर भी वेदोक्त ज्ञान में उनका अधिकार नहीं, श्रुति एवं स्मृति में उनके वेदाध्ययन का निषेध भी किया गया है ।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि (ललिता)

पूर्व अधिकरण के साथ इसकी दृष्टान्त संगति है, जिसे भाष्यकार कहते हैं कि जिस प्रकार विद्या में मनुष्याधिकार नियम का अपवादकर देवादियों का भी आधिकार कहा, ऐसे ही वेदविद्या में द्विजातीय अधिकारनियम के अपवादरूप से शूद्र का भी अधिकार मानना चाहिए; इस आशङ्का को दूर करने के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ पर पूर्वपक्ष ने शूद्र का भी वेदविद्या में अधिकार माना है, क्योंकि उसमें भी विद्या फल मोक्ष की आकांक्षा सम्भव है और

१. सिद्धार्थे ।

'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७-१-१-६) इतिवत् 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' इति च निषेधाश्रवणात् । [१]यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं शूद्रस्यानग्नित्वं, न तद्विद्यास्वधिकारस्यापवादकं लिङ्गम् । [२]न ह्याहवनीयादिरहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते । 'भवति च लिङ्गं शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम्, संवर्गविद्यायां हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति—'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' (छा० ४-२-३) इति । विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विशिष्टविज्ञानसम्पन्नाः स्मर्यन्ते । तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याधिकारः,

---

शब्दप्रयोगाल्लिङ्गादपि शूद्रस्याधिकार इत्याह—भवति चेति । जानश्रुतिः किल षट् शतानि गवां रथं च रैक्वाय गुरवे निवेद्य मां शिक्षयेत्युवाच, ततो रैक्वो विधुरः कन्यार्थी सन्निदमुवाच—अहेति । निपातः खेदार्थः । हारेण निष्केण युक्त इत्वा गन्ता रथो हारेत्वा स च गोभिस्सह हे शूद्र, तवैवास्तु किमल्पेनानेन मम गार्हस्थ्यानुपयोगिनेति भावः । अर्थित्वादिसम्भवे श्रेयस्साधने प्रवृत्तिरुचिता स्वाभाविकत्वादिति न्यायोपेताल्लिङ्गादित्याह—तस्मादिति । सूत्राद्बहिरेव सिद्धान्तयति—न शूद्रस्याधिकार इत्यादिना । आपाततो विदितो वेदार्थो येन तस्येत्यर्थः । अध्ययनविधिना संस्कृतो वेदस्तदुत्थमापातज्ञानञ्च वेदार्थविचारेषु शास्त्रीयं सामर्थ्यम्, तदभावाच्छूद्रस्यार्थित्वादिसम्भवन्याया-

---

तदर्थानुष्ठान सामर्थ्य भी सम्भव है । 'यज्ञानुष्ठान में शूद्र समर्थ नहीं है' यज्ञानुष्ठान में शूद्र के अधिकार का निषेध करने वाला यह वाक्य जिस प्रकार है वैसा 'शूद्र विद्या ग्रहण करने में समर्थ नहीं है' ऐसा निषेध नहीं सुना जाता और जो कर्मों में शूद्र के अनधिकार का कारण अनग्नित्व कहा गया है अर्थात् शूद्र के लिए अग्नि आधान का विधान नहीं है । 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीन् आदधीत ग्रीष्मे राजन्य शरदे वैश्यः' इन वाक्यों के द्वारा ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक के लिए अग्नि आधान का विधान एवं काल निश्चित किया गया है वैसा शूद्र के लिए न अग्नि आधान का विधान है, न उसके लिए काल ही निर्धारित है । अतः शूद्र का वैदिक कर्मानुष्ठान में अधिकार नहीं है वैसा विद्याधिकार का निषेध करने वाला कोई लिङ्ग नहीं दीखता है जिससे वेदविद्या में शूद्र का अनधिकार माना जाय । आहवनीय अग्नि के न रहने पर विद्या को प्राप्त ही नहीं कर सकता ऐसी बात नहीं है । इसके विपरीत वेदविद्या में शूद्र के अधिकार का समर्थक लिङ्ग देखा जाता है क्योंकि संवर्ग-विद्या में श्रवण की इच्छा से आये हुए पौत्रायण जानश्रुति को रैक्व ने पहले शूद्र शब्द से सम्बोधित किया है । जब जानश्रुति ने छः सौ गायें, निष्क (हार) और रथ आचार्य रैक्व को निवेदितकर शिक्षा के लिए प्रार्थना की, तो विधुर रैक्व जो कन्यार्थी था, उसने कहा—दुःख है, अरे शूद्र ! गायों के सहित यह हार और खच्चरियों से युक्त रथ तू वापस ले जा, यह भेंट तुझे ही मुबारक हो क्योंकि गार्हस्थ्यानुपयोगी इस अल्प साधन से मेरा काम नहीं चलेगा । विदुर आदि शूद्र योनि में जन्म लेकर विशिष्ट वैदिक विज्ञान से सम्पन्न देखे जाते हैं । अतः शूद्र भी विद्या में अधिकारी माना जाना जायेगा ? ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि वेदार्थ अनुष्ठान में वेदाध्ययन का अभाव होने

---

१. कर्मानधिकारे तेनैव न्यायेन विद्यायामपि नाधिकारस्तत्राह—यच्चेति । २. किमाहवनीयाद्यभावादनधिकारः शूद्रस्य विद्यायामुच्यते किं वाऽधिकारे मानाभावात्तत्राद्यं दूषयति—न हीति । ३. विद्याया इष्टसाधनत्वादाहवनीयादेस्तत्राकिञ्चित्करत्वात्तद्रहितस्यापि तद्धेतुमतस्तत्प्राप्तिरिति भावः । द्वितीयं निराह-भवतीति ।

वेदाध्ययनाभावात् । अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते । न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात् यत्त्वर्थित्वं न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति । सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति । शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्यसामर्थ्यस्यापेक्षितत्वात् । शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याध्यननिराकरणेन निराकृतत्वात् । यच्चेदं–'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'–इति तन्न्यायपूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यनवक्लृप्तत्वं द्योतयति, न्यायस्य साधारणत्वात् । यत्पुनः संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तल्लिङ्गं, न्यायाभावात् । न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं द्योतकं भवति, न चात्र न्यायोऽस्ति । कामं चायं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषयत्वात्, न सर्वासु विद्यासु । अर्थवादस्थत्वात्तु न

सिद्धेर्नास्ति वेदान्तविचाराधिकार इत्यर्थः । यद्वाऽध्ययनसंस्कृतेन वेदेन विदितो निश्चितो वेदार्थो येन, तस्य वेदार्थेषु[1] विधिष्वधिकारो नान्यस्य, अनधीतवेदस्यापि वेदार्थानुष्ठानाधिकारेऽध्ययनविधिवैयर्थ्यापातात् । अतः फलपर्यन्तब्रह्मविद्यासाधनेषु श्रवणादिविधिषु शूद्रस्यानधिकार इत्यर्थः । अधीतवेदार्थज्ञानवत्स्वरूपस्याध्ययनविधिलभ्यस्य सामर्थ्यस्याभावादिति न्यायस्य तुल्यत्वात् यज्ञपदं वेदार्थोपलक्षणार्थमित्याह—न्यायस्य साधारणत्वादिति । तस्माच्छूद्र इति तच्छब्दपरामृष्टन्यायस्य यज्ञब्रह्मविद्ययोस्तुल्यत्वादित्यर्थः । पूर्वोक्तं लिङ्गं दूषयति—यदिति । असामर्थ्यन्यायेनार्थित्वादिसम्भवन्यायस्य निरस्तत्वादित्यर्थः । ननु 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इत्यत्राध्ययनाभावेऽपि निषादशब्दान्निषादस्येष्टाविव शूद्रशब्दाच्छूद्रस्य विद्यायामधिकारोऽस्त्वित्याशङ्क्य संवर्गविद्यायामधिकारमङ्गीकरोति—काममिति । तद्विषयत्वात्तत्र श्रुतत्वादित्यर्थः । वस्तुतस्तु विधिवाक्यस्थत्वान्निषादशब्दो-

के कारण शूद्र का अधिकार नहीं है क्योंकि जिसने वेद का अध्ययन किया है और जिसे वेद का अर्थ आपाततः अवगत भी है ऐसा व्यक्ति ही वेदार्थानुष्ठान में अधिकारी माना जाता है । शूद्र वेदाध्ययन नहीं करता है क्योंकि अध्ययन से पूर्व उपनयन का होना आवश्यक है और उपनयन का विधान त्रैवर्णिक के लिए ही किया गया है, शूद्र के लिए नहीं । और आपने जो शूद्र में अर्थित्व कहा है वह अर्थित्व शास्त्रीय सामर्थ्य के बिना अधिकार का कारण नहीं बनता है । केवल लौकिक सामर्थ्य अधिकार का प्रयोजक नहीं होता है, शास्त्रीय अर्थ में शास्त्रीय सामर्थ्य की अपेक्षा होती है । शास्त्रीय सामर्थ्य के अभाव में जब अध्ययन का निराकरण किया तो उसमें शास्त्रीय सामर्थ्य का भी निराकरण हो गया । और जो आपने कहा था कि 'यज्ञानुष्ठान में शूद्र समर्थ नहीं है' इस वाक्य की भाँति विद्या में अधिकार का निषेधक कोई वाक्य नहीं है, यह न्यायपूर्वकत्व हेतु से विद्या में भी असामर्थ्य को बतलाता है क्योंकि न्याय सभी के लिए साधारण होता है । और जो आपने संवर्ग विद्या में शूद्र शब्द का श्रवण वेदविद्या में शूद्राधिकार का परिचायक लिङ्ग माना है वह न्याय के अभाव में वस्तुतः लिङ्ग नहीं है, न्याय के रहने पर ही लिङ्ग दर्शन अर्थ का प्रकाशक होता है किन्तु यहाँ पर न्याय है ही नहीं । भले ही सम्वर्गविद्या में सुना गया शूद्र शब्द सम्वर्गविद्या में ही शूद्र के अधिकार का प्रतिपादन करे क्योंकि वहीं उसका विषय है, सभी विद्याओं में यह शूद्र शब्द अधिकार का सूचक नहीं हो सकता; साथ ही, अर्थवाद वाक्य में

१. ज्योतिष्टोमादिषु ।

क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते। शक्यते चायं शूद्रशब्दोऽधिकृत[1]विषये योजयितुम्। कथमित्युच्यते—'कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ' (छा० ४-१-३) इत्यस्माद्धंसवाक्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतोजानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पेदे, तामृषी रैक्वः शूद्रशब्देनानेन सूचयांबभूवात्मनः परोक्षज्ञानताख्यापनायेति गम्यते, जातिशूद्रस्यानधिकारात्।

ऽप्यधिकारिसमर्पकः, शूद्रशब्दस्तु '[2]विद्याविधिपरार्थवादस्थो नाधिकारिणं बोधयति, असामर्थ्यन्यायविरोधेनान्यपरशब्दस्य स्वार्थबोधित्वासम्भवादिति मत्वाङ्गीकारं त्यजति—अर्थवादेति। तर्हि शूद्रशब्दस्यात्र श्रुतस्य कोऽर्थ इत्याशङ्क्य सूत्रेणार्थमाह—शक्यते चेत्यादिना। जानश्रुतिर्नाम राजा निदाघसमये रात्रौ प्रासादतले सुष्वाप, तदा तदीयान्नदानादिगुणगणतोषिता ऋषयोऽस्य हितार्थं हंसा भूत्वा मालारूपेण तस्योपर्याजग्मुः, तेषु पाश्चात्यो हंसोऽग्रेसरं हंसमुवाच, भो भो भल्लाक्ष, किं न पश्यसि जानश्रुतेरस्य तेजः स्वर्गं व्याप्य स्थितं, तत्त्वां धक्ष्यति, न गच्छेति। तमग्रेसर उवाच, कमपि एनं वराकं विद्याहीनं सन्तम्, अरे, सयुग्वानं–युग्वा गन्त्री शकटी तया सह स्थितं रैक्वमिव एतद्वचनमात्थ। रैक्वस्य हि ब्रह्मिष्ठस्य तेजो दुरतिक्रमं नास्यानात्मज्ञस्येत्यर्थः। अस्मद्वचनात् खिन्नो राजा

स्थित होने के कारण यह शूद्र शब्द कहीं भी वेदविद्या में शूद्र के अधिकार का प्रयोजक नहीं बन सकता। इसके विपरीत सम्वर्गविद्या में आया हुआ शूद्र शब्द द्विजाति के लिए ही प्रयुक्त किया गया है जो वेदविद्या में अधिकृत हैं। कैसे अधिकृत हैं ? इसे कहते हैं—जब जानश्रुति राजा गर्मी से सन्तप्त रात्रि के समय अपने महल की छत पर सुखपूर्वक सो रहा था, तब उसके अन्नदानादि गुणों से सन्तुष्ट ऋषि लोग उसके हित के लिए हंसरूप धारणकर पंक्तिबद्ध आकाशमण्डल में उड़ते हुए आये। इनमें से पीछे वाले हंस ने आगे जाने वाले हंस से कहा—भो भो भल्लाक्ष ! जानश्रुति का तेज जो स्वर्ग तक पहुँच गया है उसे नहीं देखते हो, वह तुझे जला डालेगा, अतः उसके पास न जाओ। इसी बात को सुनकर आगे उड़ने वाले हंस ने कहा—अरे, इस बेचारे विद्याहीन राजा की सयुग्वा रैक्व की भाँति प्रशंसा करते हो। रैक्व ब्रह्मनिष्ठ थे, उनका तेज दुरतिक्रम था; वह तेज कभी अनात्मज्ञ में नहीं आ सकता। हंस की इसी बात से राजा जानश्रुति ने अपना तिरस्कार माना, इसी से उसे शोक उत्पन्न हुआ। उसी शोक को संवर्गविद्या के आचार्य रैक्व ऋषि ने इस 'शूद्र' शब्द से सूचित किया, परोक्षवस्तु का भी ज्ञान हमें होता है इसके ख्यापन के लिए ऐसा कहा। इससे जन्मना शूद्र जाति के व्यक्ति का वेदान्त श्रवण में अधिकार सिद्ध नहीं होता है। शूद्र शब्द से जानश्रुति को शोक उत्पन्न हुआ यह कैसे सूचित हो रहा है ? इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि उस समय शोक से व्याप्त हो वह रैक्व के पास गया। वह जानश्रुति शोकग्रस्त हुआ और शोकग्रस्त होकर ही रैक्व के पास विद्या सीखने के लिए गया, इसलिए उसे शूद्र कहा है। यहाँ पर 'शूद्र' शब्द यौगिक अर्थवाला है, रूढ़ नहीं है। जब शूद्र शब्द का अवयवार्थ सम्भव हो तो रूढ़ार्थ मानना उचित नहीं होता, यही तात्पर्य इस आख्यायिका में दिखाई पड़ता है। अतः इस आख्यायिका के आधार पर वेदाध्ययन आदि में शूद्र का अधिकार सिद्ध नहीं होता। छान्दोग्य श्रुति में हंसों का संवाद इसीलिए कहा गया है कि हंस समझते हैं कि हमारे वचन से दुखी हो राजा शकटलिङ्ग से रैक्व को जानकर एवं उसके पास उपदेश ग्रहण करके विद्यायुक्त हो जायेगा।

१. द्विजातिविषये। २. विद्याविधिपरार्थवादस्थेति विद्याया रैक्वोपदिष्टसंवर्गविद्याया विधिस्तत्परो योऽर्थवाद अह हारेत्वा शूद्र तवैव सहगोभिरस्त्विति तस्थोऽर्थवादस्थ इत्यर्थः।

(९८) क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

कथं पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यते इति ? उच्यते—तदाद्रवणात् । शुचमभिदुद्राव, शुचा वाभिदुद्रुवे शुचा वा रैक्वमभिदुद्रावेति शूद्रः । अवयवार्थसम्भवाद्रूढ्यर्थस्य चासम्भवात् । दृश्यते चायमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ॥३४॥

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः, यत्कारणं प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्वमस्योत्तरत्र चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहारात्लिङ्गादवगम्यते । उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारी क्षत्रियः सङ्कीर्त्यते—'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सुदेन परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे' (छा० ४-३-५) इति । चैत्ररथित्वं चाभि-

शकटलिङ्गेन रैक्वं ज्ञात्वा विद्यावान्भविष्यतीति हंसानामभिप्रायः । कम् उ अरे इति पदच्छेदः । उशब्दोऽप्यर्थः । तेषां हंसानामनादरवाक्यश्रवणादस्य राज्ञः शुगुत्पन्ना, सा शूद्रशब्देन रैक्वेण सूच्यते हीति सूत्रान्वयः । श्रुतयौगिकार्थलाभे सति अनन्वितरूढ्यर्थस्त्याज्य इति न्यायद्योतनार्थो हिशब्दः । तदाद्रवणात् तया शुचा 'आद्रवणात् । शूद्रः शोकं प्राप्तवान् । शुचा वा कर्त्र्या राजाऽभिदुद्रुवे प्राप्तः । शुचा वा करणेन रैक्वं गतवानि'त्यर्थः ॥३४॥

शूद्रशब्दस्य यौगिकत्वे लिङ्गमाह—क्षत्रियत्वेति । संवर्गविद्याविध्यनन्तरमर्थवाद आरभ्यते । शुनकस्यापत्यं कपिगोत्रं पुरोहितमभिप्रतारिनामकं राजानं च कक्षसेनस्यापत्यं 'सूदेन परिविष्यमाणौ तौ भोक्तुमुपविष्टौ बटुर्भिक्षितवानित्यर्थः । नन्वस्य चैत्ररथित्वं न श्रुतमित्यत आह—चैत्ररथित्वं चेति ।

हंस के वचन में जो पद हैं उनका पदच्छेद इस प्रकार करना चाहिए 'कम् उ अरे' इति, इसमें उ शब्द अपि के अर्थ में है । उन हंसों के अनादरसूचक वाक्य को सुनकर इस राजा को शोक उत्पन्न हुआ, उसी शोक को रैक्व ने 'शूद्र' शब्द से सूचित किया । जब यौगिक अर्थ प्राप्त हो गया तो अनन्वितरूढ़ अर्थ का त्याग कर देना चाहिए, इस न्याय के द्योतन के लिए सूत्र में "हि" शब्द आया है । "तदाद्रवणात्" शब्द का अर्थ है कि जानश्रुति उस शोक से व्याप्त हो गया, अतः शूद्र शब्द का अर्थ है शोक को प्राप्त होना । शोक करता है जो शोक राजा को रैक्व के पास जाने के लिए प्रेरित करता है यह भी उस वाक्य का अर्थ है । अथवा शोक के कारण रैक्व के पास जानश्रुति गया । इस प्रकार सूत्र में आया हुआ 'शूद्र' शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की गयी ॥३४॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् (ललिता)

शूद्र शब्द को यौगिक मानने में यह भी एक लिङ्ग है जिसे अग्रिम सूत्र से कहते हैं कि राजा जानश्रुति इसलिए भी जाति से शूद्र नहीं था, क्योंकि जब हम इस प्रकरण का निरूपण करते हैं, तो उसमें क्षत्रियत्व का बोध होता है । इस आख्यायिका के अग्रिम प्रसंग में प्रसिद्ध चैत्ररथ अभिप्रतारि के साथ जानश्रुति का समभिव्याहार देखा जाता है जो उसके क्षत्रिय होने में लिङ्गप्रमाण है । आगे संवर्गविद्या के वाक्यशेष में चैत्ररथ अभिप्रतारी को क्षत्रिय कहा गया है—'सुनक का पुत्र कपि गोत्र में उत्पन्न पुरोहित और अभिप्रतारीनामक राजा जो कक्षसेन का पुत्र था, उन दोनों को जब सूद (भोजन पाचक) भोजन परोस रहा था और वे दोनों भोजन के लिये बैठे थे, उस

१. सूपकारेण । २. व्याप्तत्वात् इत्यर्थः । ३. एवं तावत्तदा द्रवणादिति पञ्चम्यन्तेन शुग्जानश्रुती रैक्वो वा गृह्यते इति भावः । ४. सूपकारेण ।

(९९) संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

प्रतारिणः कापेययोगादवगन्तव्यम्, कापेययोगो हि चित्ररथस्यावगतः 'एतेन वै चित्ररथं कापेया 'अयाजयन्' (ताण्डय ब्रा० २०-१२-५)इति। समानान्वयानां च प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति । 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात्क्षत्रियत्वमस्यावगन्तव्यम् । तेन क्षत्रियेणाभिप्रतारिणा सह समानायां विद्यायां सङ्कीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति । समानानामेव हि प्रायेण समभिव्याहारा भवन्ति । क्षत्तृप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः,क्षत्रियत्वावगतिः। अतो न जातिशूद्रस्याधिकारः ॥३५॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः, यद्विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते—

एतेन द्विरात्रेणेति छान्दोग्यश्रुत्यैव पूर्वं चित्ररथस्य कापेययोग उक्तः । अभिप्रतारिणोऽपि तद्योगाच्चित्ररथवंश्यत्वं निश्चीयते । राजवंश्यानां हि प्रायेण पुरोहितवंश्या याजका भवन्तीत्यर्थः । नन्वस्त्वभिप्रतारिणश्चैत्ररथित्वं तावता कथं क्षत्रियत्वं, तत्राह—तस्मादिति । चित्ररथादित्यर्थः । क्षत्ता सूतस्तस्य रैक्वान्वेषणाय प्रेषणम्, अन्नगोदानादिकं च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वे लिङ्गम् ॥३५॥

अत्र शूद्रशब्दो यौगिक एवेति न शूद्रस्याधिकार इति स्थितम् । तत्र लिङ्गान्तरमाह—संस्कारेति । उपनयनं वेदग्रहणाङ्गं शूद्रस्य नास्तीति पूर्वमुक्तम् । इह विद्याग्रहणाङ्गस्योपनयनसंस्कारस्य सर्वत्र परामर्शाच्छूद्रस्य तदभावान्न विद्याधिकारः इत्युच्यते । भाष्ये आदिपदेनाध्ययन-

---

समय एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा माँगी।' इस आख्यान से कापेय के साथ सम्बन्ध होने के कारण अभिप्रतारी में चैत्ररथित्व जानना चाहिए क्योंकि चित्ररथ का कापेय के साथ सम्बन्ध अवगत होता है। राजवंशियों के पुरोहित प्रायश: समान गोत्र वाले हुआ करते थे। छान्दोग्य श्रुति के द्वारा यह कहा गया है 'द्विरात्र याग से कापेयों ने चैत्ररथ को यजन करवाया ।' समान वंशवालों में ही प्रायश: समान गोत्र वाले याजक हुआ करते हैं। 'अतः चैत्ररथनामक एक क्षत्रपति राजा था जिससे एक क्षत्रपति राजा उत्पन्न हुआ था' इससे उसमें क्षत्रपतित्व भी जाना जाता है। अतः जानश्रुति में क्षत्रियत्व समझना चाहिए। उस क्षत्रिय अभिप्रतारी के साथ समान विद्या में जो जानश्रुति का संकीर्तन है वह भी जानश्रुति के क्षत्रियत्व को सूचित करता है क्योंकि समान जाति, कुलादि में प्रायश: समभिव्याहार होते हैं। जानश्रुति ने क्षत्ता-सूत को रैक्व के अन्वेषण के लिए भेजा तथा जो अन्न-गोदान आदि दिया, ये सब के सब उसके क्षत्रिय होने में परिचायक हैं। अतः जन्म से शूद्र का अधिकार इस प्रसंग द्वारा सिद्ध नहीं होता ॥३५॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च (ललिता)

यहाँ पर शूद्र शब्द यौगिक ही है, अतः शूद्र जाति का वेदविद्या में अधिकार नहीं है। इसी बात को बतलाने के लिए एक अन्य लिङ्ग भी देते हैं। विद्याप्रदेश में उपनयनादि संस्कार का परामर्श होता है, वह भी शूद्र के वेदाध्ययन में अनधिकार का परिचायक है। उपनयन वेदाध्ययन का अंग है, वह शूद्र में देखा नहीं जाता। 'समीप में आया हुआ उस शिष्य का उपनयन आचार्य ने किया'

---

१. छांदोग्यांतर्गतताण्डि ब्रा० ।

(१००) तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

'तं होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११-५-३-१३)। 'अधीहि भगव इति होपससाद' (छा० ७-१-१) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति' 'ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' (प्र० १-१) इति च, 'तान्हानुपनीयैव' (छा० ५-११-७) इत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्राप्तिर्भवति। शूद्रस्य च संस्काराभावोऽभिलप्यते, 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०-४) इत्येकजातित्वस्मरणात्। 'न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति' (मनु० १०-१२-६) इत्यादिभिश्च ॥३६॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः। यत्सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतम

गुरुशुश्रूषादयो गृह्यन्ते। तं शिष्यमाचार्य उपनीतवानित्यर्थः। नारदोऽपि विद्यार्थी मन्त्रमुच्चारयन्सनत्कुमारमुपगत इत्याह—अधीति। उपदिशेति यावत्। ब्रह्मपरा वेदपारगाः, सगुणब्रह्मनिष्ठाः, परं निर्गुणं ब्रह्मान्वेषमाणाः, एषः पिप्पलादः तज्जिज्ञासितं सर्वं वक्ष्यतीति निश्चित्य ते भरद्वाजादयः षड् ऋषयस्तमुपगता इत्यर्थः। ननु वैश्वानरविद्यायामृषीन्राजाऽनुपनीयैव विद्यामुवाचेति श्रुतेरनुपनीतस्याप्यस्ति विद्याधिकार इत्यत आह—तान्हेति। 'ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे' (छा० ५-११-७) इति पूर्ववाक्ये ब्राह्मणा उपनयनार्थमागता इति उपनयनप्राप्तिं दर्शयित्वा निषिध्यते। हीनवर्णेनोत्तमवर्णाऽनुपनीयैवोपदेष्टव्या इत्याचारज्ञापनार्थमित्यर्थः। एकजातिरनुपनीतः। पातकमभक्ष्यभक्षणकृतम् ॥३६॥

सत्यकामः किल मृतपितृको जबालां मातरमपृच्छत्, किङ्गोत्रोऽहमिति। तं मातोवाच भर्तृसेवाव्यग्रतयाहमपि तव पितुर्गोत्रं न जानामि, जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति

'नारद भी विद्यार्थी थे, वेदमन्त्र का उच्चारण करते हुए सनत्कुमार के पास गये और उनसे कहा कि भगवन्! मुझे उपदेश कीजिए' सगुणब्रह्म में निष्ठा रखने वाले वेदपारंगत ऋषिगण निर्गुण परब्रह्म के अन्वेषण में समित्पाणि होकर महर्षि पिप्पलाद के पास गये कि ये पिप्पलाद हमें परब्रह्म का उपदेश करेंगे ऐसा निश्चयकर वे भारद्वाजादि छः ऋषि जब पिप्पलाद के पास गये तब उन छः ऋषियों का महर्षि पिप्पलाद ने उपनयन किया। इससे भी विद्याग्रहण के लिए उपनयन को अनिवार्य अङ्ग बतलाते हैं। वैश्वानर विद्या का उपदेश आगत ऋषियों को राजा ने उनका उपनयन संस्कार किये बिना ही कर दिया इससे उनमें उपनयन की प्राप्ति तो सिद्ध ही हो जाती है किन्तु क्षत्रिय होने के कारण ब्राह्मणों के उपनयन करने का अधिकार क्षत्रियों को नहीं है। शूद्र के लिए संस्कार का अभाव सुना जाता है। शूद्र एक चतुर्थ वर्ण है उसका एक ही जन्म होता है अर्थात् उसका वैदिक संस्कार नहीं होता इससे उसमें एकजातित्व सिद्ध हुआ। 'शूद्र को अभक्ष्य भक्षणादि के कारण कोई पातक नहीं लगता और उसका कोई संस्कार नहीं होता' इससे भी शूद्र का वेदविद्या में अधिकाराभाव सिद्ध होता है ॥३६॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः (ललिता)

इसलिए भी शूद्र का वेदविद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि जब सत्यकाम के सत्यभाषण से उसमें अशूद्रत्व का निश्चय हो गया, तब उस जबालापुत्र सत्यकाम जाबाल का हारिद्रुमत गौतम उपनयन करने एवं वेद का उपदेश करने के लिए प्रवृत्त हुए। 'ब्राह्मण से भिन्न ऐसा स्पष्टवादी दूसरा नहीं हो सकता। इसलिए गौतम ने सत्यकाम से कहा, हे सोम्य! समिधा लाओ, मैं तुम्हारा

(१०१) श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३८॥

उपनेतुमनुशासितुं च प्रववृते । 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः' (छा० ४-४-५) इति श्रुतिलिङ्गात् ॥३७॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः । यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते । श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति । 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च । अत एवाध्ययनप्रतिषेधः । यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति स कथमश्रुतमधीयीत । भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति । अतएव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति, द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च । येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याध-

---

एतावज्जानामीति । ततः स जाबालो गौतममागत्य तेन किङ्गोत्रोऽसीति पृष्ट उवाच, नाहं गोत्रं वेद्मि न माता वेत्ति परन्तु मे मात्रा कथितं, उपनयनार्थमाचार्यं गत्वा सत्यकामो जाबालोऽस्मीति ब्रूहीति । अनेन सत्यवचनेन तस्य शूद्रत्वाभावो निर्धारितः । अब्राह्मण एतत्सत्यं विविच्य वक्तुं नार्हतीति निर्धार्य, हे सोम्य, सत्यात्त्वं नागाः सत्यं न त्यक्तवानसि, अतस्त्वामुपनेष्ये, तदर्थं समिधमाहरेति गौतमस्य प्रवृत्तेश्च लिङ्गान्न शूद्रस्याधिकार इत्याह—तदभावेति ॥३७॥

स्मृत्या श्रवणादिनिषेधाच्च नाधिकार इत्याह—श्रवणेति । अस्य शूद्रस्य द्विजैः पठ्यमानं वेदं प्रमादाच्छृण्वतः सीसलाक्षाभ्यां तप्ताभ्यां श्रोत्रद्वयपूरणं प्रायश्चित्तं कार्यमित्यर्थः । पद्यु पादयुक्तम्, सञ्चरिष्णुरूपमिति यावत् । भवति च । स्मृतिरिति शेषः । मतिर्वेदार्थज्ञानम् दानं नित्यं निषिध्यते शूद्रस्य । नैमित्तिकं तु दानमस्त्येव । यदुक्तं विदुरादीनां ज्ञानित्वं दृष्टमिति, तत्राह—येषामिति ।

उपनयन करूँगा क्योंकि तुमने सत्य का त्याग नहीं किया' श्रुतिलिङ्ग से भी शूद्र का वेदाध्ययन में अधिकाराभाव निश्चत होता है ॥३७॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च (ललिता)

स्मृति ने शूद्र के लिए वेदश्रवण एवं अध्ययन का निषेध किया है, अतः शूद्र का वैदिकविद्या में अधिकार नहीं है । वेदश्रवण का निषेध, वेदाध्ययन का निषेध, वेदार्थ ज्ञान का और उसके अनुष्ठान का निषेध स्मृति में शूद्र के लिए किया गया है । श्रवण का निषेध करते हुए कहा है कि 'यदि शूद्र वेद सुन लेता हो तो उसके श्रोत्र को तप्त सीसे और लाक्ष से भर देना ही प्रायश्चित्त है ।' शूद्र के समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए क्योंकि शूद्र चलता-फिरता श्मशान है। इसलिए भी शूद्र के अध्ययन को प्रतिषिद्ध किया गया है क्योंकि जिसके समीप में भी अध्ययन नहीं करना चाहिए वह भला सुने हुए वेद का अध्ययन कैसे करेगा । वेदमन्त्र का उच्चारण करने पर जीभ को काट लेनी चाहिए एवं वेदार्थ धारण करने पर शरीर का भेदन कर देना चाहिए इसलिए वेदार्थ ज्ञान और उसके अनुष्ठान का प्रतिषेध सुतरां सिद्ध हो जाता है । 'शूद्र को वैदिक ज्ञान न देवें' और 'त्रैवर्णिक संस्कारसम्पन्न द्विजाति को ही अध्ययन, यज्ञ एवं दान करना चाहिए ।' किन्तु जिन विदुर, धर्म, व्याध इत्यादि को पूर्व अभ्यासजनित संस्कार के कारण वेदविज्ञान उत्पन्न हो गया हो

१०. कम्पनाधिकरणम् (सू० ३९)

(१०२) कम्पनात् ॥३९॥

जगत्कम्पनकृत्प्राणोऽशनिर्वायुरुतेश्वरः । अशनिर्भयहेतुत्वाद्वायुर्वा देहचालनात् ॥
वेदनादमृतत्वोक्तेरीशोऽन्तर्यामिरूपतः । भयहेतुश्चालनं तु सर्वशक्तियुतत्वतः ॥

प्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं, ज्ञानस्यै[1]कान्तिकफलत्वात् । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात् । वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम् ॥३८॥

अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः । प्रकृतामेवेदानीं वाक्यार्थविचारणां प्रवर्त-

---

सिद्धानां सिद्धेर्दुरपह्नवत्वेऽपि साधकैः शूद्रैः कथं ज्ञानं लब्धव्यमित्यत आह—श्रावयेदिति ॥३८॥

कम्पनात् । अस्यापि प्रासङ्गिकत्वमाशङ्क्याह—अवसित इति । समाप्त इत्यर्थः । काठकं

उसके फलप्राप्ति का निषेध उनके लिए नहीं किया जा सकता क्योंकि ज्ञान का फल अवश्यम्भावी है। हाँ, पुराण-इतिहास के श्रवण में चारों वर्णों का अधिकार है क्योंकि महाभारत में कहा है कि 'चारों वर्णों को इतिहास-पुराण सुनावें।' केवल वेदाध्ययनपूर्वक शूद्रों का वैदिक ज्ञान में अधिकार नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥३८॥

१०. कम्पनाधिकरण

१—प्रमिताधिकरण में जैसे ब्रह्मज्ञान के लिए जीव का अनुवाद कहा गया है वैसा यहाँ पर "यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्" इस कठ श्रुतिवाक्य में प्राणानुवाद मानना युक्तिसंगत नहीं क्योंकि वह कल्पित है इसीलिए उसका स्वरूपतः ब्रह्म के साथ अभेद नहीं हो सकता ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२—"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्" (क० २।६।२) यह श्रुतिवाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३—जगत् को कँपाने वाला क्या प्राणपदवाच्य वायु है, विद्युत है अथवा ईश्वर है? ऐसा संशय होता है।

४—भय का कारण होने से विद्युत अथवा देहका चालक होने से वायु प्राणपदवाच्य माना जा सकता है।

५—जिसके ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति कही जाती है, अन्तर्यामीरूप से सबका नियामक होने के कारण भय का हेतु है और सर्वशक्ति से युक्त होने के कारण सबका प्रेरक है; ऐसा ईश्वर ही प्राण शब्द का सुनिश्चित अर्थ है, विद्युत या वायुविकार नहीं।

कम्पनात् (ललिता)

प्रासङ्गिक अधिकार का विचार पूर्ण हुआ। अब हम प्रकृत वाक्यार्थ विचारों को ही आगे

---

१. अव्यभिचारि ।

यिष्यामः। 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (का० २-६-२) इति। एतद्वाक्यं 'एजृ कम्पने' इति धात्वर्थानुगमाल्लक्षितम्। अस्मिन्वाक्ये सर्वमिदं जगत्प्राणाश्रयं स्पन्दते, महच्च किञ्चिद्भयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतं, तद्विज्ञानाच्चामृतत्वप्राप्तिरिति श्रूयते। तत्र कोऽसौ प्राणः, किञ्च तद्भयानकं वज्रमित्यप्रतिपत्तेर्विचारे क्रियमाणे प्राप्तं तावत्प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिर्वायुः प्राण इति। प्रसिद्धेरेव चाशनिर्वज्रं स्यात्। वायोश्चेदं माहात्म्यं सङ्कीर्त्यते। कथम्? सर्वमिदं जगत्पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठायैजति। वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यते। वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नुवृष्ट्यशनयो विवर्तन्त इत्या-

पठति—यदिदमिति। सर्वं जगत्प्राणान्निस्सृतं उत्पन्नं प्राणे चिदात्मनि प्रेरके सति एजति चेष्टते, तच्च प्राणाख्यं कारणं महद्ब्रह्म बिभेत्यस्मादिति भयम्। तस्मिन् भयहेतुत्वे दृष्टान्तमाह— वज्रमिति। यथोद्यतं वज्रं भयं तथेत्यर्थः। य एतत्प्राणाख्यं ब्रह्म निर्विशेषं विदुस्ते मुक्ता भवन्तीत्याह—य इति। नन्वस्मिन्सूत्रे कथमिदं वाक्यमुदाहृतमित्यत आह—एतदिति। एजत्यर्थस्य कम्पनस्य 'सूचितत्वादेजतिपदयुक्तं वाक्यमुदाहृतमित्यर्थः। प्रासङ्गिकाधिकारचिन्तयास्य सङ्गतिनपेक्षितेति 'शब्दादेव प्रमितः' (ब्र० सू० १-३-२४) इत्यनेनोच्यते। तत्राङ्गुष्ठवाक्ये जीवानुवादो ब्रह्मैक्यज्ञानार्थ इत्युक्तं, न तथेह प्राणानुवाद ऐक्यज्ञानार्थः सम्भवति, प्राणस्य स्वरूपेण कल्पितस्यैक्यायोगात्। अतः प्राणोपास्तिपरं वाक्यमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिरिति। ननु 'अत एव प्राणः' (ब्र० सू० १-१-२३) इत्यादौ ब्रह्मणि लिङ्गात्प्राणश्रुतिर्नीता, अत्रापि सर्वचेष्टाभयहेतुत्वं ब्रह्मलिङ्गमस्तीति नास्ति पूर्वपक्षावसरो गतार्थत्वादिति, अत आह—वायोश्चेति। प्रतिष्ठाय स्थितिं लब्ध्वा प्राणे वायौ निमित्ते जगच्चलतीति प्रसिद्धम्। अतः स्पष्टं ब्रह्मलिङ्गं नास्तीति भावः। वज्रलिङ्गाच्च

प्रवृत्त करेंगे। 'यह जो कुछ भी जगत् प्राण से उत्पन्न हुआ है वह प्रेरक चिदात्मा प्राण के रहने पर ही चेष्टा करता है, उस प्राणाख्य जगत्कारण परब्रह्म से सम्पूर्ण विश्व भयभीत होता है, जिस प्रकार उठाये हुए वज्र को देखकर किसी भी व्यक्ति को भय होता है। उस प्राणाख्य निर्विशेष ब्रह्म को जो जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं' यह कठश्रुतिवाक्य 'एजृ कम्पने' इस धातु अर्थ के अनुगम से लक्षित होता है। इस वाक्य में सम्पूर्ण जगत् प्राणाश्रित होकर व्यापार करता है, वह महान् भय का कारण वज्रशब्दवाच्य उद्यत कोई पदार्थ है जिसके विज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति सुनी जाती है। वहाँ यह संशय होता है कि वह प्राण क्या है जो वज्र की भाँति जगत् के लिए भयानक है। निश्चय न हो पाने के कारण संशय होता है और इसके निर्णय के लिए विचार करना पड़ता है। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि प्रसिद्धि को देखते हुए पञ्चधाव्यापारवाला वायु ही प्राण है। प्रसिद्धि से भी यही निश्चय होता है कि यह विद्युतवज्ररूप है जो वायु के इस माहात्म्य का गान करता है। कैसे? पाँच प्रकार के व्यापार वाले प्राणशब्दवाच्य वायु के अधीन यह सम्पूर्ण जगत् है, उसी के आश्रित यह जगत् चलता है। वायु के निमित्त से ही महान् भयानक वज्र उत्पन्न होता है और जब पर्जन्यभाव से वायु विकृत होता है तभी बिजली चमकती है, बादल गरजता है, वर्षा होती

१. वाक्ये प्रातीतिकमर्थं संक्षिप्याह अस्मिन्निति। २. तच्च प्राणाख्यं कारणम्। ३. अशनिर्वज्रम्। ४. सूचितत्वात्।

चक्षते । वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम् । तथाहि श्रुत्यन्तरम्—'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' इति । तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्य इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम् । कुतः? पूर्वोत्तरालोचनात् । पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे । इहैव कथमकस्मादन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि । पूर्वत्र तावत् 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (का० २-६-१) इति ब्रह्म निर्दिष्टं, तदेवेहापि सन्निधानात् जगत्सर्वं प्राण एजतीति च लोकाश्रयत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते । 'प्राणशब्दोऽप्ययं परमात्मन्येव प्रयुक्तः, 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४-४-१८) इति दर्शनात् । एजयितृत्वमपीदं परमात्मन एवोपपद्यते न वायुमात्रस्य । तथाचोक्तम्—'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥' (का० २-५-५) इति । उत्तरत्रापि 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥'

वायुरित्याह—वाय्विति । व्यष्टिर्विशेषः । समष्टिः सामान्यम् ।

सूत्राद्बहिरेव सिद्धान्तं प्रतिजानीते–ब्रह्मैवेति । पूर्वोत्तरवाक्यैकवाक्यतानुगृहीतं सर्वाश्रयत्वं लिङ्गं वाक्यभेदकप्राणश्रुतेर्बाधकमित्याह—पूर्वत्रेत्यादिना । शुक्रं स्वप्रकाशम् । तदु नात्येति ब्रह्मानाश्रितः कोऽपि लोको नास्त्येवेत्युकारार्थः । सौत्रंलिङ्गं व्याचष्टे—एजयितृत्वमिति । सवायुकस्य सर्वस्य

है और विद्युत्पात भी होता है ऐसा लोक में सुना जाता है। वायु के विज्ञान से ही अमृतत्व मिलता है। इसलिए दूसरी श्रुति ने भी 'वायु ही व्यष्टि है, वायु ही समष्टि है, जो इसको जानता है वह उपासक अपमृत्यु को जीत लेता है' ऐसा कहा है। अतः इस कठश्रुति में वायु ही जानने योग्य है? ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि इस कठश्रुति में ब्रह्म ही जानने योग्य पदार्थ कहा गया है क्योंकि पूर्वोत्तर की आलोचना से ऐसा ही सिद्ध होता है। पूर्वोत्तर ग्रन्थभाग में हम निर्दिश्यमान ब्रह्म को ही देखते हैं, फिर भला बीच में अकस्मात् यहाँ पर निर्दिश्यमान वायु को कैसे मान सकते हैं? 'वही (संसारवृक्ष का मूल कारण चैतन्य आत्म स्वभाव) विशुद्ध ज्योतिस्वरूप है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहा गया है। उसी ब्रह्म में ये सभी लोक (शुक्ति रजत की भाँति) आश्रित हैं और उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता' पहले इस मन्त्र में जो ब्रह्म बतलाया गया था वही यहाँ पर भी सन्निधिप्रमाण से माना जायेगा और 'यह सम्पूर्ण जगत् गतिशील प्राणरूप ब्रह्म से प्रकट होकर चेष्टा कर रहा है' इस प्रकार लोकाश्रयत्व को प्रत्यभिज्ञा होने से उस ब्रह्म का ही निर्देश है ऐसा जाना जाता है। यह प्राण शब्द भी परमात्मा में ही प्रयुक्त हुआ है क्योंकि श्रुति ने उसे 'प्राणों का प्राण' बतलाया है। जगत् की गतिशीलता भी परमात्मा से ही सिद्ध होती है, वायुमात्र से नहीं। इसीलिए कहा है—'कोई भी मरणधर्मा प्राणी न प्राण से और न अपान से ही जीवित है किन्तु किसी अन्य नियन्ता के अधीन जीवित है जिसमें ये दोनों प्राण और अपान भी आश्रित हैं।' आगे चलकर भी कहा है—'इसके भय से अग्नि तपती है, इसके भय से सूर्य तपता है तथा इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु भी इसके भय से निरन्तर स्वकर्तव्य

---

१. प्राणश्रुत्या मुख्यप्राणे सिद्धे कथं प्रकरणादिना अर्थान्तरधीरित्याशङ्क्याह प्राणशब्दोऽपीति ।

(का० २-६-३) इति ब्रह्मैव निर्देक्ष्यते न वायुः। सवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात्। तदेवेहापि सन्निधानान्महद्भयं, वज्रमुद्यतमिति च भयहेतुत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते। वज्रशब्दोऽप्ययं भयहेतुत्वसामान्यात्प्रयुक्तः, यथा हि वज्रमुद्यतं ममैव शिरसि निपतेद्यद्यहमस्य शासनं न कुर्यामित्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादिशासने प्रवर्तत एवमिदमग्निवायुसूर्यादिकं जगदस्मादेव ब्रह्मणो बिभ्यन्नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तत इति भयानकं वज्रोपमितं ब्रह्म। तथाच ब्रह्मविषयं श्रुत्यन्तरम्—'भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः'(तै० २।८।१)इति। अमृतत्व-फलश्रवणादपि ब्रह्मैवेदमिति गम्यते। ब्रह्मज्ञानाद्ध्यमृतत्वप्राप्तिः। 'तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५) इति मन्त्रवर्णात्। यत्तु वायु-विज्ञानात्क्वचिदमृतत्वमभिहितं, तदापेक्षिकम्। तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन परमात्मा-नमभिधाय 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४) इति वाय्वादेरार्तत्वाभिधानात्। प्रकरणादप्यत्र

कम्पनश्रवणादपि प्राणः परमात्मैवेत्यर्थः। ब्रह्मणि वज्रशब्दः कथमित्याशङ्क्य गौण इत्याह—वज्रशब्द इति। बृहदारण्यके 'वायुरेव व्यष्टिः' (बृ० ३-३-२) इत्यत्र 'अपपुनर्मृत्युम्' (बृ० ३-३-२) इत्यपमृत्यु-जयरूपमापेक्षिकममृतत्वमुच्यते न मुख्यामृतत्वम्, तत्रैव वायूपास्तिप्रकरणं समाप्य 'अथ हैनमुषस्तश्चा-क्रायणः पप्रच्छ' (बृ० ३-४-१) इति ज्ञेयात्मानमुक्त्वा वाय्वादेर्नाशित्वोक्तेरित्याह–यत्तु वाय्वित्यादिना।

परायण रहते हैं।' इसलिए ब्रह्म का ही निर्देश किया जायेगा, वायु का नहीं, क्योंकि वायु के सहित सम्पूर्ण जगत् के भय का कारण उस तत्त्व को बतलाया है। वही ब्रह्म इस वाक्य में भी सन्निधान से महान् भयावह और उद्यत वज्र के तुल्य कहा गया है। भय हेतुत्व की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण इस वाक्य में पूर्वोक्त ब्रह्म ही निर्दिष्ट जाना जाता है। परमात्मा अर्थ में वज्र शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि वज्र के समान परमात्मा भी भय का कारण है। जिस प्रकार यदि मैं इसकी आज्ञा का पालन नहीं करूँगा तो यह उद्यत वज्र मेरे ही सिर पर पड़ेगा, इस भय के कारण मनुष्य नियमपूर्वक राजादि के शासन में चलता है; ऐसे ही यह अग्नि, वायु, सूर्यादि सम्पूर्ण जगत् इस ब्रह्म से ही भयभीत हो नियमपूर्वक अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए भयानक वज्र की उपमा उस ब्रह्म के लिए दी गयी है। ऐसी ही ब्रह्मविषयक अन्य श्रुति भी है, तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि 'इस परमात्मा के भय से वायु चलता है, इसके भय से सूर्य उदय होता है, इसके भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु भी अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं।' इस प्रकार अपमृत्युविजयरूप आपेक्षिक अमृतत्व सुना गया है, इससे भी ब्रह्म ही इस प्रसङ्ग में ज्ञातव्य वस्तु जाना जाता है क्योंकि ब्रह्म के ज्ञान से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इस विषय में 'उसी (परमात्मा) को जानकर साधक मृत्यु को पार कर जाता है, मोक्ष के लिए इससे भिन्न कोई मार्ग नहीं है' यह मन्त्रवर्ण है।

और जो वायु के विज्ञान से कहीं-कहीं पर अमृतत्व की प्राप्ति कही गयी है वह आपेक्षिक अमृतत्व है, क्योंकि वहाँ पर प्रकरणान्तर द्वारा परमात्मा को बतलाने के बाद 'अतोऽन्यदार्तम्' इस वाक्य द्वारा वायु आदि में आर्तत्व का कथन है। प्रकरण प्रमाण से भी इस कठश्रुति में

११. ज्योतिरधिकरणम् (सू० ४०)

(१०३) ज्योतिर्दर्शनात् ॥४०॥

परं ज्योतिस्तु सूर्यस्य मण्डलं ब्रह्म वा भवेत् । समुत्थायोपसम्पद्येत्युक्त्या स्याद्रविमण्डलम् ।
समुत्थानं त्वम्पदार्थशुद्धिर्वाक्यार्थबोधनम् । सम्पत्तिरुत्तमत्वोक्तेर्ब्रह्म स्यादक्षिसाक्षितः ॥

परमात्मनिश्चयः । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' (का० १।२।१४) इति परमात्मनः पृष्टत्वात् ॥३९॥

'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१२।३) इति श्रूयते । तत्र संशय्यते, किं ज्योतिःशब्दं चक्षुर्विषयतमोपहं तेजः

तस्मात्काठकवाक्यं ज्ञेये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥३९॥

ज्योतिदर्शनात्—**छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यावाक्यमाह**—एष इति । **परंज्योतिः श्रुतिभ्यां संशयमाह**—तत्रेति । **घटादिविषयावरकतमोनाशकं सौरमित्यर्थः । पूर्वत्र ब्रह्मप्रकरणस्यानुग्राहकः 'सर्वशब्द-**

परमात्मा का ही निश्चय होता है क्योंकि नचिकेता ने 'जो धर्म से भिन्न है, अधर्म से भिन्न है, इस कार्य एवं कारण से भिन्न है तथा जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल से भिन्न है ऐसा आप जिसे देखते हैं वही मुझे बतलायें' इस वाक्य द्वारा परमात्मा के सम्बन्ध में ही पूछा था । इस प्रकार परमात्मा के प्रकरण में प्राण शब्द से समस्त जगत् का नियामक ब्रह्म को ही बतलाया गया है, उसी ब्रह्म में काठकवाक्य समन्वित होता है ॥३९॥

११. ज्योतिरधिकरण

१. **सङ्गति**—पिछले अधिकरण में सर्वशब्दश्रुति का संकोच असंगत होने के कारण प्रकरण को देखते हुए जैसे प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म किया था वैसा सम्प्रसादवाक्य में प्रकरणानुग्राहक कोई प्रमाण नहीं है जिससे ज्योतिशब्दवाच्य ब्रह्म को माना जाय, ऐसी प्रत्युदाहरण संगति यहाँ पर मानी गयी है ।

२. **विषय**—**'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य'** इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—क्या इस वाक्य में ज्योतिशब्दवाच्य आदित्यादि तेज है अथवा परब्रह्म है ? ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—रूढ़ होने के कारण आदित्यादि तेज को ही ज्योति शब्दवाच्य मानना चाहिए । साथ ही **'समुत्थाय उपसम्पद्य'** ऐसी उक्ति होने से सूर्यमण्डल ही ज्योति शब्द का अर्थ है ।

५. **सिद्धान्त**—त्वम् पदार्थ की शुद्धि समुत्थान पद का अर्थ है और वाक्यार्थबोध सम्पत्ति पद का अर्थ है। अतः यहाँ पर ज्योति पद का सुनिश्चित अर्थ ब्रह्म है क्योंकि वही उत्तम पुरुष है और वही नेत्र का साक्षी भी है ।

ज्योतिर्दर्शनात् (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् में प्रजापतिविद्यावाक्य है 'यह जीव इस शरीर से ऊपर उठकर परज्योति को प्राप्त कर लेने के बाद अपने रूप से निष्पन्न होता है ।' वहाँ पर ऐसा श्रवण होने से संशय होता है कि नेत्र के विषय अंधकारनाशक तेज को ज्योतिः शब्द से कहा है अथवा परब्रह्म को कहा है ? इस

---

१. सर्वजगच्चेष्टाहेतुत्वादियोगोऽस्तीति पाठान्तरम् ।

किंवा परं ब्रह्मेति। किं तावत्प्राप्तम्। प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति। कुतः? तत्र ज्योतिःशब्दस्य रूढत्वात्। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (ब्र० सू० १।१।२४) इत्यत्र हि प्रकरणाज्ज्योतिःशब्दः स्वार्थं परित्यज्य ब्रह्मणि वर्तते। न चेह तद्वत्किंचित्स्वार्थपरित्यागे कारणं दृश्यते। तथा च नाडीखण्डे—'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता। तस्मात्प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्। कस्मात्? दर्शनात्। तस्य हीह प्रकरणे वक्तव्यत्वेनानुवृत्तिर्दृश्यते, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकस्यात्मनः प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासि-

सङ्कोचाद्ययोगोऽस्तीति प्राणश्रुतिर्ब्रह्मणि नीता। न तथात्र 'य आत्माप[हत]पाप्मा' (छा० ८-७-१) इति प्रकरणस्यानुग्राहकं पश्याम इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—प्रसिद्धमेवेत्यादिना। पूर्वपक्षे सूर्योपास्तिः, सिद्धान्ते ब्रह्मज्ञानान्मुक्तिरिति फलम्। ननु ज्योतिरधिकरणे ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तेरुक्तत्वात्कथं पूर्वपक्ष इत्यत आह—ज्योतिरिति। 'तत्र गायत्रीवाक्ये प्रकृतब्रह्मपरामर्शकयच्छब्द-सामानाधिकरण्याज्ज्योतिःशब्दस्य स्वार्थत्यागः कृतः, तथात्र स्वार्थत्यागे हेत्वदर्शनात्पूर्वपक्ष इत्यर्थः। ज्योतिः श्रुतेरनुग्राहकत्वेनार्चिरादिमार्गस्थत्वं लिङ्गमाह—तथा चेति। 'ता वा एता हृदयस्य नाड्यः' (छा० ८-६-१) इति कण्डिकया नाडीनां रश्मीनां च मिथः संश्लेषमुक्त्वा अथ 'संज्ञालोपानन्तरं यत्र काले एतन्मरणं यथा स्यात्तथोत्क्रामति अथ तदा एतैर्नाडीसंश्लिष्टरश्मिभिरूर्ध्वः सन्नुपरि गच्छति, गत्वादित्यं ब्रह्मलोकद्वारभूतं गच्छतीत्यभिहितं, तथैवात्रापि शरीरात्समुत्थाय मृत्वा परं ज्योतिरादित्याख्यमुपसम्पद्य तद्द्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा स्वस्वरूपेणाभिनिष्पद्यते इति वक्तव्यम्। समुत्थायोपसम्पद्येति क्त्वाश्रुतिभ्यां ज्योतिषोऽर्चिरादिमार्गस्थत्वभानादित्यर्थः।

अतो मार्गस्थसूर्योपास्त्या क्रममुक्तिपरं वाक्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एवमिति। व्याख्येय-

पर पूर्वपक्षी ने कहा कि प्रसिद्ध तेज को ही ज्योतिः शब्द से बतलाना अभीष्ट है क्योंकि उसी अर्थ में ज्योतिः शब्द रूढ़ है। यदि कहो कि 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इस सूत्र द्वारा ज्योतिश्चरणाधिकरण में ज्योतिः शब्द ब्रह्म अर्थ में प्रवृत्त हुआ है जब पहले कह चुके हैं तो पुनः इस प्रसङ्ग को क्यों उठाते हैं तो हम कहेंगे कि वहाँ पर 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' सूत्र द्वारा प्रकरण प्रमाण के बल से ज्योतिः शब्द स्वार्थ का परित्याग कर ब्रह्म अर्थ में प्रवृत्त होता है किन्तु यहाँ पर वैसा कोई स्वार्थ परित्याग में कारण नहीं दीखता है। ऐसा ही नाड़ीखण्ड में 'जब इस देह से जीव निकलता है तो इन्हीं सूर्य रश्मियों द्वारा ऊपर उठता है' इस वाक्य द्वारा मुमुक्षु के लिए आदित्य की प्राप्ति कही गयी है। अतः प्रसिद्ध तेज ही ज्योतिःशब्दवाच्य है। ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि परब्रह्म ही ज्योतिःशब्द का अर्थ है क्योंकि इस प्रकरण में वक्तव्यरूप से उसी की अनुवृत्ति देखी जाती है। 'जो आत्मा अपहतपाप्मा है' इस वाक्य द्वारा अपहतपाप्मत्वादि गुणयुक्त परमात्मा का प्रकरण प्रारम्भकर अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्यरूप से उसी की प्रतिज्ञा

१. अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते इत्यत्र यच्छब्दसमानाधिकरणः। २. विशेषविज्ञानोपरमानन्तरमारब्ध-कर्मावसानकाले।

१२. अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरणम् (सू० ४१)

वियद्वा ब्रह्म वाकाशो वै नामेति श्रुतं वियत्। अवकाशप्रदानेन सर्वनिर्वाहकत्वतः।
निर्वोढृत्वं नियन्तृत्वं चैतन्यस्यैव तत्त्वतः। ब्रह्म स्याद्वाक्यशेषे च ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दतः॥

तव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात्। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८-९-३) इति चानुसन्धानात्। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८-१२-१) इति चाशरीरतायै ज्योतिः सम्पत्तेरस्याभिधानात्। ब्रह्मभावाच्चान्यत्राशरीरतानुपपत्तेः 'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८-१२-३) इति च विशेषणात्। यत्तूक्तं—मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहितेति। नासावात्यन्तिको मोक्षो गत्युत्क्रान्तिसम्बन्धात्। न ह्यात्यन्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः॥४०॥

त्वेनोपक्रान्तः आत्मैवात्र ज्योतिश्शब्देन व्याख्येय इति ज्योतिर्वाक्येनैकवाक्यताप्रयोजकप्रकरणानुगृहीतोत्तमपुरुषश्रुत्या वाक्यभेदकज्योतिःश्रुतिर्बाध्येति भावः। अशरीरत्वफललिङ्गाच्च ब्रह्मैव ज्योतिर्न सूर्य इत्याह—अशरीरमिति। नच सूर्यप्राप्त्या क्रमेणाशरीरत्वं स्यादिति वाच्यं, परत्वेन विशेषितस्य ज्योतिष एव 'स उत्तमः' (छा० ८-१२-३) इति परामर्शेनाशरीरत्वनिश्चयादित्याह—परमिति। पूर्वोक्तलिङ्गं दूषयति—यत्त्विति। नाडीखण्डे दहरोपासकस्य या सूर्यप्राप्तिरुक्ता स न मोक्ष इति युक्ता सूर्योक्तिः, अत्र तु प्रजापतिवाक्ये निर्गुणविद्यायामर्चिरादिगतिस्थसूर्यस्यानन्वयादनर्थकत्वात् श्रुतिव्यत्यासेन स्वरूपं साक्षात्कृत्य परं ज्योतिस्तदेवोपसम्पद्यत इति व्याख्येयमिति भावः॥४०॥

की गई है तथा 'मैं तुझे पुनः उसी आत्मा का उपदेश करूँगा' ऐसा प्रकृत आत्मा का ही अनुसन्धान देखा जाता है। 'शरीराभिमानशून्य उस तुरीय आत्मा को सुखदुःखफलजनक पुण्यापुण्य स्पर्श नहीं करते' इस वाक्य द्वारा अशरीरता के लिए पहले जीव को ज्योति की प्राप्ति कही गयी है। ब्रह्मभावाप्ति के बिना अशरीरता सिद्ध नहीं होती है। इसलिए जो 'परमज्योति है' 'वही उत्तम पुरुष है' ऐसा विशेषण देखा जाता है। तथा मुमुक्षु के लिए आदित्य की प्राप्ति बतलाई गयी है ऐसा जो आपने कहा था वह आत्यन्तिक मोक्ष नहीं है क्योंकि आदित्य की प्राप्ति के लिए गति और उत्क्रान्ति का होना आवश्यक है, पर आत्यन्तिक मोक्ष के लिए गति और उत्क्रान्ति आवश्यक नहीं है, ऐसा हम कहेंगे॥४०॥

१२. अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण में उपक्रमादि को देखते हुए अर्थान्तर में प्रसिद्ध ज्योतिःशब्द का भी ब्रह्म अर्थ किया गया था वैसे ही आकाश उपक्रमादि को देखते हुए ब्रह्मादि शब्द भी स्वार्थ से भिन्नपरक माना जायेगा, ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण इस अधिकरण का उत्थापन हुआ है।

२. **विषय**—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' यह वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—क्या यहाँ पर आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश है अथवा परब्रह्म है? ऐसा संशय होता है।

---

१. तुरीयम्। २. सुख-दुःखफलजनकौ धर्माधर्मौ। ३. एकवाक्यतेति य आत्माऽपहतपाप्मेति वाक्यस्येति शेषः।

(१०४) आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८-१४-१) इति श्रूयते । तत्किमाकाशशब्दं परं ब्रह्म किं वा प्रसिद्धमेव भूताकाशमिति विचारे भूतपरिग्रहो युक्तः, आकाशशब्दस्य तस्मिन्रूढत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य चावकाशदानद्वारेण तस्मिन्योजयितुं शक्यत्वात्, स्रष्टृत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याश्रवणादिति ।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—परमेव ब्रह्मेहाकाशशब्दं भवितुमर्हति । कस्मात् ? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतमाकाशं व्यपदिशति । नच ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं सम्भवति, सर्वस्य विकारजातस्य

आकाशो व्यपदेशात् । छान्दोग्यमुदाहरति—आकाश इति । **यथोपक्रमबलाज्ज्योतिःश्रुतिबाधस्तथाऽऽकाशोपक्रमाद्ब्रह्मादिशब्दबाध इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति**–भूतेति । **श्रुतेर्गुणैराकाशोपास्तिर्निर्गुणब्रह्मज्ञानं चेत्युभयत्र फलम्** । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' **इत्यनेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्य तद्वदत्र स्पष्टलिङ्गाश्रवणादिति** परिहरति—स्रष्टृत्वादेश्चेति । 'वै नाम' (छा० ८-१४-१) **इति प्रसिद्धिलिङ्गस्याकाशश्रुतेश्च वाक्यशेषगताभ्यां ब्रह्मात्मश्रुतिभ्यामनेकलिङ्गोपेताभ्यां बाधो युक्तः । यत्र बहुप्रमाणसम्वादस्तत्र वाक्यस्य तात्पर्यमिति निर्णयादिति** सिद्धान्तयति—परमेवेत्यादिना । **नामरूपे शब्दार्थौ**

---

४. **पूर्वपक्ष**—अवकाश देकर सम्पूर्ण जगत् का निर्वाहक होने से भूताकाश ही आकाश पद का अर्थ मानना चाहिए ।

५. **सिद्धान्त**—निर्वाहकत्व और नियामकत्व चैतन्य में ही हो सकते हैं, साथ ही वाक्यशेष में 'ब्रह्मात्मा' ऐसा शब्द भी मिलता है । इन सभी कारणों से यहाँ पर आकाश शब्द का सुनिश्चित अर्थ ब्रह्म ही होगा ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् (ललिता)

छान्दोग्य उपनिषद् में 'निःसन्देह नाम-रूप का निर्वाहक आकाश प्रसिद्ध है । वे नाम-रूप जिसके भीतर हैं वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वही आत्मा है' ऐसा सुना जाता है । अतः क्या आकाश शब्द परब्रह्म अर्थ का वाचक है अथवा प्रसिद्ध भूताकाश अर्थ का वाचक है, ऐसा विचार प्रारम्भ होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि आकाश शब्द से भूताकाश का ग्रहण ही युक्तिसङ्गत है क्योंकि आकाश शब्द उसी अर्थ में रूढ़ है । आकाश ही सम्पूर्ण जगत् को अवकाश देकर समस्त नाम-रूप का निर्वाहक हो सकता है, अतः नाम-रूप निर्वहन की योजना आकाश में ही सिद्ध होती है । स्रष्टृत्वादि स्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग वहाँ पर सुनाई नहीं पड़ता है ? इस प्रकार का पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती की ओर से यह कहा जाता है कि इस सन्दर्भ में परब्रह्म ही आकाशशब्दवाच्य माना गया है क्योंकि अर्थान्तरत्वादि व्यपदेश ब्रह्म में ही सम्भव है । 'ये नाम-रूप जिसमें हैं वह ब्रह्म है' इस श्रुतिवाक्य द्वारा नाम-रूप से भिन्नवस्तुभूत आकाश का व्यपदेश देखा जाता है और ब्रह्म से भिन्न नाम-रूप का अर्थान्तर ब्रह्म को छोड़कर अन्यत्र सम्भव नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण विकारसमुदाय

१३. सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् (सू० ४२-४३)

स्याद्विज्ञानमयो जीवो ब्रह्म वा जीव इष्यते । आदिमध्यावसानेषु संसारप्रतिपादनात् ।
विविच्य लोकसंसिद्धं जीवं प्राणाद्युपाधितः । ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्तं बोध्यते ब्रह्म नेतरत् ॥

नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात् । नामरूपयोरपि निर्वहणं निरङ्कुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इत्यादिब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात् । ननु जीवस्यापि प्रत्यक्षं नामरूपविषयं निर्वोढृत्वमस्ति । बाढमस्ति, अभेदस्त्विह विवक्षितः । नामरूपनिर्वहणाभिधानादेव च स्रष्टृत्वादि ब्रह्मलिङ्गमभिहितं भवति । 'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८-१४) इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १-१-२२) इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः ॥४१॥

'तदन्तःपातिनस्तद्भिन्नत्वं तत्कर्तृत्वं चायुक्तमित्यर्थः । नामादिकर्तृत्वं न ब्रह्मलिङ्गं, जीवस्थत्वादिति शङ्कते—नन्विति । 'अनेन जीवेन' इत्यत्र जीवस्य ब्रह्माभेदेन तत्कर्तृत्वमुच्यते साक्षादयोगादिति परिहरति—बाढमिति । यच्चोक्तं स्पष्टं लिङ्गं नास्तीति, तत्राह—नामेति । तर्हि पुनरुक्तिः, तत्राह—आकाशेति । तस्यैव साधकोऽयं विचारः । अत्राकाशशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तिं सिद्धवत्कृत्य तत्र संशयादिप्रवृत्तेरुक्तत्वादिति न पौनरुक्त्यमिति भावः ॥४१॥

नाम और रूप द्वारा ही तो व्याकृत है। इसलिए नाम-रूप का भी निरङ्कुश निर्वहन ब्रह्म को छोड़कर अन्यत्र सम्भव नहीं है और 'इस जीवात्मारूप से अनुप्रवेश कर नाम-रूप का व्याकरण करूँ' इस वाक्य द्वारा नाम-रूप का कर्ता ब्रह्म ही सुना जाता है। नाम-रूप का कर्तृत्व ब्रह्मलिङ्ग नहीं है, क्योंकि वह जीव में स्थित है। अतः नाम-रूप का निर्वहनकर्तृत्व जीव में भी प्रत्यक्ष सिद्ध है? ब्रह्म के साथ अभेद होने के कारण जीव में नाम-रूप कर्तृत्व कहा गया है, साक्षात् नहीं। अतः यहाँ पर जीव-ब्रह्म का अभेद बतलाना अभीष्ट है इसलिए नाम-रूप निर्वहन के कारण ही स्रष्टृत्वादि ब्रह्मलिङ्ग कहा गया है। 'वह ब्रह्म अमृत है, वही आत्मा भी है' इस वाक्य द्वारा ब्रह्मवाद चिह्न दिखाई पड़ता है। '**आकाशाधिकरण**' में जब ऐसा विचार आ चुका है तो पुनः आकाश के सम्बन्ध में क्यों विचार उपस्थित किया, इससे तो पुनरुक्ति प्रतीत होती है? यह अधिकरण उसी का साधक है। यहाँ पर आकाश शब्द को ब्रह्म में प्रवृत्ति सिद्ध की भाँति मानकर की है किन्तु वहाँ पर संशय आदि प्रवृत्ति के कारण कहे जाने से पौनरुक्ति नहीं है। अतः पूर्व अधिकरण का ही विस्तार इस अधिकरण में किया गया है ॥४१॥

१३. सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण

१. सङ्गति—पिछले अधिकरण में नाम-रूप से भिन्नत्व का कथन होने से आकाश शब्द भूताकाश नहीं माना था किन्तु प्राज्ञ आत्मा के साथ जीव का सम्परिष्वक्त होना कहा गया है जिससे अभिन्न होने पर भी औपचारिक भेद माना जा सकता है, ऐसा आक्षेप उठाकर इस अधिकरण में समाधान किया गया है। अतः पूर्व के साथ इसकी आक्षेप सङ्गति है।

२. विषय—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

१. ब्रह्मणा। २. नामरूपान्तःपातिन आकाशस्यनामरूपभिन्नत्वं नामरूपकर्तृत्वं चायुक्तमित्यर्थः।

(१०५) सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

व्यपदेशादित्यनुवर्तते । बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके 'कतम आत्मेति, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४-३-७) इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृतः । तत्किं संसारिस्वरूपमात्रान्वाख्यानपरं वाक्यमुतासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? संसारिस्वरूपमात्रविषयमेवेति । कुतः ? उपक्रमोपसंहाराभ्याम् । उपक्रमे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात्, उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४-४-२२) इति तदपरित्यागात्, मध्येऽपि 'बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वरोप-

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन । अहंधीगम्येषु कतम आत्मेति जनकप्रश्ने याज्ञवल्क्य आह—योऽयमिति । विज्ञानं बुद्धिस्तन्मयस्तत्'प्रायः । सप्तमी व्यतिरेकार्था । प्राणबुद्धिभ्यां भिन्न इत्यर्थः । वृत्तेरज्ञानाच्च भेदमाह—अन्तर्ज्योतिरिति । पुरुषः पूर्ण इत्यर्थः । उभयलिङ्गानां दर्शनात्संशयमाह—तात्किमिति । पूर्वत्र नामरूपाभ्यां भेदोक्तेराकाशो ब्रह्मेत्युक्तम्, तदयुक्तम्, 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' (बृ० ४ ३-२१) इत्यभिन्नेऽपि जीवात्मनि भेदोक्तिवदौपचारिकभेदोक्तिसम्भवादित्याक्षेपसङ्गतिः । पूर्वपक्षे कर्मकर्तृ-जीवस्तुतिः, सिद्धान्ते जीवानुवादेन 'ततः कल्पितभेदभिन्नस्य प्राज्ञस्य परमात्मनः स्वरूपैक्यप्रमितिरिति फलम् । बुद्धान्तो जाग्रदवस्था । आदिमध्यावसानेषु जीवोक्तेर्जीवस्तावकमिदं वाक्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—परमेश्वरेत्यादिना । वाक्यस्य जीवस्तावकत्वे जीवाद्भेदेन प्राज्ञस्याज्ञातस्योक्तिर-

३. **संशय**—क्या यह वाक्य जीवानुवादपरक है अथवा जीवानुवाद कर संसारधर्मातीत ब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादक है ? ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—उपक्रम-उपसंहार को देखते हुए संसारीजीव अर्थ का बोधक ही विज्ञानमय शब्द माना जा सकता है ।

५. **सिद्धान्त**—प्राणादि उपाधिवाला जीवात्मा जो लोकतः सिद्ध है उससे पृथक्कर ब्रह्म का प्रतिपादन इस श्रुति में किया गया है । जो श्रुतिभिन्न किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है ऐसा ब्रह्म ही विज्ञानमय पद का सुनिश्चित अर्थ है, अन्य नहीं ।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन (ललिता)

पूर्वसूत्र से 'व्यपदेशात्' इस पद की अनुवृत्ति ले आइये । बृहदारण्यक के षष्ठाध्याय में 'आत्मा कौन है ? जो यह प्राणों में हृदय के भीतर ज्योतिःस्वरूप विज्ञानमय पुरुष है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर बार-बार आत्मा का उपदेश विस्तार से किया गया है । इस पर संशय होता है कि इस श्रुति में संसारीस्वरूपमात्र का वर्णन है अथवा यह वाक्य असंसारीप्रतिपादक है । ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष होता है कि संसारीस्वरूपमात्रबोधक यह वाक्य है क्योंकि उसी से उपक्रम और उसी से उपसंहार देखा जाता है । प्रारम्भ में 'जो यह प्राणों के मध्य विज्ञानमय है' जीव का लिङ्ग दिखता है और उपसंहार में 'वही यह महान् अजन्मा आत्मा है जो यह विज्ञानमय पुरुष प्राणों के मध्य में है' इस वाक्य द्वारा प्रकरणागत पदार्थ का निराकरण नहीं किया है और मध्य में भी जाग्रतादि अवस्थाओं के उपन्यास से उसी का विस्तार जान पड़ता है । ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम

१. जाग्रदादि । २. जाग्रत्स्वप्नयोस्तत्प्रधानः । ३. जीवाद् ।

देशपरमेवेदं वाक्यं न शारीरमात्रान्वाख्यानपरम्। कस्मात्? सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद्भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात्। सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृ० ४-३-२१) इति शारीराद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्र पुरुषः शारीरः स्यात्तस्य वेदितृत्वात्? बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसम्भवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति' (बृ०४-३-३५) इति जीवाद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि 'शारीरो जीवः स्याच्छरीरस्वामित्वात्। 'प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः। तस्मात्सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात्परमेश्वर एवात्र विवक्षित इति गम्यते। यदुक्तमाद्यन्तमध्येषु शारीरलिङ्गात्तत्परत्वमस्य वाक्यस्येति। अत्र ब्रूमः—उपक्रमे तावत् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति न संसारिस्वरूपं विवक्षितं, किं तर्हि? अनूद्य संसारिस्वरूपं परेण ब्रह्मणास्यैकतां विवक्षति। यतो 'ध्यायतीव

सङ्गता स्यात्, अतो ज्ञाताज्ञातसन्निपाते ज्ञातानुवादेनाज्ञातं प्रतिपादनीयं, 'अपूर्वे वाक्यतात्पर्यम्' इति न्यायादिति सिद्धान्ततात्पर्यम्। पुरुषः शरीरं प्राज्ञो जीव इति भ्रान्तिं वारयति—तत्र पुरुष इत्यादिना। देहस्य वेदनाप्रसक्तेर्निषेधायोगात्पुरुषो जीव एव, प्राज्ञस्तु रूढ्या पर एवेत्यर्थः। अन्वारूढोऽधिष्ठितः। उत्सर्जन् घोराञ्छब्दान्मुञ्चन्। बुद्धौ ध्यायन्त्यां ध्यायतीव चलन्त्यां चलतीव। वस्तुतः सर्वविक्रियाशून्य इत्युक्तेनं संसारिणि तात्पर्यमित्याह—यत इति। उपक्रमवदुपसंहारवाक्येऽप्यैक्यं विवक्षित-

---

सिद्धान्ती कहते हैं कि परमेश्वरोपदेशपरक ही यह वाक्य है, शारीरमात्र बतलाने में इस वाक्य का तात्पर्य नहीं है क्योंकि सुषुप्ति और उत्क्रान्ति प्रसङ्ग में जीव से भिन्न परमात्मा का उपदेश सुना जाता है। उनमें पहले सुषुप्ति सन्दर्भ में 'यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा के साथ जब जुड़ जाता है तब वह न किसी बाह्य वस्तु को और न अन्तर वस्तु को जानता है' इस वाक्य द्वारा जीव से पृथक् परमेश्वर को कहा है। वहाँ पर जो शारीर पुरुष है उसी में वेदितृत्व है अतः बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्ग आने पर उसका प्रतिषेध सम्भव हो जाता है। किन्तु प्राज्ञतत्त्व तो परमेश्वर ही है क्योंकि उसमें सर्वज्ञत्वरूपा प्रज्ञा का कभी भी वियोग नहीं होता है। वैसे ही उत्क्रान्ति प्रसङ्ग में भी 'यह जीवात्मा जब प्राज्ञ आत्मा के साथ अन्वारूढ़ हो शरीर को छोड़कर जाता है' इस वाक्य द्वारा जीवात्मा से पृथक् परमेश्वर का उपदेश दीखता है। वहाँ भी शारीर जीव कहा जायेगा क्योंकि वह शरीर का स्वामी है किन्तु प्राज्ञतत्त्व तो वह परमेश्वर ही है। अतः सुषुप्ति और उत्क्रान्ति सन्दर्भ में जीव से पृथक् ही परमेश्वर को बतलाना अभीष्ट है ऐसा जान पड़ता है।

और जो आप ने आदि, मध्य और अन्त में जीवलिङ्ग को देख कर जीवपरक इस वाक्य को माना था, इस पर हमारा कहना है कि प्रारम्भ में "जो यह प्राणों के मध्य विज्ञानमय पुरुष" कहा गया है यह वाक्य संसारीस्वरूप को नहीं बतलाता किन्तु लोकतः सिद्ध संसारीस्वरूप का अनुवादकर परब्रह्म के साथ इसकी एकता बतलाना चाहता है। इसी लिए तो "बुद्धि ध्यान करती है तो उसके साथ तादात्म्य हुआ चेतन आत्मा ध्यान करता सा प्रतीत होता है और बुद्धि के चञ्चल होने पर

---

१. न तु प्रज्ञातिशयवान् यः कश्चित्। २. न तु शरीर संबंधि यत्किञ्चित्।

लेलायतीव' इत्येवमाद्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिः संसारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते । तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममेवोपसहरति—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति । योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते, स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवास्माभिः प्रतिपादित इत्यर्थः । यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात्संसारिस्वरूपविवक्षां मन्यते, स प्राचीमपि दिशं प्रस्थापितः प्रतीचीमपि दिशं प्रतिष्ठेत । यतो न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षति, किं तर्ह्यवस्थारहितत्वमसंसारित्वं च विवक्षति । कथमेतदवगम्यते? यत् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छति । यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४-३-१४, १५) इति पदे पदे प्रतिवक्ति । 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान्हृदयस्य भवति' (बृ० ४-३-२२) इति च । तस्मादसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् ।।४२।।

मित्याह—तथेति । व्याचष्टे—योऽयमिति । अवस्थोपन्यासस्य त्वमर्थशुद्धिद्वारैक्यपरत्वान्न जीवलिङ्गत्वमित्याह—यतो न बुद्धान्तेति । प्रश्नोत्तराभ्यामसंसारित्वं गम्यत इत्याह—यदत ऊर्ध्वमिति । कामादिविवेकानन्तरमित्यर्थः । भवतीति चेति । यद्यस्माद्वक्ति तस्मादवगम्यत इति योजना । तेनावस्थाधर्मेण अनन्वागतोऽस्पृष्टो भवति, असङ्गत्वात् । सुषुप्तावप्यात्मतत्त्वं पुण्यपापाभ्यामस्पृष्टं भवति । हि यस्मादात्मा सुषुप्तौ सर्वशोकातीतः, तस्माद्धृदयस्यैव सर्वे शोका इति श्रुत्यर्थः ।।४२।।

उसके साथ तादात्म्य हुआ चिदात्मा चञ्चल सा जान पड़ता है" इत्यादि वाक्य द्वारा उत्तरग्रन्थ की प्रवृत्ति संसारी के धर्म से शून्य परतत्त्व को लक्षित कर रही है। वैसे ही उपसंहार में भी उपक्रमानुरूप ही वाक्य देखा जाता है "प्रकृत यह आत्मा महान् अजन्मा है जो प्राणों के मध्य में विज्ञानमय है" अर्थात् जो यह विज्ञानमय प्राणमध्यवर्ती जीवात्मा लक्षित होता है निःसन्देह वह महान् अजन्मा परमात्मस्वरूप ही है ऐसा हमने कहा है। और मध्य में जाग्रदवस्था उपन्यास से संसारीस्वरूप बतलाने की बात जो मानता है वह तो पूर्व दिशा में जाने वाले व्यक्ति को पश्चिम दिशा की ओर भेजना चाहता है। अतः जाग्रदादि अवस्था के वर्णन से श्रुति अवस्थावान् संसारी को नहीं बतलाना चाहती है, किन्तु अवस्था से रहित असंसारी को ही श्रुति बतलाना चाहती है। यह कैसे ज्ञात हुआ? इस प्रश्न का उत्तर आगे देते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य से महाराजा जनक ने कहा "भगवन्! इसके आगे मोक्ष के लिए आप हमें उपदेश करें" ऐसा प्रश्न अनेक बार जनक ने किया है, प्रत्युत्तर देते समय पद-पद पर याज्ञवल्क्य ने कहा है 'परमात्मा से अभिन्न यह आत्मा जाग्रदादि अवस्थाओं के धर्मों का अनुगमन नहीं करता है, इससे यह पुरुष असङ्ग सिद्ध होता है।' "यह प्रकृत आत्मा न पुण्य का अनुगमन करता है, और न पाप का ही अनुगमन करता है क्योंकि यह पुण्य और पाप से ऊपर उठा हुआ है, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था में यह आत्मा हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर जाता है" ऐसा भी कहा है। अतः संसारधर्मातीत स्वरूपप्रतिपादनपरक ही यह वाक्य है, ऐसा समझना चाहिए।।४२।।

यह बृहदारण्यक श्रुतिवाक्य ब्रह्म और आत्मा की एकता बतला रहा है, इस अर्थ को सिद्ध करने के लिए भगवान् बादरायण अग्रिम सूत्र से अन्य हेतु भी देते हैं—

(१०६) पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

इतश्चासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् । यदस्मिन्वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपराः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाश्च भवन्ति । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इत्येवंजातीयका असंसारिस्वभावप्रतिपादनपराः । 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इत्येवंजातीयकाः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाः । तस्मादसंसारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते ॥४३॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥



वाक्यस्य ब्रह्मात्मैक्यपरत्वे हेत्वन्तरमाह—पत्यादीति । सूत्रं व्याचष्टे—इतश्चेति । वशी स्वतन्त्रः । अपराधीन इति यावत् । ईशानो नियमनशक्तिमान् । शक्तेः कार्यमाधिपत्यमिति भेदः । तस्माच्छोधिततत्त्वमर्थैक्ये षष्ठाध्यायसमन्वय इति सिद्धम् ॥४३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां
प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥



पत्यादिशब्देभ्यः (ललिता)

इसलिए भी संसारधर्मातीत स्वरूपप्रतिपादनपरक इस वाक्य को समझना चाहिए क्योंकि इस वाक्य में पति आदि शब्द असंसारी स्वरूपप्रतिपादक हैं एवं संसारी स्वभाव के प्रतिषेधक भी हैं। "सबको अपने अधीन रखने वाला, सबका शासक, सबका अधिपति यह तत्त्व अपराधीन अर्थात् स्वतन्त्र है" इस वाक्य के द्वारा असंसारी स्वभावप्रतिपादन किया गया है। 'यह आत्मा न पुण्यकर्म से बढ़ता है और न पापकर्म से घटता ही है" ऐसे श्रुतिवाक्य संसारीस्वभाव का निषेध कर रहे हैं। अतः शोधित तत्त्वम् पदार्थ एकता असंसारी परमेश्वर स्वरूप बतलाने में ही इस बृहदारण्यक श्रुति का समन्वय होता है जो यहाँ पर बतलाया गया है, बस यही अर्थ यहाँ पर जान पड़ता है ॥४३॥

प्रथमाध्याय तृतीय पाद समाप्तः
इस प्रकार ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य प्रथमाध्याय तृतीय पाद की
श्री कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज
द्वारा रचित ललिता व्याख्या
सम्पूर्ण हुई ।

* * *

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

१. आनुमानिकाधिकरणम् (सू० १-७)

(१०७) आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-गृहीतेर्दर्शयति च ॥१॥

महतः परमव्यक्तं प्रधानमथवा वपुः। प्रधानं सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वानां प्रत्यभिज्ञया।
श्रुतार्थप्रत्यभिज्ञानात्परिशेषाच्च तद्वपुः। सूक्ष्मत्वात्कारणावस्थमव्यक्ताख्यां तदर्हति ॥

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १-१-२) इति। तल्लक्षणं प्रधानस्यापि समानमित्याशङ्क्य तदशब्दत्वेन निराकृतम्—'ईक्षतेर्नाशब्दम्'

अव्यक्तेशमजं पञ्चजनाधारं च कारणम्।
वेदितव्यं प्रियंवन्दे प्रकृतिं पुरुषं परम् ॥१॥

अस्मिन्पादे[1]**ऽधिकरणत्रयस्येक्षत्यधिकरणेन सङ्गतिं वक्तुं वृत्तमनुवदति—ब्रह्मेति। तदशब्दत्वेन—प्रधानस्य वैदिकशब्दशून्यत्वेनेत्यर्थः। ईक्षत्यधिकरणे गतिसामान्यमशब्दत्वं च प्रतिज्ञातम्,** [2]**तत्र**

प्रथम अध्याय चतुर्थः पाद

इस चतुर्थ पाद में प्रधानादिविषयत्वेन सन्दिग्ध अव्यक्तादिपदों का विचार किया गया है।

१. आनुमानिकाधिकरण

१. **सङ्गति**—पूर्व अधिकरण में प्रसिद्ध जीववाचक शब्द का अप्रसिद्ध ब्रह्म अर्थ किया गया था। ऐसे ही, श्रुति में अप्रसिद्ध प्रधान को ही **'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः'** (कठो० १-३-११) इत्यादि से कठ वाक्य बतलायेगा। अतः पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की दृष्टान्त सङ्गति है।

२. **विषय**—**महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः'** यह कठ वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—'**अव्यक्त**' पद से क्या प्रधान बतलाया गया है अथवा शरीर? ऐसा संशय होता है।

४. **पूर्वपक्ष**—सांख्यस्मृति में महत्, अव्यक्त और पुरुष ऐसा जो नाम और क्रम प्रसिद्ध है उन्हीं की प्रत्यभिज्ञा यहाँ कठ श्रुति में होती है। अतः अव्यक्त पद का अर्थ प्रधान ही मानना चाहिए।

५. **सिद्धान्त**—इससे पूर्व अव्यक्तादि पद के जो जो अर्थ सुने गये हैं उन सबकी अपने अपने नाम से कथन होने के कारण प्रत्यभिज्ञा होती है, किन्तु जिसे पहले शरीर शब्द से कहा गया था उसी को परिशेषतः अव्यक्त पद से कहा जायेगा। यद्यपि स्थूल शरीर अव्यक्तपदवाच्य नहीं हो सकता, किन्तु इसका आरम्भक भूतसूक्ष्म होने के कारण उस कारणावस्था को अव्यक्त कहा गया है। जिस प्रकार अन्यत्र **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** (ऋ० सं० ९-४६-४) इत्यादि वेदवाक्य में गोविकार दध्यादि को गो शब्द से कहा गया है ऐसे ही सूक्ष्मभूत के कार्य देह को अव्यक्त पद से कहना कोई विरुद्ध नहीं है।

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च (ललिता)

ब्रह्म-जिज्ञासा को प्रतिज्ञा कर **'जन्माद्यस्य यतः'** इस सूत्र द्वारा ब्रह्म का लक्षण किया गया था, वह लक्षण प्रधान का भी समान ही है; अतः प्रधान ही जिज्ञास्य है? ऐसी आशङ्का होने के बाद उस प्रधान को वैदिकशब्दबाह्य कह कर **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** इस सूत्र द्वारा निराकृत किया।

---

१. वक्ष्यमाणेति शेषः। २. उभयोर्मध्ये।

(ब्र० १-१-५) इति । गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते न प्रधानकारणवादं प्रतीति प्रपञ्चितं मतेन ग्रन्थेन । इदं त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं प्रधानस्याशब्दत्वं तदसिद्धं, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वात् । अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते । तद्यावत्तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते तावत्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादितमप्याकुलीभवेत् । अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः सन्दर्भः प्रवर्तते ।

आनुमानिकमप्यनुमाननिरूपितमपि प्रधानमेकेषां शाखिनां शब्दवदुपलभ्यते । काठके हि पठ्यते—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' (१-३-११) इति । तत्र य एव यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिप्रसिद्धास्त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते । तत्राव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः, शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तिसम्भवात् स्मृतिप्रसिद्धं

ब्रह्मणि वेदान्तानां गतिसामान्यं 'प्रपञ्चितम्, अधुना प्रधानस्याशब्दत्वमसिद्धमित्याशङ्क्य निरूप्यत इत्याक्षेपसङ्गतिः । तेनाशब्दत्वनिरूपणेन ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयो दृढीकृतो भवतीत्यध्यायसङ्गतिरप्यधिकरणत्रयस्य ज्ञेया । अत्राव्यक्तपदं विषयः । तत्किं प्रधानपरं 'पूर्वोक्तशरीरपरं वेति स्मृतिप्रकरणाभ्यां संशये पूर्वमप्रसिद्धब्रह्मपरत्वं यथा षष्ठाध्यायस्य दर्शितं तद्वदव्यक्तपदमप्रसिद्धप्रधानपरमिति पूर्वपक्षयति—आनुमानिकमपीति । अपिशब्दाद्ब्रह्माङ्गीकारेणायमशब्दत्वाक्षेप इति सूचयति । तथा च ब्रह्मप्रधानयोर्विकल्पेन कारणत्वात् ब्रह्मण्येव वेदान्तानां समन्वय इति नियमासिद्धिः फलं, सिद्धान्ते नियमसिद्धिरिति विवेकः । पदविचारत्वादधिकरणानामेतत्पादसङ्गतिर्बोध्या । स्मार्तक्रमरूढिभ्यामव्यक्तशब्दः प्रधानपरः, शब्दस्पर्शादिशून्यत्वेन योगसम्भवाच्चेत्याह—शब्दादीति । प्रधानस्य

साथ ही, वेदान्तवाक्यों का ब्रह्मकारणवाद के प्रति गतिसामान्य देखा जाता है, प्रधानकारणवाद के प्रति नहीं; इस बात को पिछले तीन पादों द्वारा विस्तार से कहा । इस समय अवशिष्ट बातों पर शङ्का की जाती है कि जो आप ने प्रधान को अशब्द कहा था वह ठीक नहीं है क्योंकि कुछ शाखाओं में प्रधानसमर्थक शब्द सुने जाते हैं, अतः प्रधान मे जगत्कारणत्व श्रुतिसिद्ध ही है । इसी का परिग्रह महान परमर्षि कपिलादि ने किया है ? ऐसा प्रसङ्ग आने पर सिद्धान्तपक्ष से कहा जाता है कि जब तक उन शब्दों को प्रधान से भिन्न ब्रह्म अर्थ का बोधक न बतलाया जाय, तब तक सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है यह प्रतिपादित सिद्धान्त सुस्थिर नहीं होगा । अतः उन संदिग्ध पदों को अन्यार्थपरक दिखलाने के लिए आगे का संदर्भ प्रवृत्त होता है ।

अनुमानप्रमाणप्रतिपादित प्रधान भी किसी-किसी शाखा में शब्दप्रमाणगम्य सिद्ध होता है क्योंकि कठोपनिषद् में कहा है—'महत् से पर अव्यक्त और अव्यक्त से पर पुरुष है ।' इस वाक्य में महत्, अव्यक्त और पुरुष के जो नाम और क्रम सांख्यस्मृति में प्रसिद्ध हैं वे ही नाम और क्रम इस कठश्रुति में भी प्रत्यभिज्ञायमान हो रहे हैं । उनमें अव्यक्त, इस नाम से स्मृतिप्रसिद्ध एवं शब्दादिहीन होने के कारण तथा न व्यक्तं-अव्यक्तं ऐसी व्युत्पत्ति से भी अव्यक्त शब्द का अर्थ प्रधान ही है ।

१. प्रधानादन्यद्ब्रह्म तत्परत्वम् । २. सांख्यस्मृतिः । ३. श्रुतौ । ४. पादत्रयेण । ५. शरीरं रथमेव तु इत्यत्रोक्तम् ।

प्रधानमभिधीयते। अतः तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम्। तदेव च जगतः कारणं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत्।

नैतदेवम्। नह्येतत्काठकं वाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम्। नह्यत्र [1]यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञायते, शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते। स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते, न चायं कस्मिंश्चिद्रूढः। या तु प्रधानवादिनां रूढिः सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते। न च क्रममात्रसामान्यात्समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने। नह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽय-

वैदिकशब्दवाच्यत्वे का क्षतिरित्यत आह—तदेवेति। 'अजामेकाम्' (श्वेता० ४-५) इत्याद्या श्रुतिः। 'हेतुः प्रकृतिरुच्यते' इत्याद्या स्मृतिः। 'यदल्पं तज्जडप्रकृतिकम्' इति न्यायः। ततो ब्रह्मैव कारणमिति मतक्षतिरिति भावः।

सूत्रे नञर्थं वदन्सिद्धान्तयति—नैतदिति। प्रधानं वैदिकं ने'त्यत्र तात्पर्याभावं हेतुमाह—नहीति। ननु प्रधानस्यात्र प्रत्यभिज्ञानाद्वैदिकत्वमित्यत आह—न ह्यत्रेति। ननु शब्दप्रत्यभिज्ञायामर्थोऽपि प्रत्यभिज्ञायत इत्याशङ्क्य यौगिकाच्छब्दादसति नियामके नार्थविशेषधीरित्याह—स चेति। रूढ्या तद्धीरित्याशङ्क्य रूढिः किं लौकिकी स्मार्ता वा। नाद्य इत्याह—न चेति। द्वितीयं प्रत्याह—या त्विति। पुरुषसङ्केतो नानादिवेदार्थनिर्णयहेतुः, पुंमतेर्विचित्रत्वादित्यर्थः। यत्तु स्मार्तक्रमप्रत्यभिज्ञया क्रमिकार्थः स्मार्त एवेति, तत्राह—न च क्रमेति। स्थानात्तद्रूपप्रत्यभिज्ञानशङ्कायामसतीत्यनन्वयात्रञो व्यत्यासेनातद्रूपस्य तद्रूपविरुद्धस्य प्रत्यभिज्ञाने सतीत्यर्थः। पूर्वज्ञातरूपार्थस्य स्थाने तद्विरुद्धार्थज्ञाने सति तस्य धीर्नास्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति। प्रकृते नास्ति विरुद्धज्ञानमित्याशङ्क्य प्रकरणा-

अतः सांख्यस्मृति प्रसिद्ध प्रधान ही अव्यक्तपदवाच्य है इसलिए प्रधान में शब्दवत्व का निश्चय हो जाने के बाद उसे अशब्दत्व कहना असङ्गत है। पूर्वोक्त लक्षणवाला वही प्रधान जो प्रत्यभिज्ञात हो रहा है वह जगत्कारण है; यह अर्थ श्रुति, स्मृति, न्याय एवं प्रसिद्धि से निश्चित होता है ?

ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यह काठकवाक्य सांख्यस्मृतिप्रसिद्ध महतत्व और अव्यक्त के अस्तित्व को नहीं बतलाता। सांख्यशास्त्र में त्रिगुणात्मक प्रधान को महदादि जगत् का स्वतन्त्रकारण कहा गया है वैसा यहाँ पर अव्यक्त को स्वतन्त्रकारण नहीं कहा गया है, केवल 'अव्यक्त' इस शब्दमात्र की प्रत्यभिज्ञा होती है। वह शब्द न व्यक्तं-अव्यक्तं इस यौगिकबल से अन्य सूक्ष्म एवं दुर्लक्ष्य पदार्थ में भी प्रयुक्त होता है और यह किसी अर्थ में रूढ़ नहीं है, किन्तु प्रधानवादियों के यहाँ जो रूढ़ि है वह तो उन्हीं का पारिभाषिक शब्द है, वह वेदार्थनिरूपण में कारण नहीं बन सकता। हाँ, कर्ममात्र यहाँ श्रुति तथा सांख्यस्मृति में समानरूप से देखा जाता है किन्तु रूपप्रत्यभिज्ञा के बिना कर्ममात्र सादृश्य के कारण समानार्थ का बोध नहीं होता। क्या किसी स्थान में पहले घोड़े को देखा था, अब उस स्थान में गौ को देखने वाला कोई बुद्धिमान व्यक्ति, यह अश्व है, ऐसा निश्चय कर सकता है अर्थात् नहीं;

१. यादृशमित्यस्य व्याख्या स्वतन्त्रमित्यादि। २. तव वेदांतिन इति शेषः। ३. प्रधानं न वैदिकं श्रुतितात्पर्याभावात्।

मित्यमूढोऽध्यवस्यति। प्रकरणनिरूपणायां चात्र न परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते। शरीर-रूपकविन्यस्तगृहीतेः। शरीरं ह्यत्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते। कुतः? प्रक-रणात्परिशेषाच्च तथाह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपकक्लृप्तिं दर्श-यति—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु [1]गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥' (का० १-३-३,४) इति। तैश्चेन्द्रियादिभिर[2]संयतैः संसारमधिगच्छति। संयतैस्त्वध्वनः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोतीति दर्शयित्वा, किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामा-काङ्क्षायां, तेभ्य एव प्रकृतेभ्य इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः पारं विष्णोः परमं पदं दर्शयति—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धे-रात्मा महान्परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा

च्छरीरज्ञानमस्तीत्याह—प्रकरणेति। शरीरमेव रूपकेण रथसादृश्येन विन्यस्तं शरीररूपकविन्यस्तम्, तस्य पूर्ववाक्ये आत्मबुद्ध्योर्मध्यस्थानपतितस्यात्रापि मध्यस्थेनाव्यक्तशब्देन ग्रहणान्न प्रधानस्य वैदिक-त्वमिति सूत्रार्थः। स्मार्तक्रमः किमिति त्यक्तव्य इत्याशङ्क्य श्रौतक्रमस्य प्रकरणाद्यनुग्रहेण बलवत्वा-दित्याह—कुत इत्यादिना। तदुभयं विवृणोति—तथा हीति। रूपकक्लृप्तिः सादृश्यकल्पना। प्रग्रहो-ऽश्वरशना। यदा बुद्धिसारथिर्विवेकी तदा मनसेन्द्रियहयान्विषमविषयमार्गादाकर्षति। यद्यविवेकी तदा मनोरशनाबद्धांस्तान् प्रवर्तयतीति मनसः प्रग्रहत्वं युक्तम्। तेषु हयेषु। गोचरान् मार्गान्। ननु स्वतश्चिदात्मनो भोगसम्भवात् किं रथादिनेत्यत आह—आत्मेति। आत्मा देहः, देहादिसङ्ग-कल्पनया भोक्तृत्वं न स्वतोऽसङ्गत्वादित्यर्थः। अधुना रथादिभिर्गन्तव्यं वदन्नाकाङ्क्षापूर्वकमुत्तर-वाक्यमाह—तैश्चेत्यादिना। शरीरस्य प्रकृतत्वेऽप्यव्यक्तपदेन प्रधानं गृह्यतामित्यत आह—

और साथ ही, प्रकरण को देखते हुए यहाँ पर सांख्यपरिकल्पित-प्रधान अर्थ प्रतीत नहीं होता। शरीर रूपक विन्यास को देखने के बाद यहाँ अव्यक्त शब्द से शरीर का ही परिग्रह होता है, क्योंकि उसी का प्रकरण है। प्रकरणागत सभी तत्त्वों का पुनः वर्णन करने के बाद केवल शरीर को बतलाना शेष रह गया था, जिसे अव्यक्त पद से कहा है। ऐसा ही अव्यवहित पूर्व काठक ग्रन्थ आत्मा, शरीरादि को रथी—रथादि रूपक कल्पना बतलाता है। वहाँ कहा है कि आत्मा को रथी जानो और शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथी एवं मन को लगाम जानो, इन्द्रियों को घोड़े एवं उनके विषयों को मार्ग समझो तथा इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को मनीषियों ने भोक्ता कहा है। वहाँ पर उन असंयत इन्द्रियादि के कारण उस रथ पर बैठने वाला साधक-जीव संसार में गिर जाता है और संयत इन्द्रियादि के कारण संसार से पार विष्णु के उस परमपद को प्राप्त करता है। ऐसा कहने के पश्चात्, संसार से पार विष्णु का परमपद क्या वस्तु है? ऐसी आकांक्षा होने पर उन प्रसङ्गागत इन्द्रियादियों से परे परमात्मा को संसार के उस पार में विष्णु का जो परमपद है उसे श्रुति बतलाती है—'इन्द्रियों से पर विषय है, विषयों से पर मन है, मन से पर बुद्धि है, बुद्धि से पर महान आत्मा है, महत् से पर अव्यक्त और अव्यक्त से पर पुरुष है किन्तु पुरुष से पर कुछ नहीं है; वही अन्तिम परागति है।' वहाँ पर पहले के रथरूपक-

---

१. मार्गान्। २ अवशवर्तिभिः।

परा गतिः॥' (का० १-३-१०,११) इति। तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृह्यन्ते प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियापरिहाराय। तत्रेन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत्पूर्वत्रेह च समानशब्दा एव। अर्थास्तु ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टास्तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्। 'इन्द्रियाणां ग्रहत्वं, विषयाणामतिग्रहत्वम्' (बृ० ३-२) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। विषयेभ्यश्च मनसः परत्वं, मनोमूलत्वाद्विषयेन्द्रियव्यवहारस्य। मनसस्तु परा बुद्धिः। बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति। बुद्धेरात्मा महान्परः, यः स 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इति रथित्वेनोपक्षिप्तः। कुतः? आत्मशब्दात्। भोक्तुश्च भोगोपकरणात्परत्वोपपत्तेः। महत्त्वं चास्य स्वामित्वादुपपन्नम्। अथवा—'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च

तत्र य एवेति। एवं प्रकरणं शोधयित्वा शरीरस्य परिशेषतामानयति-तत्रेन्द्रियेत्यादिना। अर्थानां पूर्वमनुक्तिशङ्कां वारयन् परत्वमुपपादयति—अर्था इति। गृह्णन्ति पुरुषपशुं बध्नन्तीति ग्रहा इन्द्रियाणि। तेषां ग्रहत्वं विषयाधीनम्। असति विषये तेषामकिञ्चित्करत्वात्। ततो ग्रहेभ्यः श्रेष्ठा अतिग्रहाः 'विषयाः' इति बृहदारण्यके श्रवणात्। परत्वं श्रेष्ठयाभिप्रायम्, न स्वान्तरत्वेनेति भावः। सविकल्पकं ज्ञानं मनः, निर्विकल्पकं निश्चयात्मिका बुद्धिः, आत्मशब्दात् स एव बुद्धेः परः, प्रत्यभिज्ञायत इति शेषः। हिरण्यगर्भाभेदेन ब्रह्मादिपदवेद्या समष्टिबुद्धिर्महानित्याह—अथवेति। 'मननशक्तिः, व्यापिनी, भाविनिश्चयः, ब्रह्मा आत्मा, भोग्यवर्गाश्रय, तात्कालिकनिश्चयः, कीर्तिशक्तिः, नियमनशक्तिः, त्रैकालनिश्चयः, सम्विदभिव्यञ्जिका चिदध्यस्ताऽतीतसर्वार्थग्राहिणी, समष्टिबुद्धिरित्यर्थः। हिरण्यगर्भस्येयं

कल्पना—प्रसङ्ग में जो इन्द्रियादि अश्वादिरूप से कहे गये थे, वे ही यहाँ पर परिगृहीत होते हैं; इससे प्रकृत हान और अप्रकृत प्रक्रिया का परिहार हो जाता है। इनमें से इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि पहले भी कहे गये थे और यहाँ भी कहे जा रहे हैं, इनके लिए समान शब्द ही उभयत्र प्रयुक्त हैं, किन्तु जो शब्दादि विषय-अर्थपदवाच्य हैं और इन्द्रियरूप घोड़े के मार्गरूप से निर्दिष्ट हैं उन्हें इन्द्रियों से पर कहा है क्योंकि इन्द्रियों में ग्रहत्व और विषयों में अति ग्रहत्व यह बृहदारण्यक श्रुति से सिद्ध है। विषयों से पर मन को कहा है, क्योंकि विषय-इन्द्रिय व्यवहार मनोमूलक है मन से पर बुद्धि को इसलिए कहा है क्योंकि बुद्धि में आरूढ़ भोग्यवस्तु भोक्ता के पास पहुँचती है, बुद्धि से परे जो महान आत्मा है वह रथीरूप से कहा गया है, क्योंकि उसमें आत्मशब्द का प्रयोग है और भोगोपकरण होने से भोक्ता को पर कहना युक्तियुक्त है। समस्त भोग्यवस्तु का स्वामी होने के कारण उसे महान कहना भी ठीक ही है अथवा उस आत्मा को मन, महान, मति, ब्रह्मा, पूः, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, सम्वित्, चिति और स्मृति नामों से भी स्मृतियों में सुना जाता है। आत्मा को मन इसलिए कहते हैं क्योंकि वह मनन करने में समर्थ है, व्यापक होने के कारण उसे महान कहते हैं, भावी निश्चय का नाम मति है, ब्रह्मा शब्द का अर्थ आत्मा है, भोग्यवर्ग का आश्रय होने से उसे पुर कहते हैं, तात्कालिक निश्चय को बुद्धि, कीर्तिशक्ति को ख्याति, नियमनशक्ति को ईश्वर, त्रैकालिक निश्चय को प्रज्ञा, अभिव्यञ्जिका को सम्वित्, चेतन में अध्यस्त अतीत सर्वार्थग्राहिणी को चिति कहते हैं और समष्टिबुद्धि को स्मृति कहते हैं। यह बुद्धि हिरण्यगर्भ की है इस

१. स्मृतिघटकमन आदि पदार्थानाह मननशक्तीत्यादिना।

परिपठ्यते ॥' इति स्मृतेः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । (श्वे० ६-१८) इति च श्रुतेर्या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परमा प्रतिष्ठा । सेह महानात्मेत्युच्यते । सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते । तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः, एतस्मिंस्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम् । परमार्थतः परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात् । तदेवं शरीरमेवैकं परिशिष्यते तेषु । इतराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपदविदर्शयिषया समनुक्रामन्परिशिष्यमाणेनेहान्त्येनाव्यक्तशब्देन परिशिष्यमाणं प्रकृतं शरीरं दर्शयतीति गम्यते । शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता । तथा च—'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥''(का० १-३-१२) इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं-

---

बुद्धिरस्तीत्यत्र श्रुतिमाह—य इति । नन्वप्रकृता सा कथमुच्यते, तदुक्तौ च प्रधानेन किमपराद्धमित्यत आह—सा चेति । हिरुक्पृथक् । पूर्वं व्यष्टिबुद्ध्यभेदेनोक्ताऽत्र ततो भेदेन परत्वमुच्यत इत्यर्थः । तर्हि रथरथिनौ द्वौ परिशिष्टौ स्यातां, नेत्याह—एतस्मिन्स्त्विति । अतो रथ एव परिशिष्ट इत्याह—तदेवमिति । तेषु पूर्वोक्तेषु षट्स्वर्थेष्वित्यर्थः । परिशेषस्य फलमाह—इतराणीति । वेदोऽयमिति शेषः । दर्शयति चेति सूत्रभागो व्याख्यातः । किञ्च ब्रह्मात्मैकत्वपरत्वे ग्रन्थे भेदवादिनां प्रधानस्यावकाशो नास्तीत्याह—शरीरेत्यादिना । भोगो वेदना । काठकग्रन्थस्यैक्यतात्पर्यं गूढत्वज्ञेयत्वज्ञानहेतुयोगविधयो लिङ्गानि सन्तीत्याह—तथा चैष इत्यादिना । अग्र्या समाधिपरिपाकजा ।

विषय में श्रुति कहती है कि 'जिस परमेश्वर ने सर्गारम्भ में पहले ब्रह्मा को बनाया और उसे वेद पढ़ाया, उसी की शरण में हम मुमुक्षु आये हुए हैं ।' इस श्रुति में प्रथमज हिरण्यगर्भ की बुद्धि सभी बुद्धियों से उत्कृष्ट है, उसी को यहाँ पर महान आत्मा पद से कहा गया है वह पहले बुद्धि शब्द से गृहीत है उसी का पृथक् उपदेश यहाँ पर किया गया है, जो हम सब की बुद्धियों से पर है । इस पक्ष में परमात्मविषयक परपुरुष शब्द द्वारा रथी आत्मा का ग्रहण समझना चाहिए, क्योंकि परमात्मा और जीवात्मा में परमार्थतः भेद नहीं है । यह सब कुछ कह देने के बाद केवल शरीर को बतलाना शेष रह गया था । प्रसङ्गागत इतर इन्द्रियादि को इसलिए कहा गया था क्योंकि परमपद को दिखलाना अभीष्ट है । अब यहाँ पर परिशेष अव्यक्त शब्द से परिशिष्ट प्रसङ्गागत शरीर को ही श्रुति बतलाती है ऐसा निश्चय होता है । शरीर, इन्द्रियाँ, मन बुद्धि, विषय एवं वेदनारूप भोग से संयुक्त अज्ञानी भोक्ता जीव को शरीरादि के रथादिरूपक कल्पना द्वारा संसारगति और मोक्षगति का निरूपण किया गया है । इससे इस प्रसङ्ग में प्रत्यगात्मा और ब्रह्म का अभेद साक्षात्कार बतलाना अभीष्ट सिद्ध होता है । वैसा ही 'सम्पूर्ण भूतों में यह आत्मा गूढ़ है, जो सामान्यतः प्रकाशित नहीं होता, किन्तु सूक्ष्मदर्शी पुरुषों से समाधिपरिपाकजन्य अतिसूक्ष्म अग्र्यबुद्धि द्वारा देखा जाता है ।' इस काठकग्रन्थ में ब्रह्मात्मैक्य तात्पर्यबोधक गूढ़त्व, ज्ञेयत्व और ज्ञान हेतु योगविधि लिङ्ग कहे गये हैं । इस प्रकार विष्णु के परमपद को दुरवगम बतलाकर उसके बोध के लिए योग का वर्णन करते हैं,

---

१. इहांत्येनेति पाठांतरम् । २ भोग ।

(१०८) सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

योगं दर्शयति—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥" (का० २-३-१३) इति। एतदुक्तं भवति—वाचं मनसि संयच्छेत्, वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत। मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदितायां बुद्धावध्यवसायस्वभावायां धारयेत्। तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तर्यग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापादनेन नियच्छेत्। महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्रकरणवति परस्मिन्पुरुषे परस्यां काष्ठायां प्रतिष्ठापयेदिति। तदेव पूर्वापरालोचनायां नास्त्यत्र परपरिकल्पितस्य प्रधानस्यावकाशः ॥१॥

उक्तमेतत्प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दं न प्रधानमिति। इदमिदानीमाशङ्क्यते—कथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य, यावता स्थूलत्वात्स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तशब्दार्हम-स्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति।

अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दा-

---

वागित्यत्र द्वितीयालोपश्छान्दसः, मनसीति दैर्घ्यं च ॥१॥

सूक्ष्मं त्विति। शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—उक्तमेतदित्यादिना। कार्यकारणयोरभेदान्मूलप्रकृतिवाचकाव्यक्तशब्देन विकारो लक्ष्यत इत्यर्थः।

'वागिन्द्रिय उपलक्षित' सभी बाह्य इन्द्रियों को मन के अधीन विवेकी पुरुष करे, उस मन को ज्ञानात्मा-रूप बुद्धि के अधीन करे, ज्ञानात्मा को महानात्मा में नियन्त्रित करे और उस महान आत्मा को शान्त आत्मा में समाहित करे। वाग् शब्द में द्वितीया का लोप छान्दस हुआ है और 'मनसी' इस पद में दैर्घ्य भी छान्दस ही है। इस श्रुतिवाक्य का तात्पर्य यह है कि वाणी को मन में लगाये अर्थात् वागादि बाह्य इन्द्रिय व्यापार को छोड़कर पहले मनोमात्र व्यापार वाला बने। सङ्कल्प-विकल्पाभिमुख मन को भी विकल्प में दोष दिखलाकर ज्ञान-पदवाच्य निश्चयात्मिका बुद्धि में लगावे, उस बुद्धि को भोक्ता-स्वरूप महान आत्मा में अथवा समष्टि बुद्धि के अधीन सूक्ष्मता आपादान द्वारा बनावे; पुनः महान आत्मा को शान्त आत्मा में लगायें जिसका प्रकरण चल रहा था उस पर पुरुष में महान आत्मा को लीन करे और अन्त में उसी में प्रतिष्ठित हो जाय। इस प्रकार पूर्वापर की आलोचना करने पर वादीपरिकल्पित प्रधान के ग्रहण का तो यहाँ पर अवकाश ही नहीं रह जाता ॥१॥

सूक्ष्म तु तदर्हत्वात् (लज़िता)

प्रकरण और परिशेषन्याय द्वारा अव्यक्तपदवाच्य शरीर ही कहा गया है, प्रधान नहीं; यह अब तक बतलाया गया। इस पर यह शङ्का होती है कि जब यह स्थूल शरीर अत्यन्त स्पष्ट व्यक्त शब्द से कहने योग्य है तो भला अव्यक्त शब्द का प्रयोग इसके लिए क्यों किया गया, क्योंकि अव्यक्त शब्द का अर्थ होता है अस्पष्ट वचन अर्थात् जिसे शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता उसे अव्यक्त कहते हैं?

इसका उत्तर कहा जाता है कि यहां पर कारणरूपसे शरीर को बतलाना अभीष्ट है, वह शरीर के कारण भूत सूक्ष्मतत्त्व अव्यक्त शब्द से कहने योग्य है। यद्यपि यह स्थूल शरीर स्वयं अव्यक्त शब्दवाच्य

---

१. द्वितीयव्याख्याभिप्रायेणाह अग्र्यायां वेति।

(१०९) तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥

र्हत्वात् । यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति । प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः । यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९-४६-४) इति । श्रुतिश्च—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १-४-७) इतीदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत्प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनामरूपं बीजशक्त्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति ॥२॥

अत्राह—यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकारणवाद एवं सत्यापद्येत । अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमादिति ।

अत्रोच्यते—यदि वयं स्वतन्त्रां काञ्चित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम् । परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्यु-

---

गोभिर्गोविकारैः पयोभिर्मत्सरं सोमं श्रीणीत मिश्रितं कुर्यादिति यावत् । 'श्रीञ् पाके' इति धातोर्लोटि मध्यमपुरुषबहुवचनमेतत् । अव्यक्तात्मना कार्यस्याव्यक्तशब्दयोग्यत्वे मानमाह—श्रुतिश्चेति । तर्हि प्रागवस्थायामिदं जगदव्याकृतमासीत्, ह किलेत्यर्थः । बीजरूपा शक्तिः संस्कारस्तदवस्थम् ॥२॥

तदिति । अपसिद्धान्तशङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे–अत्राहेत्यादिना । तर्हि तदा । एवं सति सूक्ष्मशब्दितप्रागवस्थाभ्युपगमे सति ।

ईश्वरे कल्पिता तन्नियम्येत्यङ्गीकारान्नापसिद्धान्त इत्याह—अत्रोच्यत इत्यादिना । कूटस्थब्रह्मणः

नहीं है फिर भी उसका आरम्भक भूतसूक्ष्म अव्यक्त शब्द से कहा जा सकता है ऐसा प्रकृतिवाचक शब्द विकार अर्थ में प्रयुक्त होते देखा गया है । यथा 'गोविकार दुग्धादि के साथ सोम को मिश्रित करो' यहाँ कारणवाचक गो शब्द का प्रयोग गोविकार दध्यादि अर्थ में किया गया है । श्रुति ने भी कहा है—'सृष्टि से पूर्व आज दीख पड़ने वाला जगत् अव्याकृत था ।' यही नाम-रूप में विभक्त व्याकृत जगत् उत्पत्ति से पूर्वावस्था में नाम-रूप का परित्याग कर बीजशक्ति अवस्था वाला अव्यक्त शब्द योग्य था जिसे उक्त श्रुति ने दिखलाया है । बीजरूपा शक्ति संस्कार है और उस रूप में ही आज दीखने वाला जगत् पहले था ॥२॥

तदधीनत्वादर्थवत् (ललिता)

अपसिद्धान्त-शङ्का के उत्तररूप में अग्रिम सूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं कि यदि यह जगत् अनभिव्यक्त नामरूप-बीजात्मक प्रागवस्थ अव्यक्त शब्द से कहने योग्य था ऐसा मानोगे, तब तो उस रूप से शरीर को भी अव्यक्त शब्द से कहने योग्य माना जा सकता है, ऐसी स्थिति में तब वही प्रधानकारणवाद आ जायेगा क्योंकि सांख्यों ने भी इस जगत् को सृष्टि से पूर्व प्रधानरूप में स्वीकार किया ही है ? इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि हम स्वतन्त्र प्रागवस्थ किसी पदार्थ को जगत् का कारण मानते, तो निःसन्देह प्रधान कारणवाद का प्रसङ्ग आ सकता था, किन्तु इस

---

१. प्रकृतश्रुतौ । २. अमुक्तम् ।

पगम्यते न स्वतन्त्रा। [1]सा चावश्याभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हि सा। नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति। शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः। कुतः? विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'(बृ० ३-८-११) इति श्रुतेः। क्वचिदक्षरशब्दोदितम्—'अक्षरात्परतः परः' (मु० २-१-२) इति श्रुतेः। क्वचिन्मायेति सूचितम्—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४-१०) इति मन्त्रवर्णात्। अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्। [2]तदिदं 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तमव्यक्तप्रभवत्वान्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान्। यदा तु जीवो महांस्तदाप्यव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य महतः

स्रष्टृत्वसिद्ध्यर्थमविद्या स्वीकार्येत्युक्तम्। बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थमपि सा स्वीकार्येत्याह—मुक्तानामिति। यन्नाशान्मुक्तिः सा स्वीकार्या, तां विनैव सृष्टौ मुक्तानां पुनर्बन्धापत्तेरित्यर्थः। तस्याः परपरिकल्पितसत्यस्वतन्त्रप्रधानाद्वैलक्षण्यमाह—अविद्येत्यादिना। मायामयी प्रसिद्धमायोपमिता। लोके मायाविनो मायावत्परतन्त्रेत्यर्थः। जीवभेदोपाधित्वेनापि सा स्वीकार्येत्याह—महासुषुप्तिरिति। बुद्ध्याद्युपाधिभेदाज्जीवा इति बहूक्तिः। अविद्यायां श्रुतिमप्याह–तदेतदिति। आकाशहेतुत्वादाकाशः। ज्ञानं विनाऽन्ताभावादक्षरम्। विचित्रकारित्वान्मायेति भेदः। इदानीमविद्याया ब्रह्मभेदान्यत्वाभ्यामनिर्वाच्यत्वेनाव्यक्तशब्दार्हत्वमाह—अव्यक्तेति। तस्य महतः परत्वं कथमित्यत आह—तदिदमिति। यदा बुद्धिर्महांस्तदा तद्धेतुत्वात्परत्वमित्युक्तमित्यन्वयः। प्रतिबिम्बस्योपाधिपरतन्त्रत्वादुपाधेः प्रतिबिम्बात्परत्वमाह—यदा त्विति। [3]हेतुं स्फुटयति—अविद्येति। अव्यक्तस्य परत्वेऽपि शरीरस्य किं

जगत् की प्रागवस्था को भी हमने परमेश्वराधीन ही माना है, स्वतन्त्र नहीं; और उस अविद्या को अवश्य मानना ही चाहिए, उसका मानना सार्थक है क्योंकि उसके बिना परमेश्वर में सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। शक्ति रहित उस परमेश्वर में प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती है और मुक्त पुरुषों को पुनः अनुत्पत्ति भी अविद्या के नष्ट हो जाने पर ही सिद्ध होती है क्योंकि ब्रह्मविद्या द्वारा उस बीजशक्ति अविद्या का दाह हो जाता है। वह अविद्या ही बीजशक्तिरूपा है, उसी का निर्देश **'अव्यक्त'** शब्द से किया गया है। वह अविद्या परमेश्वराश्रित है, मायामयी है, महासुषुप्तिरूपा है; उसी अविद्या में आत्मज्ञानशून्य संसारी सोते रहते हैं। इस अव्यक्त को कहीं पर आकाश शब्द से कहा गया है, यथा 'हे गार्गि! इस अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है' ऐसी श्रुति है। अक्षर शब्द से भी उस परमेश्वर को कहा है, यथा 'परमात्मा माया से अत्यन्त पर है' ऐसी श्रुति भी है। कहीं माया शब्द से भी उसे सूचित किया है—'माया को जगत् की प्रकृति जानो और मायावी को महेश्वर समझो' ऐसा मन्त्रवर्ण है। वह माया अव्यक्त इसलिए कही जाती है, क्योंकि उसे तत्त्व और तद्भिन्नत्वरूप में निरूपित नहीं किया जा सकता। इसीलिए उसे महत् से पर कहा है। महतत्त्व का प्रभव भी अव्यक्त से ही होता है और जब हिरण्यगर्भ की बुद्धि को महान कहते हैं, तो उससे पर अव्यक्तपदवाच्य परमात्मा है किन्तु जब जीव को महान कहते हैं तब जीवभाव अव्यक्ताधीन होने के कारण **'महतः**

१. अविद्या। २. तदेत्यर्थः। ३. अव्यक्ताधीनत्वादिति हेतुम्।

परमव्यक्तमित्युक्तम् । अविद्या ह्यव्यक्तम् । अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः संव्यवहारः सन्ततो वर्तते । तच्चाव्यक्तगतं महतः परत्वमभेदोपचारात्तद्विकारे शरीरे परिकल्प्यते । सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचारादव्यक्तशब्देन ग्रहणम्, इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात्परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य ।

अन्ये तु वर्णयन्ति—द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च । स्थूलं यदिदमुपलभ्यते । सूक्ष्मं यदुत्तरत्र वक्ष्यते—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० ३-१-१) इति । तच्चोभयमपि शरीरमविशेषात्पूर्वत्र रथत्वेन सङ्कीर्तितम् । इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात् । तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवात्तस्य परत्वम् । यथाऽर्थाधीनत्वादिन्द्रियव्यापारस्येन्द्रियेभ्यः परत्वमर्थानामिति ।

तैस्त्वेतद्वक्तव्यं, अविशेषेण शरीरद्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन सङ्कीर्तितत्वात्समानयोः प्रकृतत्वपरिशिष्टत्वयोः कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते न पुनः स्थूलमपीति ।

जातं, तदाह—तच्चेति । नन्विन्द्रियादीनामप्यव्यक्ताभेदादव्यक्तत्वं परत्वं च किमिति नोच्यते, तत्राह —सत्यपीति ।

सूत्रद्वयस्य वृत्तिकृद्व्याख्यानमुत्थापयति—अन्ये त्विति । पञ्चीकृतभूतानां सूक्ष्मा अवयवाः स्थूलदेहारम्भकाः । सूक्ष्मशरीरं प्रति[1]जीवं लिङ्गस्याश्रयत्वेन नियतमस्तीति वक्ष्यते । देहान्तरप्राप्तौ [2]तेन युक्तो गच्छति परलोकमित्यर्थः । कथं तस्य महतो जीवात्परत्वमित्याशङ्क्य द्वितीयसूत्रं व्याचष्टे— तदधीनत्वाच्चेति । अर्थवदिति । सूत्रस्थदृष्टान्तमाह—यथेति ।

तद्व्याख्यानं दूषयति—तैरिति । अव्यक्तपदबलात् प्रकृतमपि स्थूलं त्यज्यत इति शङ्कते—

परमव्यक्तम्' अर्थात् महतत्व से पर अव्यक्त को कहा है । अविद्या ही अव्यक्त है, क्योंकि उसी अविद्या के कारण जीव का सभी व्यवहार सदा चलता रहता है । अभेददृष्टि से अव्यक्तगत अवस्था महतत्व से पर मानी गयी है, उसके कार्यगत शरीर में उसका परिकल्पना करते हैं । शरीर की भाँति इन्द्रियाँ भी माया का विकार सामान्यतः हैं ही, फिर भी शरीर को ही **'अव्यक्त'** शब्द से ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इन्द्रियादि को **'स्व'** शब्द से ही ग्रहण किया जा चुका है और परिशेषन्याय भी शरीर में ही लगता है ।

दूसरे वृत्तिकार इन दोनों सूत्रों की ऐसी व्याख्या करते हैं कि स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार का शरीर है । जो दिखाई पड़ता है वह स्थूल शरीर है और जिसका वर्णन **'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्'** (३-१-१) इस सूत्र द्वारा करेंगे वह सूक्ष्म शरीर है । इन दोनों शरीरों को सामान्यतः रथरूप से पहले कहा है, किन्तु यहाँ पर अव्यक्त शब्द से सूक्ष्म शरीर का वर्णन होता है क्योंकि सूक्ष्म पदार्थ अव्यक्तशब्दव्यवहारयोग्य माना जाता है और बन्ध-मोक्ष व्यवहार भी उसके अधीन ही होता है । इसलिए उस शरीर को जीव से पर कहना उचित ही है जैसे इन्द्रिय व्यापार अर्थाधीन होने के कारण इन्द्रियों से पर अर्थ को कहा गया है ?

अब वृत्तिकार की इस व्याख्या का खण्डन करते हैं कि उन वृत्तिकारों को यह बतलाना पड़ेगा कि जब पहले दोनों शरीरों को समानतः रथरूप से बतलाया, ऐसी स्थिति में दोनों का प्रसङ्ग है और परिशेष भी दोनों का ही है; फिर सूक्ष्म शरीर का ही यहाँ पर ग्रहण क्यों होता है, स्थूल का भी

---

१. प्रतिजीव सूक्ष्मशरीरं नियतमस्तीत्यन्वयः । २. लिङ्गेन ।

'आम्नायस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामो नाम्नातं पर्यनुयोक्तुम्। आम्नातं चाव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं शक्नोति नेतरद्व्यक्तत्वात्तस्येति चेत्। न। एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः। नहीमे ³पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवाक्यतामनापद्य कञ्चिदर्थं प्रतिपादयतः, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। न चाकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्तिरस्ति। तत्राविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षायां यथाकाङ्क्षं सम्बन्धेऽनभ्युपगम्यमान एकवाक्यतैव बाधिता भवति, कुत आम्नातस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः। न चैवं मन्तव्यं-दुःशोधत्वात्सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहण, स्थूलस्य तु दृष्टबीभत्सतया सुशोधत्वादग्रहणमिति। यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद्विवक्ष्यते। नह्यत्र शोधनविधायि किञ्चिदाख्यातमस्ति। अनन्तरनिर्दिष्टत्वात्तु किं तद्विष्णोः परमं पदमितीदमिह विवक्ष्यते। तथाहीदमस्मात्परमिदमस्मात्पर-

आम्नातस्येति। 'एकार्थबोधकानां शब्दानां मिथ ²आकाङ्क्षयकस्यां बुद्धावारूढत्वमेकवाक्यता। तव मते तस्या अभावात्कुतोऽर्थबोध इति समाधत्ते—नेति। तां विनाप्यर्थधीः किं न स्यादित्यत आह—नहीति। शरीरशब्देन रूढ्या स्थूलं प्रकृतं, तस्य हानिरप्रकृतस्य भूतसूक्ष्मस्याव्यक्तपदेन ग्रहणमन्यथा स्यादित्यर्थः। अस्त्वेकवाक्यतेत्यत आह—न चेति। ततः किं, तत्राह—तत्रेति। आकाङ्क्षया वाक्यकवाक्यत्वे सति प्रकृतं शरीरद्वयमव्यक्तपदेन ग्राह्यम्। आकाङ्क्षायास्तुल्यत्वादिति भावः। '⁵अनात्मनिश्चयः ⁶शुद्धिः, तदर्थं सूक्ष्ममेवाकाङ्क्षितं ग्राह्यम्; तस्य सूक्ष्मत्वेनात्माभेदेन गृहीतस्य दुःशोधत्वात्। स्थूलस्य दृष्टदौर्गन्ध्यादिना लशुनादिवदनात्मत्वधीवैराग्ययोः सुलभत्वादिति शङ्कते—न चेति। दृष्टा बीभत्सा घृणा यस्मिन् तस्य भावस्तयेत्यर्थः। दूषयति—यत इति। वैराग्याय शुद्धिरत्र न विवक्षिता, विध्यभावात्, किन्तु वैष्णवं परमं पदं विवक्षितमिति तद्दर्शनार्थं प्रकृतं स्थूलमेवाव्यक्तपदेन ग्राह्यमिति भावः। किञ्च सूक्ष्मस्य लिङ्गान्तःपातिन इन्द्रियादिग्रहणेनैव ग्रहणान्न

क्यों नहीं। पूर्वपक्ष में पढ़े हुए पद का अर्थबोध हम कराते हैं, उस पर प्रश्न नहीं करते। पठित अव्यक्त पद है जो सूक्ष्म अर्थ का ही बोध कराता है, स्थूल का नहीं, क्योंकि वह तो व्यक्त है? सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं। अर्थबोध एकवाक्यता के अधीन है। पहले शरीर और यहाँ अव्यक्त पद, इन दोनों की एकवाक्यता न मानने पर ये दोनों किसी निश्चित अर्थ को नहीं बतला सकते, अन्यथा प्रकृत हान और अप्रकृत प्रक्रिया का प्रसङ्ग आ जायेगा। आकांक्षा के बिना एकवाक्यता का बोध भी नहीं होता है। आकांक्षा के द्वारा एकवाक्यता होने पर दोनों शरीरों का ग्रहण जब सम्भव है, तो आकांक्षा के अनुरूप सम्बन्ध न मानने पर एकवाक्यता ही बाधित होने लग जायेगी, फिर भला पठित पद के अर्थ का बोध कैसे होगा। यदि वृत्तिकार कहते हों कि दुःशोध होने के कारण सूक्ष्म शरीर का ही यहाँ पर अव्यक्त पद से ग्रहण करना उचित है, स्थूल शरीर तो वीभत्स दीखता है उसका शोधन करना सरल है। अतः उसका ग्रहण (ज्ञान) भी सहज में हो जाता है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रसङ्ग में किसी का शोधन बतलाना अभीष्ट नहीं, शोधनविधायक कोई पद भी नहीं है। एक के बाद दूसरे का निर्देश होने के कारण विष्णु का वह परमपद क्या है? बस यही बतलाना यहाँ पर अभीष्ट हैं,

१. पठितस्य पदस्य। २ शरीराव्यक्ते। ३. प्रकृते तु अव्यक्तशरीरावेकार्थकौ। ४ प्रकृते तु ग्राह्यग्राहकाकाङ्क्षा तत्र ग्राह्यं शरीरम् ग्राहकमव्यक्तम्। ५. अध्यस्तप्रपञ्चस्यानात्मत्वेन निश्चय इत्यर्थः। ६. तत्त्वपदार्थयोः शुद्धिरित्यर्थः।

(११०) ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥

मित्युक्त्वा 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इत्याह । सर्वथापि त्वानुमानिकनिराकरणोपपत्तेस्तथा-नामास्तु, न नः किञ्चिच्छिद्यते ॥३॥

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः । नहि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति । क्वचिच्च विभूतिविशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति । न चेदमिहा[1]व्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते, पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दः, नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति । न चानुपदिष्टं पदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम् । तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते । अस्माकं तु रथरूपक-क्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ॥४॥

पृथगव्यक्तशरीरपदाभ्यां ग्रहः । अभ्युपेत्याऽऽह—सर्वथेति । स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वा ग्रहेऽपीत्यर्थः । तथा नामेति । सूक्ष्ममेवाव्यक्तमस्त्वित्यर्थः ॥३॥

अत्राव्यक्तं प्रधानं नेत्यत्र हेत्वन्तरार्थं सूत्रम्—ज्ञेयत्वेति । सत्त्वादिगुणरूपात्प्रधानात् पुरुष-स्यान्तरं भेदस्तज्ज्ञानादित्यर्थः । 'नहि शक्यमिति' च वदद्भिः प्रधानं ज्ञेयत्वेन स्मर्यत इति सम्बन्धः । न केवलं भेदप्रतियोगित्वेन प्रधानस्य ज्ञेयत्वं तैरिष्टं, किन्तु तस्योपासनयाऽणिमादिप्राप्तयेऽपीत्याह—क्वचिच्चेति । ज्ञानविध्यभावेऽप्यव्यक्तपदजन्यज्ञानगम्यत्वमार्थिकं ज्ञेयत्वमस्तीत्यत आह—न चानु-पदिष्टमिति । उपदिष्टं हि ज्ञानं फलवदिति ज्ञातुं शक्यं निष्फलस्योपदेशायोगादव्यक्तस्य च ज्ञाना-नुपदेशात्सफलज्ञानगम्यत्वासिद्धिरित्यर्थः । फलितमाह—तस्मादिति । सांख्येष्टसफलज्ञानगम्यत्वा-वचनाच्चेत्यर्थः । ननु शरीरस्यापि ज्ञेयत्वानुक्तेः कथमिह ग्रहणं, तत्राह—अस्माकं त्विति । अस्मन्मते विष्ण्वाख्यपदस्यैकस्यैव ज्ञेयत्वात्तद्दर्शनार्थमव्यक्तपदेन शरीरोपन्यासो युक्त इत्यर्थः । साधारणशब्द-मात्रान्न प्रधानस्य प्रत्यभिज्ञा स्मार्तलिङ्गस्यानुक्त्या नियामकाभावादिति तात्पर्यम् ॥४॥

इसीलिए तो यह इससे परे है, यह इससे परे है; ऐसा कहने के बाद 'पुरुष से परे कुछ भी नहीं है' ऐसा श्रुति ने कहा है। वृत्तिकार एवं सिद्धान्तपक्ष दोनों में से किसी को भी स्वीकार करें, फिर भी अनुमान प्रमाण से सिद्ध सांख्यशास्त्रपरिकल्पित प्रधान का निराकरण तो हो ही जाता है। वृत्तिकार के अव्यक्त शब्द का अर्थ सूक्ष्म शरीर कर भी लिया जाय, तो हमारा कुछ नहीं बिगड़ता ॥३॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च (ललिता)

गुण एवं पुरुष के भेदज्ञान से मोक्ष बतलाने वाले सांख्यों ने प्रधान को भी ज्ञेयत्वेन कहा है क्योंकि गुण के स्वरूप को न जानकर कोई भी साधक गुणों और पुरुष के भेद को समझ भी नहीं सकता। कहीं-कहीं पर विभूतिविशेष की प्राप्ति के लिए सांख्यों ने प्रधान को ज्ञेय कहा है किन्तु कठोपनिषद् में पठित अव्यक्त पद के अर्थ को श्रुति ने ज्ञेय नहीं बतलाया है। हाँ, अव्यक्त पदमात्र अवश्य पढ़ा गया है, फिर भी यहाँ अव्यक्त न ज्ञेय है, न उपास्य है और जो पदार्थज्ञान उपदिष्ट ही नहीं है वह पुरुषार्थ का बोधक कैसे हो सकेगा। अतः अव्यक्त शब्द से प्रधान नहीं कहा गया है; किन्तु हमारे मत में रथरूपक की कल्पना करते हुए शरीरादि का अनुसरणकर विष्णु के परमपद को ही दिखलाया गया है, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है ॥४॥

---

१. काठके .

(१११) वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥५॥

अत्राह सांख्यः—'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम् ? कथम् ? श्रूयते ह्युत्तरत्राव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥' (का० २-३-१५) इति । अत्र हि यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं महतः परं स्मृतौ निरूपितं तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्टं, तस्मात्प्रधानमेवेदं, तदेव चाव्यक्तशब्दनिर्दिष्टमिति । अत्र ब्रूमः—नेह प्रधानं निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्, प्राज्ञो हीह परमात्मा निचाय्यत्वेन निर्दिष्ट इति गम्यते । कुतः ? प्रकरणात् । प्राज्ञस्य हि प्रकरणं विततं वर्तते, 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यादिनिर्देशात्, 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च दुर्ज्ञानत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकाङ्क्षणात् । 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति च तज्ज्ञानायैव वागादिसंयमस्य विहितत्वात् । मृत्युमुखप्रमोक्षणफलत्वाच्च । नहि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति सांख्यैरिष्यते । चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति तेषामभ्युपगमः । सर्वेषु वेदान्तेषु प्राज्ञस्यैवात्मनोऽशब्दादिधर्मत्वमभि-

---

लिङ्गोक्तिमाशङ्क्य निषेधति—वदतीति चेदिति । **अत्र हि तादृशमेव निर्दिष्टमित्यन्वयः ।**

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् (ललिता)

इस पर सांख्यों का कहना है, कि पिछले सूत्र से अव्यक्त में ज्ञेयत्व का अवचन कहना असिद्ध है। कसे ? क्योंकि आगे इसी श्रुति में अव्यक्तपदवाच्य प्रधान को ज्ञेय कहा गया है। वहाँ पर कहा है—'शब्द-स्पर्श-रूप-रस एवं गन्ध से रहित, नित्य अविनाशी, अनादि, अनन्त, महत् से पर उस ध्रुव पदार्थ को जानकर साधक मृत्यु के मुख से छूट जाता है।' इस वाक्य में महतत्व से पर-तत्त्व वैसा ही द्रष्टव्य कहा है जैसा सांख्यस्मृति में महत् से पर शब्दादिहीन तत्त्व बतलाया गया है। अतः यह प्रधान ही इस श्रुति में अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट है ? इसपर हम सिद्धान्ती कहते हैं, कि इस कठ श्रुति में द्रष्टव्यत्वेन निर्दिष्ट पदार्थ प्रधान नहीं है किन्तु परमात्मा है, क्योंकि यह विस्तृत प्रकरण परमात्मा का ही चल रहा है, उसी के लिए 'पुरुष से परे कुछ नहीं है, वही पराकाष्ठा है और वही परागति है' इत्यादि निर्देश भी मिलता है। सभी भूतों में यह आत्मा गूढ़ है, जो प्रकाशित नहीं होता' इस वाक्य द्वारा दुर्ज्ञानत्व का कथन होने के कारण जब उसमें ज्ञेयत्व की आकांक्षा उत्पन्न होती है तब 'विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह वागादि इन्द्रियों को मन के अधीन करे' इस वाक्य द्वारा उस तत्त्व के ज्ञान के लिए वागादि संयम का विधान किया गया है, मृत्यु के मुख से छूटनारूप फल भी इसी अर्थ का सङ्केत करता है कि वह ज्ञातव्य पदार्थ परमात्मा ही है। साथ ही, सांख्यों ने प्रधानमात्र को जानकर मृत्यु के मुख से छूटता है ऐसा कहीं भी नहीं माना है, किन्तु चेतन आत्मा के साक्षात्कार से मृत्यु के मुख से ज्ञानी पुरुष छूट जाता है, ऐसा उनका सिद्धान्त है। सभी उपनिषदों में चेतन ब्रह्म को ही शब्दादि धर्म से

(११२) त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

लभ्यते । तस्मान्न प्रधानस्यात्र ज्ञेयत्वमव्यक्तशब्दनिर्दिष्टत्वं वा ॥५॥

इतश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा । यस्मात्त्रयाणामेव पदार्थानामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे कठवल्लीषु वरप्रदानसामर्थ्याद्वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते, तद्विषय एव च प्रश्नः नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वास्ति । तत्र तावत्—'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्' (का० १-१-१३) इत्यग्निविषय प्रश्नः । 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेव वरस्तृतीयः ॥' (का० १-१-२०) इति जीवविषयः प्रश्नः । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' (का० १-२-१४) इति परमात्मविषयः । प्रतिवचनमपि—लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।' (का० १-१-१५) इत्यग्निविषयम् । 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम । योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय

स्पष्टमन्यत् ॥५॥

किञ्चात्र कठवल्ल्यां प्रधानस्य प्रश्नोत्तरयोरसत्त्वान्न ग्रहणमित्याह—त्रयाणामिति । मृत्युना नचिकेतसं प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्वेत्युक्तेः त्रयाणामेव प्रश्नो नचिकेतसा कृतः । उपन्यासश्च मृत्युना कृतः । नान्यस्येत्यर्थः । प्रश्नत्रयं क्रमेण पठति—तत्र तावदिति । हे मृत्यो, स मह्यं दत्तवरस्त्वं स्वर्गहेतुमग्निं स्मरसि । प्रेते मृते । देहादन्योऽस्ति न वेति संशयोऽस्ति । अतः एतदात्मतत्त्वं सन्दिग्धं

शून्य कहा है । अतः इस कठोपनिषद् में न प्रधान ज्ञेय है और न अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट ही है ॥५॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च (ललिता)

इसलिए भी प्रधान न अव्यक्तशब्दवाच्य है और न ज्ञेय है क्योंकि इस कठोपनिषद् ग्रन्थ में अग्नि, जीव और परमात्मा ऐसे तीन पदार्थ का ही परप्रदान के सामर्थ्य से वक्तव्यरूप में उपन्यास देखा जाता है और उन्हीं तीनों के विषय में प्रश्न भी है । उससे भिन्न का न प्रश्न है और न उत्तर ही है । 'स्वर्ग के साधन अग्निविज्ञान को आप जानते हैं इसलिए हे आचार्य ! मुझ श्रद्धालु को उसी का उपदेश करें ।' इस वाक्य द्वारा अग्निविषयक प्रश्न है । 'मनुष्य के मर जाने पर यह संशय होता है कि कुछ लोग देह से भिन्न जीवात्मा का अस्तित्व मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते; इस रहस्यमय तत्त्व को आप से उपदेश प्राप्तकर मैं जान सकूँ, बस यही आप के दिये हुए वरदानों में से तीसरा वरदान है ।' इस वाक्य द्वारा जीवविषयक प्रश्न है । 'जो धर्म से भिन्न, अधर्म से भिन्न, कार्य-कारण से भिन्न, भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान काल से भी भिन्न है उसे आप जानते हैं, अतः उसी को बतलायें ।' इस वाक्य द्वारा परमात्मविषयक प्रश्न है । प्रत्युत्तर भी ऐसा ही देखा जाता है । 'लोक के मूल उस अग्नि का उपदेश नचिकेता को यमाचार्य ने कर दिया, जितनी ईंटें हैं और जिस प्रकार उनका चयन होता है वह रहस्य बतला दिया' इस वाक्य द्वारा अग्निविषयक उत्तर है । अब मैं सनातन, अतिगोपनीय इस ब्रह्म का उपदेश करूँगा । हे गौतम ! जिस प्रकार मरकर भी यह आत्मा विद्यमान रहता है; कुछ जीव शरीर धारण करने के लिए किसी योनि में चले जाते हैं, कुछ स्थावर शरीर

देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।' (का० २-५-६,७) इति। व्यवहितं जीवविषयम्। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'(का० १-२-१८)इत्यादि बहुप्रपञ्चं परमात्मविषयम्। नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति अपृष्टत्वाच्चानुपन्यसनीयत्वं तस्येति।

अत्राह—योऽयमात्मविषयः प्रश्नो 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ती'ति, किं स एवायम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इति पुनरनुकृष्यते, किंवा ततोऽन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इति। किञ्चातः? स एवायं प्रश्नः पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, तदा द्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयोरेकतापत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न वक्तव्यं त्रयाणां प्रश्नोपन्यासाविति। अथान्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इत्युच्यते, ततो यथैव वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोषः, एवं प्रश्नव्यतिरेकेणापि प्रधानोपन्यासकल्पनायामदोषः स्यादिति।

जानीयामित्यर्थः। क्रमेणोत्तरत्रयमाह—प्रतिवचनमपीति। लोकहेतुविराडात्मनोपास्यत्वाल्लोकादिश्चित्योऽग्निस्तं मृत्युरुवाच नचिकेतसे, याः स्वरूपतो यावतीः संख्यातो यथा वा क्रमेणाग्निश्चीयते तत्सर्वमुवाचेत्यर्थः। हन्तेदानीं ब्रह्म वक्ष्यामीति 'ब्रह्मवाक्येन जीवप्रश्नाद्व्यवहितमपि 'यथा च मरणं प्राप्य' इत्यादि वाक्यं जीवविषयमुत्तरं, योग्यत्वादित्यर्थः। वाक्यार्थस्तु आत्मा मरणं प्राप्य यथा भवति तथा वक्ष्यामीति। प्रतिज्ञातमाह—योनिमिति। चराचरदेहप्राप्तौ निमित्तमाह—यथेति। श्रुतमुपासनम्। सूत्रे आद्यश्चकारो यत इत्यर्थे। एवं च 'त्रयाणामेवोपन्यासः प्रश्नश्च' यतः, अतो न प्रधानमव्यक्तमिति योजना।

उक्तार्थे सूत्रमाक्षिपति—अत्राहेति। एकः प्रश्नः द्वौ प्रश्नौ वेति पक्षद्वये फलितं पृच्छति—किञ्चात इति। सप्तम्यर्थे तसिः। अत्र च पक्षद्वयेऽपि किमित्यर्थः। प्रश्नैक्ये सूत्रासङ्गतिः, भेदे प्रधानस्य श्रौतत्वसिद्धिरिति पूर्ववाद्याह—स एवेत्यादिना।

को प्राप्त करते हैं। जिनका जैसा कर्म और जैसी उपासना होती है उसके अनुसार उनको गति होती है।' इस वाक्य द्वारा जीवविषयक उत्तर है। 'वह चेतन ब्रह्म न जन्मता है, न मरता है' इत्यादि वाक्य द्वारा अतिविस्तारपूर्वक परमात्मविषयक उत्तर दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रधान के विषय में प्रश्न नहीं है और बिना पूछे उत्तर देने का प्रसङ्ग ही नहीं आता।

इस पर पूर्वपक्ष कहता है कि **'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति'** इस वाक्य द्वारा जो आत्मविषयक प्रश्न है इसी का अनुकर्षण **'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्'** इस वाक्य से किया गया है अथवा उससे भिन्न अपूर्व प्रश्न का उत्थापन किया है। यदि पूर्वप्रश्न का ही अनुकर्षण माना जाय, तो आत्मा के विषय में दोनों प्रश्नों को एक ही मानना पड़ेगा और दूसरा अग्निविषयक प्रश्न होगा। इस प्रकार आत्मा और अग्नि के सम्बन्ध में प्रश्न होने के कारण दो ही प्रश्न किये गये हैं, फिर तो तीन के विषय में प्रश्न एवं उत्तर वक्तव्य ही नहीं है और यदि यह अपूर्व प्रश्न का उत्थापन माना जाय, तो जैसे वरप्रदान से भिन्न प्रश्नकल्पना करने पर कोई दोष नहीं है ऐसे ही प्रश्न से भिन्नरूप में प्रधानविषयक उत्तरकल्पना में भी कोई दोष नहीं माना जायेगा ?

---

१. परमात्मप्रतिवचनवाक्येन।

अत्रोच्यते—नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कंचित्कल्पयामः, वाक्योपक्रम-सामर्थ्यात्। वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा वाक्यप्रवृत्तिरासमाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते। मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय त्रीन्वरान्प्रददौ, नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वव्रे, द्वितीयेनाग्निविद्याम्, तृतीयेनात्मविद्याम्, 'येयं प्रेते' इति 'वराणामेष वरस्तृतीयः' (का० १-१-२०) इति लिङ्गात्। तत्र 'यद्यन्यत्र धर्मा'दित्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्येत, ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणापि प्रश्न-कल्पनाद्वाक्यं बाध्येत। ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं प्रश्नो भवितुमर्हति, पूर्वो हि प्रश्नो जीवविषयः 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति नास्ती'ति विचिकित्साभिधानात्, जीवश्च धर्मादिगोचरत्वान्नान्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्राज्ञस्तु धर्माद्यतीतत्वादन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हतीति। [1]प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते, पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषयत्वादुत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वात्, तस्मात्प्रत्यभिज्ञानाभावात्प्रश्नभेदः, न पूर्वस्यैवोत्तरत्रानु-

---

प्रश्नत्रयपक्षमादाय सिद्धान्त्याह—अत्रोच्यत इति। येन प्रधानसिद्धिः स्यादिति शेषः। चतुर्थ-प्रश्नकल्पने वरत्रित्वोपक्रमविरोधः स्यादिति विवृणोति—वरेत्यादिना। वरप्रदानमुपक्रमो यस्याः सा। प्रहिताय यमलोकं प्रति प्रेषिताय। इतः पुनः मर्त्यलोकं प्राप्तस्य मम पिता यथापूर्वं सुमनाः स्यादिति प्रथमं वव्रे। ननु द्वितीयवरो जीवविद्या तृतीयो ब्रह्मविद्येति प्रश्नभेदः किं न स्यादित्यत आह—येयमिति। 'प्रेते' इत्युपक्रम्य तृतीयत्वोक्तिलिङ्गाज्जीवात्मविद्यैव तृतीयो वर इत्यर्थः। एवं वाक्योपक्रमे सति प्रश्नान्तरं न युक्तमित्याह—तत्रेति। मरणधर्माद्यस्पर्शलिङ्गाभ्यां प्रष्टव्ययोर्जीवेश्वरयोर्भेदात् प्रश्नभेदसिद्धेर्वाक्यबाधो युक्त इति शङ्कते—नन्वित्यादिना। गोचरत्वादाश्रयत्वात्। न केवलं प्रष्टव्यभेदात् प्रश्नभेदः किन्तु प्रश्नवाक्ययोः सादृश्याभावादपीत्याह—प्रश्नच्छायेति। प्रष्टव्यभेदो-

---

इस पर सिद्धान्तीका कहना है कि हम वरदान से भिन्नरूप में किसी प्रश्न की कल्पना नहीं करते, इसमें वाक्यारम्भ की शक्ति देखनी पड़ेगी। यमाचार्य एवं नचिकेता के संवादरूप में वरप्रदान का प्रयोग प्रारम्भ हुआ है और ऐसे संवादरूप वाक्य की प्रवृत्ति कठोपनिषद् की समाप्तिपर्यन्त चली है। पिता के द्वारा यमलोक में प्रेषित नचिकेता को यमाचार्य ने तीन वरदान दिये; उनमें से प्रथम वर द्वारा नचिकेता ने पिता का सौमनस्य माँगा, द्वितीय वरदान से अग्निविद्या माँगी और तृतीय वरदान से आत्मविज्ञान माँगा। ऐसी स्थिति में यदि वहाँ पर **'अन्यत्र धर्मात्'** इत्यादि वाक्य द्वारा उनसे भिन्न किसी अपूर्व प्रश्न का उत्थापन माना जाय तो वरप्रदान से भिन्नरूप में प्रश्नकल्पना करने पर वाक्य बाधित होने लग जायेगा। शङ्का—प्रष्टव्यभेद से यह प्रश्न अपूर्व हो सकता है, क्योंकि पहले **'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति नास्ति इति'** इस वाक्य द्वारा जीव के विषय में संशय का कथन है। जीव धर्मादि का आश्रय होता है। अतः उसे 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि वाक्य से नहीं कह सकते हैं, किन्तु परमात्मा धर्मादि से अतीत होने के कारण उसी को 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि वाक्य से पूछ सकते हैं। प्रश्न का आकार भी एक जैसा नहीं है, पहले अस्तित्वनास्तित्वविषयक प्रश्न है और बाद में धर्माधर्म से अतीत-वस्तुविषयक प्रश्न है। अतः प्रत्यभिज्ञा न होने के कारण प्रश्न का भेद

---

१. प्रश्नाऽऽकारश्चेत्यर्थः।

कर्षणमिति चेत् । न । जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमात् । भवेत्प्रष्टव्यभेदात्प्रश्नभेदोयद्यन्यो जीवः प्राज्ञात्स्यात्, न त्वन्यत्वमस्ति । 'तत्त्वमसी'त्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः । इह च 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति जन्ममरण-प्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति । सति हि प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति । प्रसङ्गश्च जन्ममरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारीरस्य भवति न परमेश्वरस्य । तथा—'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥' (का० २-४-४) इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्व-विशेषणस्य मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन्न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति । प्राज्ञविज्ञानाद्धि शोकविच्छेद इति वेदान्तसिद्धान्तः । तथाग्रे—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥' (का० २-४-१०) इति जीवप्राज्ञभेद-

ऽसिद्ध इति परिहरति—नेत्यादिना । किञ्च ब्रह्मप्रश्ने जन्मादिनिषेधेन जीवस्वरूपं बदन्यमस्त-योरैक्यं सूचयतीत्याह—इह चान्यत्रेति । तन्निषेधवाक्ये जीवोक्तिरसिद्धेत्यत आह—सतीति । भागी युक्तः । तस्मादविद्यया जीवस्य प्राप्तजन्मादिनिषेधेन स्वरूपमुक्तमित्यर्थः । किञ्च जीवो ब्रह्माभिन्नः, मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वात्, ब्रह्मवदित्याह—तथा—स्वप्नेति । अन्तोऽवस्था । येन साक्षिणा प्रमाता पश्यति तमात्मानमिति सम्बन्धः । हेतोर[1]प्रयोजकत्वमाशङ्क्य 'तमेव विदित्वा' इत्यादि श्रुतिविरोधमाह प्राज्ञेति । किञ्चाभेदमुक्त्वा भेदस्य निन्दितत्वादभेद एव सत्य इत्याह—तथेति । इह देहे यच्चैतन्यं तदेवामुत्र सूर्यादौ, एवमिहाखण्डैकरसे ब्रह्मणि यो नानेव मिथ्या भेदं पश्यति सः भेददर्शी मरणान्मरणं

सम्भव है, पूर्व प्रश्न का यहाँ पर अनुकर्षण नहीं है ? समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जीव और ब्रह्म को एक माना गया है । प्रष्टव्य भेद से प्रश्न का भेद हो सकता था यदि जीव ब्रह्म से भिन्न होता तो, किन्तु 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जीव-ब्रह्म में अभेद निश्चित् होता है, भेद नहीं । यहाँ पर भी 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यमाचार्य ने कहा है कि 'चेतन आत्मा जन्मता नहीं, न मरता ही है ।' इस वाक्य द्वारा जन्म-मरण का प्रतिषेध करते हुए आत्मा-परमात्मा में अभेद प्रतिपादन किया गया है । किसी का प्रसङ्ग सम्भव हो तो उसका प्रतिषेध किया जाता है, निष्प्रतियोगित प्रतिषेध नहीं होता । शरीरसम्बन्ध के कारण जीवात्मा मे जन्म-मरण का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, परमेश्वर में नहीं । 'स्वप्न और जाग्रत दोनों को जिस साक्षी से प्रमाता देखता है उस महान व्यापक आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता ।' इस वाक्य द्वारा स्वप्न और जाग्रत के द्रष्टा जीव को ही महत्व एवं विभुत्व विशेषण दिया गया है जिसके साक्षात्कार से शोकनाश को बतलाते हुए श्रुति परमात्मा से जीव को अभिन्न दिखलाती है क्योंकि परमात्मा के ज्ञान से ही शोकनाश होता है, यह वेदान्त का सिद्धान्त है । ऐसे ही, इसके आगे 'जो व्यष्टि में है वही समष्टि में है और जो समष्टि में है वही व्यष्टि शरीर में है । इन दोनों में जो भेद देखता है वह भेददर्शी बार-बार मरता है, वह संसारभय से कभी भी मुक्त

१. मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वं हेतुः पक्षेस्थितत्वापि स्वसाध्य साधयितुं न शक्नोति, मतांतरे भेदज्ञान—स्यैव मोक्षहेतुत्वात्तद्विषयत्वं च जीवस्य तैरभ्युपगमादित्यभिप्रेयाह—हेतोरप्रयोजकत्वमिति ।

दृष्टिमपवदति । तथा जीवविषयस्यास्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्यानन्तरम् 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' इत्यारभ्य मृत्युना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल, तदैनं मृत्युरभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च 'विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त' (का० १-२-४) इति प्रशस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशंसन्यदुवाच—तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।' (का० १-२-१२) इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते । यत्प्रश्ननिमित्तां च प्रशंसां महतीं मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेता यदि तं विहाय प्रशंसानन्तरमन्यमेव प्रश्नमुपक्षिपेदस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा प्रसारिता स्यात्, तस्मात् 'येयं प्रेते' इत्यस्यैव प्रश्नस्यैतदनुकर्षणम् 'अन्यत्र धर्मात्' इति ।

प्राप्नोति संसारभयान्न मुच्यत इत्यर्थः । किञ्च जीवप्रश्नानन्तरं 'तं दुर्दर्शम्' इति यदुत्तरमुवाच तेनाप्युत्तरेणाभेदो गम्यत इति सम्बन्धः । प्रष्टृप्रश्नयोः प्रशंसयापि लिङ्गेन पृष्टस्य दौर्लभ्यत्वद्योतनाद्-ब्रह्मत्वसिद्धिरित्याह—अन्यं वरमित्यादिना । पुत्रादिकं वृणीष्वेत्युक्तेऽपि विषयांस्तुच्छीकृत्यात्मज्ञानान्न चचाल 'नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते' इति श्रवणात् । तदा सन्तुष्टो यमः 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' इति भोगापवर्गयोर्वैलक्षण्यं प्रतिज्ञाय 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या' इति दर्शितवानित्यर्थः । प्रेयः प्रियतमं स्वर्गादिकम्, विषूची विरुद्धफले, अविद्या कर्म, विद्या तत्त्वधीः । विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं त्वामहं मन्ये, यतः त्वा त्वां बहवोऽपि कामाः पुत्रादयो मया दीयमाना दुर्लभा अपि नालोलुपन्त लोभवन्तं न कृतवन्त इति प्रष्टारं स्तुत्वा प्रश्नमपि 'त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा' इति स्तुवन्नित्यक्षरार्थः । इयं प्रशंसा प्रश्नभेदपक्षे न घटत इत्याह—यत्प्रश्नेति । यत्प्रश्नेन स्तुतिं लब्धवांस्तं प्रश्नं विहाय यद्यन्यदेवोत्थापयेत् तर्ह्यनवसरे स्तुतिः कृता स्यादित्यर्थः । तस्मादिति ।

नहीं होता ।' इस वाक्य द्वारा जीव और ब्रह्म के भेददृष्टि की निन्दा की गयी है । जीव के अस्तित्व-नास्तित्व प्रश्न के बाद जब यमाचार्य ने कहा—'हे नचिकेता ! इसे छोड़कर कोई दूसरा वरदान माँग लो' यहाँ से प्रारम्भ कर यमाचार्य ने उन-उन भोगों द्वारा जब नचिकेता को प्रलोभन दिया, उस स्थिति में नचिकेता जब विचलित नहीं हुआ तब उस नचिकेता को यमाचार्य ने भोग और मोक्ष का विभाग बतलाते हुए एवं विद्या और अविद्या का विभाग दिखलाते हुए कहा—'नचिकेता ! मैं तुझे विद्याभिलाषी मानता हूँ क्योंकि बहुत से भोगों का प्रलोभन भी तुझे भोगलोलुप नहीं कर सका ।' इस वाक्य द्वारा प्रशंसा कर नचिकेता के प्रश्न का भी प्रशंसा करते हुए यमाचार्य ने कहा—'अत्यन्त कठिनाई से दीख पड़ने वाला, गूढ़, अतिसूक्ष्म स्थान में अनुप्रविष्ट, बुद्धिरूप गुहा में स्थित, विषम स्थान में रहने वाले उस पुराण देवता को अध्यात्म योगाधिगम द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोक दोनों को छोड़ बैठता है, इससे भी जीव-ब्रह्म का अभेद ही बतलाना यहाँ पर अभीष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है । जिस प्रश्ननिमित्त को लेकर नचिकेता ने यमराज की अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त की है यदि उसे छोड़कर प्रशंसा के बाद किसी अन्य प्रश्न का उपस्थापन करेगा, तो पूर्वोक्त वह सारी प्रशंसा उचित स्थान से तिरष्कृत मानी जायेगी । अतः **'येयं प्रेते'** इस वाक्य द्वारा किये गये प्रश्न का अनुकर्षण **'अन्यत्र धर्मात्'** इस स्थल में भी किया गया है ।

---

१. जीवस्य इति शेषः ।

यत्तु प्रश्नच्छायावैलक्षण्यमुक्तम् तद्दूषणम् । तदीयस्यैव विशेषस्य पुनः पृच्छ्यमानत्वात् । पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्य आत्मनोऽस्तित्वं पृष्टमुत्तरत्र तु तस्यैवासंसारित्वं पृच्छ्यत इति । यावद्ध्यविद्या न निवर्तते तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते । तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव 'तत्त्वमसी'ति श्रुत्या प्रत्याय्यते । न चाविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । यथा कश्चित्सन्तमसे पतितां काञ्चिद्रज्जुमहिं मन्यमानस्ततो भीतो वेपमानः पलायते, तं चापरो ब्रूयान्मा भैषीर्नायमही रज्जुरेवेति । स च तदुपश्रुत्याहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च । न त्वहिबुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात् । तथैवैतदपि द्रष्टव्यम् । ततश्च 'न जायते म्रियते वा' इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवचनम् । सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम् । एकत्वेऽपि ह्यात्म-

---

प्रष्टव्यभेदाभावादित्यर्थः । प्रश्नवाक्यव्यक्त्योः सादृश्याभावात् प्रश्नभेद इत्युक्तं निरस्यति—यत्त्वित्यादिना । धर्माद्याश्रयस्य जीवस्य ब्रह्मत्वं कथमित्यत आह—यावदिति । अविद्यानाशानन्तरं ब्रह्मत्वं चेदागन्तुकमनित्यं च स्यादित्यत आह—न चाविद्यावत्त्व इति । जीवस्य ब्रह्मत्वे स्वाभाविके सति ब्रह्मप्रश्नस्य यदुत्तरं तज्जीवप्रश्नस्यापि भवतीति लाभं दर्शयति—ततश्च न जायत इति । जीवब्रह्मैक्ये 'त्रयाणाम्–' इति सूत्रं कथमित्यत आह—सूत्रं त्विति । कल्पितभेदात्प्रश्नभेदकल्पनेत्याह—

और जो आप ने कहा था कि दोनों स्थल पर प्रश्न का भेद जान पड़ता है ? यह कोई दोष नहीं है। प्रथम प्रश्न में ही कुछ विशेष बात पूछने की इच्छा से पूरक प्रश्न के रूप में नचिकेता ने पूछा है। पहले देह से भिन्न आत्मा के अस्तित्वसम्बन्ध में पूछा और तत्पश्चात् उसी देहभिन्न आत्मा में असंसारित्व पूछा है। वास्तव में जब तक अविद्या नहीं मिटती है तब तक जीव में धर्माधर्मविषयत्व बना रहता है और जीवत्व मिटता नहीं। उसकी निवृत्ति से ही 'तत्त्वमसि' वाक्य द्वारा श्रुति ने जीव-ब्रह्म का अभेददर्शन कराया है। अविद्या के रहने और मिट जाने पर वस्तुतत्त्व में कोई भेद नहीं आता है जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी किसी रस्सी को सर्प मानने वाला कोई पुरुष उससे भयभीत होकर काँपता है और वहाँ से भाग जाता है, उसी को जब दूसरा कोई व्यक्ति कहेगा— डरो मत, यह सर्प नहीं है किन्तु रज्जु है तो वह पहले से भयभीत पुरुष उस वाक्य को सुनकर सर्प के कारण से होने वाले भय को छोड़ बैठता है। साथ ही, कम्पन और पलायन का भी परित्याग कर डालता है; किन्तु सर्प ज्ञान के समय और उस ज्ञान के अभावकाल में वस्तु में कोई भेद नहीं आता। ऐसे ही, अज्ञान से आत्मा में जन्म-मरणादि संसार भासता हो और ज्ञान से संसारधर्म नहीं भासता हो तो दोनों दशा में आत्मतत्त्व में कोई भेद नहीं आता, ऐसा समझना चाहिए। इसीलिए पहले जिसके अस्तित्व के विषय में प्रश्न किया था उसी प्रश्न का उत्तर **"न जायते म्रियते वा विपश्चित्"** इस वाक्य से भी दिया गया है, किन्तु अविद्याकल्पित जीव और ब्रह्म के भेद की अपेक्षाकर सूत्र की योजना कर लेनी चाहिए। जीव-ब्रह्म का एकत्व नित्यसिद्ध होने पर भी आत्मविषयक प्रश्न की

(११३) महद्वच्च ॥७॥

विषयस्य प्रश्नस्य प्रायणावस्थायां देहव्यतिरिक्तास्तित्वमात्रविचिकित्सनात्कर्तृत्वादिसंसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते । उत्तरस्य तु धर्माद्यत्ययसङ्कीर्तनात्प्राज्ञविषयत्वमिति । ततश्च युक्ताग्निजीवपरमात्मकल्पना । प्रधानकल्पनायां तु न वरप्रदानं न प्रश्नो न प्रतिवचनमिति वैषम्यम् ॥६॥

यथा महच्छब्दः सांख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदिकेऽपि प्रयोगेऽभिधत्ते । 'बुद्धेरात्मा महान्परः (का० १-३-१०), 'महान्तं विभुमात्मानम्' (का० १-२-२२), वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३-८) इत्येवमादावात्मशब्दप्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः । तथाव्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति । अतश्च नास्त्यानुमानिकस्य शब्दवत्त्वम् ॥७॥

ततश्चेति । परमात्मनः सकाशात्प्रधानस्य वैषम्यमनात्मत्वेन तृतीयवरान्तर्भावायोगादिति भावः ॥६॥

श्रौतोऽव्यक्तशब्दो न सांख्यासाधारणतत्त्वगोचरः, वैदिकशब्दत्वात्, महच्छब्दवदित्याह—महद्वच्चेति । सूत्रं व्याचष्टे—यथेत्यादिना । न चाकाशादिशब्दे 'व्यभिचारः, आकाशादेर्मतान्तरसाधारणत्वेन सांख्यासाधारणत्वासिद्धेः साध्यस्यापि सत्त्वादिति मन्तव्यम्—सत्तामात्रे । सत्त्वप्रधानप्रकृतेराद्यपरिणामे, निर्विकल्पकबुद्धावित्यर्थः । 'आत्मा महानि'त्यात्मशब्दप्रयोगात्, तं मत्वा न शोचति, 'तमसः परस्तादि'त्यादिना शोकात्ययतमःपरत्वादिभ्यश्च महच्छब्दः सांख्यतत्त्वं नाभिधत्त इति सम्बन्धः । अधिकरणार्थमुपसंहरति—अतश्चेति ॥७॥

मरणोपरान्त देह से भिन्न अस्तित्वमात्र की विचिकित्सा होती है कर्तृत्व आदि संसार-स्वभाव की कल्पना उस समय नहीं होती। इसीलिए पूर्व पर्याय में जीवविषयत्व की उत्प्रेक्षा होती है किन्तु उत्तरपर्याय में धर्मादि अत्यय का संकीर्तन किया है जो विशुद्ध परमात्मचैतन्य को ही बतलाता है। अतः अग्नि, जीव एवं परमात्मविषयक प्रश्नोत्तर की कल्पना उचित ही है किन्तु प्रधान की कल्पना करने पर न वरप्रदान का, न प्रश्न का और न उत्तर का ही प्रसङ्ग उपस्थित होता है, बस आप के और हमारे मत में इसी कारण से वैषम्य है ॥६॥

महद्वच्च (ललिता)

जैसे सांख्यों ने प्रकृति से प्रथम उत्पन्न सत्तामात्र में महत् शब्द का प्रयोग किया है किन्तु उसी को वैदिक प्रयोग में नहीं मानते हैं। 'बुद्धि से पर महान् आत्मा है।' 'महान् व्यापक आत्मा को जानकर' 'इस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ।' इन सभी वाक्यों में आत्म शब्द का प्रयोग देखा जाता है। अतः जैसे महान् का अर्थ सांख्यों का महतत्व नहीं है; वैसे ही अव्यक्त शब्द भी वैदिक प्रयोग में प्रधान को नहीं बतलाता है। इसीलिए अनुमानप्रमाणसिद्ध सांख्यशास्त्रपरिकल्पित प्रधान को कोई वैदिक शब्द से सिद्ध नहीं कर सकता। वह तो वेदवाह्य ही है, यह निश्चित हुआ ॥७॥

---

१. व्यभिचार इति साध्यवदन्यस्मिन्नाकाशादौ हेतोर्वृत्तित्वात्साधारणानैकान्तिको हेतुरित्यर्थः

२. चमसाधिकरणम् (सू० ८-१०)

(११४) चमसवदविशेषात् ॥८॥

अजा हि सांख्यप्रकृतिस्तेजोवन्नात्मिकाथवा । रजआदौ लोहितादिलक्ष्येऽसौ सांख्यशास्त्रगा ।
लोहितादिप्रत्यभिज्ञा तेजोवन्नादिलक्षणाम् । प्रकृतिं गमयेच्छ्रौतीमजाक्लृप्तिर्मधुत्ववत् ॥

पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धमित्याह । कस्मात् ? मन्त्रवर्णात्— 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (श्वे० ४-५) इति । अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णशब्दै रजःसत्त्वतमांस्यभिधीयन्ते । लोहितं रजो रञ्जनात्मकत्वात् । शुक्लं सत्त्वं

चमसवदविशेषात् । **अत्राऽजापदं विषयः, तत्किं प्रधानपरं मायापरं वेति रूढ्यर्थासम्भवात्संशये पूर्वत्राव्यक्तशब्दमात्रेण प्रधानस्याप्रत्यभिज्ञायामप्यत्र त्रिगुणत्वादिलिङ्गोपेतावजापदात्प्रत्यभिज्ञास्तीति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति**—पुनरपीति । **फलं पूर्वपक्षे ब्रह्मणि समन्वयासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति पूर्ववद्द्रष्टव्यम् ।** रागहेतुत्वादिगुणयोगात् **रोहितादिशब्दै रजआदिगुणलाभेऽपि कथं प्रधानलाभः,**

---

२. चमसाधिकरण

१: संगति—पिछले अधिकरण में **'अव्यक्त'** शब्दमात्र होने के कारण प्रधान की प्रत्यभिज्ञा न भी मानी जाय किन्तु यहाँ पर श्वेताश्वेतर श्रुति में त्रिगुणत्वादि लिङ्ग से युक्त **'अजा'** शब्द के कारण प्रधान की प्रत्यभिज्ञा मानी जा सकती है। ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—**'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'** (श्वेता० ४-५) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**–क्या **'अजा'** शब्द प्रधान अर्थ का वाचक है अथवा अग्नि, जल एवं पृथ्वीरूप अवान्तर प्रकृति का वाचक है ?

४. **पूर्वपक्ष**—लोहितादि शब्द के लक्ष्यार्थ रजोगुण आदि होते हैं, उन्हीं को सांख्यशास्त्रप्रतिपादित **'अजा'** शब्द विषय करता है। अतः अजा शब्द का अर्थ प्रकृति है।

५. **सिद्धान्त**—लोहितादि की प्रत्यभिज्ञा अग्नि, जल एवं पृथ्वीरूप अवान्तर प्रकृति का बोध कराती है। जैसे मधुविद्या में मधु से भिन्न आदित्य को मधु कहा गया है, ऐसे ही अग्न्यादि अवान्तर श्रौती प्रकृति को अजा शब्द से कहा गया है।

चमसवदविशेशात् (ललिता)

प्रधानवादी सांख्य प्रधान में फिर भी अशब्दत्व को असिद्ध करने का दावा करता है। उसने श्वेताश्वेतर श्रुति को सामने रखकर कहा है, कि 'लाल, सफ़ेद एवं काले रंग की एक अजा ने अपने समान स्वभाव एवं रूपवाली अनेक प्रजाओं को बनाया, उनमें से एक अज उसका सेवन करता ही रहा और दूसरे ने उस भुक्तभोगा अज का परित्याग कर डाला, इत्यादि। इस मन्त्र में रोहित, शुक्ल एवं कृष्ण शब्द द्वारा रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण को बतलाया गया है। रञ्जनात्मक होने के कारण रजोगुण लाल है, प्रकाशरूप होने के कारण सत्वगुण शुक्ल है और आवरणात्मक होने

प्रकाशात्मकत्वात् । कृष्णं तम आवरणात्मकत्वात् । तेषां साम्यावस्थाऽवयवधर्मैर्व्यपदिश्यते लोहितशुक्लकृष्णेति । न जायत इति चाजा स्यात्, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इत्यभ्युपगमात् । नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः । बाढम् । सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या, विद्याप्रकरणात् । सा च बह्वीः प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति । तां प्रकृतिमज एकः पुरुषो जुषमाणः प्रीयमाणः सेवमानो वानुशेते । तामेवाविद्ययात्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकितया संसरति । अन्यः पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेकज्ञानो विरक्तो जहात्येनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां परित्यजति । मुच्यत इत्यर्थः । तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादिकल्पना कापिलानामिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्यवादस्य शक्यमाश्रयितुम् । न ह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कञ्चिदपि वादं समर्थयितुमुत्सहते । सर्वत्रापि यया कयाचित्कल्पनयाऽजात्वादिसम्पादनोपपत्तेः, सांख्यवाद एवेहाभिप्रेत इति विशेषावधारणकारणाभावात् ।

तत्राह—तेषां साम्येति । अवयवाः प्रधानस्य रजआदयस्तेषां धर्मा रञ्जकत्वादयः तैर्निमित्तैर्लोहितादिशब्दैः प्रधानमुच्यत इत्यर्थः । गुणाभेदात्प्रधानलाभ इति भावः । तत्राजाशब्दं योजयति—नेति । 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायेन शङ्कते—नन्विति । रूढ्यसम्भवाद्योग आश्रयणीय इत्याह—बाढमिति । अजाशब्दवत्'प्रकृतित्व'पुरुषभेदलिङ्गाभ्यामपि प्रधानप्रत्यभिज्ञेत्याह—सा चेत्यादिना । प्रजायन्त इति प्रजाः महदादयः । त्रैगुण्यं सुखदुःखमोहाः । अनुशयनं विवृणोति—तामेवाविद्ययेति । अविवेकेनेत्यर्थः । विषयधीर्भोगः, गुणभिन्नात्मख्यातिरपवर्गः ।

सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति । मायादावपि साधारणान्मन्त्राद्विशेषार्थग्रहो न युक्तः, विशेष-

---

के कारण तमोगुण कृष्ण है । उन्हीं के साम्यावस्थारूप अवयवधर्म के द्वारा रोहित, शुक्ल एवं कृष्ण का व्यपदेश किया गया है । जो उत्पन्न नहीं होता उसे अजा कहते हैं, हम सांख्यों ने मूलप्रकृति को अविकृति कह कर उसे अजा स्वीकार किया ही है । यदि कोई कहे कि अजा शब्द छाग (बकरी) अर्थ में रूढ़ है ? तो ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर विद्या का प्रकरण होने से रूढ़ि का आश्रय नहीं किया जा सकता । उस अजा ने तीनों गुणों से युक्त अनेक प्रजाओं को उत्पन्न किया, उनमें एक पुरुष उस प्रकृति का उपभोग करता रहता है अर्थात् उसी को अविद्या से आत्मा मानकर, मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ एवं मूढ़ हूँ, ऐसे अविवेक के कारण संसार में चक्कर काटता रहता है । दूसरा जिसे विवेकज्ञान उत्पन्न हो चुका है वह विरक्त अज पुरुष इस भुक्तभोगा प्रकृति को छोड़ देता है अर्थात् वह मुक्त हो जाता है । इस प्रकार विचार करने पर कापिलों की प्रधानादि कल्पना श्रुतिमूलक ही सिद्ध होती है ?

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि इस मन्त्र द्वारा सांख्यसिद्धान्त को श्रुतिसम्मत नहीं मान सकते, क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्ररूप से किसी वाद का समर्थन नहीं कर सकता है । जिस किसी कल्पना से तो सवत्र गिरि-गुहादि में भी अजात्वादि का सम्पादन सिद्ध हो जायेगा । ऐसी स्थिति में यहाँ पर सांख्यवाद ही अभिप्रेत है, ऐसा विशेषनिश्चय का कारण वैसा ही नहीं

---

१. कारणात्व । २. बद्धमुक्तादिपुरुषभेदव्यवस्थात्यथानुपपत्यापि अजा शब्देन प्रधानं ग्राह्यमित्यपिना सूचयति ।

(११५) ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥९॥

चमसवत् । यथाहि 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' (बृ० २-२-३) इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येणायं नामासौ चमसोऽभिप्रेत इति न शक्यते निरूपयितुम् । सर्वत्रापि यथाकथंचिदर्वाग्बिलत्वादिकल्पनोपपत्तेः । एवमिहाप्यविशेषोऽजामेकामित्यस्य मन्त्रस्य । नास्मिन्मन्त्रे प्रधानमेवाजाभिप्रेतेति शक्यते नियन्तुम् ॥८॥

तत्र तु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इति वाक्यशेषाच्चमसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति । इह पुनः केयमजा प्रतिपत्तव्येति, अत्र ब्रूमः—

परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या । तुशब्दोऽवधारणार्थः । भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा । कस्मात् ? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादि-

---

ग्रहहेतोः प्रकरणादेरभावादिति हेतुं व्याख्याय दृष्टान्तं व्याचष्टे—चमसवदिति । सर्वत्रेति गिरिगुहादावपि ॥८॥

उत्तरसूत्रव्यावर्त्यांशङ्कामाह—तत्र त्विदमिति । ज्योतिः ! चतुर्विधस्येति । जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जस्वरूपस्येत्यर्थः । स्मृत्युक्ता कुतो न ग्राह्येति शङ्क्यते—कस्मादिति । श्रुतेः श्रुत्यन्तरादर्थग्रहो युक्तः । साजात्यान्मूलानपेक्षत्वाच्चेत्याह–तथा हीति । शाखिनश्छान्दोगाः । किञ्च लोहितादिशब्दैरपि

दीखता जैसे चमस शब्द के अर्थ का सहसा निर्णय नहीं किया जा सकता । 'जिसके अधोभाग में मुख है और ऊपर का भाग उठा हुआ है' इस मन्त्र में स्वतन्त्ररूप से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि इस नाम वाला पदार्थ चमस अभिप्रेत है । ऐसी अर्वाग्बिलत्वादि की कल्पना गिरि, गुहादि में भी सर्वत्र ही की जा सकती है । इसी प्रकार 'अजामेकाम्' यह मन्त्र अविशेष होने के कारण इस मन्त्र में प्रधान ही 'अजा' पद से अभिप्रेत है ऐसा नियम नहीं कर सकते ॥८॥

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके (ललिता)

अग्रिम सूत्र से व्यावर्तनीय शङ्का का उत्थापन करते हैं कि उस मन्त्र में मस्तक को ही 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इस वाक्यशेष से कहा गया है । इस प्रकार चमसविशेष का वहाँ पर बोध होता है, किन्तु यह अजा क्या वस्तु है, इसे समझना है ? इस पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ऐसे चतुर्विध भूत-समुदाय की प्रकृति को अजा शब्द का अर्थ समझना चाहिए । जिन भूतों में परमेश्वर से प्रथम ज्योतिः उत्पन्न हुई ऐसी अग्नि, जल और पृथ्वीरूपा अवान्तर प्रकृति ही अजा पद का अर्थ है । सूत्र में आया हुआ 'तु' शब्द अवधारणार्थक है अर्थात् भूतत्रयरूपा ही यह अजा समझनी चाहिए, गुणत्रयरूपा नहीं, क्योंकि एक छान्दोग्यशाखावाले परमेश्वर से अग्नि, जल एवं पृथ्वी की उत्पत्ति बतलाकर उन्हीं का रोहितादि रूप भी बतलाते हैं; यथा 'अग्नि

---

१. अर्वाग्बिलेति अधोमुखमित्यर्थः । इहापि दार्ष्टान्तेपि अजामेकामित्यादि मन्त्रस्याविशेषः । ३ सांख्यवाद एव श्रुत्यभिप्रेत इति विशेषावधारणो करणात्वाभाव इत्यर्थस्तदा नास्मिन्नित्यादिना । ४. तस्य शिरस इव शिरो यस्येति तच्छिरः ।

रूपतामामनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं तैजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति। तान्येवेह तेजोबन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते, रोहितादिशब्दसामान्यात्। रोहितादीनां च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद्भाक्तत्वाच्च गुणविषयत्वस्य। असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते। तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति। किंकारणं ब्रह्म' (श्वे० १-१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १-३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति, 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः (श्वे० ४-१०,११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित्प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम्। प्रकरणात्तु सैव देवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागवस्थानेनापि मन्त्रेणाम्नायत इत्युच्यते। तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम् ॥९॥

द्रव्यलक्षणा व्याख्या अव्यवधानात्, न तु रञ्जनीयत्वादिगुणव्यवहिता सत्त्वादिगुणलक्षणेत्याह—रोहितादीनां चेति। ननु शाखान्तरेण शाखान्तरस्थमन्त्रस्य निर्णयः कथमित्यत आह—असन्दिग्धेनेति। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायादिति भावः। यथा शाखान्तरवाक्यान्न प्रधानग्रहस्तथेहापि श्वेताश्वतरोपनिषदि मायाप्रकरणान्न तद्ग्रह इत्याह—तथेति। सृष्ट्यादौ किं सहायं ब्रह्मेति विमृश्यते। ब्रह्मवादिनो ध्यानाख्ययोगेन परमात्मानमनुप्रविष्टाः सन्तः तत्रैव देवस्यात्मभूतामैक्येनाध्यस्तां शक्तिं परतन्त्रां मायां सत्त्वादिगुणवतीं ब्रह्मणः सहायमपश्यन्नित्यन्वयः। मायाया एकत्वेऽपि तदंशानां जीवोपाधीनां तत्तत्संघातयोनीनामविद्याख्यानां भेदाद्वीप्सा। अव्याकृते अनभिव्यक्ते नामरूपे यस्यां सा। अनेन 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिरुक्ता। तस्यां शक्तौ व्यक्ताव्यक्तकार्यलिङ्गकानुमानं सूचयति—नामेति। मायाया रोहितादिरूपवत्त्वं कथमित्यत आह—तस्या इति। विषयः आश्रयः ॥९॥

में जो लालरूप है वह तेज का है, जो शुक्लरूप है वह जल का है और जो कृष्ण रूप है वह पृथ्वी का है।' उन्हीं अग्नि, जल एवं पृथ्वी रूप की प्रत्यभिज्ञा इस श्वेताश्वेतर श्रुति में भी होती है क्योंकि यहाँ भी रोहितादि शब्द समान ही हैं। रोहितादि शब्द मुख्य रूप से रूपविशेष में प्रयुक्त होते हैं, गुण में गौणरूप से। असंदिग्ध वाक्य के द्वारा संदिग्ध वाक्य का निर्णय उचित मानते हैं। यहां पर श्वेताश्वेतर उपनिषद् में भी 'ब्रह्मवादीलोग कहते हैं कि जगत्कारण ब्रह्म क्या चीज है' यहां से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'ध्यानयोग में संलग्न उन ऋषियों ने अपने ही गुणों से निगूढ़ देवात्मशक्ति को देखा' इस वाक्य द्वारा समस्त जगत् विधायिनी पारमेश्वरीय शक्ति का बोध वाक्यारम्भ में होता है। वैसे ही, वाक्यशेष में भी कहा है कि 'माया को जगत् की प्रकृति जानो और मायापति को महेश्वर समझो', 'जो अकेला जीवोपाधिरूप प्रत्येक योनि में बैठा है' इन वाक्यों से उस योनि का ही बोध होता है, स्वतन्त्र कोई प्रकृति प्रधान नामवाली 'अजा' मन्त्र से कही जाती हो ऐसा नहीं कह सकते। प्रकरण प्रमाण से परमेश्वर की शक्ति अव्याकृत नाम-रूपवाली है जो नाम-रूप के प्रागवस्था से युक्त होती है उसी को पूर्वोक्त मन्त्र से बतलाते हैं। वह अपने विकार के विषय त्रैरूप्य के कारण तीन-रूपवाली कही गयी है ॥९॥

---

१. योनेः। २. करणानाम्। ३. स्थूल सूक्ष्म।

(११६) कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१०॥

कथं पुनस्तेजोबन्नानां त्रैरूप्येण त्रिरूपाजा प्रतिपत्तुं शक्यते। यावता न तावत्तेजोऽबन्नेष्वजाकृतिरस्ति। नच तेजोऽबन्नानां जातिश्रवणादजातिनिमित्तोऽप्यजाशब्दः सम्भवतीति। अत उत्तरं पठति—

नायमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः। नापि यौगिकः, किं तर्हि? कल्पनोपदेशोऽयम्। अजारूपकक्लृप्तिस्तेजोऽबन्नलक्षणायाश्चराचरयोनेरुपदिश्यते। यथा हि लोके यदृच्छया काचिदजा रोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद्बहुबर्करा सरूपबर्करा च, तां कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोऽबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा बहु सरूपं चराचरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते विदुषा च परित्यज्यत इति। न चेदमाशङ्कितव्यमेकः क्षेत्रज्ञोऽनुशेतेऽन्यो जहातीत्यतः क्षेत्रज्ञभेदः

एवं प्रकरणबलान्मायैवाऽजेति भाष्यकृन्मतम्। छान्दोग्यश्रुत्या तेजोऽबन्नलक्षणाऽवान्तरप्रकृतिरजेति सूत्रकृन्मतेनोत्तरसूत्रव्याख्यायं शङ्कते—कथमिति। किं तेजोऽबन्नेष्वजाशब्दो रूढो, न जायत इति यौगिको वा? नाद्यः, तेष्वजात्वजातेरसत्त्वादित्याह—यावतेति। यत इत्यर्थः। अतो न रूढ इति शेषः। न द्वितीयः इत्याह—न चेति। जातिर्जन्म। अजातिर्जन्म। लौकिकाऽजाशब्दसादृश्यकल्पनया तेजोऽबन्नानामजात्वोपदेशाद्गौणोऽयं शब्द इति परिहरति—कल्पनेति। अनियमो यदृच्छा। बर्करो बालपशुः। 'यदुक्तं जीवभेदेन प्रधानवादप्रत्यभिज्ञेति, तन्नेत्याह—न चेदमिति। व्यवस्थार्थो भेदो-

---

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः (ललिता)

तेज, जल एवं पृथ्वी में त्रैरूप्य होने के कारण वे ही तीनरूपवाला अजा कैसे समझी जाय जबकि उनमें अजा की आकृति नहीं है जिससे कि रूढ्या अजा पद से उनका बोध हो और '**न जायते**' इति यौगिकवृत्ति से उन तीनों का अजा पद से बोध सम्भव है क्योंकि अग्नि, जल एवं पृथ्वी का जन्म सुना जाता है? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं कि न रूढ़ि से अजावृत्ति के कारण अजा शब्द का प्रयोग तेज, जल एवं पृथ्वी इन तीनों में होता है और न यौगिक प्रयोग ही इन तीनों में अजा शब्द का है किन्तु कल्पना उपदेश के कारण उक्त तीनों को अजा कहा गया है। चर-अचर सभी के कारण अग्नि, जल और पृथ्वी जो भूतत्रय हैं ऐसा श्रुति में उपदेश किया गया है। जिस प्रकार लोक में बिना नियम के कोई अजा लाल, सफेद एवं काले रंगवाली होती है जिसके यदृच्छया बहुत से बच्चे होते हैं, उनमें से कोई अज उस जन्म देनेवाली अजा का उपभोग करते हुए उसी में पड़ा रहता है और कोई-कोई बकरा उस भुक्तभोगा बकरी को छोड़ भी देता है; ऐसे ही यह अजा अग्नि-जल, पृथ्वीरूपा, सभी भूतों की प्रकृति तीन वर्ण वाली है जो अपने समान चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। उन उत्पन्न हुए जीवों में से अज्ञानी क्षेत्रज्ञ उसका उपभोग करता ही रहता है और ज्ञानी जीव उसका परित्याग कर डालता है। एक जीव उपभोग करता है, दूसरा उसे छोड़ देता है इस बात को सुनकर यह शङ्का मत उठायें कि वेदान्तियों को भी जीवभेद

---

१. अजो ह्येका जुषमाण इत्यादिना।

३. संख्योपसंग्रहाधिकरणम् (सू० ११-१३)

पञ्च पञ्चजनाः सांख्यतत्त्वान्याहो श्रुतिरिताः । प्राणाद्याः सांख्यतत्त्वानि पञ्चविंशतिभासनात् ।
न पञ्चविंशतेर्भानमात्माकाशातिरेकतः । संज्ञा पञ्चजनेत्येषा प्राणाद्याः सञ्ज्ञिनः श्रुताः ।।

पारमार्थिकः परेषामिष्टः प्राप्नोतीति । न ह्ययं[१] क्षेत्रज्ञभेदप्रतिपिपादयिषा किन्तु बन्धमोक्षव्यवस्थाप्रतिपिपादयिषा त्वेषा । प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था प्रतिपाद्यते । भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिभ्यः । मध्वादिवत् । यथा 'आदित्यस्यामधुनो मधुत्वम्' (छा० ३-१), 'वाचश्चाधेनोर्धेनुत्वम्' (बृ० ५-८), द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम्' (बृ० ८-२-९) इत्येवंजातीयकं कल्प्यते, एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः, तस्मादविरोधस्तेजोऽबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य ।।१०।।

ऽप्यर्थात्प्रतिपाद्यत इत्याह—प्रसिद्धं त्विति । सत्य एव प्रसिद्ध इत्यत आह—भेदस्त्विति । कल्पनोपदेशे दृष्टान्तं व्याचष्टे–मध्विति । न च योगस्य मुख्यवृत्तित्वात्तेन प्रधानग्रहो न्याय्य इति वाच्यम्, रूढ्यर्थानपेक्षाद्योगात्तदाश्रितगुणलक्षणाया बलीयस्त्वात् । गुणवृत्तौ हि रूढिराश्रिता भवति । तथाच रोहितादिशब्दसमभिव्याहारानुगृहीतया रूढ्या'श्रितया गुणवृत्त्या प्रधाने योगं बाधित्वाऽवान्तरप्रकृतिरजाशब्देन ग्राह्या, यथा मध्वादिशब्दैः प्रसिद्धमध्वाद्याश्रित'गुणलक्षणया आदित्यादयो गृह्यन्ते, तद्वत् । तस्मादशब्दं प्रधानमिति सिद्धम् ।।१०।।

पारमार्थिक इष्ट है क्योंकि यह अजा श्रुति जीवभेद प्रतिपादन के लिए प्रवृत्त नहीं हुई है किन्तु बन्ध-मोक्ष व्यवस्था बतलाने के लिए ही प्रवृत्त हुई है । भेद तो लोकतः प्रसिद्ध है जो औपाधिक है, मिथ्याज्ञानकल्पित है, पारमार्थिक नहीं है; उसी प्रसिद्ध भेद का अनुवाद कर बन्ध-मोक्ष व्यवस्था बतलाने के लिए अजा श्रुति प्रवृत्त हुई है—'सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ परमात्मा एक ही है, वह सर्वव्यापी है और सर्व भूतों की अन्तरात्मा है' इत्यादि श्रुति से पूर्वोक्त बात ही कही गयी है । जैसे आदित्य मधु नहीं है फिर भी उसमें मधुत्व की कल्पना की गयी है और जिस प्रकार वाणी धेनु नहीं है फिर भी उसमें धेनुत्व की कल्पना तथा जिस प्रकार द्युलोकादि अग्नि नहीं है फिर भी उसमें अग्नित्व की कल्पना उपासना के लिए की गयी है, ऐसे ही तत्त्वबोध के लिए अनजारूपा तेज, जल एवं पृथ्वी में भी अजात्व की कल्पना की गयी है । अतः तेज, जल और पृथ्वी में अजा शब्द का प्रयोग करने में विरोध नहीं है । इस प्रकार सांख्यशास्त्रपरिकल्पित प्रधान अशब्द सिद्ध हुआ ।।१०।।

३. संख्योपसंग्रहाधिकरण

१. संगति—पूर्व अधिकरण में आध्यात्मिक अधिकार होने से अजा शब्द का प्रसिद्ध छाग अर्थ न कर अग्न्यादिरूप अवान्तर प्रकृति अर्थ किया था, वैसे ही **'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः'** इस मन्त्र में पञ्च पञ्चजन शब्द से मनुष्यादि का ग्रहण उचित न होने के कारण सांख्यशास्त्राभिमत पचीस तत्त्व ग्रहण करना ही उचित होगा; ऐसी दृष्टान्त संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया गया है ।

१. अजाश्रुतिः । २. प्रवृत्तेति शेषः । ३. रूढार्थाश्रित । ४. मोदनादि गुण ।

(११७) न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।।११।।

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते । 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मानृतोऽमृतम् ।(बृ० ४-४-१७)इति । अस्मिन्मन्त्रे पञ्च पञ्चजना इति पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते, पञ्चशब्दद्वयदर्शनात् । त एते पञ्चपञ्चकाः पञ्चविंशतिः सम्पद्यन्ते । तया पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्ष्यन्ते तावन्त्येव च तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते—'मूलप्रकृतिरविकृति-

न संख्योपसंग्रहात् । **पञ्चजनशब्दः सांख्यतत्त्वपरोऽन्यपरो वेति योगरूढयोरनिश्चयात् संशये यथा तत्त्वविद्याधिकारे छागायां तात्पर्याभावादजापदे रूढित्यागस्तथा पञ्चमनुष्येषु तात्पर्याभावात्**[1]**पञ्चजनशब्देन रूढिं त्यक्त्वा तत्त्वानि ग्राह्याणोति दृष्टान्तसङ्गतिं सूचयन् मन्त्रमुदाहृत्य पूर्वपक्षयति** एवमित्यादिना । **फलं पूर्ववत् । प्राणचक्षुश्श्रोत्रान्नमनांसि वाक्यशेषस्थाः पञ्चजनाः पञ्च । तत्र चत्वारः** [2]**सूत्रम्, अन्नं विराट्, तयोः कारणमव्याकृतमाकाशश्च यस्मिन्नध्यस्तास्तमेवात्मानममृतं ब्रह्म मन्ये । तस्मान्मननात् विद्वान्ममृतोऽस्मीति मन्त्रदृशो वचनम् । नन्वस्तु पञ्चत्वविशिष्टेषु पञ्चजनेषु पुनः पञ्चत्वान्वयात् पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः, तावता कथं सांख्यतत्त्वग्रह इत्याशङ्क्य संख्याया धर्म्याकाङ्क्षायां तत्त्वानि ग्राह्याणीत्याह**—तयेति । **जगतो मूलभूता प्रकृतिस्त्रिगुणात्मकं**

२. **विषय**—**'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ।।'** (बृ० ४।४।१७) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—पञ्च पञ्चजन शब्द से सांख्यशास्त्र में प्रसिद्ध मूलप्रकृत्यादि पच्चीस तत्त्व कहे गये हैं अथवा श्रुतिवाक्यशेष में बतलाये गये प्राणादि कहे गये हैं ? ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—पञ्चजन शब्द दो बार पढ़े जाने के कारण सांख्यशास्त्रप्रसिद्ध पच्चीस तत्त्व ही 'पञ्च पञ्चजन' शब्द से ग्रहण करने योग्य है ।

५. **सिद्धान्त**—उक्त श्रुति में आत्मा और आकाश अतिरिक्त भी सुने जाते हैं, पच्चीस ही नहीं । ऐसी स्थिति में पञ्चजन शब्द प्राणादि पाँच के वाचक हैं अर्थात् प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन—इन्हीं को पञ्चजन शब्द से ग्रहण करना चाहिए क्योंकि सन्निहित वाक्यशेष में उन्हीं का नाम सुना जाता है ।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च (ललिता)

इस प्रकार अजा मन्त्र में आशंकित प्रधानवाद का परिहार कर देने पर भी पुनः अन्य मन्त्र से सांख्यवाद का उत्थापन करते हैं । 'जिसमें पञ्च पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित हैं उसी आत्मा को ब्रह्म समझने वाला विद्वान जीते जी अमृत होता हुआ विदेहकैवल्यरूप अमरत्व को प्राप्त करता है ।' इस मन्त्र में "**पञ्च पञ्चजनाः**" इस शब्द से पञ्चसंख्याविषयक दूसरी पञ्च संख्या ही सुनी जाती है। ऐसे पञ्च शब्द दो बार होने के कारण ये पञ्च पञ्चक से गुणा करने पर पच्चीस संख्या पूर्ण होती है । उसी पच्चीस संख्या के द्वारा जब संख्येय की आकांक्षा होती है तब सांख्यशास्त्र के रहस्य जानने वाले विद्वानों ने उन्हीं पच्चीस तत्त्वों को इसमें गिना

१. पञ्चजनाः पञ्च पुरुषाः पञ्चजन शब्दो मनुष्ये रूढः मनुष्या मानुषा मर्त्यामनु जामानवाराः । स्युः पुमांसाः पूरू वानराः इत्यमरः । २. हिरण्यगर्भः ।

महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' सांख्यका० ३) इति । तया श्रुतिप्रसिद्धया पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात्प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम् । ततो ब्रूमः—न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वं प्रत्याशा कर्तव्या । कस्मात् ? नानाभावात् नाना ह्येतानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि । नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्चसंख्या निविशेरन् । न ह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु

प्रधानमनादित्वादविकृतिः । कस्यचित्कार्यं न भवतीत्यर्थः । महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणीति सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च, तत्र महान्प्रधानस्य विकृतिरहङ्कारस्य प्रकृतिः, अहङ्कारस्तामसः पञ्चतन्मात्राणां शब्दादीनां प्रकृतिः, सात्त्विकः 'एकादशेन्द्रियाणाम्, पञ्च तन्मात्राश्च पञ्चानां स्थूलभूतानामाकाशादीनां प्रकृतयः पञ्च स्थूलभूतान्येकादशेन्द्रियाणि चेति षोडशसंख्याको गणो विकार एव न प्रकृतिः, तत्त्वान्तरोपादानत्वाभावात् । पुरुषस्तूदासीन इति सांख्यकारिकार्थः । संख्यया तत्त्वानामुपसंग्रहात् शब्दवत्त्वमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—नेति । नानात्वमिष्टमित्यत आह—नैषामिति । पञ्चसु पञ्चसु साधारणस्येतरपञ्चकाद्व्यावृत्तस्य धर्मस्याभावोऽत्रनानात्वं विवक्षितमित्यर्थः । यद्यपि ज्ञानकर्मेन्द्रियेषु दशसु ज्ञानकरणत्वं कर्मकरणत्वं च पञ्चकद्वयेऽस्ति, पञ्चतन्मात्रासु पञ्चसु स्थूलप्रकृतित्वं च, तथापि यस्मिन्नित्यात्मन आकाशस्य च पृथगुक्तेः सत्त्वरजस्तमोमहदहङ्काराः पञ्च कर्तव्याः, मनश्चत्वारि भूतानि च पञ्च । अस्मिन् पञ्चकद्वये मिथोऽनुवृत्तेतरपञ्चकव्यावृत्तधर्मो नास्तीत्यभिप्रायः । मास्त्वित्यत आह—येनेति । धर्मेणेत्यर्थः । तदेव स्फुटयति—नहीति । महासंख्यायामवान्तरसंख्याः प्रविशन्ति, यथा द्वावश्विनौ सप्तर्षयोऽष्टौ वसवश्चेति सप्तदशेत्यत्राश्वित्वादिकमादाय द्वित्वादयः प्रविशन्ति, नान्यथेत्यर्थः ।

दिया । 'मूलप्रकृति किसी का विकार नहीं है वह तो केवल प्रकृति ही है, किन्तु महदादि सात प्रकृति एवं विकृतिरूप भी हैं । प्रकृति से महत् उत्पन्न हुआ इसलिए प्रकृति का कार्य है, वह अहंकार को उत्पन्न करता है इसलिए अहंकार की प्रकृति है । ऐसे ही महतत्व की विकृति और तन्मात्राओं की प्रकृति होने से अहंकार भी उभयरूप है । इसी प्रकार शब्दादि पञ्चतन्मात्रायें भी एकादश इन्द्रियों एवं पञ्चस्थूलभूतों की प्रकृति तथा अहंकार की विकृति हैं । अतः ये भी उभयरूप हैं । एकादश इन्द्रियाँ और पञ्च स्थूलभूत केवल विकृति हैं, प्रकृति नहीं; किन्तु पुरुष आत्मा प्रकृति-विकृतिभाव से रहित है; वह असङ्ग, उदासीन है ।' उसी श्रुतिप्रसिद्ध पच्चीस संख्या के द्वारा सांख्य-स्मृतिप्रसिद्ध पच्चीस तत्त्व का संग्रह हो जाने के कारण सांख्यशास्त्रपरिकल्पित प्रधानादि में श्रुतिमत्व सिद्ध होता है ? ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि संख्या के उपसंग्रह से भी प्रधानादि को श्रुतिसम्मत सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें नानात्व भासता है । ये पच्चीस तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, एक स्वभाववाले नहीं हैं । न इनके अन्तःपाती पाँच-पाँच तत्त्वों में इतरव्यावर्तक कोई साधारण धर्म ही है, जिससे कि पच्चीस तत्त्वों के मध्य में दूसरी पाँच-पाँच संख्या का निवेश हो सके । एक निबन्ध के बिना भिन्न-भिन्न भूतों में द्वित्वादि संख्या प्रविष्ट नहीं हो सकती । यद्यपि पाँच ज्ञाने-

---

१. एकादशेन्द्रियाणामिति प्रकृतिरिति पूर्वणान्वयः इदत्त्ववधेयम् राजसप्राणान्तर्भूतपञ्चकर्मेन्द्रियाणां सात्त्विकस्तु-अवशिष्टानामिति ।

द्वित्वादिकाः संख्या निविशन्ते। अथोच्येत पञ्चविंशतिसंख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः' इति द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं कथयन्ति, तद्वदिति। तदपि नोपपद्यते। अयमेवास्मिन्पक्षे दोषो यल्लक्षणाश्रयणीया स्यात्। परश्चात्र पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तः पञ्चजना इति, पारिभाषिकेण स्वरेणैकपदत्वनिश्चयात्।

पञ्चशब्दद्वयेन स्ववाच्यन्यूनसंख्याद्वारेण तद्व्याप्या महासंख्यैव लक्ष्यत इति सदृष्टान्तं शङ्कते—अथेति। मुख्यार्थस्य वक्ष्यमाणत्वाल्लक्षणा न युक्तेति परिहरति—तदपि नेति। पञ्चजनशब्दयोरसमासमङ्गीकृत्य पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिर्निरस्ता, सम्प्रति समासनिश्चयान्न तत्प्रतीतिरित्याह—परश्चेति। समासे हेतुमाह—पारिभाषिकेणेति। अयमर्थः—अस्मिन्मन्त्रे प्रथमः पञ्चशब्दः [1]आद्युदात्तः। द्वितीयः सर्वानुदात्तः। जनशब्दश्चान्तोदात्तः। तथा च न द्वितीयपञ्चशब्दजनशब्दयोः समासं विनान्त्यस्याकारस्योदात्तत्वं पूर्वेषामनुदात्तत्व च घटते "समासस्य' इति सूत्रेण समासस्यान्तोदात्तविधानात्। "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति च सूत्रेण यस्मिन्पदे उदात्तः स्वरितो वा यस्य वर्णस्य विधीयते तमेकं वर्जयित्वावशिष्टं तत्पदमनुदात्तात्कं भवतीति विधानादेव मान्त्रिकान्तोदात्तस्वरेणैकपदत्वनिश्चयः। भाषिकाख्ये तु शतपथब्राह्मणस्वरविधायकग्रन्थे 'स्वरितोऽनुदात्तो वा' इति सूत्रेण यो मन्त्रदशायामनुदात्तः स्वरितो वा स ब्राह्मणदशायामुदात्तो भवतीत्यपवाद आश्रितः, तथा चान्त्यादाकारात्पूर्वेषामनुदात्तानामुदात्तत्वं ब्राह्मणावस्थायां प्राप्तम्, 'उदात्तमनुदात्तमनन्त्यम्' इति सूत्रेण मन्त्रदशायामुदात्तस्यानन्त्यस्य परलग्नतयोच्चार्यमाणस्यानुदात्तत्वं विहितं, तथा चात्र-नकारादुपरितनः आकारः आकाशश्चेत्यनेन श्लिष्टतया पठ्यमानोऽनुदात्तो भवति,अयमन्तानुदात्तस्वरः पारिभाषिकस्तेन ब्राह्मणस्वरेणैकपदत्वं निश्चीयत इति। [4]प्रकटार्थकारैस्तु पाठकप्रसिद्धोऽन्तोदात्तस्वरः पारिभाषिक इति व्याख्यातम्, तद्व्याख्यानं कल्पतरुकारैर्दूषितम्। अन्तानुदात्तं हि समाम्नातारः पञ्चजनशब्दमधीयत इति पाठकप्रसिद्धिरसिद्धेति। तथा च 'पञ्च पञ्चजना' इति मान्त्रिकान्तोदात्तः स्वरः, 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना' इत्यन्तानुदात्तो ब्राह्मणस्वरः इति विभागः। उभयथाप्यैकपद्यात्

न्द्रियों में ज्ञानकरणत्व, पाँच कर्मेन्द्रियों में कर्मकरणत्व एवं पञ्चतन्मात्राओं में स्थूलभूतप्रकृतित्वरूप साधारण धर्म तो हैं फिर भी 'यस्मिन्' इत्यादि मन्त्र में आत्मा और आकाश का पृथक् उपदेश भी मिलता है। सत्त्वादि तीनों गुण, महतत्त्व एवं अहंकार–ये पाँचों भी कार्य हैं। चतुर्धा मनोवृत्ति, पाँच भूत–इन सब में परस्पर व्यावर्तक कोई धर्म नहीं है, जिससे कि सांख्यसम्मत पच्चीस तत्त्व माने जा सकें। यदि कहो कि यह पच्चीस संख्या ही अवयव द्वारा लक्षित होती हैं जैसे द्वादशवार्षिकी अनावृष्टि को–'पाँच-सात वर्ष तक इन्द्र ने वर्षा नहीं की' इस वाक्य के द्वारा बतलाते हैं, वैसे ही स्ववाच्य न्यूनसंख्या पञ्चशब्दद्वय से तद्व्याप्य महासंख्या लक्षित होती है ? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मुख्यार्थ संभव हो तो लक्षणा का आश्रय करना असंगत है। इस पक्ष में लक्षणा का आश्रय करना ही एक बड़ा भारी दोष है। अब तक पञ्चजन शब्द में समास न मानकर कहा गया था, अब समास मानने के बाद जो दोष आता है उसे उद्घाटित करते हैं कि इस मन्त्र में 'पञ्चजनाः' यह दूसरा पञ्च शब्द जन शब्द के साथ समस्त है, पारिभाषिक स्वर के द्वारा उसमें एकपदत्व का निश्चय

---

१. आद्युदात्त इति पचिधातोर्बाहुलकात्कनिन्प्रत्यये ञित्त्यादेरित्यनेनेत्यर्थः। २. पाणि सू० ६।१।२२३।
३. पाणि सू० ६।१।१५८।४.आनन्द गिरिभिः।

प्रयोगान्तरे च 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १-६-२-२) इत्यैकपद्यैकस्वर्यैकविभक्तिकत्वावगमात्। समस्तत्वाच्च न वीप्सा पञ्च पञ्चेति। नच पञ्चकद्वयग्रहणं पञ्च पञ्चेति। नच पञ्चसंख्याया एकस्याः पञ्चसंख्यया परया विशेषणं पञ्च पञ्चका इति। उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात् नन्वापन्नपञ्चसंख्याका जना एव पुनः पञ्चसंख्यया विशेष्यमाणाः पञ्चविंशतिः प्रत्येष्यन्ते। यथा पञ्च पञ्चपूल्य इति पञ्चविंशतिः पूलाः प्रतीयन्ते तद्वत्। नेति ब्रूमः। युक्तं यत्पञ्चपूलीशब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्कतीति सत्यां भेदाकाङ्क्षायां पञ्च पञ्चपूल्य इति विशेषणम्। इह तु पञ्चजना इत्यादित एव भेदोपादानात्कतीत्यसत्यां भेदाकाङ्क्षायां न पञ्च पञ्चजना इति विशेषणं भवेत्।

समाससिद्धिरिति। तैत्तिरीयकप्रयोगादप्येकपदत्वमित्याह—प्रयोगान्तरे चेति। आज्य, त्वा त्वां पञ्चानां पञ्चजनानां देवविशेषाणां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि इत्याज्यग्रहणमन्त्रशेषः। देवतानां कर्मणि यन्त्रवदवस्थितं शरीरं तदेव धर्त्रं इहामुत्रभोगाधारं, तस्मै तस्यावैकल्यार्थमिति यजमानोक्तिः। अस्तु समासस्ततः किमित्यत आह—समस्तत्वाच्चेति। आवृत्तिर्वीप्सा तदभावे पञ्चकद्वयाग्रहणात्पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिरसिद्धेति भावः। जनपञ्चकमेकं पञ्चकानां पञ्चकं द्वितीयमिति पञ्चकद्वयं तस्य पञ्चपञ्चेति ग्रहणं नेत्यक्षरार्थः। किञ्चाऽसमस्तपक्षेऽपि किं पञ्चशब्दद्वयोक्तयोः पञ्चत्वयोः परस्परान्वयः, किं वा तयोः शुद्धजनैरन्वयः, अथवा पञ्चत्वविशिष्टैर्जनैरपरस्यपञ्चत्वस्यान्वयः। नाद्यः इत्याह—नच पञ्चसंख्याया इति। विशेषणमन्वयः। अनन्वये हेतुमाह—उपसर्जनस्येति। अप्रधानानां सर्वेषां प्रधानेन विशेष्येणैवान्वयो वाच्यः, गुणानां परस्परान्वये वाक्यभेदापातादित्यर्थः। द्वितीये दशसंख्याप्रतीतिः स्यान्न पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः। तृतीयमुत्थापयति—नन्विति। पञ्चत्वविशिष्टेषु पञ्चत्वान्तरान्वये विशेषणीभूतपञ्चत्वेऽपि पञ्चत्वान्वयात् पञ्चविंशतित्वप्रतीतिरित्यर्थः। दृष्टान्तवैषम्येण परिहरति—नेति ब्रूम इति। पञ्चानां पूलानां समाहार इत्यत्र 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति समासो विहितः। ततो 'द्विगोः' इति सूत्रेण ङीपो विधानात् समाहारप्रतीतौ समाहाराः कतीत्याकाङ्क्षायां सत्यां पञ्चेतिपदान्तरान्वयो युक्तः। पञ्चजना इत्यत्र तु ङीबन्तत्वाभावेन समाहारस्याप्रतीतेः जनानां चादित एव पञ्चत्वोपादानात्संख्याकाङ्क्षाया असत्त्वात्पञ्चेति पदान्तरं नान्वेति आकाङ्क्षाधीनत्वादन्वयस्येत्यर्थः भेदो विशेषणम्। ननु जनानां निराकाङ्क्षत्वेऽपि तद्विशेषणीभूत-

---

होता है। तैत्तिरीय प्रयोग 'आज्य! त्वा-त्वाम् पञ्चानां पञ्चजनानां देवविशेषाणाम् यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि' इस स्थल में ऐकपद्य, ऐकस्वर्य, ऐकविभक्तित्व का बोध होता है। ऐसी स्थिति में समस्त हो जाने के कारण पञ्च पञ्च की वीप्सा (दुरावृत्ति) नहीं मानी जा सकती, न पञ्च पञ्च शब्द से दो पञ्चक ही ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि एक पञ्च संख्या का विशेषण दूसरी पञ्च संख्या नहीं हो सकती। पञ्च जन, इस समस्त पद में पञ्च शब्द उपसर्जन है तो भला वह किसी दूसरे पञ्चपद के साथ कैसे जुड़ सकता है। यदि कहो कि पञ्चसंख्यावाला जन शब्द पहले सिद्ध हो जायेगा जो पञ्च संख्या का बोधक होगा फिर वही पञ्च संख्या से विशेषित हो पच्चीस संख्या का बोधक हो जायेगा जसे पञ्च पञ्चपुल्यः इस वाक्य में पच्चीस पूले प्रतीत होते हैं, वैसे ही 'पञ्च पञ्चजनाः' इस वाक्य में भी पच्चीस तत्त्व जाने जायेंगे ही? ऐसा कहना हम ठीक नहीं मानते, क्योंकि पञ्च पूली शब्द ङीबन्त होने के कारण समाहार अर्थ का बोधक होता है। वह कितनी है? ऐसे भेद की आकांक्षा होने पर 'पञ्च पञ्चपुल्यः' यह विशेषण लगाया गया है। किन्तु यहाँ पर 'पञ्चजनाः' इस वाक्य में

भवदपीदं विशेषणं पञ्चसंख्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः। तस्मात्पञ्च पञ्चजना इति न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम्। अतिरेकाच्च न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम्। अतिरेको हि भवत्यात्माकाशाभ्यां पञ्चविंशतिसंख्यायाः। आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन निर्दिष्टः। यस्मिन्निति-सप्तमीसूचितस्य 'तमेव मन्य आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनानुकर्षणात्। आत्मा च चेतनः पुरुषः। स च पञ्चविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाधारत्वमाधेयत्वं च युज्यते। अर्थान्तरपरिग्रहे च तत्त्वसंख्यातिरेकः सिद्धान्तविरुद्धः प्रसज्येत। तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाशस्यापि पञ्चविंशतावन्तर्गतस्य न पृथगुपादानं न्याय्यम्। अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम्। कथं च संख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहः प्रतीयेत, जनशब्दस्य तत्त्वेष्वरूढत्वात्, [1]अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपि संख्योपपत्तेः।

पञ्चत्वानि कतीत्याकाङ्क्षायां पञ्चत्वान्तरं विशेषणं भवत्वित्याशङ्क्ते—भवदपीति। नोपसर्जनस्योपसर्जनान्तरेणान्वयः किन्तु प्रधानेनैवेति नोपसर्जनन्यायविरोध उक्त इति परिहरति—तत्र चेति। एवं नानाभावादिति व्याख्यायातिरेकाच्चेति व्याचष्टे—अतिरेकाच्चेत्यादिना। अतिरेकः आधिक्यम्। जनशब्दितपञ्चविंशतितत्त्वेषु आत्मान्तर्भूतो न वा। नाद्य इत्युक्त्वा द्वितीये दोषमाह—अर्थान्तरेति। तथाकाशं विकल्प्य दूषयति—तथेति। उक्तो दोषः संख्याधिक्यम्। पञ्चविंशतिजना आत्माकाशौ चेति सप्तविंशतिसंख्या स्यादित्यर्थः। नच सत्त्वरजस्तमसां पृथग्गणनया सेष्टेति वाच्यम्, आकाशस्य पृथगुक्तिवैयर्थ्यात्, यस्मिन्नित्यात्मनि तत्त्वानां प्रतिष्ठोक्तिविरोधात्तव मते स्वतन्त्रप्रधानस्यैवानाधारत्वात्, 'नेह नानास्ति' इति वाक्यशेषविरोधाच्च तव सत्यद्वैतवादित्वात्। किं च पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतावपि न सांख्यतत्त्वानां ग्रहणमित्याह—कथं चेति। किं जनशब्दात्तत्त्वग्रहः उत संख्ययेति कथंशब्दार्थः। नाद्य इत्याह—जनेति। न द्वितीय इत्याह—अर्थान्तरेति। किं तदर्थान्तरं यदर्थकमिदं

प्रारम्भ से ही भेद का ग्रहण होता है, वहाँ पर कति, ऐसी भेदाकांक्षा होती ही नहीं, इसीलिए **'पञ्च पञ्चजनाः'** यह विशेषण भी नहीं बनेगा। यदि पञ्चसंख्या का हो यह विशेषण बन भी जाय तो भी **'नानाभावात् अतिरेकाच्च'** यह पच्चीस तत्त्व को सिद्ध नहीं करता है क्योंकि आत्मा और आकाश भी पृथक् से पढ़े गये हैं। उनमें से आत्मा तो सबके आधाररूप में कहा गया है। **'यस्मिन्'** इस सप्तमी से सूचित का 'मैं उसी को आत्मा मानता हूँ' इस वाक्य द्वारा आत्मत्वेन अनुकर्षण किया है। आत्मा चेतन पुरुष कहा गया है, वह पच्चीस संख्या के अन्तर्गत ही रहेगा, उसमें हो आधारत्व एवं आधेयत्व विरुद्धधर्म का कथन उचित नहीं है और यदि पच्चीस से पृथक इन्हें माना जाय तो तत्त्वसंख्या के अतिरिक्त हो जाने पर सिद्धान्त विरोध होने लग जायेगा। साथ ही **'आकाशश्च प्रतिष्ठितः'** इस वाक्य में पच्चीस के अन्तर्भुत हुए आकाश को पृथक् ग्रहण करना उचित नहीं है और अर्थान्तर ग्रहण करने पर पहले कहा हुआ संख्याधिक्यदोष आयेगा हो। संख्यामात्र के श्रवण से अश्रुत पच्चीस तत्त्व का संग्रह कैसे समझा जायेगा क्योंकि जन शब्द तत्त्व अर्थ में रूढ़ तो है नहीं, सांख्यशास्त्र के अनभिमत पदार्थ का संग्रह मानने पर भी संख्या की संगति तो बन ही जाती है।

१. उक्ततत्त्वापेक्षयाऽर्थान्तरेत्यर्थः।

(११८) प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१२॥

कथं तर्हि पञ्च पञ्चजना इति । उच्यते—'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (पा० सू० २-१-५०) इति विशेषस्मरणात्संज्ञायामेव पञ्चशब्दस्य जनशब्देन समासः ततश्च रूढत्वाभिप्रायेणैव केचित्पञ्चजना नाम विवक्ष्यन्ते न सांख्यतत्त्वाभिप्रायेण । ते कतीत्यस्यामाकाङ्क्षायां पुनः पञ्चेति प्रयुज्यते । पञ्चजना नाम ये केचित्ते च पञ्चैवेत्यर्थः । सप्तर्षयः सप्तेति यथा ॥११॥

के पुनस्ते पञ्चजना नामेति, तदुच्यते—

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यत उत्तरस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः—प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः इति । तेऽत्र वाक्यशेषगताः सन्निधानात्पञ्चजना विवक्ष्यन्ते । कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः ? तत्त्वेषु वा कथं जनशब्दप्रयोगः । समाने तु प्रसिद्ध्यतिक्रमे वाक्यशेष-

---

वाक्यमिति पृच्छति—कथमिति । **पञ्च च ते जनाश्चेति कर्मधारयादिसमासान्तरात्संज्ञासमासस्याप्तोक्त्या बलवत्त्वं तावदाह**—उच्यत इति । **दिग्वाचिनः सङ्ख्यावाचिनश्च शब्दाः संज्ञायां गम्यमानायां सुबन्तेनोत्तरपदेन समस्यन्ते । यथा दक्षिणाग्निः, सप्तर्षय इत्यादि । अयं च समासस्तत्पुरुषभेदः ॥११॥**

पञ्चजनशब्दस्य संज्ञात्वमुक्त्वा संज्ञिकथनार्थं सूत्रं गृह्णाति—के पुनस्त इति । **श्रुतौ उतशब्दोऽप्यर्थः । ये प्राणादिप्रेरकं तत्साक्षिणमात्मानं विदुस्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः । पञ्चजनशब्दस्य प्राणादिषु कया वृत्त्या प्रयोग इति शङ्कते**—कथं पुनरिति । **यथा तव तत्त्वेषु जनशब्दस्य लक्षणया प्रयोगस्तथा मम प्राणादिषु पञ्चजनशब्दस्य लक्षणयेत्याह**—तत्त्वेष्विति । तर्हि **रूढ्यतिक्रमसाम्यात्तत्त्वान्येव ग्राह्याणीत्यत आह**—समाने त्विति । **सन्निहितसजातीयानपेक्षश्रुतिस्था एव ग्राह्याः । न तु व्यवहितविजातीयसापेक्ष-**

वह अर्थान्तर क्या है जिसके लिए **'पञ्च पञ्चजनाः'** शब्द का प्रयोग किया गया है ? **'पञ्च च ते जनाश्च'** ऐसे कर्मधारय समास से भिन्न संज्ञा समास बलवान होने के कारण **'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'** इस पाणिनीय सूत्र द्वारा विशेष स्मरण होने से संख्या अर्थ में ही पञ्च शब्द का जन शब्द के साथ समास होता है। इसीलिए कुछ लोग रूढ़त्वाभिप्राय से ही पञ्चजन शब्द का प्रयोग मानते हैं, सांख्यों के तत्त्व बतलाने के लिए नहीं। वे पञ्चजन कितने हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर पुनः पञ्च शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् जो कोई पञ्चजन हैं वे सब पाँच ही हैं, जैसे सप्तर्षि सात हैं ॥११॥

प्राणादयो वाक्यशेषात् (ललिता)

वे पञ्चजन कौन-कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं। 'जिसमें पाँच पञ्चजन हैं' इसके आगे के मन्त्र में ब्रह्मस्वरूप बतलाने के लिए प्राणादि पाँच का निर्देश किया गया है—प्राणों के भी प्राण, चक्षु के भी चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र, अन्न के अन्न और मन के मन को जो जानते हैं वे ब्रह्मज्ञानी हैं। वे प्राणों के प्रेरक साक्षी वाक्यशेषगत सन्निधानप्रमाण के बल पर पञ्चजन शब्द के अभिप्रेत अर्थ माने जायेंगे। यदि कहो कि प्राणादि में जन शब्द का प्रयोग कैसे किया गया ?

वशात्प्राणादय एव ग्रहीतव्या भवन्ति। जनसम्बन्धाश्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति। जनवचनश्च पुरुषशब्दः प्राणेषु प्रयुक्तः 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३-१३-६) इत्यत्र। 'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' (छा० ७-१५-१) इत्यादि च ब्राह्मणम्। समासबलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम्। कथं पुनरसति प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याश्रयितुम्। शक्योद्भिदादिवदित्याह। प्रसिद्धार्थसन्निधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्द प्रयुज्यमानः समभिव्याहारात्तद्विषयो नियम्यते, यथा 'उद्भिदा यजेत' यूपं छिनत्ति' वेदिं करोति इति।

स्मृतिस्था इत्यर्थ। लक्षणाबीजं सम्बन्धमाह—जनेति। जनः पञ्चजन इति पर्यायः। पुरुषपित्रादिशब्दवच्च पञ्चजनशब्दस्य प्राणादिलक्षकत्वं युक्तमित्याह—जनवचनश्चेति। ननु जायन्त इति जनाः महदादयः, जनकत्वाज्जनः प्रधानमिति योगसम्भवे किमिति रूढिमाश्रित्य लक्षणाप्रयास इत्यत आह—समासेति। यथा अश्वकर्णशब्दस्य वर्णसमुदायस्य वृक्षे रूढिरेवं पञ्चजनशब्दस्य रूढिरेव नावयवशक्त्यात्मको योग इत्यर्थः। पूर्वकालिकप्रयोगाभावान्न रूढिरित्याक्षिपति—कथमिति। स्युः पुमांसः पञ्चजनाः इत्यमरकोशादौ प्रयोगोऽस्त्येव, तदभावमङ्गीकृत्याप्याह—शक्येति। जनसम्बन्धाच्चेति पूर्वभाष्ये नरेषु पञ्चजनशब्दस्य रूढिमाश्रित्य प्राणादिषु लक्षणोक्ता। इह तु प्रौढिवादेन प्राणादिषु रूढिरुच्यत इति मन्तव्यम्। सगृहीतं विवृणोति—प्रसिद्धेत्यादिना। 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्रोद्भित्पदं विधेयगुणार्थकं कर्मनामधेयं वेति संशये खनित्रादावुद्भित्पदस्य प्रसिद्धेर्यागनामत्वे प्रसिद्धिविरोधाज्ज्योतिष्टोमे गुणविधिरिति प्राप्ते राद्धान्तः। यजेत यागेनेष्टं भावयेदित्यर्थः। ततश्चोद्भिदेत्यप्रसिद्धस्य तृतीयान्तस्य यागेनेत्यनेन प्रसिद्धार्थकेन सामानाधिकरण्येन तन्नामत्वं निश्चीयते, उद्भिनत्ति पशून्साधयतीति प्रसिद्धेरविरोधादप्रकृतज्योतिष्टोमे गुणविध्ययोगात्, 'तद्विधौ चोद्भिदाख्यगुणवता यागेनेति मत्वर्थसम्बन्धलक्षणाप्रसङ्गाच्चेति कर्मनामैवोद्भित्पदम्। तथा छिनत्तीति प्रसिद्धार्थच्छेदनयोग्यार्थकशब्दसमभिव्याहाराद्दारुविशेषो यूपशब्दार्थः। करोतीति समभिव्याहाराद्वेदिशब्दार्थः संस्कारयोग्यस्थण्डिलविशेष इति गम्यते। तथा प्रसिद्धार्थकप्राणादिशब्दसमभिव्याहारात् पञ्चजन-

---

तो हम पूछेंगे कि तत्त्व अर्थ में जन शब्द का प्रयोग कैसे किया गया। प्रसिद्धि का अतिक्रमण तो दोनों पक्ष में समान है फिर भी वाक्यशेष के बल से प्राणादि ही पञ्च पञ्चजनाः का अभिप्रेत अर्थ लेना चाहिए। तथा मनुष्य के साथ सम्बन्ध होने से भी प्राणादि जन शब्द से कहे जाते हैं। साथ ही, जन शब्द पुरुष अर्थ का वाचक है जिसका प्रयोग प्राणों में किया गया है। 'वे ब्रह्मपुरुष पाँच हैं' इस श्रुतिवाक्य में 'निःसन्देह प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य है। वर्णसमुदाय का वाचक अश्वकर्ण शब्द जैसे वृक्ष अर्थ में रूढ़ है, ऐसे ही पञ्चजन शब्द भी प्राणादि अर्थ में रूढ़ है, यौगिक नहीं है। यदि कहो कि जब इससे पूर्व प्राणादि अर्थ में पञ्चजन शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ फिर रूढ़ि कैसे कह सकोगे ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उद्भित् शब्द जैसे यागविशेषअर्थ में रूढ़ है ऐसे ही पञ्चजन शब्द भी प्राणादि अर्थ में रूढ़ है। प्रसिद्ध अर्थ के सन्निधान से अप्रसिद्धार्थक शब्द का प्रयोग समभिव्याहार के बल से किया जाता है, इससे उस शब्द का अर्थ भी निश्चित् हो जाता है। जैसे 'उद्भिदा यजेत' इस वाक्य में उद्भिन्नामक याग से पशुकाम इष्ट की भावना करे, 'यूपं छिनत्ति' इस वाक्य में काष्ठविशेष का नाम यूप है और 'वेदिं करोति'

---

१. गुण। २. प्रसिद्धार्थाभिन्नं यच्छेदनं तद्योग्योऽर्थो यस्येत्यर्थः।

(११६) ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

तथायमपि पञ्चजनशब्दः समासान्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावः संज्ञ्याकाङ्क्षी वाक्यशेषसमभिव्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते । कैश्चित्तु देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पञ्च पञ्चजना व्याख्याताः । अन्यैश्च चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः परिगृहीताः । क्वचिच्च 'यत्पाञ्चजन्या विशेति' (ऋ० सं० ८-५३-७) प्रजापरः प्रयोगः पञ्चजनशब्दस्य दृश्यते । तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः । आचार्यास्तु न पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इति जगाद ॥१२॥

भवेयुस्तावत्प्राणादयः पञ्चजना माध्यंदिनानां येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति । काण्वानां तु कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुर्येऽन्नं प्राणादिषु नामनन्तीति । अतः उत्तरं पठति—

शब्दः प्राणाद्यर्थक इति निश्चीयत इत्यर्थः । एकदेशिनां मतद्वयमाह—कैश्चिदित्यादिना । शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो निषादः । श्रुत्या पञ्चजनशब्दस्यार्थान्तरमाह—क्वचिच्चेति । पाञ्चजन्यया प्रजया विशतीति विट् तथा विशा पुरुषरूपयेन्द्रस्याह्वानार्थं 'घोषाः सृष्टा इति यत्तद्युक्तं, घोषातिरेकेणेन्द्राह्वानायोगादिति श्रुत्यनुसारेण प्रजामात्रग्रहेऽपि न विरोध इत्यर्थः । सूत्रविरोधमाशङ्क्याह—आचार्यस्त्विति । अतः सांख्यतत्त्वातिरिक्तयत्किञ्चित्परतया पञ्चजनशब्दव्याख्यायामविरोध इति भावः ॥१२॥

शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं गृह्णाति—भवेयुरिति । ज्योतिषां सूर्यादीनां ज्योतिस्तद्ब्रह्म देवा उपासत

इस वाक्य में संस्कारयोग्यस्थण्डिलविशेष को वेदी कहा गया है; वैसे ही, प्रसिद्धार्थक प्राणादि शब्द के समभिव्याहार से पञ्चजन शब्द का अर्थ भी प्राणादि माना जायेगा, यह निश्चित हो जाता है। समास के बल से जब यह सिद्ध हो जाता है कि पञ्चजन शब्द किसी का नाम है तब नामी की आकांक्षा होने पर वाक्यशेष में पढ़े गये प्राणादि में पञ्चजन शब्द का प्रयोग निश्चित हो जायेगा। कुछ लोग देवता, पितर, गन्धर्व, असुर और राक्षस इन पाँचों को पञ्चजन शब्द से कहा गया मानते हैं। दूसरे लोग ब्राह्मणादि चार वर्ण और पाँचवें निषाद इन पाँचों को पञ्चजन शब्द से ग्रहण करते हैं। कहीं-कहीं पर श्रुति के बल से पञ्चजन शब्द का अर्थान्तर भी माना गया है। **'विशति इति विट्'** उस पाञ्चजन्य प्रजा के द्वारा पुरुषरूप से इन्द्र के आह्वान के लिए मन्त्र बनाये गये, जिसे परमेश्वर ने बनाया क्योंकि इन्द्र का आह्वान घोष से हो सम्भव है। इस श्रुति के अनुसार पञ्चजन शब्द का अर्थ प्रजामात्र मान लें तो भी कोई विरोध नहीं है। आचार्य ने तो **'प्राणादयो वाक्यशेषात्'** इस सूत्र से यही बतलाया है कि सांख्यों के पच्चीस तत्त्व का बोध इस श्रुतिवाक्य से नहीं होता है ऐसा अर्थ करना चाहिए, चाहे पूर्वोक्त विकल्पों में से कोई भी विकल्प मान लिया जाय, पर सांख्यपरिकल्पित पच्चीस तत्त्व श्रुति को अभिप्रेत नहीं है ॥१२॥

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने (ललिता)

माध्यन्दिन शाखा के अनुसार पञ्चजन प्राणादि मान भी लिये जाँय तो कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि माध्यन्दिन शाखा वालों ने प्राणादि के मध्य अन्न शब्द का भी पाठ किया है, किन्तु काण्व शाखा के अनुसार प्राणादि पञ्चजन शब्द से कैसे कहे जायेंगे, क्योंकि काण्व शाखा वालों ने प्राणादि के मध्य

---

१. घोषा इन्द्राह्वानार्थका मन्त्राः ।

असत्यपि काण्वानामन्ने ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्येत। तेऽपि हि 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति। कथं पुनरुभयेषामपि तुल्यवदिदं ज्योतिः पठ्यमानं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद्गृह्यते केषांचिन्नेति। अपेक्षाभेदादित्याह। माध्यंदिनानां हि समानमन्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नास्मिन्मन्त्रान्तरपठिते ज्योतिष्यपेक्षा भवति। तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा, अपेक्षाभेदाच्च समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे, यथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात्षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे, तद्वत्। तदेवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित्प्रधानविषयास्ति, स्मृतिन्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते ॥१३॥

इत्यर्थः। नन्विदं षष्ठ्यन्तज्योतिःपदोक्तं सूर्यादिकं ज्योतिः शाखाद्वयेऽप्यस्ति, तत्काण्वानां पञ्चत्वपूरणाय गृह्यते नान्येषामिति विकल्पो न युक्त इति शङ्कते—कथं पुनरिति। आकाङ्क्षाविशेषाद्विकल्पो युक्त इत्याह सिद्धान्ती—अपेक्षेति। यथा अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति न गृह्णाति इति वाक्यभेदाद्विकल्पस्तद्वच्छाखाभेदेनान्नपाठापाठाभ्यां ज्योतिषो विकल्प इत्यर्थः। ननु क्रियायां विकल्पो युक्तो न 'वस्तुनीति चेत्। सत्यम्। अत्रापि शाखाभेदेन साम्ना ज्योतिःसहिता वा पञ्च प्राणादयो यत्र प्रतिष्ठितास्तन्मनसानुद्रष्टव्यमिति ध्यानक्रियायां विकल्पोपपत्तिरित्यनवद्यम्। उक्तं प्रधानस्याशब्दत्वमुपसंहरति—तदेवमिति। तथापि स्मृतियुक्तिभ्यां प्रधानमेव जगत्कारणमित्यत आह—स्मृतीति ॥१३॥

अन्न शब्द का पाठ ही नहीं किया है ? बस इसी प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से भगवान् वेदव्यास ने दिया है।

जहाँ अन्न शब्द का पाठ नहीं है वहाँ ज्योति को लेकर उनकी पञ्च संख्या पूर्ण कर लेनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने **'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः'** इससे पूर्व मन्त्र में ब्रह्मस्वरूप का बोध कराने के लिए **'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः'** इस वाक्य के द्वारा **ज्योतिः** शब्द का पाठ किया गया है। प्रश्न—जब दोनों ही शाखाओं में समानरूप से **'ज्योतिः'** शब्द का पाठ किया गया है तब समानमन्त्रगत पञ्चसंख्या के द्वारा किसी शाखा में **ज्योतिः** शब्द का ग्रहण किया जाता है और किसी में नहीं, ऐसा क्यों होता है ? उत्तर—अपेक्षाभेद से ऐसा करना उचित ही है, क्योंकि माध्यन्दिन शाखावालों में समानमन्त्रपठित प्राणादि पाँचों मिल जाते हैं, इसलिए वहाँ पर **ज्योतिः** शब्द का ग्रहण अपेक्षित नहीं है क्योंकि **'ज्योतिः'** शब्द दूसरे मन्त्र में पढ़ा गया है। जब माध्यन्दिन शाखानुसार अन्न शब्द से ही पञ्च संख्या की पूर्ति हो गयी, तो भला मन्त्रान्तर में पठित **'ज्योतिः'** शब्द की अपेक्षा क्यों होने लगे। किन्तु काण्व शाखा में अन्न शब्द का पाठ न होने के कारण मन्त्रान्तर में पठित **ज्योतिः** शब्द की अपेक्षा होती है, अपेक्षाभेद के कारण ही दोनों ही शाखाओं के समानमन्त्र में **'ज्योतिः'** शब्द का पाठ रहने पर एकत्र ग्रहण होता है और अन्यत्र ज्योति का ग्रहण नहीं होता। जैसे अतिरात्र याग के विधायक समान मन्त्र में भी वचनभेद के कारण एक स्थान पर षोडशी पात्र का ग्रहण होता है, दूसरे स्थान पर षोडशी पात्र का ग्रहण नहीं होता। ठीक ऐसे ही, समान मन्त्र में पढ़े गये **'ज्योतिः'** शब्द के ग्रहण और अग्रहण के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। इस प्रकार कोई भी श्रुतिप्रसिद्धि प्रधानविषयक नहीं है। स्मृति और न्याय से जो प्रधान को जगत्कारण सिद्ध करते हैं उनकी स्मृति और न्यायप्रसिद्धि का खण्डन विरोधपरिहाराख्य द्वितीय अध्याय में किया जायेगा ॥१३॥

---

१. सिद्धेः।

४. कारणत्वाधिकरणम् (सू० १४-१५)

(१२०) कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१४॥

समन्वयो जगद्योनौ न युक्तो युज्यतेऽथवा । न युक्तो वेदवाक्येषु परस्परविरोधतः ।
सर्गक्रमविवादेऽपि नासौ स्रष्टरि विद्यते । अव्याकृतमसत्प्रोक्तं मुक्तोऽसौ कारणे ततः ॥

प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणम् । प्रतिपादितं च ब्रह्मविषयं गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानाम् । प्रतिपादितं च प्रधानस्याशब्दत्वम् । तत्रेदमपरमाशङ्क्यते— न जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो ब्रह्मविषयं वा गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानां प्रतिपत्तुं शक्यम् । कस्मात् ?

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः । **पूर्वग्रन्थेनास्य सङ्गतिं वक्तुं वृत्तमनुवदत**— प्रतिपादितमिति । **अधिकरणत्रयेण** प्रधानस्याश्रौतत्वोक्त्या **जगत्कारणत्वलक्षणेन ब्रह्मण एव बुद्धिस्थता, तस्मिन्नेव बुद्धिस्थे निर्विशेष ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वय इति साधितं पूर्वसूत्रसन्दर्भेण । तत्र लक्षणसमन्वययोरसिद्धिरेव, श्रुतीनां विरोधदर्शनादित्याक्षेपरूपां तेनास्य सङ्गतिमाह**— तत्रेति । **न चाविरोधचिन्ताया द्वितीयाध्याये सङ्गतिर्नास्मिन्नध्याय इति वाच्यम् सिद्धे समन्वये स्मृत्यादिमानान्तरविरोधनिरासस्य द्वितीयाध्यायार्थत्वात्, तत्पदवाच्यजगत्कारणवादिश्रुतीनां मिथो विरोधाद्वाच्यार्था-**

४ कारणत्वाधिकरण

१. **संगति**—पिछले तीन अधिकरणों से प्रधान में अशब्दत्व बतलाकर वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में समन्वय कहा गया था । अब वेदान्तवाक्यों का परस्परविरुद्धअर्थप्रतिपादक होने से कुछ भी निर्णय लेना शक्य नहीं है । अतः सांख्यशास्त्राभिमत प्रधानपरक ही समन्वय मानना चाहिए; ऐसी आक्षेप सङ्गति होने के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय**—इस अधिकरण का विचारणीय विषय समन्वय है ।

३. **संशय**—जगज्जन्मादिकारणत्ववाचक वेदान्तवाक्य ब्रह्म में प्रमाण हैं या नहीं ? ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—वेदान्तवाक्यों में परस्पर विरोध होने के कारण ब्रह्म में श्रुतियों का समन्वय मानना ठीक नहीं ।

५. **सिद्धान्त**—सृष्टि के क्रम में विवाद होने पर भी स्रष्टा में कोई विवाद नहीं है । अतः जगत् स्रष्टा कारण ब्रह्म में अव्याकृत एवं असत् शब्द का प्रयोग समुचित ही है । कारणविषयक श्रुतिविरोध का परिहार सूत्रकार वियद पाद में करेंगे । अतः जगत्कारणत्ववादी वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में समन्वय मानने पर कोई विरोध नहीं है ।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः (ललिता)

ब्रह्म का लक्षण कहा गया, ब्रह्मविषयक वेदान्त का गतिसामान्य भी कह दिया गया और प्रधान में अशब्दत्व भी सिद्ध कर दिया । इतने पर भी पूर्वपक्षी पुनः दूसरी शङ्का करता है कि ब्रह्म के जगज्जन्मादिकारणत्व और वेदान्तवाक्यों में ब्रह्मविषयक गतिसामान्य का प्रतिपादन आप नहीं कर सकते अर्थात् ब्रह्म जगज्जन्मादि का कारण है और निखिल वेदान्तवाक्यों का समन्वय अद्वयब्रह्म में होता है ऐसा कहने का दावा आप नहीं कर सकते हैं क्योंकि इस सन्दर्भ में विरोध भी

१. आदिनान्यायो ग्राह्यः ।

[1]विगानदर्शनात्। प्रतिवेदान्तं ह्यन्यान्या सृष्टिरुपलभ्यते क्रमादिवैचित्र्यात्। तथाहि—क्वचित् 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २-१) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते। क्वचित्तेजआदिका—'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-३) इति। क्वचित्प्राणादिका—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६-४) इति क्वचिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते—'स इमाँल्लोकानसृजत अम्भो मरीचर्मरमापः' (ऐ० उ० ४-१-२) इति तथा क्वचिदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै० २-७)

निर्णयेन लक्ष्ये समन्वयासिद्धौ प्राप्तायां तत्साधकाविरोधचिन्ताया अत्रैव सङ्गतत्वात्। न चैवं सृष्टिश्रुतीनामप्यविरोधोऽत्रैव चिन्तनीय इति वाच्यम्, स्वप्नवत्कल्पितसृष्टौ विरोधस्यैवाभावात्। किमर्थं तर्हि द्वितीये तच्चिन्तनं, स्थूलबुद्धिसमाधानार्थमिति ब्रूमः। इह तु सूक्ष्मदृशां वाक्यार्थसमन्वयज्ञानस्य तत्पदार्थश्रुतिविरोधः परिह्रियते। यद्यपि त्वंपदार्थश्रुतिविरोधोऽत्र परिहर्तव्यः तथापि प्रथमसूत्रेण बन्धमिथ्यात्वसूचनादविरोधः सिद्धः। प्रपञ्चस्तु स्थूलबुद्धिसमाधानप्रसङ्गेन भविष्यतीति मन्यते सूत्रकारः। अतः जगत्कारणश्रुतयो [2]विषयः। ताः किं ब्रह्मणि मानं न वेति सशयेऽसज्ज्योतिषोः संख्यादृष्टिक्रियायां विकल्पेऽपि कारणे वस्तुन्यसद्वा सद्वा कारणमित्यादिविकल्पासम्भवादप्रामाण्यमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयन्नुक्ताक्षेपं विवृणोति—प्रतिवेदान्तमित्यादिना। वेदान्तानां समन्वयसाधनाच्छ्रुत्यध्यायसङ्गतिः। असदादिपदानां सत्कारणे समन्वयोक्तेः पादसङ्गतिः। पूर्वपक्षे समन्वयासिद्धिः फलं, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः। क्रमाक्रमाभ्यां सृष्टिविरोधं तावद्दर्शयति—तथाहि क्वचिदित्यादिना। स परमात्मा लोकानसृजत। अम्भशरीरप्रचुरस्वर्गलोकोऽम्भः शब्दार्थः। सूर्यरश्मिव्याप्तोऽन्तरिक्षलोको मरीचयः। मरो मर्त्यलोकः। अब्बहुलाः पाताललोका आप इति श्रुत्यर्थः। सृष्टिविरोधमुक्त्वा कारणविरोधमाह—तथेति। असदनभिव्यक्तनामरूपात्मकं कारणं,

देखा जाता है। सृष्टि बतलाने वाली श्रुति प्रतिवेदान्त भिन्न-भिन्न प्रकार की उपलब्ध होती है क्योंकि सृष्टि के क्रम में वैचित्र्य दिखलायी पड़ता है। कहीं पर 'सर्वप्रथम आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' इस वाक्य द्वारा पहले आकाश की सृष्टि कही गयी है। 'उसने तेज की सृष्टि की' इस वाक्य द्वारा सर्वप्रथम तेज को सृष्टि बतलायी गयी है। 'उसने प्राण की सृष्टि की, प्राण के बाद श्रद्धा की सृष्टि की' इस वाक्य के द्वारा सर्वप्रथम प्राण की सृष्टि बतलायी गयी। कहीं पर लोकों की उत्पत्ति का वर्णन बिना क्रम के ही किया है 'उस परमेश्वर ने इन सभी लोकों का सृजन किया जो अम्भ, मरीचि, मर और आप नाम से कहे जाते हैं। स्वर्गलोक को अम्भ शब्द से कहा गया है क्योंकि वहाँ के निवासियों का शरीर अम्भमय (जलबहुल) होता है। अन्तरिक्ष लोक में सूर्य की रश्मियाँ व्याप्त होती हैं इसीलिए अन्तरिक्ष को 'मरीचि' शब्द से कहा है। मर्त्यलोक में सभी मरते हैं और उस मरे हुए की अन्त्येष्टि करनी पड़ती है इसलिए मर्त्यलोक को 'मर' शब्द से कहा गया है। किन्तु पाताललोक जलबहुल होता है अतः उसे "आपः" शब्द से कहा है। इन सभी लोकों की उत्पत्ति बिना क्रम के ही इस श्रुति ने बतलायी है। वैसे ही, कहीं पर असत् से सृष्टि कही गयी है 'सृष्टि से पहले यह सम्पूर्ण जगत् असत् ही था, निःसन्देह उसी असत् से सत् उत्पन्न हुआ।' इस श्रुति में असत् से सृष्टि बतलायी गयी है। 'यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टि से पहले असत्

१. विरोध। २. विषयास्ता इति पाठान्तरम्।

इति । 'असदेवेमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' (छा० ३-१९-१) इति च क्वचिद-सद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१, २) इति क्वचित्स्वयंकर्तृकैव व्याक्रिया जगतो निगद्यते—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीतन्नामरूपभ्यामेव व्याक्रियत' (बृ १-४-७) इति । एवमनेकधा विप्रतिपत्तेर्वस्तुनि[1] च विकल्पस्यानुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणाव-धारणपरता न्याय्या । स्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तरपरिग्रहो न्याय्य इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वाकाशादिषु क्रमाद्विद्वारके विगाने न स्रष्टरि किञ्चिद्विगानमस्ति । कुतः ? यथाव्यपदिष्टोक्तेः । यथाभूतो ह्येकस्मिन्वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टस्तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि

ततः कारणात्सदभिव्यक्तम् । एतत्तुल्यार्थं छान्दोग्यवाक्यमाह—असदेवेति । किं शून्यमेव, नेत्याह—तत्सदिति । अबाधितं ब्रह्मैवासीदित्यर्थः । तद्ब्रह्मात्मना स्थितं जगत्सृष्टिकाले सम्यगभिव्यक्तम-भवत् । प्रक्रिया सृष्टिः । तत्तत्र कारणे । एके बाह्याः । तेषां मतं श्रुतिरेव दूषयति—कुत इति । कुतएवंपदयोरर्थमाह—कथमिति । स्वमतमाह—सदिति । तदिदं जगद्ध किल तर्हि प्राक्कालेऽव्याकृतं कारणात्मकमासीत् । श्रुतीनां विरोधमुपसंहरति—एवमिति । किमत्र न्याय्यमित्याशङ्क्य मानान्तर-सिद्धप्रधानलक्षकत्वं वेदान्तानां न्याय्यमित्याह—स्मृतोति ।

तत्र सृष्टौ विरोधमङ्गीकृत्य स्रष्टरि विरोधं परिहरति—सत्यपीति । आकाशादिषु ब्रह्मणः कारणत्वे विरोधो नैवास्तीति प्रतिज्ञायां हेतुमाह—कुत इति । यथाभूतत्वमेवाह—सर्वज्ञ इति ।

ही था, वह अबाधित ब्रह्मरूप था, उसी से सत्य जगत् उत्पन्न हुआ है ।' कहीं पर असत्वाद का खण्डन करते हुए सत्पूर्वक जगदुत्पत्ति प्रक्रिया मानी गयी है 'वहाँ पर कुछ लोगों ने उत्पत्ति से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् असत् ही था' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर आगे प्रश्न उठाया कि 'हे सौम्य ! यह भला कैसे हो सकता है अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ?' सिद्धान्तपक्ष से कहते हुए श्रुति बतलाती है 'हे सोम्य! यह दृश्यमान जगत् उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्मस्वरूप ही था ।' कहीं पर स्वयं कर्ता ही जगद्रूप से बन गया ऐसा बतलाया गया है 'यह दृश्यमान जगत् सृष्टि से पूर्व अव्याकृत था, वही नाम-रूप से व्याकृत हो गया ।' इस प्रकार अनेकों विप्रतिपत्तियाँ होने के कारण और वस्तु में विकल्प का होना अयुक्त होने के कारण वेदान्तवाक्यों को जगत्कारणनिश्चायक मानना उचित नहीं है । अतः सांख्य, स्मृति एवं तर्क की प्रसिद्धि द्वारा जगत्कारणान्तर स्वीकार करना ही उचित है, ब्रह्म में जगत्कारणत्व सिद्ध करना उचित नहीं है ?

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं—प्रत्येक वेदान्त में सृज्यमान आकाशादि के क्रमादि द्वारा विरोध रहने पर भी स्रष्टा में कोई विरोध नहीं है क्योंकि एक उपनिषद् में सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वात्मक, अद्वितीय परमात्मा जैसा कारण कहा गया है वैसे ही दूसरे उपनिषदों में भी

---

१. परवस्तुनि ।

व्यपदिश्यते। तद्यथा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१) इति। अत्र तावज्ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृत्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयदपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत्। तद्विषयेणैव परेणात्मशब्देन शरीरादिकोशपरंपरया चान्तरानुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तः प्रत्यगात्मानं निरधारयत्। 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) इति चात्मविषयेण बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टुरभेदमभाषत। तथा 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (तै० २-६) इति समस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीयं स्रष्टारमाचष्ट। तदत्र यल्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातं तल्लक्षणमेवान्यत्रापि विज्ञायते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६-२-१,३) इति। तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० उ० ४-१-१,२) इति च। एवंजातीयकस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगीतार्थत्वात्। कार्यविषयं तु [1]विगानं दृश्यते क्वचिदाकाशादिका सृष्टिः

कारणस्य सर्वज्ञत्वादिकं प्रतिवेदान्तं दृश्यत इत्याह—तद्यथेत्यादिना। **तद्विषयेण ब्रह्मविषयेण। चेतनं सर्वज्ञम्। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रुतेरपरप्रयोज्यत्वम्। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इति प्रत्यगात्मत्वम्। स्वस्य बहुरूपत्वकामनया स्थितिकालेऽप्यद्वितीयत्वम्। यथा तैत्तिरीयके सर्वज्ञत्वादिकं कारणस्य तथा छान्दोग्यादावपि दृश्यत इत्याह**—तदत्र यल्लक्षणमिति। **मिषत्सव्यापारम्। अविगीतार्थत्वादविरुद्धार्थकत्वात् कारणे नास्ति विप्रतिपत्तिरिति शेषः। तथापि कार्ये विरोधात्कारणेऽपि विरोधः स्यादित्याशङ्क्य निषेधति**—कार्यविषयं त्वित्यादिना। **स्वप्नसृष्टीनां प्रत्यह-**

सर्वज्ञ परमेश्वर को कारण बतलाया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है' इस वाक्य में ज्ञान शब्द और आगे कहे जाने वाले तद्विषयक कामयितृत्व शब्द से जैसे चेतन ब्रह्म को बतलाया गया है जो परप्रयोज्य न होने के कारण ईश्वर है, उसी को जगत्कारण कहा गया है। उसी को बतलाने वाला आगे आत्म शब्द आता है जो आत्मा शरीरादि कोश की परम्परा से सबके भीतर अनुप्रविष्ट है, इस अनुप्रवेश द्वारा सबके भीतर प्रत्यगात्मा का ही निर्धारण किया गया है। साथ ही 'मैं बहुत रूप होऊँ, प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ' इस वाक्य द्वारा बहुभवन का अनुशंसन आत्मविषयक ही तो है अर्थात् स्वयं ही परमात्मा अनेकों रूपों में बना है, इससे सृज्यमान विकार और उसके स्रष्टा में अभेद कहा गया है। वैसा ही 'यह जो कुछ भी है उन सभी की सृष्टि परमेश्वर ने की है' इस वाक्य द्वारा समस्त जगत् की सृष्टि निर्देश व्याज से सृष्टि से पूर्व स्रष्टा को अद्वितीय कहा है। जगत्कारणत्वेन लक्षित ब्रह्म का ज्ञान जिस प्रकार एक स्थान में कराया गया है वैसा ही लक्षण अन्यत्र भी किया गया है 'हे सोम्य! यह दीखने वाला जगत् सृष्टि से पूर्व सत् ही तो था, वह एक अद्वितीयरूप में था, उसने संकल्प किया कि मैं बहुत रूप से और प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ, तत्पश्चात् सर्वप्रथम उसने तेज की सृष्टि की' 'यह दीखने वाला सम्पूर्ण जगत् सृष्टि से पूर्व एक आत्मा ही तो था, व्यापारयुक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं था, उसी परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ।' इस प्रकार जगत्कारणस्वरूपबोधक वाक्यसमुदाय प्रतिवेदान्त विरुद्ध नहीं है। कार्य-

---

१. विरोधम्।

क्वचित्तेजआदिकेत्येवंजातीयकम् । नच कार्यविषयेण विगानेन कारणमपि ब्रह्म सर्ववेदान्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितं भवितुमर्हतीति शक्यते वक्तुम् । अतिप्रसङ्गात् । समाधास्यति चाचार्यः कार्यविषयमपि विगानं 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २-३-१) इत्यारभ्य । भवेदपि कार्यस्य [1]विगीतत्वमप्रतिपाद्यत्वात् । न ह्ययं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः । नहि [2]तत्प्रतिबद्धः कश्चित्पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा । नच कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात् । दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्—'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (छा० ६-८-४) इति । मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाभेदं वदितुं

मन्यथात्वेन सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञायमाने द्रष्टर्यपि नानात्वं प्रसज्येतेत्याह—अतिप्रसङ्गादिति । **सृष्टिविरोधमङ्गीकृत्य स्रष्टरि न विरोध इत्युक्तम् ।** अधुनाङ्गीकारं त्यजति—समाधास्यति चेति । **किमर्थं तर्हि श्रुतयः सृष्टिमन्यथाऽन्यथा वदन्तीत्याशङ्क्य** सृष्टावतात्पर्यज्ञापनायेत्याह—भवेदित्यादिना । अतात्पर्यार्थविरोधो न दोषायेत्यतात्पर्यं साधयति—नहीति । **फलवद्ब्रह्मवाक्यशेषत्वेन सृष्टिवाक्यानामर्थवत्त्वसम्भवान्न स्वार्थे पृथक्फलं कल्प्यम्, वाक्यभेदापत्तेरित्याह**—नच कल्पयितुमिति । **न्यायादेकवाक्यत्वं सिद्धं श्रुतिरपि दर्शयतीत्याह**—दर्शयति चेति । **शुङ्गेन कार्येण लिङ्गेन कारणब्रह्मज्ञानार्थत्वं सृष्टिश्रुतीनामुक्त्वा कारणस्याद्वयत्वज्ञानं फलान्तरमाह**—मृदादीति । **एवं निष्फलायामन्यार्थायां सृष्टौ**

विषयक विरोध तो देखा जाता है क्योंकि कहीं पर सर्वप्रथम आकाश की सृष्टि, कहीं तेज की सृष्टि ऐसा विरोध दीखता है । कार्यविषयक विरोध को लेकर कारण ब्रह्म भी सभी उपनिषदों में विरुद्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि वह अविरुद्धरूप से जाना गया है; उसे अब अविवक्षित कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, यदि ऐसा कहोगे तो अतिप्रसंग होने लग जायेगा । अब तक कार्यविषयक विरोध को मानकर भाष्यकार ने समाधान दिया था पर अब कर्मविषयक विरोध को भी अस्वीकार करते हैं, उन्होंने कहा कि आचार्य बादरायण **'न वियदश्रुतेः'** इस सूत्र से प्रारम्भकर कार्यविषयक विरोध का परिहार करेंगे । कथञ्चित कार्यविषयक विरोध मान भी लिया जाय तो भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि वह हमारा प्रतिपाद्यतत्त्व नहीं है । श्रुति को सृष्ट्यादि प्रपञ्च बतलाना अभीष्ट नहीं है क्योंकि प्रपञ्च से सम्बद्ध कोई भी पदार्थ पुरुषार्थरूप में नहीं देखा गया है और न सुना जाता है । ऐसी स्थिति में प्रपञ्च में पुरुषार्थत्व की कल्पना भी नहीं कर सकते क्योंकि उपक्रम-उपसंहार के द्वारा ब्रह्मविषयक वाक्यों के साथ प्रपञ्चबोधक वाक्य की एकवाक्यता जान पड़ती है । सृष्ट्यादि प्रपञ्च ब्रह्मबोध के लिए है, इसे स्वयं श्रुति ने कहा है—'हे सोम्य अन्नरूप कार्य के द्वारा इसके मूलकारण जल का अन्वेषण करो । वैसे ही, हे सोम्य ! जलरूप कार्य से उसके मूल तेज का अन्वेषण करो और हे प्रियदर्शन ! तेजकार्य के सहारे उसके मूलतत्त्व सत् का अन्वेषण करो ।' मृदादि दृष्टान्तों से कार्य का कारण के साथ अभेद ही बतलाना सृष्ट्यादि प्रपञ्चबोधक श्रुति का

---

१. विरुद्धत्वम् । २. प्रपञ्च ।

(१२१) समाकर्षात् ॥१५॥

सृष्ट्यादिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते । तथाच सम्प्रदायविदो वदन्ति—'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा । उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥' (माण्डू० ३-१५) इति । ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २-१), 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७-१-३) 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (श्वे० ३-८) इति । प्रत्यक्षावगमं चेदं फलम् । 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः ॥१४॥

यत्पुनः कारणविषयं विगानं दर्शितम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २-७) इति नात्रासन्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते । यतः 'असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यसद्वादापवादेनास्तित्वलक्षणं ब्रह्मान्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मानं

तात्पर्याभावाद्विरोधो न दोष इत्यत्र वृद्धसम्मतिमाह—तथाचेति । अन्यथान्यथेति वीप्सा द्रष्टव्या । अवताराय ब्रह्मधीजन्मने । अतस्तदन्यथात्वेऽपि ब्रह्मणि न भेदः । ज्ञेये न विगानमित्यर्थः । ब्रह्मज्ञानस्य सृष्टिशेषित्वमुक्तम्, तन्निर्वाहाय तस्य फलमाह—ब्रह्मेति । मृत्युमत्येतीत्यन्वयः ॥१४॥

एवं सृष्टिद्वारकं [1]विरोधमुत्सूत्रं समाधाय कारणस्य सदसत्त्वादिना साक्षाच्छ्रुतिविरोधनिरासार्थं सूत्रमादत्ते—यत्पुनरिति । यतोऽस्तित्वलक्षणं ब्रह्म निर्धार्य तस्मिन्नेव श्लोकमुदाहरति, अतोऽत्र श्लोके निरात्मकमसन्न श्राव्यत इति योजना । तत् तत्र सदात्मनि श्लोको मन्त्रो भवति । सदात्मसमाकर्षा-

---

भी अभिप्राय है । ऐसा ही सम्प्रदायवित् पुरुष कहते भी हैं—'मृत्तिका, लोहपिण्ड, विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों से जो सृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकार से बतलायी गयी है वह तो केवल अद्वैत बोध कराने के लिए है, इसमें भेद की सम्भावना नहीं है ।' सृष्ट्यादि प्रपञ्च के ज्ञान से कोई फल नहीं सुना जाता है किन्तु ब्रह्मबोध से सम्बन्धित फल सुना जाता है—'ब्रह्मज्ञानी सर्वश्रेष्ठतत्त्व को प्राप्त कर लेता है' 'आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है' 'उस परमात्मा को ही जानकर मृत्यु से छूटता है' इन वाक्यों द्वारा फल का बोध प्रत्यक्ष है । अतएव 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य द्वारा असंसारी आत्मा का ज्ञान हो जाने पर उसमे संसारीरूपत्व नहीं रह जाता, वह तो व्यावृत हो जाता है ॥१४॥

समाकर्षात् (ललिता)

'सृष्टि से पहले यह सम्पूर्ण जगत् असत् ही था' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा कारण के सम्बन्ध में जो विरोध दिखलाया गया था उसका परिहार भी करना चाहिए, एतदर्थ अग्रिम सूत्र है । **'असद्वा इदमग्रासीत्'** इस वाक्य में निरात्मक असत्पदवाच्य को जगत् का कारण नहीं कहा गया है क्योंकि 'जो ब्रह्म को असत् समझता है वह स्वयं ही असत् हो जाता है और जो ब्रह्म को अस्तिरूप में जानता है उसे वेदवेत्ता ब्राह्मणों ने सत् कहा है' इस वाक्य द्वारा असद्वाद की निन्दाकर सद्रूप ब्रह्म को बतलाया है । पुनः अन्नमयादि कोश की परम्परा से प्रत्यगात्मा का निश्चय कराकर

---

१. सूत्राद्बहिरेव ।

निर्धार्य 'सोऽकामयत' इति तमेव प्रकृतं समाकृष्य सप्रपञ्चां सृष्टिं तस्माच्छ्रावयित्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति चोपसंहृत्य 'तदप्येष श्लोको भवति' इति तस्मिन्नेव प्रकृतेऽर्थे श्लोकमिममुदाहरति—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति। यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिञ्छ्लोकेऽभिप्रेयेत ततोऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसम्बद्धं वाक्यमापद्येत। तस्मान्नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यते। एषैव 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३-१९-१) इत्यत्रापि योजना। 'तत्सदासीत्' इति समाकर्षणात्। अत्यन्ताभावाभ्युपगमे हि तत्सदासीदिति किं समाकृष्येत। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणायमेकीयमतोपन्यासः, क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्यासम्भवात्। तस्माच्छ्रुति-

---

वतोन्द्रियार्थकासत्पदेन ब्रह्म लक्ष्यत इत्याह—तस्मादिति। **नच प्रधानमेव लक्ष्यतामिति वाच्यम्। चेतनार्थकब्रह्मादिशब्दानामनेकेषां लक्षणायां गौरवादिति भावः। तैत्तिरीयकश्रुतौ सूत्रं योजयित्वा छान्दोग्यादौ योजयति**—एषैवेति। **सदेकार्थकतत्पदेन पूर्वोक्तासतः समाकर्षान्न शून्यत्वमित्यर्थः। नन्वसत्पदलक्षणा न युक्ता, श्रुतिभिरेव स्वमतभेदेनोदितानुदितहोमवद्विकल्पस्य दर्शितत्वादित्यत आह**—तद्धैक इति। **एके शाखिन इत्यर्थो न भवति, किन्तु अनादिसंसारचक्रस्था वेदबाह्या इत्यर्थः। शून्यनिरासेन श्रुतिभिः सद्वादस्यैवेष्टत्वात्तासां विरोध**[1]**स्फूर्तिनिरासाय लक्षणा युक्तेति भावः। यदुक्तं**

'उसने कामना की' इस वाक्य द्वारा उस प्रकृत ब्रह्म का ही समाकर्षणकर उसी से सप्रपञ्च सृष्टि बतलाकर अन्त में 'उसे ज्ञानीलोग सत्य कहते हैं' इस वाक्य से उपसंहार किया गया है। पुनः **तदप्येष श्लोको भवति**' इस वाक्य द्वारा उस प्रकृत जगत्कारण ब्रह्म के विषय में इस श्लोक का उदाहरण देकर 'सृष्टि से पूर्व यह जगत् असत् ही था' ऐसा कहा गया है। यदि इस श्लोक में असत्पदवाच्य निरात्मक को बतलाना अभीष्ट कहें, तो अन्य समाकर्षण में अन्य का उदाहरण देना असम्बद्ध प्रलाप होने लग जायेगा। अतः नाम-रूपव्याकृत वस्तुविषय को प्रायशः बतलाने के लिए सत् शब्द का प्रयोग होता है और उस व्याकरणाभाव की अपेक्षाकर उत्पत्ति से पूर्व सद्रूप होता हुआ भी ब्रह्म असत् जैसा था, ऐसा ओपचारिक दृष्टि से कहा जाता है। सद् अर्थ-वाला तत् पद से पूर्वोक्त असत् का समाकर्षण होने के कारण असत् पद का अर्थ शून्य नहीं कर सकते। यदि असत् का अर्थ अत्यन्ताभाव मानोगे तो फिर 'वह सत् था' इस वाक्य द्वारा समाकर्षण कैसे हो सकता था। ऐसा ही 'कुछ वेदबाह्य लोगों ने उसके विषय में कहा है कि सृष्टि से पूर्व यह जगत् असत् ही था' यहाँ इस श्रुति में भी कहा है। '**एके**' पद का **शाखिनः** अर्थ न करें किन्तु अनादि संसार-चक्र में घूमने वाले वेदबाह्य अर्थ करें। शून्य को खण्डनकर श्रुति ने सत् को बतलाना ही अभीष्ट समझा, उन श्रुतियों में विरोध-परिहार के लिए आवश्यकतानुसार लक्षणा भी उचित ही होगी। दूसरी श्रुति के अभिप्राय को ध्यान में रखकर '**एके**' का अर्थ एकदेशी नहीं करना चाहिए किन्तु अनादि संसार में भटकने वाले वेदबाह्य अर्थ करना ही ठीक है, क्योंकि क्रिया में जिस प्रकार विकल्प होता है उस प्रकार वस्तु में विकल्प

---

१. स्फुरणं स्फूर्तिः प्रतीतिरिति यावत्।

परिगृहीतसत्पक्षदाढर्यायैवायं मन्दमतिपरिकल्पितस्यासत्पक्षस्योपन्यस्य निरास इति द्रष्टव्यम् ।

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १-४-७) इत्यत्रापि न निरध्यक्षस्य जगतो व्याकरणं कथ्यते, 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात् । निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इत्यनेन सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत । चेतनस्य चायमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः श्रूयते । अनुप्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात् 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति । अपिच यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्साध्यक्षं व्याक्रियत एवमादिसर्गेऽपीति गम्यते । दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः । श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६-३-२) इति साध्यक्षामेव जगतो व्याक्रियां दर्शयति । व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः । यथा

क्वचिदकर्तृका सृष्टिः कथितेति ।

तत्रेत्याह—तद्धेदमिति । अध्यक्षः कर्ता । ननु कर्त्रभाव एव परामृश्यत इत्यत आह—चेतनस्य चायमिति । चक्षुर्द्रष्टा, श्रोत्रं श्रोता, मनो मन्तेत्युच्यत इत्यर्थः । आद्यकार्यं सकर्तृकं, कार्यत्वात्, घटवदित्याह—अपिचेति । अद्यत्वे इदानीम् । ननु कर्मकारकादन्यस्य कर्तुः सत्त्वे कर्मण एव कर्तृवाचिलकारो विरुद्ध इत्यत आह—व्याक्रियत इति । अनायासेन सिद्धिमपेक्ष्य कर्मणः कर्तृत्वमुपचर्यत इत्यर्थः । व्याक्रियते जगत्स्वयमेव निष्पन्नमिति व्याख्याय केनचिद्व्याकृत-

---

का होना सम्भव नहीं । अतः श्रुति में आये हुए 'सत्' पक्ष की दृढ़ता के लिए मन्दबुद्धि के द्वारा परिकल्पित असत् पक्ष का उपन्यासकर उसका खण्डन ही यहाँ पर अभीष्ट है, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए ।

'उस समय यह जगत् अव्याकृत था' इस वाक्य से यहाँ पर भी अध्यक्ष के बिना जगत् के नाम-रूप का व्याकरण नहीं कहा गया है । 'वह जगत्कर्ता परमात्मा सृष्टि करने के बाद उसमें नख से शिख तक प्रविष्ट हो गया' इस वाक्य के द्वारा व्याकृत कार्य में प्रवेश करने वाले अध्यक्ष का ही समाकर्षण देखा जाता है । यदि नाम-रूप का व्याकरण जगत्कर्ता के बिना ही मानोगे तो आगे प्रकृत का आलम्बन करने वाला 'स' इससर्वनाम के द्वारा किस कार्यानुप्रवेशी का समाकर्षण होगा । श्रुति में चेतन आत्मा का ही अनुप्रवेश सुना जाता है । द्रष्टा देखने के लिए चक्षु का, सुनने के लिए श्रोत्र का और मनन करने के लिए मन का आश्रयण करता है' इस वाक्य द्वारा अनुप्रविष्ट पदार्थ में चेतनत्व सुना जाता है । इसके अतिरिक्त, यह जगत् नाम-रूप द्वारा जैसा आज व्याकृत होता दीखता है जिसमें अध्यक्ष भी भासता है, वैसा ही आदि-सर्ग में भी समझना चाहिए, अनुभव के विरुद्ध कल्पना ठीक नहीं है । इसी प्रकार 'मैं इस जीवरूप से पिण्ड-ब्रह्माण्ड में अनुप्रवेश कर नाम-रूप को बनाऊँ' इस वाक्य द्वारा भी अध्यक्ष के सहित ही जगत् की व्याकृति देखी जाती है । '**व्याक्रियते**' इस पद में कर्मकर्ता में लकार हुआ है जो परमेश्वररूप कर्ता के रहने पर ही कर्म के सौकर्य की अपेक्षाकर कर्मकर्तरि लकार का प्रयोग हुआ है । जिस प्रकार '**लूयते केदारः स्वयमेव**' यह प्रयोग खेत काटने वाले के रहने पर ही कर्मसौकर्य की अपेक्षाकर किया जाता है वैसे ही-

५. बालाक्यधिकरणम् (सू० १६-१८)

(१२२) जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

पुरुषाणां तु कः कर्ता प्राणजीवपरात्मसु । कर्मेति चलने प्राणो जीवोऽपूर्वे विवक्षिते ।
जगद्वाची कर्मशब्दः पुंमात्रविनिवृत्तये । तत्कर्ता परमात्मैव न मृषावादिता ततः ॥

लूयते केदारः स्वयमेवेति सत्येव पूर्वके लवितरि । यद्वा कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्तारमपेक्ष्य द्रष्टव्यः । यथा गम्यते ग्राम इति ॥१५॥

कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वै तत्कर्म स वै वेदितव्यः' (कौ० ४-१८) इति । तत्र किं जीवो वेदितव्यत्वेनो-

---

मिति व्याचष्टे—यद्वेति । **अतः श्रुतीनामविरोधात्कारणद्वारा समन्वय इति सिद्धम् ॥१५॥**

जगद्वाचित्वात् । **विषयमाह**—कौषीतकीति । **बलाकाया अपत्यं बालाकिर्ब्राह्मणस्तं प्रति राजोवाच**—यो वा इति । **न केवलमादित्यादीनां कर्ता किन्तु सर्वस्य जगत इत्याह**—यस्येति । **एतज्जगद्यस्य कर्म, क्रियते इति व्युत्पत्त्या कार्यमित्यर्थः । कर्मेतिशब्दस्य योगरूढिभ्यां संशय-**

'व्याक्रियते' में कर्म कर्तरि लकार को भी समझना चाहिए। अथवा कर्म में ही लकार हुआ है जो अर्थतः आक्षिप्त अन्य कर्ता की अपेक्षाकर किया हुआ समझना चहिए। जिस प्रकार **'गम्यते ग्रामः'** प्रयोग होता है वैसे ही कर्मकारक अर्थ में ही यह लकार हुआ है जो अर्थाक्षिप्त अन्य कर्ता की अपेक्षाकर किया गया समझना चाहिए ॥१५॥

५. बालाक्यधिकरण

१. **संगति**—समानवाक्यस्थ होने के कारण असत् शब्द भी सद्ब्रह्म का प्रतिपादक पिछले अधिकरण में कहा, किन्तु कौषीतकिब्राह्मण में **'ब्रह्म ते ब्रवाणि'** ऐसा बालाकिवाक्यस्थ ब्रह्म शब्द होने से प्राणादि शब्द का ब्रह्म अर्थ नहीं कर सकते; ऐसी प्रत्युदाहरण संगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ कर रहे हैं।

२. **विषय**—**'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः'** (कौ० ब्रा० ४-१८) इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विचारणीय विषय है।

३. **संशय**—पुरुषों का कर्ता वेदितव्य पदार्थ प्राण है; जीव है अथवा ब्रह्म है? ऐसा संशय होता है।

४. **पूर्वपक्ष**—**'यस्य वैतत्कर्म'** इस श्रुति में चलनात्मक कर्म प्राण के आश्रित होने से मुख्यप्राण ही अर्थ लेना चाहिए। अथवा कर्म का अर्थ अपूर्व मान लेने पर जीव भी वेदितव्य पुरुष का कर्ता माना जा सकता है।

५. **सिद्धान्त**—कर्म शब्द जगद्वाचक है, पुरुषमात्र अर्थ का वाचक नहीं है। अतः उसका कर्ता वेदितव्य पदार्थ परमात्मा ही सुनिश्चित अर्थ है; ऐसा मानने पर श्रुति में मृषावादिता दोष भी नहीं आता।

जगद्वाचित्वात् (ललिता)

'हे बालाकि! निःसन्देह इन आदित्यादि पुरुषों का जो कर्ता है और जिसका सम्पूर्ण जगत् कर्म है वही जानने योग्य है' इस कौषीतकि ब्राह्मण में बालाकि और अजातशत्रु का संवाद सुना

पविश्यत उत मुख्यः प्राण उत परमात्मेति विशयः। किं तावत्प्राप्तम् ? प्राण इति। कुतः? 'यस्य वैतत्कर्म' इति श्रवणात्। परिस्पन्दलक्षणस्य च कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्। वाक्यशेषे च 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इति प्राणशब्ददर्शनात्। प्राणशब्दस्य च मुख्ये प्राणे प्रसिद्धत्वात्। ये चैते पुरस्ताद्बालाकिना 'आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टास्तेषामपि भवति प्राणः कर्ता प्राणावस्थाविशेषत्वादादित्यादिदेवतात्मनाम्। 'कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' (बृ. ३-९-९) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः।

जीवो वाऽयमिह वेदितव्यतयोपदिश्यते। तस्यापि धर्माधर्मलक्षणं कर्म शक्यते श्रावयितुम् 'यस्य वैतत्कर्म' इति। सोऽपि भोक्तृत्वाद्भोगोपकरणभूतानामेतेषां पुरुषाणां कर्तोपपद्यते। वाक्यशेषे च जीवलिङ्गमवगम्यते। यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य

माह—तत्रेति। पूर्वत्रैकवाक्यस्थसदादिशब्दबलादसच्छब्दो 'नीतः। इह तु वाक्यभेदात् 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति बालाकिवाक्यस्थब्रह्मशब्देन प्राणादिशब्दो ब्रह्मपरत्वेन नेतुमशक्य इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति। पूर्वपक्षे वाक्यस्य प्राणाद्युपास्तिपरत्वाद्ब्रह्मणि समन्वयासिद्धिः, सिद्धान्ते ब्रह्मणि समन्वयसिद्धिरिति फलम्। अथ सुषुप्तौ। द्रष्टेति शेषः। श्रुतं पुरुषकर्तृत्वं प्राणस्य कथमित्यत आह—ये चैत इति। सूत्रात्मकप्राणस्य विकाराः सूर्यादय इत्यत्र मानमाह—कतम इति। यस्य ²महिमानः सर्वे देवा इति पूर्ववाक्ये दर्शितं। अतः सर्वदेवात्मकत्वात् स प्राणो ब्रह्म। त्यत् परोक्षम्। शास्त्रैकवेद्यत्वादित्यर्थः।

पूर्वपक्षान्तरमाह—जीवो वेति। यत्कारणं यस्माज्जीवं बोधयति तस्मादस्ति सुप्तोत्थापनं जीवलिङ्गमिति योजना। 'तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुः' (बृ० २-१-१५)। तं राजा हे बृहत्पाण्डरवासः सोमराजन्नि (बृ० २-१-१५) त्यामन्त्र्य सम्बोध्य सम्बोधनानभिज्ञत्वात् प्राणादेरनात्मत्वमुक्त्वा

जाता है वहाँ पर यह संशय होता है कि जीव वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट है या मुख्य प्राण, अथवा परमात्मा। ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष में कहा गया है कि मुख्य प्राण ही यहाँ पर उपदिष्ट है क्योंकि 'निःसन्देह जिसका यह सम्पूर्ण जगत् कर्म है' इस श्रुति में परिस्पन्दरूप कर्म प्राणाश्रित ही होता है। वाक्यशेष में भी कहा है कि 'सुषुप्तावस्था में यह सम्पूर्ण जगत् प्राण में ही एकीभाव को प्राप्त कर जाता है' इस श्रुति में 'प्राण' शब्द देखा जाता है और प्राण शब्द की प्रसिद्धि मुख्य प्राण अर्थ में ही है। और जो बालाकि द्वारा इससे पूर्व आदित्य में, चन्द्रमा में एवं अन्य स्थलों में भी पुरुष निर्दिष्ट हैं उनका भी कर्ता प्राण ही है क्योंकि आदित्यादि देवताओं की प्राणावस्थाविशेष देखी गयी है। जब पूछा कि एक देव कौन है ? तब उत्तर दिया कि वह प्राण ही है। वह प्राण ब्रह्मस्वरूप ही है ऐसा ब्राह्मण कहते हैं। ऐसा श्रुत्यन्तर से भी सिद्ध होता है।

अथवा इस मन्त्र में वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट जीव ही है, उस जीव में भी धर्माधर्मरूप कर्म 'यस्य वैतत् कर्म' इस वाक्य द्वारा सुना जाता है। वह जीव भी भोक्ता होने के कारण भोग के उपकरणरूप इन आदित्यादि देवताओं का कर्ता सिद्ध होता है। वाक्यशेष में जीवलिङ्ग जान पड़ता

---

१. ब्रह्मणीति इति शेषः। २. विभूतयः।

पुरुषाणां कर्तुर्वेदनायोपेतं बालाकिं प्रति बुबोधयिषुरजातशत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्यामन्त्रणशब्दाश्रवणात्प्राणादीनामभोक्तृत्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थापनात्प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं भोक्तारं प्रतिबोधयति । तथा परस्तादपि जीवलिङ्गमवगम्यते—'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति' (कौ० ब्रा० ४-२०) इति प्राणभृत्त्वाच्च जीवस्योपपन्नं प्राणशब्दत्वम् । तस्माज्जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इह ग्रहणीयो न परमेश्वरः, तल्लिङ्गानवगमादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवायमेतेषां पुरुषाणां कर्ता स्यात् । कस्मात् ? उपक्रमसामर्थ्यात् । इह हि बालाकिरजातशत्रुणा सह 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति संवदितुमुपचक्रमे । स च कतिचिदादित्याद्यधिकरणान्पुरुषानमुख्यब्रह्मदृष्टिभाज उक्त्वा तूष्णीं बभूव । तमजातशत्रुः 'मृषा वै खलु मा संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि' इत्यमुख्यब्रह्मवादि-

---

यष्ट्याघातेनोत्थाप्य जीवं बोधितवानित्यर्थः । श्रेष्ठी प्रधानः स्वैः भृत्यैर्ज्ञातिभिरुपहृतं भुंक्ते स्वाः ज्ञातयश्च तमुपजीवन्ति, एवं जीवोऽपि आदित्यादिभिः प्रकाशादिना भोगोपकरणैः भुंक्ते ते च हविर्ग्रहणादिना जीवमुपजीवन्तीत्युक्तं भोक्तृत्वं जीवलिङ्गम् । ननु 'प्राण एवैकधा भवति' इति श्रुतः प्राणशब्दो जीवे कथमित्यत आह—प्राणभृत्त्वाच्चेति ।

सूत्राद्बहिरेव सिद्धान्तयति—एवमिति । स च बालाकिर्ब्रह्मत्वभ्रान्त्या व्यष्टिलिङ्गरूपान्पुरुषानुक्त्वा राज्ञा निरस्तस्तूष्णीं स्थितः । त्वदुक्तं ब्रह्म मृषेत्युक्त्वा राज्ञोच्यमानं ब्रह्मैवेति वक्तव्यमन्यथा

है क्योंकि वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट आदित्यादि के कर्ता को जानने की इच्छावाले बालाकि को बोध कराने की इच्छा से अजात शत्रु सुप्तपुरुष के पास ले जाता है और वहाँ पर सुप्तपुरुष को जगाने के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया गया उससे यह जान पड़ता है कि प्राणादि अचेतन में भोक्तृत्व नहीं है, तत्पश्चात् दण्डप्रहार द्वारा उसे जगाया। इस घटना से प्राणादि व्यतिरिक्त जीव भोक्ता को जगाना सिद्ध होता है। इससे आगे भी जीवलिङ्ग जान पड़ता है 'जिस प्रकार प्रधान अपने भृत्यों और परिवारों से उपहृत वस्तु का भोग करता है वैसे ही उसके परिजन उसके आश्रित जीते हैं, ठीक इसी प्रकार यह चेतन आत्मा इन आत्मीय शरीरादि के द्वारा उपहृतवस्तु का भोग करता है और ये सब इस आत्मा का भोग करते हैं।' प्राणधारी होने के कारण जीव के लिए प्राण शब्द का प्रयोग करना उचित ही है। अतः जीव और मुख्यप्राण में से किसी एक को कौषीतकि-मन्त्र में ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर को नहीं, क्योंकि परमेश्वर का कोई लिङ्ग यहाँ नहीं जान पड़ता।

इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं, कि परमेश्वर ही इन आदित्यादि देवताओं का कर्ता माना जायेगा, क्योंकि प्रारम्भ में उसी का प्रसङ्ग आता है। यहाँ पर अजातशत्रु के साथ सम्वाद करते हुए बालाकि ने कहा कि 'मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूँ' उस बालाकि ने कुछ आदित्यादि अधिकरणों में गौण ब्रह्मदृष्टिविषयक पुरुषों को कहने के बाद जब चुप्पी साध ली, तब उससे अजातशत्रु ने कहा कि 'तूने व्यर्थ ही मुझसे कहा था कि मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूँ' इस वाक्य द्वारा अमुख्यब्रह्मवादीरूप से उनका निराकरण करके उनसे भिन्न उनके कर्ता पुरुष को वेदितव्यरूप से

तयापोद्य तत्कर्तारमन्यं वेदितव्यतयोप[1]चिक्षेप । यदि सोऽप्यमुख्यब्रह्मदृष्टिमाक् स्यादुपक्रमो बाध्येत । तस्मात्परमेश्वर एवायं भवितुमर्हति । कर्तृत्वं चैतेषां पुरुषाणां न परमेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्येणावकल्पते । 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यपि नायं परिस्पन्दलक्षणस्य धर्माधर्मलक्षणस्य वा कर्मणो निर्देशः । तयोरन्यतरस्याप्यप्रकृतत्वात्, असंशब्दितत्वाच्च । नापि पुरुषाणामयं निर्देशः । एतेषां पुरुषाणां कर्तेत्येव तेषां निर्दिष्टत्वात्, लिङ्गवचनविगानाच्च । नापि पुरुषविषयस्य [2]करोत्यर्थस्य क्रियाफलस्य वायं निर्देशः, कर्तृशब्देनैव तयोरुपात्तत्वात् । पारिशेष्यात्प्रत्यक्षसन्निहितं जगत्सर्वनाम्नैतच्छब्देन निर्दिश्यते । क्रियत इति च तदेव जगत्कर्म ।

ननु जगदप्यप्रकृतमसंशब्दितं च ? सत्यमेतत् । तथाप्यसति विशेषोपादाने साधारणे-

---

राज्ञोऽपि मृषावादित्वप्रसङ्गादित्याह—यदि सोऽपीति । वेदितव्योऽपीत्यर्थः । मुख्यं पुरुषकर्तृत्वं ब्रह्मण एव लिङ्गं, प्राणजीवयोस्तन्नियम्यत्वेनास्वातन्त्र्यादित्याह—कर्तृत्वं चेति । यदुक्तं चलनादृष्टयोर्वाचकः कर्मशब्दः प्राणजीवयोरुपस्थापक इति, तन्नेत्याह—यस्येति । अनेकार्थकाच्छब्दादन्यतरार्थस्य प्रकरणादुपपदाद्वा ग्रहणं न्याय्यम् । अत्र प्रकरणोपपदयोरसत्त्वात्कस्य ग्रहणमिति संशये पुरुषकर्तृपदसान्निध्यात् क्रियत इति योगाज्जगद्ग्रहणमित्यर्थः । एतत्कर्मेतिप्रकृतपरामर्शात्पुरुषाः पूर्वोक्ताः कर्मशब्देन निर्दिश्यन्तामित्यत आह—नापीति । पौनरुक्त्यापातात्पुरुषाणां नपुंसकैकवचनेन परामर्शायोगाच्चेत्यर्थः । ननु पुरुषोत्पादकस्य कर्तुर्व्यापारः करोत्यर्थ उत्पादनं तस्य फलं पुरुषजन्म तदन्यतरवाची कर्मशब्दोऽस्त्वित्यत आह—नापीति । कर्तृशब्देनेति । क्रियाफलाभ्यां विना कर्तृत्वायोगात्कर्तृशब्देनैव तयोर्ग्रहणमित्यर्थः ।

जगतोऽपि प्रकरणोपपदे न स्त इत्युक्तमङ्गीकरोति—सत्यमिति । प्रकरणादिकं हि सर्वनाम्नः सङ्कोचकं, तस्मिन्नसति सामान्येन बुद्धिस्थं सर्वमेव गृह्यते । अत्र च सङ्कोचकासत्त्वात्सर्वार्थकेन सर्वनाम्ना बुद्धिस्थस्य कार्यमात्रस्य कर्मशब्दो वाचक इत्याह—तथापीति । किञ्च जगदेक-

---

स्थापित किया । यदि वह भी अमुख्यब्रह्म को ही कहेगा तो उस दशा में उपक्रम बाधित हो जायेगा । अतः परमेश्वर ही आदित्यादि पुरुषों का कर्ता सिद्ध होता है, परमेश्वर को छोड़कर अन्य कोई स्वतन्त्रकर्ता आदित्यादि पुरुषों का नहीं हो सकता । 'यस्य वैतत् कर्म' इस वाक्य द्वारा भी परिस्पन्दरूप अथवा धर्माधर्मरूप कर्म का निर्देश नहीं है क्योंकि उन दोनों में से किसी एक का प्रसङ्ग ही नहीं है और न उसका वाचक कोई शब्द ही सुनाई पड़ता है । आदित्यादि पुरुषों का यह निर्देश नहीं है किन्तु इन पुरुषों के कर्ता का वेदितव्यरूप से निर्देश किया गया है । ब्रह्म से भिन्न अर्थ स्वीकार करने पर लिङ्गवचन का विरोध भी आ जायेगा । पुरुषविषयक करोति अर्थ का अथवा क्रियाफल का निर्देश भी यहाँ पर नहीं है किन्तु कर्तृ शब्द द्वारा क्रिया एवं उसके फल का ग्रहण देखा जाता है । परिशेषतः प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय जगत् को एतद् सर्वनाम से बतलाया गया है, जो किया जाता है वही जगद्रूप कर्म है ।

जगत् का भी प्रसङ्ग नहीं है और न उसका वाचक कोई शब्द ही वहाँ दीखता है? यह आपका कहना ठीक है, फिर भी किसी विशेष का उपादान न होने पर साधारण सन्निहित अर्थ से सन्निहित वस्तु

---

१. स्थापयामास । २. उत्पत्त्यनुकूलव्यापारस्य ।

(१२३) जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

नार्थेन सन्निधानेन सन्निहितवस्तुमात्रस्यायं निर्देश इति गम्यते न विशिष्टस्य कस्यचित् । विशेषसन्निधानाभावात् । पूर्वत्र च जगदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादविशेषितं जगदेवेहोपादीयत इति गम्यते । एतदुक्तं भवति—य एतेषां पुरुषाणां जगदेकदेशभूतानां कर्ता, किमनेन विशेषेण, यस्य कृत्स्नमेव जगदविशेषितं कर्मेति । [1]वाशब्द एकदेशावच्छिन्न-कर्तृत्वव्यावृत्त्यर्थः । ये बालाकिना ब्रह्मत्वाभिमताः पुरुषाः कीर्तितास्तेषामब्रह्मत्वख्यापनाय विशेषोपादानम् । एवं ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन सामान्यविशेषाभ्यां जगतः कर्ता वेदितव्यतयोपदिश्यते । परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः ॥१६॥

अथ यदुक्तं वाक्यशेषगताज्जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तयोरेवान्यतरस्येह ग्रहणं न्याय्यं न परमेश्वरस्येति । तत्परिहर्तव्यम् । यदत्रोच्यते—[2]परिहृतं चैतत् 'नोपासात्रै-

देशोक्त्या जगत्प्रकृतमित्याह—पूर्वत्रेति । जगद्ग्रहे पुरुषाणामपि ग्रहात्पृथगुक्तिर्व्यर्थेत्यत आह—एतदुक्तमिति । स वेदितव्य इति सम्बन्धः । पुरुषमात्रनिरूपितं कर्तृत्वमिति भ्रान्तिनिरासार्थो वाशब्दः । ब्राह्मणा भोजयितव्याः परिव्राजकाश्चेत्यत्र यथा ब्राह्मणशब्दः परिव्राजकान्यविषयः तथात्र कर्मशब्दः पुरुषान्यजगद्वाचीत्याह—एवमिति । अस्तु जगत्कर्ता वेदितव्यः, परमेश्वरस्य किमायातमित्यत आह—परमेश्वरश्चेति ॥१६॥

सिद्धान्तमुक्त्वा पूर्वपक्षबीजमनूद्य दूषयति—जीवमुख्यप्राणलिङ्गादिति । उक्तमेव स्मारयति—

मात्र का ही यह निर्देश है ऐसा जान पड़ता है, न कि किसी विशिष्ट वस्तु का, क्योंकि वहाँ पर किसी विशेष का सन्निधान ही नहीं है। पहले तो जगत् के एकदेशभूत पुरुषों का विशेष उपादान होने से जगत् इस मन्त्र में सामान्यरूप से कहा गया था ऐसा जान पड़ता है । अभिप्राय यह है कि जगत् के एकदेशभूत इन आदित्यादि पुरुषों का जो कर्ता है फिर इस विशेषण के द्वारा जिसका सम्पूर्ण जगत् ही कर्म है क्यों बतलाया जाता है। 'वा' शब्द एकदेशावच्छिन्न कर्ता की व्यावृत्ति के लिए है अर्थात् बालाकि को ब्रह्म शब्द से जो पुरुष अभिप्रेत थे उन सब में अब्रह्मत्व बतलाने के लिए विशेष ग्रहण किया गया है । इस प्रकार ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय से सामान्य एवं विशेष द्वारा जगत् का कर्ता वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट है और सभी उपनिषदों में सम्पूर्ण जगत् का कर्ता परमेश्वर ही निश्चित हुआ है, उसी का निर्देश इस कौषीतकि श्रुति में भी किया गया है । यहाँ ब्राह्मण परिव्राजकन्याय से यह बतलाना अभीष्ट है कि 'ब्राह्मण को भोजन कराओ और परिव्राजक को' इस वाक्य में जिस प्रकार ब्राह्मण शब्द परिव्राजक से भिन्न अर्थ का ग्राहक है वैसे ही 'यस्य वैतत् कर्म' इस वाक्य में कर्म शब्द पुरुष भिन्न जगत् का वाचक है। जगत्कर्ता परमेश्वर वेदितव्य है, उसी का निर्धारण सभी उपनिषदों में किया गया है ॥१६॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् (ललिता)

सिद्धान्त कहने के बाद पूर्वपक्षबीज का अनुवादकर अग्रिम श्लोक से उसका खण्डन करते हैं कि आप ने वाक्यशेषगत जीवलिङ्ग और मुख्यप्राणलिङ्ग के आधार पर इन दोनों में से किसी एक

१. एवार्थे वा शब्द इति भावः । २. प्रथमपाद (१-१-३१) शेष इति शेषः ।

विध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' (ब्र० सू० १-१-३१) इत्यत्र । त्रिविधं ह्यत्रोपासनमेवं सति प्रसज्येत, जीवोपासनं मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति । न चैतन्न्याय्यम् । उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि ब्रह्मविषयत्वमस्य वाक्यस्यावगम्यते । तत्रोपक्रमस्य तावद्ब्रह्मविषयत्वं 'दर्शितम् । उपसंहारस्यापि निरतिशयफलश्रवणाद्ब्रह्मविषयत्वं दृश्यते— 'सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' इति ।

नन्वेवं सति प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्यं निर्णीयेत ? न निर्णीयते । 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यस्य ब्रह्मविषयत्वेन तत्रानिर्धारितत्वात् । तस्मादत्र जीवमुख्यप्राणशङ्का पुनरुत्पद्यमाना निवर्त्यते । प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मविषयो दृष्टः 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६-८-२) इत्यत्र । जीवलिङ्गमप्युपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मविषयत्वादभेदाभिप्रायेण योजयितव्यम् ।।१७।।

त्रिविधमिति । **श्रैष्ठ्यं गुणाधिक्यम्**, आधिपत्यं नियन्तृत्वम् । **स्वाराज्यमनियम्यत्वमिति भेदः ।**

'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि नेष्यते' इत्युक्तं चेत् पुनरुक्तिः स्यादिति शङ्कते— नन्वेवमिति । **कर्मपदस्य रूढ्या पूर्वपक्षप्राप्तौ तन्निरासार्थमस्यारम्भो युक्त इत्याह**—नेत्यादिना ।[1] **प्राणशब्दजीवलिङ्गयोर्गतिमाह**—प्राणशब्दोऽपीति । **मनो जीवः** ।।१७।।

का ग्रहण करना इस प्रसङ्ग में उचित कहा था, परमेश्वर का ग्रहण करना उचित नहीं; इस आक्षेप का परिहार करना चाहिए। जीवलिङ्ग और मुख्यप्राणलिङ्ग को देखते हुए यदि तीनों की उपासना का आग्रह करोगे तो इसका परिहार पहले प्रथमाध्याय प्रथम पाद इकतीसवें सूत्र में किया जा चुका है। आप के कथनानुसार त्रिविध उपासना का प्रसङ्ग आ जायेगा–जीव उपासना, मुख्यप्राण उपासना और ब्रह्म उपासना, किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है । उपक्रम-उपसंहार के आधार पर यह वाक्य ब्रह्मविषयक जाना जाता है उनमें से **'ब्रह्म ते ब्रवाणि'** इस वाक्य द्वारा उपक्रम में ब्रह्मविषयत्व दिखलाया जा चुका है, उपसंहार में भी निरतिशय फल का श्रवण होने से ब्रह्मविषयत्व ही समझा जाता है 'वह सम्पूर्ण पापों को नष्ट कर सभी भूतों में गुणाधिक्यरूप श्रेष्ठत्व नियन्त्रित्वरूप आधिपत्य और अनियम्यत्वरूप स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार उस ब्रह्म को जानता है।'

पुनरुक्ति की आशङ्का करते हैं कि इस प्रकार प्रतर्दनवाक्य के निर्णय से ही इस अजातशत्रु के वाक्य का भी निर्णय मान लेना चाहिए ? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'जिसका यह सम्पूर्ण जगत् कर्म है' इस वाक्य को ब्रह्मविषयकरूप में प्रतर्दनाधिकरण में निर्धारित नहीं किया गया है। अतः यहाँ पर जीव-मुख्यप्राण शङ्का पुनः उत्पन्न होती है जिसका निराकरण इस सूत्र से किया गया है और जो **'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'** इस वाक्य में ब्रह्मविषयक प्राण शब्द देखा गया है वह जीवलिङ्ग भी ब्रह्म के साथ अभेदाभिप्राय से मान लेना चाहिए क्योंकि उपक्रम-उपसंहार द्वारा जब कौषीतकि वाक्य ब्रह्मविषयक निश्चित हो चुका है। अतः मनः पदवाच्य जीव ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाता है इस अभिप्राय से ब्रह्म अर्थ में प्राण शब्द का प्रयोग किया गया है ।।१७।।

---

१. ब्रह्म ते ब्रवाणीत्यादिना ।

(१२४) अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

अपिच नैवात्र विवदितव्यं जीवप्रधानं वेदं वाक्यं स्याद्ब्रह्मप्रधानं वेति । यतोऽन्यार्थं जीवपरामर्शं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमस्मिन्वाक्ये जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात् ? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् । प्रश्नस्तावत्सुप्तपुरुषप्रतिबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयो दृश्यते—'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत्कुत एतदागात्' ? (कौ० ब्रा० ४-१६) इति । प्रतिवचनमपि 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इत्यादि 'एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ब्रा० ४-२०) इति च । सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति । परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा । तस्माद्यत्रास्य जीवस्य निःसम्बोधतास्वच्छतारूपः स्वाप उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहितं स्वरूपं, यतस्तद्भ्रंशरूपमागमनं, सोऽत्र परमात्मा वेदितव्यतया

जीवलिङ्गेन ब्रह्मैव लक्ष्यत इत्युक्तम् । इदानीं तल्लिङ्गेन जीवोक्तिद्वारा ब्रह्म ग्राह्यमित्याह—अन्यार्थमिति । जीवपरामर्शस्य जीवाधिकरणब्रह्मज्ञानार्थत्वे प्रश्नमाह—क्वैष इति । हे बालाके ! एतच्छयनं विशेषज्ञानाभावरूपं यथा स्यात्तथैष पुरुषः क्वाशयिष्ट ? कस्मिन्नधिकरणे शयनं कृतवानित्यर्थः । एकीभावाश्रयज्ञानार्थं पृच्छति—क्व वेति । एतद्भवनमेकीभावरूपं यथा स्यात्तथा एषः पुरुषः क्वाभूत्सुप्तः । केनैक्यं प्राप्नोतीति यावत् । उत्थानापादानं पृच्छति—कुत इति । एतदागमनमक्यभ्रंशरूपं यथा स्यात्तथा पुरुषः कुत आगत इत्यर्थः । प्रश्नमुक्त्वा व्याख्यानमाह—प्रतिवचनमिति । शयनभवनयोराधार उत्थानापादानं च प्राणशब्दितं ब्रह्मैवेत्यर्थः । उत्तरे प्राणोक्तेः प्रश्नोऽपि प्राणविषय [1] इत्यत आह—सुषुप्तिकाले चेति । जगद्धेतुत्वजीवैक्याभ्यां प्राणोऽत्र ब्रह्मेत्यर्थः । जीवोक्तेरन्यार्थत्वमुपसंहरति–तस्मादिति । निःसम्बोधता विशेषधीशून्यता । स्वच्छता विक्षेपमलशून्यता । भेदभ्रान्तिशून्यता स्वरूपैक्यमाह–उपाधीति । प्रश्नव्याख्यानयोर्ब्रह्मविषयत्वे शाखान्तरसंवादमाह—

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके (ललिता)

इस वाक्य में जीव का प्रसङ्ग ब्रह्मबोध के लिए आया हुआ है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं, अतः यह कौषीतकि वाक्य जीवप्रधान है अथवा ब्रह्मप्रधान है, इस प्रकार विवाद में नहीं पड़ना चाहिए । प्रश्न एवं प्रतिवचन से भी ऐसा ही सिद्ध होता है । सुषुप्त पुरुष को जगाने के माध्यम से प्राणादि से भिन्न जीव अर्थ का बोध होता है, वह जीव ब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न है, इस बात को बतलाने के लिए यहाँ प्रसङ्ग के प्रारम्भ में 'हे बालाकि ! यह पुरुष कहाँ सो रहा था, कहाँ पर यह था और पुनः कहाँ से यह जाग्रत में आया है ?' ऐसा प्रश्न देखा जाता है और 'जिस समय सोया हुआ जीव किसी स्वप्न को नहीं देखता है, उस समय प्राण के साथ अभिन्न हो जाता है', 'इस आत्मा से ही सभी प्राण यथास्थान विशेषरूप से प्रतिष्ठित होते हैं ।' इन प्रतिवचन वाक्यों के द्वारा सुषुप्तिकाल में जीव परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त कर लेता है और उसी परब्रह्म से प्राणादि जगत् उत्पन्न होता है ऐसी वेदान्त की मर्यादा कही है । इसलिए जहाँ पर इस जीव की विशेषबुद्धिशून्यतारूप निःसम्बोधता, विशेषमलशून्यतारूप स्वच्छता और भेदभ्रान्तिशून्यतारूप स्वाप होता है उससे भ्रंशरूप आगमन पुनः

---

१. इत्यांशक्याहेत्यर्थः ।

६. वाक्यान्वयाधिकरणम् । (सू० १९-२२)

आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तः संसारी वा परेश्वरः । संसारी प्रतिजायादिभोगप्रीत्यास्य सूचनात् ।
अमृतत्वमुपक्रम्य तदन्तेऽप्युपसंहृतम् । ससारीणमनूद्यातः परेशत्वं विधीयते ॥

श्रावित इति गम्यते । अपि चैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रु-संवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति—'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागात्' (बृ० २-१-१६) इति प्रश्ने । प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते' इति । आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८-१-१) इत्यत्र । 'सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' इति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युच्चरणमामनन्तः परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तीति गम्यते । प्राणनिराकरणस्यापि सुषुप्तपुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्तोपदेशो-ऽभ्युच्चयः ॥१८॥

अपि चैवमेके शाखिन इति । **ननु तत्राकाशः सुषुप्तिस्थानमुक्तम्, न ब्रह्मेत्यत** आह—आकाशेति । **उपाधि-द्वारा प्रमात्रात्मजन्महेतुत्वाच्चाकाशो ब्रह्मेत्याह**—सर्व इति । **एवं जीवनिरासार्थकत्वेन सूत्रं व्याख्याय प्राणनिरासपरत्वेनापि व्याचष्टे**—प्राणेति । **अस्मिन्वाक्ये प्राणोपदेशं ब्रह्मज्ञानार्थं मन्यते जैमिनिः, उक्तप्रश्नव्याख्यानाभ्यां वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वावगमात् । अपि चैके शाखिन एवमेव प्राणातिरिक्तं जीवात्मानमामनन्तः प्राणस्य वाक्यार्थत्वं वारयन्तीति सूत्रयोजना । अतिरिक्तजीवोपदेशः प्राणनिरा-करणस्याप्यभ्युच्चयो हेत्वन्तरमिति भाष्यार्थः । तस्मादिदं वाक्यं ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥१८॥**

होता है वह परमात्मा ही वेदितव्यत्वेन श्रुति में सुना गया है ऐसा समझा जाता है । ऐसा ही वाज-सनेयिशाखावाले बालाकि और अजातशत्रुसम्वाद में विज्ञानमय शब्द से जीव को बतलाकर उससे भिन्न परमात्मा का वर्णन करते हैं कि 'यह विज्ञानमय पुरुष उस समय कहाँ था और जगत् में कहाँ से आया ? इस प्रश्न के उत्तर में भी ऐसा ही कहा है' कि यह जीव हृदयान्तवर्ती जो आकाश है उसमें सोता है, इस वाक्य में आकाश शब्द परमात्मा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । 'हृदय के भीतर छोटा सा आकाश है' यहाँ पर सभी सोपाधिक आत्मा की उत्पत्ति परमात्मा से ही बतलायी गयी है, इसलिए परमात्मा ही जगत्कारणरूप से सर्वत्र कहा जाता है । सुषुप्त पुरुष के उत्थापन से यही अर्थ सिद्ध होता है, कि जगत्कारण परब्रह्म प्राणादि से व्यतिरिक्त है, प्राणनिराकरण का भी अभ्युच्चय हेत्वन्तर के लिए है । अतः यह कौषीतकि वाक्य भी ब्रह्म में ही समन्वित होता है, तद्भिन्न अर्थ में नहीं, यह निश्चित हुआ ॥१८॥

६. वाक्यान्वयाधिकरण

१. **संगति—'ब्रह्म ते ब्रवाणि'** इस उपक्रमवाक्य के बल से संदिग्ध वाक्य का ब्रह्मपरत्व बतलाया गया था ऐसी स्थिति में **'न वा अरे पत्युः कामाय'** (बृ० ४-५-६) इत्यादि जीवोपक्रम के बल से मैत्रेयीब्राह्मणस्थ वाक्य को जीवपरक मानना चाहिए । ऐसी दृष्टान्तसंगति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

२. **विषय—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** (बृ० ४-५-६) इत्यादि श्रुति इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

(१२४) वाक्यान्वयात् ॥१९॥

बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणेऽधीयते—'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्युपक्रम्य 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४-५-६) इति । तत्रैतद्विचिकित्स्यते—किं विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यश्रोतव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित्परमात्मेति । कुतः पुनरेषा विचिकित्सा ? प्रियसंसूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्विज्ञानात्मोपदेश इति प्रतिभाति । तथात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशात्परमात्मोपदेश इति । किं तावत्प्राप्तम् ? विज्ञानात्मोपदेश इति । कस्मात् ? उपक्रमसामर्थ्यात् । पतिजायापुत्रवित्तादिकं हि भोग्यभूतं सर्वं जगदात्मार्थतया प्रियं भवतीति प्रियसंसूचितं भोक्तारमात्मानमुपक्रम्यानन्तरमिदमात्मनो दर्शनाद्युप-

---

वाक्यान्वयात् । **विषयवाक्यमाह**—बृहदिति । **पत्यादेरात्मशेषत्वेन प्रियत्वादात्मैव सर्वशेषी प्रियतमः, अतोऽन्यत्परित्यज्याऽऽत्मैव द्रष्टव्यः । दर्शनार्थं श्रवणादिकं कार्यमित्यर्थः।** प्रियसंसूचितेनेति । **पतिजायादिभिः प्रियैर्भोग्यैर्जीवतयानुमितेनेत्यर्थः । यथा 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २-१-१) इत्युपक्रमबलाद्वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वं, तथात्र जीवोपक्रमादस्य वाक्यस्य जीवपरत्वमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति**—किं तावदिति । **पूर्वपक्षे वाक्यस्य जीवोपास्तिपरत्वं, सिद्धान्ते ज्ञेये प्रत्यग्ब्रह्मणि समन्वय इति फलम् ।**

---

३. **संशय**—इस श्रुति में द्रष्टव्यत्वादि रूप से जीव का उपदेश है अथवा परमात्मा का ? ऐसा संशय होता है।

४. **पूर्वपक्ष**—पति-जायादि भोग की प्रीति होने से संसारी जीव को ही यहाँ पर द्रष्टव्य मानना उचित होगा।

५. **'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि'** (बृ० २-४-३) इस अमृतत्व का उपक्रमकर अन्त में उसी का उपसंहार भी दीखता है अतः संसारीजीव का अनुवादकर परमात्मा अर्थ का प्रतिपादन द्रष्टव्यत्वादिरूप से इस श्रुति में किया गया है।

वाक्यान्वयात् (ललिता)

बृहदारण्य मैत्रयीब्राह्मण में 'पति के सुख के लिए पति प्यारा नहीं होता किन्तु अपने सुख के लिए होता है' यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर 'अरे मैत्रेयि ! सभी के सुख के लिए सभी प्यारे नहीं होते किन्तु अपने सुख के लिए सभी प्यारे होते हैं। इसलिए हे मैत्रेयि ! आत्मा ही दर्शनार्ह है, वही श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के योग्य है। हे मैत्रेयि ! आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से यह सब कुछ विदित हो जाता है।' यहाँ तक जो कहा गया है उस पर यह संशय होता है कि क्या विज्ञानात्मा जीव ही द्रष्टव्य, श्रोतव्यादि रूप से बतलाया गया है अथवा परमात्मा। यह संशय ही क्यों होता है ? प्रियसंसूचित भोक्ता आत्मा से प्रसङ्ग प्रारम्भकर विज्ञानात्मा का उपदेश है ऐसा प्रतिभासित होता है और आत्मविज्ञान से सर्वविज्ञान का उपदेश होने के कारण परमात्मा का उपदेश जान पड़ता है, बस यही संशय का बीज है। ऐसी स्थिति में पूर्वपक्ष कहता है कि यहाँ पर जीवात्मा का ही उपदेश है क्योंकि वाक्यारम्भसामर्थ्य से पति, पत्नी, पुत्र और वित्तादि भोग्यरूप सम्पूर्ण जगत् आत्मा के लिए प्रिय होता है। इस प्रियसंसूचित भोक्ता आत्मा का प्रसङ्ग प्रारम्भकर तत्पश्चात्

विज्ञायमानं कस्यान्यस्यात्मनः स्यात् । मध्येऽपि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन ब्रुवन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति । तथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहरन्विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं दर्शयति । तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचनं भोक्त्रर्थत्वाद्भोग्यजातस्यौपचारिकं द्रष्टव्यमिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मोपदेश एवायम् । कस्मात् ? वाक्यान्वयात् । वाक्यं हीदं पौर्वापर्येणावेक्ष्यमाणं परमात्मानं प्रति अन्वितावयवं लक्ष्यते । कथमिति, तदुपपाद्यते—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' इति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि' इत्यमृतत्वमाशासानाया[1] मैत्रेय्या याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञानमिदमुपदिशति । न चान्यत्र परमात्मविज्ञानाद-

इदं प्रत्यक् । महदपरिच्छिन्नम् । भूतं सत्यम् । अनन्तं नित्यम् अपारं सर्वगतं चिदेकरसम् । एतेभ्यः कार्यकारणात्मना जायमानेभ्यो भूतेभ्यः साम्येनोत्थाय भूतोपाधिकं जन्मानुभूय तान्येव भूतानि लीयमानान्यनुसृत्य विनश्यति । औपाधिकमरणानन्तरं विशेषधीर्नास्तीति श्रुत्यर्थः । विज्ञातारं विज्ञानकर्तारम् । भोक्तरि ज्ञाते भोग्यं ज्ञातमित्युपचारः ।

मोक्षसाधनज्ञानगम्यत्वादिलिङ्गैर्वाक्यस्यान्वयाद्ब्रह्मण्येव तात्पर्यावगमाद्ब्रह्मप्रमापकत्वमिति सिद्धान्तयति—एवमिति । वित्तेन । तत्साध्येन कर्मणेत्यर्थः । भेदनिन्दापूर्वकमभेदसाधनेनैकविज्ञानात्-

आत्मा के ही दर्शनादि का उपदेश मिलता है। ऐसी स्थिति में यह उपदेश परमात्मा से भिन्न किसी आत्मा का बोध कराता है। मध्य में भी कहा है कि 'जो महद्भूत अर्थात् अपरिच्छिन्नरूप है, अन्त रहित है, नित्य, अपार, सर्वव्यापक, चिदेकरस है, इन कार्यकारणरूप से उत्पन्न सभी भूतों से सामान्यतः ऊपर उठकर, भूतोपाधिक जन्म का अनुभवकर, उन उपाधियों के लीन होने के बाद वह लीन हो जाता है, औपाधिक मरण के बाद विशेषज्ञान नहीं रहता' इस वाक्य द्वारा प्रसङ्गागत महद्भूत द्रष्टव्यतत्त्व का ही भूतों की अपेक्षा विज्ञानात्मभाव से समुत्थान बतलाते हुए श्रुति विज्ञानात्मा जीव को ही द्रष्टव्य कहती है और 'अरे ! विज्ञानात्मा को किससे जाने ?' इस कर्ता वाचक शब्द से उपसंहार बतलाते हुए यहां पर विज्ञानात्मा का ही उपदेश श्रुति दिखलाती है । अतः आत्मविज्ञान से सर्वविज्ञानवचन भोक्ता के लिए होने से भोग्यसमुदाय में द्रष्टव्यत्व औपचारिक है ?

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि यह उपदेश परमात्मा के लिए ही है क्योंकि पूर्वापर के ऊपर दृष्टिपात करने से परमात्मा में ही वाक्य का अन्वय लक्षित होता है। इसका उपपादन किस प्रकार होता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं कि 'हे मैत्रेयि ! वित्त से अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती।' महर्षि याज्ञवल्क्य के इस वाक्य को सुनकर मैत्रेयि ने कहा कि 'जिसे लेकर मैं अमर नहीं हो सकती उससे मैं क्या करूँगी। अमरत्व का साधन जिसे आप समझते हैं वही मुझे बतलावें।' इस वाक्य द्वारा अमृतत्व की आशा रखने वाली मैत्रेयी को महर्षि याज्ञवल्क्य ने

१. आशासानाया मैत्रेय्या इति षष्ठ्यन्त पाठः क्वचित्पुस्तकेषूपलभ्यते । २. परिणतेभ्यः ।

मृतत्वमस्तीति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति । तथा चात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्यमानं नान्यत्र परमकारणविज्ञानान्मुख्यमवकल्पते । न चैतदौपचारिकमाश्रयितुं शक्यं, यत्कारणमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायानन्तरेण ग्रन्थेन तदेवोपपादयति—'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादिना । यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगदात्मनोऽन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति तं मिथ्यादर्शिनम् तदेव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्पराकरोतीति भेददृष्टिमपोद्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति सर्वस्य वस्तुजातस्यात्माव्यतिरेकमवतारयति । दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च(बृ० ४-५-८)तमेवाव्यतिरेकं द्रढयति।'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० ४-५-११) इत्यादिना च प्रकृतस्यात्मनो नामरूपकर्मप्रपञ्चकारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति । तथैवैकायनप्रक्रियायामपि(बृ० ४-५-१२)सविषयस्य सेन्द्रियस्य सान्तःकरणस्य प्रपञ्चस्यैकायनमनन्तरमबाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनं व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति । तस्मात्परमात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति गम्यते ।।१६।।

सर्वविज्ञानस्य समर्थनादौपचारिकत्वं न युक्तमित्याह—न चै दौपचारिकयित्यादिना । पराकरोति । श्रेयोमार्गाद् भ्रंशयति । यथा दुन्दुभिशङ्खवीणाशब्दसामान्यग्रहणेनैव गृह्यमाणास्तदवान्तरविशेषाः शुक्तिग्रहणग्राह्यरजतवत् सामान्ये कल्पितास्ततो न भिद्यन्ते, एवमात्मभानभास्यं सर्वमात्ममात्रमिति निश्चितमित्याह—दुन्दुभ्यादीति । एवमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया मुख्यत्वाद् ब्रह्मनिश्चयः । सर्वस्रष्टृत्वलिङ्गादपीत्याह—अस्य महत इति । ऋग्वेदादिकं नाम । इष्टं हुतमिति कर्म । अयञ्च लोकः परश्च लोक इति रूपम् । किञ्च 'स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्' (बृ० २-४-११) इति कण्डिकया सर्वप्रपञ्चस्य मुख्यलयाधारत्वमात्मनो ब्रह्मत्वे लिङ्गमित्याह—तथैवैकायनेति ।।१६।।

आत्मविज्ञान का उपदेश किया । परमात्म विज्ञान को छोड़कर अन्य किसी के ज्ञान से अमृतत्व नहीं मिलता है, ऐसा श्रुति-स्मृति के रहस्यवेत्ता कहते हैं । तथा आत्मविज्ञान से सर्वविज्ञान जो कहा गया है वह भी परमकारण परमात्मविज्ञान को छोड़कर अन्य किसी की भी मुख्यरूप से कल्पना नहीं कर सकते और न इसे औपचारिक ही मान सकते हैं, क्योंकि आत्मविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञाकर अव्यवहित उत्तरग्रन्थ से उसी का उपपादन करते हैं । 'उसे ब्राह्मण पराजित कर डालता है जो अपने से भिन्न ब्राह्मण को समझता है' इस वाक्य द्वारा उसी प्रतिज्ञात तत्त्व का उपदेश किया गया है । जो ब्राह्मण क्षत्रियादि जगत् को आत्मा से भिन्न स्वतन्त्र सत्तावाला जानता है उस मिथ्यादर्शी को भ्रान्तिज्ञान के विषयभूत ब्राह्मण, क्षत्रियादि जगत् ही पराभूत कर डालते हैं अर्थात् वह उसके पराभव का कारण बन जाता है' इस प्रकार भेददृष्टि की निन्दा कर 'यह सब जो कुछ भी दृश्य है यह आत्मा ही है' इस वाक्य द्वारा सम्पूर्ण वस्तुसमुदाय को आत्मा से अभिन्न बतलाया गया है । उसी अभिन्न परमात्मतत्त्व को दुन्दुभ्यादि दृष्टान्तों से दृढ़ किया गया है 'यह ऋग्वेदादि इस महद्भूत परमात्मा का निःश्वासरूप है' इत्यादि वाक्य द्वारा प्रसङ्गागत आत्मा को ही नाम-रूप एवं कर्मात्मक प्रपञ्च का कारण बतलाते हुए श्रुति इसे परमात्मा बतलाती है । वैसे ही 'सम्पूर्ण जलों का एकायन समुद्र है, इस कण्डिका द्वारा एकायन प्रक्रिया में भी विषय, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण के सहित प्रपञ्च का एकायन बाह्याभ्यन्तरभाव से रहित, सर्वथा प्रज्ञानघन को बतलाते हुए इसे परमात्मरूप में श्रुति बोध कराती है । अतः यह दर्शनादि उपदेश परमात्मा के लिए ही हैं । ऐसा जान पड़ता है ।।१६।।

(१२५) प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

(१२६) उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

यत्पुनरुक्तं प्रियसंसूचितोपक्रमाद्विज्ञानात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति, अत्र ब्रूमः—
अस्त्यत्र प्रतिज्ञा 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति, इदं सर्वं यदयमात्मा' इति च तस्याः प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यत्प्रियसंसूचितस्यात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसङ्कीर्तनम् । यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽन्यः स्यात्ततः परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं यत्प्रतिज्ञातं तद्धीयेत । तस्मात्प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥२०॥
विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातोपाधिसम्पर्कात्कलुषीभूतस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात्सम्प्रसन्नस्य देहादिसङ्घातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मैक्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रमणमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । श्रुतिश्चैवं भवति—'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८-१२-३) इति । क्वचिच्च जीवाश्रयमपि नामरूपं नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं

जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदसत्त्वादभेदांशेनेदं जीवोपक्रमणं प्रतिज्ञासाधकमित्याश्मरथ्यमतम् ॥२०॥
सत्यसंसारदशायां भेद एव, मुक्तावेवाभेद इत्यौडुलोमिमतम् । तत्र मानमाह— श्रुतिश्चेति । समुत्थानमुत्क्रान्तिः । ननु संसारस्यौपाधिकत्वात् सर्वदैवाभेद इत्याशङ्क्य दृष्टान्तबलेन संसारस्य स्वाभाविकत्वमित्याह—क्वचिच्चेति । 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय'

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः (ललिता)

प्रियसंसूचित शब्द से प्रसङ्ग प्रारम्भ कर जीव का ही यह दर्शनादि उपदेश किया गया है ऐसा जो आप ने कहा था। उस पर हम कहते हैं कि यह तो 'आत्मविज्ञान से सर्वविज्ञात हो जाते हैं क्योंकि यह सब आत्मा ही तो है' इस वाक्य द्वारा जो प्रतिज्ञा की गयी थी उसकी सिद्धि के लिए यह लिङ्ग है जो प्रियसंसूचित आत्मा में द्रष्टव्यत्वादि का वर्णन है । यदि परमात्मा से जीव भिन्न होगा, तो परमात्मा का विज्ञान हो जाने पर भी जीवात्मा विज्ञात नहीं हो सकता, फिर तो एक के ज्ञान से सर्वविज्ञान की जो प्रतिज्ञा की गयी थी, वह भंग हो जाती । अतः प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए जीव और ब्रह्म में अभेदांश को लेकर प्रसङ्ग प्रारम्भ किया था, ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥२०॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः (ललिता)

देह, इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि-रूप संघात उपाधि के सम्पर्क से जीवात्मा कलुषित हो गया था, वही ज्ञान, ध्यानादि साधनों के अनुष्ठान से जब स्वच्छ हो जाता है और देहादि संघात से ऊपर उठ जाता है, तब उसका परमात्मा के साथ अभेद हो जाता है, ऐसे अभेद अंश को लेकर प्रसङ्ग प्रारम्भ हुआ है ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं । इस विषय में श्रुति भी है 'यह जीव इस शरीर से ऊपर उठकर कूटस्थभावरूप ज्योति को प्राप्त करता है । पुनः अपने अविच्छिन्न ब्रह्मरूप से अभिनिष्पन्न होता है ।' कहीं-कहीं पर जीवाश्रित नाम रूप भी नदी दृष्टान्त के द्वारा उक्त अर्थ को ही ज्ञापित करता है 'जैसे निरन्तर बहने वाली नदियाँ अपने नाम-रूप को छोड़ कर समुद्र में मिल जाती हैं,

(१२८) अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥२२॥

गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।' (मुण्ड० ३-२-८) इति । यथा लोके नद्यः स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय समुद्रमुपयन्त्येवं जीवोऽपि स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय परं पुरुषमुपैतीति हि तत्रार्थः प्रतीयते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यतायै ॥२१॥

अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदेनोपक्रमणमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते । तथा च ब्राह्मणम्—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा. ६-३-२)इत्येवञ्जातीयकं परस्यैवात्मनो जीवभावेनावस्थानं दर्शयति । मन्त्रवर्णश्च—'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३-१२-७) इत्येवञ्जातीयकः । नच तेजःप्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य पृथक्सृष्टिः श्रुता, येन परस्माद्‌वात्मनोऽन्यस्तद्विकारो जीवः स्यात् । काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो

(मुण्ड० ३ २-८) इति नदीनिदर्शनं व्याचष्टे—यथा लोक इति ॥२१॥

सिद्धान्तमाह—अवस्थितेरिति । अत्यन्ताभेदज्ञापनार्थं जीवमुपक्रम्य द्रष्टव्यत्वादयो ब्रह्मधर्मा उक्ता इत्यर्थः । एतेन जीवलिङ्गानां ब्रह्मपरत्वकथनार्थमिदमधिकरणं न भवति, तस्य प्रतर्दनाधिकरणे कथितत्वात् । नापि जीवानुवादेन ब्रह्मप्रतिपादनार्थम्, 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः' इत्यत्र गतत्वात् । अतो व्यर्थमिदमधिकरणमिति निरस्तम् । जीवोद्देशेन ब्रह्मत्वप्रतिपादने भेदोऽप्यावश्यक इति भेदाभेदशङ्का-प्राप्तौ कल्पितभेदेनोद्देश्यत्वादिकं, स्वतोऽत्यन्ताभेद इति ज्ञापनार्थमस्यारम्भात् । ज्ञायते चात्र लिङ्ग-मात्मशब्देनोपक्रान्तस्य जीवस्य धर्मिणो ब्रह्मणो धर्म्यन्तरस्य ग्रहणं विनैव ब्रह्मधर्मकथनं, भेदाभेदयोस्तु धर्मिद्वयग्रहः स्यादिति मन्तव्यम् । धीरः सर्वज्ञः । सर्वाणि रूपाणि कार्याणि, विचित्य सृष्ट्वा, तेषां नामानि च कृत्वा तेषु बुद्धयादिषु प्रविश्याभिवदनादिकं कुर्वन् यो वर्तते, तं विद्वानिहैवामृतो भवतीति मन्त्रोऽपि जीवपरयोरैक्यं दर्शयतीत्याह—मन्त्रेति । जीवस्य ब्रह्मविकारत्वान्नैक्यमित्यत आह—नच तेज इति । मतत्रयं विभज्य दर्शयति—काशेत्यादिना । कियानपीति । अभेदवद्भेदोऽपीत्यर्थः ।

वैसे ही ज्ञानी नाम-रूप से छूटकर दिव्य परमपुरुष को प्राप्त कर लेता है' इस वाक्य द्वारा कहा गया है कि जिस प्रकार लोक में नदियाँ स्वाश्रित नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में मिल जाती हैं, ऐसे ही जीव भी स्वाश्रित नाम-रूप को छोड़कर परमपुरुष परमात्मा को प्राप्त कर जाता है । यह मन्त्रार्थ दृष्टान्त-दार्ष्टान्त की तुल्यता का अवबोधक है ॥२१॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः (ललिता)

इसी परमात्मा के इस जीवात्मभाव के द्वारा भी अवस्थान होता है, इसीलिए अभेदांश को लेकर प्रसङ्ग प्रारम्भ हुआ था, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य मानते है । ऐसा ही 'जीवात्मारूप से प्रविष्ट होकर मैं नाम-रूप का व्याकरण करूँगा' यह ब्राह्मणवाक्य परमात्मा का ही जीवभाव से अवस्थान बतलाता है। 'धीरपुरुष सभी रूपों का विचार कर उसे नाममात्र बतलाता हुआ जब अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है' ऐसा मन्त्रवर्ण भी उक्त अर्थ को ही कहता है । अग्नि इत्यादि की सृष्टिप्रसङ्ग में जीवात्मा की पृथक् सृष्टि नहीं कही गयी है जिससे कि परमात्मा से भिन्न परमात्मा का विकार जीव को माना जाय । इसीलिए काशकृत्स्न आचार्य के मत में अविकृत

जीवो नान्य इति मतम् । आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं, तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात्कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते । औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते । तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते, प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवं च सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते । विकारात्मकत्वे हि जीवस्याभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसम्बन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पेत । अतश्च स्वाश्रयस्य नामरूपस्यासम्भवादुपाध्याश्रयं नामरूपं जीव उपचर्यते । अतएवोत्पत्तिरपि जीवस्य क्वचिदग्निविस्फुलिङ्गोदाहरणेन श्राव्यमाणोपाध्याश्रयैव वेदितव्या ।

यदप्युक्तं प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन दर्शयन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयतीति । तत्रापीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या ।

तत्रान्त्यस्य मतस्योपादेयत्वमाह—तत्र काशेति । सोऽयं देवदत्त इतिवत्तत्वमस्यादिवाक्येभ्यः परापरयोरत्यन्ताभेदः प्रतिपादयितुमिष्टोऽर्थः, तदनुसारित्वादित्यर्थः, ज्ञानान्मुक्तिश्रुत्यन्यथानुपपत्त्याप्ययमेव पक्ष आदेय इत्याह—एवं चेति । अत्यन्ताभेदे सतीत्यर्थः । कल्पितस्य भेदस्य ज्ञानान्निवृत्तिः सम्भवति न सत्यस्येत्यपि द्रष्टव्यम् । यदुक्तं नदीवृष्टान्तात्संसारः स्वाभाविक इति, तत्रेत्याह—अतश्चेति । अनामरूपब्रह्मत्वाज्जीवस्येत्यर्थः । उत्पत्तिश्रुत्या जीवस्य ब्रह्मणा भेदाभेदावित्यत आह—अत एवेति । उत्पत्तेः स्वाभाविकत्वे मुक्त्ययोगादेवेत्यर्थः ।

अत्र पूर्वपक्षे बीजत्रयमुक्तं । जीवेनोपक्रमः, परस्यैव समुत्थानश्रुत्या जीवाभेदाभिधानं, विज्ञातृशब्दश्चेति । तत्राद्यं बीजं त्रिसूत्र्या निरस्तम् । सम्प्रति द्वितीयमनूद्य तथैव निराचष्टे—यदप्युक्त-

---

परमेश्वर ही जीव है, भिन्न नहीं, ऐसी मान्यता है। यद्यपि जीवात्मा परमात्मा से अभिन्नरूप में आश्मरथ्य को अभिप्रेत है फिर भी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए स्वापेक्षत्व का कथन होने से जीव-ब्रह्म में कुछ कार्यकारणभाव भी अभिप्रेत है ऐसा जान पड़ता है। औडुलोमि पक्ष में यह स्पष्ट ही है कि अवस्थान्तर की अपेक्षा से ही भेदाभेद है। इनमें काशकृत्स्नीय मत श्रुत्यनुकूल जान पड़ता है क्योंकि जो अर्थप्रतिपादन करना इष्ट है उसके अनुसार ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से भी सिद्ध होता है। इस प्रकार अत्यन्ताभेद सिद्ध होने पर उसके ज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता है। जीव को परमात्मा का विकार मानने पर विकार का प्रकृति के साथ सम्बन्ध होता है ऐसी स्थिति में जीव के प्रलय का प्रसङ्ग आ जाने पर उसके ज्ञान से अमरत्व की कल्पना नहीं कर सकते। अतः चेतन के आश्रित नाम रूप का होना असम्भव है, नाम-रूप तो उपाधि के आश्रित हैं जिनका जीव में उपचार होता है। इसीलिए जीव की उत्पत्ति भी कहीं-कहीं पर अग्नि विस्फुलिङ्ग उदाहरण द्वारा जो सुनी जाती है वह भी उपाधि के आश्रित ही समझना चाहिए, चेतन में नहीं।

पूर्वपक्ष में जीवात्मा द्वारा प्रसङ्ग का प्रारम्भ होना, समुत्थान श्रुति से परमात्मा का ह. ज व के साथ अभेदवर्णन और विज्ञातृ शब्द, ऐसे तीन बीज बतलाये गये थे। उनमें से प्रथम बीज का निराकरण त्रिसूत्री द्वारा कर दिया गया है, अब द्वितीय बीज का अनुवादकर उसी त्रिसूत्री से निराकरण करते हैं। पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि प्रकृत महद्भूत द्रष्टव्य परमात्मा ही भूतों से समुत्थान हो जाने पर जीवभाव

'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः' इदमत्र प्रतिज्ञातम्—आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६) इति च, उपपादितं च, सर्वस्य नामरूपकर्मप्रपञ्चस्यैकप्रभवत्वादेकप्रलयत्वाच्च दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च कार्यकारणयोरव्यतिरेकप्रतिपादनात् । तस्या एव प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यन्महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन कथितमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । अभेदे हि सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमवकल्पत इति । 'उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः । उत्क्रमिष्यतो विज्ञानात्मनो ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात्सम्प्रसन्नस्य परेणात्मनैक्यसम्भवादिदमभेदाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' । अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदाभिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते ।

ननूच्छेदाभिधानमेतत् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृ० २-४-१२) इति, कथमेतदभेदाभिधानम् । नैष दोषः । विशेषविज्ञान-

---

मित्यादिना । आत्मज्ञानात्सर्वविज्ञानं यत्प्रतिज्ञातं, तत्र हेतुः 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६) इत्यव्यतिरेक उक्तस्तस्य प्रतिपादनात्तदेव प्रतिज्ञातमुपपादितमिति योजना । एकस्मात्प्रसवो यस्य, एकस्मिन्प्रलयो यस्य तद्भावादित्यर्थः । समुत्थानमभेदाभिधानमिति यावत् ।

जन्मनाशावुक्तौ नाभेद इत्याक्षिप्य परिहरति—नन्वित्यादिना । मृतस्य संज्ञा नास्तीति वाक्ये-

---

से दिखलाया गया है । अतः जीवात्मा को ही श्रुति द्रष्टव्य बतलाती है । यहाँ पर भी इसी त्रिसूत्री की योजना कर लेनी चाहिए अर्थात् आत्मज्ञान से सर्वविज्ञान की जो प्रतिज्ञा की गयी थी, उसमें यह हेतु है कि 'यह सब कुछ आत्मा ही तो है, भिन्न नहीं है' इसीलिए एक के ज्ञान से सब विज्ञात हो जाता है । जब एक से सबका प्रसव हुआ है और उसी में सबका विलय होता है तो यह समुत्थान अभेद को कह रहा है इसीलिए आत्मा के जानने पर सब कुछ विज्ञात होता है क्योंकि सब कुछ आत्मा ही तो है । सम्पूर्ण नाम-रूप एवं कर्मात्मक प्रपञ्च की एक अद्वय आत्मा से उत्पत्ति और उसी में सबका प्रलय कहा है । दुन्दुभ्यादि दृष्टान्त द्वारा कार्यकारण का अभेदप्रतिपादन किया गया है । इससे भी उस प्रतिज्ञा की सिद्धि सूचित होती है और इस सम्बन्ध में महद्भूत परमात्मा का भूतों से समुत्थान (अभेद अर्थात् तादात्म्य) होने पर जीवात्मा कहा गया है ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं । जीव और ब्रह्म का अभेद होने पर ही ब्रह्म के ज्ञान से सब के विज्ञात होने की प्रतिज्ञा सिद्ध होती हैं । भौतिक शरीरादि के साथ तादात्म्य कर लेने पर चेतन ब्रह्म में जीवत्व भासने लग जाते हैं । शरीर के साथ तादात्म्यभाव का परित्याग ज्ञान-ध्यानादि साधनों को जब जीव करता है तब जीवात्मा का परमात्मा के साथ में ऐक्य सम्भव हो जाता है । इसीलिए औडुलोमि आचार्य दोनों का अभेद मानते हैं किन्तु काशकृत्स्न आचार्य इस परमात्मा का ही जीवात्मभाव से अवस्थान होने पर जीव-ब्रह्म का अभेद बतलाते हैं ।

इस प्रसङ्ग में जन्म और नाश कहे गये हैं, अभेद नहीं, क्योंकि इन भूतों से ऊपर उठ जाने पर इनके नाश के पीछे जीव भी नष्ट हो जाता है, मरने पर जीव में कोई संज्ञा नहीं रह जाती फिर भला ब्रह्म के साथ अभेदाभिधान कैसे हो सकता है ? यह कोई दोष नहीं है । विशेषविज्ञान का विनाश

विनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं नात्मोच्छेदाभिप्रायम् । 'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्यार्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा, मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति । एतदुक्तं भवति—कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा, नास्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति । मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति । संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य संज्ञास्तीत्युक्तमिति ।

यदप्युक्तम्—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहाराद्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यमिति, तदपि काशकृत्स्नीयेनैव दर्शनेन परिहरणीयम् ।

ऽत्रैव मां मोहितवानसि ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञानाभावे नाशप्रसङ्गादिति मैत्रेय्योक्तो मुनिराह—न वा अरे इति । मोहं मोहकरं वाक्यम्, अविनाशी नाशहेतुशून्यः, अत उच्छित्तिधर्मा नाशवान्न भवतीत्यनुच्छित्तिधर्मेत्यर्थः ।

तृतीयं बीजं तृतीयेन मतेनैव निरसनीयमित्याह—यदपीत्यादिना । आद्यमतद्वयेऽपि सत्यभेदाङ्गीकारात् केनेत्याक्षेपो 'न युक्तः । काशकृत्स्नस्य मते त्वत्यन्ताभेदाद्विज्ञानस्य 'कारकाभावात्स युक्त इति श्रुत्यनुसारित्वात्तन्मते मनःकल्पितं विज्ञातृत्वं मुक्ते ब्रह्मात्मनि भूतपूर्वगत्योक्तमिति परिहरणीयमित्यर्थः । किञ्च पूर्वापरपर्यालोचनया वाक्यस्य मुक्तात्मपरत्वावगमाद्विज्ञातृत्वं कल्पित-

---

बतलाने में इस श्रुति का तात्पर्य है न कि आत्म उच्छेद बतलाने में । अर्थात् उस दशा में वृत्तिज्ञान नहीं रहता, स्वरूपज्ञान तो बना ही रहता है । किन्तु इस रहस्य को न जानने के कारण मैत्रेयी कहती है कि 'आप मुझे यहां पर मोह में डाल रहे हैं जो कहते हैं कि मरने पर संज्ञा नहीं रहती, इस वाक्य द्वारा स्वयं ही प्रश्न उठाकर श्रुति ने अर्थान्तर दिखलाया है 'महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'अरे मैत्रेयि ! मैं तुझे मोह में नहीं डाल रहा हूँ । यह आत्मा अविनाशी है, उसके अस्तित्व का कभी उच्छेद नहीं होता किन्तु उस दशा में विषयों के साथ इसका सम्बन्ध नहीं रहता । इसीलिए वृत्तिज्ञान उस समय नहीं रहता है किन्तु अविनाशी होने के कारण स्वरूपज्ञान तो तब भी विद्यमान ही रहता है' । तात्पर्य यह है कि यह विज्ञानघन आत्मा कूटस्थ, नित्य है, इसके नाश का तो प्रसङ्ग ही नहीं आता; केवल विषय और इन्द्रियाँ जो अविद्या के कार्य हैं उनका संसर्ग इसे नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मविद्या के द्वारा ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च का बाध हो गया है । जब संसर्गाभाव हो जाता है तो संसर्ग के कारण होने वाले वृत्तिरूप विशेषज्ञान का भी अभाव हो जाता है, उसी को **'न प्रेत्य संज्ञा अस्ति'** इस वाक्य से श्रुति ने बतलाया है ।

तृतीय बीज का निराकरण तृतीय मत से ही करना चाहिए । इसीलिए कहते हैं कि जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि 'अरी मैत्रेयि ! विज्ञाता को किससे जानेगा' इस वाक्य में कर्तृवाचक शब्द द्वारा उपसंहार किया गया है । अतः जीवात्मा ही यहाँ पर द्रष्टव्य है ? इस आक्षेप का समाधान काशकृत्स्न के मतानुसार ही कर लेना चाहिए । पूर्वापर की समीक्षा करने पर यह वाक्य मुक्तात्मापरक जान

---

१. न युक्त इति—भिन्नेन जीवस्थेनेश्वरेणावगतिसम्भवादिदिति शेषः २. कारकेति कर्मत्वरूपकारकत्वाभावादित्यर्थः । यद्वा विज्ञानस्येति पूर्वान्वयि विज्ञानात्मनः परमात्मना सहात्यन्ताभेदादित्यर्थः । कारकाभावादित्यस्य कर्मकरणयोरभावादित्यर्थः । अथवाविज्ञानस्येत्युभयान्वयि तथा च विज्ञानात्मनः कर्तृकारकत्वाभावादित्यर्थः ।

अपि च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २-४-१३) इत्यारभ्याविद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणं विशेषविज्ञानं प्रपञ्चय 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिना विद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणस्य विशेषविज्ञानस्याभावमभिदधाति । पुनश्च विषयाभावेऽपि आत्मानं विजानीयादित्याशङ्क्य 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्याह । ततश्च विशेषविज्ञानाभावोपपादनपरत्वाद्वाक्यस्य विज्ञानधातुरेव केवलः सम्भूतपूर्वगत्या कर्तृवचनेन तृचा निर्दिष्ट इति गम्यते । दर्शितं तु पुरस्तात्काशकृत्स्नीयस्य पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम् । अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्वैर्वेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७-२५-२), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मुण्ड० २-२-११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३-७-२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३-८-११) इत्येवंरूपाभ्यः श्रुतिभ्यः । स्मृतिभ्यश्च 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७-१९), 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३-२), 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी० १३-२७) इत्येवं-

---

मेवानूद्यत इति न तल्लिङ्गेन जीवपरत्वमित्याह—अपि चेति । आर्षेषु पक्षेषु काशकृत्स्नपक्षस्यैवाऽऽदेयत्वे किं बीजं, तदाह—दर्शितमिति । अतश्च श्रुतिमत्त्वाच्च । पुनरपि श्रुतिस्मृतिमत्त्वमाह—सदेवेत्यादिना । हेतूनां भेदो न पारमार्थिक इति प्रतिज्ञया सम्बन्धः । भेदाभेदपक्षे जीवस्य जन्मादि-

---

पड़ता है विज्ञातृत्व तो उसमें कल्पित ही है । इस कल्पित विज्ञातृत्वलिङ्ग से इस प्रसङ्ग को जीवपरक नहीं मान सकते इसे भाष्यकार 'अपि च' ग्रन्थ से कहते हैं—'जहाँ द्वैत सा होता है वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है' इस वाक्य द्वारा प्रारम्भकर अविद्या के विषय में ही दर्शनादि रूप विशेषविज्ञान का विस्तार जीव में कहा गया है किन्तु जहाँ इस ज्ञानी के लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया वहाँ किससे किसको देखे' इस वाक्य द्वारा ज्ञान हो जाने पर उस तत्त्ववित् के लिए दर्शनादिरूप विशेषविज्ञान का अभाव ही श्रुति बतलाती है । पुनः विषय का अभाव हो जाने पर ही आत्मा को जाने ऐसी आशङ्काकर 'अरी मैत्रेयि ! विज्ञाता को किससे जानेगा' ऐसा श्रुति ने कहा है । इस प्रकार श्रुतिसम्मत होने के कारण इस वाक्य को विशेषविज्ञान का अभावबोधक माना है अर्थात् चैतन्य आत्मा को ही केवल तत्त्वज्ञान से पूर्वकल्पित कर्तृवाचक तृच् प्रत्यय से कहा गया है । काशकृत्स्न आचार्य का पक्ष श्रुतिसम्मत कह दिया गया था । अतः जीव और परमात्मा में अविद्या के कारण होने वाले नामरूपरचित देहादि उपाधिनिमित्त भेद है, पारमार्थिक नहीं, यह इस प्रसङ्ग का तात्पर्य है । यही अर्थ सभी वेदान्तियों को मानना चाहिए । 'हे सोम्य ! सृष्टि से पहले सजातीय, विजातीय स्वगतभेदशून्य सत्य ही था' 'यह सब कुछ आत्मा ही तो है' 'यह सब ब्रह्म ही है' 'जो कुछ यह है सब आत्मा ही है' 'आत्मा से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, न कोई इससे भिन्न द्रष्टृ है' ऐसी श्रुतियाँ हैं । इसी प्रकार 'वासुदेवः सर्वमिति' 'हे भारत ! सभी शरीरों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान' सभी भूतों में समानभाव

रूपाभ्यः । भेददर्शनापवादाच्च 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' (बृ० १-४-१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४-४-१९) इत्येवञ्जातीयकात् । 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४-४-२५) इति चात्मनि सर्वविक्रियाप्रतिषेधात् । अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः । सुनिश्चितार्थत्वानुपपत्तेश्च । निरपवादं हि विज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमात्मविषयमिष्यते, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मुण्ड० ३-२-६) इति च श्रुतेः । 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) इति च । स्थितप्रज्ञलक्षणस्मृतेश्च (गी० २-५४) । स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात्, क्षेत्रज्ञोऽयं परमात्मनो भिन्नः परमात्मायं क्षेत्रज्ञाद्भिन्न इत्येवञ्जातीयक आत्मभेदविषयो निर्बन्धो निरर्थकः । एको ह्ययमात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयते इति । नहि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै० २-१) इति काञ्चिदेवैकां गुहाम-

---

विकारवत्त्वात्तन्निषेधो न स्यादित्याह—स वा एष इति । भेदस्य सत्यत्वे तत्प्रमया बाधादहं ब्रह्मेति निर्बाधं ज्ञानं न स्यादित्याह—अन्यथाचेति । अभेदस्यापि सत्त्वात्प्रमेत्याशङ्क्य भेदाभेदयोर्विरोधात्संशयः स्यादित्याह—सुनिश्चितेति । मास्तु निर्बाधज्ञानमित्यत आह—निरपवादमिति । अहं ब्रह्मस्यबाधितनिश्चयस्यैव शोकादिनिवर्तकत्वमित्यत्र स्मृतिमप्याह—स्थितेति । आत्यन्तिकैकत्वे हि प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति, न भेदाभेदयोरिति भावः । ननु जीवपरमात्मानौ, स्वतो भिन्नौ, अपर्यायनामवत्त्वात्, स्तम्भकुम्भवदित्यत आह—स्थिते चेति । कथं तर्ह्यपर्यायनामभेद इत्याशङ्क्य जीवत्वेश्वरत्वादिनिमित्तभेदादित्याह—एको हीति । किञ्चाविद्यातज्जबुद्धिरूपायां गुहायां स्थितो जीवो भवति, 'तस्यामेव ब्रह्म निहित'मिति श्रुतेः । स्थानैक्याज्जीव एव ब्रह्मेत्याह—नहीति । काञ्चिदेवैकामिति ।

से स्थित परमेश्वर को जो देखता है वह तत्त्वदर्शी है' इत्यादि स्मृतियाँ भी हैं । भेददृष्टि की निन्दा 'वह देव अन्य है, मैं उपासक उससे भिन्न हूँ ऐसा समझनेवाला यथार्थदर्शी नहीं है किन्तु देवताओं का पशु है' 'जो यहाँ भेद देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है' इन वाक्यों द्वारा की गयी है । भेदाभेद पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि 'वह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभयब्रह्मस्वरूप है' इस वाक्य द्वारा आत्मा में सभी विकारों का निषेध किया गया है । अन्यथा मुमुक्षुओं को निर्बाध ज्ञान नहीं हो सकेगा और न सुनिश्चित अर्थ की सिद्धि ही होगी, क्योंकि आत्मविषयक निर्बाध विज्ञान ही सभी आकांक्षाओं का निवर्तक देखा गया है । इसीलिए 'वेदान्तविज्ञान से सुनिश्चित अर्थ हो गया है जिनको' ऐसी श्रुति है । 'वहाँ क्या शोक और क्या मोह हो सकता है जहाँ अभेद आत्मदर्शन होता है' इस प्रकार आत्यन्तिक एकत्व मानने पर ही प्रज्ञा की प्रतिष्ठा सम्भव है, भेदाभेद पक्ष में नहीं । जब जीव-ब्रह्म एकत्वविषयक यथार्थ दर्शन स्थिर हो जाता है, तब जीव और ब्रह्म का भेद नाममात्र ही रह जाता है । जिसमें यह कहा जाता है कि परमात्मा से भिन्न यह क्षेत्रज्ञ है और क्षेत्रज्ञ से भिन्न यह परमात्मा है उस स्थिति में यह भेदाग्रह भी निरर्थक हो जाता है । आत्मा तो एक ही है, नाममात्र के भेद से बहुधा कहा जाता है । सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म को जो अविद्या और तज्जन्य बुद्धिरूप गुफा में निहित जानता है, यह गुहा में स्थित एक ही तत्त्व है, भिन्न नहीं, जिसे

७. प्रकृत्यधिकरणम् (सू० २३-२७)

निमित्तमेव ब्रह्मस्यादुपादानं च वीक्षणात् । कुलालवन्निमित्त तन्नोपादानं मृदादिवत् ।
बहु स्यामित्युपादानभावोऽपि श्रुत ईक्षितुः । एकबुद्ध्या सर्वधीश्च तस्माद्ब्रह्मोभयात्मकम् ॥

धिकृत्यैतदुक्तम् । नच ब्रह्मणोऽन्यो गुहायां निहितोऽस्ति, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २-६) इति स्रष्टुरेव प्रवेशश्रवणात् । ये तु निर्बन्धं कुर्वन्ति ते वेदान्तार्थं बाधमानाः श्रेयोद्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते । कृतकमनित्यं च मोक्षं कल्पयन्ति । न्यायेन च न सङ्गच्छन्त इति ॥२२॥

जीवस्थानादन्यामित्यर्थः । नन्वेकस्यां गुहायां द्वौ किं न स्यातामित्यत आह—नचेति । स्रष्टुरेव प्रवेशेन जीवत्वान्न भेदः । नन्वत्यन्ताभेदे जीवस्य स्पष्टभानाद्ब्रह्मापि स्पष्टं स्यादतः स्पष्टत्वास्पष्टत्वाभ्यां तयोर्भेद इति चेत् । न । दर्पणे प्रतिबिम्बस्य स्फुटत्वेऽपि बिम्बस्यास्फुटत्ववत् कल्पितभेदेन विरुद्धधर्मव्यवस्थोपपत्तेः । सत्यभेदे येषामाग्रहस्तेषां दोषमाह—ये त्विति । सोऽयमितिवत्त्वमसीत्यकार्यकारणद्रव्यसामानाधिकरण्यादत्यन्ताभेदो वेदान्तार्थस्तद्बोध एव निःश्रेयससाधनं तस्य बाधो न युक्त इत्यर्थः । किञ्च भेदाभेदवादिनो ज्ञानकर्मभ्यां कृतकं मोक्षं कल्पयन्ति, तत्रानित्यत्वं दोषः । यत्तु कृतकमपि नित्यमिति, तच्च 'यत् क्रियासाध्यं तदनित्यम्' इति न्यायबाधितम् । अस्माकं त्वनर्थध्वंसस्य ज्ञानसाध्यत्वान्नित्यमुक्तात्ममात्रत्वाच्च नानित्यत्वदोष इति भावः । तस्मान्मैत्रेयीब्राह्मणं प्रत्यग्ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥२२॥

ब्रह्म कहते हैं ब्रह्म से भिन्न कोई गुफा में निहित हो नहीं सकता, क्योंकि 'उसकी सृष्टिकर स्वयं ही उस में परमात्मा प्रविष्ट हो गया' इस वाक्य द्वारा स्रष्टा का ही सृष्टि में प्रवेश सुना जाता है । किन्तु जो पारमार्थिक भेद में आग्रह रखते हैं वे वेदान्त के तात्पर्य को बाधित करनेवाले कल्याणमार्ग सम्यग्दर्शन को ही बाधते हैं क्योंकि जो कृतिजन्य होगा वह अनित्य ही होगा, इस नियम के अनुसार कृतिजन्य मोक्ष को मानने पर उसमें अनित्यत्व आ जायेगा जो युक्ति से विरुद्ध होने के कारण ग्राह्य नहीं है । अतः मैत्रेयी ब्राह्मण प्रत्यग्ब्रह्म में हो समन्वित होता है ॥२२॥

७. प्रकृत्यधिकरण

१. **संगति**—पहले जन्माद्यधिकरण में जगत्कारण ब्रह्म बतलाया गया था वह जैसे घटादि का उपादान कारण मृत्तिकादि है वैसा ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है अथवा कुम्भकार की भाँति निमित्तकारण या दोनों ही कारण हैं । ऐसा विशेषविचार के लिए सामान्यज्ञान हेतु होने से पूर्व के साथ इस अधिकरण की हेतुहेतुमद्भाव संगति है ।

२. **विषय**—ब्रह्म की जगत्कारणता इस अधिकरण का विचारणीय विषय है ।

३. **संशय**—क्या ब्रह्म जगत् का केवल निमित्त कारण ही है अथवा उपादान कारण भी है ? ऐसा संशय होता है ।

४. **पूर्वपक्ष**—'स **ईक्षांचक्रे**' (प्र० ६-३) '**स प्राणमसृजत**' (प्र० ६-४) इत्यादि श्रुति से ईक्षणपूर्वक जगत्कर्तृत्व सुना जाता है, जो केवल निमित्तकारण कुलालादि में देखा गया है । अतः ब्रह्म जगत् का निमित्तकारणमात्र है, मृदादि की भाँति उपादानकारण नहीं है ।

५. **सिद्धान्त**—'**बहुस्याम्**' (छा० ६-१-३) इस श्रुति के द्वारा ईक्षणकर्ता में उपादानत्व भी सुना गया

(१२९) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

यथाभ्युदयहेतुत्वाद्धर्मो जिज्ञास्य एवं निःश्रेयसहेतुत्वाद्ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्। ब्रह्म च 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १-१-२) इति लक्षितम्। तच्च लक्षणं घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिवत्प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वे च समानमित्यतो भवति विमर्शः, किमात्मकं पुनर्ब्रह्मणः कारणत्वं स्यादिति। तत्र निमित्तकारणमेव तावत्केवलं स्यादिति प्रतिभाति। कस्मात्? ईक्षापूर्वककर्तृत्वश्रवणात्। ईक्षापूर्वकं हि ब्रह्मणः कर्तृत्वमवगम्यते—'स ईक्षांचक्रे' (प्र० ६-३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६-४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। ईक्षापूर्वकं च कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु दृष्टम्। अनेककारकपूर्विका च

प्रकृतिश्चेति। लक्षणसूत्रेणास्य **सङ्गतिं वक्तुं वृत्तं स्मारयति**—यथेति। तत्र हि **ब्रह्मणो बुद्धिस्थत्वार्थं सामान्यतो** जगत्कारणत्वं लक्षणमुक्तं, तेन **बुद्धिस्थे** ब्रह्मणि **कृत्स्नवेदान्तसमन्वयं प्रतिपाद्य तत्कारणत्वं किं कर्तृत्वमात्रमुत प्रकृतित्वकर्तृत्वोभयरूपमिति विशेषजिज्ञासायामिदमारभ्यते। तथाच** सामान्यज्ञानस्य विशेषचिन्ताहेतुत्वात्तेनास्य सङ्गतिः। **यद्यपि तदानन्तर्यमस्य युक्तं, तथापि निश्चित**तात्पर्यैर्वेदान्तैः **कर्तृमात्रेश्वरमतनिरासः सुकर इति समन्वयान्ते इदं लिखितम्। लक्षणसूत्रस्या**ध्यायादिसङ्गतत्वादस्याप्यध्यायादिसङ्गतिः। **पूर्वत्र सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया मुख्यत्वाद्वाक्यस्य जीवपरत्वं निरस्तम्, तदयुक्तम्, कर्त्रुपादानयोर्भेदेन प्रतिज्ञाया गौणत्वादित्याक्षिपति**—तत्र निमित्तेत्यादिना। **पूर्वोत्तरपक्षयोर्द्वैताद्वैतसिद्धिः फलम्**—ईक्षापूर्वकेति। **ईक्षणश्रुत्या कर्तृत्वं निश्चितम्, तथा च ब्रह्म न प्रकृतिः, कर्तृत्वात्, यो यत्कर्ता स तत्प्रकृतिर्न, यथा घटकर्ता कुलाल इत्यर्थः। जगत् भिन्नकर्त्रुपादानकम्, कार्यत्वात् घटवदित्याह**—अनेकेति। **ब्रह्म नोपादानं, ईश्वरत्वात्, राजादिवदित्याह—**

है, साथ ही एक के ज्ञान से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा भी की गयी है। अतः इन सभी कारणों को देखते हुए ब्रह्म को जगत् का उभयकारण मानना उचित होगा।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् (ललिता)

लक्षण सूत्र के साथ इस अधिकरण की सङ्गति बतलाने के लिए विगत सन्दर्भ का स्मरण कराते हैं, कि जिस प्रकार अभ्युदय का हेतु होने से धर्म जिज्ञासा का विषय है, उसी प्रकार मोक्ष का हेतु होने से ब्रह्म भी जिज्ञासा का विषय है, ऐसा कहा गया था। उस ब्रह्म का **'जन्माद्यस्य यतः'** सूत्र से लक्षण भी किया गया था। सामान्यज्ञान विशेषचिन्ता का प्रयोजक हुआ करता है। अतः उक्त लक्षण से लक्षित ब्रह्म जैसे घट का उपादानकारण मृत्तिका है और रुचकादि आभूषणों का उपादानकारण स्वर्णादि है, वैसे ही जगत् का उपादानकारण ब्रह्म है अथवा घट का निमित्तकारण जिस प्रकार कुम्भकार और आभूषणादि का निमित्तकारण जैसे स्वर्णकार है, वैसा ही जगत् का निमित्तकारण ब्रह्म है, क्योंकि कारणता तो दोनों में समान ही है। अतः सामान्यज्ञान विशेषचिन्ता का प्रयोजक होने के कारण यह आकांक्षा होती है कि ब्रह्म जगत् का कैसा कारण है, केवल निमित्तकारण है, केवल उपादानकारण है अथवा उभयकारण है? इस पर पूर्वपक्षी का कहना है, कि ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण ही भासता है, क्योंकि उसमें सङ्कल्पपूर्वक कर्तृत्व सुना जाता है। 'उसने संकल्प किया' 'उसने प्राण की सृष्टि की' इन श्रुतियों से ब्रह्म में इच्छापूर्वक कर्तृत्व जाना जाता है, ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व कुम्भकारादि निमित्तकारण में ही देखा गया है। लोक

क्रियाफलसिद्धिर्लोके दृष्टा । स च न्याय आदिकर्तर्यपि युक्तः संक्रमयितुम् । ईश्वरत्वप्रसिद्धेश्च । ईश्वराणां हि राजवैवस्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं प्रतीयते, तद्वत्परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वमेव युक्तं प्रतिपत्तुम् । कार्यं चेदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यं, कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनात् । ब्रह्म च नैवंलक्षणमवगम्यते 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६-१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः । पारिशेष्याद्ब्रह्मणोऽन्यदुपादानकारणमशुद्ध्यादिगुणकं स्मृतिप्रसिद्धमभ्युपगन्तव्यम् । ब्रह्मकारणत्वश्रुतेर्निमित्तत्वमात्रे पर्यवसानादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च । न केवलं निमित्तकारणमेव । कस्मात् ? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्, एवं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते । प्रतिज्ञा तावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६-१-२) इति । तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि

ईश्वरत्वेति । जगन्न ब्रह्मप्रकृतिकं, तद्विलक्षणत्वात्, यदित्थं तत्तथा, कुलालविलक्षणघटवदित्याह—कार्यं चेति । निष्कलं निरवयवं, निष्क्रियमचलं, शान्तमपरिणामि, निरवद्यं निरस्तसमस्तदोषम् । तत्र हेतुः—निरञ्जनमिति । अञ्जनतुल्यतमःशून्यमित्यर्थः । तर्हि जगतः सदृशोपादानं किमित्यत आह—पारिशेष्यादिति ।

ब्रह्मनिषेधे[1] प्रधानं परिशिष्यत इत्यभिमन्यमानः सिद्धान्तयति—प्रकृतिश्चेति । चकारान्निमित्तत्वग्रहः । एवमुभयरूपे कारणत्वे तयोरबाधो भवतीत्याह—एवमिति । कर्तृज्ञानादपि

में क्रियाफल की सिद्धि अनेक कारकपूर्वक ही देखी गयी है, वही लोकन्याय आदिकर्ता परमेश्वर में भी घटाना चाहिए। राजवैवस्वतादि ईश्वरों में ईश्वरप्रसिद्धि के कारण केवल निमित्तकारणत्व ही जाना जाता है, वैसे ही परमेश्वर में केवल निमित्तकारणता ही मानना उचित होगा। अतः ब्रह्म उपादानकारण नहीं है, राजादि की भाँति, ईश्वर होने से। वैसे ही ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं है, जगत्कार्य से विलक्षण होने के कारण, कुम्भकार से विलक्षण घटादि की भाँति। कार्यजगत् सावयव, जड़, अशुद्ध देखा जाता है, तो इसका कारण भी वैसा ही होना चाहिए, क्योंकि कार्य-कारण में सादृश्य सर्वत्र देखा गया है। किन्तु ब्रह्म जगत् के समान सावयवादि गुणयुक्त नहीं है, श्रुति ने उसे निरवयव, अचल, अपरिणामी, समस्तदोषशून्य और अञ्जनतुल्य तम से शून्य कहा है। परिशेषतः ब्रह्म से भिन्न ही कोई जगत् का उपादानकारण होगा, जो अशुद्ध्यादि गुणों से युक्त है और वैसा सांख्य-स्मृति-प्रसिद्ध प्रधान ही है, उसी को सम्पूर्ण जगत् का उपादानकारण मानना चाहिए। ब्रह्म को जगत्कारण बतलाने वाली श्रुति का तात्पर्य केवल निमित्तकारण बतलाने में है।

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है और चकारात् निमित्तकारण भी है केवल निमित्तकारण ही नहीं है क्योंकि उभयकारण न मानने पर प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त दोनों का बाध होने लग जायेगा। अतः श्रौती प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त का बाध न हो, एतदर्थ ब्रह्म को जगत् उभयकारण मानना चाहिए। उद्दालक ऋषि ने कहा—हे श्वेतकेतु ! तुमने आचार्य से वह आदेश पूछा है, जिसके सुनने से अश्रुत भी श्रुत, अमत मत और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है' इस वाक्य द्वारा एक के विज्ञान से सभी अन्य वस्तु के विज्ञात

१. अन्यत्रोभयकारणत्वनिषेधे ब्रह्मप्रधान शिष्यते इति मन्यमानः सिद्धान्तयति ।

विज्ञातं भवतीति प्रतीयते। तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं सम्भवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य। निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति, लोके तक्षणः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात्। दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादानकारणगोचर एवाम्नायते। तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्', 'एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६-१-४,५,६) इति च। तथान्यत्रापि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १-१-२) इति प्रतिज्ञा। 'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति' (मुण्ड० १-१-७) इति दृष्टान्तः। तथा 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' इति प्रतिज्ञा। 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' (बृ० ४-५-६,८) इति दृष्टान्तः। एवं यथासम्भवं प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ प्रकृतित्व-

---

सर्वकार्यज्ञानं किं न स्यादित्यत आह—निमित्तकारणाव्यतिरेकस्त्विति। मृदादीनामुपादानानां दृष्टान्तत्वाद्दार्ष्टान्तिकस्य ब्रह्मण उपादानत्वं वाच्यमित्याह—दृष्टान्तोऽपीति। वागारम्भं नाममात्रं विकारो न वस्तुतोऽस्तीति सत्यकारणज्ञानाद्विकारज्ञानं युक्तमित्यर्थः। गतिसामान्यार्थं मुण्डकेऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तावाह—तथान्यत्रापीति। बृहदारण्यकेऽपि तावाह—तथात्मनीति। घटः स्फुरति पटः स्फुरतीत्यनुगतस्फुरणं प्रकृतिस्तदतिरेकेण विकारा न सन्तीति सोऽयमर्थो यथा स्फुटः स्यात्तथा दृष्टान्तः स उच्यते। हन्यमानदुन्दुभिजन्याच्छब्दसामान्याद्बाह्यान् विशेषशब्दान् सामान्यग्रहणातिरेकेण पृथग्ग्रहीतुं श्रोता न शक्नुयात्। सामान्यस्य तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातजशब्दविशेषो गृहीतो भवति, तस्य वा ग्रहणं तदवान्तरविशेषशब्दो गृहीतो भवति। अतःशब्दसामान्यग्रहणग्राह्या विशेषाः सामान्ये कल्पिताः,

---

की बात जो प्रतीत होती है, वह सर्वविज्ञान उपादानकारण के ज्ञान से ही सम्भव है, क्योंकि कार्य अपने उपादानकारण से अभिन्न होता है। निमित्तकारण से अभिन्न कार्य लोक में नहीं देखा जाता है, शिल्पी प्रासादादि कार्य से भिन्न ही देखा गया है, वैसे ही दृष्टान्त भी श्रुति में प्रसिद्ध है, जो ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण होने का सङ्केत देता है, 'हे सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के जान लेने पर सभी मृण्मय कार्य विज्ञात हो जाता है, क्योंकि विकार नाममात्र वाणी से कहने के लिए है, मृत्तिका ही सत्य है।' जैसे एक आभूषण को सोना समझ लेने पर स्वर्ण के बने हुए सभी आभूषण विज्ञात हो जाते हैं, जैसे लोहे के बने हुए औजार को लोहा समझ लेने पर अन्य सभी लोहे से निर्मित औजार विज्ञात हो जाते हैं, ये सभी दृष्टान्त उपादानकारण को ही बतलाते हैं। ऐसी ही प्रतिज्ञा और ऐसा ही दृष्टान्त मुण्डकोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् में भी देखे जाते हैं, 'हे भगवन्! किसके जान लेने पर यह सम्पूर्ण जगत् विज्ञात होता है, ऐसी प्रतिज्ञा और 'जैसे पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं यह दृष्टान्त एवं 'आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने तथा जान लेने पर यह सम्पूर्ण जगत् विदित हो जाता है' ऐसी प्रतिज्ञा तथा 'जिस प्रकार बजते हुए ढोल के बाह्यशब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु ढोल को अथवा ढोल बजाने के साधन को ग्रहण कर लेने से शब्द ग्रहीत हो जाता है' यह दृष्टान्त है। इस प्रकार यथासम्भव प्रत्येक वेदान्त में प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त ब्रह्म को जगत् का

(१३०) अभिध्योपदेशाच्च ॥२४॥

साधनौ प्रत्येतव्यौ। यत इतीयं पञ्चमी 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० सू० १-४-३०) इति विशेषस्मरणात्प्रकृतिलक्षण एवापादाने द्रष्टव्या। निमित्तत्वं त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम्। यथा हि लोके मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीनधिष्ठातॄनपेक्ष्य प्रवर्तते, नैवं ब्रह्मण उपादानकारणस्य सतोऽन्योऽधिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्। अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेवोदितो वेदितव्यः। अधिष्ठातरि ह्युपादानादन्यस्मिन्नभ्युपगम्यमाने पुनरप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्यासम्भवात्प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोध एव स्यात्। तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मनः कर्तृत्वमुपादानान्तराभावाच्च प्रकृतित्वम् ॥२३॥

कुतश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे।

अभिध्योपदेशश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'

तद्वदात्मभानभास्या घटादय आत्मनि कल्पिता इत्यर्थः। प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाल्लिङ्गाद्ब्रह्मणः प्रकृतित्वमुक्त्वा पञ्चमीश्रुत्याप्याह—यत इति। **'यतो वा' इत्यत्र श्रुतौ यत इति पञ्चमी प्रकृतौ द्रष्टव्येत्यन्वयः। जनिकर्तुरिति। जायमानस्य कार्यस्य प्रकृतिरपादानसंज्ञिका भवतीति सूत्रार्थः। संज्ञायाः फलं 'अपादाने पञ्चमी' इति सूत्रात्प्रकृतौ पञ्चमीलाभः। एवं ब्रह्मणः प्रकृतित्वं प्रसाध्य कर्तृत्वं साधयति**—निमित्तत्वमिति। **ब्रह्म स्वातिरिक्तकर्त्रधिष्ठेयं, प्रकृतित्वात्, मृदादिवदित्याद्यनुमानमागमबाधकमाह**—प्रागुत्पत्तेरिति। **जगत्कर्तृ ब्रह्मैवेत्यत्रापि सूत्रं योजयति**—अधिष्ठात्रन्तरेति ॥२३॥

एकस्योभयरूपं कारणत्वमविरुद्धमिति सूत्रचतुष्टयेन साधयति—कुतश्चेत्यादिना।

उपादानकारणता के बोधक हैं। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** इस श्रुति में **यतः** शब्द में जो पञ्चमी विभक्ति दीखती है वह अपादान संज्ञा के कारण है और अपादान संज्ञा प्रकृति को ही हुआ करती है एतदर्थ **'जनि कर्तुः प्रकृतिः'** ऐसा विशेषस्मरण है, जो प्रकृतिरूप अपादान में ही देखी जाती है। इस प्रकार ब्रह्म में उपादानकारणत्व सिद्ध हो जाता है। किसी अन्य अधिष्ठाता के न होने से उसमें निमित्तकारणत्व भी मानना चाहिए। जैसे लोक में मृत्तिका, स्वर्णादि उपादानकारण कुम्भकार एवं स्वर्णकाररूप अधिष्ठाता की अपेक्षाकर कार्यरूप में प्रवृत्त होते हैं, वैसा यहाँ जगत् के उपादानकारण ब्रह्म को अपने से भिन्न किसी अधिष्ठाता की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि जगदुत्पत्ति से पूर्व एक अद्वय ब्रह्म ही था ऐसा निश्चित हुआ है, दूसरे अधिष्ठाता का अभाव भी प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त के बाध न होने पर सिद्ध हो जाता है। उपादानकारण से भिन्न अधिष्ठाता मानने पर एक के विज्ञान से सर्वविज्ञान का होना सम्भव नहीं है। वैसी स्थिति मे प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का बाध हो जायेगा ही। अतः अन्य अधिष्ठाता के अभाव से परमात्मा में कर्तृत्व और अन्य उपादानकारण के अभाव से उपादानत्व सिद्ध हो जाता है ॥२३॥

परमात्मा में कर्तृत्व और उपादानकारणत्व क्यों है? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं—

अभिध्योपदेशाच्च (ललिता)

एक परमेश्वर में उभयकारणत्व मानना विरुद्ध नहीं है, इस बात को अग्रिम चार सूत्रों से सिद्ध करते हैं। 'उसने कामना की, कि मैं बहुरूप हो जाऊँ, प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ' 'उस ब्रह्म ने संकल्प

(१३१) साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥२५॥

(१३२) आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६॥

इति, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च । तत्राभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते । बहुस्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद्बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते॥२४॥

प्रकृतित्वस्यायमभ्युच्चयः । इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं साक्षाद्ब्रह्मैव कारणमुपादायोभौ प्रभवप्रलयावाम्नायेते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० १-९-१) इति । यद्धि यस्मात्प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम् । यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी । साक्षादिति चोपादानान्तरानुपादानं दर्शयत्याकाशादेवेति । प्रत्यस्तमयश्च नोपादानादन्यत्र कार्यस्य दृष्टः ॥२५॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायाम् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २-७) इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति । आत्मानमिति कर्मत्वं, स्वयमकुरुतेति कर्तृत्वम् ।

अभिध्या सृष्टिसङ्कल्पः ॥२४॥

अभ्युच्चयो हेत्वन्तरम् । आकाशादेवेत्येवकारसूचितमुपादानान्तरानुपादानमग्रहणं साक्षादितिपदेन सूत्रकारो दर्शयतीति योजना ॥२५॥

आत्मसम्बन्धिनी कृतिरात्मकृतिः । सम्बन्धश्चात्मनः कृतिं प्रति विषयत्वमाश्रयत्वं च । ननु

किया मैं बहुरूप हो जाऊँ और प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ' इन श्रुतियों से सृष्टिसंकल्प का उपदेश परमेश्वर में कर्तृत्व और उपादानत्व का बोध कराता है । उनमें सङ्कल्पपूर्वक स्वातन्त्र्य प्रवृत्ति से कर्ता अर्थ का बोध होता है और 'बहुस्याम्' इस प्रत्यगात्मविषयक बहुभवन के संकल्प से उपादानकारणत्व का भी बोध होता है ॥२४॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् (ललिता)

उभयकारणत्व बोध के लिए हेत्वन्तर का भी संग्रह होता है । उनमें भी जगदुपादानत्व बोध के लिए यह प्रयास अत्यन्त आवश्यक होता है । साक्षात् ब्रह्म कारण को ही लेकर प्रलय और प्रभव का जो वर्णन किया गया है, इससे भी ब्रह्म में जगदुपादानत्व सिद्ध होता है 'ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन होते हैं यह सामान्य नियम देखा गया है कि जो जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लीन होता है, वह उसका उपादानकारण माना जाता है, व्रीहियवादि का उपादानकारण पृथ्वी इसीलिए तो है, क्योंकि पृथ्वी से ही ये उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन भी होते हैं '**आकादेव**' इस वाक्य में एवकार अन्य उपादानकारण का ग्रहण किये बिना ही जगद् रचना को बतलाते हुए ब्रह्म में उपादानत्व कह रहा है, जिसे इस सूत्र में '**साक्षात्**' पद से कहा गया है । किसी कार्य का विलय अपने उपादान में ही होता है, उपादान से भिन्न में विलय होता नहीं देखा गया है । अतः आकाशपदवाच्य ब्रह्म से जगत् का उद्भव और विलय कहकर श्रुति ने जगत् का उपादानकारण ब्रह्म को निर्विवादरूप में स्वीकार कर लिया है ॥२५॥

आत्मकृते परिणामात् (ललिता)

ब्रह्मप्रक्रिया प्रसङ्ग में 'उसने अपने को स्वयं ही बनाया' इस वाक्य द्वारा आत्मा में कर्मत्व और

कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं सम्पादयितुम् । परिमाणादिति ब्रूमः । पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति । विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः । स्वयमिति च विशेषणान्निमित्तान्तरानपेक्षत्वमपि प्रतीयते ।

परिणामादिति वा पृथक्सूत्रम् । तस्यैषोऽर्थः––इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मण एव विकारात्मनायं परिणामः सामानाधिकरण्येनाम्नायते 'सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च' (तै० २-६) इत्यादिनेति ।।२६।।

कृतेराश्रयः सिद्धो भवति विषयस्तु साध्यः इत्येकस्योभयं विरुद्धमित्याशङ्कते—कथं पुनरिति। **यथा मृदः साध्यपरिणामाभेदेन कृतिविषयत्वं, तद्वदात्मन इत्याह**—परिणामादिति। आत्मानमिति। **अविरोध इति शेषः। सिद्धस्यापि साध्यत्वे दृष्टान्तमाह**—विकारात्मनेति। **ननु ब्रह्मणः आत्मानमिति द्वितीयया कार्यात्मना साध्यत्वश्रुत्याऽस्तु प्रकृतित्वं कर्तृत्वन्योऽस्त्वित्यत आह**–स्वयमिति चेति।

ब्रह्मणः कृतिकर्मत्वोपपादनार्थं 'परिणामादिति' पदं व्याख्यायान्यथापि व्याचष्टे—पृथक्सूत्रमिति। **मृद्धट इतिवद्ब्रह्म सच्च त्यच्चेति परिणामसामानाधिकरण्यश्रुतेर्ब्रह्मणः प्रकृतित्वमित्यर्थः। सत्प्रत्यक्षं भूतत्रयं, त्यत्परोक्षं भूतद्वयं, निरुक्तं वक्तुं शक्यं घटादि, अनिरुक्तं वक्तुमशक्यं कपोतरूपादिकं च ब्रह्मैवाभवदित्यर्थः। अत्र सूत्रे परिणामशब्दः कार्यमात्रपरः, न तु सत्यकार्यात्मकपरिणामपरः, 'तदनन्यत्वम्–' इति विवर्तवादस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।।२६।।**

कर्तृत्व का उपदेश किया गया है, इससे ब्रह्म जगत् का उपादानकारण सिद्ध होता है। क्रिया के आश्रय को कर्ता कहते हैं जो पूर्व से सिद्ध होता है, किन्तु क्रिया से सिद्ध होने वाले साध्य को विषय कहते हैं जो बाद में बनता है, ये दोनों विरुद्ध धर्म एक में कैसे रह सकते हैं? ऐसी शङ्का भाष्य में की गयी है, कि पूर्वसिद्ध कर्तारूप से विद्यमान वस्तु में क्रियमाणत्व साध्यरूप का सम्पादन कैसे कर सकते हो? सूत्रकार ने '**परिणामात्**' इस पद से समाधान दिया है कि पूर्वसिद्ध भी परमात्मा ने विशेषविकाररूप से अपने को परिणत किया, क्योंकि मृदादि पूर्वसिद्ध का प्रकृति में विकाररूप से परिणाम देखा गया है। अतः पूर्वसिद्ध में साध्यधर्म का मानना विरुद्ध नहीं है। '**स्वयं**' ऐसा विशेषण होने के कारण उसे निमित्तान्तर की अपेक्षा भी प्रतीत नहीं होती है।

अथवा इस सूत्र का योग विभागकर '**परिणामात्**' ऐसा पृथक् सूत्र भी मान सकते हैं जिसका अर्थ होता है कि ब्रह्म का विकारात्मना यह जगत् परिणाम है। अतः ब्रह्म जगत् की प्रकृति है। मृद्घटः की भाँति ब्रह्म '**सच्च त्यच्चाभवत्**' ऐसा परिणाम के साथ सामानाधिकरण्य श्रुति से भी ब्रह्म में जगदुपादानत्व सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष से सिद्ध भूतत्रय को सत् कहते हैं और परोक्षसिद्ध भूतद्वय को त्यत् कहते हैं। कहने योग्य घटादि को निरुक्त और अकथनीय कपोतरूपादि को अनिरुक्त कहते हैं, इन दोनों रूपों में ब्रह्म ही हुआ है। इस सूत्र में 'परिणाम' शब्द सामान्यतया कार्यमात्र अर्थ का बोधक है न कि सत्यकार्यात्मक परिणाम का बोधक। स्मृति पाद में '**तदनन्यत्वम्**' इस सूत्र द्वारा वेदान्त सिद्धान्तानुसार विवर्तवाद का वर्णन किया जायेगा ।।२६।।

(१३३) योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म योनिरित्यपि पठ्यते वेदान्तेषु 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मुण्ड० ३-१-३) इति, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु० १-१-६) इति च। योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके 'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्' इति। स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवावयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम्।

क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः—'योनिष्ट[1] इन्द्र निषदे अकारि' (ऋ०सं० १-१०४-१)इति। वाक्यशेषात्त्वत्र[2] प्रकृतिवचनता परिगृह्यते 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मु० १-१-७)इत्येवञ्जातीयकात्। तदेवं प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम्। यत्पुनरिदमुक्तमीक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टं, नोपादानेष्वित्यादि ? तत्प्रत्यु-

योनिशब्दाच्च प्रकृतित्वमित्याह—योनिश्चेति। **कर्तारं क्रियाशक्तिमन्तम्, ईशं नियन्तारं, पुरुषं प्रत्यञ्चं, ब्रह्म पूर्णं, योनिं प्रकृतिं, धीरा** ध्यानेन पश्यन्तीत्यर्थः। नन्वनुपादानेऽपि **स्त्रीयोनौ योनि**शब्दो दृष्ट इत्यत आह—स्त्रीयोनेरिति। **शोणितमवयवशब्दार्थः।**

योनिशब्दस्य स्थानमप्यर्थो भवति, सोऽत्र भूतयोन्यादिशब्दैर्न ग्राह्यः, उर्णनाभ्यादिप्रकृतदृष्टान्तवाक्यशेषविरोधादित्याह—क्वचिदिति। **हे इन्द्र, ते तव निषदे उपवेशनाय योनिः स्थानं मया अकारि कृतमित्यर्थः। पूर्वपक्षोक्तानुमानानि अनूद्याऽऽगमबाधमाह**—यत्पुनरित्यादिना। **नन्वनुमानस्य**

योनिश्च हि गीयते (ललिता)

'क्रियाशक्तिवाले नियामक पुरुष को ब्रह्मयोनि कहा गया है' 'धीर पुरुषों ने भूतों की योनि को देखा' इन वाक्यों द्वारा वेदान्त में ब्रह्मयोनि पद से ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बतलाया गया है, क्योंकि लोक में योनि शब्द उपादान कारण का वाचक माना गया है। जैसे औषधि और वनस्पति की योनि पृथ्वी है अर्थात् पृथ्वी इनका उपादानकारण है, ऐसे ही **'ब्रह्म भूतयोनि है'** इस वाक्य द्वारा श्रुति ने ब्रह्म को भूतों का उपादानकारण कहा है। यदि कहो कि जो उपादानकारण नहीं है ऐसी स्त्रीयोनि में भी योनि शब्द का प्रयोग देखा गया है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। शोणितरूप अवयव द्वारा गर्भ के प्रति वह भी उपादानकारण है। इसलिए उसमें योनि शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है।

कहीं-कहीं पर 'हे इन्द्र ! तेरे बैठने योग्य स्थान मैंने बनाया है' इस वाक्यशेष से स्थानवाचक भी योनि शब्द देखा गया है, फिर भी यहाँ पर प्रकृतिवाचक योनि शब्द ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है। वैसे ही ब्रह्म जगत् को बनाता और समेटता है। इस प्रकार जाले का उपादान कारण जैसे मकड़ी है, वैसे ही जगत् का उपादानकारण ब्रह्म है। अतएव ब्रह्म में जगदुपादानत्व सिद्ध हुआ। और जो आप ने कहा था कि इच्छापूर्वक कर्तृत्व लोकानुसार कुलालादि निमित्तकारणों में ही देखा गया है, उपादान कारणों में नहीं, साथ ही अनुमान को अपने अर्थ बोध के लिये श्रुति की अपेक्षा नहीं होती है। अतः श्रुति से अनुमान का बाध नहीं कर सकते हैं। इसलिये कृति शरीरजन्य होती है—**'या कृतिः सा शरीरजन्या'** इस व्याप्ति के साथ विरोध

१. योनिस्ते इति पाठान्तरम्। २. वाक्यशेषादित्यनुषङ्गः।

८. सर्वव्याख्यानाधिकरणम् (सू० २८)

अण्वादेरपि हेतुत्वं श्रुतं ब्रह्मण एव वा । वटधानादिदृष्टान्तादण्वादेरपि तच्छ्रुतम् ।
शून्याण्वादिष्वेकबुद्धया सर्वबुद्धिर्न युज्यते । स्युर्ब्रह्मण्यपि धानाद्यास्ततो ब्रह्मैव कारणम् ॥

च्यते—न लोकवदिह भवितव्यम् । न ह्ययमनुमानगम्योऽर्थः । शब्दगम्यत्वात्त्वस्यार्थस्य, यथाशब्दमिह भवितव्यम् । शब्दश्चेक्षितुरीश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयतीत्यवोचाम । पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः ॥२७॥

श्रुत्यनपेक्षत्वान्न तया बाध इत्यत आह—नहीति । **जगत्कर्ता पक्षः श्रुत्यैव सिद्धयति, या कृतिः सा शरीरजन्येति व्याप्तिविरोधेन नित्यकृति- मतोऽनुमानासम्भवात् । अतः श्रौतमीश्वरं पक्षीकृत्यानुपादानत्वसाधने भवत्यैवोपजीव्यया प्रकृतित्वबोधकश्रुत्या बाध इत्यर्थः । यदुक्तं विलक्षणत्वाद्-ब्रह्मणो न जगदुपादानत्वमिति, तत्राह—**पुनश्चेति । **'न विलक्षणत्वात्–' (ब्र० सू० २-२-४) इत्यारभ्येत्यर्थः । अत उभयरूपं कारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणमिति सिद्धम् ॥२७॥**

भी आता है। अतः ब्रह्म में जगदुपादानत्व मानना ठीक नहीं है ? इसका प्रत्युत्तर यह है कि इस अध्यात्म जगत् में लोक के समान होना आवश्यक नहीं है। यदि जगत्-उपादान पदार्थ अनुमानगम्य होता, तो लौकिक दृष्टान्त के अनुसार उसे मान भी सकते थे, किन्तु यह पदार्थ तो आगमप्रमाणगम्य है, इसे तो जैसा शास्त्र बतलाता है, वैसा ही मानना पड़ेगा। शास्त्र ने ईक्षणकर्ता ईश्वर को जगत् का उपादानकारण कहा है, इस बात को हम बार-बार कह आये हैं और आगे भी विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करेंगे। अतः उभयकारणत्व ब्रह्म का लक्षण सिद्ध हो गया ॥२७॥

८. सर्वव्याख्यानाधिकरण

१. **सङ्गति**—पहले **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** यहाँ से प्रसङ्ग प्रारम्भकर बार बार अशब्दत्वादि हेतुबोधक सूत्रों द्वारा प्रधानकारणवाद का जैसे निराकरण किया गया था वैसा परमाण्वादि कारणवाद का निराकरण नहीं किया गया, श्रुति में उनमें भी जगत्कारणत्व सुना गया है, ऐसी प्रत्युदाहरण सङ्गति के कारण यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है।

२. **विषय**—सामान्यतः सभी वेदान्तवाक्य इस अधिकरण के विचारणीय विषय हैं।

३. **संशय**—जिस प्रकार ब्रह्म में जगत्कारणता सुनी गयी है ऐसे ही परमाणु, शून्य इत्यादि में भी कहीं-कहीं पर जगत्कारणत्व सुना गया है या नहीं ?

४. **पूर्वपक्ष**—'हे सोम्य ! जिस सूक्ष्म पदार्थ को तुम नहीं जान रहे हो, इसी सूक्ष्म वटधाना में यह महान् वटवृक्ष रहता है', ऐसे ही 'सृष्टि से पहले असत् ही था' ऐसी श्रुति भी है। इन श्रुतियों से परमाणु तथा शून्य में भी जगत्कारणत्व मानना उचित ही है।

५. **सिद्धान्त**—परमाणु या शून्य को जगत्कारण मानने पर एक के ज्ञान से सर्वज्ञान की प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होगी एवं ब्रह्म में भी सूक्ष्म होने से धाना शब्द का और अव्याकृत नामरूप होने के कारण असत् शब्द का प्रयोग असङ्गत नहीं है। अतः सम्पूर्ण जगत् का कारण ब्रह्म ही है, परमाणु आदि नहीं हैं, यह सिद्ध हुआ।

(१३४) एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १-१-५) इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन्प्रतिभान्तीति । स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य । देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नाण्वादिकारणवादप्रतिषेधे । तेऽपि तु ब्रह्मकारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात्प्रतिषेद्धव्याः । तेषामप्युपोद्बलकं वैदिकं किञ्चिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन्प्रतिभायादिति । अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति—एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽण्वादि-

---

एतेन सर्वे व्याख्याताः । अस्यातिदेशाधिकरणस्य तात्पर्यं वक्तुं वृत्तमनुवदति—ईक्षतेरिति । प्रधानवादस्य प्राधान्येन निराकरणे हेतुमाह—तस्य हीत्यादिना । तर्ह्यण्वादिवादा उपेक्षणीयाः, दुर्बलत्वादित्यत आह—तेऽपि त्विति । निर्मूलास्ते कथं प्रतिपक्षा इत्यत आह—तेषामिति । तथा हि छान्दोग्ये जगत्कारणत्वज्ञापनार्थं पिता पुत्रमुवाच, आसां वटधानानां मध्ये एकां भिन्धीति । भिन्ना भगव इत्युवाच पुत्रः । पुनः पित्रा किमत्र पश्यसीत्युक्ते, न किञ्चन भगव इत्याह । तत्र पित्राऽणिमानं न पश्यसीत्युक्तम्, तथा च न किञ्चनशब्दाच्छून्यस्वभाववादौ प्रतीयेते, अणुशब्दात्परमाणुवाद इति । एवं 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ६-२-१) 'अणोरणीयान्' (का० २-२०) इत्यादिलिङ्गं द्रष्टव्यम् । अत्राण्वादिवादाः श्रौता न वेति संशये सत्यसदण्वादिशब्दबलाच्छ्रौता इति प्राप्तेऽतिदिशति—एतेनेति । अस्यातिदेशत्वान्न पृथक् सङ्गत्याद्यपेक्षा । न किञ्चनाऽसच्छब्दयोः प्रत्यक्षायोग्यवस्तुपरत्वादणुशब्दस्य

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः (ललिता)

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्र से प्रारम्भकर बार बार सूत्र द्वारा ही शङ्का उठाकर सूत्र से ही प्रधानकारणवाद का निराकरण किया जा चुका है, क्योंकि प्रधानकारणवाद पक्ष के समर्थक कुछ लिङ्गाभास उपनिषदों में बिना विचारे मन्दबुद्धि लोगों को प्रतीत होते थे। प्रधानकारणवाद में कार्य-कारण का अभेद माना गया है, इस मान्यता के कारण वेदान्तवाद के कुछ निकट प्रधानकारणवाद पड़ जाता है । देवलादि कुछ धर्मसूत्रकारों ने भी अपने ग्रन्थों में प्रधानकारणवाद का आश्रय लिया है। इसीलिए प्रधानकारणवादनिषेध में ही हमने अधिक प्रयत्न किया, परमाण्वादि कारणवादप्रतिषेध में प्रयत्न नहीं किया है। किन्तु वे सब भी ब्रह्मकारणवाद पक्ष के विरोधी हैं। अतः उनका निषेध करना भी आवश्यक जान पड़ता है। परमाण्वादि कारणवाद के भी समर्थक कुछ वैदिक लिङ्ग आपाततः मन्दबुद्धि लोगों को प्रतिभासित हो सकते हैं। जैसे छान्दोग्य में जगत्कारणत्व बतलाने के लिये उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु से कहा, कि हे सौम्य ! इन वट बीजों में से किसी एक को तोड़ो। पुत्र ने वैसा ही किया। पिता ने पुनः पूछा—इसमें क्या देखते हो ? पुत्र ने कहा, कुछ नहीं देखता हूँ। इस पर पिता ने कहा कि जिस सूक्ष्म वस्तु को कुछ नहीं दीखता है, ऐसा कहते हो, उसी में यह महान् वट वृक्ष खड़ा है। यहाँ पर **'न किञ्चन'** शब्द से शून्यवाद और **'अणु'** शब्द से परमाणुवाद आपाततः प्रतीत होते हैं। अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय से उन मतों के खण्डन के लिए इस सूत्र से अतिदेश करते हैं। अर्थात् प्रधानकारणवादप्रतिषेध के लिए जो तर्क दिये गये हैं, उन्हीं तर्कों से परमाण्वादि कारणवाद भी निषिद्ध समझ लेना चाहिए। उनमें भी प्रधानवाद

कारणवादा अपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वेदितव्याः । तेषामपि प्रधानवदशब्दत्वाच्छब्दविरोधित्वाच्चेति । व्याख्याता व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥२८॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसासूत्रभाष्ये श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ
प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥ इति समन्वयाऽध्यायः ॥ १ ॥

सूक्ष्माभिप्रायत्वादशब्दत्वं, तेषां वादानां प्रधानवादवदश्रौतत्वं, ब्रह्मकारणश्रुतिबाधित्वं च । तस्माद्ब्रह्मैव परमकारणं, तस्मिन्नेव सर्वेषां वेदान्तानां समन्वय इति सिद्धम् ॥२८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ
श्रीमच्छारीरकमीमांसाव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

के समान ही अशब्दत्व एवं शब्द विरोधित्व कारण बैठे हुए हैं। अर्थात् जैसे प्रधान कारणवाद का समर्थक वैदिक शब्द नहीं मिलता है, ऐसे ही परमाण्वादि कारणवाद के समर्थक भी वैदिक शब्द उपलब्ध नहीं होते हैं। इस सूत्र में व्याख्याता पद की द्विरावृत्ति अध्याय समाप्ति का द्योतक है। अतः ब्रह्म ही परमकारण है और उसी में सभी वेदान्तवाक्यों का समन्वय सिद्ध होता है ॥२८॥

इस प्रकार ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य समन्वयाख्यप्रथमाध्याय चतुर्थपाद की
कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज
द्वारा रचित ललिता व्याख्या पूर्ण हुई ॥१॥

॥ श्रीशङ्करः प्रीयताम् ॥

(इति प्रथमो भागः)



श्री कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्रीविभूषित श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

एवं श्री कैलास आश्रम के पूर्वाचार्यों की अनुपम कृतियाँ

कैलासविद्या प्रकाशन के सोपान

१. ईशावास्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ६८ ... १५.००

२. केनोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ १३८ ... २५.००

३. कठोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १४० ... २५.००

४. प्रश्नोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १२० ... २५.००

५. मुण्डकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ९० ... २५.००

६. माण्डूक्य कारिका (सटिप्पण, हिन्दी, संस्कृत टीका सहित शाङ्करभाष्य) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ३२० ... ५५.००

७. माण्डूक्य कारिका (सानुवाद शाङ्करभाष्ययुता) ... २५.००

८. तैत्तिरीयोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्य युता) क्राउन साइज पृष्ठ १७८ ... २५.००

९. एतरेयोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्य युता) क्राउन साइज पृष्ठ ११२ ... २५.००

१०. छान्दोग्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता क्राउन साइज पृष्ठ ७३४ ... २००.००

११. बृहदारण्यकोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय समलङ्कृत शाङ्करभाष्य-युता) सजिल्द क्राउन ८ पेजी २ खण्ड, पृष्ठ १६६२ ... ५००.००

१२. ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य सटिप्पण रत्नप्रभा ललिता व्याख्यायुतम्)
(प्रथम भाग) ... ३००.००
(द्वितीय भाग) ... ५००.००

१३. ब्रह्मसूत्र (चतुः सूत्री, शाङ्कर भाष्य सटिप्पण ललिता व्याख्या-युतम्) ... ८०-००

१४. ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य ललिता व्याख्यायुतम्) ... ३००.००

१५. श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्करभाष्य सटिप्पण आनन्द गिरि टीका ललिता व्याख्यायुतम्, दो भाग) ... ४००.००

१६. श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्कर भाष्य ललिता व्याख्यायुतम्) ... २२० ००

१७. ईशादिसप्तोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्यो-पेता) क्राउन साइज ... २००.००

१८. ईशादि द्वादशोपनिषद् (विद्यानन्दो मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या) सजिल्द डबल डिमाई १६ पेजी पृष्ठ ५३२ ... २००.००

१९. ब्रह्म सूत्र (सानुवाद-विद्यानन्द-वृत्ति) सजिल्द डबल डिमाई १६ पेजी पृष्ठ ५२० ... २००.००

२०. ब्रह्मसूत्र (संस्कृत विद्यानन्दवृत्ति-परीक्षोपयोगी डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृष्ठ २४७ ... २५.००

२१. श्रीमद्भगवद्गीता (अष्टादशाह प्रवचन) ... १५०.००
२२. ईशावास्य प्रवचनसुधा, डिमाई साइज पृष्ठ ३२० ... २५.००
२३. ईशावास्य प्रवचनसुधा (आंग्ल अनुवाद) डिमाई १६ पेजी सजिल्द ... १८०.००
२४. वैयासिक न्यायमाला (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता) ... यन्त्रस्थ
२५. वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी ... ८०.००
२६. वेदान्त परिभाषा (परीक्षाब्धि-सन्तरणी) ... २०.००
२७. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी सटिप्पणटीकाद्वय संवलिता) भाग १–२ ... १८०.००
२८. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी छात्रतोषिणी टीका परीक्षाब्धि-सन्तरणी अष्टोत्तरशतन्यायमाला युता) ... १२०.००
२९. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी छात्रतोषिणी टीका परीक्षाब्धि-सन्तरणी) ... ६०.००
३०. व्याप्तिपञ्चकम् (सानुवाद माथुरी छात्रतोषिणी संवलितम्) ... ४०.००
३१. सिद्धान्त लक्षणम् (जागदीशी छात्रतोषिणी हिन्दी व्याख्या त्रय संवलितं ... यन्त्रस्थ
३२. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद-मधुसूदनीसटिप्पणं संवलितं) ... ५००.००
३३. चतुःसूत्री (भामती परीक्षाब्धि सन्तरणी) ... २००
३४. सागरसेतु सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२० ... ५०.०
३५. कैलास आश्रम शताब्दी स्मारिका सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ४३४ ... ५००
३६. यतीन्द्रतिलक सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२४ ... ५०.
३७. दिव्यस्मृति पृष्ठ ३८८ ... १०.०
३८. आचार संहिता ... २०.०
३९. व्यासपूजापद्धति (शङ्खकलशप्रधान-वेदीमण्डलैः समलङ्कृता) ... २०.०
४०. चित्राञ्जलिः ... १२५.०
४१. श्रद्धासुमनाञ्जलिः ... १२५.०
४२. श्रुतिसारसमुद्धरणम् (हिन्दी-टीकायुतम्) क्राउन १६ पेजी पृष्ठ १५२ ... २०.०
४३. तत्त्वबोध, आत्मबोध सानुवाद पृष्ठ १०० ... २०.०
४४. वेदान्त रत्नाकर क्राउन १६ पेजी पृष्ठ ११६ ... २०.०
४५. वेदान्त डिण्डिम घोष (सानुवाद) पृष्ठ ५८ ... १०.०
४६. वैराग्यपञ्चक (कुञ्जिका व्याख्या) ... यन्त्रस
४७. अद्वैतमुक्तावलि (मूल पञ्जाबी का संस्कृत श्लोकों एवं हिन्दी में अनुवाद) ... १०.०
४८. अमर संस्मरण (श्री अमरनाथ यात्रा विवरण) ... १०.०

विशेष सूचनाः—पुस्तक मँगाने वाले सज्जन अग्रिम राशि निम्नांकित कार्यालय में भेजकर मँगावें। पुस्तक के मूल्यातिरिक्त डाक, रेलवे तथा पोस्टेज व्यय पृथक् लगेगा, वी० पी० द्वारा पुस्तक भेजने का क्रम नहीं है।

मुख्य कार्यालयः— **श्री कैलास आश्रम**
ऋषिकेश (उ० प्र०) पिनः २४९२०१ दूरभाष : ४३०५९८

प्रकाशकः— **कैलासविद्या प्रकाशन**
श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ० प्र०)